लिए एक विराट ग्रन्थागार बना व एक सुसज्जित प्रयोगशाला। वनौषधि उद्यान भी लगाया गया तथा जड़ी बूटी, यज्ञविज्ञान तथा मंत्र शक्ति पर प्रयोग हेतु साधकों पर परीक्षण प्रचुर परिमाण में किये गये। निष्कर्षों ने प्रमाणित किया कि ध्यान साधना मंत्र चिकित्सा व यज्ञोपैथी एक विज्ञान सम्मत विधा है। गायत्री नगर क्रमशः एक तीर्थ, संजीवनी विद्या के प्रशिक्षण का एकेडमी का रूप लेता चला गया एवं जहाँ ९-९ दिन के साधना प्रधान, एक-एक माह के कार्यकर्त्ता निर्माण हेतु युग शिल्पी सत्र सम्पन्न होने लगे।

कार्यक्षेत्र में विस्तार हुआ। स्थान-स्थान पर शक्तिपीठें विनिर्मित हुईं, जिनके निर्धारित क्रियाकलाप थे- सुसंस्कारिता, आस्तिकता संवर्धन एवं जन जागृति के केन्द्र बनना। ऐसे केन्द्र जो १९८० में बनना आरंभ हुए थे, प्रज्ञा संस्थान - शक्तिपीठ-प्रज्ञामण्डल-स्वाध्याय मंडल के रूप में पूरे देश व विश्व में फैलते चले गये। ७६ देशों में गायत्री परिवार की शाखाएँ फैल गयीं, ४६०० से अधिक भारत में निज के भवन वाले संस्थान विनिर्मित हो गये, वातावरण गायत्रीमय होता चला गया।

परमपूज्य गुरुदेव ने सूक्ष्मीकरण में प्रवेश कर १९८५ में ही पाँच वर्ष के अंदर अपने सारे क्रिया कलापों को समेटने की घोषणा कर दी। इस बीच कठोर तप साधना कर मिलना-जुलना कम कर दिया तथा क्रमशः क्रिया कलाप परमवंदनीया माताजी को सौंप दिये। राष्ट्रीय एकता सम्मेलनों, विराट दीप यज्ञों के रूप में नूतन विधा को जन-जन को सौंप कर राष्ट्र देवता की कुण्डलिनी जगाने हेतु उनने अपने स्थूल शरीर छोड़ने व सूक्ष्म में समाने की, विराट से विराटतम होने की घोषणा कर गायत्री जयन्ती २ जून १९९० को महाप्रयाण किया। सारी शक्ति वे परमवंदनीया माताजी को दे गये व अपने व माताजी के बाद संघशक्ति की प्रतीक लाल मशाल को ही इष्ट आराध्य मानने का आदेश देकर ब्रह्मबीज से विकसित ब्रह्मकमल की सुवास को देव संस्कृति दिग्विजय अभियान के रूप में आरंभ करने का माताजी को निर्देश दे गये।

एक विराट श्रद्धांजलि समारोह व शपथ समारोह जो हरिद्वार में सम्पन्न हुए, में लाखों व्यक्तियों ने अपना समय समाज के नव निर्माण, मनुष्य में देवत्व के उदय व धरती पर स्वर्ग लाने का गुरु सत्ता का नारा साकार करने के निमित्त देने की घोषणा की। परमवंदनीया माताजी द्वारा भारतीय-संस्कृति को विश्वव्यापी बनाने, गायत्री रूपी संजीवनी घर-घर पहुँचाने के लिए पूज्यवर द्वारा आरम्भ किये गये युगसंधि महापुरश्चरण की प्रथम व द्वितीय पूर्णाहुति तक विराट अश्वमेघ महायज्ञों की घोषणा की गयी। वातावरण के परिशोधन, सूक्ष्मजगत के नव निर्माण एवं सांस्कृतिक व वैचारिक क्रांति के निमित्त सौर ऊर्जा के दोहन द्वारा विशिष्ट प्रयोगों के माध्यम से विशिष्ट मंत्राहुतियों द्वारा सम्पन्न किये गये इन अश्वमेधों ने सारी विश्ववसुधा को गायत्री व यज्ञमय, वासंती उल्लास से भर दिया। स्वयं परमवंदनीया माताजी ने अपनी पूर्व घोषणानुसार चार वर्ष तक परिजनों का मार्गदर्शन कर सोलह यज्ञों का संचालन स्थूल शरीर से किया व फिर भाद्रपद पूर्णिमा १९ सितम्बर १९९४ महालय श्राद्धारंभ वाली पुण्य वेला में अपने आराध्य के साथ एकाकार हो गयीं। उनके महाप्रयाण के बाद दोनों ही सत्ताओं के सूक्ष्म में एकाकार होने के बाद मिशन की गतिविधियाँ कई गुना बढ़ती चली गयीं एवं जयपुर के प्रथम अश्वमेध यज्ञ (नवम्बर ९२) से छब्बीसवें अश्वमेध यज्ञ शिकागो (यू. एस. ए. जुलाई ९५) तक प्रज्ञावतार का प्रत्यक्ष रूप सबको दीखने लगा है।

गुरुसत्ता के आदेशानुसार सतयुग के आगमन तक १०८ महायज्ञ देवसंस्कृति को विश्वव्यापी बनाने हेतु संपन्न होने हैं। युग संधि महापुरश्चरण की अंतिम पूर्णाहुति उसी के बाद होगी। प्रथम पूर्णाहुति नवम्बर १९९५ में कार्त्तिक पूर्णिमा के अवसर पर युगपुरुष पूज्यवर की जन्मभूमि आँवलखेड़ा में मनायी जा रही है। उनके द्वारा लिखे गये समग्र साहित्य के वाङ्मय का जो सत्तर खण्डों में फैला है, विमोचन भी यहीं सम्पन्न हो रहा है। विनम्रता एवं ब्राह्मणत्व की कसौटी पर खरे उतरने वाले वरिष्ठ प्रज्ञापुत्र ही उनके उत्तराधिकारी कहे जायेंगे, यह गुरुसत्ता का उद्घोष था एवं इस क्षेत्र में बढ़ चढ़कर आदर्शवादी प्रतिस्पर्धा करने वाले अनेकानेक परिजन अब उनके स्वप्नों को साकार करने आगे आ रहे हैं। 'हम बदलेंगे-युग बदलेंगे' का उद्घोष दिग-दिगन्त तक फैल रहा है एवं इक्कीसवीं सदी-उज्ज्वल भविष्य, सतयुग की वापसी का स्वप्न साकार होता चला जा रहा है, यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

भूमिका

गायत्री महामंत्र की साधना व्यक्ति के जीवन में क्या कुछ नहीं देती, यह सारा प्रसंग बहुविदित है । विधिपूर्वक की गयी साधना निश्चित ही फलदायी होती है एवं उसके सत्परिणाम साधक को शीघ्र ही अपने आत्मिक-लौकिक दोनों ही क्षेत्रों में दिखाई देने लगते हैं । फिर भी इस छोटे से धर्मशास्त्र रूपी सूत्र में इतना कुछ रहस्यमय भरा पड़ा है जिसे यदि परत दर परत खोला जा सके तो व्यक्ति अपने जीवन को धन्य बना सकता है । गायत्री भारतीय संस्कृति का प्राण है, परमात्म सत्ता द्वारा धरती पर भेजा गया वह वरदान है जिसका यदि मनुष्य सदुपयोग कर सके तो वह अपना धरित्री पर अवतरण सार्थक बना सकता है ।

परमपूज्य गुरुदेव जानते थे कि गायत्री साधना में प्रवृत्त रहने के बाद जन सामान्य में और अधिक जानने की—और अधिक गहराई में प्रवेश करने की उत्सुकता भी बढ़ेगी । इसी को दृष्टिगत रख उनने उनका जितना एक सामान्य गायत्री साधक को जानना चाहिए व जीवन में उतारना चाहिए, मार्गदर्शन गायत्री महाविज्ञान के अपने तीनों खंडों में कह दिया । इसी प्रसंग में कुछ गुह्य पक्षों की चर्चा वाङ्मय के इस खण्ड में की गयी है ।

गायत्री के चौबीस अक्षर वास्तविकता में चौबीस शक्ति बीज हैं । सांख्य दर्शन में वर्णित उन चौबीस तत्वों का जो पंच तत्वों के अतिरिक्त हैं, गुम्फन करते हुए ऋषि गणों ने गायत्री महा मंत्र रूपी सूक्ष्म आध्यात्मिक शक्ति को प्रकट कर जन-जन के समक्ष रखा । चौबीस मातृकाओं की महाशक्तियों के प्रतीक ये चौबीस अक्षर इस वैज्ञानिकता के साथ एक साथ छन्दबद्ध-गुंथित कर दिए गए हैं कि इस महामंत्र के उच्चारण मात्र से अनेकानेक अंदर की प्रसुप्त शक्तियाँ जाग्रत होती हैं । अंदर की प्राणाग्नि में तीव्र स्तर के स्पन्दन होने लगते हैं एवं यह परिवर्तन साधक के वर्चस् के संवर्धन में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है । गायत्री मंत्र के एक-एक अक्षर की व्याख्या इस गायत्री रहस्यपरक गुह्य विवेचन नामक खण्ड में की गयी है । प्रत्येक अक्षर से निकलने वाली प्रेरणा जो जीवन के हर पक्ष को प्रभावित करती है, जान-समझकर व्यक्ति तदनुसार अपनी ध्यान साधना मंत्र जप के साथ कर अधिकाधिक लाभ उठा सकता है ।

इस खण्ड में भूः, भुवः स्वः इन तीन लोक व उनसे जुड़े 'ब्रह्म' से बनी व्याहृति की व्याख्या के बाद तत् से लेकर प्रचोदयात् के अंतिम अक्षर त् की व्याख्या शास्त्रोक्त एवं व्यावहारिक अध्यात्म की परिधि में भली भाँति समझाते हुए की गई है । गायत्री की चौबीस शक्तियाँ कैसे शरीर, मन, अंतःकरण एवं सारे ब्रह्माण्ड को प्रभावित करती हैं, यह जान समझकर भली भाँति जीवन को सौभाग्यमय बनाया जा सकता है । उदाहरण के लिए 'प्रचोदयात्' शब्द का समग्र अर्थ है बलात् उस दिशा में चलने को प्रेरित करना जो 'धियः' अर्थात् बुद्धि को सन्मार्गगामी बनाती है । किन्तु इसी शब्द के एक-एक अक्षर की व्याख्या यदि की जाय तो 'प्र' की प्रेरणा दूसरों के प्रति उदारता-अपने प्रति कठोरता की है । अपनी ही बात को सही मानते हुए औदार्य को जीवन में उतारकर सबका समान आदर करना, अपनी हेटी पर न अड़े रहकर पहले अपने दोष देखना व उन्हें सुधारना है । 'चो' अक्षर सज्जनों के सत्संग की प्रेरणा का परिचायक है । अच्छे विचारों का चिन्तन व मनन तथा संभव हो तो श्रेष्ठ पुरुषों का सत्संग यथा संभव अधिकाधिक हरेक को करना चाहिए - यह प्रेरणा यह अक्षर देता है । 'द' अक्षर मानव को आत्मसत्ता के गौरव का भान करा उसे उन्नति के पथ पर चलना सिखाता है । आत्म धन ही सबसे बड़ा धन है । इसकी रक्षा करके मनुष्य सिर ऊँचा कर जीता हुआ चल करता है । 'या' अक्षर पिता-पुत्र में, छोटे-बड़े में श्रेष्ठ

संबंध स्थापित कर दोनों को यथोचित सम्मान देने की प्रेरणा देते हुए कर्तव्यपालन करने की शिक्षा देता है। 'त' जो अंतिम अक्षर है एक ही प्रेरणा देता है **"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्"** - अर्थात् दूसरों के साथ वह व्यवहार न करो जो तुम्हें अपने लिए पसंद नहीं । समग्र शब्द "प्रचोदयात्" का गुह्य विवेचन जिस भाव प्रवण शैली में किया गया है, ऐसा कहीं और नहीं मिलता ।

इसी प्रकार गायत्री परिकर की ६ देवी शक्तियाँ, गायत्री सहस्रनाम में शक्तियों का विवेचन, गायत्री के मंत्रार्थ के साथ-साथ उसका भावार्थ—इन सब पर विस्तार से पूज्यवर ने इस खण्ड में लिखा है । हम उस प्राण-स्वरूप, सुख-स्वरूप, दुखनाशक, श्रेष्ठ, तेजस्वी, देवस्वरूप परमात्मा के प्राणनाशक तेज को अंतरात्मा में धारण करें व वह परमात्मा जो सूर्य चेतना रूप में संव्याप्त है, हमारी बुद्धि को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करे । इस भावार्थ के साथ गायत्री साधना की रहस्यमय अभिव्यंजनाओं का सरल प्रस्तुतीकरण जो जन-जन की समझ में आ जाय, यही युगव्यास की लेखनी की जादू भरी विलक्षणता है ।

— **ब्रह्मवर्चस**

विषय-सूची

गायत्री का अर्थ और सन्देश

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य
धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

गायत्री संसार के समस्त ज्ञान विज्ञान की आदि जननी है। वेदों को समस्त प्रकार की विद्याओं का भण्डार माना जाता है, वे वेद गायत्री की व्याख्या मात्र हैं। गायत्री को 'वेदमाता' कहा गया है। चारों वेद गायत्री के पुत्र हैं। ब्रह्माजी ने अपने एक-एक मुख से गायत्री के एक-एक चरण की व्याख्या करके चार वेदों को प्रकट किया। ॐ भूर्भुवः स्वः से-ऋग्वेद, तत्सवितुर्वरेण्यं से-यजुर्वेद, भर्गोदेवस्य धीमहि से-सामवेद और धियो यो नः प्रचोदयात् से-अथर्ववेद की रचना हुई। इन वेदों से शास्त्र, दर्शन, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक, सूत्र, उपनिषद, पुराण, स्मृति आदि का निर्माण हुआ। इन्हीं ग्रन्थों से शिल्प, वाणिज्य, शिक्षा, रसायन, वास्तु संगीत आदि ८४ कलाओं का आविष्कार हुआ। इस प्रकार गायत्री संसार के समस्त ज्ञान विज्ञान की जननी ठहरती है। जिस प्रकार बीज के भीतर वृक्ष तथा वीर्य की एक बूंद के भीतर पूरा मनुष्य सन्निहित होता है उसी प्रकार गायत्री के २४ अक्षरों में संसार का समस्त ज्ञान विज्ञान भरा हुआ है। यह सब गायत्री का ही अर्थ विस्तार है।

मंत्रों में शक्ति होती है। मंत्रों के अक्षर शक्ति बीज कहलाते हैं। उनका शब्द गुन्थन ऐसा होता है कि उनके विधिवत् उच्चारण एवं प्रयोग से अदृश्य आकाश मण्डल में शक्तिशाली विद्युत तरंगें उत्पन्न होती हैं, और मन शक्ति तरङ्गों द्वारा नाना प्रकार के आध्यात्मिक एवं सांसारिक प्रयोजन पूरे होते हैं। साधारणतः सभी विशिष्ट मंत्रों में यही बात होती है। उनके शब्दों में शक्ति तो होती है पर उन शब्दों का कोई विशेष महत्वपूर्ण अर्थ नहीं होता। पर गायत्री मंत्र में यह बात नहीं है। इसके एक-एक अक्षर में अनेक प्रकार के ज्ञान विज्ञानों के रहस्यमय तत्व छिपे हुए हैं। "तत्-सवितुः-वरेण्यं-" आदि के स्थूल अर्थ तो सभी को मालूम हैं एवं पुस्तकों में छपे हुए हैं। यह अर्थ भी शिक्षाप्रद हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त ६४ कलाओं, ६ शास्त्रों, ६ दर्शनों एवं ८४ विद्याओं के रहस्य प्रकाशित करने वाले अर्थ भी गायत्री के हैं। उन अर्थों का भेद कोई-कोई अधिकारी पुरुष ही जानते हैं। वे न तो छपे हुए हैं और न सबके लिये प्रकट हैं।

इन २४ अक्षरों में आयुर्वेद शास्त्र भरा हुआ है। ऐसी-ऐसी दिव्य ओषधियों और रसायनों के बनाने की विधियाँ इन अक्षरों में संकेत रूप से मौजूद हैं जिनके द्वारा मनुष्य असाध्य रोगों से निवृत्त हो सकता है, अजर अमर तक बन सकता है। इन २४ अक्षरों में सोना बनाने की विद्या का संकेत है। इन अक्षरों में अनेकों प्रकार के आग्नेयास्त्र, वरुणास्त्र, ब्रह्मास्त्र आदि हथियार बनाने के विधान मौजूद हैं। अनेक दिव्य शक्तियों पर अधिकार करने की विधियों के विज्ञान भरे हुए हैं। ऋद्धि सिद्धियों को प्राप्त करने, लोक-लोकान्तरों के प्राणियों से सम्बन्ध स्थापित करने, ग्रहों की गति विधि तथा प्रभाव को जानने, अतीत तथा भविष्य से परिचित होने, अदृश्य एवं अविज्ञात तत्वों के हस्तामलकवत् देखने के अनेकों प्रकार के विज्ञान मौजूद हैं। जिनकी थोड़ी सी भी जानकारी मनुष्य प्राप्त करले तो वह भूलोक में रहते हुए भी देवताओं के समान दिव्य शक्तियों से सुसम्पन्न बन सकता है। प्राचीन काल में ऐसी अनेक विद्याएँ हमारे पूर्वजों को मालूम थीं जो आज लुप्त प्रायः हो गई हैं। उन विद्याओं के कारण हम एक समय जगद्गुरु, चक्रवर्ती शासक एवं स्वर्ग सम्पदाओं के स्वामी बने हुए थे। आज हम उनसे वञ्चित होकर दीन हीन बने हुए हैं।

गायत्री महामन्त्र में सन्निहित उन लुप्त प्रायः महाविद्याओं की खोज करना कुछ विशिष्ट व्यक्तियों का कार्य है। प्रसन्नता की बात है कि इस मार्ग के अधिकारी महज्जन, तत्परता पूर्वक शोध कार्यों में लगे हुए हैं और कुछ महत्वपूर्ण परिणाम शीघ्र ही सामने आने की आशा की जा सकती है। यह विषय सर्वसाधारण का नहीं है। हर एक का इस क्षेत्र में प्रवेश भी नहीं है।

सर्व साधारण के जानने और उपयोग में लाने योग्य गायत्री का वह मन्त्रार्थ है जो जीवन यापन की विधि एवं रीति नीति सिखाता है। इसे धर्म शिक्षा या नीति शिक्षा कहना चाहिये।

इस मन्त्र के प्रथम भाग में ईश्वरीय दिव्य गुणों को प्राप्त करने, दूसरे भाग में ईश्वरीय दृष्टिकोण धारण करने और

तीसरे में बुद्धि को सन्मार्ग पर लगाने की प्रेरणा है। गायत्री की शिक्षा है कि अपनी बुद्धि को सात्विक बनाओ, आदर्शों को ऊँचा रखो, उच्च दार्शनिक विचार धाराओं में रमण करो और तुच्छ तृष्णाओं एवं वासनाओं के लिए हमें नचाने वाली कुबुद्धि को मानस लोक में से बहिष्कृत करदो। जैसे-जैसे कुबुद्धि का कल्मष दूर होगा वैसे ही वैसे दिव्य गुण सम्पन्न परमात्मा के अंश की अपने में वृद्धि होती जायगी और उसी अनुपात से लौकिक और पारलौकिक आनन्दों की अभिवृद्धि होती जायगी,।

गायत्री मन्त्र के गर्भ में सन्निहित उपरोक्त तथ्य में ज्ञान, भक्ति, कर्म, उपासना तीनों हैं। सद्गुणों का चिन्तन ज्ञानयोग है। ब्रह्म की धारणा भक्ति योग है और बुद्धि की सात्विकता एवं अनासक्ति कर्म योग है। वेदों में ज्ञान, कर्म और उपासना यह तीन विषय हैं। गायत्री में भी बीज रूप से यह तीनों ही तथ्य सर्वाङ्गपूर्ण ढङ्ग से प्रतिपादित हैं।

इन भावनाओं का एकान्त में बैठकर नित्य अर्थ चिन्तन करना चाहिये। यह ध्यान साधना मनन के लिए अतीव उपयोगी है। मनन के लिये तीन संकल्प नीचे दिये जाते हैं। इन संकल्पों के शब्दों को शान्त चित्त से, स्थिर आसन पर बैठकर, नेत्र बन्द रखकर, मन ही मन दुहराना चाहिये और कल्पना शक्ति की सहायता से इन संकल्पों का ध्यान चित्र मनः क्षेत्र में भली प्रकार अंकित करना चाहिये—

(१) परमात्मा का ही पवित्र अंश—अविनाशी राज कुमार मैं आत्मा हूँ। परमात्मा प्राण स्वरूप है, मैं भी अपने को प्राणवान् आत्मशक्ति सम्पन्न बनाऊँगा। प्रभु दुख रहित है—मैं दुःखदायी मार्ग पर न चलूंगा। ईश्वर आनन्द स्वरूप है—अपने जीवन को आनन्दमय बनाना तथा दूसरों के आनन्द की वृद्धि करना मेरा कर्त्तव्य है। भगवान तेजस्वी है—मैं भी निर्भीक साहसी, वीर, पुरुषार्थी और प्रतिभावान बनूंगा। ब्रह्म श्रेष्ठ है—श्रेष्ठता, महानता, आदर्शवादिता एवं सिद्धान्तमय जीवन नीति अपनाकर मैं भी श्रेष्ठ ही बनूंगा। वह जगदीश्वर निष्पाप है—मैं भी पापों से, कुविचारों और कुकर्मों से बच कर रहूँगा। ईश्वर दिव्य है—मैं भी अपने को दिव्य गुणों से सुसज्जित करूँगा। संसार को कुछ देते रहने की देव नीति अपनाऊँगा। इसी मार्ग पर चलने से मेरा मनुष्य जीवन सफल हो सकता है।

(२) उपरोक्त गुणों वाले परमात्मा को मैं अपने अन्दर धारण करता हूँ। इस विश्व ब्रह्माण्ड के कण-कण में प्रभु समाये हुये हैं, वे मेरे चारों ओर, भीतर बाहर सर्वत्र फैले हुए हैं। मैं उन्हीं में रमण करूँगा, उन्हीं के साथ हँसूंगा, खेलूंगा। वे ही मेरे चिर सहचर हैं। लोभ, मोह वासना और तृष्णा का प्रलोभन दिखाकर पतन के गहरे गर्त में धकेल देने वाली कुबुद्धि से-माया से बचकर अपने को अन्तर्यामी परमात्मा की शरण में सोंपता हूँ। उन्हें ही अपने हृदयासन पर अवस्थित करता हूँ। अब वे ही मेरे हैं और मैं केवल उन्हीं का हूँ। ईश्वरीय आदर्शों का पालन करना और विश्व मानव-परमात्मा की सेवा करना ही अब मेरा लक्ष्य रहेगा।

(३) सद्बुद्धि से बढ़कर और कोई दैवी वरदान नहीं। इस दिव्य सम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए मैं घोर तप करूँगा। आत्म चिन्तन करके अपने अन्तःकरण चतुष्टय में मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार मे छिपकर बैठी हुई कुबुद्धि को बारीकी के साथ ढूंढूगा और उसे बहिष्कृत करने में कोई कसर न रहने दूँगा। अपनी आदतों, मान्यताओं, भावनाओं, विचार धाराओं में जहाँ भी कुबुद्धि पाऊँगा वहीं से उसे हटाऊँगा। असत्य को त्यागने और सत्य को ग्रहण करने में रत्ती भर भी दुराग्रह न रखूँगा। अपनी भूलें मानने और विवेक संगत बातों को मानने में तनिक भी दुराग्रह न करूँगा। अपने स्वभावों, विचारों और स्वभावों की सफाई करना, सड़े, गले, कूड़े कचरे को हटाकर सत्य शिव सुन्दर भावनाओं से अपनी मनोभूमि को सजाना अब मेरी प्रधान पूजा पद्धति होगी। इसी पूजा पद्धति से प्रसन्न होकर भगवान मेरे अन्तःकरण में निवास करेंगे तब मैं उनकी कृपा से जीवन लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल होऊँगा।

इन संकल्पों में अपनी रुचि के अनुसार शब्दों का हेर फेर किया जा सकता है। पर भाव यही होने चाहिये। नित्य प्रति शान्त चित्त से भावना पूर्वक इन संकल्पों को देर तक अपने हृदय में स्थान दिया जाय तो गायत्री के मन्त्रार्थ की सच्ची अनुभूति हो सकती है। उस अनुभूति से मनुष्य दिन-दिन अध्यात्म मार्ग में ऊँचा उठ सकता है।

गायत्री सद्बुद्धि की प्रतीक है। गायत्री मानवता की प्रतीक है। गायत्री सत्य और सात्विकता की प्रतीक है। गायत्री—उदारता, प्रेम, सद्भाव, सहानुभूति, भ्रातृत्व, सेवा, संयम एवं सच्चरित्रता का प्रतिनिधित्व करती है। इन तत्वों को हृदयंगम करने से ही हम गायत्री माता की सच्ची पूजा करते हैं, इन्हीं गुणों को अपनाने से उनका अनुग्रह हमें प्राप्त होता है। जिस प्रकार तिरङ्गा झण्डा भारतीय राष्ट्रीयता का प्रतीक है, उसी प्रकार गायत्री भी मनुष्य के भीतर रहने वाले देवत्व की प्रतीक है। असुरता से हटा कर देवत्व की ओर बढ़ाने वाली प्रवृत्ति, भावना विचारधारा एवं अन्तः प्रेरणा

को 'गायत्री' कहना चाहिये । इस परम कल्याण मयी अखण्ड शान्ति दयिनी अध्यात्म धारा को अपनाना ही गायत्री उपासना है ।

जिस प्रकार सिर पर रखी हुई शिखा हिन्दू धर्म की प्रतीक है, उसी प्रकार मनुष्य में जो देवत्व है उसकी प्रतीक गायत्री है । गायत्री उपासना का अर्थ है सद्गुणों, सद्विचारों, सद्भावों एवं सत् कर्मों पर आस्था, निष्ठा, श्रद्धा एवं तत्परता । भारतीय संस्कृति में जो महान हैं, जो आध्यात्मिक संदेश एवं शिक्षण हैं उनका प्रतिनिधित्व गायत्री करती है। समस्त नारी जाति को माता एवं बेटी की दृष्टि से देखना, उसके प्रति परम पवित्र भावनाएँ रखना, उसे अधिक आदरणीय, अधिक पवित्र एवं अधिक उदार व्यवहार योग्य मानना, ईश्वर को नारी रूप में देखना गायत्री उपासना का वह दृष्टिकोण है जिसमें आज की उपेक्षित नारी जाति के लिये कल के लिये पूर्ण विकसित होने की सम्भावनाएँ सन्निहित हैं । इस दृष्टिकोण में, पतिव्रत, पत्नीव्रत, ब्रह्मचर्य, संयम, सदाचार, पवित्रता, संतति नियमन आदि की आशाजनक भावनाएँ छिपी हुई हैं ।

वस्तुओं से, वैभव से, धन से मनुष्य का बड़प्पन नापने की अपेक्षा—आन्तरिक महानताओं से, लोक सेवा, उदारता, त्याग, सदाचार, नम्रता, शिष्टाचार, सद्व्यवहार आदि गुणों के आधार पर मनुष्य की महानता को नापना गायत्री दृष्टिकोण है। इस की प्रतिष्ठा करने के लिए गायत्री उपासना का प्रसार घर-घर में करने की जरूरत है ।

मुसलमानों का मन्त्र 'कलमा' है। ईसाई धर्म की दीक्षा 'वपतिस्मा' मन्त्र के साथ दी जाती है । हिन्दू धर्म का सर्वोपरि मन्त्र गायत्री है । कलमा की उपेक्षा करने वाला मुसलमान, वपतिस्मा से रहित ईसाई जैसे अपने समाज में निन्दनीय समझा जाता है वैसेही गायत्री रहित हिन्दू भी हेय है । गायत्री में सन्निहित भावनाओं को अपनाकर ही कोई व्यक्ति सच्चा भारतीय या आर्य कहला सकता है। इन भावनाओं का भली प्रकार समझना और हृदयंगम करना भारतीयों का परम पावन कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य की उपेक्षा करने वालों को शूद्र एवं अनाधिकारी कह कर तिरष्कृत किया जाता है ।

सार्वभौम मानव धर्म, सर्वमान्य नीति नियम, सर्वप्रिय सद्व्यवहार का जो कुछ निचोड़ है वही गायत्री है। यह ईश्वर के मुख से प्रस्फुटित हुई सर्वप्रथम ऋचा है । इसमें समस्त मानव जाति के लिए वह उपदेश, संकेत, शिक्षण, प्रकाश एवं आदेश है जिस पर चलकर जीवन को स्वर्गीय सुख शान्ति से परिपूर्ण किया जा सकता है। चौबीस अक्षरों का इतना छोटा, इतना सर्वाङ्ग पूर्ण धर्म शास्त्र संसार में और कोई नहीं है । वेद, कुरान, वाइबिल, जिन्दावस्ता, धम्मपद आदि विभिन्न धर्मों की मूल पुस्तकों में जो कुछ कहा गया है उसका सार गायत्री है। गायत्री से बढ़कर ज्ञान और विज्ञान का और कोई ऐसा समुद्र नहीं है जिसमें एक ही स्थान पर सभी प्रकार के रत्नों की राशि उपलब्ध हो सके ।

भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति में 'सूत्र' वाद की विशेषता है । बहुत बड़ी बात को संक्षेप में कुछ ही अक्षरों में कह दिया जाता है । इस विषय के जिज्ञासु उन सूत्रों के भावार्थ और मन्तव्यों पर गम्भीरता पूर्वक विचार करके उसके विस्तृत अर्थों को समझते थे । व्याकरण, दर्शन, कर्मकाण्ड आदि विषयों पर अनेक सूत्र ग्रन्थ मौजूद हैं । गायत्री के २४ अक्षर भी चौबीस एकाक्षरी सूत्र हैं । इनकी जितनी विवेचना की जाय, इनका जितना अधिक मनन और चिन्तन किया जाय, उतना ही तत्वज्ञान और विज्ञान उपलब्ध होता है । इन थोड़े से शब्दों एवं अक्षरों में मोटी दृष्टि से तो केवल—परमात्मा के कुछ गुणों की चर्चा तथा सद्बुद्धि प्राप्त होने की प्रार्थना—मात्र दिखाई पड़ती है । पर उन सद्गुणों का बोधक एक-एक शब्द मानव जीवन के प्रत्येक पहलू पर बड़ी महत्वपूर्ण एवं धार्मिक विवेचना उपस्थित करता है। इसे समझने के लिये हमें स्वयं कुछ खोज करनी पड़ेगी और अन्तर्मुखी होकर मनन, चिन्तन एवं निदिध्यासन पूर्वक गहराई तक उतर कर वस्तु स्थिति तक पहुँचना होगा ।

आजकल 'बहुत कहना और सार थोड़ा रहना' की प्रथा प्रचलित है । प्राचीन 'सूत्र' शिक्षा की परम्परा 'थोड़ा कहना और बहुत प्रस्तुत करना' की है। गायत्री का अर्थ ऐसा ही है। प्राय: सभी ऋषियों ने अपनी मति के अनुसार अनेक अर्थ किये हैं जिनका उल्लेख अगले पृष्ठों पर किया गया है । फिर भी यह अर्थ अधूरे हैं । इसका पूर्ण अर्थ तो जो कोई जान लेता है, वह सब प्रकार पूर्ण ही हो जाता है । फिर भी जितना कुछ अर्थ जाना जा सके जानने का प्रयत्न करना चाहिये । उस समुद्र में जो जितना गहरा उतरेगा उसे उतनी ही मूल्यवान रत्न-राशि उपलब्ध होगी ।

गायत्री का मन्त्रार्थ

गायत्री के २४ अक्षरों में ज्ञान-विज्ञान का महान् भण्डार छिपा हुआ है। उसके एक-एक अक्षर में इतना

दार्शनिक तत्वज्ञान सन्निहित है जिसका पूरी तरह पता लगाना कठिन है। आध्यात्मिक और भौतिक सभी प्रकार के ज्ञान-विज्ञान उसके गर्भ में मौजूद हैं, जिनका यदि ठीक ठीक पता चल जाय तो मनुष्य उन सभी वस्तुओं को प्राप्त कर सकता है जो उसे अभीष्ट हैं।

गायत्री वेद माता है। गायत्री से ही चारों वेद और उनकी ऋचायें निकली हैं। वेद समस्त विद्याओं के भण्डार हैं। समस्त तत्वज्ञान और भौतिक-विज्ञान वेदों के अन्तर्गत मौजूद हैं। जो कुछ वेद में है उसका सार गायत्री में है। यदि कोई गायत्री को भली प्रकार समझ ले तो उसे वेद, शास्त्र, पुराण, स्मृति, उपनिषद् आदि की सभी बातों का ज्ञान स्वयमेव हो सकता है।

एक-एक अक्षर का, एक-एक पद का, क्या अर्थ, भाव, रहस्य एवं सन्देश है, उसको जानने के लिए मनुष्य का एक-एक जीवन भी अपर्याप्त है। गायत्री के २४ अक्षर ज्ञान-विज्ञान के २४ समुद्र हैं उनका पार पाना साधारण काम नहीं है। फिर भी उनका कुछ संक्षिप्त-सा परिचय पाठकों को हो जाय, इस उद्देश्य से यह पुस्तक लिखी गई है।

विभिन्न ऋषियों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से गायत्री महामन्त्र का अर्थ किया है। अनेक ग्रन्थों में अनेक प्रकार से उसके भाष्य उपलब्ध हैं। यह भिन्नता प्रतिकूलता या विरोध की द्योतक नहीं वरन् एक दूसरे की पूरक है। जो बात एक से छूट गई है, वह दूसरे में पूरी की गई है, फिर भी यह सब मिलाकर गायत्री का अर्थ सर्वाङ्गपूर्ण हो गया है। ऐसा नहीं कहा जा सकता। जितना प्रकट हुआ है उसकी अपेक्षा अनेक गुना रहस्य अभी अप्रकट है।

इतने विशद ज्ञान भण्डार की सम्पूर्णतया जानकारी होना मनुष्य की स्वल्प बुद्धि के लिये कठिन है। हमारे जैसे साधारण व्यक्ति के लिये तो वह और भी कठिन है। पर सार्वजनिक उपयोग के लायक जितना कुछ अर्थ-ज्ञान हम उपस्थित कर सकते थे, उपस्थित किया है।

महामंत्र गायत्री

ॐ

भूर्भुवः स्वः

तत्सवितुर्वरेण्यं

भर्गोदेवस्य धीमहि

धियो यो नः प्रचोदयात्

गायत्री महामंत्र का अर्थ एवं उसकी विवेचना निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत की गयी है—

गायत्री शब्द का अर्थ

ऐतरेय ब्राह्मण में गायत्री शब्द का अर्थ करते हुए कहा गया है—

"गयान् प्राणान् त्रायते सा गायत्री ।"

अर्थात्—जो गय (प्राणों की) रक्षा करती है, वह गायत्री है। प्राण कहते हैं चैतन्यता एवं सजीवता को। हमारे भीतर जो गति, क्रिया, विचार शक्ति, विवेक एवं जीवन धारण करने वाला तत्व है, वह प्राण कहलाता है। इस प्राण के कारण हम जीवित हैं। जब प्राण निकल गया तो जीवन का अन्त ही समझिये, प्राण रहित देह से कुछ प्रयोजन नहीं सधता। उसे तो नष्ट कर देना ही हितकर समझा जाता है। इसलिये उसे गाड़ या जला देते हैं। प्राण होने के कारण जीव को प्राणी कहते हैं, बिना प्राण का पदार्थ तो जड़ होता है। जब किसी प्राणी का प्राण निर्बल पड़ जाता है तो उसका बाह्य शरीर ठीक दिखाई देते हुए भी वह भीतर ही भीतर खोखला हो जाता है। कई व्यक्ति शरीर से मोटे दीखते हुए भी भीतर से बड़े निर्बल होते हैं। कोई कष्टसाध्य परिश्रम उनसे नहीं होता, वे थोड़ा-सा श्रम करने में बेतरह थक जाते हैं, सिर घूमने लगता है, हाथ-पाँव शिथिल हो जाते हैं, दम फूलने लगता है। उनका चेहरा निस्तेज, प्रभाव रहित, आँखें गीली, मटीली होती हैं और वाणी में जरा भी प्रभाव नहीं होता। कोई छोटी-मोटी बीमारी हो जाने पर उसे ठीक होने में मुद्दत लग जाती है। इस प्रकार की भीतरी

निर्बलतायें शरीर में दीख पड़ती हैं । उनमें बल-वीर्य की बहुत न्यूनता हो जाती है ।

प्राण शक्ति के अभाव में मन का भी बुरा हाल हो जाता है, भय या अनिष्ट की आशङ्कायें अकारण मन में उठती रहती हैं, ऐसा लगता रहता है कि कहीं अमुक प्रकार की आपत्ति न आ जाय, कहीं अमुक सङ्कट उपस्थित न हो जाये। कोई विपत्ति सचमुच ही ऊपर आ जाय तब तो उनका बुरा हाल हो जाता है, हर घड़ी दिल धड़कता है, रात को नींद नहीं आती, ऐसा अनुभव होता है मानो कोई, उसे बुरी तरह कुचल रहा है। भीरुता एवं निराशा उसे घेरे रहती है। जिस काम को करने की सोचता है उसी में असफलता सूझती है । दुनियाँ के सब लोग स्वार्थी, धूर्त, बेवकूफ एवं शत्रु दिखाई पड़ते हैं । किसी की सचाई सदाशयता एवं सद्भावना पर विश्वास नहीं होता । यह सब प्राण की कमी के लक्षण हैं । दुःस्वप्न, घबरा जाना, चिन्तातुर रहना, धैर्य खो देना, निराशाजनक भविष्य की कल्पनायें करते रहना, नास्तिक सा बन जाना आदि बातें प्राणशक्ति की न्यूनता से होती हैं । निष्प्राण तो उसे कहते हैं जो पूरी तरह प्राणरहित हो जाता है, जड़ बन जाता है, पर न्यून-प्राण उसे कहते हैं जो भीतरी और बाहरी दृष्टि से निर्बल हो गया है और उन निर्बलताओं का दुःख प्रतिक्षण भुगतता रहता है । क्योंकि न्यून-प्राण की थोड़ी सी मात्रा भोजन पचाना, निद्रा, रक्ताभिसरण, श्वास-प्रश्वास आदि में ही खर्च हो जाती है फिर अन्य उन्नति करने वाले तथा रक्षा करने वाले कार्यों के लिए शक्ति नहीं बच पाती, फलस्वरूप उनकी व्यवस्था ठीक तरह नहीं चल पाती है और वह हर दिशा में असफलता का शिकार होता रहता है।

प्राणवायु की स्थिति इससे भिन्न होती है । उसकी नस-नस में उत्साह होता है, मन में हर घड़ी नई तरंगे उठती हैं, हृदय में दृढ़ता, साहस, धैर्य, आशा एवं स्फूर्ति की भावनायें गूँजती रहती हैं । वह प्रत्यक्षतः चाहे दुबला पतला दिखाई देता हो, कम पढ़ा लिखा हो, पिछड़ी हुई परिस्थितियों में रहता हो तो भी वह अपने प्राण बल के आधार पर ऐसे-ऐसे अवसर प्राप्त करता है, ऐसे-ऐसे कार्य कर दिखाता है, जिसे देखकर अधिक साधन सामर्थ्य रखने वाले व्यक्तियों को भी आश्चर्य से दाँतों के तले उँगली दबानी पड़ती है । मनुष्य में जो शक्ति है वह हाड़, मांस, रक्त, रस की नहीं, प्राण की शक्ति है । मरने के बाद हाड़, मांस तो सब मौजूद रहते हैं पर केवल प्राण निकल जाते हैं । इस प्राण के हटते ही शरीर के सारे कल पुर्जे निरर्थक सिद्ध होते हैं। जीवन का सार प्राण है, क्योंकि सभी प्रकार की भौतिक शक्तियाँ प्राण के अन्तर्गत रहती हैं । जिसका प्राण जितना ही सबल है, अधिक है, सुरक्षित है, वह उतना ही पुरुषार्थी एवं शक्तिशाली है और अपने प्रयत्न में वे सब बातें प्राप्त करेगा जिनके द्वारा आन्तरिक और बाह्य सुख शान्ति को प्राप्त किया जा सकता है ।

इन सब बातों पर विचार करने से प्रकट हो जाता है कि जीवन का सार प्राण है । यह प्राण स्वभावतः परमात्मा ने हमें प्रचुर मात्रा में दिया है । प्राण का अक्षय भंडार हमारे चारों ओर लहलहा रहा है । उसमें से मनमानी मात्रा में हम अपने लिए ग्रहण कर सकते हैं । इतना होने पर भी जो लोग निर्बल प्राण देखे जाते हैं, वे अपनी इस दैवीशक्ति को सुरक्षित रखते हैं, ऐसी दशा में खर्च कर देते हैं, जहाँ बहुत सारा अंश निरर्थक खर्च हो जाता है इस व्यय को रोकने से मनुष्य प्राणवान् बन सकता है । व्यय किस तरह रुके, इसका समाधान ऐतरेय ब्राह्मण ने कर दिया है । उसका कथन है कि गायत्री प्राणों की रक्षा करती है । ऐसे अन्य प्रमाण भी मिलते हैं जिनसे प्रकट होता है कि गायत्री नाम इसलिये पड़ा है कि वह प्राणों की रक्षा करती है ।

प्राणा गया इति प्रोक्तात्वायते तानथापि वा

— भारद्वाज

अर्थात्—गय प्राणों को कहते हैं जो प्राणों की रक्षा करती है वह गायत्री है ।

तद्यत्प्राणं त्रायते तस्माद् गायत्री ।

— वृहदारण्यक ५/१४/४

अर्थ—जिससे प्राणों की रक्षा होती है वह गायत्री है।

गयान् त्रायते गायत्री

— शङ्कर भाष्य

अर्थ—प्राणों की रक्षा करे वही गायत्री है ।

गायस्त्रायते देवि ! तद्गायत्रीति गद्यसे ।
गयः प्राण इति प्रोक्तस्तस्य त्राणादपीति वा ॥

— वसिष्ठ

अर्थ—हे देवि ! तुम उपासक की रक्षा करती हो इसलिए तुम्हारा नाम गायत्री पड़ा है। 'गय' प्राणों को कहते हैं, प्राणों की रक्षा करने से गायत्री नाम होता है ।

गयाच्छिष्यान् यतस्त्रायेत्कायं प्राणास्तथैव च ।
ततः स्मृतेयं गायत्री सावित्रीयं ततो यतः ।
प्रकाशनात्मा सवितुर्वाग्रूपत्वात्सरस्वती ।

— अग्नि पुराण २१/६७/१, २,

अर्थ—शरीर और प्राणों की रक्षा करने के कारण गायत्री नाम हुआ और प्रकाश स्वरूप होने के कारण सावित्री तथा वाणी रूप से सरस्वती कहलाई ।

गायत्री प्रोच्यते तस्माद् गायन्तां त्रायते यतः ।

— *याज्ञवल्क्य*

अर्थ—उसे गायत्री इसलिए कहा जाता है क्योंकि वह प्राणों की रक्षा करती है ।

इन प्रमाणों पर विचार करने से प्रकट हो जाता है कि गायत्री वह तत्व है जो हमारे प्राणों की रक्षा करता है । अब देखना है कि यह किस प्रकार होता है । इस प्रकार के प्रश्न करते हुए हमें यह जानना होगा कि गायत्री है क्या ? श्री शङ्कराचार्य जी ने अपने भाष्य में इसको स्पष्ट किया है । वे कहते हैं—

''गीयते तत्वमनया गायत्रीति''

अर्थात्—जिससे तत्व जाना जाये, वह गायत्री है । जिस विवेक बुद्धि से, ऋतुम्भरा प्रज्ञा से तत्व को, वास्तविकता को जाना जा सकता है वह गायत्री है ।

तत्व और अतत्व का, सत्य और असत्य का, श्रेय और अश्रेय का जो बुद्धि निर्णय कर देती है, हमें क्या करना क्या न करना, इसका निर्णय दिव्य प्रकाश के आधार पर करने वाली ऋतुम्भरा बुद्धि एक ऐसी अद्भुत शक्ति है, जिसकी तुलना में विश्व की और कोई शक्ति मनुष्य के लिये हितकारी नहीं, तमसाच्छादित बुद्धि में चाहे कितना ही चातुर्य क्यों न हो, चाहे वह कितनी ही तीक्ष्ण, कितनी ही उपजाऊ और कमाऊ क्यों न हो, उससे मनुष्य का सच्चा हित नहीं हो सकता और न उससे आत्मिक सुख-शान्ति के दर्शन हो सकते हैं । भोग विलास के थोड़े से उपादान वह जरूर जमा कर सकती है, पर उन उपादानों के कारण चिन्ता, भय, आशंका, तृष्णा, मोह, मद आदि की मात्रा इतनी बढ़ जाती है कि उनका भार आत्मा के लिये असाधारण रूप से कष्टदायक सिद्ध होता है । जो सम्पत्ति नीति-अनीति का ध्यान न रख कर इसलिये कमाई जाये कि, इससे सुख की वृद्धि होगी, वह उल्टा परिणाम उपस्थित करती है । थोड़ी-सी बाहरी तड़क-भड़क दिखाकर भीतर का सारा आनन्द नष्ट कर देती है । उस आंतरिक अशान्ति के कारण छोटे मोटे अनेकों शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक रोग उपज पड़ते हैं और वे हर घड़ी उस आदमी को बेचैन बनाये रहते हैं, जो अपने को बुद्धिमान समझने का दम भरता है । तमसाच्छन्न बुद्धि जितनी अधिक तीक्ष्ण होगी उतना अधिक विपत्ति का कारण बनेगी, ऐसी बुद्धि तो जितनी मन्द हो उतना ही उत्तम है ।

गायत्री उस बुद्धि का नाम है, जो सतोगुणी दैवी-तत्वों से आच्छादित होती है, जिसकी प्रेरणा से मनुष्य का मस्तिष्क और शरीर ऐसे मार्ग पर होता है, जिस पर चलते हुए पग-पग पर कल्याण के दर्शन होते हैं । जिससे हर कदम पर आनन्द का संचार होता है । सात्विक विचार और कार्यों को अपनाने से मनुष्य की प्रत्येक शक्ति की रक्षा और वृद्धि होती है । उसकी प्रत्येक क्रिया उसे अधिक पुष्ट, सशक्त एवं सुदृढ़ बनाती है और वह दिन-दिन अधिक शक्ति-सम्पन्न बनता है ।

तमसाच्छादित बुद्धि द्वारा उत्पन्न हुए विचार और कार्य हमारी प्राण शक्ति को दिनों दिन घटाते हैं । भोग प्रधान कार्यों से शरीर दिनों-दिन क्षीण होता है, स्वार्थ-प्रधान विचारों से मन दिन-दिन अथाह पाप-पङ्क में फँसता है, इस प्रकार जीवन की पेंदी में असंख्य छिद्र हो जाते हैं जिनमें होकर सारी उपार्जित शक्ति नीचे नष्ट हो जाती है । चलनी में चाहे कितना भी दूध दुहा जाय, सब नीचे गिर जायगा और चलनी खाली की खाली रह जायेगी, यही बात तमसाच्छन्न बुद्धि के लोगों के बारे में है । कितना ही कीमती भोजन हो सब विषय-भोगों की-चटोरपन की उष्णता में जल जायेगा । वे चाहे जितनी बुद्धि दौड़ाकर नई कमाई करें पर तृष्णा, स्वार्थपरता, भय, अहङ्कार, लोभ आदि कारणों से चित्त सदा दुःखी ही रहेगा और उससे मानसिक शक्तियाँ नष्ट होती रहेंगी । इन दोनों कारणों से प्राण निर्बल होता रहेगा और वह न्यूनप्राण व्यक्ति संसार में नाना प्रकार के उद्वेगों में किसी प्रकार हीन जीवन ही व्यतीत करता रहेगा।

सतोगुणी, ऋतम्भरा विवेक बुद्धि हमारे शारीरिक आहार-विहारों को सात्विक रखती है । संयम, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, श्रमशीलता, सादगीमय प्राकृतिक दिनचर्या होने से बल-वीर्य बढ़ता और शरीर सक्रिय रहता है और दीर्घायुष्य की प्राप्ति होती है। मन में अपरिग्रह, परमार्थ, सेवा, त्याग, सहिष्णुता, तितीक्षा, दया, सहानुभूति, मैत्री, करुणा, नम्रता, निरहङ्कारिता, धर्म, श्रद्धा, ईश्वरपरायणता आदि की भावना काम करती है । यह भावना जहाँ रहती है, वहाँ के परमाणु सदैव प्रफुल्ल और चैतन्य रहते हैं तथा उनका विकास होता है । इस प्रकार शरीर और मन दोनों की सुरक्षा एवं बुद्धि की सात्विक उन्नति होने के कारण प्राण शक्ति सुरक्षित रहती है और उसकी वृद्धि होती है । इस प्रकार गायत्री सद्बुद्धि देकर हमारी प्राण रक्षा का हेतु बनती हुई अपने नाम को सार्थक करती है।

अज्ञानान्धकार में भटकते हुए माया-बन्धनों से बँधकर तड़फड़ाते हुए नीच तत्वों के दलदल में फँसे हुए प्राणी इस दुर्लभ जीवन को दु:ख दारिद्रय की यातनाओं में घुला-घुलाकर नष्ट करते हैं । उनके लिए गायत्री एक प्रकाश है, एक आशापूर्ण सन्देश है, एक दिव्य प्रकाश है जिससे कि उसके अन्तर्गत समस्त भौतिक, आध्यात्मिक, सांसारिक और मानसिक आनन्दों का स्रोत खुला हुआ है। वह हमारे मुँदे हुए विवेक के तृतीय नेत्र को खोलती है, उसे ज्योति देकर इस योग्य बनाती है कि संसार को नेत्र विवेक दृष्टि से देख सकें और जीवन-लक्ष्य को प्राप्त कर सकें ।

वेद-जननी गायत्री विश्व की समस्त श्रेष्ठ शक्तियों को उत्पन्न करती है और उन्हें अपने दिव्य प्रकाश से आलोकित करती है, इसलिये उसे सावित्री भी कहा जाता है। यथा—

सवितृद्योतनात् सैव सावित्री परिकीर्तिता ।
जातः प्रसवितृत्वात् वाग् रूपत्वात् सरस्वती ॥

—व्यास

अर्थ—विश्व को उत्पन्न कर उसको प्रकाशित करने से सावित्री नाम हुआ और वाक् रूप होने से वह सरस्वती कहलाई । यों तो—

गायत्री गायतेः स्तुति कर्मणः ।

— निरुक्त

अर्थ—स्तुति कर्म में कहे गये छन्द को गायत्री कहते हैं और

चतुर्विंशत्यक्षराणां सत्वेन गायत्री छन्द ।
स्करतयापीयं गायत्रीत्यभिधीयते ॥

— तारकानाथ भाष्य १६/१०

अर्थ—चौबीस अक्षरों से निर्मित छन्द को गायत्री कहते हैं । यह सब परिभाषायें गायत्री की महान महिमा की तुलना में बहुत ही नगण्य हैं । वेदों की महिमा का वर्णन करना कठिन है फिर वेदमाता की परिभाषा, व्याख्या और उसके गर्भ में छिपे हुए महान् श्रेय का वर्णन तो हो ही कैसे सकता है। यह तो उसका अँगुलि निर्देश मात्र है ।

ॐ की व्याख्या

ॐकार को ब्रह्म कहा है । वह परमात्मा का स्वयं सिद्ध नाम है। योग विद्या के आचार्य समाधि अवस्था में पहुँच कर जब ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं, तो उन्हें प्रकृति के उच्च अन्तराल में ध्वनि होती हुई परिलक्षित होती है । जैसे घड़ियाल के चोट मार देने से वह बहुत देर तक झनझनाती रहती है, इसी प्रकार बार-बार एक ही कम्पन उन्हें सुनाई देते हैं । यह नाद 'ॐ' ध्वनि से मिलता-जुलता होता है। उसे ही ऋषियों ने ईश्वर का स्वयं सिद्ध नाम बताया है और उसे 'शब्द' कहा है।

इस शब्द ब्रह्म से रूप बनता है । इस शब्द के कम्पन सीधे चलकर दाहिनी ओर मुड़ जाते हैं । शब्द अपने केन्द्र की धुरी पर भी घूमता है, इस प्रकार वह चारों तरफ घूमता रहता है । इस भ्रमण, कम्पन, गति और मोड़ के आधार पर स्वस्तिक बनता है, यह स्वस्तिक ॐकार का रूप है।

ॐकार को प्रणव भी कहते हैं । यह सब मन्त्रों का हेतु है, क्योंकि इसी से समस्त शब्द और मन्त्र बनते हैं । प्रभाव से व्याहृतियाँ उत्पन्न हुई और व्याहृतियों में से वेदों का आविर्भाव हुआ ।

इसी का कुछ विवेचन नीचे है—

सर्वेषामेव मन्त्राणां कारणं प्रणवः स्मृतः ।
तस्मात् व्याहृतियोजातास्ताभ्यो वेद त्रयं तथा ॥

— वृद्धहारीति अ० ६/८८

अर्थ—ओंकार समस्त मन्त्रों का हेतुभूत है, ओंकार से व्याहृतियाँ उत्पन्न हुईं और व्याहृतियों से तीनों वेद उत्पन्न हुए ।

भूरित्येव हि ऋग्वेदो भुवः इति यजुस्तथा ।
स्वरिति सामवेदः स्यात् प्रणवो भूर्भुवः स्वः ॥

— वृद्धहारीति अ० ५/८९

भूः से ऋग्वेद, भुवः से यजुर्वेद, स्वः से सामवेद ।

सप्तव्याहृतिषु प्रोक्तः प्रणवोऽयं पुनः पुनः ।
सप्तनामपि लोकानां शक्ति ब्रह्म स्वरूपताम् ॥

— वह्वृच सं० मं० दीपिका

"यह ओंकार सातों व्याहृतियों में बारम्बार कहा गया है, अतः सप्तलोकों की ब्रह्मस्वरूपता का द्योतक है ।"

तत्र सर्व वेदानां सारमस्ति ।

'हे नचिकेता ! ॐ की साधना में ही समस्त वेदों का सार है ।'

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः ।
वेदत्रयान्निरहद् भूर्भुवः स्वरतीति च ॥

— मनु० अ० २/७६

"ब्रह्माजी ने अकार, उकार, मकार अर्थात् ॐ को और भूर्भुवः स्वः को तीन वेदों से निकाला था ।"

ओंकार विन्दु संयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव ओंकाराय नमो नमः ॥

"योगी पुरुष अनुस्वार युक्त ओंकार का सदा ध्यान करते हैं, अतः समस्त कामनाओं की पूर्ति करने वाले तथा मोक्षदायक ओंकार को हम नमस्कार करते हैं ।"

ओंकार को अपनाने से ब्रह्म तत्वों की मात्रा अपने भीतर बढ़ती है । फलस्वरूप गुण-कर्म स्वभाव में ब्राह्मी भावों की प्रधानता रहने लगती है । इस अभिवर्द्धन के फलस्वरूप मनुष्य स्वर्ग, मोक्ष, अमरता, सिद्धि, मङ्गल, निर्भयता, आत्मदर्शन, ब्रह्मनिर्वाण, मनोजय, शिवत्व की ओर बढ़ता है। ईश्वर के इस स्वयं सिद्ध नाम का अवलम्बन ग्रहण करके मनुष्य ईश्वर की ओर ही चल पड़ता है। रस्सी को पकड़ कर चढ़ने वाला वहीं जा पहुँचता है जहाँ पर रस्सी बँधी है । प्रणव ब्रह्म से सम्बद्ध है, इस सम्बन्ध के आधार पर साधक ब्राह्मी स्थिति तक पहुँच जाता है । नीचे के प्रमाणों में इन्हीं भावों का प्रतिपादन किया गया है ।

ॐ इति स्मरणेनैव ब्रह्मज्ञानं परावरम् ।
तदेकं मोक्षसिद्धिं च लभेतामृतमश्नुते ॥

"पुरुष ॐ के स्मरण मात्र ही से ब्रह्मज्ञान की परकाष्ठा, मोक्षता तथा अमरता की सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।"

ॐकारो चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्राह्मणः पुरा ।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातो तस्मान्मांगलिकावुभौ ॥

— अनाध्याये शांति पाठात्

"ओंकार तथा 'अथ' ये दोनों शब्द प्राचीन काल में ब्रह्माजी के कण्ठ से स्वतः निकले थे, इसलिए वे दोनों मङ्गलकारक कहे जाते हैं ।"

प्रणवे विनिस्य व्याहृतीषु च सप्तसु ।
त्रिपदायां च गायत्र्यां न भयं विद्यते क्वचित् ॥

"ओंकार में सप्त व्याहृतियों में तथा गायत्री के त्रिपद युक्त पुरुष को भय कहीं पर भी नहीं होता है ।"

अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः ।
ओंकारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः ॥

"ओंकार विषय रहित तथा विषय सहित, द्वैत भाव का नाशक कल्याणकारी है । पुरुष उस ओंकार को जानकर मुनि हो जाता है ।"

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥

"ॐ"का अवलम्बन श्रेष्ठ है, "ॐ"का अवलम्बन ही परम है । "ॐ" के अवलम्बन से मनुष्य ब्रह्म लोक में महानता प्राप्त करता है।

युञ्जीत प्रणवे चेत प्रणवो ब्रह्म निर्भयम् ।
प्रणवे नित्य युक्तस्य न भय विद्यते क्वचित् ॥

"ॐ" निर्भय ब्रह्म है अतः मन को प्रणव में युक्त करें। प्रणव में नित्य युक्त पुरुष को कहीं पर भी भय नहीं मिलता है ।"

बुद्धि तत्वेन धीशून्यं मौनमेकान्तवासिना ।
दीर्घप्रणवच्चार्य मनो राज्यं विजीयते ॥

"ॐ" के निरन्तर जप से मौनी बुद्धि के कारण इधर-उधर भटकते हुए मन पर आधिपत्य प्राप्त कर लेता है ।"

ॐ इत्येकाक्षरः ध्यानात् विष्णुर्विष्णुत्वमाप्तवान् ।
ब्रह्मा ब्रह्मत्वमापन्नः शिवतामभवत् शिवः ॥

ॐ इस एकाक्षर मन्त्र के ध्यान से विष्णु विष्णुत्व को ब्रह्मा ब्रह्मात्व को तथा शिव शिवत्व को प्राप्त हुए ।

ॐ स्मर ।

— यजुर्वेद अ० १५

'वेद भगवान् का उपदेश है कि ॐ का स्मरण करो।'

ॐ स्मरणात् कीर्तनाद्वापि श्रवणाच्च जपादपि ।
ब्रह्म तत्प्राप्यते नित्यमोमित्येतत्परायणः ॥

'ॐ के स्मरण, कीर्तन, श्रवण और जप से उस परब्रह्म को मनुष्य प्राप्त हो जाता है, अतः ॐ में परायण रहे ।'

तैलधारामिवाछिन्नं दीर्घघण्टा-निनादवत् ।
उपास्यं प्रणवस्याग्रं यस्तं वेद स वेदवित् ॥

"निरन्तर गिरती तेल की धार के समान या घड़ी के शब्द के समान यथार्थता से सदा ॐ विचारधारा में जो निमग्न रहता है, वही वेदवेत्ता है ।"

प्रणव की श्रेष्ठता को ध्यान में रखते हुए आचार्यों ने समस्त श्रेष्ठ कर्मों में ओंकार को प्राथमिकता देने का विचार किया है । यह मन्त्रों का सेतु है, इस पुल पर चढ़कर मन्त्र मार्ग को पार किया जा सकता है । बिना आधार के—नाव पुल आदि अवलम्बन के किसी बड़े जलाशय को पार करना जिस प्रकार सम्भव नहीं उसी प्रकार मन्त्रों की सफलता के लिए बिना प्रणव के सफलता मिलना दुस्तर है । इसीलिए आमतौर से सब मन्त्रों में और विशेष रूप से गायत्री मन्त्र में सर्वप्रथम प्रणव का उच्चारण आवश्यक बताया गया है ।

क्षारन्ति सर्वा चैव यो जुहोति यजति क्रियाः ।
अक्षरमक्षयं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः ॥

'बिना ॐ के समस्त कर्म, यज्ञ, जप आदि निष्फल होते हैं, ॐ को अविनाशी, प्रजापति ब्रह्म जानना चाहिये।'

प्रणवं मन्त्राणां सेतुः ।

— *व्यास*

'प्रणव मन्त्रों का पुल है अर्थात् मन्त्र पार करने के लिये प्रणव की आवश्यकता अपरित्याज्य है ।'

यदोंकारमकृत्वा किंचिदारभ्यते तद्वज्रो भवति ।
तस्माद्वज्रभयाद्भीतओंकारं पूर्वमारभेदिति ॥

'बिना ओंकार का उच्चारण किये सभी कार्य वज्रवत् अर्थात् निष्फल हो जाते हैं अतः वज्र-भय से डर कर प्रथम ॐ का उच्चारण करे ।'

ॐ के १९ अर्थ

ॐ शब्द आप्लृ 'व्याप्तौ' और 'अव रक्षते' धातु से सिद्ध होता है।

'आप्लृ' धातु से निर्मित ॐ का अर्थ सर्वव्यापी होता है और 'अव' धातु से निर्मित ॐ का अर्थ संसार सागर से रक्षा करने वाला होता है।

'अव' धातु से मन प्रत्यय होता है (अवनष्टिलोपः) इस उणादि के सूत्र से टि का लोप होता है। अव + म् ऐसी अवस्था में (ज्वत्वर०) इत्यादि कृदन्त के सूत्र से व का ऊठ होता है अब + ऊ + म् ऐसी अवस्था हो जाती है तदन्तर आदगुणः सूत्र से गुण होकर ॐ सिद्ध होता है ।

इस ॐ को प्रणव भी कहते हैं ।

प्रणव प्रपूर्वक णु धातु से स्तुति अर्थ में सिद्ध होता है और इसका अर्थ जिसके द्वारा अभीष्ट देवता की स्तुति की जाय वह 'प्रणव' होता है ।

'अव' धातु रक्षण, गति, कान्ति, तृप्ति, अवगम, प्रीति, प्रवेश, श्रवण, स्वाम्यर्थ, याचन, क्रिया, इच्छा, दीप्ति, वाप्ति, आलिंगन, हिंसा, दान, भोग, वृद्धि इत्यादि १९ अर्थों में हैं। अतः क्रमशः सभी प्रकार से ॐ का अर्थ नीचे दिया जाता है ।

(१) **रक्षण**—अवति संसार सागराद्रक्षति—संसार सागर से रक्षा करता है ।

(२) **गति**—अवति—सर्वे जानाति—सर्वकाल में समस्त वस्तुओं का यथार्थ ज्ञाता ।

(क) **यति**—अवति—संसार चक्रो यस्माद् गच्छति—सदा संसार चक्र को चलाने वाला ।

(ख) **गति**—अवति—सर्वत्र व्याप्नोति—व्यापक होने से समस्त स्थानों पर विद्यमान तथा सबको प्राप्त ।

(ग) **गति**—अवति—ज्ञानेन विश्वं प्रवर्तयितुं प्रयत्नं करोति—विश्व मर्यादा को ज्ञानपूर्वक चलाने के लिए सर्वत्र प्रयत्न का प्रसार करने वाला है ।

(३) **कान्ति**—अवति। अवति विश्वं प्रकाशयति—जो संसार को प्रकाशित करने वाला ।

(४) **प्रीति**—अवति—सर्वे प्रीणियत—आनन्दस्वरूप के कारण भक्तों को प्रसन्न करने वाला ।

(५) **तृप्ति**—अवति—भक्तान्तर्पयति—शांत स्वरूप होने के कारण सदैव भक्तों को तृप्त करने वाला ।

(६) **अवगम—अवति**—अवगच्छति—समस्त प्राणियों के विचार को सर्वदा सर्वत्र जानने वाला ।

(७) **प्रवेश—अवति**—सूक्ष्मत्वात्प्रविशति—सूक्ष्म होने के कारण आत्म-स्वरूप से समस्त प्राणियों में जो प्रवेश करता है ।

(८) **श्रवण—अवति**—सर्वे शृणोति—स्वयं श्रोतृ इन्द्रिय का निर्माता होने के कारण सूक्ष्मता, स्थूल, गुप्त से गुप्त शब्दों का श्रोता ।

(९) **स्वाम्यर्थ—अवति**—अधिपत्य करोति—समस्त चराचर जगत् का स्वामी होने से शासन करने वाला ।

(१०) **याचन**—ऐश्वर्यों से युक्त होने के कारण सबकी याचना का स्थान ।

(११) **इच्छा क्रिया**—अवति—संसार चक्र चालयति—क्रियात्मक संसार का निर्माण होने से सांसारिक क्रियाओं का संचालक ।

(१२) **इच्छति**—अवति—स्वयं इच्छारहित होने पर भी जीवों की शुभ कामनाओं का प्रकाशक ।

(१३) **दीप्ति**—अवति—दीप्यति—ज्ञान स्वरूप होने के कारण विद्या का तेज स्वरूप होने से अन्धकार को नष्ट करने वाला ।

(१४) **वाप्ति**—अवति—प्रदर्शयति—अणु-अणु तथा अप्रतीत होने वाला एवं इन्द्रियातीत होने के कारण पवित्र अन्तःकरण में स्वरूप प्रदर्शक ।

(१५) **आलिंगन**—अवति-अलिंगयति—सर्वज्ञ व्याप्त व्यापक के भाव से सबका सम्बन्धी ।

(१६) **हिंसा**—अवति-हिंसति—सर्वदा वेद कथित मार्ग पर जलने वालों के अज्ञान के हिंसक अर्थात् नाश करने वाला ।

(१७) **दान**—अवति ददाति—सृष्टि काल से ही सुख-दायक पदार्थों तथा उनको उपयोग में लाने की बुद्धि को देने वाला ।

(१८) **भोग**—अवति-लीनं करोति—प्रलय के समय स्थूल जगत् को अदृश्य अर्थात् अपने में लीन करने वाला।

(१९) **वृद्धि**—अवति-वर्द्धयति—सृष्टि काल में सूक्ष्म प्रकृति को स्थूल पथ पर लाने वाला ।

यह ॐ अव्यय वाचक शब्द है । इसके सामने कोई भी प्रत्यय विभक्ति आते ही अपने आप नष्ट हो जाती है, अत: यह अविनाशी है।

चूँकि यह वाचक शब्द अव्यय होता है, अत: यह शब्द परमात्मा के अतिरिक्त किसी भी प्राणी में प्रयोजित नहीं हो सकता है। क्योंकि प्राणी अल्पज्ञ एक स्थान पर रहने वाला पूर्णता रहित एवं न्यूनता सहित है ।

प्रणव के जो अर्थ हैं वे गुण भी हैं, प्रणव की उपासना करने से, उसका जप करने से उपर्युक्त १९ गुणों की प्राप्ति होती है । इसलिये इसे प्रत्येक मन्त्र के आदि में उच्चारण किया जाता है । ओंकार को मन्त्रों का सेतु कहा गया है, उस पर चढ़कर ही मन्त्रों की दुस्तरता को पार किया जाता है ।

गायत्री मन्त्र में सबसे प्रथम ॐ को इसलिये नियोजित किया है कि इस शक्ति की धारा को इस पुल पर चढ़कर पार किया जा सके । ॐ जिन अर्थों का बोधक है उन अर्थों की गुणों की, आदर्शों की स्फुरणा साधक की अन्तर्भूमि में होती है, फलस्वरूप आध्यात्मिक साधना का मार्ग सुगम हो जाता है । ॐ की शिक्षायें यदि साधक के मन पर जम जावें तो उसका कल्याण होने में देर नहीं लगती ।

ॐ शब्द ब्रह्म है । गायत्री ब्रह्म की ही महाशक्ति 'ब्रह्म' है। नाद, बिन्दु और कला की त्रिपुटी प्रणव में सन्निहित है। त्रिपदी गायत्री के तीन चरणों में उस त्रिपुटी का जब सम्मिलन होता है तो अपार आनन्द की अनुभूति होती है। दक्षिणमार्गी और वाममार्गी अपने-अपने ढङ्ग से इन आनन्दों का आस्वादन करते हैं ।

तीन व्याहृतियाँ (भूः भुवः स्वः)

गायत्री में ॐकार के पश्चात् भू: भुव: स्व: यह तीन व्याहृतियाँ आती हैं । इन तीनों व्याहृतियों का त्रिक् अनेकार्थ बोधक है, वे अनेकों भावनाओं का अनेकों दिशाओं का संकेत करती हैं, अनेकों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं ।

ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीन उत्पादक, पोषक, संहारक शक्तियों का नाम भू: भुव: स्व: है । सत, रज, तम, इन तीनों गुणों को भी त्रिविध गायत्री कहा है । भू: को ब्रह्म, भुव: को प्रकृति और स्व: को जीव भी कहा जाता है। अग्नि, वायु और सूर्य इन प्रधान देवताओं का प्रतिनिधित्व ३ व्याहृतियाँ करती हैं । तीनों लोकों का भी इनमें संकेत हैं ।

इन त्रिकों पर ध्यान देने से हमें कई आवश्यक बातें सूझ पड़ती हैं, कई महत्वपूर्ण जानकारियों की प्राप्ति होती है । त्रिदेव रूपी परब्रह्म की शक्तियों का हमें ध्यान रखना है । उनके द्वारा पदार्थों को एक रूप में नहीं रहने दिया जाता। विश्व के सब पदार्थ प्रतिक्षण बदल रहे हैं, अपने से सम्बन्ध रखने वाले सब पदार्थ दिन-दिन परिवर्तित होते हैं, धन, यौवन अपने पास है, वह अस्थिर है । स्वजन, सम्बन्धी, उपवन, वाहन आदि भी आज जिस रूप में है भविष्य में उनकी स्थिति वैसी न रहेगी । चरम परिवर्तन का नाम मृत्यु है। पदार्थों का परिवर्तन एवम् नाश होना स्वाभाविक है, इसलिये उनसे मोह न करना चाहिए, केवल उनके सदुपयोग का ध्यान रखना चाहिये । इन सांसारिक पदार्थों में अपने को भुला न देना चाहिये वरन् उस आदि स्थिर, शाश्वत शक्ति से आत्मा का सम्बन्ध स्थापित रखना चाहिए ।

सत्, रज, तम इन तीनों गुणों से संसार बना है । इन तीन स्वभावों के प्राणी और पदार्थ इस विश्व में रहते हैं। उनमें से हमारे लिये बहुत से उपयोगी और बहुत से अनुपयोगी होते हैं । बहुत लाभदायक और बहुत हानिकारक सिद्ध होते हैं । उनमें से हमें अनुपयोगिता से बचना और उपयोगिता को अपनाना है । क्रमश: नीचे से ऊपर की ओर चलना है। तम से रज की ओर और रज से सत की ओर कदम बढ़ाना है ।

ब्रह्म, प्रकृति और जीव के आपसी सम्बन्धों को समझाते हुए अपना दृष्टिकोण और कार्यक्रम निर्धारित करना चाहिये । ईश्वर का अंश जीव प्रकृति के उपवन में सैर करके अपना मनोरंजन करने के लिये आता है। जैसे यात्री लोग उपवन का सौंदर्य निहारते हुए अपना मन सन्तुष्ट करते हैं और उपवन के पेड़ पौधे पर अपना-अपना आधिपत्य नहीं जमाते उसी प्रकार हमें भी संसार की वस्तुओं का सदुपयोग तो करना चाहिए पर अपनी मालिकी नहीं गाँठनी चाहिए । अन्यथा उपवन का सौंदर्य देखने का लाभ तो दूर रहा, उन वृक्षों को काट कर कोयला बनाने और फिर उन्हें बेचकर तिजूरी भरने की चिन्ताएँ मस्तिष्क को घेर लेंगी । आज अधिकांश व्यक्ति इस सुरदुर्लभ मानव शरीर को पाकर भी, स्वर्गादपि गरीयसी भू माता की गोदी में खेलने का सौभाग्य पाकर भी, नारकीय अग्नि में झुलसते हुए दिखाई पड़ते हैं । इस भूल का मूल कारण वह दृष्टिकोण है जिसके अनुसार मनुष्य सृष्टि-सौंदर्य देखकर आनन्द लाभ करने की अपेक्षा स्वार्थपूर्ण हाय-हाय में फँसा हुआ

दिखाई पड़ता है। यदि हमारी सृष्टि शुद्ध हो जाय, ईश्वर जीव और प्रकृति के रहस्य को समझ जाय तो अत्यधिक धन सम्पदा प्राप्त होते हुए भी सर्व प्रकार से सुखमय जीवन बिताया जा सकता है।

अग्नि, वायु और जल की उपासना का अर्थ है—तेजस्विता, गतिशीलता और शांतिप्रियता का मन में स्थापित होना। इस पद्धति को अपना कर, इस त्रिविध सम्पत्ति को अन्दर धारण करके, जीवन को सर्वाङ्गीण सुख-शान्तिमय बनाया जा सकता है।

इस प्रकार के अनेकों संकेत व्याहृतियों के त्रिक में भरे हुए हैं। उन संकेतों का सार हमें सत्य, प्रेम और न्याय ही प्रतीत होता है। नीचे दिये हुए प्रमाणों में व्याहृतियों के अन्तर्गत छिपे हुए कुछ संकेतों का परिचय प्राप्त कीजिये।

विशेषेण आहृतिः सर्व विराट।
प्राह्लानं प्रकाशोकरण व्याहृतिः।

— विष्णु स० भा०

विशेष रूप से आहृति अर्थात् समस्त विराट का बोध प्रकाश करने से व्याहृति नाम हुआ।

भूर्भुवः स्वस्तथा पूर्व स्वयमेव स्वयम्भुवाः।
व्याहृताज्ञानदेहेन तेन व्याहृतयाः स्मृताः॥

— यो० याज्ञ० अ० १ श्लोक ९

सृष्टि से पूर्व ब्रह्माजी ने स्वयं ज्ञान देह से भूर्भुवः स्वः कहा, इसी कारण से व्याहृति नाम हुआ।

भूर्भुवः स्वः ब्रह्म। भूर्भुवः स्वरापओऽम्।

— महानारायण ८/१४/१

भूर्भुवः स्वः ब्रह्म रूप है, भूर्भुवः स्वः और जल ओंकार स्वरूप है।

ब्रह्मसत्ता व्यतिरेकेण भूर्लोकादि।
प्रपञ्जस्य पृथक सत्ताऽनगी कारात्तद्ब्रह्मैव॥

— निर्णयकालावल्याख्य सं० भा०

ब्रह्म सत्ता के बिना भूर्लोकादि प्रपंच की सत्ता स्वीकार न करने से वह निःसंशय ब्रह्म है।

प्रधानं पुरुषः कालो ब्रह्मविष्णुमहेश्वरः।
सत्यं रजस्तमस्तिस्त्रः क्रमाद् व्याहृतयः स्मृता॥

— कूर्म पुराणे उत्तर विभागे अ० १/१४ श्लोक ५४

प्रधान काल पुरुष ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, सत्व, रज, तम, क्रम से ये व्याहृतियाँ कही गई हैं।

भूर्विष्णुर्श्य तथा लक्ष्मीर्भुवः इत्यभिधीयते।
तयो र्योः स्वरिति जीवस्तु स्वः इत्यभिधीयते।

— वृद्धहारीति अ० ५/९१

भूः विष्णु भगवान् हैं तथा भुवः लक्ष्मी जी हैं, उन दोनों का दास स्वः रूपी जीव है।

अग्निर्वायु तथा सूर्यस्तेभ्य एव हि जेनिरे।
स एताः व्याहृतीर्यहु वाः सर्व वेदं जुहोति वै।

— वृद्धहारीति अ० ६/९१

अग्नि, वायु, सूर्य इन्हीं व्याहृतियों से उत्पन्न हुए। जो व्याहृतियों से जप करता है वह समस्त वेदों के पाठ का फल प्राप्त करता है।

भूरादयस्त्रयो लोकः आदरात्कथितं पुनः।
एतत्सर्वं ब्रह्मरूपमिति वक्तुं शिवस्यपि॥

ब्रह्माजी ने पुनः भूर्भुवः स्वः आदि तीन लोक आदर पूर्वक कहे, अतः यह समस्त ब्रह्म स्वरूप है और इसी के कारण गायत्री आदि में लगाये गये हैं।

सारभूतश्च वेदानां गुह्योपनिषदः स्मृताः।
ताभ्यः सारं तु गायत्र्या व्याहृतित्रयम्॥

वेदों का सारभूत उपनिषद है। उपनिषदों का सार गायत्री, गायत्री का सार भूर्भुवः स्वः ये तीन व्याहृति हैं।

तीन व्याहृतियाँ जिन तीन क्षेत्रों पर प्रकाश डालती हैं वे तीनों ही अत्यन्त विचारणीय एवं ग्रहणीय हैं। ईश्वर, जीव, प्रकृति के गुन्थन की गुत्थी को व्याहृतियाँ ही सुलझाती हैं। भूः लोक, भुवः लोक और स्वःलोक यद्यपि लोक विशेष भी हैं परन्तु अन्तः करण, शरीर और संसार यह तीन क्षेत्र भी सूक्ष्म लोक हैं, जिनमें स्वर्ग एवं नरक की रचना मनुष्य अपने आप करता है। सत् रज, तम तीनों गुणों से जीव बँधा हुआ है। इन तीनों का ठीक प्रकार उपयोग हो तो यह बन्धन न रहकर मुक्ति के सहायक एवं आनन्द के उपकरण बन जाते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश का निर्माण, पोषण और संहारकारिणी शक्तियों का तत्वज्ञान एवम् उपयोग व्याहृतियों में मौजूद हैं।

एक ॐ की तीन संतान हैं (१) भूः (२) भुवः (३) स्वः। इन व्याहृतियों से त्रिपदी गायत्री का एक-एक चरण बना है। उसके एक एक चरण में तीन पद हैं। इस प्रकार यह त्रिगुणित सूक्ष्म परम्पराएं चलती हैं। इनके रहस्यों को जानकर तत्वज्ञानी लोग निर्वाण के अधिकारी बनते हैं।

'तत्' शब्द का विवेचन

तत् कहते हैं 'उस' या 'वह' को। तत् शब्द किसी की ओर संकेत करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है- गायत्री में यह शब्द परमात्मा को संकेत करता है। परमात्मा की ओर ध्यान आकर्षित करता है।

केवल संकेत मात्र इसलिए किया गया है कि परमात्मा के विषय में जितना जो वर्णन किया जाता है वह पूर्ण नहीं वरन् सर्वथा अपूर्ण है। कोई भी परमात्मा का वर्णन चाहे वह कितने ही विस्तार से क्यों न किया हो अपूर्ण ही रहेगा, क्योंकि उसकी महिमा मानव बुद्धि की सीमा से बाहर है, यह सब वर्णन केवल मात्र परमात्मा की ओर एक संकेत मात्र है, जैसे उँगली का इशारा करके किसी दूरस्थ वस्तु को दिखाते हैं कि देखो वह वस्तु कहाँ है। उस वस्तु को देखना, उस देखने वाले की आँखों पर, नेत्र ज्योति पर निर्भर है। उँगली के इशारे से तो एक दिशा का ज्ञान कराया जाता है कि वह वस्तु इस दिशा में है। गायत्री के आरम्भिक पद में उस मर्यादा का ध्यान रखा गया है। ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करने की अपेक्षा केवल संकेत मात्र किया गया है कि 'उस' परमात्मा को देखो। वह परमात्मा कैसा है उसका ज्ञान शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श की पञ्चभौतिक तन्मात्राओं से नहीं वरन् देखने वालों की अन्तरात्मा द्वारा ही हो सकता है। आत्मा जब परमात्मा के समीप पहुँचता है तभी उसे उसका रूप प्रतीत होता है। भाषा और लिपि की असमर्थता को, सीमितता को ध्यान में रखते हुए गायत्री ने परमात्मा को 'तत्' शब्द से अँगुली निर्देश किया है। जिसे आवश्यकता होगी, जो उसका महत्व समझेगा वह स्वयं उसका स्वरूप जानने का प्रयत्न करेगा और उसे प्राप्त कर लेगा।

नीचे के प्रमाणों में 'तत्' शब्द ईश्वर के लिये प्रयुक्त हुआ है। इससे जाना जा सकता है कि यहाँ 'तत्' शब्द का संकेत ईश्वर की ओर है—

तच्छब्देन प्रत्यग्भूतं स्वतः सिद्धं परं ब्रह्मोच्यते।

— *शङ्कर भाष्य*

'तत्' शब्द से प्रत्यक्ष तथा स्वतः सिद्ध ब्रह्म कहा जाता है।

तदति अव्ययं परोक्षार्थे।

— *संध्या भाष्य*

'तत्' शब्द परोक्षार्थ में अव्ययवाची है। परोक्षार्थ में उसे कहते हैं जो दृष्टिगोचर न हो।

तच्छब्दः स्वबुद्धिभेदकृतः अतिदूरतमे
अत्युत्कर्षाख्येऽर्थे वर्तते।

— *विष्णु भाष्य*

'तत्' शब्द बुद्धिकृत अर्थ से अति दूर और अति श्रेष्ठ अर्थ वाला है।

ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मस्त्रिविध स्मृतः।

— *गीता अ० १७/३*

'ॐ तत् सत्' ये तीन ब्रह्म नाम परब्रह्म के कहे गये हैं अतः तत् ब्रह्मस्वरूप हैं।

तत्, तस्य सर्वासु श्रुतिषु प्रसिद्ध।

'तत्' उसका नाम है, जो समस्त श्रुतियों में प्रसिद्ध है।

तदित्यनभिसन्ध्याय फलं यज्ञ तपः क्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः।

यज्ञ, तप, दान इत्यादिक क्रियाओं के फल की आशा से रहित हो 'तत्' पदार्थ परमात्मा को लक्ष्य करके मुमुक्षुगण कार्य करते हैं।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणः।
गच्छत्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूर्त कल्मषाः॥

— गीता अ० ५/१७

'तत्' अर्थात् इस परमात्मा के रूप में जिसकी बुद्धि, आत्मा, प्रतिष्ठा और परायणता है वह ज्ञान द्वारा पाप रहित हुआ मनुष्य परम गति को प्राप्त होता है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञान ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः॥

— गीता अ० ४/३४

'तत्' अर्थात् उस ईश्वरीय ज्ञान का, प्रणाम, प्रश्न तथा सेवा द्वारा ज्ञान। वे ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे।

गायत्री मन्त्र 'तत्' शब्द से प्रारम्भ होता है। इस प्रारम्भिक शब्द में ईश्वर की ओर संकेत किया गया है, ताकि इस परब्रह्म परमात्मा की सर्वव्यापकता को ध्यान में रखकर साधक उसी प्रकार बुराइयों से बचे जैसे पुलिस को सामने खड़े देखकर चोर को भी दुष्कर्म करने का साहस नहीं होता। उस परमात्मा को इसलिए भी याद रखना आवश्यक है कि प्रत्येक जड़ चेतन के साथ सद्भावना पूर्ण सद्व्यवहार करने का साधक को ध्यान रहे। तत् (उस) परमात्मा की ओर गायत्री के प्रथम पद में इसलिये संकेत किया है।

'सवितुः' शब्द का रहस्य

सविता शब्द से साधारणतः सूर्य का अर्थ प्रकट होता है, क्योंकि वह प्रत्यक्षतः तेजस्वी और प्रकाशवान् है। परमात्मा की वह अप्रत्यक्ष शक्ति जो तेज के रूप में हमारे स्थूल नेत्रों के सामने आती है वह सूर्य है, इसलिए स्थूल अर्थों में इस सूर्य नामक ग्रह को सविता कहते हैं। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि यह चमकने वाला अग्नि पिण्ड ही पूर्ण सविता नहीं है।

आध्यात्मिक भाषा में सविता कहते हैं तेजस्वी को, प्रकाशवान् को, उत्पन्न करने वाले को। परमात्मा की अनन्त शक्तियाँ हैं, उसके अनेक रूप हैं। उनमें तेजस्वी शक्तियों को सविता कहा जाता है।

परमात्मा की जिस शक्ति से हमें प्रयोजन होता है, जिसको अपनी ओर आकर्षित करना होता है, उसका ध्यान, स्मरण या जप किया जाता है। पूजा उपादानों के द्वारा उस शक्ति को अपने अभिमुख बनाया जाता है। रेडियो की सुई को जिस नम्बर पर घुमा दिया जाता है, उस नम्बर के मीटर वालों से उस रेडियो का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और उसमें चलने वाली शब्द लहरी सुनाई पड़ने लगती है। इस विज्ञान को ध्यान में रखते हुए उपासना के लिए ऐसा नियम बनाया गया है, कि अनन्त शक्तियों के भंडार ईश्वर की जिन शक्तियों से लाभ उठाना होता है उसका ध्यान करते हैं।

गायत्री में सविता का ध्यान किया जाता है। सविता तेजस्वी है इसलिए साधक उससे तेजस्विता की आशा करता है, आत्मिक तेज, बौद्धिक तेज, आर्थिक तेज, शारीरिक तेज इन सब तेजों से सम्पन्न बनने से मनुष्य का जीवन सर्वाङ्गपूर्ण तेजयुक्त बनता है। ईश्वर की तेज-शक्ति को धारण करके हम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जाज्वल्यमान नक्षत्र की तरह चमकें। इसलिए ईश्वर के सविता नाम का गायत्री में स्मरण किया गया है।

सविता शब्द की परिभाषा नीचे के प्रमाणों में देखिये—

सविता वै प्रसवनामीशे।

— *कृष्णयजुर्वेद*

निश्चय ही समस्त सृष्टि का ईश्वर सविता है।

सविता सर्वभूतानां सर्व भावश्च सूयते।
सृजनात्प्रेरणाच्चैव सविता तेन चोच्यते॥

— *वृ० यो० या० अ० ९/५५*

सविता प्राणियों की उत्पन्न करने वाला है और सर्व भावों का उत्पादक है। उत्पन्न करने से तथा प्रेरक होने से सविता नाम कहा गया है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम्।
योऽसावित्येव पुरुषः सोऽसावहम्।

— *मैत्र्युप० ६/३५*

तेजोमय मण्डल द्वारा सत्यस्वरूप परमात्मा का मुख ढका है, वह ढकने वाला सूर्य मण्डल में ही हूँ।

आदित्यमण्डले ध्यायेत्परमात्मनम् अयम्।

— *शौनकः*

सूर्य मण्डल में अविनाशी परमात्मा का ध्यान करें।

सूर्याद्भवन्ति भूतानि सूर्येण पालितानि तु।
सूर्ये लयं प्राप्नुवन्ति यः सूर्ये सोऽहमेव च॥

— *सूर्योप०*

"सूर्य से समस्त सृष्टि उत्पन्न होती है, सूर्य ही पालन करता है और सूर्य में ही लय को प्राप्त हो जाती है। अतः सूर्य स्वरूप मैं ही हूँ।"

तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यम्।

— *श्वेताश्वतर ४/१८*

"सूर्य देव का वर्णनीय तेज अविनाशी है।"

नत्वा सूर्यं परं धाम ऋग्यजुः सामरूपिणम्।
प्रज्ञानायाखिलेशाय सप्ताश्वाय त्रिमूर्तये॥
नमो व्याहृतिरूपाय त्वमोंकारः सदैव हि।
त्वामृते परमात्मानं न तत्पश्यामि देवम्।

— *सूर्य पु० अ० १/१४/३३/३*

'ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद स्वरूप परम तेजस्वी सप्त घोड़ों के रथ पर चलने वाले, ब्रह्मा, विष्णु और शिव स्वरूप ज्ञान हैं आप से बढ़कर अन्य कोई देवता नहीं दीखता।'

चन्द्रमा सविता प्राण एव सविता विद्युदेव सविता

— *गोपथ ब्रा० पूर्व भाग ६/७/९*

'चन्द्रमा सूर्य देव है, प्राण ही सूर्य है, विद्युत सूर्य है।'

एष हि खल्वात्मा, सविता।

— मैत्र्युप० ६/८

'निःसंशय सूर्य देव ही समस्त प्राणियों की आत्मा है।'

सवितुरिति सृष्टि स्थिति लय लक्षणकस्य सर्व।
प्रपंचस्य समस्तद्वैत विभ्रमस्याधिष्ठानं लक्ष्यते।

— *शंकर भा० उव्वट० वि०*

प्रपंचमय जगत् की उत्पत्ति, पालन एवं विनाश का हेतु, समस्त द्वैत विभ्रम का स्थानभूत सविता है।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवंति। यत्प्रत्यभिसंविशन्ति तद्विज्ञात्वातद्ब्रह्मेति।

— *तैत्तरीय भृ० च० अ०*

'जिससे समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं और जिससे पालित होते हैं और जिसमें प्रवेश कर जाते हैं वह ब्रह्म है। अतः उसको तू पहचान।'

संरक्षिता च भूतानां सविता च ततः सविता स्मृताः।

— *वृ० यो० याज्ञ १/९१*

'समस्त प्राणियों की रक्षा करने से सविता नाम हुआ।'

सूते सकल श्रेयांसि धातृणां इति सविता।

— *सन्ध्या भाष्य*

"ध्यान करने वालों के समस्त कल्याणकर्त्ताओं को सविता कहते हैं।"

य एषोरादित्ये हिरण्यमयः पुरुषो दृश्यते।
हिरण्यश्मश्रु हिरण्यके आप्राखात्सर्व एव सुवर्ण॥

— छांदो० १/६६

सूर्यमण्डल में सोने की दाढ़ी मूँछ तथा सोने के केश वाला जो तेजोमय पुरुष दीखता है वह पैर के नख से लेकर शिखा तक तेजोमय है।

देवोऽयं भगवान्भानुरन्तर्यामी सनातनः।

— सूर्य प० अ० १/११

भगवान् सूर्यदेव अन्तर्यामी तथा सनातन देव है।

नमः सवित्रे जगदेकेचक्षुषे जगत्प्रसूतिस्थिति नाथ हेतवे।
त्रयीमयाय त्रिगुणात्मधारणे विरंचिनारायण शंकरात्मने॥

— भविष्य पु०

संसार के एक नेत्र जगत् की उत्पत्ति, पालन, संहार के कारण भूत, वेदत्रयीमय, त्रिगुणात्मक, ब्रह्मा, विष्णु, शंकर स्वरूप आदित्य भगवान् को नमस्कार है।

सूते सकल जन दुःख निवृति हेतुंवृष्टिं जनयति सविता

— सन्ध्या भाष्य

समस्त प्राणियों के दुःख नाश करने को जो वृष्टि करे उसे सविता कहते हैं।

आदित्याज्जायते वृष्टि वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः।

"आदित्य से वर्षा, वर्षा से अन्न, और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है।"

याभिरादित्यस्तपति रश्मिभिस्ताभिः पर्जन्यो भवति

सूर्यदेव जिन किरणों से तपते हैं उन्हीं किरणों से वृष्टि करते हैं।

ऐषः भूतात्मको देवः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
ईश्वरीयः सर्वभूतानां परमेष्ठी प्रजापतिः॥

— भविष्य पु०

यह सूर्यदेव भूतात्मादेव सूक्ष्म, अव्यक्त, सनातन, प्राणियों के ईश्वर, प्रजापति परमेष्ठी ब्रह्मा हैं।

यन्मंडलं ज्ञानघनत्वगम्यं त्रैलोक्यपूज्यं त्रिगुणात्म रूपम्
समस्त तेजोमयदिव्यरूपं पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम्।

ज्ञानघन, अगम्य, त्रैलोक्य में पूजनीय, त्रिगुणात्मक, समस्त तेजमय, दिव्यरूपी सूर्य मण्डल का वर्णनीय तेज हमको पवित्र करे।

असौ वै देवः सवितेति।

— शतपथ ब्राह्मण

यह सूर्यदेव निश्चय ही ब्रह्मदेव हैं।

सविता वै सर्वस्य प्रसविता अग्निः
सवितारम् सर्वस्य प्रसवितारम्।

— निरुक्ते दैवत काण्डे अ० ७ पा० ९

सविता देव निश्चय ही सर्व भूतों के उत्पत्ति कारक हैं, सविता अग्नि को कहते हैं, अग्नि ही समस्त प्राणियों को उत्पन्न करता है।

षुञ—प्राणिप्रसवे इत्यस्य धातारेतद्रूपम्
सुनोति सूयते वा उत्पादयति चराचरं जगतम्
सविता सूर्यमंडलान्तर्गत पुरुष ईश्वर॥

— भारद्वाज भाष्य० रा०

सविता यह रूप प्राणी उत्पन्न करने के अर्थ में 'पुष्ट् धातु से बना है। जो बराबर जगत को उत्पन्न करता है उसका नाम सविता है और सविता देव सूर्य मण्डल के अन्तर्गत जो पुरुष है वह ईश्वर है।

सवनात् सविता

— मैत्र्युपनिषद ६/३५

जगत् का पालन करने से सविता नाम हुआ।

षु-प्रसवैश्वर्ययोः, सर्ववस्तूनाम् प्रसव
उत्पत्ति स्थानं सर्वेश्वर्यस्य च।

— महीधर भाष्य

उत्पत्ति और ऐश्वर्य अर्थ में 'षु' धातु से सविता बनता है। इस कारण समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति तथा ऐश्वर्य का स्थान सविता है।

सू तृच्-जगसृष्टरि परमेश्वरे।

जगत् का सृष्टा अर्थात् परमेश्वर अर्थ में सविता सू धातु से तृच् प्रत्यय होकर बनता है।

सु-प्रेरणे सुवति स्व स्व व्यापारे प्रेरयाते।
यः सविता प्रेरकान्तर्यामि विज्ञानानन्द स्वभावो
हिरण्यगर्भोपाध्यवच्छिनः।

— महीधर भाष्य

प्रेरणा अर्थ 'षु' धातु से सविता बनता है। इस कारण जो प्राणियों को अपने-अपने व्यापार में लगाता है वह सविता है और वह सविता अन्तर्यामी, विज्ञान, आनन्द स्वरूप, हिरण्यगर्भ तथा समाधि में व्यापक है।

वह्निर्नारायणः साक्षात्नारायणं ! नमोस्तुते।

— नारायण हृदये

अग्नि साक्षात् नारायण है (अग्नि) अतः अग्नि स्वरूप नारायण को नमस्कार है।

अग्न्यादिरूपी विष्णुर्हि वेदादौ ब्रह्म गीयते ।
तत्पदं परमं विष्णोर्देवस्य सवितः स्मृतम् ॥

— *अग्नि पुराण अ० २१/६*

अग्नि स्वरूप विष्णु वेद के प्रारम्भ में ब्रह्मस्वरूप गाये गये हैं वे ही विष्णु भगवान् सविता के परम पद कहे गये हैं ।

हृदयाकाशे तु यो जीवः साधकैरूपगीयते ।
स एवादित्यरूपेण वह्निर्नभसि राजते ।

— *व्यास*

साधकों के द्वारा हृदय में वर्तमान जिस जीव (भगवान) का ध्यान किया जाता है वही सूर्य रूप से बाहर प्रकाश में विद्यमान है ।

'वरेण्य' का सन्देश

वरेण्य कहते हैं श्रेष्ठ को वरण करने, ग्रहण करने योग्य को, धारण करने योग्य को । ईश्वरीय सत्ता में सभी तत्व हैं, जो मनुष्य के लिए उपयोगी हैं वह भी और जो अनुपयोगी है वह भी । इनमें से गायत्री द्वारा हम उन तत्वों को ग्रहण करते हैं जो वरेण्य हैं, श्रेष्ठ हैं, ग्रहण योग्य हैं।

धर्म, कर्तव्य, अध्यात्म, सत्, चित् आनन्द, सत्य, शिव, सुन्दर की ओर जो तत्व हमें अग्रसर करते हैं वे वरेण्य हैं । श्रेष्ठता को अपने अन्दर धारण करने से श्रेष्ठता की ओर अभिमुख होने से हमारी ईश्वर प्रदत्त श्रेष्ठता जाग पड़ती है। और इस संसार में भरे हुए नानाविध पदार्थों में से केवल श्रेष्ठता को ही अपने लिए चुनते हैं । बाग में गन्दगी से लेकर मनोहर पुष्पों तक सभी पदार्थ होते हैं । मक्खी बस बाग में घुसते ही गन्दगी ढूँढ़ने लगती है, कहीं न कहीं से अपनी अभीष्ट वस्तु गन्दगी को ढूँढ लेती है वह गन्दगी का स्वाद लेती हुई प्रसन्न होती है। जब कोई मधुमक्खी इस बाग में जाती है तो गन्दगी की ओर आँख उठा कर भी नहीं देखती और मनोहर पुष्पों में से मधुर पराग इकट्ठा करती है । कोकिल उस बाग पर मुग्ध हो जाती है और उसकी हृदय निर्झरिणी में से कविता का स्रोत फूट पड़ता है। दूसरी ओर चमगादड़ जब उस बाग में घुसती है तो उसके उत्तम-उत्तम फल-फूलों को कुतर-कुतर कर जमीन पर ढेर लगाती है और उस बगीचे को कुरूप बनाती है । यह सब रुचि-विचित्रता है । यह चारों प्राणी मक्खी, मधुमक्खी, कोयल और चमगादड़ अपने-अपने भाव के अनुसार क्रिया प्रकट करते हैं । जिनके भीतर जो है, वही उसकी क्रिया में प्रकट होता है। बाग एक ही है पर इन चारों को वह अपने-अपने ढङ्ग से होता है ।

जब हम वरेण्यं कहते हैं, श्रेष्ठ को ढूँढते हैं, सत्य की ओर अभिमुख होते हैं, तो संसार के विविध क्षेत्रों में से हमें वही अभीष्ट पदार्थ प्राप्त होते हैं । हंस के सामने जब दूध पानी मिलाकर रखा जाता है तो वह केवल दूध को लेता है, पानी को त्याग देता है, इसी प्रकार जब हमारा दृष्टिकोण वरेण्यमय होता है तो ऐसी हंस-दृष्टि प्राप्त होती है जिसके द्वारा सर्वत्र उत्तम वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं, सबकी उपयोगिता प्राप्त होती है, सबका एक श्रेष्ठ उद्देश्य दृष्टिगोचर होता है। ऐसा मालूम होता है कि सबके अन्दर एक श्रेष्ठता विराजमान है । परमात्मा की श्रेष्ठ सत्ता चारों ओर किलोलें कर रही है ।

जिन्हें हम बुरी वस्तु समझते हैं, जिस बात को हम अप्रिय समझते हैं उनमें हमारी जागरूकता की, चेतना की, विवेक बुद्धि की जाग्रत करने की शक्ति होती है, उससे अनुभव बढ़ता है और समझदारी आती है। यदि बुरी बातें दुनियाँ में न हों तो अच्छी की श्रेष्ठता अनुभव करने का अवसर लोगों को न मिले और निष्क्रियता एवं जड़ता बढ़ने लगे । इस प्रकार जब हम गम्भीरतापूर्वक विचार करते हैं तो हमें बुराई के गर्भ में भी श्रेष्ठता प्रतीत होती है, उसके कारण हमारी अच्छाइयों को विकसित होने का, संघर्ष में आने का अवसर मिलता है। इस प्रकार वह बुराई भी हमारी श्रेष्ठता को बढ़ाने का हेतु बनती है ।

ईश्वर और वरेण्य सत्ता को गायत्री में अभिमन्त्रित किया गया है, ताकि साधक का दृष्टिकोण श्रेष्ठ बने, उसे अपनी श्रेष्ठता की अपने चारों ओर झाँकी हो और प्रत्येक परिस्थिति में श्रेष्ठता का स्वर्गीय अनुभव हो ।

वरेण्य का जो अर्थ है उसकी झाँकी नीचे के प्रमाणों में देखिये—

वृणुतेवरणार्थत्वाज्जाग्रत्स्वप्नादिवर्जितम् ।
नित्यं शुद्धं बुद्धमेकं सत्यं तद्धीमहीश्वरम् ॥

— *अग्नि पु० २१२/५*

वृणुते अर्थात् वरणार्थ होने से जाग्रत स्वप्न आदि से रहित नित्य शुद्ध-बुद्ध एक सत्य रूप उस ईश्वर का ध्यान करता हूँ ।

वरेण्यं वरणीयश्च संसार—भय—भीरुभिः ।
आदित्यान्तर्गतं यच्च भर्गाख्यं वा मुमुक्षुभिः ॥

— *यो० या० ९/५६/५७*

संसार के भय से भयभीत तथा मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुष से सूर्य मण्डल के अन्दर जो भर्ग नाम का तेज है, वह प्रार्थनीय है ।

वरणीयं प्रार्थनीयम् जन्ममृत्युदुःखादीनां
नाशाय ध्यानेनोपासनीयम् ॥

— सायण भा० भारद्वाज रावण महीधर०

वरणीय अर्थात् प्रार्थना करने के योग्य, जन्म-मृत्यु आदि दुःखों के विनाशनार्थ ध्यान द्वारा उपासनीय है।

(एन्य) प्राधाने प्रार्थनीये च यवद्धरं वर्तन्तु
अर्हम् अतिश्रेष्ठ तद्वरेण्यम् ॥

— वाचस्पत्ये

वृज् धातु से एण्य प्रत्यय प्रार्थना अर्थ में होती है । अतः वरेण्यं का अर्थ वर्णन करने योग्य तथा अति श्रेष्ठ है ।

वरेण्यं आश्रयणीयम् ॥

— विद्यारण्य

वरेण्यं अर्थात् आश्रय लेने के योग्य है ।

वरणीयमभेद्यमित्यर्थः ।

— वि० स० भा०

वरणीय अर्थात् अभेद ज्ञान से जानने योग्य है ।

सर्व वरणीयम् निरतिशयानन्दम् ।

— शङ्कर भा०

जिससे समस्त रूप निम्न हैं ऐसा परमानन्द स्वरूप सर्व प्राणियों से प्रार्थनीय है ।

वरेण्यं सर्वतेजोभ्यो श्रेष्ठं वै परमं पदम् ।
स्वर्गापवर्गकामैर्वा वरणीयं सदैव हि ॥

— अग्नि पु० अ० २१६/५

समस्त तेजों में श्रेष्ठ तथा वर्णन करने योग्य परमपद स्वर्ग तथा अपवर्ग के इच्छुक से सदैव प्रार्थनीय हैं ।

वरेण्यं सेव्यम् ।

— खण्डराज दी० सं० भा०

वरेण्यं अर्थात् सेवा करने योग्य है ।

'भर्ग' शब्द का अर्थ

बुराइयों का, अज्ञानान्धकार का नाश करने वाली परमात्मा का शक्ति 'भर्ग' कहलाती है। इस शक्ति की भी हमें उतनी ही आवश्यकता है जितनी वरेण्य की । हमें श्रेष्ठता को देखना है परन्तु बुराई की ओर से आँखों को बन्द नहीं कर लेना है । क्योंकि बुराइयों का आकर्षण अच्छाइयों की अपेक्षा अधिक चमकदार होता है, अतः बुराइयों का आक्रमण भी बड़ी तेजी एवं दृढ़ता से, बड़े बल पूर्वक होता है । इसलिए देखा जाता है कि निर्बल शक्ति वाले व्यक्ति प्रायः बड़ी आसानी से बुराइयों का प्रलोभन सामने आते ही फिसल पड़ते हैं और उसके चंगुल में फँस जाते हैं ।

सत् और असत् दो तत्व प्रधान हैं । एक ओर दैवी, दूसरी ओर आसुरी शक्तियाँ भी इस संसार में काम करती हैं । यह देवासुर संग्राम सदा जारी रहता है। इसमें देव पक्ष का समर्थन करने के लिए, उसकी सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि असुर पक्ष का विरोध किया जाए, उसे नष्ट किया जाय, उससे बचा जाय और सावधान रहा जाय। खेत को पशु और पक्षियों से नर खाया जाय तो वे उसे खा जायें । आसुरी शक्तियों से न बचा जाय, उनका प्रतिशोध न किया जाय, तो वे अपना काम बड़ी तत्परता से जारी रखती हैं । और धीरे-धीरे दैवी शक्तियों पर अपना कब्जा करती जाती है । बुराई छोटी है, यह समझकर यदि उसकी उपेक्षा की जाय तो वह क्षय रोग की तरह उस उपेक्षा से उठकर चुपके-चुपके अपना कब्जा जमाती है और एक दिन उसका पूरा आधिपत्य हो जाता है ।

इसलिए असत् का, आसुरी वृत्तियों का, नित्य निरीक्षण करना, उनका नित्य दमन करना आवश्यक है । शरीर पर मैल नित्य जमता है यदि उसे नित्य साफ न किया जाय, पैदा होने वाले दोष और दुर्गुणों का भली प्रकार निरीक्षण करके उन्हें दूर न किया जाय तो वे भी अपनी श्रेष्ठता के ऊपर आक्रमण करने का प्रयत्न करेंगे ।

अन्य सब आवश्यक कार्यों की तरह यह भी आवश्यक है, कि हम अपने दुरितों का नाश करें । अपने चारों ओर फैली हुई कुवृत्तियों से लड़ें । गीता में अर्जुन को "सदा युद्ध में रत रहने का उपदेश दिया गया है, यह सतत् युद्ध नीच वृत्तियों के विरुद्ध जारी रहना चाहिये, बुराई को रोकना भलाई करने के बराबर है ।" यह आर्य सिद्धान्त हमें पुण्य सम्पादन की भाँति पाप नाश करने की ओर भी प्रोत्साहित करता है ।

गायत्री में उस ईश्वर का तेजस्वी और श्रेष्ठ अंश अपने में धारण करने के साथ-साथ यह भी आदेश छिपा हुआ है कि हम भर्ग को अपने में धारण कर बुराइयों, पापों, दुर्बलताओं, कुप्रवृत्तियों से सावधान रहें । और उन्हें नष्ट करने के लिये सदा धर्म युद्ध करते रहें । इसी भावना को भर्ग शब्द को निम्नलिखित अर्थों में प्रकट किया गया है।

सवितास्वात्मभूतस्तु वरेण्य सर्व जन्तुभिः ।
भजनीयं द्विजा भर्गः तेजश्चैतन्य लक्षणम् ॥

— स्कन्द पुराण सूत संहिता यो०

हे द्विजो ! सविता देव आत्मरूप तथा सर्व जन्तुओं से प्रार्थनीय चैतन्य रूपी तेज तुम्हारे द्वारा भजनीय है ।

भ्रस्ज घञ् आदित्यान्तर्गते ऐश्वर्य तेजसि ।

— सायण भाष्य

भ्रज धातु से घञ प्रत्यय सूर्य मण्डल के अन्तर्गत विद्यमान ईश्वरीय तेज में होती है ।

भाभिर्गतिरस्यहीति भर्गो भर्जयतीति वै स भर्गः

— *मैत्र्युप० ६/७*

भा धातु गति अर्थ में है अतः जो किरणों द्वारा गति अर्थात् प्रवेश इत्यादि हो वह भर्ग है । अथवा जो संसार का नाश करे वह भर्ग है।

भ्राजते च यदा भर्गः पूर्णरूपाच्च पूरुषः ।
सर्वात्मा सर्वभावस्तु आत्मा तेन निगद्यते ॥

— *व्यास*

प्रकाश स्वरूप होने से भर्ग नाम है, परिपूर्ण होने से पुरुष है, सर्व रूप से आत्मा कहा गया है ।

हृद्व्योम्नि तपते ह्येष बाह्ये सूर्यस्य चान्तरे ।
अग्नौ ह्यधूमके ह्येष ज्योतिश्चित्र तरंगवत् ॥

— *आंगिरस*

यह भर्ग हृदयाकाश में तथा बाहर सूर्य मण्डल में विद्यमान है और यह अनेक प्रकार की तरङ्गों के सदृश धुएँ रहित अग्नि में विद्यमान रहता है ।

कालाग्निरूपमास्थाय सप्तार्चिः सप्तरश्मिभिः ।
भ्राजते स्वेन रूपेण तस्माद् भर्ग इति स्मृतः ॥

— *औशनस*

कालाग्नि रूप में विद्यमान होकर सप्त स्फुलिंग वाला अग्नि रूप होता है और सप्त किरणों द्वारा अपने रूप से प्रकाशित होने से भर्ग कहा गया है ।

सर्वस्यैवोपरिष्टस्य पूरणात्पुरुषः स्मृतः ।
भवभीत्यन्धकारेभ्यः शंकरोति ततः शिवः ॥

— *वार्हस्पत्य*

यही भर्ग सबसे श्रेष्ठ तथा परिपूर्ण होने से पुरुष कहा गया है। यह भर्ग संसार से भयभीत पुरुषों का कल्याण करता है अतः शिवस्वरूप कहा गया है।

वीर्यो वै भर्गः ।

— *शतपथ ब्रा० ५/४५/१*

निःसंशय बल भर्ग रूप है ।

पापानां तापकं तेजो मण्डल ।

— *सायण भाष्य*

पापों का नाश करने वाला सूर्य मण्डल का तेज है ।

भञ्जो-आमर्दने भृजो भर्जन इत्येतयोर्धात्वोत्भर्गः ।
भजतां पापं-भञ्जन-हेतुभूतमित्यर्थः ।
भ्रजृ दीप्तावित्यस्य धातोर्वाभर्गः तेज इत्यर्थः ॥

— *भारद्वाज०*

भंज धातु आमर्दन अर्थात् नाशन अर्थ में है और भृज धातु भर्जन-भृजने अर्थात् नाश करने में है । अतः इन दोनों धातुओं से निर्मित भर्ग का भजन करने वालों के पापों को नाश करने वाला है । भ्राज धातु से निर्मित भर्ग का दीप्ति अर्थ है।

अविद्या दोष भर्जनात्मक ज्ञानैकविषयत्वम् ।

— *शङ्कर महीधर०*

अविद्या जनित दोषों को नाश करने वाला तथा एकमात्र केवल ज्ञानस्वरूप है ।

भञ्जन्ति पापानि संसारजन्ममरणादि
दुःखमूलानि येन असौ भर्गः ।

— *सं० भा०*

संसार के जन्म मृत्यु आदि दुःखों के मूल भूत पापों को जो नाश करता है, भर्ग है ।

भर्गोऽविद्यातत्कार्ययोर्भर्जनाद्भर्गः ॥
स्वयंज्योतिः परब्रह्मात्मकं तेजः ॥

— *सायन० विद्यारण्य० भट्टोजी दी०*

अविद्या और उसके कार्यों को नाश करने से भर्ग है। वह स्वयं ज्योति परब्रह्म तेज है ।

भर्गस्तेजः-प्रकाशः प्रकाशो ज्ञानम्
यन्निरूपद्रवं निष्पापं निर्गुणं शुद्धं सकलदोष
रहितं पक्वं परमार्थविज्ञानं स्वरूपं तद्भर्गः ।

— *निरुक्ते तारानाथ*

भर्ग—तेज है। प्रकाशवान है । जो उपद्रव रहित, पाप रहित, निर्गुण, शुद्ध सकल दोषों से रहित, परिपक्व, परमार्थ, ज्ञानस्वरूप है, वही भर्ग है।

प्रकाशप्रदानेन जगतो बाह्याभ्यन्तरतमोभञ्जकः स्याद्भर्गः

— *वरदराज*

जो प्रकाश द्वारा जगत् के बाह्य तथा आन्तरिक अन्धकार को नष्ट करता है वह भर्ग है ।

भ्रस्ज पाके भवेद्धातुर्यस्मात्पचयते ह्यसौ ।
भ्राजते द्वीप्यते यस्माज्जगदन्ते हरत्यपि ॥

— *वृ० यो० याज्ञ० अ० ९/५२/५३*

पचाने अर्थ में भ्रस्ज धातु से भर्ग बनता है । अतः जो पचाता है, जो संसार को प्रकाशित करता है, तथा अन्त में लय करता है वह भर्ग है ।

प्रकाशरूपं यत्प्रकाशेन सर्वप्रकाशः प्रकाशते ।

प्रकाश रूपी जिसके प्रकाश से समस्त प्रकाशों को प्रकाशित करता है वह भर्ग है ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेभा
विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सव तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।

— *कठोपनिषद्*

न वहाँ सूर्य प्रकाशित होता है न चन्द्रमा, न तारागण, न विद्युत प्रकाशित होती है, तब अग्नि का प्रकाश वहाँ कैसे हो सकता है ? जब उसके प्रकाशित होने पर उसके प्रकाश से ये समस्त प्रकाशित होते हैं ऐसा वह भर्ग है।

भेति—भासयते लोकान् रेतिरञ्जयते प्रजा ।
ग—इत्यागच्छतेऽजस्रं भरगाद्भर्ग उच्यते ।

— *वृ० यो० याज्ञ० अ० ९*

भ—सर्व लोकों को प्रकाशित करता है, —प्रजा को आनन्दित करता है, ग—बारम्बार लय करता है, इस कारण से भर्ग कहा जाता है ।

भ—भासयतीमांल्लोकानिति ।
र—रञ्जयति इमानि भूतानि ।
ग—गच्छन्त्यस्मिन्नो गच्छन्त्यस्मादिमः
प्रजास्तस्माद्भारणत्वाद् भर्गः ।

— *मैत्र्युप० ६/७*

भकार समस्त लोकों को प्रकाशित करता है, रकार प्राणियों को आनन्दित करता है। जिस आत्मा में प्रजा प्रलय काल में लय होती है और सृष्टि काल में जिससे उत्पन्न होती है वह-गकार है । इस कारण भर्ग कहते हैं ।

मंडलं पुरुषो रश्मय इति त्रयं भर्ग पद वाच्यम् ।

— *शुक्ल यजुर्वेद, वाजसनेय सं०*

सूर्य मण्डल, पुरुष (ईश्वर), किरण—ये तीन भर्ग के नाम हैं ।

गायत्र्येव भर्गः तेजो वै गायत्री ।

— *गोपथ ब्रा० रा० ५/१५*

गायत्री ही भर्ग है, और भर्ग ही गायत्री है।

एतद्ब्रह्मै तदमृतमेतद्भर्गः ।

— *मैत्र्युप० ६/३५*

यही ब्रह्म है, यही अमृत है, यही भर्ग है ।

तज्ज्योतिः परमं ब्रह्म भर्गस्तेजो यतः स्मृतम् ।

वह ज्योति परम ब्रह्म है, इस कारण भर्ग तेज रूप है।

भर्गः—अद्वयानन्दलक्षणं सर्वजगदुपादानं परिपूर्णं
ज्योति रूपं बिम्बस्थानीयं ब्रह्म वाक्यार्थतया ।
पर्यवसन्न एतादृग्ब्राह्मं तद्रूपत्वेनेति शेषः ॥

— *निर्णय कल्पवल्याख्य*

द्वैत रहित, आनन्द स्वरूप, समस्त जगत् का आधार ज्योति स्वरूप, मण्डलस्थानावर्ती, ब्रह्म-वाक्यों से सम्पन्न ऐसा ब्रह्म स्वरूप वह भर्ग है ।

ईश्वर पुरुषाख्यं तु सत्यधर्माणमव्ययम् ।
भर्गाख्यं विष्णु संज्ञं तु यं ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।

— *व्यास*

ईश्वर, पुरुष नामक, सत्य, धर्मवान्, अविनाशी, भर्ग विष्णु का तेज है, जिसको जानकर मनुष्य मोक्ष को प्राप्त होता है ।

तेजो वै ब्रह्मवर्चसम् गायत्री तेजस्वी वर्चसी भवति।

— *ऐतरेय ब्रा० अ० १/१*

निश्चित करके भर्ग ब्रह्म तेज है, अतः गायत्री तेज स्वरूप है ।

शिवं केचित्पठन्ति स्म शक्तिरूपं पठन्ति वै ।
केचित्सूर्यं केचिदग्निं वेदगा अग्निहोत्रिणः ॥

— *भार्गव*

भर्ग को कोई शिव कहते हैं, कोई शक्तिमान कहते हैं, कोई वैदिक अग्निहोत्रीय अग्नि कहते हैं ।

भादीप्ताविति रूपं हि भृस्जपाकेऽर्थेह्यमृतम् ।
औषध्यादिकं पचति भ्राज दीप्तौ तथा भवेत् ॥
भगस्याद्भ्राजत इति बहुलं वन्द ईरितम् ।

— अग्निपुराण

दीप्त अर्थ में भी धातु से निर्मित भर्ग का अर्थ तेज रूप है । भ्रस्ज धातु पाक अर्थ में निमित्त का अर्थ है जो ओषधि आदि को पचाता है । प्रकाश स्वरूप भर्ग को वेद में अनेक प्रकार से कहा गया है।

'भर्ग' की उत्पत्ति

भ्रस्ज—पाके, असुन (भ्रस्जो रोप्रधयोरन्यतरस्या)
मिति रोपधयोर्लोपः रमागमः न्यङ्क्वादित्वाकुत्वम्

— गृह्य परिशिष्टे

पाक अर्थ में भ्रस्ज धातु से असुन प्रत्यय होकर (भ्रस्जो रोपध्योरन्यतरस्याम) इस सूत्र से उपधा का लोप और रमागम होकर (न्यङ्क) से कुत्व होता है, इससे भर्ग सिद्ध हुआ है ।

तेज को, बल को, शक्ति को धारण करने की मनुष्य को अत्यन्त आवश्यकता है। क्योंकि बल के बिना न जीवन धारण हो सकता है न उन्नति हो सकती है और न घातक तत्वों से आत्म-रक्षा हो सकती है निर्बल को देखकर हर किसी को आक्रमण, अन्याय एवं शोषण करने का लालच आता है, इसलिए न्याय रक्षा के लिए जहाँ शक्तिमानों का

धर्मात्मा बनना उचित है वहाँ दुर्बलों को भी अपना बल बढ़ाना आवश्यक है । 'भग' शब्द का सन्देश है कि हम अपना शारीरिक, बौद्धिक, आर्थिक, चारित्रिक तथा सङ्गठन बल बढ़ावें जिससे दुर्बलता तथा अन्य हानियों से बच सकें ।

देवस्य का रहस्य

देव कहते हैं—दिव्य को, अलौकिक को, असाधारण को । हम देखते हैं कि साधारणतः दुनियाँ के सब लोग अपनी स्वार्थ पूर्ति में, अपनी कामनाओं की तृप्ति में लगे रहते हैं उनकी इच्छा रहती है कि दूसरों से जो कुछ छीन सकें, ले सकें, ले लें । वह साधारण व्यक्ति को हर किसी से लेने की इच्छा करते हैं लेता है । परन्तु वे असाधारण व्यक्ति जो अपनी शक्तियों, सामर्थ्यों को अपनी स्वार्थ पूर्ति, वासनाओं की तृप्ति और छल कपट में न लगाकर परमार्थ के लिए अर्पण करते हैं, उन्हें दूसरों की सेवा में लगाते हैं, सदैव देते रहने की इच्छा करते हैं, वे देवता हैं ।

देवता दिव्य होते हैं अथवा यों कहना चाहिए कि जिनकी भावनायें इच्छा, आकांक्षाएँ, दिव्य हों वे देवता हैं, देवता इस तरह नहीं सोचते जिस तरह दुनियादार आदमी सोचते हैं, वे वस्तुओं और घटनाओं को उस दृष्टि से नहीं देखते जिस दृष्टिकोण से दुनियादार लोग देखते हैं । उनके सोचने व देखने का तरीका भिन्न होता है। दिव्य सिद्धान्तों को सामने रखकर, उनके आधार पर अपने कर्त्तव्य का निर्णय करते हैं और जो कर्त्तव्य उन्हें जँच जाता है उसको बड़े प्रलोभन आकर्षण और आपत्ति या भय होने पर भी नहीं छोड़ते । कारण यह है कि साधारण लोगों की भाँति उनकी तृप्ति और प्रसन्नता पदार्थों तक सीमित नहीं रहती, उनका दृष्टिकोण भिन्न होता है। वे अपने कर्त्तव्य को केन्द्र बिन्दु मानकर उसी में अपनी श्रेष्ठतम सद्भावनाओं, प्रसन्नताओं को केन्द्रीभूत करते हैं और उसमें रमण करते हुए सच्ची सुख-शान्ति पाते हैं ।

जिस स्तर पर साधारण लोग खड़े रहते हैं । वह उससे ऊँचे खड़े होते हैं, वह असाधारण परिणाम को अपनाते हैं। उनकी जीवन ज्योति लोक-से ऊँची उठी हुई होने के कारण अलौकिक कही जाती है । कहते हैं कि देवता स्वर्ग में रहते हैं और स्वर्ग पृथ्वी से ऊपर है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि वे उस विचार लोक में विचरते हैं, जो स्वार्थ और सङ्कीर्णता की तुच्छता से उतना ही ऊँचा है जितना पृथ्वी से स्वर्ग । इस लिये देवताओं का लोक मनुष्य-लोक से ऊपर माना जाता है । यह मान्यता बिल्कुल सत्य है कि देव लोक में देवताओं को सब प्रकार का आनन्द ही आनन्द होता है। साधारण व्यक्ति कितना भी धन वैभव इकट्ठा करके भी उतना सुख प्राप्त नहीं कर सकते जितना कि देवताओं को स्वभावतः होता है। कारण स्पष्ट है कि भौतिक वस्तुएँ अस्थायी एवं परिवर्तनशील होती हैं उनके उतार चढ़ाव के साथ-साथ हर्ष विषाद के आवेश उतरते रहते हैं परन्तु दिव्य भावनाओं का आनन्द एक रस है, वह सफलता में, असफलता में, सुविधा में, असुविधा में एक रस रहता है, उसका स्वर्गिक आनन्द ऐसा है जिसका अनुभव करते हुए उसे ऐसी प्रसन्नता उपलब्ध होती है जैसी कि साधारण लोगों के लिए कभी सम्भव नहीं हो सकती।

गायत्री से परमात्मा के गेयस्वरूप का स्मरण किया गया है ताकि साधक दिव्य बने, दिव्य तत्वों से, दिव्य सिद्धान्तों और दिव्य विश्वासों से उसका अन्तःकरण भर जाये और उसके विचार तथा कार्यों में दिव्यता ओत-प्रोत हो जाये । मरने के बाद जिस दिव्य लोक को प्राप्त करने की लोग कल्पना किया करते हैं वह उन्हें इस लोक में ही प्राप्त हो जावे ।

देव शब्द दिव्यता के अर्थ में प्रयुक्त होता है ईश्वरीय शक्ति को देव कहते हैं । इसका कुछ परिचय देखिये—

सर्वद्योतनात्मकाऽखण्डचिदेकरसम् ।

— शङ्कर भाष्य

सर्व प्रकाशक, अखण्ड, चैतन्य, एक रस देव का नाम है ।

सर्वभूतेष्वात्मतया द्योतयते स्तूपतेस्तुत्येः
सर्वत्र गच्छति तस्माद् देवः ।

—शब्द कल्पद्रुम

समस्त प्राणियों को आत्म रूप से प्रकाशित करता है। स्तोत्रों से स्तुति की जाती है। सर्वत्र व्याप्त है इसलिए देव कहा जाता है ।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ सर्वव्यापी सर्व भूतान्तरात्मा
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च

— श्वेताश्वतर:

एक ही देव समस्त प्राणियों में सर्वव्यापी आत्मा है । वह कर्मो का स्वामी, सर्व कर्मों का निवासभूत, साक्षी, सबको चेतन करने वाला, अनन्य और निर्गुण है ।

सर्व द्योतनात्मके आत्मनि परमेश्वर ।

— महीधर

सर्व प्रकाशों में, आत्मा में, देवताओं में, परमेश्वर में देव शब्द का प्रयोग होता है ।

दीप्यते क्रीड़ते यस्माद्रोचते द्योतते दिवि ।
तस्माद् देव इति प्रोक्तः स्तूयते सर्व देवतैः ॥

जिस कारण स्वर्ग में क्रीड़ा करता है, प्रकाश करता है, इस कारण से देव कहा गया है जिसकी देवता स्तुति करते हैं ।

देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्युस्थाने भवति वा ।

दान में, प्रकाश में, स्वर्ग में, देव शब्द का प्रयोग किया जाता है ।

रज्वाकाराद् दीव्यति, प्रकाशयतीति देवः ।
ध्यातृहृदयारविन्दमध्ये क्रीडति इति देवः ॥
दीव्यति नन्दयतीति देवः ।
अखण्डानन्दैक रस इत्यर्थ ॥

— *संध्या भाष्य*

स्वर्ग में रस्सी के आकार से जो प्रकाश करता है वह देव है, ध्यान वालों के हृदय कमल में जो खेलता है, वह देव है अथवा उन्हें जो आनन्दित करता है वह देव है। भक्तों को आनन्दित करने से अखण्ड आनन्द एक रस होता है।

देवस्य की सिद्धि

'दिवु'-क्रीड़ा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति ।
मोद मन, स्वप्न, कान्ति गतिषु पचाद्यच् प्रत्ययः ।
दीव्यति प्रकाशते चराचरञ्जगत् स देवः प्रकाशरूपं वा ।

क्रीड़ा, जीतने की इच्छा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति, गति इत्यादिक अर्थों में (पचाद्यच्) इन सबसे अच् प्रत्यय होकर देव बनता है । जो चराचर जगत् को प्रकाशित करे अथवा प्रकाश रूप है, वह देव है ।

'धीमहि' शब्द का अर्थ

धीमहि कहते हैं ध्यान करने को । ध्यान का चमत्कार प्रत्यक्ष है । जिस वस्तु का हम ध्यान करते हैं उस पर मन जमता है, मन जमने से उसमें रुचि उत्पन्न होती है । रुचि उत्पन्न होने से उसे प्राप्त करने की आकांक्षा बढ़ती है, इस आकांक्षा से प्रयत्न उत्पन्न होता है और यह प्रयत्न अभीष्ट वस्तु को प्राप्त करा देता है । ध्यान बीज है और सफलता उसका फल । बीज अपनी क्रमिक अवस्थाओं में विकसित होता हुआ फल के रूप में परिणत होता है। बिना बीज के न वृक्ष हो सकता है, न फल ।

यह ठीक है कि अनेक बार बोये गये बीज निरर्थक चले जाते हैं, उनसे अंकुर उगते नहीं या लगकर सूख जाते हैं । इसके अनेक कारण होते हैं । बीज का निर्जीव होना, भूमि अच्छी न मिलना, ऋतु अनुकूल न होना, समय पर खाद पानी न मिलना, कीड़े-मकोड़े चिड़ियों या पशुओं से रक्षा न होना आदि कारणों से कई बार बोये हुए बीज निष्फल होते देखे गये हैं इतना होने पर भी बीज की अनिवार्यता से इंकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि जब कभी भी कोई पेड़-पौधा उगेगा, बढ़ेगा या फल देगा तो उसके मूल में कोई बीज अवश्य रहा होगा । यह हो नहीं सकता कि शाखाओं में रहने वाले ग्रन्थि बीज या फलों में रहने वाले पुष्ट बीज में से कहीं किसी बीज के बिना वह पौधा उत्पन्न हुआ हो । वृक्ष के मूल में बीज का रहना अनिवार्य है। जिसे पौधा उपजाना होगा, उसे यह जानते हुए भी कि अनेक बार बीज निरर्थक भी चले जाते हैं आखिर बीज का ही आश्रय ग्रहण करना पड़ेगा ।

कोई भी कार्य पहले कल्पना में आता है, फिर उसकी योजना बनती है तब वह क्रिया के रूप में प्रकट होता है। ध्यान में यही मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया काम करती है। किसी तथ्य पर चित्त वृत्तियों का एकाग्र करना ध्यान कहलाता है। ध्यान का सबसे बड़ा लाभ तो यह है कि उससे चित्त की बिखरी हुई वृत्तियों को एक स्थान पर एकत्रित होने का अभ्यास होता है। यह अभ्यास ही योग साधन है। पातञ्जलि योग में चित्त-वृत्तियों के निरोध को योग कहा है, ध्यान के द्वारा यह साधना होती है, एकाग्रता आती है, चित्त स्थिर होता है और मन के ऊपर नियन्त्रण स्थापित हो जाता है। यह एकाग्रता एक ऐसी शक्ति है जिसमें मैस्मरेजम जैसे छोटे मोटे खेल तो चुटकी बजाते-बजाते होते हैं। थोड़ा अभ्यास बढ़ने पर ही जीवन की प्रत्येक दशा में लाभ ही लाभ, सफलता ही सफलता दृष्टिगोचर होती है।

दूसरा लाभ ध्यान का यह है कि जिस वस्तु का ध्यान करते हैं वह धीरे-धीरे हमारे मन की रुचि का प्रधान विषय बन जाती है । जो व्यक्ति कामिनिओं का ध्यान करते रहते हैं उनके अन्तःकरण कालान्तर में असाधु वृत्ति के बन जाते हैं । गायत्री मन्त्र के पूर्वार्ध में उस सविता, वरेण्य, भर्ग और देव-शक्ति वाले ईश्वर का ध्यान करनेका आदेश किया है ताकि ईश्वर की इन्हीं शक्तियों को विशेष रूप से अपनी ओर आकर्षित किया जा सके । इन शक्तियों का ध्यान करने का परिणाम यही हो सकता है कि हम तेजस्विता, श्रेष्ठता, दम एवं दिव्यता को अपने अन्दर अधिकाधिक मात्रा में धारण करते जायें और अंततः हम सत्यं शिवं सुन्दरं सत्ता से अपने को ओत-प्रोत करलें । धीमहि का अर्थ है ध्यान करना । मन को जिस कार्य में लगा दिया जाता है, शरीर

के अन्य भाग भी उसी ओर अग्रसर होते हैं। जिन तथ्यों का हम ध्यान करेंगे वे ही हम में प्रकट होंगे।

ध्यानेन हेया वृत्तयः

— यो० सू० पा० २/११

ध्यान द्वारा नीच वृत्तियाँ त्याग देनी चाहिए।

रागोपहितं ध्यान

— सांख्य सूत्रे अ० ३ सू० ३०

किसी वस्तु में अनुराग से युक्त हो जाना ध्यान है।

धीमहि आत्मना आत्मरूपेण ध्यानं कृता।
ध्यानं नाम सर्वशरीरेषु चैतन्यैकतानता॥

आत्मा रूप द्वारा हम आत्मा का ध्यान करते हैं, समस्त शरीर में चेतनता का फैलना ध्यान कहलाता है।

वयं ध्यायेम ध्येयतया मनसा धारयेम वा
वयम् उपसीमहि उपास्महे वा।

हम मन में ध्यान वस्तु को धारण करते हैं अथवा हम उपासना करते हैं।

ध्यायते अनया ध्यानं वा धीः
ध्यायते सम्प्रसारणं च इति।
धियः संप्रसारणे इति दीर्घः॥

— निर्णय कल्पव्याख्या सं० भा०

जिसके द्वारा ध्यान किया जाय उसको ध्यान अथवा धीः कहते हैं।

ध्यानेन लभते मोक्षं मोक्षेण लभते सुखम्।
सुखेनानन्दवृद्धिः स्यादानन्दो ब्रह्मविग्रहः।

—रुद्रयामलोत्तर तन्त्रे पट० २४/१३९/३

ध्यान द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है। मोक्ष से सुख प्राप्त होता है। सुख से आनन्द की वृद्धि होती है और आनन्द ही ब्रह्मस्वरूप है।

ब्रह्मैव साक्षिरूपमिति तल्लक्षणतया।
ध्यातितमुपपन्नमिति।

— निर्णय क०

ब्रह्म ही साक्षी रूप है, इस उद्देश्य से ध्यान करना उचित है।

अहं ब्रह्मेति धीमहि।

— अग्नि पु० अ० २१६/१८

मैं ब्रह्म रूप हूँ, ऐसा ध्यान करता हूँ।

धीमहि की सिद्धि

धीङ् आधारे, लिङ्बहुलं छन्दसीति विकरणस्य।
लुकाध्यातृध्येयव्यापाराभिन्नत्वमेव ध्यानम्॥

— गृह्यपरिशिष्टे नायन०

आधार अर्थ में धीङ् धातु से (लिङ् बहुलं छन्दसि) इस सूत्र से विकरण का लोप होने से ध्यान बनता है। अर्थ– ध्यान करने वाले का ध्येय वस्तु से अभिन्न सम्बन्ध होना—ध्यान कहलाता है।

ध्यै—चिन्तायाम्। ध्यायतेर्लिङ् बहुलं छन्दसीति सम्प्रसारणम् अव्यत्ययेनात्मनेपदम् ध्यायामः चिन्तयामः निगमनिरुक्तविधानरूपेण चक्षुषा निदिध्यासं तद्विषयं कुर्म इति।

— भारद्वाज गृह्य परिशिष्ट

चिन्तवन अर्थ में ध्यै धातु से (बहुल छन्दसि) इस सूत्र से सम्प्रसारण होकर व्यत्यय करने से आत्मनेपद हुआ। अर्थ—नियम, निरुक्त, विधान रूपी नेत्रों से उस स्वरूप का चिन्तन करता हूँ, ध्यान करता हूँ।

'धीमहि' शब्द का आदेश यह है कि हम अपने ध्यान क्षेत्र में उन विचारों की ही प्रतिष्ठा करें जो आत्म कल्याण के लिये श्रेयस्कर हैं। ध्यान, विचार, भाग्य, संकल्प, स्मृति, कल्पना, इच्छा, आकांक्षा की अन्तः भूमि में जैसे आदर्श स्थापित किये जायेंगे, जिस दिशा से उनकी गति विधि होगी उसी के आधार पर जीवन की कार्य प्रणाली बनेगी और वैसे ही परिणाम उपलब्ध होंगे। इसलिए सबसे अधिक सतर्कता, सबसे अधिक पवित्रता जिसकी रखी जानी चाहिए वह ध्यान-क्षेत्र ही है। हमारे मस्तिष्क में, मन तत् (ईश्वरीय) सवितुः (तेजस्वी) वरेण्यं (श्रेष्ठ) भर्गः (शक्तिशाली) देवस्य (दिव्य) की धीमहि (धारणा) होनी चाहिए तभी हम गायत्री में निहित लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं।

'धीमहि' शब्द का विवेचन

'धी' कहते हैं बुद्धि को। बुद्धि के यों तो कितने ही स्तर हैं और उनके कितने ही नाम हैं। अक्लमंदी, चतुरता, होशियारी, सूझ-बूझ, तीक्ष्णबुद्धि, दूरदर्शिता आदि शब्द बुद्धि विशेष के अर्थ में प्रयोग होते हैं। आमतौर से मस्तिष्क बल को बुद्धि कहते हैं। जिसका मस्तिष्क अधिक बलवान् है, अधिक सूक्ष्म है, अधिक स्फूर्तिमान् है, उसे बुद्धिमान् कहा जाता है और जो इस गुण से रहित है उसे मूर्ख घोषित कर दिया जाता है।

परन्तु यह परिभाषा बहुत ही स्थूल और अधूरी है, कितने ही व्यक्ति बड़े चालाक, धूर्त, बगुलाभगत एवम् 'हरफन मौला' होते हैं, उनकी उस्तादी के आगे कौआ भी पानी भरता है। दुनियाँ में जितने भी बदमाश, मक्कार,

धोखेबाज, झूँठे, लवार, दुष्ट प्रकृति के मनुष्य हैं प्राय: तेज दिमाग के होते हैं, क्योंकि बिना दिमागी तेजी के दुनियाँ भर की खुराफात सोचना और अपने चंगुल में दूसरों को फँसा लेना हो नहीं सकता। कोई मूर्ख इस तरह की चाल बाजी सोचे या करना भी चाहे तो वह बेचारा कर नहीं सकता, उसकी पोल खुलने में जरा भी देर नहीं लगेगी। ऐसी तेज बुद्धि, जो आदमी को चालाकी और बदमाशियों से भरा हुआ बना देती है, उससे वह बेवकूफी अच्छी, जिसके कारण मनुष्य बुराइयों से बच जाता है और अपने भविष्य को उतना अन्धकारमय नहीं बना पाता जितना वे चतुर कहे जाने वाले दिन-रात बनाते हैं।

ऐसी बुद्धि बेकार है, उसके होने से उसका न होना अच्छा। गायत्री में ऐसी बुद्धि के लिए याचना नहीं की गई है। ऐसी अक्लमन्दी तो कालेजों में, व्यापारिक मण्डियों में, उस्तादों के गिरोह में, कारीगरों के समूह में, देशाटन में, उस विषय के विशेषज्ञों के बीच में रहकर आसानी से सीखी जा सकती है। इस मामूली चीज के लिये आत्मा को परमात्मा के सामने गुहार मचाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

आत्मा को सबसे अधिक आवश्यकता जिस वस्तु की है वह है 'सद्बुद्धि', इसी को धिय: कहते हैं। इसके अभाव में जिस कुबुद्धि से उसका पाला पड़ता है वह उसे पग-पग पर कुचलती है, उसके लिए नारकीय स्थिति उत्पन्न करती है, जिससे अस्वाभाविक परिस्थिति में पड़कर आत्मा हर घड़ी कष्ट पाती है। धन सम्पत्ति जमा हो जाने से इन्द्रियाँ किसी कदर मौज तो कर लेती हैं पर आत्मा के लिये वह सब एक प्रकार का बोझ ही सिद्ध होता है। इस बोझे के नीचे आत्मा बुरी तरह पिसती है, छटपटाती है, कराहती है और इस विषम स्थिति से बचने के लिये परमात्मा के सामने गुहार मचाती है। कहती है—हे प्रभु! सद्बुद्धि के अभाव में धिय: न होने के कारण, प्रतिक्षण मुझे आहत होना पड़ता है, इसलिये आप कृपापूर्वक 'धिय' की प्रेरणा कीजिये, 'धिय' तत्व से इस जीवन को परिपूर्ण कीजिये जिससे इस कुबुद्धि से छुटकारा मिले और दिव्य जीवन का आनन्द प्राप्त हो।

गायत्री के पूर्वार्ध में, उस सविता, वरेण्य, भर्ग देव का ध्यान किया गया है, इस ध्यान का क्या प्रयोजन है? क्यों किया गया है? यह उत्तरार्ध में स्पष्ट कर दिया गया है। वह प्रयोजन है—धिय: की—सद्बुद्धि की प्राप्ति। गायत्री परमात्मा की समीपता का सबसे बड़ा मन्त्र है। उसका लक्ष्य, उद्देश्य और प्रयोजन भी सबसे बड़ा है। सद्बुद्धि का प्राप्त होना इतना बड़ा लाभ है, जिसकी तुलना में कोई भी सिद्धि, कोई भी सम्पदा नहीं ठहर सकती। इस सर्वोत्तम लाभ की प्राप्ति के लिए आत्मा की जो छटपटाहट है, पिपासा है, आकांक्षा है, पुकार है, उसी के प्रकटीकरण का नाम गायत्री है। गायत्री में 'धी' शब्द का प्रयोग सद्बुद्धि की प्राप्ति के लिए हुआ है, इसके कुछ प्रमाण नीचे देखिये—

धी शब्दो बुद्धिवचन: कर्मवचनो वा वाग्वचनश्च

— सायन० उव्वट०

धी शब्द बुद्धिवाची, कर्मवाची, वाक्यवाची है।

बुद्धयो वै धिय:

— मैत्र्युप० ६/७

बुद्धियां धिय हैं।

धर्मादि विषया बुद्धि:।

— याज्ञ० सायन०

धर्म आदि विषयक बुद्धि को धी कहते हैं।

धियो धरणवत्यो बुधय:।

— विष्णु भाष्य

धारण करने वाली बुद्धियों का नाम धिय: है।

कर्माणि धिय:।

— अथर्वण

कर्मों को बुद्धि कहते हैं।

कर्म यज्ञ सहस्त्रेभ्यस्तपो यज्ञो विशिष्यते।
तपोयज्ञ सहस्त्रेभ्यो जपयज्ञो विशिष्यते॥
जप यज्ञ सहस्त्रेभ्यो ध्यानयज्ञो विशिष्यते।
ध्यानात् परो नास्ति निश्चिद् ध्यानं ज्ञानस्य साधनम्॥

— लिङ्गपुराण पूर्वार्ध अ० ५

हजारों कर्म-यज्ञों से तप-यज्ञ विशेष है, हजारों तप-यज्ञों से जप-यज्ञ विशेष है, हजारों जप-यज्ञों से ध्यान-यज्ञ श्रेष्ठ है। ध्यान से श्रेष्ठ कोई यज्ञ नहीं है। ध्यान यज्ञ का साधन है।

'य:' शब्द की मीमांसा

य: का अर्थ है—'जो'। यह 'जो' का संकेत परमात्मा के लिए किया गया है। गायत्री। पूर्वार्ध में जिस सविता वरेण्य भर्ग देव परमात्मा का वर्णन है, उन गुणों वाला जो परमात्मा है उससे प्रार्थना की गई है। उन पूर्वोक्त शब्दों को दुहरा कर पिष्ट पोषण करने की अपेक्षा यहाँ केवल य: शब्द से संकेत करके काम चलाया गया है जो परमात्मा

उन शक्तियों वाला है वह हमारे लिये धियः तत्व प्रदान करे।

य इति लिंग व्यत्ययः यद भर्ग- यः भर्गो वा ।

— सायण महीधर०

लिंग व्यत्यय से यद्धर्म अथवा यः भर्ग बना है ।

यः शब्दश्च यदित्यर्थे लिंगव्यत्ययतो भवेत् ।

— भारद्वाज उष्णव०

लिंग व्यत्यय से यः शब्द यत् हो जाता है ।

यः प्रत्यग्रूपः ।

— निर्णयकल्प०

यः प्रत्यक्ष आत्मरूप है । इस विशुद्ध आत्मा को ही परमात्मा कहते हैं ।

यत्सत्यज्ञानादि लक्षणम् ।

— विद्यारण्य स्वा०

यः सत्य ज्ञानादि रूप ब्रह्म है।

यः सविता देवः ।

— सायण० महीधर०

यः सविता (सूर्य) देव है ।

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥

— गीता अ० ५/२४

जो पुरुष निश्चय करके अन्तर आत्मा में ही सुख वाला है और आत्मा में ही आराम वाला है तथा जो आत्मा में ही ज्ञान वाला है, ऐसा वह ब्रह्मभूत हुआ योगी ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त करता है।

'यः' परमात्मा का हमारे अन्तःकरण में निवास हो, उसे धारण करें, उसकी पूजा तथा शक्ति से जीवन-नैया पार करें, यही इस 'यः' पद का मन्तव्य है ।

नः शब्द का सन्देश

नः—अस्मदीयाः ।

— तारानाथ

नः का अर्थ है—हम लोगों का ।

नः अस्माकम् ।

— सायण० महीधर०

नः का अर्थ है—हमारा ।

नः शब्द बहुवचन के शब्द में प्रयुक्त होता है । 'मैं' अकेले के लिए और 'हम' शब्द बहुतों के समूह के लिये काम में लिया जाता है । परमात्मा से सद्बुद्धि की याचना की गई है । पर वह अकेले अपने लिये नहीं की गई है । कारण यह है कि मानव प्राणी सामाजिक प्राणी है, वह बहुत से घटकों से मिलकर बना है । यह विशालता और विस्तृतता ही उसका गौरव है। उदार चरित्र वे हैं जिन्होंने वसुधा को अपना कुटुम्ब माना है, 'अहम्' का दायरा विस्तृत कर लिया है। संसार में जिसका 'अहम्' जितना बड़ा है, अपने आत्मा को जितना व्यापक मानता है, उसका आत्म ज्ञान उतना ही बड़ा समझा जाता है ।

मनुष्य स्वयं एक नहीं बरन् अनेक हैं । उसके पंच कोष हैं, पाँच शरीर हैं, अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय, आनन्दमय यह पाँच कोष पुरुष ने धारण कर रखे हैं । इन सभी का स्वस्थ रहना आवश्यक है । यदि एक भी अस्वस्थ हो, कुबुद्धिग्रस्त हो तो अन्यों को स्वस्थता पूर्ण नहीं कहा जा सकता । अन्तःकरण चतुष्टय में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार की चौकड़ी है । यदि इनमें से एक भी घायल हो तो समझिये कि लँगड़ापन आ गया है। हृदय, फेफड़ा, आमाशय, जिगर, आँत, वृक्क, मस्तिष्क आदि अङ्गों में से एक भी अंग गड़बड़ करने लगे तो अन्य अङ्गों की स्वस्थता का विशेष मूल्य न रहेगा । जो बात हमारी आन्तरिक स्थिति के बारे में है वही बात बाह्य जीवन के सम्बन्ध से चरितार्थ होती है । हमारी पारिवारिक, सामाजिक और राजनैतिक सुख शान्ति के साथ हमारी व्यक्तिगत सुख-शान्ति जुड़ी होती है, जिस परिवार के लोग कुबुद्धि युक्त हों, जिस समाज में कुबुद्धि छाई हुई हो, जिस देश में कुबुद्धि ने अराजकता फैला रखी हो, उनके बीच रह कर कोई व्यक्ति चैन से नहीं बैठ सकता । इसलिए संकुचित दायरे में 'मैं' शब्द का प्रयोग न करके गायत्री में 'हम' शब्द का उपयोग हुआ है, सद्बुद्धि की याचना सीमित मैं के लिए नहीं, विस्तृत 'हम' के लिये की गई है। क्योंकि सबकी सुबुद्धि पर ही अपना कल्याण निर्भर है ।

जब पड़ौसी का छप्पर जल रहा हो तो अपना घर सुरक्षित नहीं, जब मुहल्ले में हैजा, प्लेग, चेचक आदि फैले हों तो अपना कुटुम्ब सुरक्षित नहीं, अराजकता और दङ्गों का दौर दौरा हो तो अपनी जान-माल सुरक्षित नहीं । यदि बुरे लोगों के बीच रहना पड़ता हो तो कोई कारण नहीं कि अपने साधु मन में भी विक्षोभ उत्पन्न न हो । इन सब बातों को ध्यान में रखकर विचार करने से सहज ही पता चल जाता है कि व्यक्ति का सङ्कीर्ण स्वार्थ वास्तव में सच्चा स्वार्थ नहीं है । जिसमें सबका स्वार्थ है, असल में वही अपना स्वार्थ है । इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए भगवान बुद्ध ने कहा था कि—जब तक एक भी प्राणी बन्धन में है तब तक मैं मुक्ति नहीं चाहता । व्यक्ति का व्यक्तिगत सुख उतना

महत्व पूर्ण नहीं है जितना कि सबको सुखी होते देखने का सुख। यही कारण है कि अनेकों सिद्ध महापुरुष स्वर्ग या मुक्ति का सुख भोगने की अपेक्षा संसार के दुःखग्रस्त लोगों की सेवा सहायता करने का उद्देश्य धारण करके संसार में ही रहना अधिक पसन्द करते हैं ।

हम सबको सुबुद्धि मिले । मेरे अन्तर्जगत और बाह्य जगत में सर्वत्र सद्बुद्धि का प्रकाश हो, ऐसी प्रार्थना भगवान से की जाती है । इस सद्बुद्धि के महत्व को 'नः' शब्द में स्पष्ट कर दिया गया है ।

प्रचोदयात् का रहस्य

प्रचोदयात् का अर्थ है—प्रेरणा करना, जोड़ना, बढ़ाना। गायत्री द्वारा उस सविता, वरेण्य, भर्ग का ध्यान करते हैं । यह ध्यान इसलिए करते हैं कि उसमें सद्बुद्धि की याचना परमात्मा से की गई है पर वह आज की दीन-हीन विधि से नहीं वरन् वैदिक संस्कृति के अनुसार, आत्म गौरव से युक्त भावना से की गई है। दीनता के साथ भिक्षा माँग लेने का भारतीय संस्कृति से मेल नहीं खाता फिर चाहे वह भिक्षा ईश्वर से ही क्यों न माँगी गई हो ।

प्रचोदयात् कह कर परमात्मा से बुद्धि को प्रेरित करने की याचना की गई है । वे हमारी बुद्धि को प्रेरणा दें जिससे उत्साहित होकर हम अपने अन्तःकरण का निर्माण करने में जुट जावें । अपनी कुबुद्धि से लड़कर उसे परास्त करें और उसके स्थान पर सुबुद्धि के स्थापन का पुरुषार्थ दिखावें । भारतीय संस्कृति कर्मवाद की संस्कृति है, उसमें पुरुषार्थ, प्रयत्न, संघर्ष और श्रम करके अभीष्ट वस्तुएं प्राप्त करने का आदेश है । ईश्वर से जो भी प्रार्थनाएँ की गई हैं उनमें ईश्वर का आशीर्वाद, पथ-प्रदर्शन, नेतृत्व माँगा गया है । गुरुजनों से भी शुभ कार्यों के आरम्भ में इसी प्रकार से आशीर्वाद माँगा जाता है । जब बालक परीक्षा देने जाते हैं तब गुरुओं से उत्तीर्ण होने का आशीर्वाद माँगते हैं । आशीर्वाद को पाकर छात्र का उत्साह बढ़ता है । वह अपने प्रयत्न में परीक्षा में उत्तीर्ण होता है । कोई छात्र यह आशा रखे कि मुझे स्वयं कुछ प्रयत्न न करना पड़े और केवल मात्र आशीर्वाद की शक्ति से उत्तीर्ण होने का प्रमाण-पत्र मिल जाय तो यह अनुचित आशा कही जायगी ।

ईश्वरीय विधान में कर्म के साथ फल भी जोड़ा गया है, यत्न की पूँछ से सफलता बँधी हुई है । आज जो प्रारब्ध या भाग्य के रूप में हमारे सामने मौजूद है, वह एक समय का कर्म है, कालान्तर में कर्म का जब परिपाक हो जाता है तो उसे भाग्य कहते हैं । भाग्य का कारण ईश्वर की कृपा अकृपा नहीं वरन् भूतकाल में किये हुए अपने कर्म ही हैं जो पक कर समयानुसार हमारे सामने उगते हैं और प्रारब्ध कहलाते हैं । ईश्वर किसी पर प्रसन्न अप्रसन्न नहीं होता, उसके लिये सब प्राणी समान हैं, सबको उसने समान अवसर और अधिकार दिये हैं । साथ ही यह स्वाधीनता भी दी है कि भले बुरे जैसे चाहे वैसे कर्म करे, परन्तु कर्म फल की दृष्टि से उसे परतन्त्र रखा है । अपने किये हुए कर्मों के फल से बचना कठिन है ।

गुरुजनों से या ईश्वर से आशीर्वाद माँगना ही उचित है क्योंकि उनका अन्तःकरण सदा ही सत्प्रयत्न करने वाले के लिए स्वयमेव प्रवाहित होता रहता है। जैसे ही हम सन्मार्ग की ओर कदम उठाते हैं वैसे ही वह आशीर्वाद और भी बल पूर्वक हमारे साथ संयुक्त हो जाता है, परन्तु यदि हम कुपथ पर चलें या आलसी, प्रमादी बने बैठे रहें और ईश्वर से सहायता की आशा रखें तो ऐसी आशा फलवती नहीं हो सकती । कर्म फल की सुदृढ़ व्यवस्था को तोड़ कर ईश्वर ऐसा नहीं करता कि किसी की निन्दा स्तुति से प्रसन्न अप्रसन्न होकर चाहे जैसी उलटी-सीधी व्यवस्था बनावे ।

प्रार्थना का अर्थ है किसी पदार्थ को श्रद्धा पूर्वक अपने में अभिमन्त्रित करना, अपने अन्दर स्थापित करना, अपनी वृत्तियों को उस ओर लगाना । अपनी आन्तरिक स्थिति इस प्रकार की बनाना जिसमें कि अभीष्ट इच्छा की पूर्ति के लिए विचार और कार्यों के लिये समुचित भूमि तैयार हो जाय। दिव्य शक्तियां हमें आशीर्वाद, प्रेरणा और प्रोत्साहन देती हैं । यह सूक्ष्म दान हमारी अन्तःप्रवृत्तियों को मोड़ने में सहायक सिद्ध होता है । इसलिये उसका महत्व असाधारण है, विश्वास बीज का किसी दिशा में मुड़ जाना इस बात का दृढ़ आधार है कि मन की अन्य वृत्तियाँ भी उसी दिशा में जुड़ेंगी । प्रार्थना एक मनोवैज्ञानिक समस्त धार्मिक क्रिया है जो हमारी मनोभूमि को ऐसी उर्वर बनाती है जिसमें मनोवांछित स्थिति भली प्रकार उग सके और फलफूल सकें ।

गायत्री मन्त्र में प्रचोदयात् शब्द बहुत ही शानदार है। उसमें आत्मा के गौरव की पूरी तरह रक्षा की गई है। आत्मा शक्तियों का भण्डार है। उसमें वे सब तत्व मौजूद हैं जिसकी सहायता से वह मनचाही स्थितियाँ तथा वस्तुएँ प्राप्त कर सकें । उसे किसी वस्तु या स्थिति की याचना करने की आवश्यकता नहीं, केवल ऐसी प्रेरणा की आवश्यकता है जिससे बुद्धि शुद्ध हो जाय, कुबुद्धि का निवारण होकर

उसका स्थान सुबुद्धि ग्रहण कर ले। जब सुबुद्धि आ जायगी तो संसार का कोई भी ऐश्वर्य उसके लिये दुर्लभ न होगा। गायत्री में सुबुद्धि के लिए नहीं 'सद्बुद्धि की प्रेरणा, प्रोत्साहन, आशीर्वाद देने की ईश्वर से प्रार्थना की गई है' क्योंकि सद्बुद्धि भी अपने प्रयत्न से ही आती है, इसके लिए संयम, व्रत, उपवास, स्वाध्याय, सत्सङ्ग, सेवा आदि सत्कर्मों का आश्रय लेना पड़ता है, पर उसकी प्रेरणा ईश्वर से ही प्राप्त होती है। अन्त:प्रेरणा न हो तो उपर्युक्त सारे कर्मकाण्ड निरर्थक हैं। आत्म-दर्शन के, ब्रह्म प्राप्ति के, दैवी वरदान के लिये जिस अन्त:प्रेरणा की आवश्यकता है, उसी की परमात्मा से प्रार्थना की याचना की गई है। प्रचोदयात् शब्द इसी प्रेरणा का बोधक है। नीचे के प्रमाणों में यही बताया भी गया है।

प्रेरयति, अयमाशयः सर्वस्याचेतनाय।
अचेतनचेतनोऽपि भगवांश्चात्र प्रेरयति॥

— *विष्णु० भा०*

प्रेरयति का यह भावार्थ है, समस्त अचेतनों को तथा समस्त चेतनाओं को भी भगवान् ही यहाँ चैतन्य करता है।

योजयति धर्मार्थ काममोक्षे चास्मदादीनां बुद्धिम्।

— *भारद्वाज यो० याज्ञ०*

हमारी बुद्धि को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में युक्त करता है-

चुद् प्रेरणे प्रकर्षेण चोदयति प्रेरयति।

— *साय० महीधर०*

चुद् धातु प्रेरणा करने में है, अत: प्रयोदयात् का अर्थ है सम्यक् प्रकार से हमारी बुद्धि को प्रेरणा करे।

प्रचोदयात् प्रेरयत्।

— *भार्गव०*

प्रचोदयात् अर्थात् प्रेरणा करे।

प्रचोद्यात्—प्रकर्षेण प्रेरयति, सकलं कर्मानुष्ठान प्रवीणां, दुष्कर्म विमुखां चास्मद् बुद्धिं करोति वृतोः प्रकाशयतीत वा।

— *तैत्तिरीय सन्ध्या भाष्य*

अच्छी प्रकार हमारी बुद्धि को पवित्र कर्मों में प्रवीण और दुष्कर्मों से विमुख करें, सद्वृत्ति को प्रकाशित करें।

धर्म शास्त्र का सार गायत्री

महामन्त्रस्य चाप्यस्य स्थाने स्थाने पदे पदे।
गूढ़ो रहस्य गर्भोनन्तोपदेश समुच्चयः।।

(अस्य महामन्त्रस्य) इस महा मन्त्र के (स्थाने-स्थाने) स्थान स्थान पर (च) और (पदे-पदे) पद-पद पर (रहस्य गर्भ:) जिनमें रहस्य छिपा हुआ है ऐसे (अनन्तोपदेश समुच्चय:) अनन्त उपदेशों का समूह (गूढ़:) छिपा हुआ अन्तर्हित है।

सो दधाति नरश्चैतानुपदेशांस्तु मानसे।
जायते ह्युभयं तस्य लोकमानन्दसंकुलम्॥

(यो नर:) जो मनुष्य (एतान्) इन (उपदेशान्) उपदेशों को (मानसे दधाति) मन से धारण करता है, (तस्य) उसके (उभय लोक) दोनों लोक (आनन्द संकुलं) आनन्द से व्याप्त (जायते) हो जाते हैं।

गायत्री महामन्त्र एक अगाध समुद्र है जिसके गर्भ में छिपे हुए रत्नों का पता लगाना सहज कार्य नहीं है। इस महासागर में से सभी ने अपनी-अपनी प्रज्ञा, योग्यता और आकांक्षा के अनुरूप रत्न निकाले हैं। पर इस अक्षय भंडार का पार किसी को भी नहीं मिला है। गायत्री के एक-एक अक्षर और एक-एक पद में कितना गहरा ज्ञान सन्निहित है इसका पता लगाते हुए जो जितना ऊँचा विद्वान है उसे उतनी ही कठिनाई होती है। अनेक ऋषि महर्षियों ने गायत्री मन्त्र के प्रत्येक अक्षर पर विशेष व्याख्याएँ की हैं और अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार गायत्री के पदों के अर्थ निकाले हैं। वे अर्थ इतने अधिक विस्तृत और इतने मर्म पूर्ण हैं कि इन थोड़ी पंक्तियों में उन्हें खुलासा प्रकट नहीं किया जा सकता, इन पंक्तियों में गायत्री मन्त्र का सर्व सुलभ अर्थ संक्षिप्त रूप से लिखा जा रहा है जिससे उसके सामान्य अर्थ को सुविधापूर्वक समझा जा सके। आइये, गायत्री मन्त्र के एक-एक शब्द का अर्थ करें।

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

ॐ- ब्रह्म
भू:- प्राण स्वरूप
भुव: - दु:खनाशक
स्व: - सुखस्वरूप
तत् - उस
सवितु: - तेजस्वी, प्रकाशवान
वरेण्यं- श्रेष्ठ
भर्ग: - पाप नाशक
देवस्य - दिव्य को, देने वाले को
धीमहि - धारण करें
धियो - बुद्धि
यो - जो
न:- हमारी
प्रचोदयात् - प्रेरित करें

अर्थात् - उस सुख स्वरूप, दुःखनाशक, श्रेष्ठ तेजस्वी, पाप नाशक प्राण स्वरूप, ब्रह्म को हम धारण करते हैं जो हमारी बुद्धि को सन्मार्ग की ओर प्रेरणा देता है ।

इस अर्थ पर विचार करने से उसके अन्तर्गत तीन तथ्य प्रकट होते हैं - १-ईश्वर के दिव्य गुणों का चिन्तन, २-ईश्वर को अपने अन्दर धारण करना । ३- सद्बुद्धि की प्रेरणा के लिए प्रार्थना । यह तीनों ही बातें साधारण महत्व की हैं ।

मनुष्य जिस दिशा में विचार करता है, जिन वस्तुओं का चिन्तन करता है, जिन तत्वों पर ध्यान एकाग्र करता है वह सब धीरे धीरे उस चिन्तन करने वाले की मनोभूमि में स्थिति और वृद्धि को प्राप्त करते जाते हैं । विचार विज्ञान की विस्तृत विवेचना तो कहीं अन्यत्र करेंगे पर उसके सारभूत सिद्धान्तों को हमें समझ लेना चाहिये कि जिन बातों पर हम चित्त को एकाग्र करेंगे, उसी दिशा में हमारी मानसिक शक्तियाँ प्रवाहित होने लगती हैं और अपनी अद्भुत सामर्थ्यों के द्वारा सूक्ष्म लोकों से ऐसे साधन, हेतु और उपकरण पकड़ लाती हैं जिनके आधार पर उसी चिन्तन की दिशा में मनुष्य को नाना प्रकार की गुप्त प्रकट, दृश्य-अदृश्य सहायताएँ मिलती हैं और उसी मार्ग में सफलताओं का ताँता बँध जाता है; चिन्तन का ऐसा ही महत्व और महात्म्य है । ध्यान योग की महिमा किसी से छिपी नहीं है ।

गायत्री मन्त्र के प्रथम भाग में ईश्वर के कुछ ऐसे गुणों का चिन्तन है जो मानव जीवन के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं । आनन्द, दुख का नाश, श्रेष्ठता, तेज, निर्भरता एवं आत्मा की सर्व व्यापकता, "**आत्मवत् सर्व भूतेषु**" की मान्यता पर जितना भी ध्यान एकाग्र किया जायगा, मस्तिष्क इन तत्वों की अपने में वृद्धि करेगा । मन इनकी ओर आकर्षित होगा, अभ्यस्त बनेगा और इसी आधार पर काम करेगा । आत्मा की सच्चिदानन्द स्थिति का चिन्तन दुःख, शोक रहित ब्राह्मी स्थिति का चिन्तन, श्रेष्ठता, तेजस्विता और निर्मलता का चिन्तन, आत्मा की सर्वव्यापकता का चिन्तन यदि गहरी अनुभूति और श्रद्धा पूर्वक किया जाय तो आत्मा एक स्वर्गीय दिव्य भाव से ओत-प्रोत हो जाता है । आत्मा इस दिव्य आनन्द को विचार क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रखता वरन् क्रिया में लगाकर इसका सुदृढ़ आनन्द भोगने की ओर कदम उठाता है ।

गायत्री मन्त्र के दूसरे भाग में उपर्युक्त गुणों वाले तेज पुंज को, परमात्मा को अपने में धारण करने की प्रतिज्ञा है। उस दिव्य गुणों वाले परमात्मा का केवल चिंतन मात्र किया जाय, सो बात नहीं, वरन् गायत्री का आत्मा को सुदृढ़ आदेश है उस ब्रह्म को, उस दिव्य गुण सम्पन्न परमात्मा को, अपने अन्दर धारण करें, उसे अपने रोम-रोम में ओत-प्रोत कर लें, परमात्मा को अपने कण-कण में व्याप्त देखें और ऐसा अनुभव करें कि उन दिव्य गुणों वाला परमात्मा हमारे भीतर बाहर आच्छादित हो गया है और इन दिव्य गुणों में उस ईश्वरीय सत्ता में अपना अहम् पूर्ण रूप से निमग्न हो गया है । इस प्रकार की धारणा से जितने समय तक मनुष्य ओत-प्रोत रहेगा उतने समय तक उसे भूलोक में रहते हुए भी ब्रह्म लोक के आनन्द का अनुभव होगा । यह अनुभव इतना गम्भीर है कि आगामी जीवन में, बाह्य आचरणों में उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता । उसमें सात्विक तत्वों की मङ्गलमय अभिवृद्धि न हो ऐसा हो नहीं सकता ।

गायत्री मन्त्र के तीसरे भाग में परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि वह हमारे लिए सद्बुद्धि की प्रेरणा करें, हमें सात्विक बुद्धि प्रदान करें । हमारे मस्तिष्क को कुविचारों, कुसंस्कारों, नीच वासनाओं, दुर्भावनाओं से छुड़ाकर सतोगुणी ऋतम्भरा बुद्धि से, विवेक से, सद्ज्ञान से पूर्ण करें ।

इस प्रार्थना के अन्तर्गत बताया गया है कि प्रथम भाग में बताये हुए दिव्य गुणों को प्राप्त करने के लिए, दूसरे भाग में बताई गई ब्रह्म धारणा के लिए, इस तीसरे भाग में उपाय बता दिया गया है कि अपनी बुद्धि को सात्विक बनाओ, आदर्शों को ऊँचा उठाओ, उच्च दार्शनिक विचारधाराओं में रमण करो और अपनी तुच्छ तृष्णा एवं वासनाओं के इशारे पर नाचते रहने वाली कुबुद्धि को मानस लोक में से बहिष्कृत कर दो । जैसे-जैसे बुद्धि का कल्मष दूर होगा वैसे ही वैसे दिव्य गुण सम्पन्न परमात्मा के अंशों की अपने में वृद्धि होती जायगी और उसी अनुपात से लौकिक और पारलौकिक आनन्दों की अभिवृद्धि हो जायगी ।

गायत्री मन्त्र के गर्भ में सन्निहित उपर्युक्त तथ्य में ज्ञान, कर्म, उपासना तीनों हैं । सद्गुणों का चिन्तन ज्ञान है, ब्रह्म की धारणा कर्म है और बुद्धि की सात्विकता, अभीष्ट प्राप्त क्रिया प्रणाली एवं उपासना है । वेदों की समस्त ऋचायें इसी तथ्य का विस्तार प्रकट करने के लिए प्रकट हुई हैं। वेदों में 'ज्ञान' 'कर्म' और 'उपासना' यह तीन विषय हैं, गायत्री के बीज में भी उन्हीं तीनों का वर्णन व्यावहारिक, संक्षिप्त एवं सर्वांगपूर्ण है । इस तथ्य को, इस बीज को, सच्चे हृदय से, निष्ठा और श्रद्धा के साथ अन्तःकरण में गहरा उतारने का प्रयत्न करना ही गायत्री की उपासना है । इस उपासना से साधक का सब प्रकार कल्याण ही कल्याण है।

गायत्री मंत्र का द्वितीय खण्ड

गायत्री पर आचार्य रावण का भाष्य

तत् तस्य भर्गस्तेजः धीमहि ध्यायेम चिन्तयाम अत्र यद्यपि तदिति पदं भर्गो विशेषणं नास्ति तथापि तच्छब्द प्रयोगादेव यच्छब्द प्रयोगउपपध्यते तस्य कस्य 'सवितः' सर्वभावनां प्रसवितुः पुनः किं भूतस्य 'देवस्य' दीप्तिक्रीडादि युक्तस्य तं कं यो भर्गो नोऽस्माकं धियो बुद्धिः प्रचोदयात्।

तत् अर्थात् इनके भर्ग अर्थात् तेज का ध्यान चिन्तन करते हैं ।

यहाँ पर यद्यपि तत् शब्द का विशेषण नहीं है, तथापि तत् शब्द के प्रयोग से यत् शब्द का प्रयोग उपलक्षित होता है ।

उनके-किनके ? (सवितुः) समस्त भावों के उत्पन्न कारक का । पुनः वह कैसा है? (देवस्य) प्रकाश तथा क्रीडादि से युक्त के तेज का ध्यान करते हैं ।

वह तेज कौन है ? जो तेज हमारी (धियः) बुद्धि को (प्रचोदयात्) प्रेरणा करता है ।

तदहि भर्ग शब्देन बहुविधमाहात्म्यमुक्तम् । सवितु मंडलगतादित्य देवता स्वपुरुष उच्यते अत्र यद्यपि सवितु भर्गः इति । सवितु भर्गयोर्भिन्नता गायत्रीमंत्रे प्रतीयते तथापि परमार्थ चिंतायां सवितृभर्गयोर्भेदो न विद्यते एव स एव सविता स एव भर्गः सवितृभर्गयोः अद्वैतमेव तथा च राहो शिर इतिवत् स्पष्टोऽभेदत्व साधकः, पुनरपि किं भूतो भर्गः वरेण्यं प्रवर्णीयं प्रार्थनीयम् । जन्म मृत्यु दुःख नाशाम ध्यायेय उपासनीयमित्यर्थः। एवं गायत्र्यास्तस्य च महात्म्यमुपवर्ण्य पुनस्तथैव महाप्रमवर्णं महाव्याहृतिभूर्विशेषणीभूतासि अभिधीयते तद्यथा किं भूतो भर्ग भूरादि व्याप्य तिष्ठति शेषः तथा च भूरादि त्रैलोक्य प्रकाशकम्। भूर्भूमिलोकः भुवः भुवर्लोकः आन्तरिक्षं, स्वः स्वर्लोकः एवमुपरि क्रमेणावस्थितान् लोकानभिव्याप्यावतिष्ठमानोऽसौ भर्गः एतांस्त्रींल्लोकानेव प्रदीपवत् प्रकाशयतीत्यर्थः ।

यहाँ पर उस भर्ग शब्द से अनेक प्रकार का महात्म्य कहा है । सवितृ मण्डल के अन्तर्गत जो आदित्य देवता है वह सर्वव्यापी पुरुष कहा जाता है ।

गायत्री मन्त्र में यद्यपि 'सवितुभर्गः' यहाँ पर सविता और भर्ग में भिन्नता प्रतीत है तथापि परमार्थ चिन्तन में सविता और भर्ग में भेद नहीं है किन्तु वही सविता है, वही भर्ग है, इस प्रकार अद्वैत है और (राहोः शिर) राहु का शिर, अर्थात् राहु ही शिर है, इस प्रकार सवितु भर्ग वही बात हो गई है ।

फिर वह कैसा है ? (वरेण्य) प्रार्थना करने योग्य जन्म मृत्यु रूपी दुःख नष्ट करने के लिये ध्यान द्वारा उपासनीय है ।

इस प्रकार का महात्म्य वर्णन कर पुनः भर्ग के महात्म्य को महा व्याहृति द्वारा विस्तार पूर्वक कहते हैं ।

वह भर्ग कैसा ? जो पृथ्वी आदि लोकों में व्याप्त है और पृथ्वी आदि तीनों लोकों को प्रकाशित करता है । भूः—पृथ्वी लोक है ।

भुवः—भुवर्लोक अर्थात् अन्तरिक्ष है ।

स्वः—स्वर्गलोक है । इस प्रकार ऊपर क्रमशः स्थित लोकों में व्याप्त होकर वर्तमान वह भर्ग इन तीन लोकों को इस प्रकार दीपक सदृश प्रकाशित करता है ।

महीधर भाष्य

तस्य देवस्य द्योतनात्मकस्य सवितुः प्रेरकस्यान्तर्यामिणो विज्ञानानन्दस्वभावस्य हिरण्यगर्भोपाध्यवच्छिन्नस्य वा आदित्यान्तरपुरुषस्यवा ब्रह्मणो वरेण्यं वरणीयं सर्वैः प्रार्थनीयं भर्गः सर्वपापानां सर्वसंसारस्य च भर्जन-समर्थ तेजः सत्यज्ञानानन्दवेदान्तप्रतिपाद्य वयं धीमहि ध्यायामः ॥

प्रकाशमान् प्रेरक, अन्तयामी, विज्ञान तथा आनन्द स्वरूप, हिरण्यगर्भ उपाधि वाले, सूर्य मण्डल में स्थित पुरुष स्वरूप ब्रह्म देव का (वरेण्य) वरण करने योग्य अथवा प्रार्थनीय समस्त संसार को संहार करने में समर्थ वेदान्तों से प्रतिपादित सत्य ज्ञानानन्दस्वरूपी तेज का ध्यान करते हैं ।

तस्य कस्य ? यः सवितानोऽस्माकं त्रियः बुद्धिः कर्माणि वा प्रचोदयात् प्रकर्षेण चोदयति प्रेरयति सत्कर्मानुष्ठानाय ।

उस किस देव का ध्यान करते हैं ? जो सविता देव हमारी बुद्धि को अथवा कर्मों को शुभ कर्म करने के लिये प्रेरित करता है ।

यद्वा वाक्य भेदेन योजना सवितुदैवस्य वरेण्यं भर्गः ध्यायामः । यश्च नो बुद्धिः प्रेरयति तं च ध्यायामः सः सवितैव ।

वाक्य के भेद से योजना करते हैं ।

सविता देव के प्रार्थनीय तेज का जो भर्ग हमारी बुद्धि को शुद्ध कर्मों में प्रवृत्त करता है, उस भर्ग का हम ध्यान रखते हैं । वह सविता ही है ।

लिंग व्यत्ययेन योजना-सवितुर्देवस्य तद् भर्गो ।
धीमहि यो यद् भर्गो नो बुद्धिः प्रेरयति ॥

सविता देव के उस तेज का ध्यान करते हैं जो तेज हमारी बुद्धि को शुभ कर्मों में प्रेरणा करता है ।

आचार्य सायण का गायत्री भाष्य

सर्वासु श्रुतिषु प्रसिद्धस्य देवस्य द्योतमानस्य सवितुः सर्वान्तर्यामितया प्रेरकस्य जगत् स्त्रष्टुः परमेश्वरस्य आत्मभूतं वरेण्यं सर्वैः उपास्यतया ज्ञेयतया च सम्भजनीयम् ।

सब श्रुतियों में प्रसिद्ध प्रकाशमान देव सविता सर्वान्तर्यामी के रूप में प्रेरणा देने वाला, जगत् का सृष्टा परमेश्वर का आत्मभूत वरेण्य, सबके उपासनीय जानने और भजन करने योग्य है ।

भर्गः अविद्या तत्कार्ययोभर्जनाद् भर्जः स्वयं ज्योतिः परब्रह्मात्मकं तेजः ।

अविद्या तथा उसके कार्यों का भर्जन करने के कारण उसे भर्ग कहते हैं, वह स्वयं ज्योति और परब्रह्म का तेज है ।

धीमहि तद्योहं सोऽसौ योऽसौ सोहमिति वयं ध्यायेम् ।

जो मैं हूँ सो वह है, जो वह है सो मैं हूँ, ऐसा ध्यान करते हैं ।

(यद्वा) तदिति भर्गो विशेषणम् । सवितुदेवस्य तत्तादृशं भर्ग धीमहि किं तदित्यपेक्षायामाह य इति लिंगव्यत्ययः यद् भर्गो धियः प्रचोदयादितिध्यायेमेति समन्वयः ।

अथवा—तत् शब्द भर्ग का विशेषण है । सविता देव के सदृश उस भर्ग का ध्यान करता हूँ । वह क्या है—वह भर्ग जो कि बुद्धि को प्रेरणा देता है उसका ध्यान करते हैं। यह समन्वय है ।

(यद्वा) यः सविता सूर्यो धियः कर्माणि प्रचोदयात् प्रेरयति तस्य सवितुः सर्वस्य प्रसवितुर्देवस्य द्योतमानस्य सूर्यस्य तत् सर्वे दृश्यमानतया प्रसिद्धं, वरेण्यं सर्वैः भजनीयं भर्गः पापानां पातकं तेजो मण्डलं धीमहिः ध्येयतया मनसा धारयेम् ।

जो सविता (तेजस्वी) बुद्धि को कर्म के लिये प्रेरणा देता है उस सबका प्रसव करने वाले सविता देव के, प्रकाशमान सूर्य के सबको दिखलाई देने के कारण सबके द्वारा उपासनीय, भजन करने योग्य भर्ग को, पाप के नष्ट करने वाले तेजो मण्डल को ध्येय समझकर धीमहि अर्थात् धारण करते हैं ।

वेदाचार्य उव्वट का गायत्री भाष्य

तदितिषष्ठयां विपरिणम्यते तस्य सवितुः सर्वस्य प्रसवदातुः आदित्यान्तरपुरुषस्य देवस्य हिरण्यगर्भो-पाध्यवच्छिन्नस्य वा विज्ञानानन्दभावस्य तु ब्राह्मणो वरेण्यं वरणीयं भर्गः शब्दा वायवचनः । वरुणाद्वा अभिषेचनाद् भर्गोपचक्राम । वीर्यो वै भर्ग इति श्रुतिः । तेन हि पापं भृञ्जन्ति दहन्ति (भृजीभर्जने) अथवा भर्गस्तेजो वचनः यद्वा मंडलं पुरुषो रश्मय इत्येव त्रितयमभिप्रेयते देवस्य दानादिगुणायुक्तस्य धीमहि (ध्यैचिंतायाम्) अस्यच्छान्द-सम्प्रसारणम् ध्यायामः चिन्तयामः निदिध्यासं तद्विषयं कुर्म इति यावत् धियो यो नः धी शब्दो बुद्धि वचनः कर्म वचनो वाग्वचनश्च बुद्धिः कर्माणि वा वाचो वायु सविता नोऽस्माकं प्रचोदयात् । यः सवितादेवः नोऽस्माकं धियः कर्माणि विषया वा बुद्धिः प्रचोदयात् प्रेरयेत् । तत् तस्य 'चुद सचोदने' प्रकर्षेण चोदयति प्रेरयति तस्य सवितुः सम्बन्धि वीर्यं तेजो वा ध्येयाम इति ।

तत् शब्द षष्टी का है । उस सविता का जो सम्पूर्ण सृष्टि को प्रसव करता है और जो आदित्य के अन्दर पुरुष हिरण्यगर्भ से अविच्छिन्न विज्ञानानन्द स्वभाव वाले ब्रह्म के वरेण्य वीर्यवान् रूप भर्ग हैं । भर्ग अर्थात् वीर्य । भर्ग का जन्म वरुण से हुआ है । अथवा अभिषेचन से हुआ है । श्रुति में भी भर्ग को वीर्य कहा गया है। उससे पाप नष्ट होते या जलते हैं । भृजी धातु भर्जन अर्थ वाची होने से भर्ग तेज अर्थ का बोध कराता है । भर्ग का अर्थ मण्डल पुरुष और किरण भी होता है । दानादि गुण युक्त होने से उसे देव कहते हैं । ध्यै धातु का अर्थ चिन्तन करना है । वेद में इसका सम्प्रसारण है । इसलिये इसका अर्थ हुआ ध्यान करते हैं, चिन्तन करते हैं, निदिध्यासन करते हैं ।

धियो यो नः धी शब्द बुद्धि, कर्म अथवा वाक वाचक है इसलिये जो सविता देव हम सबको अर्थात् हमारी बुद्धि, क्रिया, वाणी को प्रेरणा देता है, जो सविता देव हम सबों की बुद्धि को कर्म और धर्मादि विषयों की ओर प्रचोदयात् प्रेरणा देता है (चुद् धातु का अर्थ प्रेरणा देना है ।) उस सविता सम्बन्धी वीर्य, तेज का ध्यान करता हूँ ।

तत्सवितुर्वरणीयं वीर्यं तेजो वा देवस्य ध्यायामः यश्च बुद्धिः प्रचोदयात् प्रेरयत्यस्माकं तं च ध्यायामः स च सवितैव भवति । लिंग व्यत्ययेन वा योजना, तत्सवितुर्वरणीयं भर्गो देवस्य ध्यायाम धिया यद् भर्गः अस्माकं प्रेरयति ।

उस सविता के वरणीय वीर्य या तेज का ध्यान करते हैं जो बुद्धि को प्रेरणा देता है । जो हमको प्रेरणा करता है

और जिसका हम ध्यान करते हैं, वह तो सविता ही है। लिंग व्यत्यय करने पर बनता है।

उस सविता देव के वरणीय भर्ग का ध्यान करते हैं, जो भर्ग हमारी बुद्धि को प्रेरणा देता है।

ब्रह्म पुराण में गायत्री अर्थ

भूरिति भूर्लोकः भुव इत्यन्तरिक्षम्।स्वरिति स्वर्लोकः।

भू से पृथ्वी लोक, भुव से अन्तरिक्ष तथा स्वः से स्वर्ग लोक जानने चाहिये।

तदिति तेजः। तेजसोऽग्निर्देवता।

तत् से तेजस् से अग्नि समझो।

सवितुरिति सविता आदित्या यो यः।

सवितुः का अर्थ सविता है, जिसे आदित्य कहते हैं।

वरेण्यं-वरेण्यमित्यन्नं वरेणि यमन्नमेव प्रजापतिः।

वरेण्य अर्थात् अन्न वरेण्यं अर्थात् प्रजापति।

भर्ग इत्यापो वै भर्गः। यदापस्तत्सर्वा देवता।

भर्ग अर्थात् जो आप हैं वही सब देवता हैं।

देवस्येति यो वै देवा वः पुरुषः स विष्णुः।

देवस्य—जो देव वही पुरुष है। उसी को विष्णु कहते हैं।

धीमहीत्यैश्वर्य तन्महेश्वर ।

धीमहि—ऐश्वर्य को कहते हैं। जो ऐश्वर्य है वही परमेश्वर है।

धिय इति स प्राणोऽयं वायुः।

धी—का अर्थ प्राण है और जो प्राण है वही वायु है।

यः इत्यध्यात्मं तत्परमं यः।

यः का अर्थ आध्यात्मिक है।

न इति पृथ्वी। इयं योनिः।

न का अर्थ पृथ्वी है जो कि इसकी योनि या आधार है।

प्रचोदयादिति कामं कामयेमिदं लोकं लोकाः प्रत्याचक्षते।

इस लोक में कामना करना प्रचोदयात् है।

स्कन्द पुराण की सूक्तसंहिता का मंत्रार्थ

यो नोऽस्माकं धियश्चिन्तान्यन्तर्यामि स्वरूपतः।
प्रचोदयाद् प्रेरयेच्च तस्य देवस्य सुव्रताः॥

हमारी बुद्धि तथा विचारों के अन्तर्यामी स्वरूप से शुभ कर्मों में जो प्रेरित करे, उसका हम व्रत करते हैं।

दीप्तस्य सर्वजन्तूनाम् प्रत्यक्षस्य स्वभावतः।
सवितुः स्वात्मभूतन्तु वरेण्यं सर्व जन्तुभिः॥

समस्त जन्तुओं से प्रत्यक्ष आत्मा रूप से विद्यमान सविता रूप परमेश्वर परमात्मा का वर्णनीय तेज समस्त प्राणियों द्वारा चिन्तनीय है।

स्वमाया शक्ति संभिन्न शिवरुद्रादिसंज्ञितम्।
आदित्य देवतायास्तु प्रेरकं परमेश्वरम्।

अपनी माया शक्ति से ब्रह्म शिव रुद्रादि भिन्न-भिन्न संज्ञा वाले, सूर्य नारायण के प्रेरक परमेश्वर।

आदित्येन परिज्ञातं वयं धीमह्युपास्महे।
सावित्र्यः कथितो ह्यर्थ संग्राहेण मयादरात॥

सूर्य रूप से ज्ञात परमेश्वर की हम उपासना करते हैं, यह संक्षेप से गायत्री का अर्थ कहा है।

विष्णु धर्मोत्तर का मन्त्र वर्णार्थ

कर्मेन्द्रियाणि पंचैव बुद्धीन्द्रियाणि पंच यः।
पञ्च बुद्धीन्द्रियार्थाश्च भूतानां चैव पंचकम्॥

पाँच कर्मेन्द्रिय—पाँच बुद्धीन्द्रिय अर्थात् ज्ञान इन्द्रिय और पाँच-पाँच इनके व्यापार अर्थात् इनका ज्ञान तथा पाँच महाभूत।

मनो बुद्धिस्तथैवात्मा अव्यक्तचित् यदुत्तमम्।
चतुर्विंशति एतानि गायत्र्या अक्षराणिच॥
प्रणवं पुरुषं सर्वांगं पञ्चविंशकम्।

मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से चौबीस गायत्री के अक्षर हैं। इसमें पच्चीसवाँ अक्षर प्रणव पुरुष है जो कि व्यापक है।

प्रपंचसार तन्त्रोक्त अर्थ

भूः पदाद्या व्याहृतयो भूः शब्दस्तदिति वर्तते।
तत्पदं सदिति प्रोक्तं सन्मात्रत्वात् तु भूरतः॥

व्याहृतियों में भूः शब्द आरम्भ में है जिसका अर्थ तत् है। तत् सत् का द्योतक है। सत् कहने से सत्ता का भान होता है। इससे सगुण ब्रह्म का परिचय मिलता है।

भूतत्वात् कारणत्वाच्च भुवः शब्दस्य संगतिः।
सर्वस्य स्वीरणात् स्वात्मतया च स्वरितीरितम्॥

भूतत्व से उत्पादन कारण अर्थ निकलता है। भुवः से संगति लगती है और स्वः से सुख का संकेत मिलता है।

तद् द्वितीयेकवचनमनेनाऽखिल वस्तुतः।
सृष्ट्यादि कारणं तेजो रूपमादित्य मण्डले॥
अभिध्येयं सदानन्दं परं ब्रह्माऽभिधीयते।
यत्तु सवितुरित्युक्तं षष्ठयेकवचनात्मकम्॥

तत् शब्द द्वितीया का एकवचन है जिसका अर्थ है सम्पूर्ण वस्तुओं का सृष्टि कर्त्ता । आदि में कारणीभूत, तेजोमय आदित्य मण्डल में जो आनन्द रूप परब्रह्म है, उसका ध्यान करने के लिए तत् का प्रयोग है । वह तत् सत है, वह सविता है जो कि षष्ठी का एक वचन है ।

धातोरिह विनिष्पन्नं प्राणि-प्रसव-वाचकात् ।
सर्वासां प्राणिजातीनामिति प्रसवितुः सदा ॥

वह धाता है उससे प्राणियों का प्रसव होता है वह सब प्राणियों का निरन्तर प्रसव करता है इसलिये उसे सविता कहते हैं ।

वरेण्यं वरणीयत्वात् सेवनीयतया तथा ।
भजनीयतया सर्वैः प्रार्थनीयतया स्मृतम् ॥

वरणीय होने के कारण उसे वरेण्यं कहते हैं । वह उपासना करने के योग्य है, भजन करने के योग्य है तथा सबों के द्वारा प्रार्थना करने योग्य है ।

पूर्वस्याष्टाक्षरस्येवं व्याहृतिर्भूरिति स्मृता ।
पापस्य भर्जनाद्भर्गो भक्तस्निग्धतया तथा ॥

इन पहले अक्षरों के लिये भूः व्याहृति का प्रयोग होता है । पापों के भर्जन और भक्तों के लिए स्नेहवत्ता होने के लिये वह भर्ग कहलाता है ।

देवस्य वृष्टि दानादि गुणयुक्तस्य नित्यशः ।
प्रभूतेन प्रकाशेन दीप्यमानस्य वै तथा ॥

वृष्टि, दान, आदि गुण होने से वह देव कहलाता है । प्रभूत है, प्रकाशवान है, वह दीप्तमान है ।

ध्यै चिन्तायामतो धातो निष्पन्नं धीमहीत्यदः ।
निगताद्येन दिव्येन विद्यारूपेण चक्षुषा ॥

'ध्यै' धातु का अर्थ चिन्तन है उससे धीमहि बनता है, वह निगम आदि दिव्य विद्या तथा दिव्य चक्षु द्वारा चिन्तन में आता है ।

दृश्यो हिरणमयो देव आदित्ये नित्यसंस्थितः ।
हीनता रहितं तेजो यथा स्यात् स हिरणमयः ॥

वह हिरण्मय देव के दृश्य है जो कि आदित्य में नित्य स्थित है । उस तेज में किसी प्रकार की हीनता नहीं है, इसलिये उसे हिरण्यमय कहा जाता है ।

यः सूक्ष्मः सोऽहमित्येव चिन्तयामः सदैव तु ।
द्वितीयाष्टाक्षरस्यैवं व्याहृतिर्भुव ईरिता ॥

यह जो सूक्ष्म है वही मैं हूँ, इस तरह का चिन्तन नित्य करना है । इन दूसरे आठ अक्षरों की भुवः व्याहृति है ।

धियो बुद्धिर्मनोरस्यस्छान्दसत्वाद्य ईरित ।
कृतश्च लिंगव्यत्यासः सूत्रात् सुपतिडउपग्रहात् ॥

धिय का अर्थ बुद्धि है, छन्द में इसको सुपतिङ ग्रहण के लिए लिंग व्यत्यय द्वारा बनाया गया है ।

यत्तु तेजो निरुपमं सर्ववेद (देव) भयात्मकम् ।
भजतां पापनाशस्य हेतुभूतमिहोच्यते ॥

यह जो निरुपम तेज है और जो देवों के तेज से युक्त है, पाप नाश के लिये इसका भजन करते हैं ।

न इति प्रोक्त आदेश षष्ठ्यसौ युष्मदस्मदोः ।
तस्मादस्माकमित्यर्थ प्रार्थनायां प्रचोदयात् ॥

नः आदेश रूप में प्रयुक्त हुआ है जो युष्मद अष्मद के षष्ठी रूप में आया है । जो प्रार्थना के लिये हमें प्रेरणा देता है ।

भारद्वाज का गायत्री भाष्य

तदिति द्वितीयैक वचनम् । अनेनाखिल जगदुत्वत्ति-स्थितिलयकारणभूतमुपनिषदि कथ्यमानं निरुपमं तेजः सूर्यमण्डलाभिध्येयं परब्रह्माभिधीयते ।

'तत्' शब्द द्वितीया का एकवचन है । सूर्य मण्डल में स्थित अनुपम तेज जिसे कि उपनिषदों में संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण भूत कहा गया है 'तत्' शब्द से उस तेज की ओर संकेत किया गया है ।

सवितुरिति पष्ठ्येकवचं । षूञ, प्राणि प्रसवे ।
इत्यस्य धातोरेतद्रूपम् । सर्वस्य भूतजातस्य प्रसवितुरित्यर्थः ।

'सवितु' यह षष्ठी का एकवचन है । षूञ धातु से इसकी उत्पत्ति है । यह धातु प्राणियों के प्रसव अर्थ का वाची है। उससे यह रूप बनता है । इसलिये इसका अर्थ है—सम्पूर्ण प्राणियों को उत्पन्न करने वाला ।

वरेण्यं वरणीयं-प्रार्थनीयम्—नियमादिभिरपगत कल्मषैः सततं ध्येयम् ।

'वरेण्य' का अर्थ है वरणीय प्रार्थनीय । नियमादि पालन करने में जिनके पाप नष्ट हो गये हैं ऐसे निष्पाप पुरुषों द्वारा ध्यान करने योग्य ।

'भर्गः' भञ्जो आमर्दन, 'भृञ' भर्जन इत्येत-योर्धात्वोर्भजतां पाप भर्जन हेतु भूतमित्यर्थ । 'भा' दीप्तावित्यस्य धातोर्व भर्गः तेज इत्यर्थः ।

'भर्ग' शब्द आमर्दन अर्थ वाची भञ्जो तथा भर्जन अर्थ वाची 'भृञ' धातु से बनता है, जिसके कारण, इसका अर्थ होता है भजन करने से पाप का भर्जन अर्थात् नाश होता है । भा का अर्थ दीप्ति भी होता है । यदि उस धातु से भर्ग बनाया जाता है, तो उसका अर्थ तेज होता है ।

देवस्य—वृष्टिदानादिगुणयुक्तस्य निरतिशयंस्येत्यर्थः दीप्यते प्रकाशकत्वात् ।

वृष्टि, दान आदि गुण युक्त होने से उस आनन्द रूप को देव कहते हैं। प्रकाशक होने के कारण दीपयते शब्द का भी प्रयोग करते हैं ।

धीमहि—'ध्यै' चिन्तायाम् निगम निरुक्त विद्यारूपेण चक्षुषा योऽसावादित्ये हिरण्यमयः पुरुषः सोहमिति चिन्तयामि ।

धीमहि—'ध्यै' धातु से बना है, इस धातु का अर्थ चिन्तन करना है, निगम, निरुक्त, विद्या रूपी नेत्रों से आदित्य में स्थित जो हिरण्मय पुरुष है वह मैं हूँ, ऐसा समझकर चिन्तन करता हूँ ।

धियः इति द्वितीयायाः बहुवचनम् य इति छांदसत्वाद् लिंग व्यत्ययः । यत्तेजः सवितुर्देवस्यवरेण्यमस्माभि अभिध्यातं भर्गो जपतां पापभञ्जनहेतुभूतं धीमहि उपास्महे।

धियः—यह द्वितीया का एक वचन है। यः (यत्) द्वन्द्व में लिंग भेद है। जो सविता देव का भर्ग है। उसका हम वरण करते हैं, ध्यान करते हैं। वह जप करने वालों के पाप का नाश कर देता है। इसलिये उसकी उपासना करता हूँ।

यत्तेजा नोऽस्माकं धियो बुद्धिः श्रेयष्करेषु कर्मसु प्रचोदयात् प्रेरयेदित्यर्थ इति ।

यह तेज हम लोगों की धी—बुद्धि को श्रेयष्कर कार्यों की ओर प्रेरणा दे ।

अगस्त्य ऋषि का गायत्री वर्णन

यो देवः सविताऽस्माकं धियो धर्मादिगोचराः ।
प्रेरयेत्तस्य यद्भर्गस्तं वरेण्यमुपास्महे ॥

जो सविता देव हमारी बुद्धि को धर्मादि कार्यों में प्रवृत्त करता है, उस सविता देव के वर्णनीय तेज की हम उपासना करते हैं ।

आग्नेयनिर्वाण तन्त्रोक्त मन्त्रार्थः-
त्र्यक्षरात्मक तारेण परेशः प्रतिपद्यसे ॥
पाप हर्ता च संस्त्रष्टा यो देवः पर ॥

व्यक्षरात्मक अर्थात् प्राणरूप से परमात्मा तथा पापों का विनाशक जगत् का सृष्टा तथा प्रकृति के परे है, उस देव का प्रतिपादन करते हैं ।

असौ देवस्त्रिलोकात्मा त्रिगुणं व्याप्य तिष्ठति ।
यतो विश्वमयं ब्रह्म वाच्यं व्याहृतिभिस्त्रिभिः ॥

वह देव त्रिलोक की आत्मा है और तीन गुणों से व्याप्त होकर विद्यमान है । इस कारण विश्वमय ब्रह्म तीनों व्याहृतियों का वाच्य है ।

तारव्याहृतिवाच्ये यः सावित्र्याः ज्ञेय एव सः ।
जगद्रूपस्य सवितुः संस्त्रष्टु दीप्यते विभोः ॥

ओंकार व्याहृतियों का वाच्य है, जो गायत्री मन्त्र से जानने योग्य है। जगद्रूप, सृष्टिकर्ता, सविता देव का प्रदर्शन है ।

प्रान्तर्गतं महद्वर्चो वरणीयं यतात्मभिः ।
ध्याये तत्परं सत्यं सर्वव्यापी सनातनम् ॥

सूर्यमण्डल के अन्तर्गत जो सत्य स्वरूप सर्वव्यापी सनातन, वर्णनीय महान तेज है वह जितेन्द्रिय पुरुषों से ध्यान करने योग्य है ।

या भर्गः सर्वसाक्षी च मनो बुद्धीन्द्रियाणि नः ।
धर्मार्थकाममोक्षेषु प्रेरयद्विनियोजयेत् ॥

जो भर्ग सर्व साक्षी तथा हमारी बुद्धि, मन, इन्द्रियों को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में प्रवृत्त करता है, उसका ध्यान करें।

ब्रह्मपाराशरोक्त गायत्र्यार्थ

देवस्य सवितुर्भर्गो वरणीयञ्च धीमहि ।
तदस्माकं धियो यस्तु ब्रह्मत्वे च प्रचोदयात् ।

सविता देव के उस वरणीय भर्ग का चिन्तन करते हैं जो हमारी बुद्धि को ब्रह्म में प्रेरणा करता है ।

याज्ञवल्क्य ऋषि का गायत्री भाष्य

तत्-

तच्छब्देन तु यच्छब्दो बोद्धव्यः सततं बुधैः ।
उदाहृते तु यच्छब्देः तच्छब्दः उदितो भवेत ॥

तत् शब्द से यत् शब्द तथा यत् शब्द से तत् शब्द का बोध होता है ।

सवितुः-

सविता सर्वभूतानां सर्वभावांश्च सूयते ।
सवनात्प्रेरणाच्चैव सविता तेन चोच्यते ॥

'सविता' सब भूत तथा सब भावों का उत्पादक है, उत्पादन और प्रेरणा करने के कारण उसका नाम 'सविता' है ।

वरेण्यं—

वरणीयञ्च यो नित्यं संसारभयभीरुभिः ।
आदित्यान्तर्गतं यच्च भर्गाख्यं वै मुमुक्षुभिः ॥

संसार के भय से डरे हुए और मोक्ष की इच्छा रखने वाले सूर्यमण्डलान्तर्गत जो भर्ग नामक तेज है वह वन्दनीय है ।

भर्गो—

भ्रस्ज पाके भवेद्धातुर्यस्मात्पाचयते ह्यसौ ।
भ्राजते दीप्यते यस्माज्जगदन्ते हरित्यपि ॥

'भ्रज' का अर्थ पकाना है । सबको पकाने, प्रकाशित करने तथा अन्त में हरण करने के कारण इस धातु से बने हुए शब्द का नाम पड़ा है ।

कालाग्नि रूपमास्थाय सप्तार्चिस्सप्तरश्मिभिः ।
भ्राजते तत्स्वरूपेण तस्माद् भर्गस्स उच्यते ॥

सात अग्नि तथा सप्त किरणों वाले, कालाग्नि के रखने वाले तथा प्रकाश देने वाले रूप के कारण 'भर्ग' नाम पड़ा है ।

भेति भ्राजयते लोकान् रेति रञ्जयते प्रजाः ।
ग इत्यागच्छतेऽजस्त्र भरगो भर्ग उच्यते ॥

'भ' लोकों के प्रकाश देने के अर्थ में 'र' प्रजा के रञ्जन करने के अर्थ में 'ग' अजस्त्र शक्ति के आने के अर्थ में है । इन तीनों से 'भर्ग' शब्द बना है । जिससे तीनों ही शक्तियाँ उसमें मौजूद हैं ।

देवस्य—

दीव्यते क्रीड़ते यस्माद्रुच्यते शोभते दिवि ।
तस्माद् देव इति प्रोक्तः स्तूयते सर्व देवतैः ॥

स्वर्ग में प्रकाश करने तथा क्रीड़ा करने के कारण उसका नाम देव पड़ा है, जिसकी कि सब देवता स्तुति करते हैं ।

धीमहि-

देवस्य सवितुर्यच्च भर्गमन्तर्गतं विभुम् ।
ब्रह्मवादिन एवाहुर्वरेण्यं तच्च धीमहि ॥

सविता देव में जो तेज है जिसे भर्ग कहते हैं ब्रह्म ज्ञानी उसे ही वरेण्य कहते हैं, उसका ध्यान करते हैं ।

धियो यो नः प्रचोदयात्-

चिन्तयामो वयम्भर्गो धियो यो नः प्रचोदयात् ।
धर्मार्थ काम मोक्षेषु बुद्धि वृत्तिं पुनः पुनः ॥

धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष में बुद्धि को बार-बार प्रेरणा देने के लिये हम भर्ग का चिन्तन करते हैं ।

गायत्री पर शङ्कराचार्य का भाष्य

तत्र शुद्ध गायत्री प्रत्याब्रह्मैक्यबोधिका । धियो यो नः प्रचोदयादिति । नोऽस्माकं धियो बुद्धयः, प्रचोदयाद् प्रेरयेदिति सर्वबुद्धि संज्ञातः करणप्रकाशकसर्व साक्षी प्रत्यगात्मेत्युच्यते । यस्य प्रचोदयात् शब्दनिर्दिष्टस्यात्मनः स्वरूपभूतं पर ब्रह्म तत् सवितुरिति आदि पदै निर्दिश्यते ।

तत्र ओम् तत्सदितिर्निर्देशो ब्रह्मणा त्रिविधः स्मृतः इति तच्छब्देन प्रत्यग्भूतं स्वतः सिद्धं परं ब्रह्मोच्यते । सवितुरिति सृष्टिस्थिति प्रलय लक्षणकस्य सर्व प्रपंच कस्य समस्तद्वैत विभ्रमस्याधिष्ठान लक्ष्यते, वरेण्यमिति सर्ववरणीयं निरतिशयानन्दरूपम् । भर्ग इत्यविद्यादि दोष भर्जनात्मक ज्ञानैक विषयत्वम् । देवस्येति सर्व द्योतनात्मका-खंडचिदेकरसम् । सवितुर्देवस्येत्यत्रषष्ठ्यचार्थो राहो शिरोवदौपचारिक बुद्धयादि सर्व दृश्य साक्षिलक्षणं यन्मे स्वरूपं तत्सर्वाधिष्ठानभूतं परमानन्द निरस्तसमस्तानथ रूपं स्वप्रकाशचिदात्मकं ब्रह्मे त्येवं धीमहि ध्यायेम । एवं सति सह ब्रह्मणा स्वविवर्तजड़प्रपञ्च रज्जुसर्पन्यायेनापवादः।

समानाधिकरण्यरूपमेकत्वं सोऽयमिति न्यायेन सर्व साक्षि प्रत्यगात्मना ब्रह्मणा सह तादात्म्येकरूपत्वं भवतीति सर्वात्मक ब्रह्मबोधकोऽयं गायत्री मन्त्रः सम्पद्यते, त्रिमहाव्याहृतीनामयमर्थः भूरिति सन्मात्रमुच्यते । भुवः इति सर्व भाषयति प्रकाशयति इति व्युत्पत्या चिद्रूपमुच्यते । स्वः सुव्रियते इति व्युत्पत्या स्वरिति सुष्ठु सर्वेव्रियमाण सुखस्वरूपमुच्यते इति ।

शुद्ध गायत्री जीवात्मा और ब्रह्म की एकता का सूचक है । 'धियो यो नः प्रचोदयात्' अर्थात् हमारी बुद्धि को प्रेरणा देती है तथा जो अन्तःकरण की प्रकाशिका तथा सर्वव्यापी है उसे प्रत्यगात्मा कहा जाता है ।

उसे प्रचोदयात् शब्द से आत्मा स्वरूप भूत परब्रह्म का तत् सवितुः आदि पदों से कथन किया है ।

यहाँ 'ॐ तत्सत्' इस पद में ब्रह्म के तीन प्रकारों का वर्णन है। तत् शब्द स्वतःसिद्ध सब भूतों में स्थित परब्रह्म के लिये कहा जाता है । सविता, सृष्टि, स्थिति, प्रलय लक्षण वाले सब प्रपञ्च के समस्त द्वैत भ्रम के अधिष्ठान हैं वरेण्यं। सर्व वरणीयं, निरतिशय एवं आनन्द रूप है। भर्ग अविद्या रूपी दोष को नष्ट करने वाला ज्ञान रूप है । 'देवस्य' सबका प्रकाशक अखण्ड-आत्मा एवं रस वाला देव है। 'सवितुर्देवस्य' यहाँ षष्ठी है सम्बन्धकारक है । राहोः शिरो की तरह औपचारिक है । बुद्धि से सब पदार्थों का साक्षी रूप जो मेरा स्वरूप है वह सबका अधिष्ठान है । उस परमानन्द, सब अनर्थ रहित, स्वयं प्रकाश चैतन्य रूप ब्रह्म का ध्यान करते हैं । इस तरह ब्रह्म अपने ही विवर्त भूत जड़ जगत् रज्जु में सर्प की तरह अपवाद है ।

समान अधिकरण होने से एक रूपता है इस तरह सबका साक्षी जीवात्मा ब्रह्म के साथ तादात्म्य होने के कारण एकत्व है । यह गायत्री मन्त्र सर्वात्मक ब्रह्म का बोध

कराने वाला है । तीन महाव्याहृतियों का अर्थ यों है । भूः का अर्थ सत् है, भुवः सबका प्रकाशक (इस व्युत्पत्ति से चिद् रूप कहलाता है) स्वः सुव्रियते इस व्युत्पत्ति से सबसे प्रथित सुख रूप है ।

भट्टोजी दीक्षित विरचित गायत्री का भाष्य

तदिति, 'षू' प्रेरणे । षूर्यति प्रेरयतीति । सविता सूर्यः तत्सम्बन्धि सूर्यमण्डलावच्छिन्नमिति यावत् ।

'षू' धातु का अर्थ प्रेरणा है । सूर्य को प्रेरणा करने के कारण ही सविता कहा जाता है अर्थात् सूर्य मण्डल में व्यापक तेज ही जो प्रेरणा देता है सविता है ।

दीप्यतीति देवः परमात्मा तस्य वरेण्यं सर्वैर्भजनीयम् वृञ, एण्यः ।

प्रकाश करने के कारण उसे देव कहते हैं । वह सविता देव है, परमात्मा है उसका वरण करना अर्थात् भजन करना, "वृञ" धातु में एण्य प्रत्यय लगाने से वरेण्य शब्द बनता है ।

अविद्याकाम कर्मादि भर्जनाद्भर्गः स्वरूपात्मकं ज्योतिः ।

अविद्या रूपी काम कर्मादि का भर्जन या नाश करने के कारण उसे 'भर्ग' कहते हैं । वह स्वरूपात्मक ज्योति है ।

धीमहि तदेवाहमस्मि ।
तद्दासोऽहमिति वा ध्यायेम यः देवः ॥
नः अस्माकं धियः बुद्धिः प्रचोदयात् प्रेरयतीत्यर्थः ।
बाहुवलकल्लाऽर्थेलेट । लेटोऽडाटौ इत्याडागमः ।
भूः भुवः स्वः एते त्रयो लोकाः ॐ ब्रह्मैवेति ।

मैं वह देव हूँ या उसका दास हूँ, ऐसा ध्यान करता हूँ। वह हम सबों की बुद्धि को प्रेरणा करता है । **बाहुबल कल्लाऽर्थे लेट । लेटोऽडाटौ** इस सूत्र से आट लाया गया है ।

भूः भुवः स्वः—ये तीनों लोक हैं और 'ॐ' ब्रह्म हैं।

वरदराज का गायत्री भाष्य

तत्छब्दश्रुतेर्यच्छब्दोऽध्याहारार्थः । सवितुः जगतां प्रसवितुः सविता वै प्रसवानामीशे । उत्तमेर्चिषे प्रसवस्य त्वमेकः इत्यादि श्रुतेः ।

तत् शब्द के सुनने से यत् शब्द वाची अर्थ लिया है। सविता का अर्थ है जगत् को प्रसव करने वाला । सविता सृष्टि का, प्रसव होने का ईश्वर है । प्रसव करने वालों अर्थात् सृष्टि रचयिताओं में से तुम एक उत्तम हो यह श्रुति है ।

वरेण्यम् वञ्र सम्प्रक्तौ सण्य प्रत्ययः सर्वेषां सम्भजनीयम्

एण्य प्रत्यय लगाकर 'वृञ' धातु से वरेण्य बनता है। यह शक्ति के अर्थ में प्रयोग किया जाता है, इसलिये वरेण्यं का अर्थ होता है चिन्तनीय भजनीय या चिन्तन करने के योग्य ।

भर्गस्तेजः भञ्जनाद्भर्ग प्रकाशप्रदानेन जगतो बाह्याभ्यन्तरतमो भञ्जकत्वात्भर्जनाद्वा कालात्मकतया सकल कर्म फल पाकहेतुत्वाद् भरणाद्वा वृष्टिप्रदानेन भूतानां भरण हेतुत्वात् ॥

'भर्ग' का अर्थ है तेज । भञ्जन करने के कारण इसे 'भर्ग' कहते हैं । यह प्रकाश देकर जगत् के बाहर और भीतर के अन्धकार—तम का नाश करता है, भञ्जन करता है । अथवा कालरूप होने के कारण सब कर्म फलों को परिपक्व करने के कारण या भस्म करने के कारण भर्ग है, वृष्टि द्वारा भूतों का भरण भी इसी से होता है ।

देवस्य द्योतमानस्य धीमहि चिन्तयामः ।'ध्यै' चिन्तयाम्, देवस्य सवितुर्वरेण्यं । यद्भर्गस्तद्ध्यायामः । आदित्य मंडलान्तर्वर्त्तिनं तेजोमयं पुरुषमनुचिन्तयामः य एषोन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः अथ य एष एतस्मिन्मंडलेऽर्चि पुरुष इत्यादि श्रुतेः धियो यो नः सविता अस्माकं धियः दानोपादान विषयाणि ज्ञानानि प्रचोदयात् प्रचोदयति प्रवर्तयति तत्सवितुस्तद्-भर्गश्चिन्तयाम इति ॥

देवस्य का अर्थ 'प्रकाशवान' है और धीमहि का अर्थ चिन्तन करता हूँ—'ध्यै' चिन्ता करना, चिन्तन करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है । सविता देव का जो वरणीय भर्ग है, उसका ध्यान करता हूँ । आदित्य मण्डल के भीतर जो तेजोमय पुरुष है, उसका चिन्तन करता हूँ । आदित्य अन्तर में हिरण्मय पुरुष है और जो इस मण्डल में तेजोरूप पुरुष है इत्यादि श्रुति वाक्य इसी अर्थ में कहे गये हैं ।

धियो यो नः जो हमारी बुद्धि को ज्ञानोत्पादन विषय, ज्ञान आदि की ओर प्रेरित करता है उस सविता देव के भर्ग का चिन्तन करता हूँ ।

विद्यारण्य स्वामी का गायत्री मन्त्रार्थ

तदिति वाङ्मनोगम्यं ध्येयं यत्सूर्यमण्डले ।
सवितुः वाङ् सकलोत्पत्तिस्थितिसंहारकारणम् ॥

समस्त विश्व की उत्पत्ति, पालन, संहार करने वाले

सविता देव के मण्डल में जो वाणी मन से भी अगम्य 'तत्' है उसका ध्यान करना चाहिए ।

वरेण्यमाश्रयणीयं यदाधारमिदञ्जगत् ।
भर्गः स्वसाक्षात्कारेणाविद्यातत्कार्य दाहकम् ॥

जो इस जगत् का आधार तथा सबका आश्रय लेने योग्य है वह भर्ग अपने साक्षात्कार से अविद्या और तज्जनित कार्यों का नाशक है ।

देवस्य द्योतमानस्य ह्यानन्दात्क्रीड़तोऽपि वा ।
धीमह्यहं स एवेति तेनैवाभेद सिद्धये ॥

आनन्द स्वरूप से प्रकाशमान तथा क्रीड़ा करने वाले सविता देव का वह सविता ही है। ऐसा जानकर अभेद सिद्धि के लिये ध्यान करते हैं ।

धियोऽन्तःकरण वृत्तिश्च प्रत्यक्प्रवणचारिणी ।

धियः (बुद्धि) अन्तःकरण की वृत्ति और जीवात्मा के समक्ष चलने वाली है ।

य इत्यलिङ् धर्मो यत्सत्य ज्ञानादि लक्षणम् ।

यह लिङ् व्यत्यय है जो सत्य तथा ज्ञान स्वरूप है ।

नोऽस्माकं बहुधाभ्यस्त भिन्न भवेद्दृशां तथा ।

अनेक प्रकार के अभ्यास से अनेक भेद देखने वाले लोगों को

प्रचोदयात्प्रेरयतु प्रार्थनेयं विचार्यते ।

प्रचोदयात् अर्थात् प्रेरणा करे । यह प्रार्थना है ।

तारानाथ तर्कवाचस्पति का गायत्री मन्त्रार्थ

सवितुर्देवस्य भर्गाख्यं परब्रह्म स्वरूपं तेज । चिन्तनीयं मम हृत्पद्मस्थितेनैव भर्गाख्येन तेजसा प्रेर्यमाणस्तदेवभूर्लोकान्तरिक्ष-लोकस्वर्गलोकादि ब्रह्मांडोदरवृत्ति सकल चराचर त्रैलोक्य स्वरूपं मम हृदयै वाह्यै च सूर्यमण्डले वर्तमान तेजसा एकीभूत परब्रह्मस्वरूपं ज्योतिरहमिति चिन्तयज्जपं कुर्यादिति ॥

सविता देव का नाम का परब्रह्म स्वरूपी प्रार्थनीय तेज हमारे हृदय में स्थिर भर्ग नाम के तेज से प्रेरित हैं । वही पृथ्वी लोक, अन्तरिक्ष, स्वर्गलोक आदि ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत विद्यमान बराबर त्रैलोक्य रूपी हमारे हृदय में तथा बाहर सूर्य मण्डल में वर्तमान तेज से एक रूप परब्रह्म रूप ज्योति है वह मैं हूँ ऐसा चिन्तन करता हुआ जप करे ।

गायत्री के ३५ अर्थ

श्री ब्रहद् गायत्रीय-महामंत्रीय शुक्ल भाष्यम् ग्रन्थ में गायत्री मंत्र के ३५ अर्थ किये गये हैं । उन्हें पाठकों की जानकारी के लिए नीचे उधृत किया जाता है ।

(१) अन्वय—

सवितुर्देवस्य तद्भर्ग ॐ धीमहि भुर्भूवः स्वः वरेण्यम् यो नो धियः प्रचोदयात् ।

पदार्थ- (सवितुः) सूर्यादिमण्डलान्तर्गतस्य (कथं भूतस्य सवितुः) (देवस्य) प्रकाशमानस्य । (तदभर्गः) तत्पापानां मर्जन हेतु भूतं भर्गाख्यम् तेजो गायत्र्याः स्वरूपम्। (ॐ) ब्रह्म (धीमहि) ध्यायामः (कथम्भूतम् स्वरूपम्) (भू भुर्वः स्वः) ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यादिभिः वरेण्यं वरणीय मुपासनीयम् वा (यः) यद् गायत्र्याः स्वरूपम् (नः) अस्माकम्। (धिय) बुद्धि प्राणांश्च कर्मणो वा (प्रचोदयात्) प्रेरयति प्रेरयेत् वा स्वप्रकाशेनात्मज्ञानमपदिशतीति भावा । (सवितुः) सूर्यादि मण्डल के भीतर (किस प्रकार का है सविता) देवस्य प्रकाशमान का (तदभर्ग) उसका भर्ग पापों को नाश करने के कारण भर्ग कहलाने वाला, तेज का जो कि गायत्री का स्वरूप है । ओम, ब्रह्म, धीमहि, ध्यान करता हूँ । कथं भूतं स्वरूपम् ? कैसा है वह स्वरूप? भूर्भुव स्वः ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य आदि द्वारा वरण करने, उपासना करने योग्य । यह जो गायत्री का स्वरूप है, हमारी बुद्धि प्राण एवं कर्मों को प्रेरणा में अपने प्रकाश से आत्मज्ञान का उपदेश दे ।

(२) तद्देवस्य वरेण्यम् भर्गो धीमहि भूर्भुवः स्वः सवितुर्यो नो धियः प्रचोदयात् ।

तत् (देवस्य) द्योतनात्मक पदार्थस्य मंडलान्तगतम् (वरेण्यम्) श्रेष्ठमुपासनीयम् (भर्गः) भगख्याम तेजो गायत्र्या स्वरूपम् (ॐ) ब्रह्म धीमहि (ध्यायाम) कथं भूतस्य देवस्य (भूर्भुवःस्वः) अग्निवाक्वादित्यादि संज्ञकस्य (पुन कथम्भूतस्य देवस्य) सवितु प्रेरकस्य (यः) यो देवो द्योतनात्मक पदार्थः (नः) अस्माकम् । (धियः) बुद्धीः (प्रचोदयात्) धर्मादि लौकिक पारलौकिक कार्येषु प्रेरयति।

वह मंडल के भीतर जो प्रकाशमान पदार्थ है श्रेष्ठ है उपासना करने योग्य है । भर्ग नाम से जो प्रसिद्ध है और जो तेज गायत्री स्वरूप है उस ब्रह्म का चिन्तन या ध्यान करता हूँ । कैसा है वह देव-अग्नि वायु आदित्य संज्ञक, फिर कैसा है वह तेज-प्रेरक । जो द्योतनात्मक पदार्थ है वह हमारी बुद्धि को धर्मादि लौकिक कार्यों में प्रेरित करे।

(३) सवितुर्देवस्य तद् भर्गः ओम् धीमहि भूर्भुवः स्ववरेण्यम् यो नो धिय प्रचोदयात् ।

सूर्य मंडल के मध्य में प्रकाशमान जो गायत्री हंस रूप तेज है, उस ब्रह्म का ध्यान करता हूँ किस तरह से ऋक् यजु, साम ये तीनों गायत्री के स्वरूप हैं वे हमारी बुद्धि को प्रेरणा दें ।

(४) सवितुर्देवस्य तद्भूर्भुवः स्व र्वरेण्यम् । भर्गो धीमहि ओम् यो नः धियः प्रचोदयात् ।

पदार्थः (सवितुः) चन्द्रस्य मण्डलान्तर्गतम् (कथंभूतस्य सवितुः) (देवस्य) प्रकाशमानस्य (तदभूर्भुवःस्वर्वरेण्यम्) तद् ब्राह्मण क्षत्रीय वैश्यादिभिर्वरणीयमुपासनीयसम् वा (भर्गः) भर्गाख्यम्पापभर्जन हेतुभूतमम् तेजो गायत्र्याः स्वरूपम् (धीमहि) ध्यायेम (केन प्रकारेण ओम) ओंकारस्याकारोकारमकार मात्रा त्रय स्वरूपेण (यः) यद् गायत्र्याः स्वरूपम् (नः) अस्माकम् (धियः) बुद्धीः (प्रचोदयात्) प्रेरयेति ।

चन्द्र मण्डल के भीतर प्रकाशमान ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यादि द्वारा वरणीय उपासनीय पापों को नष्ट करने वाले भर्ग नामक तेज जो कि गायत्री का स्वरूप है ध्यान करता हूँ । ओंकार की अकार उकार तथा मकार मात्रा-त्रयस्वरूप से जो गायत्री का स्वरूप है वह हमारी बुद्धि को प्रेरित करे ।

(५) सवितुर्देवस्य तद्भर्गः ओम् धीमहि भूर्भुवः स्वर्वरेण्यम् यो नो धियः प्रचोदयात् ।

अग्नि मण्डलान्तर्गत प्रकाशमान पापों के नाश करने वाला ऋक्, यजु, साम रूप तेज जो कि गायत्री स्वरूप वाला है उस ब्रह्म का ध्यान करता हूं । वह इच्छा, ज्ञान, तथा क्रिया शक्ति वाला है और हमारे लिए उपासनीय है यह गायत्री का स्वरूप हमारी बुद्धि को प्रेरणा दे ।

(६) सवितुर्देवस्य तद् वरेण्यम् भर्ग ओम् धीमहि भूर्भुवः स्वयो नो धियः प्रचोदयात् ।

पदार्थ- (सवितुः) सूर्यादेमंडलान्तर्गतम् (कथं भूतस्य सवितुः) (देवस्य) प्रकाशमानस्य (तद् वरेण्यम्) तच्छ्रेष्ठामु पासनीयम् (भर्गः) तेजो गायत्र्याः स्वरपम् (ओम्) ब्रह्म (धीमहि) ध्यायेम (केन प्रकारेण) (भूर्भुवः स्वः) पाददि शीर्ष पर्यन्तेन (यः) यद् गाय याः स्वरूपम् (नः) अस्माकम् (धियः) बुद्धीः (प्रचोदयात्) प्रेरयति ।

सूर्य मण्डल के भीतर प्रकाशमान जो उपासनीय श्रेष्ठ भर्ग है और गायत्री का तेजो रूप है उस ब्रह्म का ध्यान करता हूँ । वह पाद से शिर तक जो कि गायत्री का स्वरूप है हमारी बुद्धि को प्रेरित करे ।

(७) सवितुर्देवस्य यद् वरेण्यं भर्ग ओम् धीमहि भूर्भुः स्वर्यो नो धियः प्रचोदयात् ।

पदार्थ- (सवितुः) प्राणस्यान्तर्गतं (कथंभूतस्य सवितुः) देवस्य प्रकाशमानस्य (तद् वरेण्यम्) तदवरणीयं उपासनीयम् (भर्गः) तेजः प्राणशक्तयाख्यं गायत्र्यास्वरूपम् (ओम्) ब्रह्म (धीमहि) ध्यायेम् (केर्धीमहि) (भूर्भुवः स्वः प्राणयामैः (यः) यद् गायत्र्याः स्वरूपम् (नः) अस्माकम् (धियः) बुद्धीं (प्रचोदयात्) प्रेरयेत् वा ।

प्राण के भीतर प्रकाशमान देव के वरणीय उपासना के योग्य तेज का जो प्राण शक्ति नाम से गायत्री के रूप में ब्रह्म है उसका ध्यान करते हैं । प्राणायाम जो कि गायत्री का स्वरूप है हमारी बुद्धि को प्रेरणा दे ।

(८) सवितुर्देवस्य तद् वरेण्यं भर्ग ओम् धीमहि भूर्भुवः स्वर्यो नो धियः प्रचोदयात् ।

पदार्थ- (सवितुः) वायोर्मंडलान्तर्तम् (कथंभूतस्य सवितुः (देवस्य) प्रकाशमानस्य (तद्वरेण्यम्) तद्व रणीय मुपःसनीयम् (भर्ग) वायव्याख्यम् तेजो गाय या स्वरूपं (ओं) ब्रह्म (धीमहि) ध्यायेम (कस्मिन् काले) (भूर्भु स्व) प्रातर्मध्यान्हे सायंकाले च (यः) यद्गायत्र्या स्वरूपम् (न) अस्माकम् (धियः) बुद्धीः (प्रचोदयात्) प्रेरयति प्रेरयत् वा ।

वायु मंडल के भीतर जो प्रकाशवान तेज उसका वरण करते हैं उपासना करते हैं, वह वायव्य नाम से प्रसिद्ध गायत्री का तेज स्वरूप है, उस ब्रह्म का ध्यान करते हैं । प्रात मध्यान्ह और सायंकाल में गायत्री स्वरूप वह हमारी बुद्धि को प्रेरणा दे ।

(९) सवितुर्देवस्य तद्वरेण्यम् भर्ग ओम् धीमहि भूर्भुः स्वर्यो नो धियः प्रचोदयात् ।

पदार्थ- (सवितुः) सूर्याविर्मण्लान्तर्गम् (कथम्भूतस्य सवितु) (देवस्य) प्रकाशमानस्य (तदवरेण्यम्) तद्वरणीयम् उपासनीम् वा (भर्ग) तेजो गायत्र्या स्वरूपम् (ओम्) ब्रह्म (धीमहि) ध्यायेम (कस्मिन्स्थाने) (भूर्भुवः स्व) पृथिव्यन्तरिक्षद्युस्थानेषु (य) यद् गायत्र्या स्वरूपम् (न) अस्माकम् (धिय) बुद्धी (प्रचोदयात्) प्रेरयति प्रेरयेत् वा ।

सूर्य आदि के मंडल के भीतर जो प्रकाशमान है वह वरण करने या उपासना करने योग्य है उस गायत्री के तेज रूप ब्रह्म का ध्यान करता हूं जो गायत्री का स्वरूप है वह हमारी बुद्धि को प्रेरणा दे ।

(१०) सवितु र्देवस्य तद् वरेण्यम् भर्गो ओम् धीमहि भूर्भुवः स्वर्यो नो धियः प्रचोदयात् ।

सूर्यादिर्मण्डलान्तर्गतं (कथं भूतस्यसवितु (देवस्य) प्रकाशमानस्य (तद्वरेण्यम्) तद् वरेण्य-मुपासनीयम् वा (भर्ग) तेजो गायत्र्या स्वरूपम (ओम्) ब्रह्म (धीमहि) ध्यानेन (कस्मिन् स्थाने) (भूर्भुवः स्वः) षटचक्रान्तर्गत

मूलाधार विशुद्ध सहस्रार पद्मादिषु (यः) यद् गायत्र्या स्वरूपम् (न) अस्माकम् धिय बुद्धी (प्रचोदयात्) प्रेरयति प्रेरयेत् वा ।

सूर्य मंडल के भीतर प्रकाशमान वरेण्य या उपासनीय जो गायत्री स्वरूप तेज है उस ब्रह्म का ध्यान करता हूँ वह षटचक्र के भीतर मूलाधार, विशुद्ध से सहस्रार पद्मादि में है वह गायत्री स्वरूप हमारी बुद्धि को प्रेरणा दे ।

(११) तत् सवितुर्देवस्य भूर्भुवः स्ववरेण्यम् भर्ग धीमहि यो नो धिय प्रचोदयात् ।

(तत्) तस्य (सवितुः) अन्तर्यामिणः प्रेरकस्य वा (तेन विष्णोः शिवस्य रामस्य कृष्णस्येन्द्रिस्य वा) (कथं भूतस्य शिवस्य (देवस्य) प्रकाशमानस्य वा साकार स्वरूप धारिणः (भूर्भुवः स्वः) ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यैः (वरेण्यं) वरणीयम् उपासनीयं वा (भर्गः) स्वरूपम् (ओम्) गायत्रीम् शक्तिम् प्रकृतिम् वा (धीमहि) ध्यायेम (यः) अस्माकम् (धियः) बुद्धौः कर्म च (प्रचोदयात्) प्रेरयति प्रेरयेत् वा ।

उन प्रेरणा देने वाले अन्तर्यामी विष्णु, शिव, राम, कृष्ण, इन्द्र आदि को जो उस प्रकाशवान के साकार रूप धारी हैं और ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य के वरणीय अथवा उपासनीय हैं उस गायत्री की शक्ति प्रकृति स्वरूप को ध्यान करते हैं वह शिवरूप हमारी बुद्धि को तथा कर्म को प्रेरणा दे ।

(१२) तद् ओम् धीमहि भूर्भुवः स्ववरेण्यं सवितुर्देवस्य भर्ग नो धियः प्रचोदयात् ।

तत् तां (ओम्) गायत्रीम् (धीमहि) ध्यायेयम् (कथं भूतां गायत्रीम्) भूर्भुवः स्वः ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यैः वरेण्यम्) उपासनीयम् (पुनः कथम्भूतां तां) (सवितुदेवस्य प्रकाशमान सूर्यस्य मण्डलध्यवर्तिनीम् (पुनः कथंभूतांताम्) (भर्गः) ज्योतिः स्वरूपम् (य) या गायत्री (न) अस्माकं (धियः) बुद्धीः (प्रचोदयात्) प्रेरयति, प्रेरयेत् वा ।

उस गायत्री का ध्यान करते हैं जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य द्वारा उपासनीय है और जो प्रकाशमान सूर्य मंडल के मध्य में निवास करती है। वे ज्योतिःस्वरूप गायत्री हमारी बुद्धि को प्रेरणा दें ।

(१३) तद् ओम् सवितुर्देवस्य भर्गो धीमहि भूर्भुवः स्व र्वरेण्यं यो नो धियः प्रचोदयात् ।

(तत्) तां (ओम्) गायत्रीम् (सवितुर्देवस्य) प्रकाशमानसूर्य यान्तर्गते (भर्गः) भर्गसि तेजसि (धीमहि) ध्यायेम (कथं भूते भर्भासि भूर्भुवः वर्वरेण्यम्) ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यादिभिर्वरणिये उपासनीये (यः) या सूर्यस्यान्तर्गत तेजसि वर्तमान । गायत्री (नः) अस्माकम् (धियः) बुद्धीः (प्रचोदयात्) प्रेरयति प्रेरयेत् वा

उस गायत्री का जो कि प्रकाशवान सूर्य के अन्तर्गत भर्ग या तेज रूप है ध्यान करता हूँ वह ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्यादि द्वारा वरण करने योग्य है उपासनीय है यह जो सूर्य के अन्तर्गत तेज रूप से वर्तमान गायत्री है वह हमारी बुद्धि को प्रेरणा दे ।

(१४) तत् सवितुर्धीऽमहि देवस्य भर्गो भूर्भुवः स्ववरेण्यम् यो नो धियः प्रचोदयात् ।

उस प्रसव करने वाली सावित्री का ध्यान करता हूँ यह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य द्वारा वरीणय या उपासनीय हैं वह सावित्री हमारी बुद्धि को प्रेरणा दे ।

(१५) तद्देवस्य वरेण्यम् भर्गो धीमहि भूर्भुवः स्वः सवितुर्यो नो धियः प्रचोदयात् ।

वयम् राज्याधिकारिणः क्षत्रियाः (तत्) तस्य (देवस्य) रक्षः (वरेण्यम्) श्रेष्ठम् (भर्गः) तेजः दंडम् (धीमहि) धारयामि (कस्मै प्रयोजनाय) (भूर्भुवः स्वः) ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यानाम् (सवितुः) व्यत्ययेन सवित्रे प्रेरणाय (यः) दंडः (नः) अस्माकम् राज्ञां (धियः बुद्धीः (प्रचोदयात्) राजकार्येषु प्रेरयति ।

हम राज्याधिकारी क्षत्रिय उस श्रेष्ठ राजा के तेज स्वरूप दंड को धारण करते हैं, यह धारणा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों की ओर प्रेरित करने के लिए है अतः यह दंड हमारी राज बुद्धि को राजकार्यों में प्रेरणा दे ।

(१६) देवस्य सवितुः भूर्भुवः स्वस्तद वरेण्यम् भर्गो धीमहि यो नो धियः प्रचोदयात् ।

वयम् राज्याधिकारिणः क्षत्रियाः (देवस्य) शरीरस्य (सवितुः) ऐश्वर्याय (भूः) पृथिव्यै (भुवः) प्राणों में प्रजानां प्राणरक्षणाय (स्वः) स्वर्गाय वां (तद् वरेण्यम्) तच्छ्रेष्ठम् (भर्गः) वीर्यम् युद्धम् (धीमहि) धारयामंः करोमीति भावः (यः) यद् युद्धोम् नः अस्माकं राज्ञाम् (धियः) बुद्धीः (प्रचोदयात्) धर्म मार्गेषु युद्धार्थ वा प्रेरयति ।

हम राज्याधिकारी क्षत्रिय शरीर के ऐश्वर्य को पृथिवी के प्राणी प्रजा के प्राण रक्षण के लिए अथवा स्वर्ग के लिए जो श्रेष्ठ वीर्य युद्ध है उसको धारणा करते हैं । वह युद्ध हमारी राजकार्य संचालन की बुद्धि को युद्ध के लिए धर्म मार्ग की ओर प्रेरणा दे ।

(१७) भूभुर्वः स्वस्त द्वरेण्यं भर्गो धीमहि देवस्य सवितुर्यो नो धियः प्रचोदयात् ।

नो नो भूर्भुवस्व: ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य (स्व:) तद्वरेण्यं तच्छ्रेष्ठम् (भर्ग) तेजो धर्म धीमहि युष्माकं जाति दीन पदा दीन धर्मानालोक्य धारयाम: कस्मै प्रयोजनाय देवस्य व्यवहारिण: सवितु ऐश्वर्य्याय (य:) यो धर्म: (न:) अस्माकम् राज्ञां परराष्ट्रऽपि स्वधर्म स्थापनार्थ धिय: बुद्धी प्रचोदयात् युष्माकम्मध्ये धर्म स्थापनाय प्रजा रक्षणाय च प्रेरयति ।

अरे ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यो ! तेजोमय श्रेष्ठ धर्म को धारण करो । जिससे धर्म के ऐश्वर्य का उदय हो और हमारे राष्ट्र की बुद्धि को दूसरे राष्ट्र में स्वधर्म की स्थापना के लिए प्रेरित करती है ।

(१८) वयम्ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्या देवस्य राज्ञस्त द्वरेण्यंतच्छ्रष्ठं स्वीकार योग्यं वा भर्ग: भर्जन हेतुभूतं धर्म धीमहि धारयाम: । कथम्भूतस्य देवस्य ? सवितु: धर्म मार्ग प्रेरकस्य । पुन: कथं भूतस्य देवस्य ? भूर्भुवस्व: व्रतेनाग्निवायुसूर्यादि रूपधारकस्य । य: यो राजधर्म: न: अस्माकम् धिय: बुद्धी: प्रचोदयात् यज्ञादि धर्म मार्गेषु प्रेरयति ।

हम ब्राह्मण क्षत्री वैश्य राष्ट्र के लिए वरणीय श्रेष्ठ भर्ग को जिसका कि पाप नष्ट करने वाला धर्म है ध्यान करते हैं वह किस प्रकार से धर्म मार्ग का प्रेरक है वह भू भूर्वस्व: देव अग्निवायु सूर्य रूप धारी राज धर्म हम सब की बुद्धि को यज्ञादि धर्म मार्ग पर प्रेरणा करे ।

(१९) राष्ट्र कल्याण हेतवे राजा ब्राह्मणं प्रार्थयते तदर्थ तात्पर्येण देवस्य ब्राह्मणस्य तद्वरेण्यं सेवनीयं श्रेष्ठं वा भर्ग ब्ररह्मवर्चसयुक्तम् स्वरूपन्ते यो वा धीमहि ध्यायेम । कस्मै प्रयोजनाय सवितुस्सवित्रे यज्ञाय य: यो ब्राह्मण: न: अस्माकं धिय: बुद्धी प्रचोदयात् यज्ञादि राजकार्येषु प्रेरयति। विद्वांसो हि देवा: असुरा: प्राण पोषका मोक्षो पापरहिता:।

(शतपथ ३/७/३/१०)

राष्ट्र कल्याण के लिए राजा ब्राह्मण से प्रार्थना करता है उसके लिए देव का अर्थ है ब्राह्मण को वरणीय, सेवनीय, श्रेष्ठ भर्ग ब्रह्म वर्चस आत्म तेज को चिन्तन करता हूँ । सविता यज्ञ के लिए ये सब ब्राह्मण हमारी बुद्धी को यज्ञादि राजकार्यों में प्रेरणा दें क्योंकि विद्वान् ही देव और असुरों के प्राणों का पोषण करते हैं ।

(२०) वयं ब्राह्मणा: देवस्य दानादि गुण युक्तस्य राज्ञ: तद्वरेण्यं तद्वरणीयं श्रेष्ठं भर्ग वीर्य स्वरूपे वा धीमहि ध्यायाम: कथं भूतं भर्ग ? भूर्भुव: स्व: अग्नि वायु सूर्यादि व्रत चारिणाम कस्मै प्रयोजनाय सवितु: विवाहादि यज्ञाय वा धनाधैश्वर्य्याय य: यद्राज्ञ: स्वरूप: न: अस्माकम्ब्राह्मणा-नाम् धिय: बुद्धी प्रचोदयात् वेदाध्ययनादि यज्ञ कार्येषु प्रेरयति वीर्य वैभग इति । (शतपथ ब्राह्मण)

हम ब्राह्मण लोग देव के ज्ञानआदि का युक्त वरणीय श्रेष्ठ राजा के वीर्य, भर्ग स्वरूप का चिन्तन करते हैं उनका भर्ग भूर्भुव: स्व: रूप अग्नि, वायु, सूर्य आदि व्रत को करने वाला है विवाह आदि यज्ञ अथवा धनादि ऐश्वर्य के लिए जोकि राजा रूप ही है हम ब्राह्मणों की बुद्धि प्रेरित हो । अर्थात् वेदादि अध्ययन यज्ञ आदि कार्यों में प्रेरित हो । भर्ग का नाम वीर्य भी है । (शतपथ ब्राह्मण)

(२१) वयम्भूर्भुवस्व: ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्या सवितु: स्त्रिय: तद्वरेण्यं तत् ऋतु कालो पासनीयं भजनीयं वा भर्ग स्वरूप धीमहि ध्यायाम: धीमहि पोषयामी वा । करुय हेतवे देवस्य आनन्दस्य कामदेवस्य यज्ञस्य वा यत्स्त्रीरूपम् न: अस्माकं कामातुराणां धिय: बुद्धी: प्रचोदयात् पुत्रोत्पादनाय प्रेरयेत् ।

हम भूर्भुव: स्व: शक्तिसम्पन्न ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य सविता अर्थात् स्त्रियों को वरण करते हैं क्योंकि वे ऋतु काल में उपासनीय हैं । उनके उस भर्ग स्वरूप का ध्यान करते हैं , पोषण करते हैं इसलिए आनन्द काम या यज्ञ के लिए वह स्त्री हम कामातुरों की बुद्धि को पुत्रोत्पादन के लिए प्रेरणा दे ।

(२२) वयं स्त्रिय देवस्यानन्द दायकस्य पत्यु वरेण्यं श्रेष्ठं भर्ग वीर्य: धीमहि धारयाम कस्य हेतषेतस् तस्य पुत्रस्य कथं भूतस्य पत्यु सवितु प्रेरकस्य पुन: कथम्भूतस्य देवस्य भूर्भुवस्व ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्या न्यूनतम रूपधारकस्य य: पति: न: अस्माकं धिय: बुद्धी: प्रचोदयात् वीर्य धारणादि कार्येषु प्रकर्षेण स्त्रियां चादेयति प्रेरयेति ।

हम स्त्रियों जो देवताओं को आनन्द देती हैं वरणीय श्रेष्ठ भर्ग स्वरूप पति के वीर्य को धारण करती हैं किसलिये—पुत्र के लिए । पति कैसा है प्रेरणा देने वाला सविता है। फिर वह देव कैसा है? भूर्भुव: स्व: ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य का दूसरा रूप है वह पति हमारी स्त्रियों की बुद्धि को वीर्य धारणादि कार्यों में प्रेरित करे ।

(२३) वयम् ब्राह्मणादय भूर्भुव: स्व: ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यानां तद् भर्ग तद् ब्रह्मवर्चसादि वीर्य प्रदायकं तेज: ॐ यज्ञो पवीतन्धीमहि वरेण्यं सेवनीयन्धारणीय वा यद् यज्ञोपवीत न: । अस्माकम् द्विजातीनाम् धिय: बुद्धी: प्रचोदयात् प्रेरयति ।

हम ब्राह्मण आदि भू: भुव: स्व: ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ब्रह्मवर्चस रूप वीर्य को देने वाले तेज को जो ॐ रूप यज्ञोपवीत है ध्यान करते हैं, क्योंकि वह वरणीय है

सेवनीय है धारण करने के योग्य है । यह यज्ञोपवीत हम सब द्विजातियों की बुद्धि को उसकी ओर प्रेरित करे ।

(२४) वयन्द्विजातयः स्वा देवस्य शरीरस्य सवितुः ऐश्वर्यायतद् भर्गः तद् ब्रह्मवर्चयादि वीर्य प्रदायकं ब्रह्म तेजः ॐ यज्ञोपवीतं धीमहि भूर्भुवः स्वः ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यैर्वरेण्यं प्रार्थनीयं वा तद् यज्ञोपवीतं नः अस्माकम् धियः बुद्धीः प्रचोदयात् । यज्ञोपवीत प्रदानाय प्रेरयति यज्ञादि धर्म कार्येषु प्रेरयतीति । अस्माकमाचार्याणां यज्ञोपवीत दानाय बुद्धीः प्रेरयेत् ।

हम द्विजाति देव शरीर सविता के भर्ग को जो कि उसका ऐश्वर्य है ब्रह्म वर्चस आदि वीर्य प्रदायक ब्रह्म तेज युक्त यज्ञोपवीत का ध्यान करते हैं भूः भुवः स्वः वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के लिए वरणीय–प्रार्थनीय अथवा धारणीय यज्ञोपवीत हम सबकी बुद्धि को प्रेरणा दे । यज्ञो-पवीत देने के लिए हमारे आचार्य की बुद्धि को प्रेरणा दे।

(२५) वयम्मनुष्याः सवितुः अग्नेः तद्भर्गः तद्वीर्यंभस्म धीमहि धारयामः कथम्भूतम्भस्म ? भूर्भुवस्वर्वरेण्यं, ब्राह्मण क्षत्रियवैश्यैरसेवनीयम् । कथं भूतस्याग्नेः देवस्य प्रकाशमानस्य यः यदग्ने-वीर्य भस्म न अस्माकं द्विजातीनांधियः बुद्धीः प्रचोदयात् । भस्मधारणेना स्मान्निर्मलीकृत्य मोक्षमार्गेषु प्रेरयेत् ।

हम मनुष्य लोग सवितारूप अग्नि के भर्ग का वीर्य का भस्म धारण करते हैं, वह भस्म कैसी है ? भूः भुवः स्वः से वरणीय तथा ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य द्वारा सेवनीय है वह अग्नि कैसी है ? वह अग्नि प्रकाशमान देवता का वीर्य है। वह भस्म हम द्विजातियों की बुद्धि को भस्म धारण पूर्वक निर्मल होकर मोक्ष मार्ग में प्रेरणा दे ।

(२६) वयं द्विजा देवस्य गुरोस्तद्भर्गः तत्तेजस्वरूपम् धीमहि ध्यायेम । कथं भूतस्य गुरोः ? सवितुः प्रेरकस्य । कथंभूतं स्वरूपं वरेण्यं सेवनीयम् । कस्मै प्रयोजनाय ? ऋगयजुस्सामा अध्ययनाय, यः यो गुरुः नः अस्माकम् धियः बुद्धीः प्रचोदयात् प्रेरयति । आचार्य देवो भवेति तैत्तिरीयोपनिषद् ।

हम ब्राह्मण देव गुरु के भर्ग का जो तेजस्वरूप है, ध्यान करते हैं । वे गुरु कैसे हैं सविता को प्रेरणा देने वाले हैं, उनका स्वरूप कैसा है, वरणीय है , सेवनीय है, किसलिए ऋग, यजु, साम आदि का अध्ययन करने के लिए ये जो गुरु हैं । वे हमारी बुद्धि को प्रेरणा दें । इति तैत्तरीय उपनिषद् ।

(२७) वयं द्विजातयः देवस्य ब्रह्मादेः सवितुः स वित्र्या गायत्र्या उपदेशम् तद् ओम् वेदं धीमहि चिन्तयामः। कथं भूतं वेदन्धीमहि ? भूर्भुवः स्वः ऋग्यजुस्सामादि संज्ञकम् कथं भूतम्वेदः भर्गः तेजस्वरूपम् यः यो गायत्र्या उपदेशो वेदो नः अस्माकम् धियः बुद्धी धर्म कार्येषु प्रचोदयात्, प्रेरयेत् ।

हम द्विजाति ब्रह्मदेव की सविता प्रसवन करने वाली गायत्री के उपदेश का जो कि ओम् है चिन्तन करते हैं । वेद का चिन्तन कैसा है ? भूर्भुवः स्वः वाला ऋक यजु साम संज्ञक । वेद कैसा है ? भर्ग तेजस्वरूप ! इस तरह जो गायत्री का उपदेश रूप वेद है वह हमारी बुद्धि को धर्म कार्यों में प्रेरणा दे ।

(२८) वयं ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्याः तदोम् तद्वैदिक गायत्री मंत्रं धीमहि चिन्तयामः जपाय इति यावत् । कथं भूतमोम् भूर्भुवः स्वर्वरेण्यम् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यै रूपासनीयम् कथम्भूतमोम भर्गः तेजस्व स्वरूपम् ।

भ्रुवोर्मध्ये मनार्द्धे च यत्तेजः प्रणवात्सकम् । ध्याये ज्वाला वली युक्तंतेजोध्यानन्तिदेव हि । प्रमार्णे । कस्मै प्रयोजनाय ? देवस्य सवितुर्यज्ञाय यः यो वैदिक मंत्रः नो अस्माकं द्विजातीनां धियः बुद्धीः प्रचोदयात् प्रेरयति ।

हम ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य वैदिक गायत्री ओम् मंत्र का ध्यान करते हैं । वह ओम् कैसा है ? वरणीय है। भूः भुवः स्वः ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य के लिए उपासनीय है । वह ओम् कैसा है– तेज स्वरूप । भ्रू मध्य में जो अर्ध मन है वह प्रणव का तेज है वहां ज्वालायुक्त देव का ध्यान करते हैं। यह प्रमाण है। किस प्रयोजन के लिए ? सविता देव के पक्ष के लिए; यह वैदिक मंत्र है। वह हम द्विजातियों की बुद्धि को प्रेरणा दे ।

(२९) वयन्द्विजदेवस्य मातृ पितृद्वयस्य पितरौ तद् भर्गः स्वरूपम् धीमहि ध्यायामः । कथं भूतं स्वरूपम् भूर्भुवस्र्ववरेण्यम्, ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्ये सेवनीयम् । कस्मै प्रयोजनाय ? सवितु यज्ञाय यः यो मातृपितृ स्वरूपम् नो अस्माकं द्विजानां धियः बुद्धीः प्रचोदयात् व्यत्ययेन अवचुरत। मातृ देवोभव, पितृ देवोभवेति प्रमाणम् ।

किस प्रयोजन के लिए ? यज्ञ स्वरूप सविता के लिए जो मातृ पितृ स्वरूप है । वह हम द्विजों की बुद्धि को प्रेरणा को—मातृ देवो भव, पितृ देवोभव ।

हम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य रूप द्विज, माता पिता रूप पितरों को, उनके भर्ग स्वरूप को ध्यान करते हैं वह स्वरूप कैसा है भूः भुवः स्वः रूप, ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य के लिए उपासनीय, वरणीय ।

(३०) वयन्द्विजातयः सवितुर्यज्ञस्य तद्भर्गः तत्तेजो गायत्र्यास्स्वरूपमग्निम् धीमहि धारयामः । कथं भूतं तेजः?

वरेण्यम्, श्रेष्ठम् कस्मै प्रयोजनाय ? (देवस्य) व्यत्त्ययेन देवाय । यज्ञाय कोऽर्थ ? देव यज्ञाय । कस्मिन् स्थाने धीमहि? भू: पृथिव्याम् । वेदीषु यज्ञकुण्डे वा । कै धीमहि? 'ॐ', अ + उ + म् ऋग्यजुस्सामादिवेदमन्त्रैः । किं कृत्वा? भुवः व्योमादि वायुनिरुध्य । कथं भूतस्य सवितु ? र्यज्ञस्य। स्वः स्वर्गादि फल प्रदायकस्य । (यः) यो यज्ञः (नः) अस्माकम् द्विजानां (धियः) बुद्धीः प्रचोदयात् धर्म मार्गेषु प्रेरयेत् ।

हम द्विजाति यज्ञ स्वरूप सविता के भर्ग अर्थात् तेज गायत्री स्वरूप अग्नि का ध्यान करते हैं । वह तेज कैसा है ? वरणीय और श्रेष्ठ है, किस प्रयोजन के लिए ? देव के लिए । व्यतिरेक से देव का क्या अर्थ है देव यज्ञ के लिए किस स्थान पर ध्यान करते हैं ? भू: पृथ्वी रूप वेदी पर यज्ञ कुण्ड में, अथवा किसका ध्यान करते हैं ? ओम् का अ + उ + म् ऋक्,यजु,साम आदि वेद मंत्रों का । किसलिए भुवः की व्यानादि वायु का निरोध करके भूत का यज्ञ स्वरूप पिता स्वः का स्वर्गादि फल देकर यह जो यज्ञ है। वह हम द्विजातियों की बुद्धि को धर्म मार्ग पर प्रेरणा दे ।

(३१) वयन्द्विजातयः भुवः प्राणायामं कृत्वा स्वः स्वर्गस्य सवितुः ऐश्वर्यायतदेवस्य यः तदिन्द्रियादे भर्गः वीर्यम् वरेण्यम् अम् ओम् अ + उ + म् वेद मंत्रैः यद्वा प्रणवैः भू अग्निषु धीमहि धारयामः समर्पयामः । यः यदन्नम् नः अस्माकम् धियः बुद्धी स्सृष्टि कार्येषु प्रेरयते। अन्नम्ब्रह्मेति श्रुतेः । अन्नाद भवन्तिभूतानि इति गीता ।

हम द्विजाति भुवः प्राणायाम करके स्वः स्वर्ग के सविता देव के ऐश्वर्य के लिए इन्द्रयादि का जो भर्ग वीर्य है उसका वरण करते हैं,अ + उ + म रूप जो ओम् अन्न है अथवा भू का अग्नि रूप जो प्राण है,उसमें समर्पित करते हैं । वह अन्न हमारी बुद्धियों को सृष्टि कार्य में प्रेरित करे । अन्न ब्रह्म है यह श्रुति है। भूत अन्न होते हैं ।

– गीता

(३२) वयं द्विजाः गृहस्थाः देवस्य उपदेश प्रदानादि गुण युक्तस्य अतिथेस्तद्वरेण्यं तत्सेवनीयम् भर्गः तेजस्वरूपम् धीमहि ध्यायेम । कथम्भूतमतिथे स्वरूपम् ? भूर्भुवस्स्वः ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यादि संज्ञकम् । कस्मै प्रयोजनाय ? सवितुर्यज्ञाय अतिथियज्ञायेति भावः । अतिथिदेवो भवेति- तैत्तिरीयोपनिषद् । नृयज्ञाऽतिथि पूजनम्मिति मनुः । यः यो अतिथि । नः अस्माकं गृहस्थानां, धियः बुद्धी रूपदेशादिना प्रचोदयात् प्रेरयेत् ।

हम गृहस्थ द्विज देव के उपदेश प्रदानादि गुणों से युक्त अतिथियों का वरण करते हैं, वे उनके सेवनीय भर्ग स्वरूप का ध्यान करते हैं । अतिथि स्वरूप कैसा है ? भूर्भुवः स्वः ब्राह्मण,क्षत्रिय,वैश्य आदि संज्ञा वाला । किस प्रयोजन के लिए ? सविता के यज्ञ अर्थात् अतिथि यज्ञ के लिए । अतिथि देव होते हैं । तैत्तिरीयउपनिषद । नृयज्ञ अतिथि पूजन है– मनुः । वह जो अतिथि है वह हम गृहस्थों की बुद्धि को प्रेरित करे ।

(३३) वयन्द्विजातयः स्वः स्वर्गाय तद्देवस्य तद्विदुषो ब्राह्मणस्य भुवः हस्तेषु सवितुः धनस्य भर्गः तेजः वरेण्यमन्नम् धीमहि धरियामः ददामीति भावः । कथंभूतस्य ब्राह्मणस्य भूः अग्निवज्जाज्वल्यमानल्य यः यो ब्राह्मणो नः अस्माकं गृहस्थानां धियः बुद्धीः प्रचोदयात् प्रेरयेत् अन्नम्ब्रह्मेति श्रुतिः ।

हम द्विजाति स्वर्ग के देवता के लिए हाथों में धन के भर्ग का तेज का-वरणीय अन्न को धारण करते हैं, देते हैं यह भाव है । ब्राह्मण कैसा है ? जाज्वल्यमान अग्नि की तरह। वह ब्राह्मण हम सब गृहस्थों की बुद्धि को प्रेरणा करे। अन्न ब्रह्म है,यह श्रुति है ।

(३४) वयम्ब्राह्मणः तद्वरेण्यन्तच्छेष्टम् ॐ अन्नम् धीमहि धारयामः कस्यान्नं धीमहि ? भूर्भुवः स्वः ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यानाम् । कथम्भूतम् अन्नम् ? भर्गः तेजस्वरूपम् कस्मै प्रयोजनाय ? देवस्य इन्द्रियादेः सवितुः धर्म मार्गेषु प्रेरणाय यः यदन्नम् (नः) अस्माकम् ब्राह्मणनां (धियो) बुद्धीः प्रचोदयात् ।

हम ब्राह्मण उस वरणीय श्रेष्ठ 'ओं' रूप अन्न को धारण करते हैं, अन्न कैसे धारण होता है ? भूभुवः स्वः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के लिए । कैसा है अन्न ? भर्ग या तेज स्वरूप। किस प्रयोजन के लिए ? इन्द्रिय आदि को धर्म मार्ग में प्रेरणा देने के लिए । यह अन्न हम सब ब्राह्मणों की बुद्धि को प्रेरणा दे ।

(३५) वयम्ब्राह्मणाः संन्यासिनो देवस्य इन्द्रियादेः तद्वरेण्यन्तच्छेष्ठं भर्गः वीर्यम् ॐ अन्नं, धीमहि धारयामः कस्मै प्रयोजनाय ? भूर्भुवः स्वः प्राणापानव्यानादीनाम् सवितुर्यज्ञाय यः यदन्नं नः अस्माकम् धियः बुद्धीः प्रचोदयात् धर्म मार्गेषु प्रेरयेतिति । ओम्प्राणाय स्वाहा, ॐ व्यानाय स्वाहेत्यादि मंत्राः प्रमाणम् ।

हम ब्राह्मण सन्यासी इन्द्रिय रूप देवता को जो वरेण्य है, श्रेष्ठ है, भर्ग है, वीर्य है उसी ॐ अन्न को धारण करते हैं । किसलिए ? भूर्भुवः स्वः प्राण, अपान, व्यान आदि सविता यज्ञ के लिए । वह अन्न सम सब की बुद्धि को धर्म मार्ग में प्रेरणा दे । ओं, प्राण के लिए स्वाहा, ॐ ध्यान के लिए स्वाहा, आदि मंत्र इसके लिए प्रमाण हैं ।

❑❑❑

गायत्री के चौदह रत्न

गायत्री के २४ अक्षरों में धर्म, नीति, जीवन कला एवं लोक व्यवहार की बड़ी ही महत्वपूर्ण शिक्षा भरी हुई है। इस शिक्षा को भली प्रकार हृदयंगम कर लेने से वह उद्देश्य पूरा हो सकता है, जो वेद, शास्त्र, पुराण, स्मृति आदि पढ़ने से होता है । धर्म ग्रन्थों का उद्देश्य-मनुष्य के विचार, उद्देश्य, भाव, लक्ष्य एवं दृष्टिकोण को शुद्ध करना है, जिससे उसकी शारीरिक और मानसिक क्रियाऐं सतोगुणी एवं धर्म संगत होने लगें ।

यही प्रक्रिया गायत्री के अक्षरों में छिपी हुई महान शिक्षाओं को अपनाने से हो सकती है । इसलिए गायत्री को वेद-शास्त्रों का निचोड़, तत्व कहा गया है। जैसे गिलोय का थोड़ा सा सत्व खाने से, बहुत बड़ी गिलोय चबाने का फल मिल जाता है वैसे ही गायत्री का मर्म, अर्थ समझने से धर्म ग्रन्थों का विशद अध्ययन करने का लाभ मिल सकता है।

गायत्री-गीता के १४ श्लोक सचमुच १४ रत्न हैं । समुद्र मंथन से अमृत, लक्ष्मी, कामधेनु आदि १४ रत्न निकले थे । धर्म-शास्त्रों का मंथन करके गायत्री गीता निकाली गई है । गायत्री गीता के १४ श्लोकों की विवेचना गायत्री महामंत्र के प्रत्येक शब्द की अलग-अलग व्याख्या के रूप में की गयी है ।

ईश्वरीय सत्ता का तत्व ज्ञान

ओमित्येव सुनामध्येयमनघं विश्वात्मनो ब्रह्मणः
सर्वेष्वेव हितस्य नामसु वसोरेतत्प्रधानं मतम् ।
यं वेदा निगदन्ति न्याय निरतं श्री सच्चिदानंदकम् ॥
लोकेशं समदर्शिनं नियमिनं चाकार हीनं प्रभुम् ॥

अर्थ—जिसको वेद न्यायकारी, सच्चिदानंद संसार का स्वामी, समदर्शी, नियामक, और निराकार कहते हैं, जो विश्व की आत्मा है, उस ब्रह्म के समस्त नामों से श्रेष्ठ नाम, ध्यान करने योग्य "ॐ" यह मुख्य नाम माना है ।

गायत्री महामंत्र के "ॐ भूः भुवः स्वः" का भावार्थ आरंभ में दिया जा चुका है। गायत्री गीता में इन प्रणव और व्याहृतियों के चार पदों के लिए अलग-अलग चार श्लोक हैं । उन चारों की विवेचना अब इन पृष्ठों पर की जा रही है । इस प्रकार प्रणव और व्याहृतियों का दुहरा अर्थ जानने का सुअवसर पाठकों को प्राप्त होगा ।

गायत्री मंत्र के प्रारंभ में ॐ लगाया जाता है । ॐ परमात्मा का प्रधान नाम है । ईश्वर को अनेक नामों से पुकारा जाता है । 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' उस एक ही परमात्मा को ब्रह्मवेत्ता विविध प्रकार से कहते हैं । विभिन्न भाषाओं और सम्प्रदायों में उसके अनेक नाम हैं । एक-एक भाषा में ईश्वर के पर्यायवाची अनेक नाम हैं फिर भी वह एक ही है। इन नामों में ॐ को प्रधान इसलिए माना है कि प्रकृति की संचालक सूक्ष्म गतिविधियों को अपने योग बल से देखने वाले ऋषियों ने समाधि लगाकर देखा है कि प्रकृति के अन्तराल में प्रतिक्षण एक ध्वनि उत्पन्न होती है जो "ॐ" शब्द से मिलती जुलती है। सूक्ष्म प्रकृति इस ईश्वरीय नाम का प्रतिक्षण जप और उद्घोष करती है इसलिए यह अकृत्रिम, दैवी, स्वयं घोषित, ईश्वरीय नाम, सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।

आस्तिकता का अर्थ है—सतोगुणी, दैवी, ईश्वरी, परमार्थिक भावनाओं को हृदयंगम करना । नास्तिकता का अर्थ है—तामसी, आसुरी, शैतानी, भोगवादी, स्वार्थ पूर्ण वासनाओं में लिप्त रहना । यों तो ईश्वर भले बुरे दोनों तत्वों में हैं पर जिस ईश्वर की हम पूजा करते हैं भजते हैं, ध्यान करते है यह ईश्वर सतोगुण का प्रतीक है। जैसे किसी सुविस्तृत राष्ट्र का प्रतीक एक राष्ट्र का ध्वज (झंडा) होता है । कोई विदेशी किसी देश के झंडे का मान या अपमान करे तो यह उस राष्ट्र का मान या अपमान समझा जायेगा जिसका कि वह झंडा है । इसी प्रकार मानव प्राणियों के अन्तः करण में निवास करने वाली व्यापक सात्विकता का प्रतीक वह ईश्वर है जिनकी हम पूजा करते हैं । ईश्वर की प्रतिष्ठा, पूजा, उपासना, प्रशंसा, उत्सव, समारोह कथा, यात्रा, लीला आदि करने का तात्पर्य है सतोगुण के प्रति अपना अनुराग प्रकट करना, उसको हृदयंगम करना, उसमें तन्मय होना । इस प्रक्रिया से हमारी मनोभूमि पवित्र होती है और हमारे विचार तथा कार्य ऐसे हो जाते हैं जो हमारे व्यक्तिगत तथा सामूहिक जीवन में स्थायी सुख शान्ति की सृष्टि करते हैं । ईश्वर उपासना का महा प्रसाद साधक की अन्तरात्मा में सतोगुण की वृद्धि के रूप में, तत्क्षण मिलना आरंभ हो जाता है ।

गायत्री गीता के उपरोक्त प्रथम श्लोक में ईश्वर की अन्य अनेक विशेषताऐं बताई गई हैं । वह न्यायकारी,

समदर्शी, नियामक तथा निराकार है। विश्व की आत्मा है। विश्व के समस्त प्राणियों में आत्मा रूप से वह निवास करता है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का अन्तःकरण चतुष्टय विकृत हो जाने से अज्ञान और माया का, स्वार्थ और भोग का, मैल चढ़ जाने से अनेकों मनुष्य कुविचारों और कुकर्मों में ग्रस्त देखे जाते हैं, फिर भी उनका अन्तरात्मा ईश्वर का अंश होने के कारण भीतर से उन्हें सन्मार्ग पर चलने का आदेश देता रहता है। यदि उस अन्तरात्मा की पुकार को सुना जाय, उसके संकेतों पर चला जाय तो बुरे से बुरा मनुष्य भी थोड़े ही समय में श्रेष्ठतम महात्मा बन सकता है। गीता में भगवान ने कहा है कि—"सब छोड़ कर मेरी शरण में आ मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा।" अन्तरात्मा की, परमात्मा की शरण में जाने से, आत्म समर्पण करने से, दैवी प्रेरणाओं को हृदयंगम करने से, मनुष्य ईश्वर का सच्चा भक्त बनता है। भक्त तो भगवान का प्रत्यक्ष रूप है।

चूँकि भगवान हर एक की आत्मा में निवास करता है इसलिए किसी भी व्यक्ति को मूलतः दुष्ट नहीं मानना चाहिए, न उससे द्वेष ही करना चाहिए। दुष्ट विचारों और कार्यों से ही हमारा द्वेष होना चाहिए। दुष्टता एक रोग है, रोग को मार भगाने और रोगी को जीवित रखने के लिए काफी प्रयत्न किया जाता है ऐसा ही प्रयत्न दुष्टता को मिटा कर दुष्ट मनुष्य को सज्जन बनाने के लिए होना चाहिए। प्रयत्न करने पर बुराइयां दूर हो सकती हैं क्योंकि आत्मा का मूल स्वरूप दैवी है। उसमें ईश्वर का निवास है। फोड़ा चिरवाने की तरह दंड द्वारा भी सुधार किया जा सकता है पर घृणा एवं द्वेष को किसी के लिए भी मन में स्थान नहीं देना चाहिए।

ईश्वर सर्वव्यापी है। इसलिए वह एकदेशीय नहीं हो सकता। वह आत्मा रूप है इसलिए निराकार है। फिर भी यह सब पसारा उसी का होने से, सबमें समाया होने से साकार है। किन्हीं महापुरुषों में उसकी विशेष शक्तियाँ, विशेष कलाऐं होती हैं तो उन्हें उतनी कलाओं का अवतार कहते हैं। परशुराम जी में तीन कलाऐं, राम में बारह कलाऐं, कृष्ण में सोलह कलाऐं बताई गई हैं। एक ही समय में कई अवतार, कई महापुरुष हो सकते हैं। राम चन्द्र जी और परशुराम जी एक ही समय में दो अवतार थे। गीता के अनुसार "जब अधर्म की वृद्धि हो जाती है तब धर्म की स्थापना के लिए अवतार होते हैं।" वे अवतारी महापुरुष अकेले ही सब कुछ नहीं कर लेते वरन् जनता को नवीन विचार एवं उत्साह देकर जागृत करते हैं और अनेक सहयोगियों की सहायता से उस ईश्वरीय उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। कृष्ण द्वारा कौरवों का नाश, राम द्वारा राक्षसों का नाश, अकेले ही नहीं किया था वरन् उनके विरुद्ध अपार जन समूह खड़ा करके ही सफलता प्राप्त की गई थी। बुराइयों के निवारण एवं अच्छाइयों की स्थापना के लिए जहां भी कार्य होता है, ईश्वरीय प्रेरणा से ही होता है। अवतारी सत्पुरुष उसे पूरा करने में जुट जाते हैं और अन्त में जन सहयोग से वह उद्देश्य पूरा होता है। ऐसी अवतारी प्रक्रिया छोटे मोटे रूप में सदा होती रहती है और बड़े रूप में कभी-कभी विशेष आवश्यकता के समय होती है। अवतारी कार्यों में सहायता करना हनुमान अर्जुन की तरह अपने को यश तथा प्रतिष्ठा का भागी बना लेना है।

परमात्मा खुशामद पसंद नहीं। किसी की निन्दा स्तुति की उसे आवश्यकता नहीं। वह किसी पर प्रसन्न अप्रसन्न नहीं होता। पूजा उपासना एक प्रकार का आध्यात्मिक व्यायाम है जिसके करने से हमारा आत्मबल बढ़ता है। सतोगुण की मात्रा में वृद्धि होती है ईश्वर को सर्व व्यापक समझने वाला पापों से डरेगा। कोतवाल सामने खड़ा हो तो चोर प्रकृति का मनुष्य भी उस समय साधु सा आचरण करता है। सबसे बड़े कोतवाल ईश्वर को जो अपने अन्दर बाहर चारों ओर व्यापक देखता है वह उसके दंड से डरेगा और पाप न कर सकेगा। प्राणिमात्र में ईश्वर को व्यापक देखने वाला व्यक्ति सब के साथ सद् व्यवहार ही कर सकता है। यह ईश्वरीय दृष्टि प्राप्त करना, ईश्वराराधना का प्रधान उद्देश्य है। ध्यान, प्रार्थना, पूजा, कीर्तन, जप, आदि ऐसी मनोवैज्ञानिक क्रियाऐं हैं जिनके द्वारा मनोभूमि में चिपके हुए अनेकों कुसंस्कार छूटते और उनके स्थान पर सुसंस्कारों की स्थापना होती है। ईश्वर के नाम पर लोक हितकारी कामों के लिए दान देना अपनी ही व्यक्तिगत और सामूहिक सतोगुणी उन्नति करना है।

वह समदर्शी और न्याय कारी है। सभी पुत्र उसे परम प्रिय हैं और सभी समान हैं। निष्पक्ष न्यायाधीश की तरह वह सबको उसके कर्मों के आधार पर फल देता है। अपने भले बुरे कर्मों का परिपाक ही कालान्तर में प्रारब्ध, भाग्य, कर्म रेखा, ईश्वर की कृपा, दैवी वरदान, ग्रहदशा, आदि के रूप में प्रकट होता है। कर्म चाहे आज का हो चाहे पुराना उसी का फल हमें मिलेगा। ईश्वर अपनी ओर से किसी के साथ विशेष क्रोध या प्रेम प्रकट नहीं करता। उसने सब को अत्यन्त बहुमूल्य रथ शरीर, अत्यन्त विलक्षण अस्त्र मस्तिष्क, संसार में उपस्थित अत्यन्त

सुखदायिनी वस्तुऐं देकर अपनी दयालुता का परिचय दिया है। यह हमारा काम है कि अपने भले बुरे कर्मों द्वारा अपने जीवन को सुखी या दुखी चाहे जैसा बनायें। वह किसी की क्रियाशीलता में हस्तक्षेप नहीं करता। अपनी इच्छानुसार काम करने के लिए सबको पूर्ण स्वतंत्र छोड़ दिया है, कर्म फल से कोई बच नहीं सकता। वह हर एक को अवश्य भुगतना पड़ता है। न्यायाधीश ईश्वर के न्याय से कोई भी बच नहीं सकता।

वह नियामक है। स्वयं नियम रूप है, उसका हर काम नियम पूर्वक हो रहा है। ग्रह नक्षत्र एक क्षण भर आगे पीछे उदय अस्त नहीं हो सकते। गेहूँ से गेहूँ ही उत्पन्न होता है, वस्तुऐं अपने अपने गुण धारण किये रहती हैं। कभी-कभी जो अनियमितता दिखाई देती है वह भी किन्हीं सूक्ष्म नियमों के आधार पर ही होती है। जो व्यक्ति ईश्वरीय नियमों पर चलते हैं, प्राकृतिक जीवन बिताते हैं, कर्तव्य धर्म में स्थिर रहते हैं वे ईश्वर की आनन्द मयी सृष्टि का आनन्द आस्वादन करते हैं जो उन नियमों का उल्लंघन करते हैं वे हानि उठाते हैं। अग्नि बड़ी दयालु है वह हमारा शीत निवारण करती है। भोजन पकाती है, वाष्प यंत्र चलाती है अन्य अनेक प्रकार लाभ पहुँचाती है पर यदि उसे नियम विरुद्ध छुआ जाय तो हाथ जला देगी। बिजली से हमें अनेकों लाभ होते हैं पर उसे गलत तरह छुएं तो प्राण लेने में कोई रियायत नहीं करेगी। इसी प्रकार ईश्वर हमें अनेक सुख देता है पर यदि उसके नियमों का उल्लंघन करें तो वह नरक की भयंकर अग्नि में तपा डालने वाला क्रूर यमराज भी बन जाता है। उसके नियमों पर चलना ही ईश्वर की सर्वोत्तम पूजा है।

साधारण मनुष्यों का अन्तःकरण आत्मा कहलाता है। अविकसित होने के कारण उसकी जीव सत्ता है जब उसका विकास होता है। अहंभाव विस्तृत होकर वसुधैव कुटुम्बकम् के रूप में परिणत हो जाता है। सब अपने आत्मीय दिखाई पड़ने लगते हैं। सबमें आत्मा और आत्मा में सब समाये हुए दिखाई पड़ने लगते हैं तो वह लघु आत्मा परम आत्मा (परमात्मा) महान आत्मा (महात्मा) बन जाता है। विश्व की समृष्ट आत्मा ही विश्वात्मा या परम आत्मा है, इसे ही समाज पुरुष, विराट भगवान, जनता जनार्दन आदि नामों से भी पुकारते हैं। विश्व मानव की उपासना, समाज पुरुष की सेवा भगवान ॐ की ही आराधना है। गीता के १० वें अध्याय में भगवान ने बताया है कि वृक्षों में पीपल, पशुओं में गौ, मनुष्यों में ब्राह्मण, नक्षत्रों में चंद्रमा, ग्रहों में सूर्य, इन्द्रियों में मन, पर्वतों में हिमालय, पक्षियों में गरुड़, नदियों में गंगा, मन्त्रों में गायत्री मंत्र, ॠतुओं में बसन्त मैं हूँ। अर्थात् जो जो श्रेष्ठ, सात्विक सुदृढ़ एवं उपयोगी विभूतियां हैं उनमें मेरे ही अंश की अधिकता है। जिन विचार धाराओं में, व्यक्तियों में, वस्तुओं में इस प्रकार के तत्व अधिक हैं उनमें ईश्वरीय कलाओं की विशेषता अनुभव की जा सकती है। जहाँ प्रभु का निवास होगा वहां निश्चय पूर्वक श्रेष्ठता सात्विकता, दृढ़ता एवं परोपकार की प्रधानता होगी। तलाश करने पर अनेक स्थानों पर हम प्रभु का ऐसा निवास ढूँढ़ सकते हैं और उसकी झांकी करके अपने को तृप्त कर सकते हैं। इसलिए कहा गया है कि सत्संग में भगवान का निवास होता है। प्राचीन काल में सत्पुरुषों का निवास अधिक रहने के कारण तीर्थों की महिमा हुई थी और तीर्थ यात्रा को पुण्य फल माना जाता था। आज भी जहां महापुरुषों का निवास है वह स्थान प्रत्यक्ष तीर्थ ही है।

राम, कृष्ण आदि की सुन्दर छवियां एवं उनकी गुणावली का ध्यान करना अपनी अन्तिम उन्नति का आदर्श एवं लक्ष्य स्थापित करना है। बड़े-बड़े भवन बनाने होते हैं तो पहले उनका छोटा मॉडल बना लिया जाता है, उसके आधार पर विशाल भवन बनता है। हमें स्वास्थ्य, सौन्दर्य, बल, गुण, विशेषता आदि की दृष्टि से आत्म निर्माण के जिस लक्ष्य तक पहुँचना है उस मॉडल से अनन्य प्रेम एवं प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न करने के लिए भगवान की कल्पित मूर्तियों का ध्यान किया जाता है। मन्दिर मठ आदि आत्मिक ज्ञान के प्रचार केन्द्र हैं। उस केन्द्र के कार्यकर्ताओं की सम्मान पूर्वक आजीविका चलाने के लिए मन्दिरों में भोग चढ़ावा, पूजा आदि की विधि व्यवस्था बनाई गई थी। आज वह सब पद्धतियां बड़ी गड़बड़ हो गई हैं, अनाचार धूर्तता और मूर्खता का बोल बाला है पर प्रयत्न करने पर प्राचीन आदर्शों को पुनः सजीव किया जा सकता है, और भगवतपूजा के आधार पर धर्म, समाज, राष्ट्र संस्कृति एवं सामाजिक सदाचार के पुनः उद्धार के विशाल आयोजन किए जा सकते हैं। इसके लिए मंदिरों, मठों एवं पुरोहितों का सुधार कर उनसे केन्द्र बिन्दु का कार्य लिया जा सकता है।

गायत्री का प्रथम अक्षर ॐ हमें इन्हीं सब बातों की शिक्षा देता है। यह ईश्वर का सर्वश्रेष्ठ नाम है, उसके उच्चारण से सूक्ष्म प्रकृति आत्म चेतना के साथ संबन्धित होने की साधना अपने आप होती चलती है। यह ईश्वर

का स्वयं घोषित सबसे छोटा नाम है। साथ ही गायत्री गीता ने बताया है कि वह ईश्वर न्यायकारी, प्रभु, समदर्शी, अविनाशी, चैतन्य, आनन्दस्वरूप, नियमरूप, निराकार एवं विश्व आत्मा है। इन नामों में जो महत्व पूर्ण तत्व ज्ञान छिपा हुआ है उसे जान कर उसको आचरण रूप से लाकर हमें ॐ की उपासना करनी चाहिए।

'ॐ' में तीन अक्षर मिले हुए हैं अ, उ, म्। अ का अर्थ है आत्म परायणता, शरीर के विषयों से मन हटा कर आत्मानंद में रमण करना। उ का अर्थ है- उन्नति, अपने को शारीरिक मानसिक, सामाजिक, आर्थिक एवं आत्मिक सम्पत्तियों से सम्पन्न करना। म् का अर्थ है- महानता, क्षुद्रता, संकीर्णता, स्वार्थ परता, इन्द्रिय लोलुपता को छोड़ कर प्रेम दया उदारता सेवा, त्याग, संयम एवं आदर्श के आधार पर जीवन यापन की व्यवस्था बनाना। इन तीनों अक्षरों में जो शिक्षा है उसे अपना कर व्यावहारिक रूप से ''ॐ'' की, ईश्वर की उपासना करनी चाहिए।

भूः -

सर्वत्र अपना ही प्राण बिखरा पड़ा है

भूर्वै प्राण इति ब्रुवन्ति मुनयो वेदान्त पारंगता।
प्राणः सर्व विचेतनेषु प्रसृतः सामान्य रूपेण च॥
एतेनैव विसिद्ध् यते हि सकलं नूनं समानं जगत्।
दृष्टव्यं सकलेषु जन्तुषु जनै नित्यंह्यतश्चात्मवम्॥

अर्थ—मनन करने वाले मुनि लोग प्राण को भूः कहते हैं। यह प्राण सबमें समष्टि रूप से फैला हुआ है। इससे सिद्ध है कि यहां सब समान हैं। अतएव सब मनुष्यों और प्राणियों को अपने समान ही समझना चाहिए।

हम शरीर हैं इस भावना से भावित होकर लोग वही कार्य करते हैं जो शरीर को सुख देने वाले हैं, आत्मा के आनन्द की प्रायः सर्वदा उपेक्षा की जाती रहती है। यही माया, अविद्या, भ्रान्ति, बन्धन में बांधने वाली है। मैं वस्तुतः कौन हूँ ? मेरा स्वार्थ सुख और आनन्द किन बातों पर निर्भर है ? मेरे जीवन का उद्देश्य एवं लक्ष्य क्या है ? इन प्रधान प्रश्नों की लोग उपेक्षा करते हैं, और निरर्थक बाल क्रीड़ाओं में उलझे रह कर मानव जीवन के महत्वपूर्ण क्षणों को यों ही गवां देते हैं।

गायत्री के 'भूः' शब्द में बताया गया है कि हम शरीर नहीं प्राण हैं- आत्मा हैं। जब प्राण निकल जाता है तो शरीर इतना अस्पर्श्य एवं विषाक्त हो जाता है कि उसे जल्द से जल्द जलाने, गाढ़ने या किसी अन्य प्रकार से नष्ट करने की आवश्यकता अनुभव होती है। आत्मा के संसर्ग से ही यह हाड़, मांस, मल-मूत्र आदि घृणित वस्तुओं से बना हुआ शरीर सुख, यश, वैभव, प्रतिष्ठा का माध्यम रहता है जब वह संयोग बिछुड़ जाता है तो लाश, पशुओं के मृत शरीर के समान भी उपयोगी नहीं रहती।

हम प्राण हैं- आत्मा हैं। ज्ञान संचय करने से पूर्व हमें अपने आपको जानना चाहिए। सुख सामग्री इकट्ठी करने का प्रयत्न करने से पूर्व यह देखना चाहिए कि आत्मा को सुख शान्ति किन वस्तुओं से मिल सकती है। समृद्धि, यश, प्रतिष्ठा पद आदि संचित करने से पूर्व यह सोचना चाहिए कि आत्म गौरव, आत्म-सम्मान, आत्मोन्नति का केन्द्र कहाँ है ? शरीर को प्रधानता देना और आत्मा की उपेक्षा करना यह भौतिकवाद है। आत्मा को प्रधानता देना और शरीर की उचित रक्षा करना यह आत्मवाद है। गायत्री कहती है कि हम आत्मा हैं इसलिए हमारा सर्वोपरि स्वार्थ आत्म-परायणता में है, हमें आत्मवादी बनना चाहिए और आत्म-कल्याण, आत्म-चिन्तन आत्मोन्नति एवं आत्म-गौरव की सबसे अधिक चिन्ता करनी चाहिए।

जब हम आत्मवादी बनते हैं तो स्वभावतः भौतिकवाद को केवल उतना ही महत्व देना होता है जितना कि वह अनिवार्यतः आवश्यक है। शरीर की क्षुधा बुझाने के लिए भोजन करना, कुटुम्ब पोषण की वास्तविक आवश्यकताओं के लिए सीमित धन कमाने की इच्छा हो तो उसे ईमानदारी से कमाया जा सकता है। शेखी-खोरी और बड़प्पन की कामना से हम बहुत सी बेकार की जरूरतें, फैशन, अपव्यय उत्सव, आदि के खर्चीले भार अपने सिर पर ओढ़ लेते हैं। वजन को बढ़ाते चलना और उसको उठाने के लिए धर्म और जीवन को बलिदान करते चलना, आज की यही चर्या है। यदि सादा जीवन बिताया जाय, अपने अपरिग्रही पूर्वजों की भांति आवश्यकताओं को सीमित रखा जाय तो भौतिक आकर्षण के लोभ से सहज ही बचा जा सकता है। तब आत्म-कल्याण के लिए कुछ सोचने और करने का अवकाश मिल सकता है। इसलिए आवश्यकताओं को कम करना और उच्च विचारों को हृदयंगम करना ही एक मात्र वह उपाय रह जाता है जिसके सहारे हम आत्म-कल्याण की ओर चल सकते हैं। ''सादा जीवन और उच्च विचार'' यह आत्मवादी की प्रथम साधना है। इस साधना को अपनाये बिना कोई भी व्यक्ति आत्म-कल्याण की ओर अग्रसर नहीं हो सकता। वस्तुओं की अपेक्षा गुण का मूल्य एवं सम्मान जब समझ में आने लगे तब समझना चाहिए कि यह आत्मवाद का प्रकटीकरण हो रहा है।

२.५ गायत्री साधना का गुह्य विवेचन

आत्म-कल्याण का अगला कदम सबमें अपनेपन का दर्शन करना है। विश्वव्यापी प्राण एक है, प्राणिमात्र में एक ही आत्मा निवास कर रही है, एक ही नाव में सब सवार हैं, एक ही नदी की सब तरंगे हैं, एक ही सूर्य के सब प्रतिबिम्ब हैं, एक ही जलाशय के सब बुलबुले हैं, एक ही माला के सब दाने हैं, सबमें एक ही प्रकाश जगमगा रहा है। सम्पूर्ण समाज शरीर है हम उसके अंग मात्र हैं। आत्मा एक मनुष्य की होती है, सम्पूर्ण प्राणियों की विश्वव्यापी परम विस्तृत जो आत्मा है उसे परमात्मा या विश्वात्मा कहते हैं। नरनारायण, जनता जनार्दन, विराट-पुरुष, विश्वनाथ, सर्वेश्वर, सर्वान्तर्यामी, आदि शब्दों में यही भाव भरा हुआ है कि एक ही चैतन्य तत्व प्राणिमात्र में समाया हुआ है। इसलिए सब आपस में संबन्धित हैं, सब आपस में पूर्ण आत्मीय हैं; पूर्णतया एक हैं।

संसार की सब पंच भौतिक वस्तुऐं निर्जीव हैं उनमें सुख देने वाला कोई तत्व नहीं, जिस वस्तु को हम अपनी मान लेते हैं वही प्रिय लगने लगती है। वस्तुओं में प्रिय अप्रिय लगने लायक कोई विशेषता नहीं है। हमारी 'अपने पन' की भावना ही उस साधारण वस्तु को परम प्रिय परम आकर्षक, परम आनन्द दायक बना देती है। अपने मकान व्यापार परिवार शरीर, वाहन आदि से हम बहुत प्रसन्न रहते हैं, वही प्रिय लगते हैं। पर उनसे भी अधिक अच्छी यह सब वस्तुऐं दूसरे की हों तो उनसे उतना आनन्द नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि आनन्द का उद्‌गम हमारी आत्मभावना है। यह आत्मीयता की भावना यदि प्राणी मात्र में, समस्त सृष्टि में, आरोपित कर दी जाय तो विश्व का कण-कण स्वर्गीय आनन्द में ओत-प्रोत हो जायगा। प्रत्येक प्राणी अपना भाई, भतीजा जैसा लगने लगेगा। अपने को विश्व परिवार का सदस्य, समस्त सृष्टि का स्वामी, अनुभव करने में जो अपार आनन्द आता है, उसका गायत्री के भूः शब्द का अर्थ समझने वाला ही रसास्वादन कर सकता है।

एक ही प्राण समस्त शरीर में व्याप्त है। हाथ, पांव, आँख, नाक, कंठ, छाती आदि अवयवों की चेतना एक ही केन्द्र पर आधारित है इसलिए प्रथक प्रथक रंग रूप गुण स्वभाव योग्यता शक्ति के होते हुए भी एक ही शरीर के अंग हैं। सब अवयव जब परस्पर मिल जुल कर काम करते हैं अपने संकुचित स्वार्थ का विचार न करके सामूहिक स्वार्थ को प्रधानता देते हैं तभी शरीर ठीक काम करता है यदि इनमें से हर एक अंग अपने-अपने लाभ, स्वार्थ, संचय, सुख, आराम, प्रतिष्ठा, बड़प्पन की बात सोचे तो समझना चाहिए कि जीवन के लिए संकट उत्पन्न हुआ। फेफड़े अपने तक ही वायु को सीमित रखें, आमाशय भोजन को पचा कर अपने में ही धरे रहे, हृदय सारा रक्त अपने पास जमा करले, पैर सब अंगों का भार ढोने से इन्कार करदें हाथ दिन भर श्रम करके अन्य अंगों के पोषण के लिए परिश्रम करने में आनाकानी करें तो शरीर की सारी व्यवस्था बिगड़ जायगी और वह स्वार्थी अंग भी सुख पूर्वक न रह सकेंगे।

समाज एक शरीर है व्यक्ति उसका अंग है। यदि व्यक्ति अपने स्वार्थ को प्राथमिकता देता है और समाज के हित की अवहेलना करता है तो निश्चय ही न वह व्यक्ति सुखी रह सकेगा और न समाज। सबके हित में अपना हित और सबकी हानि में अपनी हानि है। मोहल्ले में प्लेग, चेचक, हैजा आदि कोई रोग फैले या पड़ौसी के घर में आग लग जाय तो निश्चय ही हमारा घर भी सुरक्षित नहीं रह सकता अपने नगर में गुण्डों का आतंक बढ़ जाये तो हम भी शान्ति पूर्वक नहीं रह सकते, शत्रु का हमला किसी नगर पर हो तो उसके प्रत्येक निवासी को समान रूप से खतरा है। इसी प्रकार जहां जलवायु उत्तम हो, सत्पुरुष रहते हों, सुशासन हो सुख शान्ति का वातावरण हो, वहां सभी लोग सुखी रहते हैं। शास्त्रों में लिखा है कि पत्नी के पाप का भागी उसका पति और शिष्य के पाप का भागी उसका गुरु भी होता है इसी प्रकार पत्नी को पति के पुण्य में से और शिष्य को गुरु के तप में से हिस्सा मिलता है। कारण स्पष्ट है कि परस्पर संबन्धित होने के कारण एक दूसरे के प्रति उत्तरदायित्व से बंधे हुए हैं फलस्वरूप एक दूसरे की बुराई भलाई एवं हानि लाभ के लिए भी जिम्मेदार हैं। निर्दोषों के साथ में अनीति हो रही हो तो उसे न रोकने वाले वहां के निवासी भी पापी होते हैं। सरकार ऐसे प्रदेशों पर सामूहिक जुर्माना करती है। क्योंकि बुराई को न रोकना भी एक जुर्म है। भूकम्प, महामारी, युद्ध, अतिवृष्टि अनावृष्टि, दुर्भिक्ष आदि सामूहिक आपत्तियों का कारण उस देश की जनता की सामूहिक अनैतिकता, गरीबी, अकर्मण्यता आदि बुराइयां हैं। इन्हें दूर करने के लिये वहां के लोगों में पुरुषार्थ जागृत करने के लिये ईश्वर इस प्रकार की आपत्तियां भेजता है। इन आपत्ति ग्रस्त क्षेत्रों में अनेकों सत्पुरुष भी दुख पाते हैं कारण स्पष्ट है अपने पड़ोसियों की हीनावस्था के लिए वे स्वयं भी उत्तरदायी हैं। समस्त मानव समाज एक सूत्र शृंखला में बँधा हुआ है।

जिनका हृदय संकुचित है, जिनकी बुद्धि संकीर्ण है, जिनकी भावना अनुदार है वे अविवेकी मनुष्य खुदगर्जों को

प्रधानता देते हैं। परिणाम यह होता है कि लोकहित तो वे करते नहीं, अपना हित उनसे हो नहीं पाता। भारतीय धर्म शास्त्र ने बताया है कि "उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्" उदार मनुष्यों के लिए सारा संसार अपना कुटुम्ब है। भगवान बुद्ध ने यह कह कर मोक्ष को ठुकरा दिया कि 'जब तक एक भी प्राणी बन्धन में है तब तक मुझे मोक्ष की आवश्यकता नहीं।' बादल अपने लिए नहीं बरसते, फूल अपने लिए नहीं खिलते, वृक्ष अपने फलों को आप नहीं खाते, सरोवर अपने लिये जल नहीं भरे रहते, मधु-मक्खी अपने लिए मधु संचय नहीं करती, सूर्य चन्द्र अपने लिये भ्रमण नहीं करते, सृष्टि के समस्त जड़ चेतन पदार्थों पर दृष्टिपात कीजिए वे केवल आत्मसुख के लिए ही जीवन धारण नहीं किये हुए हैं वे प्रभु की इस पुण्य वाटिका, सृष्टि की शोभा बढ़ा रहे हैं, दूसरों की सुख सुविधा बढ़ाना उनका प्रधान प्रयोजन है। मनुष्य को मिली हुई विशेष शक्तियाँ तो ईश्वर की अमानत है जो इसलिए है कि उनके द्वारा कम बुद्धि वालों की सहायता करके उन्हें ऊँचा उठाया जाय सुखी बनाया जाय। जो यह समझते हैं कि हमारे पास जो धन बल, बुद्धि बल, शरीर बल है वह केवल मात्र हमारे ही लाभ के लिए है वे भूल करते हैं। जन साधारण के लाभ के लिए दी हुई ईश्वर की अमानत का वे दुरुपयोग करते हैं। अमानत में खयानत का अपराधी उन्हें ठहराया जायगा।

गायत्री की शिक्षा है कि अपनी आत्माँ को सबमें और सबकी आत्मा को अपने में समाई हुई देखो। अपना वही लाभ स्वीकार करो जो समाज के लाभ का एक भाग है। अपने जिस कार्य से औरों की हानि होती है, बहु संख्यक नागरिकों पर जिसका बुरा प्रभाव पड़ता है ऐसा लाभ सर्वथा त्याज्य है।

अपना ही प्राण दूसरों में समाया हुआ है इसलिए दूसरों के दुख को अपना दुःख समझना चाहिए। जिस व्यवहार को हम अपने लिए उचित नहीं समझते उसे दूसरों के लिए नहीं करना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि मेरे साथ दूसरे लोग दुर्व्यवहार न करें, चोरी, ठगी, विश्वास घात, छल, उद्दंडता, निष्ठुरता, बेईमानी, अनुदारता का व्यवहार उसके साथ न हो, वरन् मधुरता, नम्रता, उदारता, सचाई एवं सहायता की नीति बरती जाय।

स्मरण रखना चाहिए कि जब हम दूसरों के साथ ऐसा व्यवहार करेंगे तो हमें भी ऐसा प्रतिफल मिलेगा। जो बोयेंगे वही काटेंगे। यदि वैसा ही व्यवहार हमारे साथ दूसरे न भी करें तो भी विश्व-व्यापी आत्मा को हमारे सद्व्यवहार से जो सुख मिलेगा वह आंशिक और अप्रत्यक्ष रूप से अपने को ही तो मिला क्योंकि अन्ततः सभी आत्माऐं एक दूसरे से संबन्धित हैं।

किसी को छोटा या नीच समझना अनन्तवाद है। गीता में पंडित की परिभाषा करते हुए कहा है कि विद्या विनय सम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता, चाण्डाल आदि सब छोटे-बड़े, नीच-ऊँच को जो समता की दृष्टि से देखता है वह पंडित है। किसी को जाति, वंश, कुल, देश, वर्ण, लिंग, की दृष्टि से ऊंचा या नीचा गिनना अपंडितपन है। परमात्मा के सभी पुत्र एक मानव जाति के हैं चाहे वे स्त्री हों या पुरुष चाहे शूद्र हों या ब्राह्मण। सबका अधिकार, पद, कर्त्तव्य और गौरव समान है। अपनी योग्यता विद्या पुरुषार्थ पुण्य सेवा आदि गुणों के बल पर लोग ऊँचे उठते हैं, महात्मा महापुरुष ब्राह्मण पूज्यनीय बनते हैं और अपने ही दोष दुगुर्णों के कारण नीच बनते हैं। यह गुण, कर्म, स्वभाव ही नीचता और महानता के आधार हैं अन्यथा प्राणिमात्र में प्रकाशवान ईश्वरीय ज्योति, आत्मा एक ही जाति की है। किसी को स्त्री या पुरुष होने के कारण शूद्र या ब्राह्मण कुल में जन्म लेने के कारण छोटा या बड़ा मानना, अधिकार को न्यूनाधिक मानना अज्ञान मूलक है।

गायत्री का भूः शब्द बारबार हमारे लिए आदेश करता है कि हम शरीर नहीं आत्मा हैं। इसलिए आत्म-कल्याण के लिये आत्मोन्नति के लिए, आत्म गौरव के लिए, प्रयत्नशील रहें और समाज सेवा द्वारा विराट पुरुष, विश्व-मानव, परमात्मा की पूजा करें।

भुवः -

कर्मयोग की शिक्षा

भुवर्नाशो लोके सकल विपदां वै निगदितः।
कृतं कार्यं कर्तव्यमिति मनस्या चास्य करणम्।
फलाशा मर्त्यो ये विदधति न वै कर्म निरताः।
लभन्ते नित्यं ते जगति हि प्रसादं सुमनसाम्।

अर्थ—संसार में समस्त दुखों का नाश ही भुवः कहलाता है। कर्तव्य भावना से किया गया कार्य ही कर्म कहलाता है। परिणाम के सुख की अभिलाषा को छोड़ कर जो कर्म करते हैं वह मनुष्य सदा प्रसन्न रहते हैं।

गायत्री का भुवः शब्द हमें कर्म-योग का सन्देश देता है। क्योंकि इसी आधार पर समस्त प्रकार के दुखों से छुटकारा पाया जा सकता है। मनुष्य नाना प्रकार की आशाऐं, तृष्णाऐं, लालसाऐं, कामनाऐं किया करता है। वे

इतनी अनियंत्रित और अवास्तविक होती हैं कि उनकी पूर्ति लगभग असंभव रहती है। एक इच्छा की पूर्ति भी हो जाय तो वह तुरन्त ही अपना रूप बढ़ा कर और बड़ी हो जाती है। इस प्रकार वह मनुष्य सदा अभाव-ग्रस्त 'दीन' एवं इच्छुक ही बना रहता है, तृप्ति का आनन्द उससे दूर ही रहता है।

वस्तुओं और परिस्थितियों में सुख ढूंढना एक प्रकार की मानसिक मृगतृष्णा है। शरद ऋतु में जब भूमि के क्षार फूल कर ऊपर आ जाते हैं तो प्यासा मृग उन्हें दूर से पानी समझता है पर पास जाने पर उसे अपने भ्रम का पता चलता है और अभीष्ट वस्तु न पाकर दुखी तथा निराश होता है। फिर उसे दूसरी जगह ऐसा ही भ्रम जल दिखाई पड़ता है, वहां भी दौड़ता और निराश होता है। इसी उलझन में पड़ा हुआ वह भारी कष्ट सहता रहता है। यही दशा तृष्णा ग्रस्त फल लोभी, मनुष्यों की होती है। यद्यपि उन्हें भगवान बहुत कुछ देता है पर उस प्रभु प्रसाद को प्राप्त करने के सौभाग्य से प्रसन्न होने का अवकाश ही नहीं मिलता, उधर ध्यान ही नहीं जाता ताकि संतोष अनुभव कर सकें। एक के बाद दूसरी, छोटी के बाद बड़ी तृष्णा आ पड़ने से उसे यही मालूम पड़ता रहता है कि मैं सबसे गरीब दीन दुखी एवं अभाव ग्रस्त हूँ। काश, वह इन तृष्णाओं से मुक्ति पाकर अपनी वर्तमान स्थिति की विशेषताओं और महानताओं को ध्यान पूर्वक देख सका होता तो उसे पता चलता कि प्रभु ने कृपा पूर्वक उसे इतना दे रखा है जिसे प्राप्त करने के लिए इस विश्व के असंख्यों प्राणी तरसते हैं। हमारा जैसा सौभाग्य उन प्राणियों को मिल सका होता तो वे अपने सौभाग्य पर फूले न समाते उसे स्वर्गीय वैभव अनुभव करते, ईश्वर को अनेक धन्यवाद करते। एक हम हैं जो इतनी शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, आर्थिक, कौटुम्बिक सम्पदाऐं प्राप्त होते हुए भी नित नई तृष्णाऐं गढ़ गढ़ कर उनके कारण असंतुष्ट और दुखी रहते हैं। प्रभु को कोसते रहते हैं, उसने हमें यह नहीं दिया, वह नहीं दिया, हम यों अभागे रहे, त्यों अभागे रहे, इन शिकायतों और तृष्णाओं का अन्त कुबेर या कल्पवृक्ष भी नहीं कर सकता। ऐसे व्यक्ति स्वर्ग में भी दीन रहेंगे। सन्तोष का हेतु तो केवल आत्म-ज्ञान है। उसका उदय होते ही आसक्ति, फलाशा और तृष्णा का अन्धकार मिट जाता है और मनुष्य तत्क्षण अपने को बड़ा सौभाग्यशाली, संतुष्ट, ईश्वर का कृपा पात्र, सुखी एवं प्रसन्न अनुभव करने लगता है। तृष्णा सुरसा है। हनुमान जी उसके मुख में घुसे और अपना रूप बढ़ाने लगे सुरसा का मुंह और अधिक बढ़ता गया। अन्त में हनुमान जी थक गये तब उनने अपना रूप छोटा बनाया और उस आसुरी गोरख धन्धे में से निकल आये। तृष्णाओं को बढ़ाते जाना और उनको तृप्त करने के लिये परेशान रहना यह एक आसुरी गोरख धन्धा है। इस तिलस्म में से वही छूट सकता है जो गायत्री के 'भुवः' शब्द को हृदयंगम करले, कर्मयोग को अपनाले।

फल की इच्छा न करने का यह अर्थ नहीं है कि बिना सोचे समझे काम करते रहा जाय या उसके परिणामों पर विचार न किया जाय। ऐसा होना असम्भव है। उद्देश्य की प्राप्ति के लिये कार्य किये जाते हैं। बिना उद्देश्य के क्रिया कौन करेगा? आत्मोन्नति, आत्म-सुख। आत्मानन्द मनुष्य का उद्देश्य है। जीवन यात्रा को चलाते हुए आनन्द लाभ करने के उद्देश्य से कर्म किये जाते हैं। यह उद्देश्य या फल स्पष्ट है। विवेक पूर्वक, दूरदर्शिता के साथ, क्रमबद्ध योजना बना कर अपना कार्य क्रम निर्धारित कर लेना चाहिये और उस योजना को पूरा करने के लिये उत्साह और परिश्रम पूर्वक कार्य रूप में जुट जाना चाहिए। मन को क्रिया में प्रवृत्त रखना अपनी कर्तव्य परायणता में कस लेना, कार्य प्रणाली को उत्तम, उच्च कोटि की बनाने में संलग्न रखना कर्म-योग है और कार्य प्रणाली में कम ध्यान देकर मन को भविष्य के लाभों में शेखचिल्ली की तरह लगाये रहना आसक्ति या फलाशा है।

आसक्ति परायणता में दोष यह है कि मन नित नये मन मोदक बनाता और उनके लिए ललचाता रहता है। लड्डू बिगाड़ता और बरफी बनाता है। उसके मन में नाना प्रकार की कामनाऐं उठती रहती हैं। जिनके कारण कार्यक्रमों को रोज रोज बदलना पड़ता है फल स्वरूप उनका कोई भी काम पूरा नहीं हो पाता और सभी मनोरथ अधूरे रहते हैं। इसके अतिरिक्त-कार्य का परिणाम वही हो जो चाहा गया है - इस बात का भी कोई निश्चय नहीं है। अनेक बार अच्छे प्रयत्न भी प्रारब्ध या अज्ञात कारणों से निष्फल चले जाते हैं। उस असफलता में उन व्यक्तियों को जो बड़ी बड़ी आशाऐं बांधे बैठे थे भारी आघात लगता है और उनका हृदय टूट जाता है। ऐसे ही लोग असफलताओं के अवसरों पर आत्म-हत्या जैसे भयंकर कर्म करते देखे जाते हैं।

आगे बढ़ना, उन्नति करना, अधिक उत्तम स्थिति प्राप्त करना, ऊपर उठना, विकसित होना जीव का स्वाभाविक धर्म है। इस धर्म कर्तव्य को पालन किये बिना कोई प्राणी चैन से नहीं बैठता, जो इस दिशा में प्रयत्न नहीं कर रहा है उसकी आत्मा हर घड़ी टोंचती रहेगी और वह मंद आत्म

हत्या का कष्ट सदा ही भोगता रहेगा। इसलिये लोभ और तृष्णा से प्रेरित होकर नहीं, आत्म-धर्म को पालन करने के लिए, हमें अपनी शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, सामाजिक एवं आत्मिक उन्नति करने के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए। कर्तव्य के लिए पूरी शक्ति, पूरी दिलचस्पी और पूरी सावधानी से तत्परता पूर्वक लगे रहना कर्म योग है। कर्मयोगी के आनन्द का केन्द्र उसकी क्रिया प्रणाली होती है। वह अपने सत्प्रयत्नों में हर घड़ी आत्म सम्मान और आत्म सन्तोष का रसास्वादन करता है।

तृष्णातुर लोग बड़े-बड़े मनसुवे बांधते हैं, बड़ी-बड़ी आशाऐं लगाते हैं। सफलता मिलने पर जो मधुर फल मिलेंगे उनके लिये लार टपकाते रहते हैं। मन की प्रवृत्ति फलाशा में इतनी अधिक लगी रहती है कि क्रिया प्रणाली पर सोचने का उन्हें अवकाश ही नहीं मिलता। कामी लोग विषय वासना के उन्माद में अन्धे हो जाते हैं और अपना स्वास्थ्य, धन, यश आदि सब गँवा बैठते हैं। लोभी लोग धूर्तों द्वारा प्रलोभन दिखा कर बुरी तरह ठगे जाते हैं। कारण स्पष्ट है कि फलाशा का प्रलोभन उनके सामने इतना जबरदस्त होता है कि उसके तूफान में बेचारा विवेक सूखे पत्ते की तरह उड़ जाता है और मनुष्य अन्धा होकर क्रिया प्रणाली के औचित्य को भुला कर मनमानी करने लगता है। और जब वे मनोरथ पूरे नहीं होते तो वह बेतरह निराश होता है। अपनी निराशा का, असफलता का, कोप वह साथियों मित्रों, दुनिया वालों, देवताओं, दुर्दिनों आदि जो भी सामने दिखाई पड़ते हैं उन्हीं पर थोप देता है। ऐसे लोग जो बड़े-बड़े मनोरथ करते रहते हैं प्राय: दुखी, निराश, असन्तुष्ट, असफल एवं अशान्त देखे जाते हैं। कामनाऐं उनके लिए बन्धन रूप हो जाती हैं और वे एक मानसिक बीमारी अपने ऊपर अकारण लाद लेते हैं।

इसलिए गायत्री के 'भुव:' शब्द का आदेश है कि हम कर्मयोगी बनें। बुद्धिमत्ता, दूर-दर्शिता और विवेक पूर्वक यह निर्णय करें कि हमें सत्परिणाम के लिए, जीवन विकास के लिए क्या करना है, जो करना हो उसमें तत्परता पूर्वक जुट जावें। जैसे विद्यार्थी वार्षिक परीक्षा के बाद ही उत्तीर्ण, घोषित किया जाता है पर वर्ष भर में प्रत्येक दिन वह इस उत्तीर्णता का एक एक अंग संग्रह करता रहा है और अन्त में जब वह संग्रह अभीष्ट मात्रा में इकट्ठा हो गया है तो वह उत्तीर्ण घोषित कर दिया गया। इसी प्रकार क्रिया शीलता का प्रत्येक अंश सफलता का एक भाग है। हर रोज जितना प्रयत्न किया जाता है अभीष्ट उद्देश्य की सफलता का उतना ही अंश प्रतिदिन प्राप्त होता चलता है। आज कल लोग अपना काम बड़े उदास मन से करते हैं, अपने कार्य क्रम को तुच्छता एवं तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं, बेगार की तरह उसे पूरा करते हैं और आलस्य एवं तुच्छ लाभ के लिए अपनी रचना को बड़ी कुरूप एवं निकृष्ट कोटि की बना देते हैं। यह कर्म भगवान का साक्षात् अपमान है। आज का मजदूर वेतन वृद्धि एवं श्रम का समय घटाने के लिए तो बड़ा संघर्ष करता है पर उसे इस बात का ध्यान नहीं है कि अपनी कृति को ऐसी उच्च कोटि की, मजबूत, चिरस्थायी एवं कला-पूर्ण बनावे कि उस कृति की तथा कर्ता की सर्वत्र प्रतिष्ठा हो। मजदूरों में ही क्यों, हर क्षेत्र में यह प्रकृति बड़े व्यापक रूप से फैली हुई है। लोग फल की, धन की जितनी चिन्ता करते हैं उससेआधी भी अपनी कृतियों को प्रतिष्ठित बनाने के लिए की जाय तो उसका सत्परिणाम हमारी व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय समृद्धि एवं प्रतिष्ठा पर बहुत भारी हो सकती है।

भाग्य और कर्म, तकदीर और तदबीर दोनों एक ही वस्तु हैं। जैसे कल का दूध आज दही बन जाता है वैसे ही भूतकाल के कर्म आज प्रारब्ध बन कर प्रकट होते हैं। हम अपने भाग्य निर्माता आप हैं। अपनी कर्म रेखा के लेखक, प्रारब्ध के रचयिता हम स्वयं हैं। भूतकाल में जो कर चुके हैं उसका परिणाम आज मौजूद है। यदि हम भविष्य को अच्छा सुख, शान्तिमय, आनन्द दायक बनाना चाहते हैं तो आज के कर्तव्य कर्म को मजबूती से अपनाना पड़ेगा, कर्म-योगी बनना पड़ेगा। यदि आज के कर्तव्य की उपेक्षा की जा रही है तो निश्चय है कि कल का प्रारब्ध हमें, अत्यंत त्रासदायक दुर्भाग्य के रूप में भोगना पड़ेगा।

कर्म से वैराग्य लेना भूल है। बुराइयों से, लिप्सा से, तृष्णा से, दुष्कर्मों से, कुविचारों से, आलस्य से वैराग्य लेना चाहिए। कर्तव्य कर्म से वैराग्य लेना तो वैराग्य शब्द की दुर्गति करना है। प्राचीन ऋषि मुनि निरंतर कर्तव्यरत रहते थे उन्होंने लोक हित में जीवन का सदुपयोग जिस उत्तमता से किया था वह आदर्श है। प्रत्येक कर्मयोगी को वैसा ही वैरागी होना चाहिये। घर में रह कर तपोवन का निर्माण करना, भोग के साधन होते हुए भी उनका परित्याग करना सच्चा वैराग्य कहा जा सकता है। अभाव में जो त्याग होता है उसके अपरीक्षित होने के कारण परीक्षा के समय पर विफल हो जाने का भय बना रहता है। भोग के रहते हुए त्यागी होना ही सच्ची तपस्या है।

कर्मयोगी अनुद्विग्न रहता है। वह जरा-जरा से हानि लाभों में मानसिक संतुलन को नष्ट नहीं होने देता। हर्ष शोक उसके लिए समान है, हानि लाभ में, सफलता असफलता में उसे मानसिक विक्षोभ नहीं होता, क्योंकि उसका केन्द्र बिन्दु कर्म है। यदि अपना कर्तव्य पालन किया जा रहा है तो असफलता में दुखी या सफलता में हर्षोन्मत्त होने का कोई कारण नहीं। फल देने वाली शक्ति दूसरी है, हम तो अपना कर्तव्य पूरा करें यह भावना स्थिति प्रज्ञ की है, अनासक्त योगी की है जो इस दृष्टिकोण से सोचता है वह सदा प्रसन्न ही रहता है। दुख या कष्ट में भी उसे अप्रसन्नता का कोई कारण दिखाई नहीं पड़ता।

गायत्री का 'भुवः' शब्द हमें कर्मयोगी बनाता है। इस आदेश को शिरोधार्य करने वाला कर्मबन्धन में नहीं फँसता, इसलिए जीवन मुक्ति सदा उसके करतल गत रहती है।

स्वः —

स्थिरता और स्वस्थता का संदेश

स्वरेषो वै शब्दो निगदति मनः स्थैय करणम्।
तथा सौख्यं स्वास्थ्यं ह्य पदिशति चित्तस्यचलतः।
निमग्नत्यं सत्यव्रत सरसि चा चक्षुत् उत।
त्रिधां शान्तिह्येभिर्भुवि च लभते संयम रतः॥ ४॥

अर्थ—'स्वः' यह शब्द मन की स्थिरता को निर्देश करता है। चंचल मन को स्वस्थिर और स्वस्थ रखो यह उपदेश देता है। सत्य में निमग्न रहो यह कहता है। इस उपाय से संयमी पुरुष तीनों प्रकार की शान्ति प्राप्त करते हैं।

जीवन में आये दिन दुरंगी घटनाऐं घटित होती रहती हैं। आज लाभ है तो कल नुकसान, आज बलिष्ठता है तो कल बीमारी, आज सफलता है तो कल असफलता। दिन रात का चक्र जैसे निरंतर घूमता रहता है वैसे ही सुख-दुख का, सम्पत्ति-विपत्ति का, उन्नति-अवनति का पहिया भी घूमता रहता है। यह हो नहीं सकता कि सदा एक सी स्थिति रही आवे। जो बना है वह बिगड़ेगा, जो बिगड़ा है वह बनेगा, श्वासों के आवागमन का नाम ही जीवन है। सांस चलना बन्द हो जाय तो जीवन भी समाप्त हो जायगा। सदा एक सी ही स्थिति बनी रहे परिवर्तन बन्द हो जाय तो संसार का खेल ही खतम हो जायगा। एक के लाभ में दूसरे की हानि है और एक ही हानि में दूसरे का लाभ। एक शरीर की मृत्यु ही दूसरे शरीर का जन्म है। यह मीठे और नमकीन हानि और लाभ के दोनों ही स्वाद भगवान ने मनुष्य के लिए इसलिए बनाये हैं कि वह दोनों के अन्तर और महत्व को समझ सके।

खिलाड़ी लोग जैसे गेंद, ताश, शतरंज, नाटक आदि खेलों को मनोरंजन के उद्देश्य से खेलते हैं और उसकी अनुकूल प्रतिकूल प्रतिक्रियाओं के कारण अपने आपको उत्तेजित, उद्विग्न, या अशान्त नहीं करते। वैसा ही दृष्टिकोण जीवन की विविध समस्याओं के सम्बन्ध में रखा जाना चाहिए। किन्तु हम देखते हैं कि लोग इन स्वाभाविक आवश्यक एवं साधारण से उतार चढ़ावों को देखकर असाधारण रूप से उत्तेजित हो जाते हैं और अपना मानसिक संतुलन खो बैठते हैं।

जरा सा लाभ होने में, सम्पत्ति मिलने, रूप सौन्दर्य यौवन की तरंगें आने, कोई अधिकार या पद प्राप्त हो जाने, पुत्र जनने, विवाह होने आदि अत्यन्त ही तुच्छ सुखद अवसर आने पर फूले नहीं समाते, खुशी से पागल हो जाते हैं, ऐसे-ऐसे उछलते कूदते हैं मानों इन्द्र का सिंहासन इन्हें ही प्राप्त हो गया हो। सफलता, बड़प्पन या अमीरी के अहंकार के मारे उनकी गरदन टेढ़ी हो जाती है, दूसरे लोग अपनी तुलना में उन्हें कीट पतंग जैसे मालूम पड़ते हैं और सीधे मुंह किसी से बात करने में उन्हें अपनी इज्जत घटती दिखाई देती है।

जरा ही हानि हो जाय, घाटा पड़ जाय, कोई कुटुम्बी मर जाय, नौकरी छूट जाय, बीमारी पकड़ ले, अधिकार छिने, अपमानित होना पड़े, किसी प्रयत्न में असफल रहना पड़े, अपनी मरजी न चले, दूसरों की तुलना में अपनी बात हेटी हो जाय तो उनके दुख का ठिकाना नहीं रहता। बुरी तरह रोते चिल्लाते हैं, चिन्ता के मारे सूख-सूख कर कांटा होते जाते हैं। दिन रात सिर धुनते रहते हैं, भाग्य को कोसते हैं। और भी, आत्म हत्या आदि जो कुछ बन पड़ता है करने से नहीं चूकते।

जीवन एक झूला है जिसमें आगे भी और पीछे भी झोंटे आते हैं। झूलने वाला पीछे जाते हुए भी प्रसन्न होता है और आगे आते हुए भी, यह अज्ञान ग्रस्त, माया मोहित, जीवन विद्या से अपरिचित लोग बात-बात में अपना मानसिक संतुलन खो बैठते हैं। कभी हर्ष में मदहोश होते हैं, तो कभी शोक में पागल बन जाते हैं। अनियंत्रित कल्पनाओं की मृग मरीचिका में उनका मन अत्यन्त दीन अभावग्रस्त दरिद्री की तरह व्याकुल रहता है। कोई उनकी रुचि के विरुद्ध बात करदे तो क्रोध का पारावार नहीं रहता। इन्द्रियां उन्हें हर वक्त तरसाती रहती हैं, भस्मक रोग वाले की जठर

ज्वाल के समान भोगों की लिप्सा बुझ नहीं पाती। नशे में चूर शराबी की तरह "और लाओ, और लाओ, और चाहिए और चाहिए" की रट लगाये रहते हैं। ऐसे लोगों के लिए कभी भी सुख शान्ति के एक कण का दर्शन होना भी दुर्लभ है। भले ही उनके पास लाख करोड़ की सम्पदा तथा वैभव के साधन भरे पूरे हों पर वे किसी न किसी अभाव के कारण दीन दरिद्र ही बने रहेंगे, उन्हें अपना दुर्भाग्य ही हर घड़ी परिलक्षित होता रहेगा। अपनी मनोवांछनाऐं पूरी होने पर जो सुखी होने की आशा करता है वह मूर्ख न तो सुख को, न सुख के स्वरूप को न सुख के उद्गम को जानता है और न ही वह उसे प्राप्त ही कर सकता है।

गायत्री के 'स्वः' शब्द में मानव प्राणी को शिक्षा दी गई है कि मन को अपने में अपने अन्दर स्थिर रखो। अपने भीतर दृढ़ रहो। घटनाओं और परिस्थितियों को जलतरंगें समझो, उनमें क्रीड़ा कल्लोल का आनन्द लो। अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही स्थितियों का रसास्वादन करो, किन्तु उनके कारण अपने को उद्विग्न, अस्थिर, असंतुलित मत होने दो, जैसे सर्दी, गर्मी की परस्पर विरोधी ऋतुओं को हम प्रसन्नता पूर्वक सहन करते हैं। उन ऋतुओं के दुष्प्रभावों से बचने के लिए वस्त्र, पंखा अँगीठी, शर्बत, चाय आदि की प्रतिरोधात्मक व्यवस्था कर लेते हैं, वैसे ही सुख दुख के अवसरों पर भी उनकी उत्तेजना का शमन करने योग्य विवेक तथा कार्यक्रम की हमें व्यवस्था कर लेनी चाहिए। कमल सदा पानी में रहता है पर उसके पत्ते जल से ऊपर ही रहते हैं, उसमें डूबते नहीं। इसी प्रकार साक्षी द्रष्टा निर्लिप्त, अनासक्त एवं कर्मयोगी की विचार धारा अपना कर हर परिस्थिति को, हर चढ़ाव उतार को देखें और उसमें मिर्च तथा मिठाई के कड़ुए मीठे रसों का हँसते-हँसते रसास्वादन करें।

गायत्री का 'स्वः' शब्द बताता है कि इन हर्ष शोक की बाल क्रीड़ाओं में न उलझे रहकर हमें आत्म परायण होना चाहिए। 'स्व' को पहचानना चाहिए। आत्म-चिन्तन, आत्म-विश्वास, आत्म-गौरव, आत्मनिष्ठा, आत्म-साधन, आत्म उन्नति, आत्म निर्माण यह वह कार्य हैं जिनमें हमारी इच्छा-शक्ति, कल्पना-शक्ति एवं क्रिया-शक्ति का उपयोग होना चाहिए। क्योंकि अन्दर का मूल केन्द्र उदगम स्रोत, आत्मा ही है। जिसने आत्मा के साथ रमण करना सीख लिया उसे स्वर्ग की अप्सराऐं भी चुड़ैलों जैसी तुच्छ एवं कुरूप दिखाई देने लगती हैं। क्योंकि आत्मा ही अनन्त यौवन और अनन्त सौन्दर्य है। अपनेपन की, आत्म भाव की, छाया पड़ते ही अपनी तुच्छ सी वस्तु, संतान, संपदा, देह, कितनी सुन्दर कितनी प्रिय मालूम पड़ने लगती है कि उसे छोड़ने को जी नहीं चाहता। जिसकी छाया पड़ने से जड़ वस्तुऐं इतनी मनोरम बन जाती हैं तो उस आत्म की समग्र प्राप्ति में कितना सुख होगा यह कल्पना से नहीं अनुभव से ही जाना जा सकता है। अनन्त वैभव का, ऐश्वर्य का, सुख शान्ति का रत्न भंडार अपने अन्दर है जिसने उस खजाने पर अपना अधिकार कर लिया उसके लिए चांदी तांबे के टुकड़ों में कोई आकर्षण नहीं रह जाता। आत्म प्राप्ति का लाभ इतना बड़ा है कि उसकी तुलना संसार के किसी आनन्द से नहीं हो सकती। आत्मानन्द, ब्रह्मानन्द, परमानन्द का सुख गूँगे के गुड़ की तरह है संसार की कोई भी उपमा देकर उसकी मिठास को बताया नहीं जा सकता।

आत्म स्थित मनुष्य का अन्तस्तल स्वस्थ होने से वह सदा प्रसन्न रहता है। उसके चेहरे पर प्रसन्नता नाचती रहती है। चेहरा सदा मुसकराता हुआ, हँसता हुआ, खिलता हुआ दिखाई देता है। उसकी वाणी से मधु टपकता है और बोलने में फूल झड़ते हैं। स्नेह, आत्मीयता, नम्रता, सौजन्य एवं हित कामना का संमिश्रण होते रहने से उसकी वाणी बड़ी ही सरल एवं हृदय ग्राही हो जाती है।

स्वस्थ-आत्मा में स्थित-व्यक्ति बालकों की तरह सरल छल, रहित ममता, आत्मीयता, दया एवं सहानुभूतियुक्त होती है। वह किसी से नहीं कुढ़ता, न किसी का बुरा चाहता है। ईश्वर पर विश्वास होने से वह भविष्य के बारे में आशावादी और निर्भय रहता है। फलस्वरूप अप्रसन्नता उसके पास नहीं फटकती और आनन्द एवं उल्लास से उसका अन्तःकरण भरा रहता है। यह आनन्द मयी स्थिति उसकी मुखाकृति एवं वाणी से हर घड़ी छलकती रहती है। गायत्री का 'स्वः' शब्द हमें ऐसी ही स्वस्थता की ओर ले जाता है।

तत्—

मृत्यु से मत डरिये।

ततो वैनिष्पत्तिः स भुविमतिमान् पण्डितवरः।
विजानन् गुह्यं जीवन मरणयोयस्तुनिखिलम्॥
अनन्ते संसारे विचरति भयासक्ति रहितः।
तथा निर्माणं वै निजगति विधीनां प्रकुरुते॥

गायत्री गीता के उपरोक्त श्लोक में गायत्री मन्त्र के प्रथम पद 'तत्' की विवेचना करते हुए बताया है कि—'इस संसार में वही बुद्धिमान है जो जीवन और मरण के रहस्य

को जानता है। भय एवं आसक्ति रहित होकर जीता है और उसी आधार पर अपनी गति विधियों का निर्माण करता है।'

देखा जाता है कि लोग जीवन से बहुत अधिक प्यार करते हैं और मृत्यु से बहुत डरते हैं। फांसी घर की कोठरियों में रहने वाले कैदियों और असाध्य रोगों से निराश रोगियों से मिलते रहने के हमें अनेक अवसर प्राप्त होते हैं। उनके अन्तस्तल की दशा को, वेदना को समझ सकने के कारण हम यह जानते हैं कि लोग मृत्यु से कितना डरते हैं। कभी खतरे की संभावना सामने आवे सिंह, व्याघ्र, सर्प, चोर, डाकू, भूत अन्धकार आदि का भय सामने आने पर प्राण संकट अनुभव करके लोग थर-थर कांपने लगते हैं, होश हवाश उड़ जाते हैं, मृत्यु चाहे प्रत्यक्ष रूप से सामने न हो पर उसकी कल्पना मात्र से इतना भय मालूम होता है, जो मृत्यु के वास्तविक कष्ट से किसी प्रकार कम नहीं होता।

प्राणों का भय सामने उपस्थित होने पर अधिकांश लोग अपने कर्तव्य, उत्तरदायित्व, धर्म, आचार, आत्म-गौरव आदि की तिलांजलि देने में नहीं झिझकते। हम ऐसे धर्म प्राण बनने वाले व्यक्तियों को जानते हैं जिन्होंने डाक्टर द्वारा रोग को प्राण घातक बता देने पर शरीर जाने के भय से मांस, अंडे, मछली का तेल, मद्य आदि का सेवन किया। हम ने ऐसी घटना देखी है कि घर में अग्नि लगने पर अन्य साथियों की रक्षा की बात सोचे बिना केवल अपनी प्राण रक्षा के लिए समर्थ लोग भाग निकले और असहाय निर्बल, बालवृद्ध उसमें जल गये। पिछले भारत विभाजन के समय धर्मोन्माद से उन्मत्त लोगों द्वारा जो पैशाचिकताऐं बरती गईं उनका सबको पता है, उन घटनाओं के जो लोग समीप रहे हैं उन्हें मालूम है कि अत्याचारियों के चंगुल में फँसने पर कितनों ने ही अपने आत्म गौरव धर्म कर्तव्य, उत्तरदायित्व आदि को छोड़कर बड़े से बड़ा अत्याचार अपनी आंख से देखते हुए भी प्राण भिक्षा के लिए गिड़गिड़ाते हुए आत्मार्पण किया। प्राण संकट के समय लोग धर्म, कर्तव्य आदि की बात तो दूर रही अपने स्त्री बच्चों तक को दुर्दशा युक्त मृत्यु पाते देखते रहते हैं और अपने प्राण ले भागते हैं।

मृत्यु का भय साधारण भय नहीं है। अविकसित, क्षुद्र हृदय व्यक्ति तो उससे भयभीत रहते ही हैं पर वे लोग जो अपने को सिद्धान्तवादी, वीर, कर्तव्य परायण और धर्म प्रेमी समझते हैं परीक्षा का समय आने पर विचलित हो जाते हैं। जब एक ओर आदर्श दूसरी ओर प्राण संकट की तुलना हो रही हो तो विरले ही मनुष्य ऐसे निकलते हैं जो खरे उतरें। महात्मा ईसामसीह ईश्वर से प्रार्थना किया करते थे कि "हे प्रभु हमें बुराइयों से बचा, पर परीक्षा में न डाल" क्योंकि वे जानते थे कि मनुष्य बड़ा डरपोक है। उसे शरीर से इतना अधिक मोह है कि प्राण त्याग तो दूर, थोड़ा सा शारीरिक कष्ट, आर्थिक क्षति या इच्छा पूर्ति में प्रतिरोध दिखाई पड़ता हो तो भी वह विचलित हो जाता है।

जीवन का निर्माण इस प्रकार हुआ है कि निरन्तर खतरे उपस्थित होते रहते हैं। निर्माण और विनाश दोनों ही एक दूसरे से प्रगाढ़ रूप से संबद्ध हैं। बीज गले बिना वृक्ष नहीं होता और फल टूटे बिना बीज नहीं बनता। नया जीवन धारण तब होता है जब किसी की मृत्यु होती है, और मृत्यु तब होती है जब कोई जीवन नष्ट होता है। एक को धन तब मिलता है जब किसी के हाथ से वह धन निकलता है। जब समुद्र सूखता है तब बादल बनते हैं और जब बादल गलते हैं तो समुद्र भरता है। एक की हानि ही दूसरे का लाभ है। इस प्रकार के ज्वार भाटे ही जीवन सौन्दर्य के प्रतीक हैं रात्रि और दिन की भांति, सुख-दुख का, हानि लाभ का भी जोड़ा है। जैसे सुख, शान्ति-लाभ, भोग, ऐश्वर्य प्राप्ति के अवसर आते रहते हैं वैसे ही कर्म भोगों के अनुसार एवं परिस्थितियों के अनुसार रोग हानि, संकट, क्लेश और मृत्यु के अवसर आना भी स्वाभाविक है। किन्तु देखा जाता है कि लोग सुखकर अवसरों का तो प्रसन्नता पूर्वक उपभोग कर लेते हैं पर जब दुख का अवसर आता है तो बेतरह रोते, चिल्लाते, डरते, कांपते, भयभीत होते रहते हैं।

विनाशात्मक परिस्थितियां हर एक के जीवन में रहती हैं क्योंकि वे आवश्यक, स्वाभाविक, सृष्टिक्रम के अनुकूल एवं अनिवार्य हैं। परन्तु लोग उनसे बुरी तरह डरते हैं। विपत्ति आने पर तो डरते ही हैं पर अनेक बार विपत्ति की आशंका, संभावना, कल्पना मात्र से भयभीत होते रहते हैं। इस प्रकार जीवन का अधिकांश भाग घबराहट और दुख में व्यतीत होता है। यहां यह आश्चर्य होता है कि विनाश जब जीवन का एक स्वाभाविक एवं अनिवार्य अंग है तो लोग उससे इस प्रकार डरते क्यों हैं कि धनी निर्धन, सम्पन्न और विपन्न सभी का जीवन असंतोष, अतृप्ति खिन्नता, चिन्ता निराशा आदि से भरा रहता है। पूर्ण सुखी मनुष्य ढूँढ़ निकालना आज असंभव नहीं तो कष्ट साध्य अवश्य है।

विघटनात्मक, विनाशात्मक स्थितियों से डरने घबराने का कारण मनुष्य की एक आध्यात्मिक भूल है। वह भूल

यह है कि —वह शरीर को ही 'मैं' मान बैठता है, अपने आपको शरीर समझने के फलस्वरूप आत्मलाभ, आत्मानन्द, आत्मरक्षा, आत्म परायणता, आत्म प्रतिष्ठा जैसी वृत्तियां दूसरे ही रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। उनका स्वरूप शरीर लाभ, शारीरिक आनन्द, शरीर रक्षा, शरीर परायणता, शरीर प्रतिष्ठा बन जाता है। चूंकि आत्मलाभ अन्तः करण का ईश्वर प्रदत्त गुण है, जिस ओर जीव की स्वाभाविक रुचि होती है, इसी में उसे आनन्द आता है और इसमें विक्षेप पड़ने से दुख होता है। संत, महात्मा, ब्रह्मवेत्ता, ऋषि, मुनि सज्जन लोकसेवक, सत्पुरुष इसी मार्ग पर चलते हैं और जीवन के प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करते हुए सदा आनन्द निमग्न रहते हैं। परन्तु जब आत्म लाभ की परिभाषा शरीर लाभ हो जाती है, जब आत्म रक्षा का तात्पर्य शरीर रक्षा समझा जाता है तो वही अज्ञान संभव परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसमें आज जन साधारण ग्रस्त हो रहा है।

स्वार्थ, मनुष्य की सर्वप्रिय वस्तु है। अपनापन सबको प्यारा है। संसार का जो भी पदार्थ प्रिय लगता है वह अपने पन की भावना के कारण ही प्रिय लगता है। शत्रु की सुन्दर सुन्दर चीजें भी आंखों में कांटे की तरह चुभती हैं जब शरीर को 'स्व' मान लिया गया तो उसके नष्ट होने का भय आत्मनाश के समान लगना ही चाहिए, जब शरीर ही 'स्व' है तो शारीरिक इन्द्रियों के भोग विलासों को आत्मानन्द समझा ही जाना चाहिए। शरीर की सुन्दरता आकर्षण मोहकता, वैसी ही प्रिय मालूम होनी चाहिए जैसी कि आत्म प्रतिष्ठा प्रिय होती है। आत्मानन्द के लिए बड़ी से बड़ी वस्तु का त्याग करना, बड़े से बड़ा कष्ट सहना आत्म परायण पुरुषों के लिए साधारण बात है। वैसे ही शरीर परायण लोगों के लिए सांसारिक सुख के लिए धर्म, कर्तव्य आदि का छोड़ देना और हत्या, डकैती आदि खतरे से भरे हुए दुस्साहसी कार्य कर डालना साधारण बात होती है। यदि कोई आदमी शरीर को ही 'मैं' मानता है उसमें ही 'स्व' अनुभव करता है तो उसके लिए यह उचित ही है कि शरीर को सुखी करने वाली वस्तुओं और परिस्थितियों में सुखी रहे, उनके लिए प्रयत्न करेऔर इस मार्ग में जो बाधा उपस्थित हों उसमें दुखी एवं भयभीत हो। इस स्थिति में मृत्यु और हानि का भय यदि बुरी तरह संत्रस्त बनाये रहे तो उसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं है।

परमात्मा को सत् चित आनन्द सच्चिदानन्द कहते हैं। उसका अंश आत्मा-स्वभावतः आनन्द मय है। उस में आनन्द की कोई कमी नहीं यह संसार परमात्मा की पुण्य कृति है। आनन्द रूप परमात्मा के हाथ से बना हुआ संसार आनन्द रहित नहीं हो सकता। जीवन का अर्थ है—"जीव और प्रकृति के सम्मिलन की, आलिंगन की पुण्य बेला"। इन क्षणों में आनन्द मय आत्मा और आनन्द कृति संसार के उभय पक्षीय आनन्दों का मिलन होने से अपार आनन्द उमड़ पड़ना चाहिए। स्त्री और पुरुष के समागम का आनन्द बड़ा आकर्षक है। आत्मा और प्रकृति के समन्वय का नाम ही जीवन है। जीवन इतना आनन्द मय, इतना आकर्षक, इतना उल्लास मय, इतना सरस है कि उसका आस्वादन करने के लिए ही तो जीव संसार में बार-बार आता है, बार-बार जन्म लेता है। यदि ऐसी बात न होती, यदि वस्तुतः जीवन का मूल रूप दुख, भय, चिन्ता क्लेशमय होता तो निश्चय ही परमात्मा का अमर युवराज, आत्मा, उसे ग्रहण करने को कदापि तैयार न होता।

आनन्द का रसास्वादन करने के लिए प्राप्त हुआ जीवन आज कितने कम लोगों के लिए आनन्द मय रह गया है, यह आश्चर्य की बात है। इसी प्रकार यह बात हैरत में डालने वाली है कि कितने अधिक लोग अपनी जिन्दगी के दिन असंतोष भय, निराशा और उदासीनता के साथ व्यतीत करते रहते हैं। यह भूल भुलैयां, यह माया बन्धन, आत्मा के लिए कितना उलझन भरा है, कितना मर्म भेदी है, इस तथ्य को समझ कर हमारा शास्त्र हमें इस खतरे से आगाह कर देता है। गायत्री मन्त्र के प्रथम पद में 'तत्' शब्द में इसी अन्धकार मय विभीषका पर प्रकाश डाला है। इसी पर्दे को उठाकर सचाई के दर्शन कराये गये हैं। गायत्री गीता के अनुसार 'तत्' शब्द हमें बताता है कि जीवन और मरण के रहस्य को समझो भय और आसक्ति रहित होकर जियो और वास्तविकता के सुदृढ़ आधार पर अपनी गति विधियों का निर्माण करो।

मरने से डरना क्या ?

मृत्यु से डरने की कोई बात नहीं। जैसे नया वस्त्र पहनने में, नई जगह जाने में, स्वभावतः एक प्रसन्नता होती है। वैसी ही प्रसन्नता मृत्यु के संबन्ध में भी होनी चाहिए। आत्मा एक यात्री के समान है। उसे विविध स्थानों, व्यक्तियों, परिस्थितियों के साथ संबन्ध स्थापित करते हुए वैसी ही प्रसन्नता होनी चाहिए जैसी कि सैर सपाटा करने के लिए निकले हुए सैलानी लोगों को होती है।

मरने से डरने का कारण हमारा अज्ञान है। परमात्मा के इस सुन्दर उपवन में एक से एक मनोरम वस्तुऐं हैं। यह यात्रियों के मनोरंजन की सुव्यवस्था है, पर वह यात्री

जो इन दर्शनीय वस्तुओं को अपनी मान बैठता है उन पर स्वामित्व प्रकट करता है उन्हें छोड़ना नहीं चाहता, अपनी मूर्खता के कारण दुख का ही अधिकारी होगा। इस संसार का हर पदार्थ, हर परमाणु तेजी के साथ बदल रहा है। इस गति शीलता का नाम ही जीवन है। यदि वस्तुओं का उत्पादन, विकास और विनाश का क्रम टूट जाय तो यह संसार एक निर्जीव जड़ पदार्थ बनकर रह जायगा। यदि इसे आगे चलते रहना है, तो निश्चय ही उत्पादन, परिवर्तन, और नाश का क्रम अनिवार्यत: जारी रहेगा। शरीर चाहे हमारा अपना हो अपने प्रियजन का हो, उदासीन का हो या शत्रु का हो, निश्चय ही परिवर्तन और मृत्यु को प्राप्त होगा। जब, जिस समय हम चाहें तभी वे शरीर नष्ट हो ऐसा नहीं हो सकता। प्रकृति के परिवर्तन कर्म बन्धन, ईश्वरी इच्छा ये प्रधान हैं, इनके आगे हमारी इच्छा चल नहीं सकती। जिसे जब मरना है वह तब मर ही जायगा, हम उसे रोक नहीं सकते। इस जीवन मृत्यु के अटल नियम को न जानने के कारण ही मृत्यु जैसी अत्यन्त साधारण घटना के लिए हम रोते चिल्लाते, छाती कूटते, भयभीत होते और दुख मनाते हैं।

जिसे जीवन का वास्तविक स्वरूप मालूम हो गया है उसे न अपनी मृत्यु में कोई दुख की बात प्रतीत होती है और न दूसरों की मृत्यु का कष्ट होता है। किसी विशाल नगर के प्रमुख चौराहे पर खड़ा हुआ व्यक्ति देखता है कि प्रति क्षण असंख्यों व्यक्ति अपने-अपने कार्यक्रम के अनुसार इधर से उधर आते जाते हैं। वह स्वयं भी कहीं से आया है और कहीं जा रहा है केवल कुछ क्षण के लिए चौराहे का कौतूहल देख रहा है। इस अपने या दूसरों के आवागमन पर यदि वह व्यक्ति दुख माने, रुदन या विलाप करे तो उसे अविवेकी ही कहा जायगा। संसार के विशाल चौराहे पर भी ऐसे ही आवागमन की भीड़ लग रही है। एक की मृत्यु ही दूसरे का जन्म है, एक का जन्म दूसरे की मृत्यु है। एक का सुख दूसरेका दुख है और दूसरे का दुख एक का हर्ष। यह आंख मिचौनी, यह भूल भुलैया, विवेक वानों के लिए चित्ताकर्षक, विनोदमयी क्रीड़ा है, पर बाल बुद्धि के व्यक्ति इसमें उलझ जाते हैं और इस कौतूहल को कोई महान आपत्ति मानकर सिर धुनते, रोते चिल्लाते और पश्चात्ताप करते हैं।

मृत्यु के दुख में शरीरों का नष्ट होना कारण नहीं वरन् जीवन के वास्तविक स्वरूप की जानकारी न होना ही कारण है। ऐसे कितने ही बलिदानी वीर हुए हैं जो फांसी की कोठरी में रहते हुए दिन-दिन अधिक मोटे होते गये वजन बढ़ता गया और फांसी के फंदे को अपने हाथों गले से लगाया तथा खुशी के गीत गाते हुए मृत्युके तख्ते पर झूल गये। कवि 'गंग' को जब मृत्यु दंड दिया गया और जिस समय उन्हें पैरों तले कुचल डालने को खूनी हाथी छोड़ा गया तो वे प्रसन्नता से फूल उठे उन्होंने कल्पना की कि देवताओं की सभा में कोई छंद बनाने वाले की आवश्यकता हुई है इसलिए मुझ कवि गंग को लेने के लिए हाथी रूपी गणेश आये हैं। कितने ही महात्मा समाधि लेकर अपना शरीर त्याग देते हैं। उन्हें मरने में कोई अनोखी बात दिखाई नहीं पड़ती।

कई व्यक्ति सोचते हैं कि मरते समय भारी कष्ट होता है, इसलिए उस कष्ट की पीड़ा से डरते हैं। यह भी मृत्यु समय की वस्तु स्थिति से जानकारी न होने के कारण है। आमतौर से लोग मृत्यु से कुछ समय पूर्व बीमार रहते हैं। बीमारी में जीवनी शक्ति घटती है और इन्द्रियों की चेतना शिथिल होकर ज्ञान तंतु संज्ञा शून्य होते जाते हैं फल स्वरूप दुख की अनुभूति भी पूरी तरह नहीं हो पाती। प्रसूता स्त्रियां या लंधन के रोगी गर्मी की ऋतु में रात को भी अक्सर बंद घरों में सोते हैं पर उन्हें गर्मी का वैसा कष्ट नहीं होता जैसा कि स्वस्थ मनुष्य को होता है। स्वस्थ मनुष्य रात को बन्द कमरे में नहीं सो सकता पर रोगी सो जाता है। कारण यह है कि रोगी के ज्ञान तंतु शिथिल हो जाने के कारण गर्मी अनुभव करने की शक्ति मंद पड़ जाती है, रोगियों को स्वाद का भी ठीक-ठीक अनुभव नहीं होता, स्वादिष्ट चीजें भी कडुई लगती हैं क्योंकि जिह्वा के ज्ञान तंतु निर्बल पड़ जाते हैं। रोग जन्य निर्बलता धीरे-धीरे इतनी बढ़ जाती है कि मृत्यु से कुछ समय पूर्व मनुष्य संज्ञा शून्य हो जाता है और बिना किसी कष्ट के उसके प्राण निकल जाते हैं। जो कुछ कष्ट मिलना होता है रोग काल में ही मिल लेता है। डाक्टर लोग जब कोई बड़ा आपरेशन करते हैं तो रोगी को क्लोरोफार्म सुंघाकर बेहोश कर देते हैं ताकि उसे कष्ट न हो। दयालु परमात्मा भी आत्मा से शरीर को अलग करने का आपरेशन करते समय संज्ञा शून्यता का क्लोरोफार्म सुंघा देता है ताकि हमें मृत्यु का कष्ट न हो।

यह सभी जानते हैं कि कोई रोगी जब मरने को होता है तो मृत्यु से कुछ समय पूर्व उसकी बीमारी कम हो जाती है। कष्ट घट जाता है। तब अनुभवी चिकित्सक समझ जाते हैं कि अब रोगी का अन्त समय आ गया। कारण यह है कि बीमारी के कारण रोगी की जीवनी शक्ति चुक जाती है और ज्ञान तन्तु रोग को प्रगट करने एवं कष्ट अनुभव करने

में असमर्थ हो जाते हैं । यह मान्यता भ्रम पूर्ण है कि गर्भ काल में, माता के उदर में और मृत्यु के समय प्राणी को अधिक कष्ट होता है । दोनों ही दशाओं में मस्तिष्क अचेतन अवस्था में, और ज्ञानतन्तु संज्ञाशून्य अवस्था में रहने के कारण प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता । ऐसी दशा में मृत्यु के कष्ट से डरने का कोई कारण नहीं रह जाता।

अनावश्यक मोह ममता ही मृत्यु भय का प्रधान कारण है । हम कर्तव्य से प्रेम करने की अपेक्षा वस्तुओं से मोह करने लगते हैं । हमारा प्रेम, कर्तव्य भावना में संलग्न न रहकर शरीर, सम्पत्ति आदि में लग जाता है । प्रिय वस्तु के हाथ से जाने में कष्ट होता ही है इसलिए मरने का भी दुख होता है । यदि आरम्भ से ही यह मानकर चला जाय कि हमारे अधिकार या सम्बन्ध में जो भी पदार्थ हैं वे प्रकृति के परिवर्तन धर्म के कारण किसी भी समय बदल, बिगड़ या नष्ट हो सकते हैं तो उनसे अनावश्यक मोह ममता जोड़ने की भूल न हो । तब मनुष्य यह सोचेगा कि संसार में सबसे अधिक प्रिय, सबसे अधिक आत्मीय, सबसे अधिक लाभदायक अपना "कर्तव्य" है। उसी से पूरा-पूरा प्रेम किया जाय । प्रेम को जितना अधिक बढ़ाया जा सके, बढ़ाया जाय इस प्रेम से जहां रत्ती भर भी बिछोह हो वहां दुख माना जाय, तो यह प्रेम अनन्त सुखशान्ति को देने वाला और कभी नष्ट न होने वाला बन जायगा । जो कर्तव्य पालन को अपना लाभ समझेगा उसे हानि का दुख न उठाना पड़ेगा। कारण यह है कि अपना प्रेमी "कर्तव्य" सदा अपने साथ है, उसे कोई भी शक्ति, हमारी इच्छा के विपरीत हम से नहीं छीन सकती । इसी प्रकार जब हमारे लाभ का केन्द्र बिन्दु हमारा "कर्तव्य" है, तो उसमें घाटा पहुँचाने वाला हमारे अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता। हमारा प्रेम और लाभ जब पूर्णतया हमारे हाथ में है तब बिछोह या हानि जन्य दुखों के सामने आने का कोई कारण नहीं रह जाता। दूसरों की मृत्यु—प्रेमियों और पदार्थों की मृत्यु-का दुख हमसे तभी दूर रह सकता है जब हम मिथ्या मोह ममता को छोड़ कर कर्तव्य से प्रेम करना और उसी को अपनी सम्पति समझने का विवेक हृदयंगम कर लें ।

अपनी मृत्यु में दुख भी इसी बात का होता है कि जीवन जैसे बहुमूल्य पदार्थ का सदुपयोग नहीं किया गया । आलस्य वश देर में स्टेशन पहुँचने पर जब रेल निकल जाती है और उस दिन नियत स्थान पर न पहुँच सकने के कारण जो भारी क्षति हुई उसका विचार कर करके वह आलसी मनुष्य स्टेशन पर खड़ा हुआ पछताता है और अपने आपको कोसता है । मृत्यु के समय भी ऐसा ही पश्चात्ताप होता है जबकि मनुष्य देखता है कि मानव जीवन जैसी बहुमूल्य सम्पत्ति को मैंने व्यर्थ की बातों में गंवा दिया, उसका सदुपयोग नहीं किया उससे जितना लाभ उठाना चाहिए था वह नहीं उठाया । यदि हम जीवन के क्षणों का सदुपयोग करें उसकी हर एक घड़ी को केवल आत्म लाभ के, सच्चे स्वार्थ के लिए लगावें तो चाहे आज चाहे कल जब भी मृत्यु सामने आवेगी किसी प्रकार का पश्चात्ताप या दुख न करना पड़ेगा ।

गायत्री का आरंभिक पद 'तत्' हमें यही शिक्षा देता है कि मृत्यु से डरो मत, उससे डरने की कोई बात नहीं। डरने की बात है हमारा गलत दृष्टिकोण गलत कार्यक्रम। यदि हम अपने कर्तव्य पर प्रतिक्षण सजगता पूर्वक आरूढ़ रहें तो न हमारी, न किसी दूसरे की, मृत्यु हमारे लिए कष्ट कारक होगी ।

सवितुः —

शक्तिशाली एवं तेजस्वी बनिये

सवितुसु पदं वितनोतिध्रुवं, मनुजोबलवान् सवितेतिभवेत्। विषया अनुभूतिपरिस्थितय, श्च सदात्मन एवगणेदति सः ॥

अर्थ—गायत्री का 'सविता' पद यह बतलाता है कि मनुष्य को सूर्य के समान बलवान होना चाहिये और "सभी विषयों की अनुभूतियां तथा परिस्थितियां अपने अन्दर हैं", ऐसा मानना चाहिए ।

परिस्थितियों का जन्मदाता मनुष्य स्वयं है । हर मनुष्य अपने भाग्य का निर्माण स्वयं करता है । कर्म रेख, भाग्य, तकदीर, ईश्वर की इच्छा, ग्रहदशा, दैवी आपत्ति, आकस्मिक लाभ आदि की विलक्षणता देखकर कई आदमी भ्रमित हो जाते हैं, वे सोचते हैं कि ईश्वर की जो मर्जी होगी, कर्म में जो लिखा होगा वह होगा । हमारे प्रयत्न या पुरुषार्थ से प्रारब्ध को बदला नहीं जा सकता, इसलिए कर्तव्य पालन का श्रम करने की अपेक्षा चुप बैठे रहना या देवी देवताओं की मनौती मनाना ठीक है। ऐसे आदमी यह भूल जाते हैं कि भाग्य, प्रारब्ध, ईश्वरेच्छा आदि की अदृश्य शक्तियां खुशामद या पक्षपात पर आधारित नहीं है कि जिस पर प्रसन्न हो जायँ उसे चाहे जो दे दें और जिस पर नाराज हो जाय उससे बदला लेने के लिए उस पर आपत्तियों का पहाड़ पटक दें ।

हर व्यक्ति अपने गज से दूसरों को नापता है। हम स्वयं पक्षपाती, खुशामद पसंद, रिश्वती, पूजाकांक्षी, बदले की

भावना से भरे हुए होते हैं इसलिए सोचते हैं कि अदृश्य शक्तियों को भी ऐसा ही होना चाहिए। पर यह अनुमान सत्य नहीं है। सत्य यह है कि ईश्वर पूर्ण तया निष्पक्ष है वह हर प्राणी को समान दृष्टि से देखता है। जिसका जैसा प्रयत्न और पुरुषार्थ है पाप पुण्य है उसी के अनुसार उसे सुख दुख देने की न्याय मूर्ति न्यायाधीश की भांति व्यवस्था कर देता है। प्रारब्ध की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है हमारा कल का पुरुषार्थ आज प्रारब्ध बन जाता है, रात को जमाया हुआ दूध सबेरे दही बन जाता है। दूध और दही के नाम रूप में फर्क है यद्यपि दोनों ही वस्तुऐं वस्तुतः एक हैं। पुरुषार्थ और प्रारब्ध यद्यपि दो अलग-अलग वस्तुऐं प्रतीत होती हैं पर वस्तुत: वे एक हैं। हरा खट्टा आम जब पाल में लगा दिया जाता है तो कुछ दिन बाद वह पीला पका, मीठा आम बन जाता है। समय के परिपाक से यह परिवर्तन हो गया फिर भी वह आम एक ही है। पुरुषार्थ और प्रयत्न का भेद भी ऐसा ही अवास्तविक है। इसी जन्म के, या पिछले जन्म के कुछ कर्म अपने परिपाक का समय लेकर जब अनायास प्रकट होते हैं तब उन्हें प्रारब्ध कह दिया जाता है। यह प्रारब्ध किसी दूसरे की कृपा या रोष का परिणाम नहीं, अपितु निश्चित रूप से हमारे अपने भूतकाल के कर्मों का फल है इस प्रकार हम स्वयं ही अपने भाग्य के निर्माता ठहरते हैं भले ही यह निर्माण हमने निकट भूतकाल में किया हो या सुदूर भूतकाल में।

संसार दर्पण के समान है। जैसे कुछ हम स्वयं हैं वैसा ही हमारा संसार है। कहते हैं कि हर आदमी की दुनिया अलग है, ठीक भी है जैसा वह स्वयं है वैसी उसकी दुनिया होगी। जो मनुष्य क्रोधी है उसका सबसे झगड़ा होगा फलस्वरूप उसे सारी दुनियां झगड़ालू मालूम पड़ेगी। बेईमान, चोर, ठग और दुष्ट प्रकृति के मनुष्य दूसरों को अपने ही जैसा समझते हैं और दूसरों पर तरह तरह के आक्षेप लगाया करते हैं। आलसी, दरिद्री, ओछी प्रकृति के लोग अपने आसपास के लोगों पर तरह-तरह के दोषारोपण करते हैं कि वे उन्हें उठने नहीं देते, बढ़ने नहीं देते, रोकते हैं, सताते हैं। सच बात यह है कि संसार का व्यवहार कुएँ की आवाज की तरह है। पक्के कुएँ में मुंह करके जैसी आवाज हम करते हैं ठीक वैसेही शब्दों की प्रतिध्वनि वापिस लौट आती है। जो प्रशंसा योग्य है उसे प्रशंसा प्राप्त होती है, जो सहायता का अधिकारी है उसे सहायता मिलती है, जो आदर का पात्र है उसे आदर मिलता है, और जो निन्दा, घृणा तिरस्कार, अपमान और दंड का पात्र है उसे यह वस्तुऐं जहां भी जायगा वहीं पहले से ही तैयार रखी हुई मिलेंगी।

संसार में बुरे तत्व बहुत हैं, पर अच्छे तत्व उनसे भी अधिक हैं। ऐसा न होता तो कोई आत्मा यहां रहने को तैयार न होती। जो गुणवान हैं, शक्तिवान हैं, विचारवान हैं, सहृदय और उदार हैं उन्हें निश्चित रूप से अपना भाग्य उत्तम मिलेगा। मनस्वी इमर्सन कहा करतेथे कि मुझे नरक में रखा जाय तो मैं वहां भी अपने सद्गुणों के कारण स्वर्ग बना लूंगा। जो बुरे आदमी हैं वे स्वर्ग में रहकर भी नरक की यातना भोगेंगे। कितने ही अमीर चिन्ताओं की ज्वालाओं में जलते रहते हैं और कितने ही गरीब स्वर्गीय सुख में दिन काटते हैं। अमेरिका का धनकुबेर हेनरी फोर्ड धन की लिप्सा में अपनी पाचन शक्ति गंवा बैठा था। वह जब अपने सुविस्तृत कारखानों के मजदूरों को मोटी रोटी खाते देखता था तो वह कहता था कि इन मजदूरों के भाग्य पर मुझे ईर्षा होती है। वह हाथ मलता था कि हे ईश्वर! काश मैं हेनरी न होकर बलवान पाचन शक्ति वाला मजदूर होता तो कितना सुखी होता।

फोर्ड के उदाहरण से यह भली प्रकार समझ में आ जाता है कि अमीरी ही मनुष्य को सुखी नहीं बना सकती। सुखी बनने की क्षमता 'शक्ति' में है। शक्ति ही वास्तविक सम्पत्ति है। इस सम्पत्ति के बदले में हम जो भी वस्तु चाहें प्राप्त कर सकते हैं। जिसकी पाचन शक्ति ठीक है उसे नमक की रोटी में कचौड़ी का आनन्द आवेगा। जिसका पेट दुर्बल है उसे बहुमूल्य स्वादिष्ट पदार्थ भी कड़ुए लगेंगे और हानिकारक सिद्ध होंगे। पुंसत्व शिथिल हो जाने पर इन्द्र की अप्सरा भी कुरूप लगती है और बल वीर्य से परिपुष्ट होने पर कुरूप दम्पत्ति भी सरस जीवन का रसास्वादन करते हैं। सौन्दर्य को देखकर वही आनन्द अनुभव कर सकता है जिसके नेत्र सक्षम हैं। मधुर ध्वनियां वही सुन सकेगा, जिसके कान सक्रिय हैं। आंख और कान की शक्ति नष्ट हो जाय तो समझिये कि सारा संसार अन्धकार और स्तब्धता मय ही हो गया।

(१) शरीर बल, (२) बुद्धि बल (३) विद्याबल, (४) धन बल (५) संगठन बल, (६) चरित्र बल, (७) आत्म बल-यह सात बल जीवन को प्रकाशित, प्रतिष्ठित, सम्पन्न और सुस्थिर बनाने के लिए आवश्यक हैं। सविता-सूर्य के रथ में सप्त अश्व जुते हुए हैं। सविता की सात रंग की किरणें होती हैं जो इन्द्र धनुष में तथा बिल्लौरी कांच में देखी जा सकती हैं। गायत्री का सविता पद हमें आदेश

करता है कि हम भी सूर्य के समान तेजस्वी बनें और अपने जीवन रथ को चलाने के लिए उपरोक्त सातों बलों को घोड़े के समान जुता हुआ रखें। जीवन रथ इतना भारी है कि एक दो घोड़े से ही उसे नहीं चलाया जा सकता यदि जीवन की गति विधि ठीक रखनी है तो उसे खींचने के लिए सात अश्व, सात बल, जोतने पड़ेंगे।

(१) स्वस्थ शरीर (२) अनुभव, विवेक दूरदर्शिता पूर्ण व्यवहार बुद्धि (३) विशाल अध्ययन, श्रवण, मनन और सत्संग द्वारा सुविकसित किया हुआ मस्तिष्क (४) जीवनोपयोगी साधन सामग्रियों का समुचित मात्रा में संचय (५) सच्चे मित्रों, बान्धवों एवं सहयोगियों की अधिकता (६) ईमानदारी मधुरता, परिश्रम शीलता, आत्म सम्मान की रक्षा, सद्व्यवहार, उदारता जैसे गुणों से परिपूर्ण उत्तम चरित्र (७) ईश्वर और धर्म में सुदृढ़ आस्था, आत्म ज्ञान, कर्मयोगी दृष्टिकोण, निर्भय मनोभूमि सतोगुणी विचार व्यवहार, परमार्थ परायणता, यह सात प्रकार के बल प्रत्येक मनुष्य के लिए अतीव आवश्यक हैं। इन सबका साथ-साथ संतुलित विकास होना चाहिए। स्वादिष्ट भोजन वह है जिसमें नमक, मसाला, घी, मीठा, आटा, बेसन, मावा आदि संतुलित मात्रा में हों। यदि इनमें से कोई बहुत ज्यादा और कोई बहुत कम होंगी तो भोजन चाहे कितने ही श्रम से क्यों न बनाया गया हो वह असंतुलित होने के कारण अखाद्य बन जायगा। शरीर का कोई अंग बहुत मोटा और कोई बहुत पतला रह जाय तो ऐसा असंतुलित शरीर रोगी ही समझा जायगा। इसी प्रकार यह सातों बल उचित मात्रा में संचय करने चाहिए।

जो धनी तो बहुत है पर दुर्बल हो रहा है, जो स्वस्थ तो काफी है पर मूर्ख है, जो विद्वान तो बहुत बड़ा है पर चरित्र भ्रष्ट है, जो चतुर तो बहुत है पर नास्तिक दुष्ट और अधर्मी है, जो उच्च पद पर तो है पर कोई सच्चा मित्र नहीं, ऐसे लोग अधूरे हैं। एकांगी उन्नति चाहे वह कितनी ही बड़ी क्यों न हो किसी को सच्चे अर्थों में सुखी नहीं बना सकती। जो लोग केवल धन कमाने के पीछे पड़े हैं और शरीर, विद्या, मैत्र, चरित्र आदि बलों की उन्नति नहीं कर रहे हैं वे यह भूल करते हैं। केवल अकेले धन का ही होना ऐसा है जैसे दसों इन्द्रियों में केवल एक इन्द्री का सजीव तथा अन्य सबका निर्जीव होना। सप्ताह में एक दिन बढ़िया भोजन मिले और छै दिन भूखा रहना पड़े तो वह कोई आनन्द की बात न होगी। चाहे रूखा सूखा भोजन मिले पर सातों दिन मिले तभी काम चल सकता है। इसी प्रकार सातों बलों का संतुलित विकास होना ही जीवन को सुख शान्ति मय बना सकता है।

गायत्री का 'सवितुः' पद हमें उपदेश करता है कि सूर्य के समान तेजस्वी बनो, सप्त अश्वों को, सप्त बलों को अपने जीवन रथ में जुता रखो। सूर्य केन्द्र है और अन्य समस्त ग्रह उसकी परिक्रमा करते हैं, वैसे ही तुम भी अपने को कर्ता केन्द्र और निर्माता मानो। परिस्थितियां, वस्तुएं घटनाऐं तो हमारी परिक्रमा मात्र करती हैं। जैसे परिक्रमा करने वाले ग्रह, सूर्य को प्रभावित नहीं करते, वैसे ही कोई परिस्थिति हमें प्रभावित नहीं करती। अपने भाग्य के, अपनी परिस्थितियों के निर्माता हम स्वयं हैं। अपनी क्षमता के आधार पर अपनी हर एक इच्छा और आवश्यकता को पूरा करने में हम पूर्ण समर्थ हैं। गायत्री माता हम बालकों को गोदी में लेकर उंगली के संकेत से सविता को दिखाती हैं, और समझाती हैं कि मेरे बालको, सविता बनो, सविता का अनुकरण करो।

वरेण्यं —

अच्छाई को ही ग्रहण कीजिए

वरेण्यश्चैतद्वै प्रकट यति श्रेष्ठन्वमनिशम्,
सदा पश्येच्छ्रेष्ठं मनन मपि श्रेष्ठस्य विदधेत्॥
तथा लोके श्रेष्ठं सरलमनसा कर्म च भजेत्,
तदेत्थं श्रेष्ठत्वं व्रजति मनुजः शोभित गुणै॥

अर्थ—'वरेण्यं' शब्द प्रगट करता है कि प्रत्येक मनुष्य को नित्य श्रेष्ठता की ओर बढ़ना चाहिए, श्रेष्ठ देखना, श्रेष्ठ चिन्तन करना, श्रेष्ठ विचारना और श्रेष्ठ कार्य करना, इस प्रकार मनुष्य श्रेष्ठता को प्राप्त होता है।

दुनिया को दुरंगी कहा जाता है। इसमें भले और बुरे दोनों ही तत्व हैं। पाप पुण्य का, सुख दुख का, उन्नति अवनति का, प्रकाश अन्धकार का युग्म सर्वत्र उपस्थित रहता है। इन युग्मों में से केवल वही पक्ष ग्रहण करना चाहिए जो हमारे लिए हितकर है। एक ओर नीचता, विलासता, शैतानी, दुराचार स्वार्थपरता, का निकृष्ट मार्ग है दूसरी ओर आत्म गौरव सदाचार महानता परमार्थ का श्रेष्ठ मार्ग है। गायत्री मंत्र का वरेण्यं शब्द बताता है कि इन दो मार्गों में से श्रेष्ठता का मार्ग ही कल्याण कारक है।

कितने ही व्यक्ति अशुभ चिन्तक होते हैं। उनकी विचार धारा बहुधा अनिष्ट की दिशा में प्रवाहित होती रहती है। दूसरे उन्हें सताते हैं, बुराई करते हैं, शत्रुता रखते हैं, हानि पहुँचाते हैं, स्वार्थ के कारण ही सम्बन्ध रखते हैं, ऐसी मान्यता बनाकर वे दूसरों की शिकायत ही किया करते हैं।

भाग्य उलटा है, ईश्वर का कोप है, ग्रह दशा खराब है ऐसा सोचकर वे अपने भविष्य को निराशा, चिन्ता, भय से ओत प्रोत देखा करते हैं। भोजन को स्वाद रहित, घर वालों को अवज्ञाकारी, कर्मचारियों को चोर, मित्रों को मूर्ख, परिचितों को दुर्गुणी समझ कर ये सदा निन्दा, आक्षेप, व्यंग झुंझलाहट प्रकट करते रहते हैं। ऐसे लोग चाहे कितनी ही अच्छी स्थिति में क्यों न रहें उन्हें सदा दुर्भाग्य एवं असंतोष ही सामने खड़ा दिखाई देगा उनके चित्त को क्षुभित करने के कोई न कोई कारण उपस्थित होते ही रहेंगे और उन्हें दुर्भाग्य पूर्ण, दुखी जीवन जीना पड़ेगा। कोई सुअवसर उन्हें सुखी नहीं बना सकता। स्वर्ग भेज दिया जाय तो वहां भी कुछ न कुछ छिद्रान्वेषण करते रहेंगे, किसी न किसी बात पर नाक भों सिकोड़ते रहेंगे।

इस स्थिति का कारण उस व्यक्ति का अशुभ चिन्तन ही है। हरा ऐनक आंख पर चढ़ा लेने से हर चीज हरी दिखलाई पड़ती है, अशुभ दृष्टिकोण को, अनिष्ट चिन्तन को, अपना लेना एक ऐसी ही रंगीन ऐनक चढ़ा लेना है जिसके कारण सारे संबद्ध पदार्थ और मनुष्य बुरे, अनुपयुक्त और कष्टदायक दीखने लगते हैं। इस मानसिक कष्ट से छुटकारा उन्हें मिल नहीं सकता क्योंकि जिन पदार्थों परिस्थितियों और मनुष्यों से उन्हें काम पड़ता है उन्हें बदल दिया जाय, उनके स्थान पर नवीनता उपस्थित कर दी जाय तो भी संतोष नहीं हो सकता, कारण कि संसार का कोई भी पदार्थ, स्थिति अथवा मनुष्य ऐसा नहीं है जो पूर्णतया निर्दोष हो, नाक भों सिकोड़ने के लिए उसको भी कुछ न कुछ कारण निकल ही आवेगा।

हमारे अनेकों मानसिक कष्ट इसी प्रकार अशुभ चिन्तन के परिणाम होते हैं। बहुत ही साधारण सी कठिनाइयां पहाड़ सी दुर्गम दिखाई पड़ती हैं। भविष्य में किसी कष्ट के आने और उसके असह्य होने की कल्पना करके कितने ही मनुष्य आत्म हत्या तक कर लेते हैं। जो लोग जेल को बड़ी भारी यंत्रणा समझ कर उसके डर से थर-थर कांपते थे वे जब जेल गये तो उन्होंने देखा कि वहां भी साधारण दैनिक जीवन जैसी ही गतिविधि रहती है और बड़ी आसानी से समय गुजर जाता है। आरम्भ में अनाथों, विधवाओं, आपत्तिग्रस्तों को ऐसा लगता है कि न जाने हमारे ऊपर अब क्या बीतेगी पर ईश्वर की ऐसी लीला है कि सभी को अपनी जीवन यात्रा चलाने का कोई न कोई मार्ग मिल जाता है और यों ही हँसते खेलते वे बुरे दिनों को निकाल देते हैं। अपनी अशुभ चिन्तन वृत्ति के कारण मनुष्य जितना दुखी रहता है उसका सौवां भाग भी वास्तविक कष्ट उसे प्राप्त नहीं होता।

इसलिए गायत्री के वरेण्यं शब्द का संदेश है कि अशुभ चिन्तन को छोड़ कर 'शुभ चिन्तन' को अपनाया जाय। हर वस्तु की, हर परिस्थिति की, हर व्यक्ति की श्रेष्ठता, उत्तमता उपयोगिता, अच्छाई को तलाश किया जाय। यदि शुभ दृष्टि से संसार के विविध अंगों पर दृष्टिपात किया जाय तो उनमें से सुन्दरता, मनोहरता, उपयोगिता का निर्झर झरता हुआ दृष्टिगोचर होगा और आनन्द से चित्त प्रफुल्लित हो जायेगा। कवि लोग नदी, तालाब, पर्वत आकाश, चांद तारे, घास ओस, पुष्प, लता, वृक्ष, संध्या, ऊषा, बादल, बिजली आदि प्रकृति की साधारण सी कृतियों को देख कर आनन्द विभोर हो जाते हैं और उनका वर्णन करते हुए रस की धारा प्रवाहित कर देते हैं। अशुभ दृष्टि से इन्हीं चीजों को देखा जाय तो यह निर्जीव-उपेक्षणीय और डरावनी प्रतीत होंगी। वह तत्व 'शुभ दृष्टि' ही है जो इन साधारण वस्तुओं से हृदय की कली को खिला देता है।

अपने स्वजनों में हमें स्वार्थ और दुर्व्यवहार की बड़ी मात्रा दिखाई पड़ती है पर अब तक के उनके उपकारों और सहयोगों का भी विचार करें तो वह भी इतनी बड़ी मात्रा में मिलेगा कि उनके प्रति मस्तक श्रद्धा से नत हुए बिना नहीं रह सकता। आज अपने संमुख अनेक अनेक अभाव और कष्ट दिखाई पड़ते हैं। परन्तु यदि यह तलाश किया जाय कि कितने सुख और साधन हमें प्राप्त हैं असंख्यों की अपेक्षा हम कितनी अच्छी स्थिति में हैं, तो यह पता चलेगा कि वर्तमान स्थिति भी कम आनन्द दायक, कम महत्वपूर्ण, कम सुविधाजनक नहीं है। यदि शुभ चिन्तन की दृष्टि से अपनी सुविधाओं पर विस्तारपूर्वक विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि भगवान ने अपरिमित सुख साधन हमें दे रखे हैं। अन्धे, लूले, लंगड़े, कोढ़ी, अनाथ, असहाय, दरिद्र, अशिक्षित, रोगी, अछूत, वृद्ध, कैदी, ऋणग्रस्त, पराधीन, आदि कितने ही प्रकार के व्यक्तियों की अपेक्षा हम कहीं साधन सम्पन्न हैं। हमारी स्थिति में पहुँचने के लिए भी हजारों लाखों प्राणी आतुर हैं, पशु पक्षियों, कीट पतंगों को हमारी स्थिति मिल जाय तो वे अपना कितना बड़ा सौभाग्य समझेंगे इसकी यदि ठीक प्रकार कल्पना करें तो पता चलेग कि अपना वर्तमान सौभाग्य कितना उच्च कोटि का है और प्रसन्न होने के कितने अधिक अवसर अपने को उपलब्ध हैं!

गायत्री की 'वरेण्यं' शब्द द्वारा हमारे लिये यह शिक्षा है कि हम अनिष्ट को छोड़ कर श्रेष्ठ का चिंतन करें। अशुभ चिंतन को त्यागकर शुभ चिन्तन को अपनाऐं जिससे मानसिक कुढ़न और असंतोष से छुटकारा मिले और सर्वत्र हर परिस्थिति में, आनन्द ही आनन्द उपलब्ध हो। इसका अर्थ यह नहीं है कि अधिक अच्छी परिस्थिति प्राप्त करने का प्रयत्न ही न किया जाय। वैसा प्रयत्न तो अवश्य जारी रखना चाहिए क्योंकि आत्मोन्नति करना, आगे बढ़ना, शक्ति संचय करना, यह तो मनुष्य का कर्तव्य धर्म है जो उसे नहीं करता वह धर्म घात का अपराधी बनता है। उन्नति के लिए हंसी खुशी संतोष उत्साह एवं कठोर परिश्रम के साथ प्रयत्न करना एक बात है और अपनी स्थिति से असंतुष्ट दुखी, निराश रह कर सौभाग्य के लिए तरसते रहना दूसरी बात। निश्चित रूप से इनमें से पहली बात ही श्रेयस्कर है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि दुनिया दुरंगी है। उसमें अच्छाइयों की भांति बुराइयां भी कम नहीं है। बुराइयों को दूर करने और अच्छाइयां को बढ़ाने के हमारे सभी बुद्धिमत्तापूर्ण प्रयत्न जारी रहने चाहिए। साम, दाम, दंड भेद के नरम गरम तरीकों को बरतते हुए पदार्थों के परिस्थितियों के, मनुष्यों के, दोषों को दूर करने और उन्हें अच्छा बनाने के लिये शक्तिभर प्रयत्न करना चाहिए पर इन प्रयत्नों में एक ही बात ध्यान रखने की है ईर्षा, घृणा, प्रतिशोध प्रति-हिंसा अहंकार आदि की नीच भावनाओं के साथ इस प्रकार का संशोधन कार्य नहीं होना चाहिए। वरन् अध्यापक का विद्यार्थियों के प्रति, डाक्टर का रोगियों के प्रति, न्यायाधीश का अपराधियों के प्रति जिस प्रकार अपार प्रेम पूर्ण किन्तु कठोर व्यवहार होता है उसी श्रेष्ठ भावना के साथ हम भी अपनी निकटवर्ती बुराइयों का संशोधन और अच्छाइयों की स्थापना करें। कार्य भले ही कठोर हो, पर भावनाऐं उसमें कठोरता की नहीं श्रेष्ठता की ही होनी चाहिए।

प्रत्येक क्षेत्र में अच्छाई और बुराई मिली हुई है। कोई क्षेत्र ऐसा नहीं जो पूर्णतया ग्राह्य या पूर्णतया त्याज्य हो। साहित्य में अच्छी पुस्तकें भी हैं और कुविचारों को भड़काने वाली घासलेटी किताबें भी। गायन, नृत्य, वाद्य में अन्तरात्मा को ऊंचा उठाने की शक्ति भी है और गिराने की भी। संगति से कुसंग भी होता है और सत्संग भी। इन दोनों पक्षों में से हमें केवल श्रेष्ठ को ही ग्रहण करना चाहिये। सब वस्तुओं का श्रेष्ठ भाग ग्रहण और नेष्ठ भाग त्याज्य करना चाहिए। पानी और दूध मिला हुआ हो तो हंस उसमें दूध को पीता है और पानी को छोड़ देता है यही कार्य पद्धति हमारी भी होनी चाहिए।

हम हमारी अच्छाइयां बढ़ावें। सदगुणों को सबसे बड़ी सम्पत्ति समझें। धन और सद्गुणों की तुलना में वरेण्यं को श्रेष्ठ समझें। दूसरों का बड़प्पन उनके धन से नहीं, वरन् गुणों के आधार पर नापें। हमारा पूरा और पक्का विश्वास होना चाहिए कि सुख का वास्तविक हेतु 'वरेण्यं' है, 'हिरेण्यं' नहीं। श्रेष्ठता है- वर्ण नहीं।

हमारी आकांक्षाऐं, विचार धाराऐं अभिलाषाऐं, चेष्टाऐं, क्रियाऐं, अनुभूतियां, श्रेष्ठ होनी चाहिए। हम जो कुछ सोचें जो कुछ करें वह आत्मा के गौरव के अनुरूप हो। दुरंगी दुनिया में केवल 'वरेण्यं' ही वरण करने योग्य है, श्रेष्ठ ही ग्रहण करने योग्य है। स्मरण रखो गायत्री के वरेण्यं शब्द की शिक्षा है- अशुभ का त्याग और शुभ का ग्रहण इस शिक्षा को हृदयंगम किये बिना कोई मनुष्य सुख शान्ति का जीवन व्यतीत नहीं कर सकता।

श्रेष्ठता देवी सम्पत्ति है। जिसमें सद्गुण हैं, सद्विचार हैं, सद्भाव हैं वस्तुतः वही सच्चा सम्पत्तिवान् है। जिसके आचरण सत्यता, लोक हित, समाज सेवा और धर्मानुकूल हैं वस्तुतः वही बड़ा आदमी है। आज संसार में मनुष्य का मूल्य उसकी धन दौलत से नापा जाता है जिसके पास जितने पैसे अधिक हैं वह उतना ही बड़ा माना जाता है परन्तु यह कसौटी बिल्कुल गलत है। गायत्री हमें सही दृष्टिकोण प्रदान करती है और बताती है कि किसी मनुष्य की आन्तरिक महानता ही उसकी श्रेष्ठता का कारण होती है, हम महान बनें, श्रेष्ठ बनें सम्पत्तिवान बनें पर उसकी आधार शिला भौतिक वस्तुओं पर नहीं, आत्मिक स्थिति पर निर्भर होनी चाहिए। अपनी अन्तः भूमि को उच्च बनाकर मनुष्यता के महान गौरव को प्राप्त करना हमारा लक्ष्य हो, यही गायत्री के 'वरेण्यं' शब्द की शिक्षा है।

भर्गो —

निष्पाप बनने की प्रेरणा

भर्गो वेति पदं च व्याहरति वे, लोकाः सुलोको भवेत्।
पापै पाप विनाशने त्वभिरता, दत्तावधानो वसेत्॥
दृष्ट्वा दुष्क्रति दुर्विपाक निचयं, तेभ्योजुगुप्सेद्धि च।
तन्नाशाय विधीवतां च सततं, संघर्ष मेभिः मह॥

अर्थ—"भर्गः" यह पद बताता है कि मनुष्यों को निष्पाप बनना चाहिए। पापों से सावधान रहना चाहिए। पापों के दुष्परिणामों को देखकर उनसे घृणा करे और निरन्तर उनको नष्ट करने के लिए संघर्ष करता रहे।

गायत्री का चौथा पद "भर्गो" मनुष्य जाति के लिए एक बड़ी ही महत्वपूर्ण शिक्षा देता है। वह शिक्षा है निष्पाप होना। पाप का अर्थ है बुराई। बुराई-माने वे कर्म जो करने योग्य नहीं हैं। इस दृष्टि से वे सभी शारीरिक मानसिक क्रियाएँ पाप की श्रेणी में आ जाती हैं, जिनसे मनुष्य के व्यक्तिगत या सामूहिक जीवन में दुष्परिणाम उत्पन्न होते हैं।

जिन कामों को करने से शरीर का अनिष्ट होता है, वे शारीरिक पाप हैं। स्नान का न करना, गन्दे वस्त्र पहने रहना, अधिक खाना, बासी, बुसा, जल्दी-जल्दी निगल लेना, हानिकारक चटोरी चीजों पर मन चलाते रहना, रात को जागना, अधिक वीर्यपात, अनियमित, स्वास्थ्य विरोधी दिनचर्या आदि को शारीरिक पाप माना जायगा। ईर्ष्या, डाह, द्वेष, कुढ़न, सन्ताप, चुगलपना, तृष्णा, चिन्ता, क्रोध, शोक, निराशा उद्वेग, चंचलता, कायरता आदि मानसिक पाप हैं। चोरी, आलस्य, उत्तरदायित्व से विमुख होना, व्यभिचार, शोषण, झूंठ, छल, विश्वासघात, उद्दण्डता, निष्ठुरता, स्वार्थपरता, देशद्रोह आदि सामाजिक पाप हैं। अनुदारता, संकीर्णता, सर्वत्र बुराई ही बुराई देखना, निराशा, आत्म-हनन, आत्म-हीनता, भयभीत रहना, अन्ध परम्परा आदि आत्मिक पाप हैं। कारण स्पष्ट है। इन पापों का अवलम्बन करने से अपनी शक्ति क्षीण होती है, विरोधी बढ़ते हैं। अशान्ति में वृद्धि होती है, समाज में गड़बड़ी पड़ती है, फलस्वरूप इसके मार्ग पर चलने वाला निर्बल, दरिद्र और घृणास्पद, निन्दनीय बन जाता है। दूसरों के अविश्वास, असहयोग एवं विरोध के कारण उसे क्षति उठानी पड़ती है। प्राकृतिक एवं ईश्वरीय नियमों के आधार पर उसे आकस्मिक विपत्तियों का कष्ट भोगना पड़ता है।

पाप का फल दुःख होता है, इस बात को साधारणतः सभी लोग जानते हैं, फिर भी बहुत कम लोग ऐसे हैं, जो पापों से बचने का प्रयत्न करते हैं। दुखों से लोग डरते हैं, पर दुखों के कारण पाप को नहीं छोड़ते। यह ऐसा ही है, जैसे कोई अग्नि तो हाथ पर रखे पर झुलसने से बचना चाहे। देखा जाता है कि अधिकांश मनुष्य ऐसी ही बाल-क्रीड़ा में व्यस्त रहते हैं।

महर्षि व्यास ने लोगों की इस मूर्खता पर आश्चर्य प्रकट किया है कि वे दुःख को न चाहते हुए भी पाप करते हैं और पाप के अतिरिक्त भी दुःख का कोई अन्य कारण हो सकता है, पर यह निश्चित है कि पाप की प्रतिक्रिया दुःख के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकती। बुरे कर्म का फल बुरा ही होगा, भले ही वह आज हो या कल। इतना होते हुए भी लोग पाप करने से बाज नहीं आते, इसका कारण वह भूल है जिसे शास्त्रीय भाषा में माया, भ्रान्ति, अविद्या, असूया आदि नामों से पुकारा जाता है।

भगवान ने एक ऐसा आँख मिचौनी का, भूलभुलैयों का खेल रचा दिया है, जिसमें कितने ही व्यक्ति बुरी तरह भ्रमित हो जाते हैं वह खेल है- कर्म का फल तुरन्त न मिलना। यदि चोर का हाथ सूज जाता, झूठ बोलने वाले की जीभ में दर्द होने लगता, व्यभिचारियों की इन्द्रिय नष्ट हो जाती, कुदृष्टि डालने वालों की आँखें फिर जातीं, आलसियों को लकुवा मार जाता, बेईमानों का धन कोयला बन जाता, कुमार्गगामी लँगड़े हो जाते, अभक्ष खाने वालों के पेट में फोड़ा निकल आता और यह सब परिणाम तत्क्षण उपस्थित हो जाते तो कोई भी इन बुराइयों को करने के लिए तैयार न होता। तब सभी लोग पूर्ण धर्मावलम्बी होते, परन्तु लीलाधर की लीला तो देखिए! उन्होंने कर्म और फल दोनों को अटूट रज्जुओं में बाँधकर भी इतना दूर-दूर रखा है कि स्थूल बुद्धि का आदमी उन दोनोंकी घनिष्ठता को देख नहीं पाता। सोचता है कि आज कर्म का फल नहीं मिला तो सम्भव है कभी न मिलता हो। दूसरी बात यह कि पाप कर्मों में तत्कालिक आकर्षण और लाभ होता है, जिनका लोभ संवरण करना बाल-बुद्धि के लिए कठिन होता है, इसके विपरीत पीछे आनन्द देने वाले सत्कर्म आरम्भ में कष्टसाध्य प्रतीत होते हैं। इन दो पक्षों में से किसे चुनें, किसे न चुनें, यह निर्णय करना साधारण बुद्धि का काम नहीं है। अक्सर चिकनाई पर पैर फिसल जाता है। तत्कालिक आकर्षण के लोभ में दूरवर्ती स्थायी सुख की उपेक्षा कर दी जाती है और क्षणिक लाभ के उपरान्त दीर्घकाल तक व्यथित करने वाली पीड़ा को अपना लिया जाता है। मन्द बुद्धि पशु-पक्षी जरा से चारे देने के लोभ में बधिक के जाल में पड़कर जिस प्रकार दुःख पाते हैं, लोभ ग्रस्त मनुष्य पाप के फन्दे में उसी प्रकार गला फँसा बैठते हैं और पीछे असहनीय यातनाऐं भोगते रहते हैं।

भगवान ने यह खेल मनुष्य की बुद्धि परीक्षा के लिए रचा मालूम देता है। आँख-मिचौनी के खेल में बालकों को काफी सूक्ष्म बुद्धि से काम लेना पड़ता है। भूलभुलैयों में से बाहर निकलने के लिए भी काफी बारीकी से सोचना

पड़ता है। मनुष्य को इच्छित कर्म करने की, पाप और पुण्य में से चाहे जिसे चुनने की स्वतन्त्रता देकर प्रभु ने उसे चौराहे पर खड़ा कर दिया है, जहाँ उसकी कठिन परीक्षा होती है, होनी भी चाहिए। स्वतन्त्रता के साथ विवेक और उत्तरदायित्व भी आवश्यक है, अविवेकी और गैर जिम्मेदार लोग स्वतन्त्रता को बन्धन में बदल लेते हैं। इस परीक्षा में पास हो जाना, भ्रान्त के चक्कर से बच जाना, प्रलोभन में पड़कर दूरदर्शिता से काम लेना यही तो बुद्धि चातुरी का प्रमाण है। जो व्यक्ति अपनी चातुरी का ऐसा प्रमाण देते हैं वे स्वर्गीय सुख का, आत्मानन्द का, पूर्ण स्वतन्त्रता का, जीवन-मुक्ति का आनन्द लाभ करते हैं। जो भूलते हैं, वे दुःख दारिद्र की चपत और दुतकार सहते हैं।

इस भूल से बचने के लिए ही गायत्री का चौथा पद "भर्गः" है। भर्गः—अर्थात् निष्पाप। यह शब्द हमें सचेत करता है कि यदि आपत्तियों से बचना है तो पाप रूपी सर्प से सावधान रहना चाहिए। कई लोग सोचते हैं कि धर्म का, पुण्य का आचरण बड़ा कठिन है। यह मान्यता ठीक नहीं। सदा ही सत्य सरल और असत्य कठिन होता है। झूठ बोलने में, बेईमानी में, ठगने में, चोरी करने में, व्यभिचार में चालाकी, चतुराई, होशियारी, पेशबन्दी, तैयारी आदि की बड़ी आवश्यकता पड़ती है। थोड़ी सी भी चूक हो जाने पर भेद खुल सकता है और निन्दा तथा दंड का भागी होना पड़ता है। इसके विपरीत सच बोलने में, पूरा तोलने में, ईमानदारी बर्तने में, सदाचारी रहने में, किसी खटखट की जरूरत नहीं, मूर्ख से मूर्ख आदमी भी इन बातों में किसी प्रकार की कठिनाई अनुभव नहीं करता। उचित और आवश्यक चीजें सर्वत्र सुलभ हैं और अनुचित तथा अनावश्यक चीजें दुर्लभ हैं। हवा, पानी, अन्न, वस्त्र आदि आवश्यक चीजें सर्वत्र सुलभ हैं, विष आदि अनावश्यक चीजें दुष्प्राप्य हैं। गाय, भैंस, बकरी, घोड़े आदि उपयोगी पशु आसानी से मिल जायेंगे। सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक पशु कहीं-कहीं कठिनाई से देख पड़ते हैं। इसी प्रकार लाभदायक पुण्य कर्म सर्वथा सुलभ हैं, इसके विपरीत हानिकारक दुखदायी पाप कर्मों की व्यवस्था बड़ी चालाकी और कठिनाई से बन पड़ती है। जो धर्म-पालन की, पुण्य संचय की इच्छा रखते हैं, उनके लिए यह सब बहुत ही सुलभ हैं।

फिर भी संचित संस्कारों, पुरानी आदतों, वातावरण के दुष्प्रभावों के कारण यदि बुराइयाँ छूटती नहीं सन्मार्ग पर चलते-चलते हर बार पैर फिसल जाता हो, तो भी निराश होने की बात नहीं। बुराई के प्रति घृणा और विरोध का भाव जागृत रखना चाहिए। अपनी भूल और बुराई का बार-बार निरीक्षण करते रहना और उसके लिए पश्चात्ताप एवं छोड़ने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। यह प्रयत्न जारी रहे तो निरन्तर बुराई घटती जायगी चाहे वह कितनी ही मन्द गति से कम क्यों न हो रही हो, एक दिन उसका पूर्ण अन्त अवश्य हो जायगा। इसके विपरीत यदि विरोध का अन्त कर दिया गया, उसे नीति मान लिया गया और उसके करने में आन्तरिक लज्जा, भय, पश्चाताप तथा दुःख का भाव छोड़ दिया गया, तो वह बुराई जड़ जमा लेगी और फिर उसका छूटना कठिन हो जायगा। इसी प्रकार अन्य लोगों को समाज की, राज की, बुराइयों को भी सहन कर लेना या उनसे समझौता कर लेना उचित नहीं। यदि तत्क्षण उन पापों का मिटा डालना अपनी सामर्थ्य में न हो तो भी उनके प्रति असंतोष, असहयोग, विरोध और संघर्ष तो न्यूनाधिक मात्रा में जारी रखना ही चाहिए और अवसर आने पर इस विरोध में कष्ट सहन करने के लिए भी तैयारी करते रहना चाहिए। इस प्रकार यह मन्द प्रयत्न भी निष्पाप बनने की महा यात्रा में बड़ा सहायक सिद्ध होता है।

विद्यार्थी से बार-बार गलती होती है, पहले छोटे दर्जे में था तब भी गलती होती थी, अब ऊँचे दर्जे में है तो भी गलती होती है। यह देखकर भी कोई विद्यार्थी निराश नहीं होता, वरन् उत्साह पूर्वक अपनी पढ़ाई जारी रखता है और अनुभव करता है कि मैं आगे बढ़ रहा हूँ, निम्न श्रेणी का चोर मनुष्य समझता है कि मैं पाप करता हूँ। ऊँची आध्यात्मिक स्थिति का महात्मा भी आत्म-निरीक्षण में अपने अन्दर अनेकों त्रुटि पाता है। जितनी ही आत्म-ज्योति बढ़ती जायगी उतनी ही स्पष्टता से छोटे-छोटे दोष भी बड़े दिखाई देने लगेंगे। इससे किसी को घबराने, हिम्मत हारने या निराश होने की जरूरत नहीं है। इतना प्रयत्न करने पर भी हम पूर्ण निष्पाप नहीं हो पाये सदा असफल ही रहेंगे। ऐसी हिम्मत हारना उचित नहीं। कक्षा ४ के विद्यार्थी की परीक्षा में भी आधे उत्तर गलत निकलते हैं और एम० ए० का छात्र भी आधे उत्तर सही कर पाता है। तो क्या दोनों ही समान असफल, समान अशिक्षित कहे जायेंगे।

गायत्री का 'भर्गः' पद हमें निष्पाप बनने की शिक्षा और स्फूर्ति देता है। इस प्रेरणा से बल लेकर यदि पवित्रता की दशा में हमारा प्रयत्न जारी रहे तो संसार के समस्त कष्टों एवं भव बन्धनों से छूट कर हम जीवन-मुक्ति का स्वर्गीय आनन्द प्राप्त कर सकते हैं।

देवस्य—

देवत्व का अवलम्बन कीजिए

देवस्येति तुव्याकरोत्य मरतां, मर्त्योऽपि संप्राप्यते ।
देवानामिवि शुद्ध दृष्टि, करणात् सेवोपचाराद्भुनः॥
निःस्वार्थ परमार्थ कर्म करणात् दीनाय दानात्तथः ।
वाह्याभ्यन्तरमस्यदेवभुवनं संयृज्यते चैवहि ॥

अर्थ—"देवस्य" यह पद बतलाता है कि मरणधर्मा मनुष्य भी अमरता अर्थात् देवत्व को प्राप्त हो सकता है । देवताओं के समान शुद्ध दृष्टि रखने से, प्राणियों की सेवा करने से, परमार्थ सुकर्म करने से- मनुष्य के भीतर और बाहर देवलोक की सृष्टि होती है ।

"देव" उसे कहते हैं जो दे ।"लेव" उसे कहते हैं जो ले । सुर और असुर में, देव और दानव में अन्तर केवल इतना ही है कि देव की मनोवृत्ति अपने लिए कम लेने की और दूसरों को अधिक देने की रहती है, इसके विपरीत दानव अपने लिए अधिक चाहते हैं और दूसरों को देने में बड़ी अनुदारता बर्तते हैं । इन दोनों में से चाहे जिस गति को चाहे जो मनुष्य स्वेच्छा पूर्वक प्राप्त कर सकता है । वह चाहे देव बन सकता है चाहे तो असुर पदवी प्राप्त कर सकता है।

देवताओं को अमर कहते हैं । अमर वह जो कभी मरे नहीं । अपने को अविनाशी आत्मा मान लेने से, आत्म साक्षात्कार कर लेने से, वह शरीर की मृत्यु को मृत्यु अनुभव नहीं करता । उसे सदा यही अनुभव होता है कि मैं अमर हूँ । मेरा वास्तविक स्वरूप अविनाशी, अवछिन्न, अक्लेद्य, अशोष्य है । इसके अतिरिक्त देव मनोवृत्ति के मनुष्य के कर्म भी देवी आदर्श, धर्मयुक्त होते हैं । ऐसे विचार और कर्मों वाले महापुरुषों का यश-शरीर "यावत् चन्द्र दिवाकरौ" बना रहता है । शिव, दधीच, हरिश्चन्द्र, मोरध्वज, प्रहलाद, बुद्ध, गाँधी आदि का यश शरीर अमर है, उनकी मृत्यु कभी नहीं हो सकती, इसीलिए उनकी अमरता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। ऐसे अमर पुरुष सदा देव श्रेणी में ही गिने जायेंगे ।

संसार की वस्तुओं को, समस्याओं को, परिस्थितियों को, लाभ-हानि को, परखने की समझने की दो दृष्टियाँ, दो कसौटी होती हैं । एक को शुद्ध दूसरी को अशुद्ध कहते हैं । शुद्ध दृष्टि से देखने वाला मनुष्य हर काम को आत्म-लाभ या आत्म दृष्टि से तराजू पर तोलता है । वह देखता है कि इस कार्य को करने में अत्यन्त कल्याण है या नहीं, जिस कार्य में स्थायी सुख होता है उसे ही वह ग्रहण करता है भले ही उसे स्वल्प तात्कालिक लाभ एवं कर्म भौतिक सुख में सन्तोष करना पड़े । इसके विपरीत अशुद्ध दृष्टिकोण वाला मनुष्य अधिक धन, अधिक सुख, अधिक भोग उपार्जन में लगा रहता है। इन वस्तुओं को अधिक संख्या अधिक मात्रा में प्राप्त करने के लिए वह इतना विमुग्ध होता है कि धर्म-अधर्म तक की परवाह करना छोड़ देता है । आज के लिए, वह कल के दुःख को नहीं देखता । अशुद्ध दृष्टिकोण रखने वाले मनुष्य के विचार और कर्म अति स्वार्थपूर्ण, अनर्थपूर्ण होते हैं, इसलिए उसे निन्दनीय, दण्डनीय असुर माना जाता है । देव वृत्ति का मनुष्य शुद्ध सात्विकता को अपनाता है । फलस्वरूप उसके समस्त विचार और कार्य पुण्य की परमार्थ की श्रेणी में आने योग्य होते हैं । अतएव उस देवता को सर्वत्र पूजा, प्रशंसा, प्रतिष्ठा, श्रद्धा प्राप्त होती है ।

गायत्री के पाँचवें पद 'देवस्य' का सन्देश है कि अशुद्ध दृष्टिकोण से बचकर शुद्ध विचारधारा को अपनावें। असुरता की नीति को छोड़कर देवत्व की गतिविधि को स्वीकार करें । उन क्षणिक सुखों, आकर्षणों और प्रलोभनों से बचें जो भविष्य में दुःख देने वाले हों, जिसके कारण आत्मा को पतन के गहरे गर्त में गिरना पड़ता हो ।

देवता स्वर्ग में निवास करते हैं । स्वर्ग जिनका जन्म सिद्ध अधिकार है । ये जहाँ भी रहेंगे, छाया की तरह स्वर्ग उनके पीछे-पीछे फिरेगा । देव और स्वर्ग का आपस में इतना घनिष्ठ एवं अटूट सम्बन्ध है कि वह किसी भी प्रकार नष्ट नहीं हो सकता । दैवी वृत्तियाँ इतनी शीतल, शान्ति-दायक, उल्लासमयी एवं आनन्दयुक्त हैं कि वे जहाँ रहती हैं, वहाँ अमृत का निर्झर हर घड़ी प्रवाहित करती रहती हैं । सांसारिक परिस्थिति भी कितनी ही साधारण क्यों न हो, फिर भी दैवी वृत्तियों वाला मनुष्य इतना आनन्द अनुभव करेगा, जितना अशुद्ध दृष्टिकोण वाला कुबेर को भी नसीब नहीं हो सकता । महापुरुष इमर्सन कहा करते थे कि मुझे नर्क में भी रहना पड़े, तो भी मैं अपने लिए वहाँ स्वर्ग की रचना कर लूँगा, उनका कथन सोलह आना सच था । उच्च सांसारिक स्थिति वाले मनुष्य के लिए संसार के कण-कण में अपार आनन्द भरा पड़ा है। उसे कोई भी सांसारिक कठिनाई, भय, चिन्ता एवं क्लेश में नहीं डाल सकती ।

देवता लोग द्रवित होने वाले होते हैं, उनके स्वभाव में असीम करुणा और दया भरी होती है । दूसरों को

अभावग्रस्त, दुखी, निर्बल, विपन्नता ग्रस्त देखकर उनकी अन्तरात्मा रो पड़ती है और उन्हें उबारने के लिए वे अपनी तुच्छ सामर्थ्य का अधिकाधिक भाग खर्च कर डालने को आतुर हो जाते हैं। समय, शक्ति, योजना एवं सम्पत्ति तो हर एक के पास सीमित ही होती है, उसे चाहे हर कोई भोग ले। दयालु मनुष्य की अन्तरात्मा दूसरे के कष्ट को कम करने के लिए सोचती है, फलस्वरूप दूसरों की सेवा और सहायता में उसे लगाना पड़ता है। एक ओर शक्ति का अधिक भाग खर्च कर दिया जाय तो दूसरी ओर कम शक्ति लगेगी। अपने शौक-मौज के लिए उनके पास न समय बचता है न सम्पत्ति न शक्ति। फलस्वरूप वे संयमी, अपरिग्रही का साधु जीवन बिताते हैं। देव स्वभावतः आत्म संयमी होते हैं। क्योंकि अपने लिए कम से कम शक्ति व्यय करने पर ही वे शेष को लोक-सेवा में लगा सकेंगे। भोग और परमार्थ साथ-साथ नहीं हो सकते। दोनों में से एक को प्रधानता देनी पड़ती है, जो विलास प्रिय है। वह उदार नहीं हो सकेगा, जो होगा उसे विलासता फूटी आंखों न सुहायेगी।

क्षणभंगुर शरीर की चटोरी इन्द्रियों को तृप्ति करने में "सुरदुर्लभ मानव-जीवन" को व्यतीत कर डालना कोई बुद्धिमानी की बात नहीं है। सामाजिक कुरीतियों के खर्चों के आडम्बरों को पूरा करने के लिए जैसे-तैसे करके धन जोड़ते रहना और फिर एक दिन में उसे बारूद की तरह फूँक देना यह भी कोई दूरदर्शिता की बात नहीं है। गायत्री कहती है कि हे मेरे प्रिय पुत्रो ! परमात्मा के अमर राजकुमारो ! तुम देव हो, दिव्यता वरण करो, अपने दृष्टिकोण को दिव्य बनाओ, शुद्ध बनाओ, जिन बाल-क्रीड़ाओं में अनेकों अज्ञानग्रस्त अविवेकी उलझ रहे हैं, उन्हीं में तुम भी मत फँस जाओ। अशुद्ध दृष्टि अपनाकर केवल मूर्ख या दुष्ट बना जा सकता है, ईश्वर ने शरीर, बुद्धि और जीवनरूपी बहुमूल्य सम्पत्ति इसलिए दी है कि दैवी गतिविधि को अपनाकर स्वर्गीय आनन्द का आस्वादन किया जाय। तृष्णा, भोग, लोभ, अहंकार, मोह आदि के जंजालों में फँसकर इन बहुमूल्य शक्ति सम्पत्तियों का अपव्यय या दुर्व्यय करना सर्वथा अनुचित है।

हमारा जीवन देवत्व से परिपूर्ण होना चाहिए। हमारी विचारधारा में दिव्य दृष्टि का, परमार्थ बुद्धि का समावेश होना चाहिए। हम अपने साथ प्यार करें, अपनी आत्मा के साथ प्यार करें, अपने जीवन के साथ प्यार करें। मोहवश कुपथ्य कराके रोगी बालक को मृत्यु-मुख में ढकेल देने वाली माता का प्रेम सच्चा प्रेम नहीं है, उसे तो मोह ही कहा जायगा। हम अपना लाभ सोचें, अपना हित पहिचानें, अपना स्वार्थ साधन करें, पर कुपथ्य कराने वाली माता की तरह न करें।

संसार में दो प्रकार से आनन्द अनुभव किया जाता है (१) ख्याल से (२) माल से। दुनिया माल की मस्ती में मस्त है। सम्पत्ति से सुख मिलता है, यह मान्यता लोगों के मस्तिष्क में घर कर गई है, इस अशुद्ध दृष्टिकोण के फेर में पड़कर वे सम्पत्ति के आस-पास चक्कर काटते रहते हैं, वह भी मिल तो किसी विरले को ही पाती है, पर उसकी मृग-तृष्णा में सभी भटकते रहते हैं। यह बाल-बुद्धि मूढ़मति लोगों के लिए उपयुक्त हो सकती है। गायत्री के साधक से बुद्धिमान होने की आशा की जाती है। वह प्रौढ़, परिपक्व, शुद्ध विचारों का होना चाहिए। तदनुसार उसे यह सद्विचारों की, ज्ञान की मस्ती में मस्त होने का मार्ग अपनाना चाहिए।

लोग समझते हैं कि "अपना लाभ करने के लिए दूसरों की हानि करनी पड़ती है। दूसरों का लाभ करना हो तो स्वयं हानि उठानी पड़ती है।" यह मान्यता ठीक नहीं वास्तव में भलाई और बुराई के इस प्रकार खण्ड नहीं किये जा सकते, वह दो परस्पर विरोधी भागों में नहीं बँट सकती। जो दूसरों की भलाई है, उसी में अपनी भी भलाई समाई हुई है। जिस कार्य से दूसरों का बुरा होता है, उससे अपना भी बुरा हो सकता है। इस लिए हमें सार्वभौम भलाई को अपनाकर परम स्वार्थ का, परमार्थ का सम्पादन करना चाहिए।

हमारे भीतर देव और असुर दोनों का निवास है। दोनों में नित्य प्रति संघर्ष होता रहता है। गायत्री कहती है कि हम देव तत्व को विकसित करें, देवत्व को प्रोत्साहन दें, दैवी आत्म संकेतों का अनुसरण करें। यही कल्याणकारी सन्देश "देवस्य" शब्द में छिपा हुआ है।

असुरों को अहंकार और भोग प्रिय होते हैं। मनुष्यों को यश और सम्पदाओं की इच्छा रहती है। देवताओं को प्रेम, कला-भाव, सरसता, सेवा, परमार्थ एवं सात्विकता में रुचि होती है। जिसके स्वभाव में जो वृत्ति जितनी मात्रा में हैं, वह उतने ही अंश में असुर, मनुज या देव है। गायत्री कहती है कि हम असुरता को नष्ट करें, मनुष्यता से ऊँचे उठें और देवत्व को प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

देवताओं का दृष्टिकोण दिव्य होता है। दिव्य दृष्टि का अर्थ है-दूरदर्शिता। लोक तात्कालिक क्षणिक लाभों के

लिए भविष्य को बिगाड़ लेते हैं और बहुत काल तक असहनीय यातनाऐं सहने को तैयार हो जाते हैं, यह दूषित दृष्टि है। दूषित दृष्टि वाले क्षणिक इन्द्रिय भोगों के लिए अपने स्वास्थ्य को नष्ट कर देते हैं, लोभ के वशीभूत होकर दुष्कर्म करने लगते हैं और तुच्छ लाभों के लिए पापकर्म करके अपने परलोक को बिगाड़ लेते हैं। क्रोध के आवेश में आकर जो उत्पात करते हैं, उनसे क्या दुष्परिणाम निकलेगा यह भूल जाते हैं। शरीर के लिए, अस्थिर जीवन के लिए आत्मिक स्वार्थों का हनन करते हैं, यह सब स्थूल दृष्टि का, दूषित दृष्टि का परिणाम है। पक्षी कुछ दानों के लोभ में जाल में फँसकर अपने प्राण गँवा देते हैं। वैसा ही परिणाम मनुष्य को भी भोगना पड़ता है। जिसे देवत्व की दिव्य दृष्टि प्राप्त है, वह केवल आज की नहीं कल की भी बात सोचता है और देखता है कि कहीं कौड़ियों के बदले हीरा तो नहीं गँवाया जा रहा। जहाँ उसे ऐसा खतरा मालूम देता है, वहाँ वह सँभल जाता है और आज के दुःख को अपनाकर कल का सुख इकट्ठा करता है। किसान को हम दिव्यदर्शी कह सकते हैं, वह आज पेट पर पट्टी बाँधकर खेत में कठोर श्रम करता है, बीज बोने का प्रत्यक्ष नुकसान करता है क्योंकि उसे विश्वास है कि आज के त्याग का परिणाम फसल पर अनेक गुने लाभ के रूप में प्राप्त होगा। दिव्य दृष्टि वाले जीवन की हर समस्या पर इसी दृष्टिकोण से सोचते हैं और बुद्धिमान किसान की तरह अनेक गुना लाभ प्राप्त करते हैं।

जबकि साधारण लोग सदा अपने अभाव, दुःख, दोष देखते हैं, दूसरों के व्यवहार में बुराई, कमी, भूल, ढूँढ़ते हैं और उनसे हर घड़ी दुःखी रहते हैं, तब देव स्वभाव के मनुष्य ईश्वर द्वारा अपने को दी हुई अगणित सुविधाओं को चिन्तन करके हर घड़ी प्रसन्न रहते हैं, अपने को सौभाग्यवान् समझते हैं कि हम असंख्यों से अच्छे हैं। दूसरों के उपकारों, सहायताओं, भलाइयों और अच्छाइयों को स्मरण करते हैं। संसार की प्रत्येक वस्तु में सौन्दर्य एवं उपयोगिता ढूँढ़ते हैं, इस प्रकार उन्हें अपने चारों ओर आनन्द, सन्तोष, प्रसन्नता एवं सौभाग्य बिखरा हुआ दृष्टिगोचर होता है। इसके लिए वे परमात्मा को अनेक धन्यवाद देते हैं कि प्रभु तूने हमें इतने अगणित सुख सौभाग्य दिये हैं, इसके लिए हम तेरे कृतज्ञ हैं। इन सौभाग्य राशियों की तुलना में उन्हें अपने अभाव और कष्ट ऐसे मालूम पड़ते हैं, मानो केवल उन्हें शोभा के लिए रखा गया हो। सुन्दर बालक के माथे पर मातायें काला टीका लगा देती हैं कि उसे किसी की नजर न लग जाय। थोड़े से अभाव और कष्टों को वह ईश्वर द्वारा लगाया हुआ टीका समझते हैंऔर उसकी भी अनेक प्रकार उपयोगिता एवं आवश्यकता अनुभव करते हुए सुखी, सम्पन्न एवं सन्तुष्ट रहते हैं।

गायत्री हमें देव बनाना चाहती है। उसका "देवस्य" शब्द हमें देवत्व की ओर प्रेरणा देता है।

धीमहि—

दैवी सम्पत्तियों का संचय कीजिए

धीमहि सर्वविधं हृदये शुचि
शक्तिचयं वयमित्युपविष्टवा।
नो मनुजोलभते सुख शान्ति
मनेन विनेत वदन्वि हि वेदाः॥

अर्थ—हम सब लोग हृदय में सब प्रकार की पवित्र शक्तियों को धारण करें। वेद कहते हैं कि इनके बिना मनुष्य सुख-शान्ति को प्राप्त नहीं होता।

यह सुनिश्चित तथ्य है कि शक्ति के बदले में सुख मिलता है। जिस प्रकार पैसे के बदले में खरीदे जाने वाले सभी पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार शक्ति के बदले में विविध प्रकार के आनन्द प्राप्त किये जाते हैं। जिसका शरीर शक्तिशाली है, इन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं, वह ही विविध प्रकार के इन्द्रिय भोगों को भोग सकता है, जिसका शरीर रोगी, निर्बल एवं अशक्तिशाली है, उसको उत्तम से उत्तम इन्द्रिय भोग भी बुरे लगते हैं। रूपवती नवयौवना तरुणी का उद्दीप्त प्रेम, कोई उसी प्रकार की शक्तियों वाला नवयुवक ही प्राप्त कर सकता है। गत यौवन वृद्धों के लिए उसे आकर्षित कर सकना कठिन है। शिक्षा, स्वास्थ्य, धन, संगठन, शिल्प, अनुभव, चतुरता, पुरुषार्थ, शक्तियों का भण्डार जिसके पास जितनी अधिक मात्रा में है, वह उतना ही अधिक सम्पत्ति, वैभव, समृद्धि एवं ऐश्वर्य सुख सामिग्री प्राप्त कर सकता है। जिसके पास इन शक्तियों की जितनी कमी है, वह उतनी ही मात्रा में अभावग्रस्त एवं कठिनाइयों का जीवन व्यतीत करेगा।

शरीर को सुख देने वाले ऐश्वर्य, शरीर से सम्बन्ध रखते हैं। जिसने अपने में जितनी अधिक भौतिक योग्यताऐं एकत्रित करली हैं, वह उतना ही अधिक सांसारिक सुख भोग सकेगा। इतना होने पर भी उससे आत्मिक सुख उपलब्ध नहीं किया जा सकता। आत्मिक सुख के लिए आत्मिक शक्तियों की आवश्यकता है।

सद्गुण, सात्विक दृष्टिकोण, सत्स्वभाव, संयम, उदार एवं नम्र व्यवहार की दैवी सम्पत्तियाँ जिनके पास हैं, उनके मानसिक क्षेत्र में सर्वत्र सुख-शान्ति ऐसी उत्कृष्ट होगी कि सांसारिक कठिनाइयाँ भी उसे विचलित न कर सकेंगी।

गीता के सोलहवें अध्याय में २६ दैवी सम्पदाऐं बताई हैं, वे यह हैं—१- निर्भयता, २- अन्तःकरण की स्वच्छता, ३- ज्ञान में निष्ठा, ४- उदारता, ५- इन्द्रिय निग्रह, ६- परमार्थ कर्म, ७- स्वाध्याय आत्म-चिन्तन, ८- सत्प्रयोजन के लिए कष्ट सहना, ९- सादगी, १०- अहिंसा, ११- सत्य, १२- अक्रोध, १३- अभिमान का त्याग, १४- अनुद्वेग, १५- निन्दा चुगली आदि से दूर रहना, १६- दयालुता, १७- निर्लोभता, १८- सहृदयता, १९- दुष्कर्मों के करने में लज्जा, २०- छछोरपन से बचना, २१- तेजस्विता, २२- क्षमा, २३- धैर्य, २४- सफाई, २५- शत्रुता का अभाव, २६- अपने को दूसरों से श्रेष्ठ न समझना, यह आत्मिक गुण हैं। जिनकी आत्मा बलवान हैं, उनमें इन गुणों का अधिकाधिक विकास देखा जावेगा, यह विकास जितना ही अधिक होगा उतनी ही आत्म-संतोष की मात्रा में अभिवृद्धि होगी।

बल का महत्व किसी से छिपा हुआ नहीं है, आजकल लोग धन बल को अधिक महत्व देते हैं, फिर भी स्वास्थ्य बल, सङ्गठन बल आदि की महिमां से अपरिचित नहीं हैं। खेद इस बात का है कि इन सबों की अपेक्षा अत्यधिक आवश्यक एवं स्थायी आनन्द प्रदान करने वाले आत्म-बल की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। उपनिषद् का वचन है कि "वह परमात्मा निर्बलों को प्राप्त नहीं होता" यह अनुभव सिद्ध बात है कि निर्बलों को सर्वत्र दुखी-दरिद्र और अभावग्रस्त रहना पड़ता है, उन्हें न इस लोक में सुख है न परलोक में। न सांसारिक सुविधा मिलती है न मानसिक शक्ति। इसलिए उभय पक्षीय-बाह्य और आन्तरिक गुणों की, योग्यताओं की, शक्तियों की मात्रा को अधिकाधिक बढ़ाना उचित है।

गायत्री के 'धीमहि' शब्द का संदेश यह है कि हम अपने अन्दर सद्गुणों की धारणा करें। अपने स्वभाव को नम्र, मधुर, शिष्ट, खरा, निर्भीक, दयालु, पुरुषार्थी, निरालस्य, श्रमशील बनावें तथा व्यवहार में उदारता, सचाई, ईमानदारी, निष्कपटता, भलमनसाहत, न्याय परायणता, समानता तथा उद्योगशीलता का परिचय दें। उन सभी गुणों, विशेषताओं और योग्यताओं को अपनावें जिनके द्वारा स्वास्थ्य, कीर्ति, प्रतिष्ठा, उच्चपद, धन वैभव आदि की प्राप्ति होती है। यह सांसारिक सम्पत्तियाँ भी आवश्यक हैं, क्योंकि इनसे जीवन की गति-विधि शान्ति और सुविधापूर्वक चलती है। दरिद्र व्यक्ति संसार में सुखी नहीं रह सकता है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए केवल उदर पोषिणी योग्यताओं से ही काम नहीं चल सकता। ऐसी योग्यता तो पशु पक्षी भी प्राप्त कर लेते हैं, इनके अतिरिक्त वे सद्गुण भी संचय करने चाहिए जिनके कारण मनुष्य पूजा जाता है, प्रतिष्ठा प्राप्त करता है, यशस्वी होता है, महापुरुष बनता है, सबका प्रेम-पात्र नेता बनता है एवं सहज ही अपने अनेकों सहायक, मित्र, शुभचिंतक, श्रद्धालु, अनुयायी एवं प्रशंसक बना लेता है। जिसके सद्गुणों की सुगन्धि चारों ओर फैल रही है, उसे विमुग्ध होकर अनेक पारखी भ्रमर घेरे रहते हैं।

ऐसे व्यक्तियों को जीवन की वास्तविक आवश्यकताओं के लिए कभी अभावग्रस्त नहीं रहना पड़ता। जिसके अधिक सहयोगी हैं, जिस पर अधिक विश्वास करते हैं, उसके जीवन का मार्ग सुगम होता है। भले ही वह अपनी त्याग वृत्ति के कारण कुबेर न बन पावे या अमीरी ऐश आराम न भोग पावे, पर इतना निश्चित है कि उसे दरिद्रता का दुःख कभी न भोगना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त सद्गुणों की सात्विकता के कारण आत्म-बल की वृद्धि, धर्म संचय, दिव्य तत्वों की प्रचुरता के कारण अन्तःकरण में जो अगाध शान्ति रहती है, उससे आत्म-कल्याण का, परमानन्द का, जीवन मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता जाता है और अंत में यही गुण एक श्रेष्ठ आध्यात्मिक साधन की भाँति जीव ईश्वर का सम्मिलन कराने में समर्थ हो जाते हैं।

छब्बीस दैवी सम्पदाऐं गीता में बताई गई हैं, इनको संक्षेप में कहना चाहें तो (१) अनुत्तेजना, (२) स्वच्छता, (३) विचारशीलता, (४) सहिष्णुता, (५) संयम, (६) शक्तिसंचय (७) उदारता, (८) कर्त्तव्य परायणता। इन आठ गुणों में भी विभाजित कर सकते हैं। उन गुणों को अपने स्वभाव और अभ्यास में लाना यह एक उच्चकोटि का धन उत्पन्न करना है।

धन उतना ही आवश्यक है, जितने से शारीरिक, मानसिक और पारिवारिक उत्तरदायित्व सुविधापूर्वक पूरे होते रहें। इस मर्यादा से अधिक मात्रा में धन उपार्जन करने एवं जोड़ने की तृष्णा सुखदायक नहीं वरन् अनेक कलह क्लेश, पाप, तापों को उपस्थित करने वाली होती है। इसलिए अनावश्यक धन के संचय को पाप माना गया है और परिग्रह (अनावश्यक धन जोड़ने) को प्रधान पाँच

पापों में से एक गिना गया है। जोड़ने योग्य, जमा करने योग्य, कभी संतुष्ट न होने योग्य, सम्पत्ति तो सद्‌गुणों की दैवी सम्पत्ति ही है। शिक्षा, शिल्प, संगीत, रसायन कला आदि की योग्यताऐं एक सोना भरी तिजोरी से अधिक मूल्यवान् हैं। जो धन से विमुख होकर योग्यताऐं कमाता है शक्तियाँ उपार्जित करता है, वह घाटे का नहीं, नफे का व्यापार कर रहा है। जिसने गुणों की शक्तियों की उपेक्षा करके धन कमाने का ही कार्यक्रम बनाया हुआ है, वह आत्मिक दृष्टि से मूर्ख ठहराया जायगा।

धन से योग्यताओं का मूल्य अधिक है और योग्यताओं से स्वभावों का महत्व विशेष है। किसी व्यक्ति के धन और सांसारिक विशेषताऐं न होने पर भी यदि अपने को उच्च दृष्टिकोण, सद्‌विचार, स्वच्छ, विवेक, सात्विक वृत्ति और मधुर व्यवहार को अपने स्वभाव में परिपूर्ण कर लिया है, तो निश्चय समझिए कि वह किसी भी बड़े से बड़े धन कुबेर और गुणवान् से कम सम्पत्तिशाली नहीं है। अपनी उच्च आन्तरिक स्थिति के कारण वह स्वल्प साधनों में भी इतना आनन्दित रहेगा, जिसकी कल्पना भी असंस्कृत मस्तिष्क वाले नहीं कर सकते। जिसकी पाचन-शक्ति प्रबल है, वह मोटी रोटी में भी ऐसा आनन्द अनुभव करेगा, जो उदर रोगी को षटरस व्यञ्जनों में भी नसीब नहीं हो सकता। मनोभूमि की शुद्धता को प्रबल पाचन-शक्ति ही समझना चाहिए, जिनके होने पर गरीबी में भी स्वर्गीय जीवन का रस लिया जा सकता है।

गायत्री के 'धीमहि' शब्द का सन्देश है कि वस्तुऐं मत जोड़ो, गुणों को धारण करो। कचरे की गठरी मत बाँधो, सोने का टुकड़ा रख लो। जीवन में सर्वोपरि आनन्द देने की कुञ्जी सात्विक वृत्तियाँ ही हैं। उनका महत्व समझो, उन्हें ढूँढो, उनका संचय करो। जिसके पास अधिकाधिक मात्रा में दैवी सम्पत्तियाँ हैं वास्तव में वही सच्चा धनी है।

संसार में अब तक अनेक धनी पुरुष हुए हैं, पर वे न तो इतिहास में अपना कोई स्थान बना सके और न स्वयं लोक-परलोक की सुख-शान्ति का उपभोग कर सके। आवश्यकता से अधिक मात्रा में संचित किया हुआ धन एक प्रकार का दैवी कोप, ईश्वरीय अभिशाप है, जिसके कारण उस धनी व्यक्ति को तथा उसके परिवार को नाना प्रकार के दुर्गुणों, दुर्व्यसनों, पापों, रोगों एवं चिन्ताओं का शिकार बनना पड़ता है। योग्यताऐं, सद्‌गुण एवं उत्तम स्वभाव का धन ही सच्चा धन है। गायत्री का धीमहि शब्द हमें इसी आत्मिक धन का धनी बनने को कहता है।

धियो—

विवेक का अनुशीलन

धियो वोन्मथ्याच्छागम निगम मंत्रान सुमतिवान्।
विजानीयातत्वं विमल नवनीतं परिमिव॥
यतोऽस्मिन् लोके वैसंशयगत् विचार स्थलशते।
मतिः शुद्धैवाञ्छा प्रकट यति सत्यं सुमनसे॥

अर्थ—वेद शास्त्रों को बुद्धि से मधुकर मक्खन के समान उत्कृष्ट तत्व को जाने, क्योंकि शुद्ध बुद्धि से ही सत्य को जाना जाता है।

कई बार ऐसे अवसर सामने आते हैं कि परस्पर विरोधी विचारधाराओं के सामने आ जाने पर बुद्धि भ्रमित हो जाती है और यह निर्णय नहीं हो पाता कि इनमें से किसे स्वीकार तथा किसे अस्वीकार करें।

वेद-शास्त्रों में अनेकों ऐसे स्थल हैं, जिनमें आपसी मतभेद बहुत भारी है। एक ग्रन्थ में एक बात का समर्थन किया गया है, तो दूसरे में उसका विरोध है। इसी प्रकार ऋषियों, सन्तों, महापुरुषों, नेताओं के विचारों और आदर्शों में कभी-कभी असाधारण विरोध होता है। इन उलझनों में साधारण व्यक्ति का मस्तिष्क भ्रमित हो जाता है। किस शास्त्र को, ऋषि को, महापुरुष को, नेता को वह गलत ठहरावे, किसे सही ठहरावे। सभी का अनुकरण नहीं हो सकता, क्योंकि विरोधी मतों का एक साथ मानना और उनका अनुसरण करना असम्भव है।

गायत्री का 'धियो' शब्द ऐसे अवसरों पर विवेक की कसौटी हमारे हाथ में देता है और आदेश करता है कि किसी भी पुस्तक या व्यक्ति की अपेक्षा विवेक का महत्व अधिक है। इसलिए जो बात बुद्धि संगत हो, विवेक सम्मत हो, आने योग्य हो, उचित हो केवल उसी को ग्रहण करना चाहिए।

देश, काल और परिस्थिति का ध्यान रखकर समय-समय पर आचार्यों ने उपदेश किये हैं। इसलिए जो बात एक समय के लिए बहुत उपयोगी एवं आवश्यक थी, वह दूसरे समय में अनुचित अनावश्यक हो सकती है। जाड़े के दिनों में पहने जाने वाले गरम ऊनी कपड़े गर्मी में हानिकारक हैं, इसी प्रकार गर्मी की हलकी पोशाक को ही जाड़े के दिनों में पहने रहना निमोनियाँ को निमन्त्रण देना है। अपने समय में जो पोशाक आवश्यक होती है, वही काल और परिस्थिति बदल जाने पर त्याज्य हो जाती है।

अग्नि का आविष्कार होने पर आदि काल में मनुष्य इस दैवी तत्व को पाकर बड़ा प्रसन्न हुआ, उसने अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए अग्नि को घृत, मेवा, मिष्ठान्न, पकवान, सुगन्धित वनस्पतियों का भोजन कराने का विधान, यज्ञ आरम्भ किया। समय के साथ उस पवित्र यज्ञ व्यवस्था में विकार आया और गौ, अश्व, नर आदि का वध करके हवन किया जाने लगा। इस विकृति को रोकने के लिए गौतम बुद्ध ने यज्ञों का खण्डन किया। कालान्तर में बुद्ध में भी विकार आए और उनका शंकराचार्य को खण्डन करना पड़ा। शंकर मतानुयायी भी धीरे-धीरे शुष्क वेदान्ती मात्र रह गये तब प्रेम और भावना को जागृत करने के लिए भक्ति मार्गी सन्तों ने वेदान्त का विरोध करके भक्ति की ध्वजा फहराई। भक्ति में अन्ध-विश्वास आ गया, स्वामी दयानन्द जी ने उसका भी खण्डन किया। इस प्रकार देखते हैं कि एक आचार्य दूसरे का खण्डन करता चला आ रहा है। जैसे एक समय का स्वादिष्ट भोजन कालान्तर में विष्टा बन जाता है, वैसे ही एक समय की व्यवस्था कालान्तर में जीर्ण-शीर्ण हो जाती है और उसका पुनरुद्धार करना पड़ता है। अपने-अपने समय का प्रत्येक शास्त्रकार सच्चा है, पर कालान्तर में उनमें सुधार होना अवश्यम्भावी है। देश काल का ध्यान न रखते हुए जब हम शास्त्रों को समकालीन मानकर चलते हैं, तब उनमें विरोध दिखाई पड़ता है, किन्तु काल भेद और परिस्थिति भेद को ध्यान में रखते हैं तो सभी व्यवस्थाऐँ सही मालूम पड़ती हैं।

केवल विवेक ही हमें बता सकता है कि आज की स्थिति में क्या ग्राह्य है क्या अग्राह्य ? यह हो सकता है कि अपरिष्कृत विवेक कुछ भूल कर जाय और उसका निर्णय पूर्ण तथा निर्दोष न हो, फिर भी यदि निष्पक्ष विवेक को जागृत रखा जाय तो बहुत शीघ्र ही वह भूल प्रतीत हो जायगी और सच्चा मार्ग मिल जायगा। यह डर कि हमारा विवेक गलत होगा, तो गलत निर्णय पर पहुँच जायेंगे, उचित नहीं, क्योंकि विवेक के अतिरिक्त और कोई मार्ग सत्यासत्य के निर्णय का है ही नहीं। यदि किसी शास्त्र, सम्प्रदाय, महापुरुष के मत का अनुकरण किया जाय तो भी अनेक शास्त्रों सम्प्रदायों, महापुरुषों में से एक को अपना पथ-प्रदर्शक चुनने का काम विवेक पर ही पड़ेगा। विवेक का अनुगमन कभी भी हानिकारक नहीं होता, क्योंकि बुद्धि का पवित्र, निस्वार्थ, सात्विक भाग होने के कारण विवेक द्वारा वही निर्णय किया जाता रहेगा, जो आज की हमारी मनोभूमि की अपेक्षा श्रेष्ठ हो। उसका अनुगमन करने से मनोभूमि दिन-दिन अधिक पवित्र एवं विकसित होती जायगी, तदनुसार हमारा विवेक भी अधिक सूक्ष्म होता जायगा। यह उभय पक्षीय उन्नति धीरे-धीरे आत्म-बल को बढ़ाती चलेगी और क्रमशः हम सत्य के निकट पहुँचते जायेंगे। इसी मार्ग पर चलते-चलते एक दिन पूर्ण सत्य की प्राप्ति हो जायगी।

अनेकों परम्पराऐं, प्रथाऐं, रीति-रिवाजें ऐसी प्रचलित हैं, जो किसी समय भले ही उपयुक्त रही हों, पर आज तो वे सर्वथा अनुपयोगी एवं हानिकारक ही हैं। ऐसी प्रथाओं एवं मान्यताओं के बारे में ऐसा न सोचना चाहिए कि "हमारे पूर्वज इन्हें अपनाते रहे हैं, तो अवश्य इनका भी कोई महत्व होगा इसलिए हम भी इन्हें अपनाये रहें।" हमें हर बात को वर्तमान काल की आवश्यकताओं और परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए ही निर्णय करना चाहिए।

भारतीय दर्शन-शास्त्र का सदा से यह आदेश रहा है कि व्यक्तियों और विचारों को आपस में सम्बद्ध मत करो। सम्भव है कि कोई उत्तम चरित्र का व्यक्ति भ्रान्त हो और उसके विचार अनुपयुक्त हों, इसी प्रकार यह भी सम्भव है कि कोई हीन-चरित्र का व्यक्ति सारगर्भित बात कहता हो। उत्तम चरित्र के मनुष्य का व्यक्तिगत सम्मान करने में कभी संकोच न करना चाहिए, किन्तु उस सम्मान का अर्थ यह नहीं है कि उसके विचारों को स्वीकार करने के लिए हम बाध्य हों। यहाँ विवेक ही प्रधान है। भगवान् बुद्ध के उत्तम चरित्र और महान् तपश्चर्या से श्रद्धान्वित होकर हिन्दू जाति ने उन्हें सर्वोपरि सम्मान की "अवतार" उपाधि से विभूषित किया है। इससे बड़ा सम्मान और कृतज्ञता यापन हिन्दू जाति के पास और कोई है नहीं। इतना होते हुए भी बौद्ध सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं किया गया। ईश्वर पर अनास्था, शून्यवाद, ग्रह-त्याग में मोक्ष, यज्ञ निषेध आदि बुद्ध की शिक्षाओं को हिन्दू जाति अस्वीकार ही नहीं करती, वरन् उनका कटु विरोध भी करती है। चार्वाक ऋषि हुए हैं। उनका नास्तिक दर्शन भी अन्य शास्त्रों की तरह ही आदरणीय है, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि उनके प्रति आदर बुद्धि रखने वालों को वे विचार भी स्वीकार हों। गाँधी और सुभाष दोनों के प्रति आन्तरिक आदर रखते हुए भी यह हमारे विवेक के ऊपर निर्भर रहेगा कि हिंसा का सिद्धान्त माना जाय या अहिंसा का।

संसार में अनेक धर्म, सम्प्रदाय, मत, मजहब, सिद्धान्त, शास्त्र, सन्त, महापुरुष, नेता और विचारक हैं।

उनकी अपने-अपने ढङ्ग की अनेक मान्यताऐं हैं । इसमें से अपने लिए आज किसका, किस अङ्ग में, किस प्रकार अनुसरण करना चाहिए, यह निर्णय करना हमारे विवेक के ऊपर है । हमारा निर्णय जिसके पक्ष में है, उसके अतिरिक्त भी अन्य धर्मों या महापुरुषों के लिए घृणा या द्वेष करने की आवश्यकता नहीं है । उनका उपदेश आज भले ही हमारे लिए अनुकूल न हो, पर अपनी समझ से अपनी परिस्थितियों में उनने भी शुभ उद्देश्य से अपना मत निर्धारित किया था । उनका उद्देश्य पवित्र था, इसलिए वे स्वभावतः हमारे आदर के अधिकारी हो जाते हैं ।

विवेक की कसौटी पर कसकर हम बुराई-भलाई की हर जगह परख कर सकते हैं । किसी देश, जाति या मनुष्य के कुछ बुरे काम देखकर उसे पूर्णतया बुरा मान लेना ठीक नहीं । जिस समुदाय में कुछ लोग दुष्ट या प्रतिपक्षी हैं, सभी लोगों को वैसा मान लेना ठीक नहीं । अमुक जाति बहुत बुरी है, ऐसी मान्यता अनुचित है, क्योंकि न्यूनाधिक मार्ग में सभी समुदायों में अच्छे और बुरे होते हैं । विवेक ही हमें यह बता सकता है कि शत्रुओं के बीच भी मित्र हो सकते हैं और मित्रों में भी आस्तीन के साँप होना सम्भव है ।

भले और बुरे की, हानि और लाभ की, मित्र और शत्रु की, सच्चे और झूठे की पहचान केवल विवेक ही करा सकता है। आकर्षणों, प्रलोभनों, तृष्णाओं, विकारों, भ्रान्तियों, खतरों से सावधान करके हमें पतन के गहरे गड्ढे में गिरने से बचाने की शक्ति केवल विवेक में ही है। विवेक हमारा सच्चा मित्र है। वह भूलें सुधारता है, मार्ग सुधारता है, उलझनें सुलझाता है, खतरे से बचाता है और सफलता की ओर अग्रसर करता है। ऐसे मित्र की आवश्यकता समझना, उससे प्रेम करना और उसे अधिक से अधिक आदर के साथ समीप रखना यह हमारे लिए सब प्रकार से कल्याणकारक हो सकता है।

गायत्री के 'धियो' शब्द का आदेश है कि हम विवेकवान बनें । विवेक को अपनावें, विवेक की कसौटी पर कस कर अपने विचार और कर्मों का निर्धारण करें । इस शिक्षा को स्वीकार करना, मानो अपनी जीवन दशाओं की शीतल, शान्तिदायक, मलय मारुत के लिए उन्मुक्त कर देना है ।

योनः —

आत्म-संयम और परमार्थ का मार्ग

योनोवास्ति तु शक्ति साधन चयो न्यूनाधिकश्चाथवा।
भागं नूनं तमं हितस्य विदधेमात्म प्रसादाय च ॥
यत्पश्चादवशिष्ठ भाग मखिलं त्यक्त्वा फलाशा हृदि।
तद्धीनेष्वभिलाषवस्तु वितरे मांगीषु नित्यं वयम् ॥

अर्थ—हमारी जो भी 'शक्तियाँ एवं साधन हैं, वे स्थूल हों अथवा अधिक हों, उनके न्यून से न्यून भाग को अपनी आवश्यकता के लिए प्रयोग में लावें और शेष को निस्वार्थ भाव से उन्हें अशक्त शक्तियों में बाँट दें।'

राजा किसी अफसर से प्रसन्न होता है, तो वह अपने कार्यों का एक अंश पूरा करने के लिए नियुक्त कर देता है। राजा का कर्त्तव्य है कि वह अपनी प्रजा को सुखी, समृद्ध, समुन्नत, सुरक्षित करने की बुद्धिमतापूर्वक व्यवस्था करे । अपने इस उत्तरदायित्व को वह कुछ लोगों को सौंप देता है, जिन्हें वह सुयोग्य, कर्तव्यनिष्ठ, बुद्धिमान एवं विश्वसनीय समझता है । वे व्यक्ति अफसर कहलाते हैं । अफसरों के पास राज-शक्ति का महत्वपूर्ण भाग रहता है । पुलिस सुपरिन्टेन्डेट और कलक्टर के हाथ में काफी शक्ति होती है । सेना, पुलिस, हथियार, कोष एवं अधिकार का उपयोग करने की राजसत्ता उसके हाथ में रहती है। राजा उन अफसरों को इतनी शक्तियों का स्वामी इसलिए बनाता है कि वे प्रजा के हित में उनका उपयोग करें । यह सब उनके व्यक्तिगत लाभ के लिए तो उन्हें थोड़ा सा वेतन मिलता है तथा उतने ही अधिकार मिलते हैं, जितने की प्रजा के साधारण व्यक्तियों को प्राप्त हैं ।

कोई अफसर यदि राज-शक्ति का उपयोग अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए करने लगे तो वह कर्त्तव्यच्युत एवं अपराधी ठहराया जायगा । पुलिस कप्तान यदि अपनी पुलिस को लेकर नगर की घनी बस्ती पर चढ़ दौड़े और लूट, अपहरण, बलात्कार, दमन, गवन आदि करे । जज अपने दुश्मनों को फाँसी चढ़वादे या रिश्वत ले लेकर डाकुओं को बरी करदे तो कप्तान, कलक्टर, जज अपने पद पर नहीं रह सकते। राजा उन पर विश्वासघात का, कर्त्तव्यच्युत होने का, शक्ति के दुरुपयोग का, अपराध लगाकर पकड़ कर उन्हें कठोर दण्ड देगा । कारण स्पष्ट है कि शक्ति उन्हें प्रजा के हित में उपयोग करने के लिए एक अमानत की तरह दी गई थी । वे राज-शक्ति के केवल ट्रस्टी मात्र थे । राजा ने उन्हें इतना बड़ा अधिकार दिया था,

इतना विश्वासपात्र समझा था, इतने बड़े पद पर प्रतिष्ठित किया था, यही क्या कम गौरव की बात थी। इतने में ही उन्हें सम्मान, सुख और सन्तोष अनुभव करना चाहिए था। अमानत में दी हुई शक्ति का व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए दुरुपयोग करने का इन अफसरों का कोई अधिकार न था। अमानत में खमानत करने वाला कठोर दण्ड का, निन्दा का, घृणा का पात्र ठहराया जायगा।

परमात्मा के सभी पुत्र हैं। सभी उसे समान रूप से प्यारे हैं। पर वह जिन्हें अधिक ईमानदार और विश्वसनीय समझता है, उन्हें अपनी राज-शक्ति का एक भाग इसलिए सौंप देता है कि वे उसके ईश्वरीय उद्देश्यों की पूर्ति में हाथ बटायें। धन, स्वास्थ्य बुद्धि चतुरता शिल्प, योग्यता, मनोबल, नेतृत्व, भाषण, लेखन आदि की शक्तियाँ जिन्हें अधिक मात्रा में दी गई हैं, वे उन्हें दैवी प्रयोजन के लिए दी गई हैं। जो अधिकार साधारण प्रजा को नहीं हैं, वे अधिकार कलक्टर को देकर राजा कोई पक्षपात नहीं करता, वरन् अधिकार योग्य से अधिक काम लेने की नीति बर्तता है। परमेश्वर भी कुछ थोड़े से आदमियों को अधिक सम्पन्न बनाकर अपने अन्य लोगों के साथ अन्याय नहीं करता। उसे अपने सभी पुत्र समान रूप से प्यारे हैं। उनसे सभी को समान रूप से विकसित होने के अवसर दिये हैं। वह पक्षपात और अन्याय करे तो फिर समदर्शी, न्यायशील और दयालु कैसे कहा जा सकेगा ?

भोजन, वस्त्र, रहने का घर तथा जीवन-यापन की उचित आवश्यकता पूरी करने वाली वस्तुऐं यह प्रत्येक व्यक्ति का वेतन है। आलसी, अकर्मण्य, ऊटपटांग करने वाले अविचारी हैं, उनका वेतन कट जाता है और उन्हें किन्हीं अंशों में अभावग्रस्त रहना पड़ता है। जो परिश्रमी, पुरुषार्थी, सीधे मार्ग पर चलने वाले हैं, वे अपना उचित वेतन यथा समय पाते रहते हैं। इस वेतन के अतिरिक्त जिसके पास जो भी शारीरिक, बौद्धिक, आर्थिक एवं औपचारिक शक्तियाँ हैं, वे केवल इस उद्देश्य के लिए हैं कि उनके द्वारा अपने नीचे गिरे हुए लोगों को ऊपर उठाने में लगाया जाय। हर समृद्ध व्यक्ति को ईश्वर ने यह कर्तव्य भी सौंपा है कि अपने से जो लोग कमजोर हैं, उनको ऊँचा उठाने में इन शक्तियों को व्यय किया जाय। यदि कोई व्यक्ति सुशिक्षित है, तो उसका फर्ज है कि अशिक्षितों में शिक्षा का प्रसार करे। कोई व्यक्ति बलवान है, तो उसका कर्तव्य है कि निर्बलों को बलवान बनाने का नेतृत्व करे और सताने वालों को रोके। धनवान के पास वह धन इसलिए अमानत रखा गया है कि उससे विद्या, बुद्धि, व्यवसाय, सङ्गठन, सद्ज्ञान आदि का इस प्रकार आयोजन करे कि उससे पिछड़े हुए लोग अपनी चतुर्मुखी उन्नति कर सकें।

पिता के अतिरिक्त बड़े बेटे का कर्त्तव्य भी कुटुम्ब के स्त्री, बच्चों के प्रति होता है। पिता अपने छोटे बच्चों की सुव्यवस्था एवं उन्नति चाहता है। बड़ा बेटा कुछ समर्थ हो जाता है, तो वह अनुभव करता है कि पिता के उत्तरदायित्व में हाथ बटाना मेरा फर्ज है। इसलिए वह अपने से छोटे भाई-बहिनों के प्रति कर्त्तव्य पालन करता है। यदि वह इस कर्त्तव्य का पालन नहीं करता और ब्याह होते ही बहू को लेकर अलग हो जाता है, अपनी कमाई से आप गुलछर्रे उड़ाता है और छोटे भाई-बहिनों की सहायता नहीं करता तो सत्पुरुषों की दृष्टि में वह क्षुद्र, स्वार्थी, कृतघ्न एवं घृणास्पद ठहरता है और धार्मिक एवं नैतिक दृष्टि से उसे अपराधी माना जाता है। यह ठीक है कि कानून में उसके इस अपराध के लिए कोई सजा नहीं रखी गई है, पर इससे क्या वह ईश्वरीय अदालत में दण्ड से बच सकता है। जिसके पास धन की भरी तिजोरियाँ हैं, वह सेठ किसी को कानी कौड़ी न दे और खुद ही अनाप-सनाप गुलछर्रे उड़ावे, कोई वकील, डाक्टर, कलाकार, वैज्ञानिक, शिल्पी अपनी योग्यता से अपना ही स्वार्थ साधन करे, किसी का राई बराबर भी उपकार न करे, तो कानूनन उसे इसके लिए विवश नहीं किया जा सकता, इस स्वार्थपरता के लिए उसे जेल, फाँसी आदि भी नहीं दी जा सकती। पर इतना निश्चित है कि मनुष्य के बनाये हुए लँगड़े, लूले कानूनों के गिरफ्त में न आने पर भी वह चोर है, पापी है अपराधी है, ईश्वरीय अदालत में उसे वैसे ही कर्तव्य भ्रष्ट ठहराया जायगा, जैसा कि राज-सत्ता का दुरुपयोग करने वाले पूर्व कथित कलक्टर, कप्तान, जज आदि राजा के द्वारा अपराधी ठहराये जाते हैं।

जबकि अधिकांश लोगों को पेट भरने और तन ढकने की व्यवस्था में ही जीवन का सारा समय लगाना पड़ता है और कई दृष्टियों से पिछड़ा हुआ रहना पड़ता है, तब किसी समृद्ध आदमी के लिए गर्व करने का, सुखी होने का, संतोष करने का, ईश्वर को धन्यवाद देने का यह पर्याप्त कारण है कि उसकी जीवन आवश्यकताऐं आसानी से पूरी हो जाती हैं और उसे ऐसी योग्यताऐं प्राप्त हैं, जो असंख्य मनुष्यों में नहीं हैं। सुसम्पन्न व्यक्ति को इतने से ही सन्तोष और आनन्द अनुभव करना चाहिए और भविष्य में और भी उत्तम स्थिति प्राप्त करने के लिए दूरदर्शितापूर्वक अपनी शक्तियों को लोक-हित में लगाना चाहिए। आज वह अवसर है कि

वह रोटी की समस्या को आसानी से हल करके परमार्थ भी कर सकता है। ऐसी स्थिति पूर्वकृत पुण्य फल से ही प्राप्त हुई है। यदि पिछले पुण्य फल भुगत जाते हैं और आगे के लिए उपार्जन न किया जाय तो निश्चित है कि थोड़े दिनों में वह सम्पन्नता समाप्त हो जायगी, उसे असंख्यों निर्धन व्यक्तियों की भाँति ऐसा अभावग्रस्त जीवन जीने के लिए विवश होना पड़ेगा, जिसमें परमार्थ के लिए अवसर पाना बड़ा कठिन काम होगा।

अधिक धन जोड़ना, अधिक भोग भोगना, यह दो ही कार्यक्रम आजकल सुसम्पन्न व्यक्तियों के देखे जाते हैं। यह मूर्खता का मार्ग है। गायत्री का "योन:" शब्द कहता है कि इस खतरनाक मार्ग पर चलना किसी भी प्रकार बुद्धिमत्ता का द्योतक नहीं है। विद्रोही, उद्दण्ड, उच्छृङ्खल, मदोन्मत्त अफसर कुछ समय के लिए अपनी हेकड़ी के नशे में चूर होकर अट्टहास कर सकते हैं, पर कुछ ही क्षण बाद उन्हें अपने अविवेक का कठोर मूल्य चुकाना पड़ता है। समृद्ध व्यक्ति यदि आज अपने धन, बुद्धि, विद्या, वैभव, ऐश्वर्य पर इतराते हैं और उनका उपयोग केवल मात्र "अधिक संचय और अधिक जोड़ने में ही करना चाहते हैं, तो भले ही आज उनका रास्ता कोई न रोके, वे अट्टहास करते हुए अपनी इस गतिविधि को जारी रखें, पर वह दिन दूर नहीं, जब उन्हें अपनी मदहोशी का पश्चाताप मर्मान्तक वेदनाओं और पीड़ाओं के साथ करना पड़ेगा। इतना अलभ्य अवसर पाकर भी मनुष्य शरीर और सुसम्पन्नता का स्वर्ग सुयोग, उपलब्ध करके भी जो उसका सदुपयोग नहीं कर सके, आत्म-कल्याण का, पुण्य संचय का, साधन नहीं कर सके, वे अभागे इसी योग्य हैं कि अनन्त काल तक नारकीय यातनाओं में पड़े रहें। नैतिक अपराधों में सजा पाये हुए, बर्खास्त किये हुए नौकर को पुनः सरकारी नौकरी में नहीं लिया जाता, जो लोग आज अपनी सुसम्पन्नता का दुरुपयोग कर रहे हैं, वे भविष्य में फिर उसी पद पर नियुक्त किये जायेंगे, इसकी आशा कैसे की जा सकती है?"

गायत्री हर व्यक्ति को आगाह करती है कि ऐसी बुरी परिस्थिति में, कोई आत्म कल्याण का पथिक अपने को न फँसाले। "योन:" शब्द कहता है कि हम "जोड़ने और भोगने" की मृगतृष्णा में न भटकें। अपनी आवश्यकताऐं कम से कम रखें। उन्हें पूरा करने के पश्चात् बची हुई शक्ति का अधिक से अधिक भाग अपने से निर्बल, पिछड़े हुए, अविकसित निर्धन, अल्प बुद्धि, अशिक्षित लोगों को अपेक्षा कृत अधिक ऊँचा उठाने में खर्च करें। यह ईश्वरीय कार्य में हाथ बँटाना और अपनी बुद्धिमत्ता, दूरदर्शिता एवं कर्त्तव्यपरायणता का प्रमाण देना है। हर आदमी किसी न किसी से ऊँचा है, सुसम्पन्न है। इसलिए उसे यह बहाना न ढूँढना चाहिए कि मैं अमुक के बराबर धनी या शक्तिवान् हो जाऊँगा, तब परमार्थ करुँगा। वरन् यह सोचना चाहिए कि आज की स्थिति में किन लोगों की अपेक्षा मैं किस दृष्टि से अधिक सम्पन्न हूँ? इस दृष्टि से अपने में अपेक्षाकृत अनेकों सम्पन्नताऐं प्रतीत होंगी और उन्हीं का सदुपयोग कर लेने का अवसर मिलेगा।

हमें अवसरवादी होना चाहिए। अवसर से लाभ उठाने में चूक न करनी चाहिए। प्राप्त शक्तियों को अपने लिए मितव्ययता के साथ खर्च करके उन्हें दूसरों के लिए बचाना चाहिए। यह "आत्म संयम और परमार्थ" का दैवी मार्ग हमें 'योन:' शब्द द्वारा बताया गया है। इस पर चलने वाला गायत्री उपासक जीवन लक्ष्य को प्राप्त करके रहता है।

प्रचोदयात्—

प्रोत्साहन की आवश्यकता

प्रचोदयात् स्व त्वितरांश्च मानवान्,
नरः प्रयाणाय च सत्यवर्त्मनि।
कृतं हि कर्म खिलमित्य मंगिना,
विपश्चितैर्धर्म इति प्रचक्षते॥

अर्थ—मनुष्य अपने आपको तथा दूसरों को सत्य मार्ग पर चलने की प्रेरणा दे। इस प्रकार किये हुए सब प्रयत्न धर्म कहे जाते हैं।

मानव प्राणी को ईश्वर प्रदत्त अनेक दिव्य शक्तियाँ ऐसी प्राप्त हैं जिनका वह समुचित उपाय करे तो अनन्त ऐश्वर्य का स्वामी बनने में उसे कठिनाई न हो। अनेक विशेषताओं से विभूषित शरीर और मस्तिष्क शक्ति एवं सामर्थ्य इतनी अधिक है कि यदि उसका समुचित उपयोग हो जाय तो तुच्छ मनुष्य को महान बनने में कुछ भी बाधा न हो। सीधे रास्ते पर निरन्तर चलते रहने वाला कछुआ, अव्यवस्थित चाल चलने वाले खरगोश से आगे निकल जाता है। देखा जाता है कि कितने ही मनुष्य बड़ी विलक्षण योग्यताओं के होते हुए भी कुछ महत्वपूर्ण काम नहीं कर पाते और कितने ही व्यक्ति साधारण शरीर, सम्मान, मस्तिष्क और स्वल्प साधन होते हुए भी अच्छी उन्नति कर जाते हैं।

ऐसा क्यों होता है? इस पर विचार करने से पता चलता है कि जीवन में एक ऐसा दैवी तत्व होता है, जिसके न्यूनाधिक होने पर उन्नति अवनति बहुत कुछ निर्भर रहती

है। वह तत्व जिसमें जितना अधिक होगा, वह उतनी ही शीघ्रतापूर्वक उतनी ही अधिक मात्रा में उन्नति कर सकेगा। इस तत्व का नाम है-''प्रेरणा''। दूसरे शब्दों में इसी को लगन, धुन, उत्साह, स्फूर्ति भी कहते हैं। जिसको किसी काम की लगन लगी हुई है, तीव्र इच्छा एवं आकांक्षा है, जिसको प्राप्त करने की बड़ी लालसा है। जो लक्ष्य बन गया है, जिसे प्राप्त किये बिना और कुछ सुहाता नहीं, ऐसी प्रबल, प्रचंड, अदम्य अभिलाषा के पीछे एक ऐसी शक्ति होती है कि वह मनुष्य को चुप बैठने नहीं देती, उसे अभीष्ट दिशा में सोचने, प्रयत्न करने एवं लगे रहने के लिए प्रेरित करती रहती है यह प्रेरणा शक्ति ही वह बल है, जिसका जितना अंश जिस मनुष्य में होगा वह उतनी ही तेजी से आगे बढ़ेगा।

आलसी, निकम्मे, ठलुआ, हतोत्साह, निराशावादी, भाग्य-भाग्य रटने वाले अपनी हीन स्थिति का द्रोष दूसरों पर मढ़ते रहने वाले पुरुषों में एक मात्र प्रेरणा शक्ति की कमी होती है। वैसे उनका शरीर और मस्तिष्क ठीक होता है, पर जैसे तेल न होने पर हजारों रुपये की कीमती मोटर बेकार जगह घेरे खड़ी रहती है, वैसे ही प्रेरणा शक्ति की न्यूनता वाले व्यक्ति अपने दुर्दिन का रोना रोते हुए दुख-दारिद्र के दिन काटते रहते हैं। वे पुरुषार्थ, परिश्रम, व्यवस्था, भूल सुधार, नवीन प्रयत्न में उत्साह न दिखाकर किन्हीं पीर-मुरीद, देव-दानव, भूत-पलीत, जन्त्र-तंत्र के चक्कर में इस दुर्बुद्धि से प्रेरित होकर टक्करें खाते रहते हैं कि हमें स्वयं जीवन संघर्ष में कठोर पराक्रम करके विजय प्राप्त करने का कष्ट न उठाना पड़े और इस कार्य को कोई देव-दानव चुपचाप हमारे लिए करके रख जाय। ऐसे लोगों में से कई व्यक्ति जीवन-संग्राम के कठोर कार्यक्रम देखकर डर के मारे काँपने लगते हैं और मैदान छोड़कर कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों के अस्त्र-शस्त्र पटक कर भाग खड़े होते हैं। ऐसे लोगों की एक भारी भीड़ साधु नामधारी भिक्षुकों में दिखाई पड़ती है। घर गृहस्थी में भी ऐसे अनेक लोग मौजूद हैं, जो अपने जीवन की लाश का बोझ जैसे-तैसे ढोते रहते हैं। उनकी शिकायतें, मुसीबतें, असफलतायें सुनने कोई बैठे तो उनका ओर-छोर ही न आवेगा।

'प्रेरणा' एक जादू की छड़ी है, यह बिजली है। सफलता और सौभाग्य की कुञ्जी है। उन्नति की सारी शक्ति उसमें छिपी हुई है। जिस ओर मनुष्य की लगन लग जाय, उस ओर की कठिनाइयों का जंजाल थोड़े ही समय में साफ हो जाता है। मूर्ख को बुद्धिमान, बीमार को पहलवान, निर्धन को धनी, अभागे को सौभाग्यवान्, तुच्छ को महान्, गुणहीन को गुणवान, पतित को समुन्नत बनाने की सामर्थ्य ''प्रेरणा'' में ही है। जिस दशा में मनुष्य पूरी स्फूर्ति, अभिलाषा, दृढ़ता, लगन और बुद्धिमता के साथ चल पड़े तो उस दिशा में सफलता प्राप्त करने से उसे कोई रोक नहीं सकता। जब बिखरी हुई शक्तियाँ एकत्रित और सोई हुई शक्तियाँ जागृत होकर 'दृढ़तापूर्वक अग्रगामी होती हैं, तो पर्वत के समान कठिन कार्यों को रज के समान तुच्छ बना देती हैं। शास्त्रकार ने कहा है- एक मनस्वी के लिए इस संसार में कुछ भी कमी नहीं है।

गायत्री मन्त्र में इस महा शक्तिशाली जीवन-तत्व ''प्रेरणा'' का रहस्य प्रकट किया गया है। इस मन्त्र में भगवान से धन, वैभव, सुख, स्त्री, पुत्र, मकान, मोटर, विद्या, रूप आदि कुछ नहीं माँगा गया है। इन सब बातों को यहाँ तक कि अमृत, कल्पवृक्ष और पारस को भी छोड़कर केवल यह प्रार्थना की है कि हे भगवान! आप हमें प्रेरणा दीजिए। हमारी बुद्धि को प्रेरित कीजिए। जब बुद्धि में प्रेरणा उत्पन्न हो गई तो सारे धन, वैभव पाँवों तले स्वयं ही लौटेंगे। यदि प्रेरणा नहीं है, तो कुबेर का खजाना पाकर भी आलसी लोग उसे गँवा देंगे। किसी से तेल, लकड़ी, आटा, सुई, साबुन, लोटा, टोपी, पुस्तक आदि दर्जनों छोटी-छोटी चीजें माँगने की अपेक्षा यदि एक सेर सोना माँग लिया जाय, तो वह अधिक उचित होगा। उस सोने से यह सारी चीजें आसानी से खरीदी जा सकती हैं। भगवान यदि हमारी मलीनता, सुस्ती, काहिली हटाकर हमें प्रेरणाशील बनादें, तो इससे बड़ी सम्पत्ति भला और क्या हो सकती है? इसलिए गायत्री के 'प्रचोदयात्' शब्द में एक मात्र सद्बुद्धि को प्रेरित करने की याचना परमात्मा से की गई है।

आत्म-निरीक्षण करके हमें सूक्ष्म दृष्टि से यह विचार करना चाहिए कि कहीं हमारी प्रेरणा शक्ति निर्बल तो नहीं पड़ गई है। आशा, उत्साह, स्फूर्ति, लगन, कर्तव्यपरायणता, श्रमशीलता, चित्त की एकाग्रता में कमी तो नहीं आ गई है। इस क्षति की पूर्ति करने के लिये हमें प्रयत्नपूर्वक जुट जाना चाहिए, अपने स्वभाव में से ढीलपोल को हटाकर उसके स्थान पर चुस्ती को प्रतिष्ठित करना चाहिए।

जो त्रुटियाँ, न्यूनताऐं अपने में हों उनके निवारण के लिए आत्म-ताड़ना, पश्चात्ताप का दुख जितना अधिक होगा, उतनी सुधार की प्रेरक शक्ति अधिक उत्पन्न होगी, बशर्ते कि हम निराश होकर पाथ-पाँव न फुला बैठें। भविष्य में हमें किस स्थिति पर पहुँचना है, उसके स्पष्ट कल्पना चित्र हमारे मन: क्षेत्र में रहने चाहिए और उस

स्थिति को शीघ्र प्राप्त करने के लिए एक ऐसी तड़पन, एक ऐसी हूक भीतर ही भीतर उठती रहनी चाहिए जो हमारे लिए प्रेरणामयी शक्ति के भण्डार का काम करे और आगे बढ़ने का प्रोत्साहन बराबर देती रहे। यदि हमारे पास प्रेरणा बल मौजूद है तो यह निश्चय है कि सफलता पांवों तले लौटने को विवश होगी।

दूसरे लोग जो निम्न स्थिति में, अधोगति में, पड़े हुए हैं उन्हें तभी ऊँचा उठाया जा सकता है जब वे स्वयं भी अपने पैरों पर खड़े हों। केवल दूसरों के दान, सहायता या भरोसे पर कोई गिरा हुआ आदमी अपना उद्धार नहीं कर सकता। निर्बलों को, गिरे हुओं को, उठ खड़े होने के लिए जहाँ परिस्थितियाँ एवं साधनों की आवश्यकता है वहाँ सबसे अधिक आवश्यकता प्रेरणा की है यदि उनमें अपनी वर्तमान स्थिति पर तीव्र असंतोष पैदा कर दिया जाय और उचित स्थिति के लिए तड़पन आरम्भ हो जाय तो उनका दुर्दिन अधिक समय नहीं ठहर सकता। इसलिए दूसरों की सबसे बड़ी सेवा उन्हें प्रेरक विचार धारा देकर ही हो सकती है।

गायत्री का प्रचोदयात् शब्द कहता है कि प्राण धारियों में प्राण की, प्रेरणा की, जीवन की, अधिक मात्रा होनी चाहिए। जो लोग आलसी, काहिली, निराशा, हतोत्साह परावलम्बी, कायर, भाग्यवादी बने हुए हैं जिनने आत्म गौरव और आत्म विश्वास खो दिया है और इसी कारण उनका सौभाग्य सूर्य अस्त हो रहा है ऐसे दीन दुखी बने हुए लोगों के लिए सबसे बड़ी सेवा और सहायता यह हो सकती है कि उनके सम्मुख ऐसे विचार, तर्क, उपदेश, उदाहरण उपस्थित किये जायँ जिनसे प्रभावित होकर वे प्रोत्साहित हों, अपनी शक्तियों को समझें और उस मार्ग पर चल पड़ें जो उनको आत्म निर्माण की मंजिलें पार करावे। भिक्षुक को एक रुपया देने की बजाय उसे मजदूरी करने के लिए प्रोत्साहित, तत्पर और नियोजित कर दिया जाय तो निश्चय ही यह उसकी अधिक अच्छी सेवा कही जा सकती है।

आप किसी को निरुत्साहित मत किया कीजिए, किसी को ऐसी बात मत कहा कीजिए जिससे वह आत्म विश्वास खो बैठे और निराशा के गर्त में गिर जाय। वरन् आगे बढ़ने में हर एक को प्रोत्साहित किया कीजिए। उसके गुणों की सफलताओं की, योग्यताओं की प्रशंसा किया कीजिए तथा आशा जनक भविष्य की योजनाऐं उपस्थित किया कीजिए। किसी की भूलों, दोषों और त्रुटियों का बताना और सुधारने का कार्यक्रम उपस्थित करना भी आवश्यक है पर यह कार्य इस प्रकार होना चाहिए जिससे वह सुधार को कष्ट साध्य या असम्भव नहीं वरन् बहुत ही सरल समझे।

ऐसा ज्ञान दान देना जिससे मनुष्य के विचार ऊँचे उठते हों, आत्मा को सन्मार्ग की ओर प्रोत्साहन मिलता हो सबसे बड़ा दान है। यह कार्य हम उत्तम पुस्तकों द्वारा, वाणी द्वारा, लेखनी द्वारा, चित्रों द्वारा, जिस प्रकार सम्भव हो करें। हम स्वयं आगे बढ़ें तथा दूसरों को बढ़ावें। अपने को प्राणवान बनावें, दूसरों में प्राण संचार करें। चूँकि प्रेरणा ही भौतिक और आत्मिक सुखों की जननी है। इसलिए इस महाशक्ति का संसार में प्रत्येक गायत्री भक्त द्वारा अधिकाधिक सम्वर्धन होना चाहिए। यही प्रचोदयात् शब्द का संदेश है।

धर्म शास्त्र का सार–गायत्री

गायत्री महामन्त्र एक अगाध समुद्र है जिसके गर्भ में छिपे हुए रत्नों का पता लगाना सहज कार्य नहीं है। इस महासागर में से सभी ने अपने–अपने प्रज्ञा, योग्यता और आकांक्षा के अनुरूप रत्न निकाले हैं पर उस अक्षय भण्डार का पार किसी को भी नहीं मिला है। गायत्री के एक–एक अक्षर और एक–एक पद में कितना गहरा ज्ञान सन्निहित है, इसका पता लगाते हुए जो जितना ऊँचा विद्वान् है उसे उतनी ही कठिनाई होती है। अनेक ऋषि महर्षियों ने गायत्री मन्त्र के प्रत्येक अक्षर पर विशेष व्याख्याएँ की हैं और अपने–अपने दृष्टिकोण के अनुसार गायत्री के पदों के अर्थ निकाले हैं। वे अर्थ इतने अधिक, विस्तृत और इतने मर्मपूर्ण हैं कि इन थोड़ी पंक्तियों में उन्हें खुलासा प्रकट नहीं किया जा सकता, इन पंक्तियों में गायत्री मन्त्र का सर्व सुलभ अर्थ संक्षिप्त रूप से लिखा जा रहा है जिससे उसके सामान्य अर्थ को सुविधा पूर्वक समझा जा सके। आइए पहले गायत्री मन्त्र के एक–एक शब्द का अर्थ करें :–

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात्।

ॐ—ब्रह्म
भूः—प्राण स्वरूप
भुवः—दुःख नाशक
स्वः—सुखस्वरूप
तत्—उस
सवितुः—तेजस्वी, प्रकाशवान
वरेण्यं—श्रेष्ठ

भर्गो:—पाप नाशक
देवस्य:—दिव्य को देने वाले को
धीमहि:—धारण करें
य:—जो
न:—हमारी
प्रचोदयात्—प्रेरित करे ।

अर्थात्—उस सुखस्वरूप, दु:खनाशक, श्रेष्ठ, तेजस्वी, पापनाशक, प्राण स्वरूप ब्रह्म को हम धारण करते हैं जो हमारी बुद्धि को (सन्मार्ग पर चलने की ओर) प्रेरणा देता है ।

इस अर्थ का विचार करने से उसके अन्तर्गत तीन तथ्य प्रकट होते हैं । १- ईश्वर के दिव्य गुणों का चिन्तन, २- ईश्वर को अपने अन्दर धारण करना, ३- सद्‌बुद्धि की प्रेरणा के लिए प्रार्थना । यह तीनों ही बातें असाधारण महत्व की हैं ।

मनुष्य जिस दिशा में विचार करता है, जिन वस्तुओं का चिन्तन करता है, जिन तत्वों पर ध्यान एकाग्र करता है वह सब धीरे-धीरे उस चिन्तन करने वाले की मनोभूमि में स्थित और वृद्धि को प्राप्त करते जाते हैं । विचार विज्ञान का विस्तृत विवेचन तो कहीं अन्यत्र करेंगे पर उसके सारभूत सिद्धान्तों को हमें समझ लेना चाहिए कि जिन बातों पर चित्त को एकाग्र करेंगे उसी दिशा में हमारी मानसिक शक्तियाँ प्रकाशित होने लगेंगी और अपनी अद्‌भुत सामर्थ्यों के द्वारा सूक्ष्म लोगों में से ऐसे-ऐसे साधन हेतु और उपकरण पकड़ लाती हैं जिनके आधार पर उसी चिन्तन की दिशा में मनुष्य को नाना प्रकार की गुप्त-प्रकट, दृश्य-अदृश्य सहायताऐं मिलती हैं और उस मार्ग में सफलताओं का ताँता बँध जाता है, चिन्तन का ऐसा ही महत्व और महात्म्य है । ध्यान योग की महिमा किसी से छिपी नहीं है ।

गायत्री मन्त्र के प्रथम भाग में ईश्वर के कुछ ऐसे गुणों का चिन्तन है जो मानव-जीवन के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं । आनन्द, दु:ख का नाश, श्रेष्ठता, तेज, निर्भयता एवं आत्मा की सर्वव्यापकता, "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की मान्यता पर जितना भी ध्यान एकाग्र किया जायगा, मस्तिष्क इन तत्वों की अपने में वृद्धि करेगा । मन इनकी ओर आकर्षित होगा, अभ्यस्त बनेगा और उसी आधार पर काम करेगा । आत्मा की सच्चिदानन्द स्थिति का चिन्तन, दु:ख शोक रहित ब्राह्मी स्थिति का चिन्तन, श्रेष्ठता, तेजस्विता और निर्मलता का चिन्तन, आत्मा की सर्वव्यापकता का चिन्तन यदि, गहरी अनुभूति और श्रद्धापूर्वक किया जाय तो आत्मा एक स्वर्गीय दिव्य भाव से ओत प्रोत हो जाती है । आत्मा इस दिव्य आनन्द को विचार क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रखता वरन् क्रिया में लाकर इसका सुदृढ़ आनन्द भोगने की ओर कदम उठाता है ।

गायत्री मन्त्र के दूसरे भाग में उपरोक्त गुणों वाले तेज पुञ्ज को, परमात्मा को, अपने में धारण करने की प्रतिज्ञा है । इन दिव्य गुणों वाले परमात्मा का केवल चिन्तन मात्र किया जाय सो बात नहीं, वरन् गायत्री की आत्मा का सुदृढ़ आदेश है कि उस ब्रह्म को, उस दिव्य गुण सम्पन्न परमात्मा को, अपने अन्दर धारण करें, उसे अपने रोम-रोम में ओत-प्रोत करलें, परमात्मा को अपने कण-कण में व्याप्त देखें और ऐसा अनुभव करें कि उन दिव्य गुणों वाला परमात्मा हमारे भीतर बाहर आच्छादित हो गया है और उन दिव्य गुणों में उस ईश्वरीय सत्ता में अपना 'अहम्' पूर्ण स्वरूप से निमग्न हो गया है । इस प्रकार की धारणा से जितने समय तक मनुष्य ओत-प्रोत रहेगा उतने समय तक उसे भूलोक में रहते हुए भी ब्रह्मलोक के आनन्द का अनुभव होगा । यह अनुभव इतना गम्भीर है कि आगामी जीवन में बाह्य आवरणों में उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता । उसमें सात्विक तत्वों की मङ्गलमयी अभिवृद्धि न हो ऐसा हो नहीं सकता ।

गायत्री मंत्र के तीसरे भाग में परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि वह हमारे लिए सद्‌बुद्धि की प्रेरणा करें । हमें सात्विक बुद्धि प्रदान करें । हमारे मस्तिष्क को कुविचारों, कुसंस्कार, नीच वासनाओं से, दुर्भावनाओं से छुटा कर सतोगुणी ऋतम्भरा बुद्धि से, विवेक से, सद्‌ज्ञान से पूर्ण करें ।

इस प्रार्थना के अन्तर्गत बताया गया है कि प्रथम भाग में बताये हुये दिव्य गुणों को प्राप्त करने के लिए, दूसरे भाग में बताई गई ब्रह्म धारणा के लिए, तीसरे भाग में उपाय बता दिया गया है कि अपनी बुद्धि को सात्विक बनाओ, आदर्शों को ऊँचा उठाओ, उच्च दार्शनिक विचारधाराओं में रमण करो और अपनी तुच्छ तृष्णा एवं वासनाओं के इशारे पर नाचते रहने वाली कुबुद्धि को मानस लोक में से बहिष्कृत कर दो । जैसे-जैसे बुद्धि कल्मष दूर होगा वैसे ही वैसे दिव्य गुण सम्पन्न परमात्मा के अंशों की अपने आप वृद्धि होती जायगी और उसी अनुपात से लौकिक और पारलौकिक आनन्दों की अभिवृद्धि होती जायगी ।

गायत्री मन्त्र के गर्भ में सन्निहित उपरोक्त तथ्य में ज्ञान कर्म, उपासना तीनों हैं । सद्‌गुणों का चिन्तन ज्ञान है, ब्रह्म

की धारणा कर्म है और बुद्धि की सात्विकता, अभीष्ट प्राप्त क्रिया प्रणाली एवं उपासना है। वेदों की समस्त ऋचाऐं इस तथ्य को सविस्तार प्रकट करने के लिए प्रकट हुई हैं। वेदों में ज्ञान, कर्म और उपासना यह तीनों विषय हैं, गायत्री के बीच में भी उन्हीं तीनों का वर्णन व्यवहारिक, संक्षिप्त एवं सर्वाङ्गपूर्ण है। इस तथ्य को इस बीज को सच्चे हृदय से निष्ठा और श्रद्धा के साथ अन्तःकरण में गहरा उतारने का प्रयत्न करना ही गायत्री की उपासना है। इस उपासना से साधक का सब प्रकार कल्याण ही कल्याण है।

परमात्मा की प्रार्थना का सर्वोत्तम मंत्र गायत्री है। उसमें ईश्वर से वह वस्तु मांगी गई है जो इस संसार में इस जीवन में सर्वोपरि महत्व की है। ''बुद्धि की सन्मार्ग की ओर प्रगति'' यह इतना बड़ा लाभ है कि इसे प्राप्त करना, ईश्वर की कृपा का प्रत्यक्ष चिह्न माना जा सकता है। इस मन्त्र के द्वारा ऋषियों ने हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित किया है कि सबसे बड़ा लाभ हमें किसी की प्राप्ति में मानना चाहिए। गायत्री की प्रतिष्ठा का अर्थ सद्बुद्धि की प्रतिष्ठा है। गायत्री का मार्ग अपनी बुद्धि का शुद्ध करना, उसमें से दूषित दृष्टि को हटा कर दूरदर्शिता पूर्ण दृष्टिकोण की स्थापना करना है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए परमात्मा की सहायता के निमित्त इस मन्त्र में प्रार्थना की गई है।

गायत्री में परमात्मा को जिन गुणों के साथ संबोधित किया है वे गुण मनुष्य जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। सविता. वरेण्य, भर्ग, देव इन चार शब्दों में तेजस्वी, प्रतिभावान, शक्तिशाली, श्रेष्ठ, संयमी सेवाभावी बनने की शिक्षा है। परमात्मा इन गुणों वाला है, यही गुण गायत्री उपासक में आवें इसलिए उनकी ओर इस मन्त्र में संकेत किया गया है। बार-बार इन विश्लेषणों के साथ बार-बार परमात्मा को स्मरण करने से बार-बार इन गुणों की छाया मन पर पड़ती है और एक वैसा ही संस्कार मन पर जमता है। इस प्रकार गायत्री-उपासक श्रेष्ठताओं को अपनाने के लिए प्रस्तुत एवं अग्रसर होता है।

यह तो गायत्री का स्थूल अर्थ है। सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो इन चौबीस अक्षरों में इतने सारगर्भित रहस्य छिपे हुए हैं कि उनके उद्घाटन से संसार की समस्त विद्याऐं, कलाऐं, शक्तियाँ एवं सम्पदाऐं करतल गत हो सकती हैं।

❑❑❑

गायत्री की चौबीस शक्तियाँ

गायत्री भारतीय धर्म-दर्शन की आत्मा है। उसे परम प्रेरक गुरुमंत्र कहा गया है। गुरु शिक्षा भी देते हैं और सामर्थ्य भी। गायत्री में सद्ज्ञान की ब्रह्म चेतना और सत्प्रयोजन पूरा कर सकने की प्रचण्ड शक्ति भरी पड़ी है। इसलिए उसे ब्रह्मवर्चस् भी कहते हैं।

गायत्री का उपास्य सूर्य-सविता है। सविता का तेजस सहस्रांशु कहलाता है। उसके सात रंग के सात अश्व हैं और सहस्र किरणें सहस्र शस्त्र गायत्री की सहस्र शक्तियाँ हैं। इनका उल्लेख संकेत उसके सहस्र नामों में वर्णित है। गायत्री सहस्र नाम प्रख्यात है। इसमें अष्टोत्तर शत अधिक प्रचलित हैं। इनमें भी चौबीस की प्रमुखता है। विश्वामित्र तन्त्र में इन चौबीस प्रमुख नामों का उल्लेख है। इन शक्तियों में से बारह दक्षिण पक्षीय हैं और बारह वाम पक्षीय। दक्षिण पक्ष को आगम और वाम पक्ष को निगम कहते हैं। कहा गया है-

गायत्री बहुनामास्ति संयुक्ता देव शक्तिभिः।
सर्व सिद्धिषु व्याप्ता सा इष्टा मुनिभिराहता॥

गायत्री के असंख्य नाम हैं, समस्त देव शक्तियाँ उसी से अनुप्राणित हैं, समस्त सिद्धियों में उसी का दर्शन होता है।

चतुर्विंशति साहस्र महा प्रज्ञा मुखं मतम्।
चतुर्विंशति शवे चैतु ज्ञेयं मुख्यं मुनीषिभिः॥

महाप्रज्ञा के चौबीस हजार नाम प्रधान हैं, इनमें चौबीस को अधिक महत्वपूर्ण माना गया है।

तत्रापि च सहस्रं तु प्रधान परिकीर्तितम्।
अष्टोत्तरशतं मुख्यं तेषुक्तिप्रो महर्षिभिः॥

उन चौबीस सौ नामों में भी मात्र सहस्र नाम ही सर्वविदित हैं। सहस्रों में से एक सौ आठ चुने जा सकते हैं।

चतुर्विंशतिदेवास्याः गायत्र्याश्चाक्षराणि तु।
सन्ति सर्वसमर्थानि तस्याः सारान्वितानि च॥

चौबीस अक्षरों वाली सर्व समर्थ गायत्री के चौबीस नाम भी ऐसे ही हैं, जिनमें सार रूप से गायत्री के वैभव विस्तार का आभास मिल जाता है।

चतुर्विंशतिकेष्वेवं नामसु द्वादशैव तु।
वैदिकानि तथाऽन्यानि शेषाणि तान्त्रिकानि सु॥

गायत्री के चौबीस नामों में बारह वैदिक वर्ग के हैं और बारह तान्त्रिक वर्ग के।

चतुर्विंशतु वर्णेषु चतुर्विंशति शक्तयः।
शक्ति रूपानुसार च तासां पूजाविधीयते॥

गायत्री के चौबीस अक्षरों में चौबीस देव शक्तियाँ निवास करती हैं। इसलिए उनके अनुरूपों की ही पूजा-अर्चा की जाती है।

आद्य शक्तिस्तथा ब्राह्मी, वैष्णवी शम्भवीति च।
वेदमाता देवमाता विश्वमाता ऋतम्भरा॥
मन्दाकिन्यजपा चैव, ऋद्धि सिद्धि प्रकीर्तिता।
वैदिकानि तु नामानि पूर्वोक्तानि किं द्वादश॥

(१) आद्यशक्ति (२) ब्राह्मी (३) वैष्णवी (४) शाम्भवी (५) वेदमाता (६) देवमाता (७) विश्वमाता (८) ऋतम्भरा (९) मन्दाकिनी (१०) अजपा (११) ऋद्धि (१२) सिद्धि-इन बारह को वैदिकी कहा गया है।

सावित्री सरस्वती ज्ञेया, लक्ष्मी दुर्गा तथैव च।
कुण्डलिनी प्राणाग्निश्च भवानी भुवनेश्वरी॥
अन्नपूर्णेति नामानि महामाया पयस्विनी।
त्रिपुरा चैवेति विज्ञेया तान्त्रिकानि च द्वादश॥

(१) सावित्री (२) सरस्वती (३) लक्ष्मी (४) दुर्गा (५) कुण्डलिनी (६) प्राणाग्नि (७) भवानी (८) भुवनेश्वरी (९) अन्नपूर्णा (१०) महामाया (११) पयस्विनी और (१२) त्रिपुरा-इन बारह को तान्त्रिकी कहा गया है।

बारह ज्ञान पक्ष की बारह विज्ञान पक्ष की शक्तियों के मिलन से चौबीस अक्षर वाला गायत्री मन्त्र विनिर्मित हुआ।

गायत्री ब्रह्म चेतना है। समस्त ब्रह्माण्ड के अन्तराल में वही संव्याप्त है। जड़ जगत का समस्त संचालन उसी की प्रेरणा एवं व्यवस्था के अन्तर्गत हो रहा है। अन्य प्राणियों में उसका उतना ही अंश है, जिससे अपना जीवन निर्वाह सुविधापूर्वक चल सके। मनुष्य में उसकी यह विशेषता सामान्य रूप से मस्तिष्क क्षेत्र की अधिष्ठात्री बुद्धि के रूप में दृष्टिगोचर होती है। सुख-सुविधाओं को जुटाने वाले साधन इसी के सहारे प्राप्त होते हैं। असामान्य रूप से यह ब्रह्म चेतना प्रज्ञा है। यह अन्तःकरण की गहराई में रहती है और प्रायः प्रसुप्त स्थिति में पड़ी रहती है। पुरुषार्थी उसे प्रयत्न पूर्वक जगाते और क्रियाशील बनाते हैं। इस जागरण का प्रतिफल बहिरंग और अन्तरंग में मुक्ति बनकर

प्रकट होता है। बुद्धिबल से मनुष्य वैभववान बनता है, प्रज्ञा बल से ऐश्वर्यवान। वैभव का स्वरूप है- धनं, बल, कौशल, यश, प्रभाव, ऐश्वर्य का रूप महान व्यक्तित्व है। इसके पाँच वर्ग हैं। सन्त, ऋषि, महर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि। पाँच देवों का वर्गीकरण इन्हीं विशेषताओं के अनुपात से किया है। विभिन्न स्वरूप विभिन्न क्षेत्रों में प्रकट होने वाले उत्कृष्टता के ही पाँच स्वरूप हैं। वैभव सम्पन्नों को दैत्य (समृद्ध) और ऐश्वर्यमान महामानवों को दैव (उदात्त) कहा गया है।

वैभव उपार्जन करने के लिए आवश्यक ज्ञान और साधन जिस प्रकार प्राप्त किए जा सकते हैं, इसे शिक्षा कहते हैं। ऐश्वर्यवान बनने के लिए जिस ज्ञान एवं उपाय को अपनाना पड़ता है, उसका परिचय विद्या से मिलता है। विद्या का पूरा नाम ऋतम्भरा प्रज्ञा या विद्या है। इसका ज्ञान पक्ष योग और साधन पक्ष तप कहलाता है। योग उपासना है और तप साधना। इन्हें अपनाना परम पुरुषार्थ कहलाता है। अन्तराल में प्रसुप्त स्थिति में पड़ी हुई बीज रूप में विद्यमान शक्ति को सक्रिय बनाने में जितनी सफलता मिलती है, वह उतना ही बड़ा महामानव-सिद्ध पुरुष देवात्मा एवं अवतार कहलाता है।

ब्रह्म चेतना-गायत्री सर्व व्यापक होने से सर्व शक्तिमान है। उसके साथ विशिष्ट घनिष्ठता स्थापित करने के प्रयास साधना कहलाते हैं। इस सान्निध्य में प्रधान माध्यम भक्ति है। भक्ति अर्थात् भाव संवेदना। भाव शरीरधारियों के साथ ही विकसित हो सकता है। साधना की सफलता के लिए भाव भरी साधना अनिवार्य है। मनुष्य को जिस स्तर का चेतना-तंत्र मिला है, उसकी दिव्य शक्तियों को देव-काया में प्रतिष्ठापित करने के उपरान्त ही ध्यान धारणा का प्रयोजन पूरा हो सकता है। तत्वदर्शियों ने इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए समस्त दिव्य शक्तियों के स्वरूप मानव आकृति में प्रतिष्ठित किए हैं। यही देवता और देवियाँ हैं। गायत्री को आद्य शक्ति के रूप में मान्यता दी गई है। निराकार उपासक प्रातःकाल के स्वर्णिम सूर्य के रूप में उसकी धारणा करते हैं।

आद्य शक्ति गायत्री को संक्षेप में विश्वव्यापी ब्रह्म चेतना समझा जाना चाहिए। उसकी असंख्य तरंगें हैं अर्थात् उस एक ही महासागर में असंख्य लहरें उठती हैं। उनके अस्तित्व पृथक-पृथक दीखते हुए भी वस्तुतः उन्हें सागर की जलराशि के अंग-अवयव ही माना जायेगा। गायत्री की सहस्र शक्तियों में जिन २४ की प्रधानता है, वे विभिन्न प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त होने वाली शक्ति धाराएँ हैं। २४ अवतार, २४ देवता, २४ ऋषि, २४ गीताएँ आदि में गायत्री के २४ अक्षरों का ही तत्वज्ञान विभिन्न पृष्ठ भूमियों में बताया, समझाया गया है। इन २४ अक्षरों में सन्निहित शक्तियों की उपासना २४ देवियों के रूप में की जाती है।

तथ्य को समझने में बिजली के उदाहरण से अधिक सरलता पड़ेगी। बिजली सर्वत्र संव्याप्त ऊर्जा तत्व है। यह सर्वत्र संव्याप्त और निराकार है। उसे विशेष मात्रा में उपार्जित एवं एकत्रित करने के लिए बिजली घर बनाये जाते हैं। उपलब्ध विद्युत शक्ति को स्विच तक पहुँचाया जाता है। स्विच के साथ जिस प्रकार का यन्त्र जोड़ दिया जाता है बिजली उसी प्रयोजन को पूरा करने लगती है। बत्ती जलाकर प्रकाश, पंखा चला कर हवा, हीटर से गर्मी, कूलर से ठण्डक, रेडियो से आवाज, टेलीविजन से दृश्य, मोटर से गति-स्पर्श से झटका जैसे अनेकानेक प्रयोजन पूरे होते हैं। इनका लाभ एवं अनुभव अलग-अलग प्रकार का होता है। इन सबके यन्त्र भी अलग-अलग प्रकार के होते हैं। इतने पर भी विद्युत शक्ति के मूल स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता है। इन विविधताओं को उसके प्रयोगों की भिन्नताएँ भर कहा जा सकता है। आद्यशक्ति गायत्री एक ही है, पर उसका प्रयोग विभिन्न प्रयोजनों के लिए करने पर नाम-रूप में भिन्नता आ जाती है और ऐसा भ्रम होने लगता है कि वे एक-दूसरे से पृथक तो नहीं हैं? विचारवान जानते हैं कि बिजली एक ही है। उद्देश्यों और प्रयोगों की भिन्नता के कारण उनके नाम रूप में अन्तर आता है और प्रथकता होने जैसा आभास मिलता है। तत्वदर्शी प्रथकता में भी एकता का अनुभव करते हैं। गायत्री की २४ शक्तियों के बारे में ठीक इसी प्रकार समझा जाना चाहिए।

पेड़ के कई अंग अवयव होते हैं। जड़, छाल, तना, टहनी, पत्ता, फूल, पराग, फल, बीज आदि। इन सबके नाम, रूप, स्वाद, गंध, गुण आदि भी सब मिला कर यह सारा परिवार वृक्ष की सत्ता में ही सन्निहित माना जाता है। गायत्री की २४ शक्तियाँ भी इसी प्रकार मानी जानी चाहिए। सूर्य के सात रंग के सात अश्व पृथक-पृथक निरूपित किए जाते हैं। उनके गुण, धर्म भी अलग-अलग होते हैं। इतने पर भी वे सूर्य-परिवार के अन्तर्गत ही हैं। गायत्री की २४ शक्तियों की उपासना को विभिन्न प्रयोजनों के लिए विभिन्न नाम रूपों में किया जा सकता है, पर भ्रम नहीं होना चाहिए कि वे सभी स्वतंत्र एवं विरोधी हैं। उन्हें एक ही काया के विभिन्न अवयव एवं परस्पर पूरक मानकर चलना ही उपयुक्त है।

१- आद्यशक्ति गायत्री :

ब्रह्म एक है। उसकी इच्छा क्रीड़ा-कल्लोल की हुई। उसने एक से बहुत बनना चाहा, यह चाहना-इच्छा ही शक्ति बन गई। इच्छा शक्ति ही सर्वोपरि है। उसी की सामर्थ्य से यह समस्त संसार बन कर खड़ा हो गया है। जड़-चेतन सृष्टि के मूल में परब्रह्म की जिस आकांक्षा का उदय हुआ, उसे ब्राह्मी शक्ति कहा गया। यही गायत्री है। संकल्प से प्रयत्न, प्रयत्न से पदार्थ का क्रम सृष्टि के आदि से बना है और अनन्त काल से चला आया है। प्रत्यक्ष तो पदार्थ ही दीखता है। सूक्ष्मदर्शी वैज्ञानिक जानते हैं कि पदार्थ की मूल सत्ता अणु संगठन पर आधारित है। यह अणु और कुछ नहीं, विद्युत तरंगों से बने हुए गुच्छक मात्र हैं। यह सूक्ष्म हुआ। उससे गहराई में उतरने वाले तत्वदर्शी अध्यात्म वेत्ता जानते हैं कि विश्व व्यापी विद्युत तरंगें भी स्वतंत्र नहीं हैं, वे ब्रह्म चेतना की प्रतिक्रिया भर हैं। जड़ जगत की पदार्थ सम्पदा में निरन्तर द्रुतगामी हलचलें होती हैं। इन हलचलों के पीछे उद्देश्य, संतुलन, विवेक, व्यवस्था का परिपूर्ण समन्वय है। 'इकालॉजी' के ज्ञाता भली प्रकार जानते हैं कि सृष्टि के अन्तराल में कोई अत्यन्त दूरदर्शी, विवेक युक्त सत्ता एवं सुव्यवस्था विद्यमान है। इसी सामर्थ्य की प्रेरणा से सृष्टि की समस्त हलचलें किसी विशिष्ट उद्देश्य के लिए गतिशील रहती हैं। यही 'आद्यशक्ति' है-इसी को गायत्री कहा गया है। साक्षी, दृष्टा, निर्विकार, निर्विकल्प, अविनय, निराकार, व्यापक ब्रह्म की सृष्टि व्यवस्था जिस सामर्थ्य के सहारे चलती है, वही गायत्री है।

गायत्री त्रिपदा है। गंगा-यमुना-सरस्वती के संगम को तीर्थराज कहते हैं। गायत्री मंत्रराज है। सत्-चित्-आनन्द- ''सत्यं-शिवं-सुन्दरम्'' सत्, रज, तम, ईश्वर-जीव-प्रकृति, भूलोक, भुवलोक, स्वःलोक का विस्तार त्रिपदा है। पदार्थों में ठोस, द्रव, वाष्प, प्राणियों में जल, थल, नभचर-सृष्टिक्रम के उत्पादन अभिवर्द्धन, परिवर्तन गायत्री के ही तीन उपक्रम हैं। सर्दी, गर्मी, वर्षा की ऋतुएँ, दिन-रात्रि-संध्या-तीन काल में महाकाल की हलचलें देखी जा सकती हैं। प्राणाग्नि-कालाग्नि, योगाग्नि के रूप में त्रिपदा की ऊर्जा व्याप्त है।

सृष्टि के आदि में ब्रह्म का प्रकटीकरण हुआ-यह ॐकार है। ॐकार के तीन भाग हैं-अ उ म्। उनके तीन विस्तार भूः-भुवः-स्वः हैं। उनके तीन चरण हैं। इस प्रकार शब्द ब्रह्म ही पल्लवित होकर गायत्री मन्त्र बना।

पौराणिक कथा के अनुसार सृष्टि के आदि में विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल पर ब्रह्मा जी प्रकट हुए। उन्हें आकाशवाणी द्वारा गायत्री मंत्र मिला और उसकी उपासना करके सृजन की क्षमता प्राप्त करने का निर्देश हुआ। ब्रह्मा ने सौ वर्ष तक गायत्री का तप करके सृष्टि रचना की शक्ति एवं सामग्री प्राप्त की। यह कथा भी शब्द ब्रह्म की भाँति गायत्री को ही आद्या शक्ति सिद्ध करती है। ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग के अन्तर्गत संसार की समस्त विचार सम्पदा और भाव विविधता त्रिपदा गायत्री की परिधि में ही सन्निहित है।

आद्या शक्ति के साथ सम्बन्ध बनाकर साधक सृष्टि की समीपता तक जा पहुँचता है और उन विशेषताओं से सम्पन्न बनता है, जो परब्रह्म में सन्निहित है। परब्रह्म का दर्शन एवं विलय ही जीवन लक्ष्य है। यह प्रयोजन आद्य शक्ति की सहायता से संभव होता है।

आद्या शक्ति का साधक पर अवतरण ऋतम्भरा प्रज्ञा के रूप में होता है और साधक ब्रह्मर्षि बन जाता है। नर-पशुओं की प्रवृत्तियाँ, वासना, तृष्णा, अहंता के कुचक्र में परिभ्रमण करती रहती हैं। नरदेवों की अन्तरात्मा में निष्ठा, प्रज्ञा एवं श्रद्धा की उच्चस्तरीय आस्थाएँ प्रगाढ़ बनती हैं और परिपक्व होती चली जाती हैं। निष्ठा अर्थात् सत्कर्म प्रज्ञा अर्थात् सद्ज्ञान। श्रद्धा अर्थात् सद्भाव। इन्हीं की सुखद प्रतिक्रिया-तृप्ति, तुष्टि एवं शान्ति के रूप में साधक के सामने आती हैं। तृप्ति अर्थात् संतोष, तुष्टि अर्थात् समाधान। शान्ति अर्थात् उल्लास उच्चस्तरीय भाव संवरण की उपलब्धि होने पर साधक सदा अपनी आस्थाओं का आनन्द लेते हुए रस विभोर हो जाता है। शोक-संताप से उसे आत्यन्तिक छुटकारा मिल जाता है। आद्या शक्ति की शरणागति के लिए बढ़ता हुआ हर कदम साधक को इन्हीं विभूतियों से लाभान्वित करता चलता है।

२- ब्राह्मी :

त्रिदेव प्रसिद्ध हैं- ब्रह्मा, विष्णु, महेश—उत्पादन, अभिवृद्धि, परिवर्तन। इन्हें ब्राह्मी कहा जाता है। सृजन उत्पादन में संलग्नता संसार की सबसे बड़ी विशेषता है। यह क्षमता धरती में है और जननी में है। अपने उत्पादनों से दूसरों को लाभान्वित करना, स्वयं धन्य बनना, इसी उत्कृष्टता के कारण धरती माता और जननी माता गौरवान्वित होती है। यह ब्राह्मी माता के अनुदान हैं, जिन्हें जो जितनी मात्रा में उपलब्ध करता है वह उसी अनुपात से महामानव बनता चला जाता है। ध्वंस दानवों का और सृजन देवों का सिद्धान्त है। इससे सृजन क्रियाओं में संलग्न मनुष्य ही देव-मानव कहलाते हैं, गायत्री की ब्राह्मी शक्ति की साधना करने से साधक में ब्रह्म-तेजस-ब्राह्मणत्व

विकसित होता है। ब्राह्मण पृथ्वी के देवता माने जाते हैं। उन्हें भूदेव कहते हैं।

सत्, रज, तम में- सत्यं, शिवं, सुन्दरम् में प्रथम वर्ण सत् था- सत्य का है। यही ब्राह्मी विशेषता है। उसका अवलम्बन ग्रहण करने से व्यक्तित्व-स्वभाव में सतोगुण बढ़ता है और आचार, व्यवहार में सतोगुण का-पवित्रता एवं सादगी का अनुदान निरन्तर बढ़ता जाता है।

ब्राह्मी हंस वाहिनी है। उसके एक हाथ में पुस्तक दूसरे में कमण्डल है। किशोरी कन्या उसकी वय है। इन अलंकारों से ब्रह्मशक्ति का स्वरूप समझने में सहायता मिलती है और उसका अनुग्रह पाने का द्वार खुलता है। गायत्री का वाहन सामान्य हंस नहीं, मनुष्यों में पाये जाने वाले, राजहंस-परमहंस हैं। राजहंस-शालीन, सज्जन, श्रेष्ठ, आदर्श। परमहंस-तत्वज्ञानी, तपस्वी, परमार्थी, जीवन मुक्त। गायत्री उपासना के आधार पर साधक सामान्य मानवी स्तर से ऊँचा उठकर राजहंस बनता है। साधना की परिपक्वता से वह परमहंस की स्थिति तक पहुँच जाता है। देवात्मा सिद्ध पुरुष के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

नीर-क्षीर विवेक हंस का प्रधान गुण है। दूसरा है- मोती ही चुगना-कौड़ी को हाथ न लगाना। यही सतोगुण है। उत्कृष्ट चिन्तन-सद्विवेक और औचित्य को ही अपनाना-अनौचित्य से बचे रहना -यही हंस प्रवृत्ति है। ब्राह्मी चेतना का स्वरूप यही है, गायत्री का हंस वाहन है अर्थात् हंस प्रवृत्ति व्यक्तियों को ही वह महाशक्ति अपने निकटतम रखती है। दूसरा तात्पर्य यह है कि इस उपासना के फलस्वरूप साधक का सतोगुण क्रमशः बढ़ता ही चला जाता है।

पुस्तक से सद्ज्ञान और कमण्डल से सत्कार्य का संकेत है। गायत्री शक्ति के दोनों हाथों में यही वरदान रखे हैं। ब्राह्मी साधना से अन्तःकरण में उत्कृष्ट चिन्तन की तरंगें उठती हैं। क्रिया-कलाप में सत्कर्म करने का उल्लास एवं साहस उभरता है। गायत्री को ब्राह्मण की कामधेनु कहा गया है। उसका तात्पर्य यह है कि ब्राह्मी शक्ति कामधेनु का पयपान करने वाला साधक सच्चे अर्थों में ब्राह्मण बनता है और आत्म-संतोष, लोक-सम्मान तथा दैवी अनुग्रह के तीनों वरदान प्राप्त करता है।

ऋद्धियों और सिद्धियों पर अधिकार ब्रह्म-परायण का होता है। जिसका बाह्य और अन्तर जीवन पवित्र है उसी को मन्त्र सिद्धि उपलब्ध होती है। इसके लिए आवश्यक पात्रता गायत्री की ब्रह्म धारा के सम्पर्क से प्राप्त होती है।

सावित्री-सत्यवान की कथा में सावित्री ने सत्यवान को वरण किया था और उसे मृत्यु के मुख से छुड़ाने तथा लकड़हारे से राजा बना देने का अनुदान दिया था। सत्यवान साधक, सावित्री की सच्ची सहायता प्राप्त कर सके, ब्राह्मी शक्ति के माध्यम से यही पृष्ठभूमि बनती है।

३- वैष्णवी :

विष्णु की शक्ति वैष्णवी है। वैष्णवी अर्थात् पालन कर्त्री। इसे व्यवस्था भी कह सकते हैं। उत्पादन आरम्भ है। अभिवर्धन 'मध्य' है। एक है शैशव-दूसरा है-यौवन। यौवन में प्रौढ़ता, परिपक्वता, सुव्यवस्था की समझदारी भी होती है। साहस और पराक्रम का पुट रहता है। यही रजोगुण है। त्रिपदा की दूसरी धारा वैष्णवी है। इसे गंगा की सहायक यमुना कहा जा सकता है। इस साधना के साधक को इन सिद्धियों-विभूतियों एवं सत्प्रवृत्तियों की उपलब्धि होती है, जिनके आधार पर वह यथार्थवादी योजनाएँ बनाने में ही नहीं उन्हें सुव्यवस्था, तन्मयता एवं तत्परता के सहारे आगे बढ़ाने और सफल बनाने में समर्थ होता है।

वैष्णवी को दूसरे अर्थों में लक्ष्मी कह सकते हैं। भौतिक क्षेत्र में इसी को सम्पन्नता और आत्मिक क्षेत्र में इसी को सुसंस्कारिता के नाम से पुकारा जाता है। विभिन्न स्तरों की सफलताएँ इसी आधार पर मिलती हैं। वैष्णवी का वाहन गरुड़ है। गरुड़ की कई विशिष्टताएँ हैं। एक तो उनकी दृष्टि अन्य सब पक्षियों की तुलना में अधिक तीक्ष्ण होती है। सुदूर आकाश में ऊँची उड़ान उड़ते समय भी जमीन पर रेंगता कोई सर्प मिल जाय तो वह उस पर बिजली की तरह टूटता है और क्षण भर में तोड़-मरोड़ कर रख देता है। गरुड़ की चाल अन्य पक्षियों की तुलना में कहीं अधिक तीव्र होती है, आलस्य और प्रमाद उससे कोसों दूर रहते हैं। उसे जागरुकता का प्रतीक माना जाता है।

अव्यवस्था रूपी सर्प से घोर शत्रुता रखने वाली तथा उसे निरस्त करने के लिए टूट पड़ने वाली प्रकृति गरुड़ है। दूरदर्शिता अपनाने वाले लोगों को गरुड़ कहा जाता है, जिन्हें न आलस्य है न प्रमाद-वे गरुड़। ऐसे ही प्रबल पराक्रमी लोगों को गरुड़ की तरह वैष्णवी का प्यार प्राप्त होता है।

वैष्णवी की उपासना से समृद्धि का पथ प्रशस्त होता चला जाता है। वैष्णवी की साधना का प्रतिफल सम्पन्नता है। ऐसे साधकों की आन्तरिक दरिद्रता दूर हो जाती है। वे सद्गुण सम्पदाओं के धनी होते हैं, उन्हें सच्चे अर्थों में

विभूतिवान कहा जा सकता है । साथ ही उन्हें मानसिक दरिद्रता का भी दु:ख नहीं भोगना पड़ता है ।

विष्णु का नारी स्वरूप वैष्णवी है । उनके आयुध भी चार हैं- शंख, चक्र, गदा, पद्म । जहाँ चार हाथ हैं, वहाँ यह चारों हैं । जहाँ दो ही हाथ हैं, वहाँ शंख और चक्र दो ही आयुध हैं । शंख का अर्थ है संकल्प, सुनिश्चित का प्रकटीकरण उद्घोष । चक्र का अर्थ है- गति, सक्रियता। गदा का अर्थ है-शक्ति । पद्म का अर्थ है-सुषमा, कोमलता । इन चारों को देव गुण भी कह सकते हैं । देव अनुदान, वरदान भी देते हैं । जो आयुध विष्णु के हैं वे वैष्णवी के हैं । जिसमें यह चतुर्दिक आकर्षण होगा उस पर वैष्णवी की कृपा बरसेगी । उसी तथ्य को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि जिन पर वैष्णवी का अनुग्रह होगा उनमें आयुधों के रूप में उपरोक्त चारों सद्गुणों का अनुपात बढ़ता चला जायगा ।

४-शाम्भवी :

त्रिपदा गायत्री का तीसरा प्रवाह शाम्भवी है । इसे उपयोगी परिवर्तन की शक्ति माना जाता है । दूसरे शब्दों में यह कायाकल्प की वह सामर्थ्य है जो जीर्णता को नवीनता में-मूर्च्छना को चेतना में- शिथिलता को सक्रियता में, मरण को जीवन में परिवर्तित करती है । पुनर्जीवन नव निर्माण इसी को कहते हैं । गायत्री की शाम्भवी शक्ति वह है जो अशक्त को शक्तिवान और कुरूप को सौन्दर्यवान बनाने में निरन्तर संलग्न रहती है । प्रकारान्तर से इसे शिव शक्ति भी कह सकते हैं ।

शाम्भवी के दो आयुध हैं-त्रिशूल व डमरू । त्रिशूल अर्थात् तीन धार वाला वह शस्त्र जो मनुष्य की आधिभौतिक, आध्यात्मिक एवं आधिदैविक विपत्तियों को विदीर्ण करने में पूरी तरह समर्थ है। मनुष्य जीवन में अनेकानेक कष्ट, संकट उत्पन्न करने वाले तीन कारण हैं- (१) अज्ञान (२) अभाव (३) अशक्ति । इन तीनों का निवारण करने वाले (१) ज्ञान, (२) पुरुषार्थ (३) संयम के तीन शस्त्र उठाने पड़ते हैं । इन तीनों का समन्वय त्रिशूल हैं । शांभवी की उपासना करने वाला त्रिशूल धारी बनता है । गायत्री साधना में यदि सच्ची लगन हो तो व्यक्तित्व में ऐसी प्रतिभा का विकास होता है, जो पिछड़ी हुई मन:स्थिति एवं परिस्थिति से उलट कर समृद्ध एवं समुन्नत बना सके ।

डमरू जागरण का, उत्साह का, अग्रगमन का प्रतीक है। शांभवी के एक हाथ में डमरू होने का अर्थ है कि इस शक्तिधारा के सम्पर्क में आने पर नव जागरण का-पुरुषार्थ, प्रयासों में उत्साह का, ऊँचा उठने, आगे बढ़ने का साहस उत्पन्न होता है ।

शाम्भवी का वाहन वृषभ है । शिव को अपनी प्रकृति के अनुरूप सभी प्राणियों में यही भाया है। वृषभ बलिष्ठ भी होता है और परिश्रमी भी, सौम्य भी होता है और सहिष्णु भी । उसकी शक्ति सृजनात्मक प्रयोजनों में लगी रहती है। समर्थ होते हुए भी वह अपनी क्षमता को पूरी तरह सृजन प्रयोजनों में लगाये रहता है। ध्वंस में उसकी शक्ति प्राय: नहीं ही प्रयुक्त होती । वृषभ श्रम, साहस, धैर्य एवं सौजन्य का प्रतीक है। इस गुण की जहाँ जितनी मात्रा होगी, वहाँ उतना ही अधिक स्नेह, सहयोग शाम्भवी का बरसेगा। इन सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्धन के लिए शाम्भवी की उपासना की जाती है ।

शाम्भवी के मस्तिष्क के मध्य में तीसरा नेत्र है । तीसरा नेत्र अर्थात् दिव्य दृष्टि का- दूरदर्शिता का उद्गम स्रोत। इसे ज्ञान चक्षु भी कहते हैं । अतीन्द्रिय शक्तियों के सन्दर्भ में उसे दूरदर्शन, परोक्ष दर्शन, भविष्य दर्शन आदि को केन्द्र संस्थान माना जाता है, यही तत्वदर्शियों की बिन्दु-साधना का आज्ञाचक्र है । इसी के खुलने से अशुभों और अनिष्टों को परास्त किया जा सकता है। भगवान शंकर ने इसी तृतीय नेत्र को खोलकर कामदेव को परास्त किया था । दमयन्ती ने इसी को खोल कर व्याध को भस्म किया था । यह आज्ञाचक्र में सन्निहित शाप क्षमता का परिचय है । दूसरी व्याख्या यह है कि तृतीय नेत्र-आज्ञा चक्र के जागरण से उस विवेकशीलता का विकास होता है जो कषाय कल्मषों की हानियों को स्पष्ट रूप से दिखा सके। सामान्य मनुष्य प्रत्यक्ष लाभ के लिए ही भविष्य को नष्ट करते रहते हैं, पर जागृत विवेक सदा दूरगामी परिणामों को ही देखता है और तदनुरूप वर्तमान की गतिविधियों का निर्धारण करता है। इसी रीति-नीति के सहारे सामान्य मनुष्यों को असामान्य एवं महामानव बनने का अवसर मिलता है । शाम्भवी की उपासना में तीसरा ज्ञान-चक्षु खुलता है और उसी से अर्जुन की तरह आत्म दर्शन, ब्रह्म दर्शन का लाभ मिलता है । वह सूझ पड़ता है, जो सामान्य लोगों की कल्पना एवं प्रकृति से सर्वथा बाहर होता है ।

५-वेदमाता :

गायत्री को वेदमाता इसलिए कहा गया है कि चौबीस अक्षरों की व्याख्या के लिए चारों वेद बने । ब्रह्माजी को आकाशवाणी द्वारा गायत्री मंत्र की ब्रह्म दीक्षा मिली । उन्हें अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए सामर्थ्य, ज्ञान और विज्ञान की शक्ति और साधनों की आवश्यकता पड़ी । इसके लिए

अभीष्ट क्षमता प्राप्त करने के लिए उन्होंने गायत्री का तप किया। तप-बल से सृष्टि बनाई। सृष्टि के सम्पर्क, उपयोग एवं रहस्य से लाभान्वित होने की एक सुनियोजित विधि-व्यवस्था बनाई। उसका नाम वेद रखा। वेद की संरचना की मन:स्थिति और परिस्थिति उत्पन्न करना गायत्री महाशक्ति के सहारे ही उपलब्ध हो सका। इसलिए उस आद्यशक्ति का नाम 'वेदमाता' रखा गया।

वेद सुविस्तृत हैं। उसे जन साधारण के लिए समझने योग्य बनाने के लिए और भी अधिक विस्तार की आवश्यकता पड़ी। पुराण-कथा के अनुसार ब्रह्माजी ने अपने चार मुखों से गायत्री के चार चरणों की व्याख्या करके चार वेद बनाये।

'ॐ भूर्भुव: स्व:' के शीर्ष भाग की व्याख्या से 'ऋग्वेद' बना। 'तत्सवितुर्वरेण्यं' का रहस्योद्घाटन यजुर्वेद में है। 'भर्गो देवस्य धीमहि' का तत्वज्ञान विमर्श सामवेद में है। धियो यो न: प्रचोदयात् की प्रेरणाओं और शक्तियों का रहस्य 'अर्थर्ववेद' में भरा पड़ा है।

विशालकाय वृक्ष की सारी सत्ता छोटे से बीज में सन्निहित रहती है। परिपूर्ण मनुष्य की समग्र सत्ता छोटे से शुक्राणु में समाविष्ट देखी जा सकती है। विशालकाय सौरमण्डल के समस्त तत्व और क्रियाकलाप परमाणु के नगण्य से घटक में भरे पड़े हैं। ठीक इसी प्रकार संसार में फैले पड़े सुविस्तृत ज्ञान-विज्ञान का समस्त परिकर वेदों में विद्यमान है और उन वेदों का सारतत्व गायत्री मंत्र में सार रूप में भरा हुआ है। इसलिए गायत्री को ज्ञान-विज्ञान के अधिष्ठाता वेद वाङ्गमय की जन्मदात्री कहा जाता है। शास्त्रों में असंख्य स्थानों पर उसे 'वेदमाता' कहा गया है।

गायत्री मन्त्र का अवगाहन करने से वह ब्रह्मज्ञान साधक को सरलतापूर्वक उपलब्ध होता है, जिसको हृदयंगम कराने के लिए वेद की संरचना हुई है। गायत्री का माहात्म्य वर्णन करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य ने लिखा है- 'गायत्री विद्या का आश्रय लेने वाला वेदज्ञान का फल प्राप्त करता है। गायत्री के अन्त:करण में वे स्फुरणाएँ अनायास ही उठती हैं, जिनके लिए वेद विद्या का पारायण किया जाता है।'

वेद ज्ञान और विज्ञान दोनों के भण्डार हैं। ऋचाओं के प्रेरणाप्रद अर्थ भी हैं और उनके शब्द गुच्छकों में रहस्यमय शक्ति के अदृश्य भण्डार भी। वेद में विज्ञान भी भरा पड़ा है। स्वर-शास्त्र के अनुसार इन ऋचाओं का निर्धारित स्वर-विज्ञान के अनुसार पाठ, उच्चारण करने से साधक के अन्तराल का स्तर इतना ऊँचा उठ जाता है कि उस पर दिव्य प्रेरणा उतर सके। उसके व्यक्तित्व में ऐसा ओजस्, तेजस् एवं वर्चस् प्रकट होता है, जिसके सहारे महान कार्य कर सकने योग्य शौर्य, साहस का परिचय दे सके। वातावरण में उपयुक्त प्रवाह परिवर्तन संभव कर सकने के रहस्य वेद मन्त्रों में विद्यमान हैं। मंत्रों के प्रचण्ड प्रवाह का वर्णन शास्त्रों में मिलता है। इस रहस्यमय प्रक्रिया को वेदमाता की परिधि में सम्मिलित समझा जाना चाहिए।

वेदज्ञान, दूरदर्शी दिव्य दृष्टि को कहते हैं। इसे अपनाने वाले का मस्तिष्क निश्चित रूप से उज्ज्वल होता है। चार वेद चार मंडल मात्र नहीं हैं। उस ज्ञान का विस्तार करने के कारण ब्रह्माजी के चार मुख हुए। उनकी वैखरी, मध्यमा, परा, पश्यन्ति-चारों वाणी समस्त विश्व को दिशा देने में समर्थ हुई। गायत्री का अवगाहन करने वाले चारों ऋषि-सनक, सनन्दन, सनातन, सनत् कुमार वेद भगवान के प्रत्यक्ष अवतार कहलाये। चार वर्ण, चार आश्रम की परम्परा वेदों की आचार पद्धति है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का अन्त:करण चतुष्टय, जिसे पाकर कृतकृत्य बनता है, वह वेदज्ञान है-कामधेनु के चार थन-धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की चारों विभूतियों का पयपान करते हैं। साधना चतुष्टय में प्रवृत्ति वेदमाता की चतुर्विधि दिव्य प्रेरणा ही समझी जा सकती है। वेदमाता की साधना साधक को चार वेदों का अवलंबन प्रदान करती और उसे सच्चे अर्थों में वेदवेत्ता ब्रह्मज्ञानी बनाती है- तत्वज्ञान, सद्ज्ञान, आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान से सम्पन्न करती है।

६-देवमाता :

गायत्री का नाम 'देवमाता' भी है। देवमाता इसलिए कि उसकी गोद में बैठने वाला, पयपान करने वाला, आँचल पकड़ने वाला अपने देवत्व को बढ़ाता है और आत्मोत्सर्ग के क्षेत्र में क्रमिक विकास करते हुए इसी धरती पर विचरण करने वाले देव-मानवों की पंक्ति में जा खड़ा होता है।

गायत्री मंत्र के चौबीस अक्षरों में जो शिक्षाएँ भरी पड़ी हैं वे सभी ऐसी हैं कि उनका चिन्तन-मनन करने वाले की चेतना में अभिनव जागृति उत्पन्न होती है और अन्त:करण यह स्वीकार करता है कि मानव जीवन की सार्थकता एवं सफलता देवत्व की सत्प्रवृत्तियाँ अपनाने में है। अज्ञानान्धकार में भटकने वाले मोह-ममता की सड़ी कीचड़ में फँसे रहते हैं और रोते-कलपते जिन्दगी के दिन पूरे करते हैं किन्तु गायत्री का आलोक अन्तराल में पहुँचते ही व्यक्ति सुषुप्ति

से विरत होकर जागृति में प्रवेश करता है। स्वार्थ को संयत करके परमार्थ प्रयोजनों में रस लेना और उस दिशा में बढ़ चलने के लिए साहस जुटाना–यही है मनुष्य शरीर में देवत्व का अवतरण, जो दैवी सम्पदा से जितनी मात्रा में सुसम्पन्न बनता है, वह उसी अनुपात से इसी जीवन में स्वर्गीय सुख शान्ति का अनुभव करता है। उसके व्यक्तित्व का स्तर समुन्नत भी रहता है और सुसंस्कृत भी। देवात्मा शब्द से ऐसे ही लोगों को सम्मानित किया जाता है और वे स्वयं ऊँचे उठते, आगे बढ़ते हैं और अपने साथ–साथ अनेकों को उठाते आगे बढ़ाते हैं। चन्दन वृक्ष की तरह उनके अस्तित्व से सारा वातावरण महकता है और सम्पर्क में आने वाले अन्य झाड़–झंखाड़ों को भी सुगन्धित होने का सौभाग्य मिलता है।

गायत्री उपासना का प्रधान प्रतिफल देवत्व का सम्वर्धन है। साधक का अन्तरंग और बहिरंग देवोपम बनता चला जाता है। एक–एक करके दुष्प्रवृत्तियाँ छूटती हैं और प्रगति के हर कदम पर सत्प्रवृत्तियों की उपलब्धि होती है। गुण, कर्म, स्वभाव में गहराई तक घुसे हुए कषाय–कल्मष एक–एक करके स्वयं पतझड़ के पत्तों की तरह गिरते–झड़ते चले जाते हैं। उनके स्थान पर बसन्त के अभिनव पत्र–पल्लवों की तरह मानवोचित श्रेष्ठता बढ़ती चली जाती है।

देवता देने वाले को कहते हैं। गायत्री उपासना सच्चे अर्थों में की जा सके तो देवत्व की मात्रा बढ़ेगी ही। देवता के दो गुण हैं व्यक्तित्व की दृष्टि से उत्कृष्ट और आचरण की दृष्टि से आदर्श। ऐसे लोग हर घड़ी अपने प्रत्यक्ष और परोक्ष अनुदानों से सतयुगी वातावरण उत्पन्न करते चले जाते हैं।

देवता सदा युवा रहते हैं। मानसिक बुढ़ापा उन्हें कभी नहीं आता। प्रसन्नता उनके चेहरे पर छायी रहती है। संतोष की नींद सोते हैं आशा भरी उमंग में तैरते हैं। किन्हीं भी परिस्थितियों में उन्हें खिन्न, उद्विग्न, निराश एवं असंतुलित नहीं देखा जाता। ये विशेषतायें जिनमें हों उन्हें देव–मानव कहा जा सकता है। देवता स्वर्ग में रहते हैं। चिन्तन की उत्कृष्टता, विधेयक चिन्तन में उत्साह, आनन्द और संतोष के तीनों ही तत्व घुले हुए हैं। देवता आप्तकाम होते हैं। कल्पवृक्ष उनकी सभी कामनाओं को पूरा करता है। यह स्थिति उन सभी को प्राप्त हो सकती है जो निर्वाह के लिए जीवन–यापन की न्यूनतम आवश्यकता पूरी हो जाना भर पर्याप्त मानते हैं और अपनी महत्वाकांक्षाऐं सदुद्देश्य में नियोजित रखते हैं। वासना, तृष्णा और अहंता ही अतृप्त रहते हैं। सद्भावनाओं को चरितार्थ करने के तो हर क्षण अवसर ही अवसर हैं। देवत्व मनःस्थिति में उतरता है। फलतः परिस्थितियों को स्वर्गीय, सन्तोषजनक बनने में देर नहीं लगती। देवमाता गायत्री साधक को इसी उच्च भूमिका में घसीट ले जाती है।

७- विश्वमाता :

गायत्री का एक नाम विश्वमाता है। माता को अपनी संतानें प्राणप्रिय होती हैं। सभी को एकता के सूत्र में बँधे और समग्ररूप से सुखी–समुन्नत देखना चाहती है। विश्वमाता गायत्री की प्रसन्नता भी इसी में है कि मनुष्य मिल–जुलकर रहें, क्षमता बरतें और आत्मीयता भरा सद्व्यवहारअपनाकर समग्र सुख शान्ति का वातावरण बनायें। मनुष्यों और अन्य प्राणियों के बीच भी सहृदयता भरा व्यवहार रहे।

विश्व भर में सतयुगी वातावरण बनाये रहने में अतीत की सांस्कृतिक गरिमा एवं भावभरी सद्भावना ही निमित्त कारण थी। अगले दिनों विश्वमाता का वात्सल्य फिर सक्रिय होगा। वे अपनी विश्व वाटिका के सभी घटकों को फिर से सुसंस्कृत, सुव्यवस्थित एवं समुन्नत बनाने में प्रखरता भरी अवतार–भूमिका सम्पन्न करेंगी। प्रज्ञावतार के रूप में विश्व के नव–निर्माण का प्रस्तुत प्रयास उस महाशक्ति के वात्सल्य का सामयिक उभार समझा जा सकता है। अगले दिनों 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श सर्वमान्य होगा। एकता, समता और शुचिता के चार आदर्शों के अनुरूप व्यक्ति एवं समाज की रीति–नीति नये सिरे से गढ़ी जायेगी। एक भाषा, एक धर्म, एक राष्ट्र, एक संस्कृति का निर्माण, जाति, लिंग और धर्म के नाम पर बरती जाने वाली असमानता का उन्मूलन एवं एकता और समता के सिद्धान्त प्राचीनकाल की तरह अगले दिनों भी सर्वमांन्य होंगे। शुचिता अर्थात् जीवन क्रम में सर्वतोमुखी शालीनता का समावेश, ममता अर्थात् आत्मीयता एवं सहकारिता भरा सामाजिक प्रचलन। प्राचीनकाल की तरह अगले दिनों भी ऐसी ही मनःस्थिति एवं परिस्थिति बनाने के लिए विश्वमाता की सनातन भूमिका इन दिनों विशेष रूप से सक्रिय हो रही है।

मस्तिष्क पर शिखा के रूप में विवेक की ध्वजा फहराई जाती है। शरीर को कर्तव्य–बन्धनों से बाँधने के लिए कन्धे पर यज्ञोपवीत धारण कराया जाता है। यह दोनों ही गायत्री की प्रतीक प्रतिमा हैं।

भगवान का विराट् रूप दर्शन अनेक भक्तों को अनेक बार अनेक रूपों में होता रहा है। विराट् ब्रह्म के तत्व दर्शन का व्यावहारिक रूप है-विश्व मानव, विश्व बन्धुत्व, विश्व परिवार, विश्व भावना, विश्व संवेदना। इससे व्यक्तिवाद मिटता है और समूहवाद उभरता है। यही प्रभु समर्पण है। संकीर्ण स्वार्थपरता के बन्धनों से मुक्त होकर विराट के साथ एकात्मता स्थापित कर लेना ही परम लक्ष्य माना गया है। आत्म-चिन्तन, ब्रह्म चिन्तन, योगाभ्यास, धर्मानुष्ठान आदि के साधनात्मक उपचार इसी निमित्त किये जाते हैं। जन-जीवन में इन आस्थाओं और परम्पराओं का समावेश ही व्यक्ति में देवत्व के उदय की मनःस्थिति और धरती पर सुख-शान्ति की स्वर्गीय परिस्थिति का कारण बनता है। विश्वमाता गायत्री की प्रवृत्ति प्रेरणा यही है।

गायत्री महाशक्ति को विश्वमाता कहते हैं। उसके अंचल में बैठने वाले में पारिवारिक उदात्त भावना का विकास होता है। क्षुद्रता के भव-बन्धनों से मुक्ति, संकीर्णता के नरक से निवृत्ति-यह दोनों ही अनुदान विश्वमाता की समीपता एवं अनुकम्पा के हैं, जिन्हें हर सच्चा साधक अपने में उमँगता बढ़ता देखता है।

८-ऋतम्भरा :

गायत्री की एक धारा है-ऋतम्भरा। इसी को प्रज्ञा कहते हैं। जिस 'धी' तत्व की प्रेरणा के लिए सविता देवता से प्रार्थना की गई है, वह यह ऋतम्भरा प्रज्ञा है। इसका स्वरूप समझने और उपलब्ध करने का उपाय बताने के लिए सुविस्तृत ब्रह्म विज्ञान की संरचना हुई है। ब्रह्मविद्या का तत्व-दर्शन इसी ऋतम्भरा प्रज्ञा को विकसित करने के लिए है। जिससे अधिक पवित्र इस संसार में और कुछ नहीं है, वह भगवान कृष्ण के शब्दों में सद्ज्ञान ही है। इसकी उपलब्धि को ज्ञान चक्षु उन्मीलन ही कहा गया है। उन्हीं दिव्य नेत्रों से आत्म-दर्शन एवं तत्व-दर्शन का लाभ मिलता है। जिस आत्म साक्षात्कार, ब्रह्म-साक्षात्कार के लिए तत्वदर्शी प्रयत्नशील रहते हैं, उसकी उपलब्धि ऋतम्भरा प्रज्ञा के अनुग्रह से ही संभव होती है।

बुद्धि चातुर्य से सम्पत्ति संग्रह एवं लोक आकर्षण की उपलब्धियाँ सम्भव हो सकती हैं, किन्तु आत्मिक उपलब्धियों के लिए सद्भावना, सहृदयता, सज्जनता की भाव संवेदना चाहिए। इन्हीं का विवेक सम्मत दूरदर्शिता पूर्ण समन्वय जिस केन्द्र पर होता है, उसे ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं। यह जिसे जितनी मात्रा में उपलब्ध होती है, वह उसी अनुपात में सन्त, सज्जन, ऋषि, महर्षि, राजर्षि, देवर्षि बनता चला जाता है। लौकिक बुद्धि से सामाजिक सम्पदाएँ मिलती हैं। आत्मिक विभूतियों का उत्पादन अभिवर्धन तत्व दृष्टि से होता है। इसी तत्व दृष्टि को ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं। जीवन को गौरवान्वित करने तथा पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचाने में सारी भूमिका ऋतम्भरा प्रज्ञा को ही सम्पादित करनी पड़ती है।

ईश्वर का सबसे बड़ा वरदान ऋतम्भरा प्रज्ञा है। उसका उदय होते ही माया के समस्त बन्धन कट जाते हैं। अज्ञानान्धकार को मिटाने में जिस अरुणोदय की कामना की जाती है, यह सविता का आलोक ऋतम्भरा प्रज्ञा के रूप में प्रभात कालीन उषा बनकर ही अपने अस्तित्व का परिचय देता है। प्रज्ञा का अवतरण होने पर मनुष्य की आकांक्षाएँ, विचारधाराएँ एवं गतिविधियाँ मायाबद्ध जीवधारियों से सर्वथा भिन्न हो जाती हैं, वे वासना, तृष्णा की कीचड़ में सड़ते नहीं रहते, वरन् अपनी नीति को उत्कृष्ट चिन्तन एवं आदर्श कर्तृत्व के साथ जोड़ते हैं।

लोग क्या कहते हैं, क्या करते हैं, इससे वे तनिक भी प्रभावित नहीं होते। लोभ-मोह की मदिरा पीकर उन्मत्त हुए पथ भ्रष्टों के प्रति उन्हें करुणा बनी रहती है और उनके उद्धार की बात सोचते हैं, पर यह स्वीकार नहीं करते कि परामर्श को अंगीकार करें। ऋतम्भरा प्रज्ञा के सहारे ही वे ऐसे साहसिक निर्णय ले पाते हैं जो मोहग्रस्त भव-बन्धनों से जकड़े हुए जन समाज की अपेक्षा सर्वथा भिन्न होते हैं। ईमान और सचाई के अतिरिक्त और किसी का परामर्श उन्हें प्रभावित नहीं करता। प्रज्ञा का इतना सुदृढ़ कवच पहिनने वाले ही जीवन संग्राम में विजय प्राप्त करते हैं और इस धरती के देवता कहलाते हैं।

दृष्टिकोण में उत्कृष्टता भर जाने पर पदार्थों की उपयोगिता और प्राणियों की सदाशयता का दर्शन होने लगता है। तदनुरूप अपना व्यवहार बदलना और निष्कर्ष निकलना आरम्भ हो जाता है। चिन्तन की इसी प्रक्रिया का नाम स्वर्ग है। वासना, तृष्णा और अहंता के बन्धन ही मनुष्य को विक्षुब्ध बनाये रहते हैं। जब इन्हें हटा कर निष्ठा, प्रज्ञा और श्रद्धा की मनोभूमि बनती है तो तुष्टि, तृप्ति और शान्ति की कमी नहीं रहती। प्रलोभनों से छुटकारा और आदर्शों का परिपालन-यही जीवन मुक्ति है। आत्म साक्षात्कार ब्रह्म-साक्षात्कार की सच्चिदानन्द स्थिति इसी स्तर पर पहुँचने वाले को मिलती है।

गायत्री उपासना से ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त होती है अथवा ऋतम्भरा प्रज्ञा का अनुशीलन करने वाले गायत्री का

साक्षात्कार करते हैं। इस विवाद में न पड़कर हमें इतना ही चाहिए कि दोनों अन्योन्याश्रित हैं। जहाँ एक होगी वहाँ दूसरी का रहना भी आवश्यक है। गायत्री का सच्चा अनुग्रह जिस पर उतरता है, उसमें ऋतम्भरा प्रज्ञा का-ब्रह्म तेजस का आलोक प्रत्यक्ष जगमगाने लगता है। सामान्य लोगों की तुलना में वह उत्कृष्टता की दृष्टि से ऊँचा उठा हुआ और आगे बढ़ा हुआ दृष्टिगोचर होता है।

९-मन्दाकिनी :

दृश्यमान गंगा और अदृश्य गायत्री की समता मानी जाती है। गायत्री की एक शक्ति का नाम मन्दाकिनी भी है। गंगा पवित्रता प्रदान करती है, पापकर्मों से छुटकारा दिलाती है। गायत्री से अन्तःकरण पवित्र होता है, कषाय-कल्मषों के संस्कारों से त्राण मिलता है। गंगा और गायत्री दोनों की ही जन्म-जयन्ती एक है-ज्येष्ठ शुक्ला दशमी। दोनों को ही एक ही तथ्य का स्थूल एवं सूक्ष्म प्रतीक माना जाता है।

गंगा का अवतरण भगीरथ के तप से संभव हुआ। गायत्री के अवतरण में वही प्रयत्न ब्रह्मा जी को करना पड़ा। मनुष्य जीवन में गायत्री की दिव्यधारा का अनुग्रह उतरने के लिए तपस्वी-जीवन बिताने की, तपश्चर्या सहित साधना करने की आवश्यकता पड़ती है। गायत्री के दृष्टा ऋषि विश्वामित्र हैं। उन्होंने भी तपश्चर्या के माध्यम से इस गौरवास्पद पद को पाया था। विश्वामित्र ने गायत्री महाशक्ति का अपना उपार्जन राम-लक्ष्मण को हस्तान्तरित किया था-बला और अतिबला विद्याओं को सिखाया था। इसी से वे इतने महान पुरुषार्थ करने में समर्थ हुए। बला और अतिबला गायत्री सावित्री के ही नाम हैं।

गंगा शरीर को पवित्र करती है, गायत्री आत्मा को। गंगा मृतक को तारती है, गायत्री जीवितों को, गंगास्नान से पाप धुलते हैं, गायत्री से पाप वृत्तियाँ भी निर्मूल होती हैं। गायत्री उपासना के लिए गंगा तट की अधिक महत्ता बतलाई गई है। दोनों का समन्वय गंगा-यमुना के संगम की तरह अधिक प्रभावोत्पादक बनता है। सप्त ऋषियों ने गायत्री साधना द्वारा परम सिद्धि पाने के लिए उपयुक्त स्थान गंगा-तट ही चुना था और वहीं दीर्घकालीन तपश्चर्या की थी। गायत्री के एक हाथ में जल से भरा कमण्डलु है, यह अमृत-जल-गंगाजल ही है। उच्चस्तरीय गायत्री साधना करने वाले प्रायः गंगा-स्नान, जलपान-गंगातट का सान्निध्य, जैसे सुयोग तलाश करते हैं।

भक्ति-गाथा में रैदास की कठौती में गंगा के उमगने की कथा आती है। अनुसूया ने चित्रकूट के निकट तप करके मन्दाकिनी को धरती पर उतारा था। गायत्री उपासना से साधक का अन्तःकरण गंगोत्री-गोमुख जैसा बन जाता है और उसमें से प्रज्ञा की निर्झरिणी प्रवाहित होने लगती है।

गायत्री की अनेक धाराओं में एक मन्दाकिनी है। उसका अवगाहन पापों के प्रायश्चित एवं पवित्रता संवर्धन के लिए किया जाता है।

१०-अजपा :

गायत्री साधना की एक स्थिति ऐसी भी है, जिसमें आत्मा का परमात्मा के साथ आदान-प्रदान का सिलसिला स्वयमेव चल पड़ता है और इस दिव्य मिलन के फलस्वरूप मिलने वाली उपलब्धियों का लाभ मिलने लगता है। उस स्थिति को अजपा कहते हैं।

'अजपा' गायत्री का साधनात्मक स्वरूप 'सोऽहम् साधना' इसे हंस योग भी कहते हैं। गायत्री का वाहन हंस है। यह हंस 'सोऽहम्' साधना के माध्यम से साधा जाने वाला हंस योग ही है। गायत्री शब्द का अर्थ है-प्राण का त्राण करने वाली। 'गय' प्राण को और 'त्री' त्राण करने वाले को कहते हैं। प्राणतत्व का विशिष्ट अवतरण प्राणायाम के माध्यम से होता है। गायत्री-साधना में चौबीस प्राणायामों का विधान है। इन सबमें 'सोऽहम्' साधना को प्रधानता मिली है। यह अत्यन्त उच्चस्तरीय रक्त संचालित प्राणायाम ही है। सामान्य प्राणायामों में इच्छा शक्ति एवं शारीरिक गतिविधियों का उपयोग होता है। सोऽहम् साधना में यह सारा काम आत्मा स्वयं कर लेती है। शरीर और मन के सहयोग की उसे आवश्यकता नहीं पड़ती।

श्वांस जब शरीर में प्रवेश करता है, तब 'सो' की सूक्ष्म ध्वनि होती है। जब श्वांस बाहर निकलता है तो 'हम' की शब्दानुभूति होती है। ये ध्वनियाँ बहुत ही सूक्ष्म हैं। स्थूल कर्णेन्द्रियाँ उन्हें नहीं सुन सकतीं। शब्द की तन्मात्रा तक पहुँचने वाली ध्यान-धारणा में ही उसकी अनुभूति होती है। शान्त चित्त से एकाग्रता पूर्वक श्वांस के भीतर जाते समय 'स' को और बाहर निकलते समय 'हम' के शब्द प्रवाह को धारण करने पर कुछ समय बाद यह दिव्य ध्वनि अनायास ही अनुभव में आने लगती है। कृष्ण के वेणुनाद सुनने से जैसा आनन्द गोपियों को मिलता था वैसी ही दिव्य अनुभूति इन्द्रियों को, उपत्यिकाओं को इस 'सोऽहम्' ध्वनि प्रवाह को सुनने से होती है।

शब्द ब्रह्म-नाद ब्रह्म का उल्लेख शास्त्रों में होता है। मोटी विवेचना में सत्संग-प्रवचन को 'शब्द' और 'भक्ति'

भरे भाव संगीत को 'नाद' ब्रह्म कहते हैं, पर दिव्य भूमिका में ये दोनों ही शब्द 'सोऽहम्' साधना के लिए प्रयुक्त होते हैं। तपस्वी इसी को 'अनाहत ध्वनि' कहते हैं।

गायत्री का मूल उद्‌गम 'ॐकार' है। उसी का विस्तार गायत्री के चौबीस अक्षरों में हुआ है। इसी प्रकार नादब्रह्म का बीज 'सोऽहम्' है, उसी का विस्तार 'नादयोग' के साधनों में सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय द्वारा घण्टा-घड़ियाल, मेघगर्जन, वंशी, मृदंग, कलरव आदि की अनेकानेक ध्वनियों में अनुभव होता है। यह दिव्य ध्वनियाँ प्रकृति के सूक्ष्म अन्तराल से उठती हैं और उनके सुनने की क्षमता उत्पन्न हो जाने पर उनके पीछे छिपे वे रहस्य प्रकट होने लगते हैं, जो विश्व की अविज्ञात गतिविधियों की जानकारी देकर साधक को सूक्ष्मदर्शी बना देती हैं।

सामान्य साधनाएँ शरीर और मन की सहायता से प्रयत्नपूर्वक करनी पड़ती हैं, पर 'अजपा-गायत्री' का आत्मा के साथ सीधा सम्बन्ध जुड़ जाने से साधना क्रम स्वसंचालित हो जाता है और अपनी धुरी पर स्वयमेव घूमने लगता है। अजपा साधना भी है और शक्ति भी। सोऽहम् के ध्यान, अभ्यास को साधना कहते हैं। उसका आत्मा के साथ सीधा सम्बन्ध जुड़ जाने और गतिचक्र के स्वयमेव घूमने लगने की स्थिति में वही एक शक्ति बन जाती है। इस शक्ति के सहारे साधक आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान प्राप्त करता है। उसका उपयोग आत्मकल्याण और विश्व-कल्याण के लिए महत्वपूर्ण क्षमताएँ सम्पादित करने में भी होता है।

अजपा में सन्निहित हंसयोग को ध्यान में रखते हुए गायत्री का वाहन हंस बताया गया है। जो इसे साधता है उसका अन्तरंग नीर-क्षीर विवेक की क्षमता सम्पन्न दिव्यदर्शी बनता है। उसका बहिरंग मोती चुगने कीड़े न खाने जैसा आदर्शवादी हो जाता है। ऐसे ही चिन्तन में उत्कृष्टता और कर्तृत्व में आदर्शवादिता अपनाने वाले को राजहंस कहते हैं। ऊँचा उठने पर वे ही परमहंस बन जाते हैं। इस उच्चस्तरीय भूमिका तक पहुँचने में गायत्री की अजपा शक्ति का अनुग्रह असाधारण रहता है।

११-ऋद्धि, १२- सिद्धि :

गायत्री महाशक्ति की गरिमा महत्ता एवं प्रतिक्रिया क्या हो सकती है, इसका उत्तर विभिन्न देवताओं के स्वरूप, वाहन, आयुध, स्वभाव आदि पर दृष्टि डालने से मिल जाता है। देवता और देवियों को गायत्री महाशक्ति का विशिष्ट प्रवाह ही समझा जा सकता है।

गायत्री के चौबीस देवताओं में एक गणेश है। गणेश अर्थात् विवेक बुद्धि के देवता। जहाँ दूरदर्शी विवेक का बाहुल्य दिखाई पड़े, समझना चाहिए कि वहाँ गणेश की उपस्थिति और अनुकम्पा प्रत्यक्ष है। सद्ज्ञान ही गणेश है। गायत्री मंत्र की मूल धारणा सद्ज्ञान ही है। अस्तु, प्रकारान्तर से गणेश को गायत्री की प्रमुख शक्ति धारा कहा जा सकता है।

गणेश के साथ दो दिव्य सहेली-सहचरी हैं। एक का नाम ऋद्धि और दूसरी का सिद्धि है। ऋद्धि अर्थात् आत्मिक विभूतियाँ। सिद्धि अर्थात् सांसारिक सफलताएँ। विवेक की ये दो उपलब्धियाँ सहज स्वाभाविक हैं। ब्रह्म के साथ जिस प्रकार गायत्री, सावित्री को दो सहचरी माना गया है, उसी प्रकार गणेश के साथ भी ऋद्धि-सिद्धि हैं। ऋद्धि आत्मबल और सिद्धि समृद्धि बल है। परब्रह्म की दो सहेलियाँ परा और अपरा प्रकृति हैं, उन्हीं के सहारे जड़-चेतन विश्व का गतिचक्र घूमता है। विवेक रूपी गणेश का स्वरूप निर्माण करते समय तत्वदर्शियों ने उसकी दो सहेलियों का भी चित्रण किया है। आत्मबल और भौतिक सफलताओं का सारा क्षेत्र विवेक पर आधारित है। इसी तथ्य को गणेश और उनकी सहचरी को ऋद्धि-सिद्धि के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

ऋद्धि अर्थात् आत्मज्ञान-आत्मबल, आत्म-संतोष, अन्तरंग उल्लास, आत्म-विस्तार, समृद्धि, विद्या, समर्थता, सहयोग सम्पादन एवं वैभव। लगभग यही विशेषताएँ गायत्री और सावित्री की हैं। दोनों एक साथ जुड़ी हुई हैं। जहाँ ऋद्धि है वहाँ सिद्धि भी रहेगी। गणेश पर दोनों को चँवर ढुलाना पड़ता है। विवेकवान आत्मिक और भौतिक दोनों दृष्टियों से सुसम्पन्न होते हैं। संक्षेप में गणेश के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई ऋद्धि-सिद्धियों के चित्रण का यही तात्पर्य है।

गणेश के एक हाथ में अंकुश, दूसरे में मोदक है। अंकुश अर्थात् अनुशासन, मोदक अर्थात् सुख-साधन। जो अनुशासन साधते हैं वे अभीष्ट साधन भी जुटा लेते हैं। गणेश से सम्बद्ध इन दो उपकरणों का यही संकेत है। ऋद्धि अर्थात्-आत्मिक उत्कृष्टता। सिद्धि अर्थात्-आत्मिक उत्कृष्टता। सिद्धि अर्थात् भौतिक समर्थता। मर्यादाओं का अंकुश मानने वाले संयम साधने वाले, हर दृष्टि से समर्थ बनते हैं। उन्हें सुख-साधनों की, सुविधा सम्पन्नता की कमी नहीं रहती। उत्कृष्ट व्यक्तित्व सम्पन्न व्यक्ति सदा मुदित रहते हैं-प्रसन्नता बाँटते, बखेरते देखे जाते हैं। यही मोदक है जिससे हर घड़ी संतोष, आनन्द का रसास्वादन

मिलता है। विवेकवान का चुम्बकीय व्यक्तित्व दृश्य और अदृश्य जगत से वे सब उपलब्धियाँ खींच लेता है, जो उसकी प्रगति एवं प्रसन्नता के लिए आवश्यक हैं।

ऋद्धि-सिद्धियों के सम्बन्ध में एक भ्रान्ति यह है कि यह कोई जादुई चमत्कार दिखाने में काम आने वाली विशेषताएँ हैं। आकाश में उड़ना, पानी पर चलना, अदृश्य हो जाना, रूप बदल लेना, कहीं से कुछ वस्तुएँ मँगा देना या उड़ा देना, भविष्य-कथन जैसी आश्चर्यजनक बातों को सिद्धि कहा जाता है। यह जादुई खेल-मेल है जो हाथ की सफाई चालाकी या हिप्नोटिज्म जैसे उथले भावात्मक प्रयोगों से भी सम्पन्न किए जा सकते हैं। उन्हें दिखाने का उद्देश्य प्रायः लोगों को चमत्कृत करके उन्हें अपने चंगुल में फँसा लेना एवं अनुचित लाभ उठाना ही होता है। इसलिए ऐसे प्रदर्शनों की साधना शास्त्रों में पग-पग पर मनाही की गई है। उनमें विशेषताएँ हों भी तो उन्हें प्रदर्शन से रोका गया है। फिर जो हाथ की सफाई के चमत्कार दिखाते और उसकी संगति अध्यात्म सामर्थ्य से जोड़ते हैं उन्हें तो हर दृष्टि से निन्दनीय कहा जा सकता है।

वास्तविक ऋद्धि यही है कि साधक अपने उत्कृष्ट व्यक्तित्व के सहारे आत्म-संतोष, लोक-श्रद्धा एवं दैवी अनुकम्पा के विविध लाभ पाकर मनुष्यों के बीच देवताओं जैसी महानता प्रस्तुत करे और अपनी आदर्शवादी साहसिकता से जन-जन को प्रभावित करे। वास्तविक सिद्धि यह है कि उपार्जन तो पर्वत जितना करे पर अपने लिए औसत नागरिक जितना निर्वाह लेकर शेष को सत्प्रयोजनों के लिए उदारतापूर्वक समर्पित कर दे। ऐसे अनुकरणीय, आदर्श उपस्थित कर सकना उच्च स्तर का चमत्कार ही है। जो इस मार्ग पर जितना आगे बढ़ सके उसे उतना ही बड़ा सिद्ध पुरुष कहा जा सकता है।

गायत्री का एक नाम ऋद्धि है, दूसरा सिद्धि। प्रयत्नपूर्वक सत्प्रवृत्तियों को अपनाने वाले इन दोनों को ही उपलब्ध करते और हर दृष्टि से धन्य बनते हैं। सच्ची गायत्री उपासना का प्रतिफल भी ऋद्धियों और सिद्धियों के रूप में सामने आता है। गायत्री प्रत्यक्ष सिद्धि है। जिसके अन्तराल पर वह उतरती है उसे ऋद्धि-सिद्धियों से, विभूतियों और समृद्धियों से भरा-पूरा सफल जीवन बनाने का अवसर देती है।

१३- सावित्री :

आदि शक्ति की दो धाराएँ हैं-(१) आत्मिकी (२) भौतिकी। आत्मिकी को गायत्री और भौतिकी को सावित्री कहते हैं। गायत्री एक मुख है, उसे एकात्मवाद, अद्वैतवाद, आत्मवाद कह सकते हैं। सावित्री पंचमुखी है। शरीर पाँच तत्वों से बना है। उनकी इन्द्रियानुभूति पाँच तन्मात्राओं के सहारे शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श के रूप में होती हैं। चेतना का स्पन्दन पाँच प्राणों के सहारे चलता है। पाँच तत्व और पाँच गण मिलकर जिस जीव-सत्ता को चलाते हैं उनकी अधिष्ठात्री सावित्री हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ इसी जीवन चर्या का चक्र आगे घसीटती हैं।

सूक्ष्म शरीर का सारा ढाँचा कोशों की सामग्री से बना है। विज्ञान की भाषा में उन्हें फिजिकल बॉडी, एस्ट्रल बॉडी, मेन्टल बॉडी, काजल बॉडी और कास्मिक बॉडी कहते हैं। अध्यात्म की भाषा में इन्हें अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश एवं आनन्दमय कोश कहा जाता है। ये पाँच बहुमूल्य खजाने काय-सत्ता के अन्तराल में विद्यमान हैं। उनमें सिद्धियों के और विभूतियों के भण्डार भरे पड़े हैं। काय-कलेवर में विद्यमान इन्हीं को देवता कहा गया है। ये जब तक प्रसुप्त स्थिति में रहते हैं तभी तक मनुष्य दीन-दुर्बल रहता है। जब वे जागृत होते हैं तो पाँच देवता मनुष्य की विविध-विध सहायता करते देखे जाते हैं। दक्षिणमार्गी साधना में गायत्री को और वाममार्गी साधना में सावित्री को प्रमुख माना जाता है। सकाम साधनाएँ सावित्री परक होती हैं, उनमें प्रयोजनों के अनुरूप बीजमंत्र लगाये जाते हैं। गायत्री का प्रयोग आत्मोत्कर्ष के लिए होता है। उसमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों को समुन्नत बनाने वाले भूः, भुवः, स्वः के तीन बीजमंत्र पहले से ही लगे हुए हैं। ब्रह्म-वर्चस् साधना में इन तीनों का संतुलित समन्वय है।

पंचमुखी सावित्री के ज्ञान पक्ष में जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रयुक्त होने वाले पंचशीलों के परिपालन का संकेत है। सामान्य जीवन में श्रमशीलता, मितव्ययता, सहकारिता और सज्जनता की गतिविधियाँ पंचशील कहलाती हैं। विभिन्न वर्गों के लिए, विभिन्न प्रयोजनों के लिए पंचशील पृथक-पृथक हैं, जिनके परिपालन से अभीष्ट क्षेत्र की स्थूलताओं के द्वार सहज ही खुलते चले जाते हैं। पंचशील ही पंचदेव हैं।

गायत्री की असंख्य दिव्य धाराओं में सबसे निकटवर्ती और अधिक समर्थ सावित्री है। दोनों इतनी सघन हैं कि दोनों को प्रायः एक ही माना जाता है। वस्तुतः दोनों को शरीर और आत्मा की तरह भौतिकी और आत्मिकी माना

जाना चाहिए और आवश्यकतानुसार अभीष्ट उद्देश्यों के लिए उनका अंचल पकड़ना चाहिए ।

१४-सरस्वती :

ज्ञान-चेतना के दो पक्ष हैं । एक प्रज्ञा-आत्मिक समाधान एवं उत्कर्ष का पथ प्रशस्त करती है । बुद्धि को लोक व्यवहार एवं निर्वाह की गुत्थियाँ सुलझाने एवं उपलब्धियाँ पाने के लिए प्रयोग किया जाता है । बुद्धि का स्वरूप मस्तिष्क है और प्रज्ञा का अन्तःकरण है । प्रज्ञा की अधिष्ठात्री गायत्री है और बुद्धि की संचारिणी सरस्वती । आवश्यकतानुसार दोनों में से जिसका आश्रय लिया जाता है उसी का प्रतिफल प्राप्त होता है।

सरस्वती को साहित्य, संगीत कला की देवी माना जाता है । उसमें विचारणा भावना एवं संवेदना का त्रिविध समन्वय है । वीणा संगीत की, पुस्तक विचारणा की और मयूर वाहन कला की अभिव्यक्ति है ।

लोकचर्या में सरस्वती को शिक्षा की देवी माना गया है । शिक्षा संस्थाओं में वसन्त पंचमी को सरस्वती का जन्मदिन समारोह पूर्वक मनाया जाता है । पशु को मनुष्य बनाने का, अन्धे को नेत्र मिलने का श्रेय शिक्षा को दिया जाता है । मनन से मनुष्य बनता है। मनन बुद्धि का विषय है । भौतिक प्रगति का श्रेय बुद्धि वर्चस् को दिया जाना और उसे सरस्वती का अनुग्रह माना जाना उचित भी है। इस उपलब्धि के बिना मनुष्य को नर-वानरों की तरह वनमानुष जैसा जीवन बिताना पड़ता है । शिक्षा की गरिमा-बौद्धिक विकास की आवश्यकता जन-जन को समझाने के लिए सरस्वती पूजा की परम्परा है । इसे प्रकारान्तर से गायत्री महाशक्ति के अन्तर्गत बुद्धि पक्ष की आराधना कहना चाहिए ।

कहते हैं कि महाकवि कालिदास, वरदराजाचार्य वोपदेव आदि मंद-बुद्धि के लोग सरस्वती उपासना के सहारे उच्चकोटि के विद्वान बने थे । इसका सामान्य तात्पर्य तो इतना ही है कि वे लोग अधिक मनोयोग एवं उत्साह के साथ अध्ययन में रुचिपूर्वक संलग्न हो गये, वे अनुत्साह की मनःस्थिति में प्रसुप्त पड़े रहने वाली मस्तिष्क क्षमता को विकसित कर सकने में सफल हुए होंगे । इसका एक रहस्य यह भी हो सकता है कि कारणवश दुर्बलता की स्थिति में रह रहे बुद्धि-संस्थान को सजग सक्षम बनाने के लिए वे उपाय-उपचार किये गये जिन्हें 'सरस्वती आराधना' कहा जाता है । उपासना की प्रक्रिया भाव-विज्ञान का महत्वपूर्ण अंग है । श्रद्धा और तन्मयता के समन्वय से की जाने वाली साधना प्रक्रिया एक विशिष्ट शक्ति है। मनःशास्त्र के रहस्यों को जानने वाले स्वीकार करते हैं कि व्यायाम, अध्ययन, कला, अभ्यास की साधना भी एक समर्थ प्रक्रिया है, जो चेतना-क्षेत्र की अनेकानेक रहस्यमयी क्षमताओं को उभारने तथा बढ़ाने में पूर्णतया समर्थ है । सरस्वती उपासना के सम्बन्ध में भी यही बात है। उसे शास्त्रीय विधि से किया जाय तो वह अन्य मानसिक उपचारों की तुलना में बौद्धिक क्षमता विकसित करने में कम नहीं अधिक ही सफल होती है ।

मन्दबुद्धि लोगों के लिए गायत्री महाशक्ति का सरस्वती तत्व अधिक हितकर सिद्ध होता है। बौद्धिक क्षमता विकसित करने, चित्त की चंचलता एवं अस्वस्थता दूर करने के लिए सरस्वती साधना की विशेष उपयोगिता है । मस्तिष्क-तन्त्र से सम्बन्धित अनिद्रा, सिरदर्द, तनाव, जुकाम, जैसे रोगों में गायत्री के इस अंश, सरस्वती साधना का लाभ मिलता है ।कल्पना शक्ति की कमी, समय पर उचित निर्णय न कर सकना, विस्मृति, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, अरुचि जैसे कारणों से भी मनुष्य मानसिक दृष्टि से अपंग असमर्थ जैसा बना रहता है और मूर्ख कहलाता है । उस अभाव को दूर करने के लिए सरस्वती साधना एक उपयोगी आध्यात्मिक उपचार है ।

शिक्षा के प्रति जन-जन के मन-मन में अधिक उत्साह भरने-लौकिक अध्ययन और आत्मिक स्वाध्याय की उपयोगिता अधिक गम्भीरतापूर्वक समझने के लिए भी सरस्वती पूजन की परम्परा है। बुद्धिमत्ता को बहुमूल्य सम्पदा समझा जाय और उसके लिए धन कमाने, बल बढ़ाने, साधन जुटाने, मोद मनाने से भी अधिक ध्यान दिया जाय । इस लोकोपयोगी प्रेरणा को गायत्री महाशक्ति के अन्तर्गत एक महत्वपूर्ण धारा सरस्वती की मानी गई है और उससे लाभान्वित होने के लिए प्रोत्साहित किया गया है।

१५-लक्ष्मी :

गायत्री की एक धारा श्री है । श्री अर्थात् लक्ष्मी, लक्ष्मी अर्थात् समृद्धि । गायत्री की कृपा से मिलने वाले वरदानों में एक लक्ष्मी भी है । जिस पर यह अनुग्रह उतरता है वह दरिद्र, दुर्बल, कृपण, असन्तुष्ट एवं पिछड़ेपन से ग्रसित नहीं रहता । स्वच्छता एवं सुव्यवस्था के स्वभाव को भी 'श्री' कहा गया है। वह सद्गुण जहाँ होंगे वहाँ दरिद्रता कुरूपता टिक नहीं सकेगी ।

पदार्थ को मनुष्य के लिए उपयोगी बनाने और उसकी अभीष्ट मात्रा उपलब्ध करने की क्षमता को लक्ष्मी कहते

हैं। यों प्रचलन में तो लक्ष्मी शब्द सम्पत्ति के लिए प्रयुक्त होता है, पर वस्तुतः वह चेतना का एक गुण है, जिसके आधार पर निरुपयोगी वस्तुओं को भी उपयोगी बनाया जा सकता है। मात्रा में स्वल्प होते हुए भी उनका भरपूर लाभ सत्प्रयोजनों के लिए उठा लेना एक विशिष्ट कला है। वह जिसे आती है उसे लक्ष्मीवान, श्रीमान कहते हैं। शेष अमीर लोगों को धनवान भर कहा जाता है। गायत्री की एक किरण लक्ष्मी भी है। जो इसे प्राप्त करता है उसे स्वल्प साधनों में भी अर्थ उपयोग की कला आने के कारण सदा सुसम्पन्नों जैसी प्रसन्नता बनी रहती है।

धन का अधिक मात्रा में संग्रह होने मात्र से किसी को सौभाग्यशाली नहीं कहा जा सकता। सद्बुद्धि के अभाव में वह नशे का काम करती है, तो मनुष्य को अहंकारी, उद्धत, विलासी और दुर्व्यसनी बना देती है। सामान्यतया धन पाकर लोग कृपण, विलासी, अपव्ययी और अहंकारी हो जाते हैं। लक्ष्मी का एक वाहन उलूक माना गया है। उलूक अर्थात् मूर्खता। कुसंस्कारी व्यक्तियों को अनावश्यक सम्पत्ति मूर्ख ही बनाती है। उनसे दुरुपयोग ही बन पड़ता है और उसके फलस्वरूप वह आहत ही होती है।

लक्ष्मी का अभिषेक दो हाथी करते हैं। वह कमल के आसन पर विराजमान हैं। कमल कोमलता का प्रतीक है। कोमलता और सुन्दरता सुव्यवस्था में ही सन्निहित रहती है। कला भी इसी सत्प्रवृत्ति को कहते हैं। लक्ष्मी का एक नाम कमला भी है। इसी को संक्षेप में कला कहते हैं। वस्तुओं को, सम्पदाओं को सुनियोजित रीति से सदुद्देश्य के लिए सदुपयोग करना, उसे परिश्रम एवं मनोयोग के साथ नीति और न्याय की मर्यादा में रहकर उपार्जित करना भी अर्थकला के अर्न्तगत आता है। उपार्जन अभिवर्धन में कुशल होना श्री तत्व के अनुग्रह का पूर्वार्द्ध है। उत्तरार्द्ध वह है जिसमें एक पाई का भी अपव्यय नहीं किया जाता। एक-एक पैसे को सदुद्देश्य के लिए ही खर्च किया जाता है।

लक्ष्मी का जल-अभिषेक करने वाले दो गजराजों को परिश्रम और मनोयोग कहते हैं। उनका लक्ष्मी के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध है। यह युग्म जहाँ भी रहेगा, वहाँ वैभव की, श्रेय-सहयोग की कमी रहेगी ही नहीं। प्रतिभा के धनी पर सम्पन्नता और सफलता की वर्षा होती है और उन्हें उत्कर्ष के अवसर पग-पग पर उपलब्ध होते हैं।

गायत्री के तत्व दर्शन एवं साधना क्रम की एक धारा लक्ष्मी है। इसका शिक्षण यह है कि अपने में कुशलता की, क्षमता की अभिवृद्धि की जाय तो कहीं भी रहो लक्ष्मी के अनुग्रह और अनुदान की कमी नहीं रहेगी। उसके अतिरिक्त गायत्री उपासना की एक धारा 'श्रीसाधना' है। उसके विधान अपनाने पर चेतना-केन्द्र में प्रसुप्त पड़ी हुई वे क्षमताएँ जागृत होती हैं जिनके चुम्बकत्व से खिंचता हुआ धन-वैभव उपयुक्त मात्रा में सहज ही एकत्रित होता रहता है। एकत्रित होने पर बुद्धि की देवी सरस्वती उसे संचित नहीं रहने देती वरन् परमार्थ प्रयोजनों में उसके सदुपयोग की प्रेरणा देती है।

लक्ष्मी प्रसन्नता की, उल्लास की, विनोद की देवी है। वह जहाँ रहेगी हँसने-हँसाने का वातावरण बना रहेगा। अस्वच्छता भी दरिद्रता है। सौन्दर्य, स्वच्छता एवं कलात्मक सज्जा का ही दूसरा नाम है। लक्ष्मी सौन्दर्य की देवी है। वह जहाँ रहेगी वहाँ स्वच्छता, प्रसन्नता, सुव्यवस्था, श्रमनिष्ठा एवं मितव्ययिता का वातावरण बना रहेगा।

गायत्री की लक्ष्मी धारा का अवगाहन करने वाले श्रीवान बनते हैं और उसका आनन्द एकाकी न लेकर असंख्यों को लाभान्वित करते हैं।

१६-दुर्गा :

गायत्री की एक धारा दुर्गा है। दुर्गा को ही काली कहते हैं। काली को महाकाल की सहधर्मिणी माना गया है। महाकाल अर्थात् सुविस्तृत समय सौरभ। काल की महत्ता स्वीकार करने वाले, उसकी उपयोगिता समझने वाले, उसका सदुपयोग करने वाले काली के उपासक कहे जाते हैं।

आलस्य में शरीर और प्रमाद में मन की क्षमता को नष्ट होने से बचा लिया जाय तो सामान्य स्तर का मनुष्य भी अभीष्ट उद्देश्यों में चरम सफलता प्राप्त कर सकता है। समय ही ईश्वर प्रदत्त वह सम्पदा है जिसका उपयोग करके मनुष्य जिस प्रकार की भी सफलता प्राप्त करना चाहे उसे प्राप्त कर सकता है। ईश्वर सूक्ष्म है, उसका पुत्र जीव भी सूक्ष्म है। पिता से पुत्र को मनुष्य जन्म का महान अनुदान तो मिला ही है, साथ ही समय रूपी ऐसा अदृश्य धन भी मिला है जिसे यदि आलस्य-प्रमाद में बर्बाद न किया जाय, किसी प्रयोजन विशेष के लिए नियोजित रखा जाय तो उसके बदले में सांसारिक एवं आध्यात्मिक सम्पदाऐं प्रचुर परिमाण में उपलब्ध की जा सकती हैं। इस तथ्य को गायत्री काली विग्रह में स्पष्ट किया गया है।

हर दिन व्यस्त योजना बनाकर चलना और उस प्रयास में प्राणपण से एकाग्र भाव से जुटे रहना इष्ट प्राप्ति का सुनियोजित आधार है। इसी रीति-नीति में गहन श्रद्धा

उत्पन्न कर लेना महाकाल की उपासना है। इसी अवलम्बन को अपनाने से महामानवों की भूमिका का सम्पादित कर सकना संभव हो सकता है।

काली के अन्यान्य नाम भी हैं। दुर्गा, चण्डी, अम्बा, शिवा, पार्वती आदि उसी को कहते हैं। इसका एक संघ शक्ति भी है। एकाकीपन सदा अपूर्ण ही रहता है, भले ही वह कितना ही समर्थ, सुयोग्य एवं सम्पन्न हो। जिसे जितना सहयोग मिल जाता है, वह उसी क्रम से आगे बढ़ता है। संगठन की महिमा अपार है। व्यक्ति और समाज की सारी प्रगति, समृद्धि और शान्ति का आधार सामूहिकता एवं सहकारिता है। अब तक की मानवी उपलब्धियाँ सहकारी प्रकृति के कारण ही संभव हुई हैं। भविष्य में भी कुछ महत्वपूर्ण पाना हो तो उसे सम्मिलित उपायों से ही प्राप्त किया जा सकेगा।

दुर्गा अवतार की कथा है कि असुरों द्वारा संत्रस्त देवताओं का उद्धार करने के लिए प्रजापति ने उनका तेज एकत्रित किया था और उसे काली का रूप देकर प्रचण्ड शक्ति उत्पन्न की थी। उस चण्डी ने अपने पराक्रम से असुरों को निरस्त किया था और देवताओं को उनका उचित स्थान दिलाया था। इस कथा में यही प्रतिपादन है कि सामूहिकता की शक्ति असीम है। इसका जिस भी प्रयोजन में उपयोग किया जायगा, उसी में असाधारण सफलता मिलती चली जायगी।

दुर्गा का वाहन सिंह है। वह पराक्रम का प्रतीक है। दुर्गा की गति विधियों में संघर्ष की प्रधानता है। जीवन संग्राम में विजय प्राप्त करने के लिए हर किसी को आन्तरिक दुर्बलताओं और स्वभावतः दुष्प्रवृत्तियों से निरन्तर जूझना पड़ता है। बाह्य जीवन में अवांछनीयताओं एवं अनीतियों के आक्रमण होते रहते हैं और अवरोध सामने खड़े रहते हैं। उनसे संघर्ष करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है। शान्ति से रहना तो सभी चाहते हैं पर आक्रमण और अवरोधों से बच निकलना कठिन है। उससे संघर्ष करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं। ऐसे साहस का, शौर्य का, पराक्रम का उद्भव गायत्री के अन्तर्गत दुर्गा तत्व के उभरने पर संभव होता है। गायत्री उपासना से अन्तराल में उसी स्तर की प्रखरता उभरती है। इसे दुर्गा का अनुग्रह साधक को उपलब्ध हुआ माना जाता है।

१७-कुण्डलिनी :

गायत्री की एक शक्ति कुण्डलिनी है। कुण्डलिनी वह भौतिक ऊर्जा है जो जीवात्मा के साथ लिपटकर अत्यन्त घनिष्ठ हो गई है। इसे प्राण-विद्युत जीवन-शक्ति, ऊर्जा, योगाग्नि आदि नामों से जाना जाता है। नस-नाड़ियों में एक चैतन्य विद्युत गतिशील रहती है। इसके दो सिरे हैं जिन्हें ध्रुव केन्द्र माना जाता है। यह केन्द्र पृथ्वी के उत्तरी-दक्षिणी ध्रुवों की तरह है। उत्तरी ध्रुव है मस्तिष्क का मध्यबिन्दु ब्रह्म-रन्ध्र। इसी स्थान पर सहस्रार चक्र है। इसका सीधा सम्बन्ध ब्रह्म चेतना से है। जिस प्रकार उत्तरी ध्रुव केन्द्र का चुम्बकत्व अपने लिए आवश्यक शक्तियों तथा पदार्थों को ब्रह्माण्ड के अन्तर्ग्रही भाण्डागार से उपलब्ध करता रहता है, उसी प्रकार सहस्रार चक्र में वह सामर्थ्य है कि व्यापक ब्रह्म-चेतना के भाण्डागार में संव्याप्त दिव्य शक्तियों में से अपने लिए आवश्यक क्षमताएँ अभीष्ट मात्रा में उपलब्ध कर सके। ब्रह्म रन्ध्र में कुण्डलिनी का एक सिरा है जिसे महासर्प कहते हैं। इसकी आकृति कुण्डलाकार है। शेषनाग, शिव सर्प आदि इसी के नाम हैं। गायत्री उपासना से इस महासर्प की मूर्छना जागृत की जाती है और उसकी प्रचण्ड क्षमता के सहारे अध्यात्म क्षेत्र में असंख्य विभूतियों का लाभ उठाया जाता है।

कुण्डलिनी का दूसरा सिरा मूलाधार चक्र है। यह मल-मूत्र छिद्रों के मध्य एक छोटा शक्ति भँवर है, इसे दक्षिणी ध्रुव के समतुल्य कहा गया है। मानवी काया में पदार्थ ऊर्जा का उत्पादन और वितरण यहीं से होता है। प्रजनन की सामर्थ्य यही है। स्फूर्ति, उल्लास और साहस जैसी विशिष्टताऐं यहीं से उद्भूत होती हैं। मानवी-काया में काम करने वाली अनेकों शक्तियों का उद्गम केन्द्र यही है। स्थूल शरीर में मस्तिष्क और हृदय को प्रधान अवयव माना गया है। सूक्ष्म शरीर का मस्तिष्क सहस्रार चक्र महासर्प है और हृदय मूलाधार चक्र। मूलाधार को कुण्डलिनी का दक्षिणी ध्रुव माना गया है। दोनों ध्रुवों का मध्यवर्ती प्रवाह प्रसुप्त स्थिति में पड़ा रहता है। फलतः मनुष्य अन्य प्राणियों की तरह पेट, प्रजनन जैसे शरीर निर्वाह के तुच्छ काम ही कर पाता है। कुण्डलिनी जागरण से दिव्य ऊर्जा जागृत होती है और मनुष्य की सामर्थ्य असामान्य बन जाती है। मूलाधार स्थित सर्पिणी अर्थात् प्राण ऊर्जा और सहस्रार स्थित महासर्प-ब्रह्म चेतना के मध्य आदान-प्रदान का द्वार खुल जाना ही कुण्डलिनी जागरण है। भौतिक और आत्मिक क्षमताओं का मिलन सम्पर्क वैसा ही चमत्कारी परिणाम उत्पन्न करता है, जैसा कि बिजली के दोनों तार परस्पर मिलते ही शक्तिशाली प्रवाह उत्पन्न करते हैं।

मस्तिष्कीय सामर्थ्य को परिष्कृत बनाने का काम योग साधनाओं द्वारा किया जाता है। प्राण ऊर्जा में प्रचण्डता

उत्पन्न करना और उसकी सामर्थ्य से भौतिक एवं आत्मिक शक्तियों को बलवती बनाना तंत्र-विज्ञान है। कुण्डलिनी तंत्र विद्या की अधिष्ठात्री है। भूलोक का प्रतिनिधि मूलाधार है और ब्रह्मलोक का सहस्रार। दोनों का मध्यवर्ती आवागमन देवयान मार्ग से होता है। मेरुदण्ड ही देवयान मार्ग है। इस लम्बे मार्ग में षट्चक्र अवस्थित हैं। सातवाँ लक्ष्य बिन्दु सहस्रार है। इन्हींको सप्त लोक, सप्तसिन्धु, सप्तगिरी, सप्त ऋषि, सप्ततीर्थ, सप्तद्वीप, सप्ताह, सप्त धातु आदि के रूप में विस्तार हुआ है, कुण्डलिनी के जागरण से देवयान मार्ग के यह सभी सप्त सोपान जागृत होते हैं और साधक की सत्ता दिव्य क्षमताओं में सुसम्पन्न हो भर जाती है।

मनुष्य में प्राण ऊर्जा की प्रचण्ड शक्ति मूलाधार चक्र के केन्द्र बिन्दु में अवलम्बित है और वहीं से समस्त शरीर में परिभ्रमण करती हुई सामान्य जीवन के अनेकानेक प्रयोजन पूरे करती रहती है। इसकी असाधारण क्षमता का पता इससे लगता है कि यह केन्द्र जननेन्द्रिय के माध्यम से सक्रिय होकर एक नया मनुष्य उत्पन्न करने में समर्थ होता है। मनुष्य में शौर्य, साहस, पराक्रम, उत्साह, उल्लास, स्फूर्ति, उमंग जैसी अनेक विशेषताएँ-क्षमताएँ यहीं से स्फुरित होती रहती हैं। कामोत्तेजन में इसी क्षमता की हलचलों का आभास मिलता है। प्रजनन प्रयोजनों में प्राय: उसका बड़ा भाग नष्ट होता रहता है।

सामान्य प्राण को महाप्राण में परिणित करके ब्रह्म रन्ध्र तक पहुँचा देना और वहाँ के प्रसुप्त शक्ति-भण्डार को जगाकर मनुष्य को देवोपम बना देना कुण्डलिनी जागरण का उद्देश्य है। समुद्र-मन्थन से १४ रत्न निकले थे, कुण्डलिनी के शक्ति सागर का मन्थन भी दिव्य शक्ति की रत्न राशि का द्वार साधक के लिए खोलता है। यही अधोगति को ऊर्ध्व गति में परिणित करने की प्रक्रिया कुण्डलिनी जागरण है। इस साधना में नाम बीज को शक्ति बीज में परिवर्तित किया जाता है। काली का महाकाल से, शिव का शक्ति से, प्राण का महाप्राण से मिलन होने पर उनकी संयुक्त शक्ति से चमत्कारी परिणाम उत्पन्न होते हैं। इसी को कुण्डलिनी जागरण कहते हैं। गायत्री के ही एक प्रवाह कुण्डलिनी जागरण को गायत्री की तन्त्र पक्षीय उपलब्धि कहा गया है।

कुण्डलिनी-जागरण की प्रक्रिया गायत्री साधना के अन्तर्गत ही सरल पड़ती है। हठयोग, प्राणयोग, तन्त्रयोग आदि के माध्यम से भी उसे एक सीमा तक जागृत किया जाता है। किन्तु परिपूर्ण उपयोग शक्ति और जागरण गायत्री के माध्यम से ही हो सकता है। गायत्री की चौबीस शक्तियों में से कुण्डलिनी भी है। गायत्री साधना की सौम्य प्रक्रिया अपनाकर साधकों को कुण्डलिनी-जागरण का लाभ अधिक निश्चिन्तता पूर्वक, बिना किसी प्रकार का जोखिम उठाये सरल रूप से मिल सकता है।

१८-प्राणाग्नि :

गायत्री के २४ प्रधान नामों एवं रूपों में 'प्राणाग्नि' भी है। प्राण एक सर्वव्यापी चेतना प्रवाह है। जब वह प्रचण्ड हो उठता है तो उसकी ऊर्जा अग्नि बनकर प्रकट होती है। प्राण-तत्व की प्रखरता और प्रचण्डता की स्थिति को प्राणाग्नि कहते हैं। अग्नि को दाहक, ज्योतिर्मय एवं आत्म सात् कर लेने की विशेषता से सभी परिचित हैं। प्राणाग्नि की दिव्य क्षमता जहाँ भी प्रकट होती है वहाँ से कषाय-कल्मषों का नाश होकर ही रहता है। जहाँ यह क्षमता उत्पन्न होती है वहाँ अन्धकार दीखेगा ही नहीं, सब कुछ प्रकाशवान ही दिखाई देगा। प्राणाग्नि की सामर्थ्य आपके सम्पर्क क्षेत्र को आत्म-सात् कर लेती है। पदार्थ और प्राणी अनुकूल बनते हैं, अनुरूप ढलते चले जाते हैं। प्राणाग्नि सम्पन्न व्यक्तियों का वर्गीकरण ओजस्वी, तेजस्वी, मनस्वी के रूप में किया जाता है।

प्राणाग्नि विद्या को पंचाग्नि विद्या कहा गया है। कठोपनिषद् में यम ने नचिकेता को पंचाग्नि विद्या सिखाकर उसे कृतकृत्य कर दिया था। यह पाँच प्राणों का विज्ञान और विनियोग ही है, जिसे जानने अपनाने वाला सच्चे अर्थों में महाप्राण बन जाता है।

गायत्री को प्राणाग्नि कहा गया है गायत्री शब्द का अर्थ ही 'प्राण रक्षक' होता है। प्राणशक्ति प्रखर-प्रचण्ड बनाने की क्षमता से सुसम्पन्न बनना गायत्री साधना का प्रमुख प्रतिफल है। प्राणवान होने का प्रमाण सत्प्रयोजनों के लिए साहसिकता प्रदर्शित करने के रूप में सामने आता है। सामान्य लोग स्वार्थ पूर्ति के लिए दुष्कर्म तक कर गुजरने में दुस्साहस करते पाये जाते हैं। सदुद्देश्यों की पूर्ति के लिए कुछ करने की तो मात्र कल्पना ही कभी-कभी उठती है। उसके लिए कुछ कर गुजरना ही बन पड़ता है। आदर्शों को अपनाने वालों को जीवन क्रम में कठोर संयम और अनुशासन का समावेश करना पड़ता है और हेय मार्ग पर चलने-चलाने वालों से विरोध असहयोग करना होता है। इस प्रबल पुरुषार्थ को कर सकने में महाप्राण ही सफल होते हैं।

प्राण की बहुलता सत्प्रयोजनों के लिए साहसिक कदम उठाने-त्याग बलिदान के अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करने एवं सत्संकल्पों के निर्वाह में सुदृढ़ बने रहने के रूप में दृष्टिगोचर होती है । अनीति से लड़ने एवं परिस्थितिवश कठिनाई आने पर धैर्य बनाये रहने तथा निराशाजनक परिस्थिति में भी उज्ज्वल प्रभाव की आशा करने में भी प्राणवान होने का प्रमाण मिलता है । गायत्री उपासना से इस प्रखरता की अभिवृद्धि होती है ।

१९-भवानी :

गायत्री का एक नाम भवानी है । इस रूप में आद्यशक्ति की उपासना करने से उस भर्ग-तेज की अभिवृद्धि होती है, जो अवांछनीयताओं से लड़ने और परास्त करने के लिए आवश्यक है । इसे एक शक्ति-धारा भी कह सकते हैं । भवानी के पर्यायवाचक दुर्गा, चण्डी, भैरवी, कंकाली आदि नाम हैं । इनकी मुख मुद्रा एवं भाव चेष्टा विकराल है । संघर्ष में उनकी गतिविधियाँ नियोजित हैं । उनका वाहन सिंह है । सिंह पराक्रम का, आक्रमण का प्रतीक है। हाथों में ऐसे आयुध हैं जो शत्रु को विदीर्ण करने के ही काम आते हैं । लोक व्यवहार में भवानी तलवार को भी कहते हैं । उसका प्रयोजन भी अवांछनीयता का प्रतिरोध करना है। असुरों के शस्त्र उत्पीड़न के लिए प्रयुक्त होते हैं। उनके लिए भवानी शब्द का प्रयोग तभी होगा जब उनका उपयोग अनीति के विरोध और नीति के समर्थन में किया जा रहा हो ।

धर्म का एक पक्ष सेवा, साधना, करुणा, सहायता, उदारता के रूप में प्रयुक्त होता है । यह विधायक-सृजनात्मक पक्ष है । दूसरा पक्ष अनीति का प्रतिरोध है, इसके बिना धर्म न तो पूर्ण होता, न सुरक्षित रहता है । सज्जनता की रक्षा के लिए दुष्टता का प्रतिरोध भी अभीष्ट है । इस प्रतिरोध शक्ति को ही भवानी कहते हैं । दुर्गा एवं चण्डी के रूप नें इसी की लीलाओं का वर्णन किया जाता है । 'देवी भागवत' में विशिष्ट रूप से और अन्यान्य पुराणों, उपपुराणों में सामान्य रूप से इसी महाशक्ति की चर्चा हुई है और उसे असुर विदारिणी, संकट निबारिणी के रूप में चित्रित किया गया है । अवतारों के दो उद्देश्य हैं-एक धर्म की स्थापना, दूसरा अधर्म का विनाश । दोनों ही एक-दूसरे के पूरक हैं । सृजन ध्वंसकी द्विविध प्रतिक्रियाओं का अवलम्बन लेने से ही सुव्यवस्था बन पाती है । भोजन जितना भी आवश्यक है उतना ही मल विसर्जन भी । उत्पादन एवं सम्वर्धन के लिए किए जाने वाले प्रयत्नों के साथ आक्रमणकारी तत्वों से बचाव का भी प्रबन्ध करना पड़ता है। राजसत्ता को प्रजा पालन के अतिरिक्त उपद्रवों को रोकने के लिए सेना, पुलिस आदि के सुरक्षात्मक प्रयत्न भी करने पड़ते हैं । किसान को खेत और माली को बगीचे को उगाने, बढ़ाने के साथ-साथ रखाने का भी प्रबन्ध करना होता है अन्यथा उनका किया हुआ सारा परिश्रम, अवांछनीय तत्वों के हाथ चला जायेगा और वे उस अपहरण से अधिक प्रोत्साहित, परिपुष्ट होकर हानि पहुँचाने का दुस्साहस करेंगे । अस्तु, सज्जनता का परिपोषण जितना आवश्यक है उतना ही दुष्टता का उन्मूलन भी अभीष्ट है । इनमें से किसी एक को लेकर चलने से सुव्यवस्था रह नहीं सकती ।

संघर्ष का प्रथम चरण अपनी दुर्बुद्धि से जूझना है । निकृष्ट स्तर की दुर्भावनाएँ और कुविचारणाएँ अन्तराल में जड़ें जमा कर व्यक्ति को पतन, पराभव के गर्त में धकेलती है । बुरी आदतों के वशीभूत होकर मनुष्य दुर्व्यसनों और दुष्कर्मों में प्रवृत्त होता है । फलतः नाना प्रकार के क्लेश सहता और कष्ट उठाता है । व्यक्तित्व में घुसे हुए कषाय-कल्मषों, कुसंस्कारों का उन्मूलन करने के लिए विभिन्न प्रकार की तप-तितिक्षाएँ अपनानी पड़ती हैं ।

लोक व्यवहार में यही दुष्प्रवृत्तियाँ आलस्य, प्रमाद, अस्वच्छता, अशिष्टता, अव्यवस्था, संकीर्ण स्वार्थपरता आदि रूपों में मनुष्य को उपेक्षित, तिरस्कृत बनाती हैं । इनकी मात्रा अधिक बढ़ जाने से व्यक्ति भ्रष्ट, दुष्ट आचरण करता है और पशु पिशाच कहलाता है । वासना, तृष्णा और अहन्ता की बढ़ोत्तरी से भी मनुष्य असामाजिक, अवांछनीय , उच्छृंखल एवं आक्रामक बन जाता है। फलतः उसे घृणा एवं प्रताड़ना का दण्ड सहना पड़ता है। इस स्थिति से उबरने पर ही व्यक्ति को सुसंस्कृत एवं सुविकसित होने का अवसर मिलता है । आत्म-शोधन की साहसिकता भी भवानी है । आत्मविजय को सबसे बड़ी विजय कहा गया है ।

समाज में जहाँ सहकारिता, सज्जनता एवं रचनात्मक प्रयत्नों का क्रम चलता है, वहाँ दुष्टता, दुरभिसंधियाँ भी कम नहीं हैं । अवांछनीयता, अनैतिकता, मूढ़ मान्यताओं का जाल बुरी तरह बिछा रहता है । उन्हीं के कारण अनेकानेक वैयक्तिक एवं सामाजिक समस्याएँ उठती एवं विकृतियाँ बढ़ती रहती हैं । इनसे लड़ने के लिए वैयक्तिक एवं सामूहिक स्तर पर प्रचण्ड प्रयास होने ही चाहिए । इसी प्रयत्नशीलता को चण्डी कहते हैं । भवानी यही है । सृजन

और संघर्ष के अन्योन्याश्रय तत्वों में से संघर्ष की आवश्यकता को सुझाने वाला और उसे अपनाने का प्रोत्साहन देने वाला स्वरूप भवानी है । सद्बुद्धि की अधिष्ठात्री गायत्री का एक पक्ष संघर्षशील, शौर्य, साहस के लिए भी मार्गदर्शन करता है । इस शक्ति का गायत्री साधना से सहज संवर्धन होता है ।

२०-भुवनेश्वरी :

भुवनेश्वरी अर्थात् संसार भर के ऐश्वर्य की स्वामिनी। वैभव-पदार्थों के माध्यम से मिलने वाले सुख-साधनों को कहते हैं । ऐश्वर्य-ईश्वरीय गुण है । वह आन्तरिक आनन्द के रूप में उपलब्ध होता है । ऐश्वर्य की परिधि छोटी भी होती है और बड़ी भी । छोटा ऐश्वर्य छोटी-छोटी सत्प्रवृत्तियाँ अपनाने पर उनके चरितार्थ होते समय सामयिक रूप से मिलता रहता है । यह स्व उपार्जित, सीमित आनन्द देने वाला और सीमित समय तक रहने वाला ऐश्वर्य है । इसमें भी स्वल्पकालीन अनुभूति होती है और उसका रस कितना मधुर होता है यह अनुभव करने पर अधिक उपार्जन का उत्साह बढ़ता है ।

भुवनेश्वरी इससे ऊंची स्थिति है । उसमें सृष्टि भर का ऐश्वर्य अपने अधिकार में आया प्रतीत होता है। स्वामी रामतीर्थ अपने को राम बादशाह कहते थे । उनको विश्व का अधिपति होने की अनुभूति होती थी । फलतः उस स्तर का आनन्द लेते थे जो समस्त विश्व के अधिपति होने वाले को मिल सकता है । छोटे-छोटे पद पाने वाले-सीमित पदार्थों के स्वामी बनने वाले, जब अहंता को तृप्त करते और गौरवान्वित होते हैं तो समस्त विश्व का अधिपति होने की अनुभूति कितनी उत्साहवर्धक होती होगी, इसकी कल्पना भर से मन आनन्द विभोर हो जाता है । राजा छोटे से राज्य के मालिक होते हैं, वे अपने को जितना श्रेयाधिकारी, सम्मानास्पद एवं सौभाग्यवान अनुभव करते हैं, इसे सभी जानते हैं । छोटे-बड़े राजपद पाने की प्रतिस्पर्द्धा इसीलिए रहती है कि आधिपत्य का अपना गौरव और आनन्द है ।

यह वैभव का प्रसंग चल रहा है । यह मानवी एवं भौतिक है । ऐश्वर्य देवी, आध्यात्मिक, भावनात्मक है । इसलिए उसके आनन्द की अनुभूति उस अनुपात से अधिक होती है। भुवन भर की चेतनात्मक आनन्दानुभूति का आनन्द जिसमें भरा हो उसे भुवनेश्वरी कहते हैं । गायत्री की यह दिव्यधारा जिस पर अवतरित होती है उसे निरन्तर यही लगता है कि उसे विश्व भर के ऐश्वर्य का अधिपति बनने का सौभाग्य मिल गया है । वैभव की तुलना में ऐश्वर्य का आनन्द असंख्य गुना बड़ा है। ऐसी दशा में सांसारिक दृष्टि से सुसम्पन्न समझे जाने की तुलना में भुवनेश्वरी की भूमिका में पहुँचा हुआ साधक भी लगभग उसी स्तर की भाव संवेदनाओं से भरा रहता है जैसा कि भुवनेश्वर भगवान को स्वयं अनुभव होता होगा ।

भावना की दृष्टि से यह स्थिति परिपूर्ण आत्मगौरव की अनुभूति है । वस्तुस्थिति की दृष्टि से इस स्तर का साधक ब्रह्मभूत होता है, ब्राह्मी स्थिति में रहता है इसलिए उसकी व्यापकता और समर्थता भी प्रायः परब्रह्म के स्तर की बन जाती है । वह भुवन भर में बिखरे पड़े विभिन्न प्रकार के पदार्थों का नियंत्रण कर सकता है । पदार्थों और परिस्थितियों के माध्यम से जो आनन्द मिलता है उसे अपने संकल्प बल से अभीष्ट परिमाण में आकर्षित कर उपलब्ध कर सकता है ।

भुवनेश्वरी मनःस्थिति में विश्व भर की अन्तःचेतना अपने दायित्व के अन्तर्गत मानती है । उसकी सुव्यवस्था का प्रयास करती है। शरीर और परिवार का स्वामित्व अनुभव करने वाले इन्हीं के लिए कुछ करते रहते हैं । विश्व भर को अपना ही परिकर मानने वाले का निरन्तर विश्वहित में ध्यान रहता है । परिवार सुख के लिए शरीर सुख की परवाह न करके प्रबल पुरुषार्थ किया जाता है । जिसे विश्व परिवार की अनुभूति होती है वह जीव जगत से आत्मीयता साधता है । उनकी पीड़ा और पतन को निवारण करने के लिए पूरा-पूरा प्रयास करता है। अपनी सभी सामर्थ्यों को निजी सुविधा के लिए उपयोग करके व्यापक विश्व की सुख-शान्ति के लिए नियोजित रखता है।

वैभव उपार्जन के लिए भौतिक पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है । ऐश्वर्य की उपलब्धि भी आत्मिक पुरुषार्थ से ही संभव है । व्यापक ऐश्वर्य की अनुभूति तथा सामर्थ्य प्राप्त करने के लिए साधनात्मक पुरुषार्थ करने पड़ते हैं । गायत्री उपासना में इस स्तर की साधना जिस विधि-विधान के अन्तर्गत की जाती है उसे 'भुवनेश्वरी' कहते हैं ।

२१-अन्नपूर्णा :

जीवन की प्रत्यक्ष आवश्यकत्ताओं में प्रथम नाम 'अन्न' का आता है । भोजन के काम आने वाले धान्यों तथा अन्य पदार्थों को भी अन्न ही कहा जाता है । गायत्री की एक शक्ति अन्नपूर्णा है, इसका प्रभाव अन्नादि की आवश्यकताओं की सहज पूर्ति होते रहने के रूप में अनुभव होता है । प्रायः गृह-लक्ष्मियों को अन्नपूर्णा कहते हैं । वे अपनी दूरदर्शिता, सुव्यवस्था के द्वारा घर में ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं होने देतीं

जिससे अभाव ग्रस्तता का कष्ट असंतोष एवं उपहास सहन करना पड़े । गृहलक्ष्मी जैसी सुसंस्कारी समझदार को भी अन्नपूर्णा कहते हैं । वह जहाँ भी रहेगी वहाँ दरिद्रता के दर्शन नहीं होते । परिस्थितियाँ संतोषजनक बनी रहती हैं।

अन्नपूर्णा गायत्री की वह चेतना शक्ति है जिसका साधक पर अवतरण होने से अभाव ग्रस्तता की व्यथा सहनी नहीं पड़ती है । आवश्यकताओं की पूर्ति का असमंजस खिन्न-उद्विग्न नहीं करता । तृप्ति, तुष्टि और शान्ति की मनः स्थिति साधन-सामग्री के बाहुल्य से नहीं मिल सकती । ईंधन मिलने से तो आग और भड़कती जाती है। शान्ति तो जल होती है । जल है संतोष, जिसमें औसत नागरिक के स्तर का निर्वाह पर्याप्त माना जाता है और अहंता की तृप्ति के लिए वैभव का प्रदर्शन नहीं महानता का आदर्श अपनाना आवश्यक समझा जाता है । इस स्तर की सद्‌बुद्धि का उदय होते ही लगता है कि जीवन सम्पदा अपने आप में परिपूर्ण है । उसमें विभूतियों के अजस्र भंडार भरे पड़े हैं । वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जिन साधनों की आवश्यकता है, वे प्रचुर परिमाण में सहज ही उपलब्ध हैं ।

इस अनुभूति के फलस्वरूप मनुष्य सम्पदा कमाने और वैभव दिखाने की मूर्खता से विरत होता है । अपनी क्षमताओं को आदर्शों के परिपालन में लगाता है । व्यक्तित्व को महान बनाने की महत्वाकांक्षा जगाता है और अपने पौरुष को उन प्रयोजनों में निरत करता है जिनसे लोक मंगल के साधन सधते हैं । सृष्टा की विश्ववाटिका को अधिकाधिक सुन्दर समुन्नत बनाने के लिए किया गया हर प्रयत्न बिना सफलता-असफलता की प्रतीक्षा किए हर घड़ी उच्चस्तरीय संतोष प्रदान करता रहता है । इसी आस्था को अन्नपूर्णा कहते हैं । गायत्री की यह अन्नपूर्णा धारा साधक को सहज संतोष के स्वर्गीय आनन्द का रसास्वादन निरन्तर कराती है ।

गायत्री उपासना से साधकों की आर्थिक स्थिति संतोषजनक रहती है और धन-धान्य का घाटा नहीं पड़ता। उन्हें ऋणी नहीं रहना पड़ता । असंतोष की आग में जलते रहने, लिप्सा-लालसाओं से उद्विग्न रहने की विपत्ति भी उन्हें संत्रस्त नहीं करती । इसका कारण यह नहीं है कि उनके कोठों पर आसमान से अनाज की वर्षा होती है, या खेतों में चौगुनी फसल उत्पन्न होती है वरन् कारण यह है कि साधनों को उपार्जित करने के लिए वे योग्यता बढ़ाने और कठोर परिश्रम करने में दत्तचित्त रहते हैं । दरिद्र तो आलसी प्रमादी रहते हैं । जिन्हें पुरुषार्थ परायणता में रुचि है, जो श्रम एवं मनोयोग के सृजनात्मक प्रयोजनों में नियोजित रहते हैं, उन्हें निर्वाह के आवश्यक साधन जुटाने में कमी-कभी नहीं पड़ती । यह अन्नपूर्णा प्रवृत्ति है जो गायत्री उपासकों के स्वभाव का अंग बनकर रहती है ।

अन्नपूर्णा प्रवृत्ति का दूसरा पक्ष है- मितव्ययता । उपलब्ध साधनों का इस प्रकार उपयोग करना जिससे शारीरिक, पारिवारिक एवं पारमार्थिक उद्देश्य सन्तुलित रूप से पूरे होते रहें । यह ऐसी सुसंस्कारिता है, जिसे अपनाये बिना कुबेर को भी दरिद्र बनकर रहना पड़ता है। व्यसन, फैशन, चटोरपन, विलासिता, उद्धत प्रदर्शन, शेखीखोरी, यारवाशी, आवारागर्दी जैसे दुर्गुणों में कोई व्यक्ति कितना ही धन अपव्यय कर सकता है । ऐसी दशा में आजीविका कितनी ही बढ़ी-चढ़ी क्यों न हो वहाँ सदा तंगी ही बनी रहेगी और उस कमी को पूरा करने के लिए रिश्वतखोरी-बेईमानी की ललक भड़कती रहेगी । यह सब करते रहने पर भी वह स्थिति नहीं आती जिसमें संतोष अनुभव किया जा सके तथा आय-व्यय का संतुलन बिठाया जा सके । सम्पन्नता इस अर्थ-सन्तुलन को ही कहते हैं और वह धन के परिमाण पर नहीं, उस सत्प्रवृत्ति पर निर्भर है, जो उपार्जन की योग्यता बढ़ाने में तथा अथक श्रम करने के लिए प्रोत्साहित करती है । साथ ही एक-एक पाई के सदुपयोग का मितव्ययता का महत्व भी सिखाती है । ऐसे व्यक्ति सीमित आजीविका का भी ऐसा क्रमबद्ध उपयोग करते हैं जिससे उतने में ही ऐसी व्यवस्था बन जाती है, जिसे देखकर सुसम्पन्नों को भी ईर्ष्या होने लगे । इसी परिस्थिति का नाम अन्नपूर्णा है ।

साधनों का उपार्जन एक-पक्ष है-उपयोग दूसरा है । दोनों को मिलाकर चलने से ही सुसम्पन्नता बनती है। आमतौर से सम्पत्ति की बहुलता को ही सम्पन्नता माना जाता है । यह भारी भ्रम है । दुर्बुद्धि के रहते सम्पत्ति का उपयोग दुष्ट प्रयोजनों में ही होगा और उससे व्यक्ति, परिवार और समाज को प्रकारान्तर से अनेकानेक हानियाँ सहन करनी पड़ेंगी । महत्व साधनों की मात्रा का नहीं वरन् उस दूरदर्शिता का है जो सत्प्रयोजनों में अभीष्ट साधन जुटा लेने में पूर्णतया सफल होती है और कुशल उपयोग के आधार पर सीमित साधनों से ही सामयिक आवश्यकताओं को संतुलित रीति से पूरा कर लेती हैं । यह सद्‌बुद्धि जहाँ भी होगी वहाँ अन्नपूर्णा कही जाने वाली सन्तुष्ट मनःस्थिति एवं प्रसन्न परिस्थितियों का दर्शन सदा ही होता रहेगा ।

२२-महामाया :

माया कहते हैं भ्रान्ति को-महामाया कहते हैं निर्भ्रान्ति को। माया पदार्थ परक है और महामाया ज्ञान परक। मानवी सत्ता सीमित रहने से वह समग्र का दर्शन नहीं कर पाती और जितनी उसकी परिधि है उसी को सब कुछ मान लेती है। मेंढ़क कुएँ को ही समग्र विश्व मानता है, उसकी सीमित परिस्थिति में यही संभव भी है किन्तु यदि उसे कुएँ से बाहर निकलने का, आकाश में उड़ने का-ब्रह्माण्डीय आकाश में विचरण करने का अवसर मिले तो पता चलेगा कि कुएँ में सीमित विश्व की पूर्व मान्यता गलत थी, यों उस समय वही सत्य तथ्य प्रतीत होती थी।

जीव माया बन्धनों में बँधा है अर्थात् संकीर्णता की परिधि में आबद्ध है। इच्छाऐं, विचारणायें, क्रियाऐं इसी भ्रमजाल में फँसी होने के कारण अवांछनीय स्तर की रहती हैं और उस जंजाल में कस्तूरी के हिरन की तरह मृग मरीचिका में भटकने की तरह जीव सम्पदा का अपव्यय ही होता रहता है। माया से छूटने के प्रयत्नों में जिज्ञासु मुमुक्षु संलग्न रहते हैं। जिस आत्म ज्ञान को जीवन को सफल बनाने वाली उपलब्धि बताया जाता है, उसी का नाम महामाया है। माया बद्ध दु:ख पाते हैं और महामाया की शरण में पहुँचने वाले परम शान्ति का रसास्वादन करते हैं। उन्हें श्रेय पथ प्रत्यक्ष दीखता है। उभरे हुए आत्मबल के सहारे उस पर चल पड़ना भी सरल रहता है।

आत्मा को अपना अस्तित्व शरीर मात्र मान लेना पहले सिरे की भ्रान्ति है। इसी की खुमारी में मनुष्य वासना, तृष्णा, अहन्ता की बाल क्रीड़ा में उलझता हुआ मानव जन्म के सुयोग को पशु-प्रयोजनों में गँवा देता है। अन्ततः खाली हाथ विदा होता है और पाप की गठरी सिर पर लादे ले जाना, चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण के बाद मिले हुए सुअवसर को गँवा बैठने पर रुदन करना-जीवन भर पाप-ताप के दु:सह दु:ख सहना, यह समस्त दुर्गति माया रूपी भ्रान्ति में जकड़े रहने का दुष्परिणाम है। इस महासंकट से महामाया ही छुड़ाती है।

गायत्री को महामाया कहा गया है। साधना से उसका अनुग्रह साधक की अन्तरात्मा में उतरता है और निर्भ्रान्त स्थिति तक पहुँचने का अवसर मिलता है। यही दिव्य दृष्टि है-ज्ञान-चक्षु का उन्मीलन इसी को कहते हैं। जीवन रहस्यों का उद्घाटन इसी स्थिति में होता है। जकड़ने वाले जंजाल पके हुए पत्तों की तरह झड़ जाते हैं और आत्म जागरण के कारण सब कुछ नये सिरे से देखने-सोचने का अवसर मिलता है, रात्रि स्वप्नों के बाद प्रातःकाल का जागरण जिस प्रकार सारी स्थिति ही बदल देता है उसी प्रकार महामाया का अनुग्रह, जाग्रति की भूमिका में प्रवेश करने का द्वार खोलता है और इच्छा, विचारणा तथा क्रिया का स्वरूप ऐसा बना देता है जिसमें देवोपम स्वर्गीय जीवन का आनन्द मिलता रहे और बन्धन मुक्ति की ब्रह्मानुभूति का रसास्वादन अनवरत रूप से उपलब्ध होता रहे। महामाया परब्रह्म की समीपता तक पहुँचा देने वाली सच्ची देवमाता कही गई है। देवत्व ही उसका अनुग्रह है। गायत्री उपासना एक स्तर पर महामाया के रूप में साधक को हर दृष्टि से कृतकृत्य बनाती देखी गई है।

२३-पयस्विनी :

पयस्विनी गौ माता को कहते हैं। स्वर्ग में निवास करने वाली कामधेनु को भी पयस्विनी कहा गया है। गायत्री साधना की सफलता के लिए साधक में ब्राह्मणत्व और गौ के सान्निध्य में अत्यन्त घनिष्टता है। पंचामृत पंचगव्य को अमृतोपम माना गया है। गोमय, गौमूत्र की उर्वरता और रोग निवारिणी शक्ति सर्वविदित है। भारतीय कृषिकर्म के लिए गौवंश के बिना काम ही नहीं चल सकता। पोषक आहार में गोरस अग्रणी है। गौ की संरचना में आदि से अन्त तक सात्विकता भरी पड़ी है। पयस्विनी का महत्व जब इस देश में समझा जाता था, तब यहाँ दूध की नदियाँ बहती थीं और मनुष्य शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से देवोपम जीवनयापन करते थे।

गायत्री साधक के अन्तःकरण में कामधेनु का अवतरण होता है। उसकी कामनाऐं भावनाओं में बदल जाती हैं। फलतः साधक को संसार के बड़े से बड़े कष्ट-असंतोष से सहज ही निवृत्ति मिल जाती है। कामनाऐं असीम हैं। एक के तृप्त होते ही दूसरी उससे भी बड़े आकार में उठ खड़ी होती है। संसार भर के समस्त साधन-सम्पदा मिल कर भी किसी एक मनुष्य की कामनाऐं पूर्ण नहीं कर सकती। पूर्ण तो सद्भावनाऐं होती हैं, जो अभीष्ट परिणाम न मिलने पर भी अपनी इच्छा और चेष्टा में उत्कृष्टता भरी रहने के कारण आनन्द, उल्लास से उमगती रहती हैं। चिन्तन के इसी स्तर को कल्प वृक्ष कहते हैं। प्रकारान्तर से यही कामधेनु है।

कामधेनु गायत्री माता द्वारा प्रेरित प्रदत्त वह प्रवृत्ति है जो अन्तरात्मा में उच्चस्तरीय, अध्यात्म-आस्था के रूप में प्रकट होती है। यह साधक को वैसा ही आनन्द देती है जैसा बच्चे को अपनी माता का पयपान करते समय मिलता है। इसी को आत्मानन्द, ब्रह्मानन्द परमानन्द कहते हैं। पूर्णता

की परम तृप्ति पाना ही जीवन लक्ष्य है। गायत्री का उच्चस्तरीय अनुग्रह इसी रूप में उपलब्ध होता है । यही तृप्ति वरदान कामधेनु की उपलब्धि है गायत्री साधक उस दैवी अनुकम्पा का रसास्वादन करते और साधना की सफलता का अनुभव करते हैं ।

गायत्री वर्ग में पाँच गौ परक श्रेष्ठताओं का समावेश है । गायत्री, गंगा, गौ, गीता गोविन्द । गंगा और गायत्री का जन्मदिन एक ही है। गौ सेवा के सम्मिश्रण से वह त्रिवेणी बन जाती है। गायत्री उपासना की सफलता में गौ सम्पर्क हर दृष्टि से सहायक होता है।

गायत्री को कामधेनु कहा गया है। कामधेनु और पयस्विनी पर्यायवाची हैं । कामधेनु की चर्चा करते हुए शास्त्रकारों ने उसे कल्पवृक्ष के समान मनोकामनाओं की पूर्ति करने की विशेषता से युक्त बताया है। कामनाऐं तो इतनी असीम हैं कि उनकी पूर्ति कर सकना भगवान तक के लिए सम्भव नहीं हो सकता, पर कामनाओं को परिष्कृत करके वह आनन्द प्राप्त किया जा सकता है जिनकी कामनाओं की पूर्ति होने पर मिलने की कल्पना की जा सकती है ।

देवता आप्तकाम होते हैं । आप्तकाम उसे कहते हैं जिसकी समस्त कामनाऐं पूर्ण हो जायँ । पूर्ण एवं तृप्त वे उच्चस्तरीय कामनाऐं ही हो सकती हैं, जिन्हें सद्भावना कहते हैं । उत्कृष्ट चिन्तन एवं आदर्श पालन में किसी को कभी कुछ कठिनाई नहीं हो सकती । सद्भावनाओं को हर हालत में चरितार्थ किया जा सकता है । आप्तकाम को ही तुष्टि, तृप्ति एवं शान्ति का आनन्द मिलता है । कल्पवृक्ष स्वर्ग में है-देवता आप्तकाम होते हैं । कल्पवृक्ष कामनाओं की पूर्ति करता है। यह समस्त प्रतिपादन एक ही तथ्य को प्रकट करता है कि देवत्व और आप्तकाम स्थिति एक ही बात है । अतृप्ति की उद्विग्नता देवताओं के पास फटकने नहीं पाती । यह सब लिप्सा-लालसाओं को, कामनाओं को सद्भावनाओं और शुभेच्छाओं में बदलने से ही सम्भव हो सकता है । कल्पवृक्ष और कामधेनु दोनों की विशेषता यही है कि वे कामनाओं की तत्काल पूर्ति कर देते हैं । गायत्री को कल्पवृक्ष भी कहते हैं और कामधेनु भी, उसकी छाया में बैठने वाला, पयपान करने वाला आप्तकाम रहता है। कामनाओं के परिष्कृत और लालसाओं के समाप्त होने पर मनुष्य को असीम संतोष एवं अजस्र आनन्द की प्राप्ति होती है। कामधेनु की अनुकम्पा इसी रूप में होती है। कथा है कि गुरु वशिष्ठ के पास कामधेनु की पुत्री नन्दिनी गाय थी । उसने राजा विश्वामित्र को उपहार भी दिया था और कुकृत्य का दण्ड भी । नन्दिनी के इन्हीं चमत्कारों से प्रभावित होकर विश्वामित्र ने राज्य छोड़कर तप करने का निश्चय किया था । यह नन्दिनी अथवा कामधेनु ही है ।

कामधेनु का पयपान करने वाले देवता अजर-अमर रहते हैं । अजर अर्थात् जरा रहित, बुढ़ापे से दूर चिर यौवन का आनन्द लेने वाले । शरीर क्रम में तो यह सम्भव नहीं, सृष्टि क्रम में हर शरीर को जन्म-मरण के चक्र में घूमना पड़ता है और समयानुसार वृद्धावस्था भी आती है। कामधेनु का पयपान करने से जिस स्वास्थ्य और सौन्दर्य प्राप्ति की चर्चा की गई है, वह शारीरिक नहीं मानसिक और आत्मिक है । गाायत्री उपासक कामधेनु का कृपापात्र मानसिक दृष्टि से सदा युवा ही बना रहता है । उसकी आशायें उमंगें कभी धूमिल नहीं पड़ने पातीं । आँखों में चमक, चेहरे पर तेज, होठों पर मुसकान कभी घटती नहीं है । यही चिर यौवन है। इसी को अजर स्थिति कहते हैं। कामधेनु का, गायत्री का यह देवोपम स्वर प्रत्यक्ष वरदान है । कामधेनु का पयपान करने वाले अमर हो जाते हैं । गायत्री उपासक भी अमर होते हैं । शरीर धारण करने पर तो हर किसी को समयानुसार मरना ही पड़ेगा, पर आत्मा की वस्तुस्थिति का ज्ञान हो जाने पर अमरता का ही अनुभव होता है । शरीर बदलते रहने पर भी मरण जैसी विभीषिका आत्मज्ञानी के सामने खड़ी नहीं होती । उसके सत्कर्म ऐसे आदर्श एवं अनुकरणीय होते हैं कि उनके कारण यश अमर ही बना रहता है । गायत्री को पयस्विनी इसी कारण कहा गया है और उसे धरती की कामधेनु कहकर पुकारा गया है ।

२४-त्रिपुरा :

दक्षिणमार्गी गायत्री साधना त्रिपदा कहलाती है और वाममार्गी को त्रिपुरा नाम से सम्बोधित किया जाता है । त्रिपदा का कार्यक्षेत्र-सत्यं-शिवम्-सुन्दरम्-स्वर्ग, मुक्ति और शान्ति है । सत्-चित्-आनन्द-ज्ञान, कर्म, भक्ति है। त्रिपुरा में उत्पादन-अभिवर्द्धन-परिवर्तन-धन-बल-कौशल-साहस, उत्साह, पराक्रम की प्रतिभा, प्रखरता भरी पड़ी है। आत्मिक प्रयोजनों के लिए त्रिपदा का और भौतिक प्रयोजनों के लिए त्रिपुरा का आश्रय लिया जाता है । योग और तंत्र के दो पथ इन्हीं दो प्रयोजनों के लिए हैं ।

साधनाग्रन्थों में त्रिपुरा महाशक्ति को त्रिपुर सुन्दरी-त्रिपुर भैरवी के नाम भी दिये गये हैं । इन रूपों में उसके कितने ही कथानक हैं । देवी भागवत एवं मार्कण्डेय पुराण

में इनका वर्णन, विवेचन अधिक विस्तारपूर्वक हुआ है । उनके प्रभाव और प्रयोगों का वर्णन अन्य ग्रन्थों में भी मिलता है। त्रिपुर भैरवी का लीला प्रयोजन असुर विदारिणी विपत्ति निवारिणी के रूप में हुआ है । वह विकराल एवं युद्धरत है । त्रिपुर सुन्दरी को सिद्धिदात्री, सौभाग्यदायिनी, सर्वांग-सुन्दर बनाया गया है। भैरवी अभयदान देती है और सुन्दरी का अनुग्रह भीतरी और बाहरी क्षेत्र को सुखद सौन्दर्य से भरा बनाती है ।

महिषासुर, मधुकैटभ, शुम्भ-निशुम्भ, रक्तबीज, वत्तासुर आदि दैत्यों को निरस्त करने की गाथाओं में त्रिपुरा के प्रचण्ड पराक्रम का उल्लेख है । अज्ञान-अभाव, आलस्य, प्रमाद, पतन, पराभव जैसे संकट ही वे असुर हैं, जिन्हें त्रिपुरा के साहस, पराक्रम, उत्साह का त्रिशूल विदीर्ण करके रख देता है । तंत्र सम्प्रदाय में इस त्रिविध संघ को दुर्गा-काली-कुण्डलिनी का नाम दिया गया है । इन्हीं को चण्डी महाशक्ति, अम्बा आदि नामों से सम्बोधित किया गया है । कालरात्रि-महारात्रि-मोहरात्रि के रूप में होली, दिवाली एवं शिवरात्रि के अवसर पर विशिष्ट उपासना की जाती है । क्रिया योग, जप योग, ध्यान योग से त्रिपदा और प्राण योग, हठ योग और तंत्र योग से त्रिपुरा की साधना की जाती है । एक को योगाभ्यास की और दूसरी को तपश्चर्या की अधिष्ठात्री कहा जाता है ।

त्रिपदा और त्रिपुरा को परा और अपरा कहा गया है। दोनों की सम्मिलित साधना से प्राण और काया के समन्वय से चलने वाले जीवन जैसी स्थिति बनती है। ब्रह्मवर्चस् साधना में दोनों को परस्पर पूरक माना गया है और उनको संयोग, सुयोग का-ओजस्, तेजस् का ऋद्धि-सिद्धि का ज्ञान एवं वैभव का समन्वित आधार कहा गया है । यह गायत्री महाशक्ति की ही दिव्य धाराऐं हैं, जिन्हें साधना द्वारा व्यक्तित्व के क्षेत्र में आमंत्रित अवतरित किया जा सकता है ।

शक्तिधाराओं की साधनाओं का निर्धारण

गायत्री महामंत्र एक है किन्तु परमाणु की तरह उसके अन्तःक्षेत्र में भी अनेक घटक हैं । इन घटकों में से प्रत्येक अपनी विशिष्ट क्षमता रखते हुए भी मूलतः एक ही शक्ति केन्द्र के साथ जुड़ा है और उसी से अपना पोषण प्राप्त करता है। हृदय एक है, नाड़ियाँ अनेक । हर नाड़ी का अपना स्वरूप, कार्यक्षेत्र और उत्तरदायित्व है इतने पर भी वे सभी एक ही केन्द्र पर केन्द्रीभूत हैं । गायत्री को हृदय और उसकी चौबीस शक्तियों को बयालीस शक्तिधाराऐं कहा जा सकता है । गायत्री हिमालय है उससे निकलने वाली सरिताओं के समतुल्य गायत्री की भी विशिष्ट शक्तियाँ हैं। संसार की सृष्टि संचालन शक्ति एक ही है- महाप्रकृति। उसके क्षेत्र में जड़-चेतन अनेकों शक्तियाँ काम करती हैं- हीट, लाईट, मोशन, ग्रेविटेशन, इन्टलेक्ट आदि । इलैक्ट्रिसिटी, कास्मिक प्रकृति अनेकों शक्तिधाराऐं अपने-अपने क्षेत्र में काम करती हैं । जीवनी शक्ति में भी विचारणा भावना आस्था आदत जैसी कितनी ही धारायें हैं। इतने पर भी वे सब एक ही स्रोत से अपना पोषण प्राप्त करती हैं । आद्य शक्ति गायत्री को भी विश्व चेतना के अन्तर्गत गतिशील अनेकानेक प्रवाहों का उद्‌गम केन्द्र, प्रेरणा स्रोत मानना चाहिए । समस्त देवी-देवता उसी की छाया में अपने-अपने उत्तरदायित्वों को निभाते, कार्यक्षेत्रों को सँभालते हैं ।

समग्र गायत्री उपासना के तीन स्वरूप हैं । (१) नित्यकर्म में दैनिक साधना (२) विशिष्ट उपचार-अनुष्ठान-पुरश्चरण (३) उच्चस्तरीय तप साधन-पंचकोशों का अनावरण, कुण्डलिनी जागरण । इनके लिए दक्षिण मार्गी और वाम मार्गी-योग और तंत्र के दो साधन विधान काम में लाये जाते हैं ।

विशेष प्रयोजन के लिए गायत्री की चौबीस शक्तिधाराओं में से आवश्यकतानुसार उनकी विशिष्ट साधनायें भी की जाती हैं । उसके लिए निर्धारित विधि-विधानों में प्रथकता है । उनके अलग-अलग बीज मंत्र है, जो गायत्री मंत्र में व्याहृतियों के उपरान्त और तत्सवितुर्वरेण्यं के उपरान्त नियोजित किये जाते हैं । दक्षिण मार्ग में प्रतिमाऐं प्रयुक्त होती हैं , जिनकी आकृतियाँ, वाहन तथा आयुध प्रथक प्रकार के हैं । तंत्र में प्रतिमाओं के स्थान पर यन्त्र काम में लाये जाते हैं । इन्हें रेखाचित्र कह सकते हैं । ये इनके केन्द्र स्थल हैं । जिस प्रकार त्रिपदा गायत्री के ब्राह्मी, वैष्णवी, शाम्भवी तीन रूप हैं और उनके साधना काल तथा पूजा विधान पृथक है उस प्रकार चतुर्विंशाक्षरा गायत्री के प्रत्येक अक्षर की पूजा पद्धति भी अलग-अलग है ।

इन विधानों की एक जैसी प्रक्रिया हर किसी के लिए प्रयुक्त नहीं होती । इस निर्धारण के लिए साधक के स्वभाव संसार एवं अभाव को ध्यान में रखकर उपचार विधान के अन्दर काम करना पड़ता है। एक ही शक्ति धारा के विभिन्न व्यक्तियों के लिए उनकी स्थिति एवं आवश्यकता के

अनुरूप पृथक-पृथक विधानों का निर्धारण किया जाता है। असंख्य प्रकृति के व्यक्तियों के लिए उनकी सामयिक स्थिति एवं आवश्यकता के अनुरूप निर्धारण करना इस विधा के विशेषज्ञों का काम है । सामान्य साधना सबके लिए समान है, पर चौबीस विशिष्ट प्रवाहों का उपयोग करने के लिए अनुभवी पारंगतों का परामर्श एवं सहयोग आवश्यक है । साधना प्रयोजनों में गुरु को अनुभवी मार्गदर्शक के रूप में वरण करना-इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए आवश्यक माना गया है । पुस्तकों की सहायता से इस प्रकार के गम्भीर निर्णय स्वेच्छानुसार स्वयं ही कर लेना कई बार अहितकर भी सिद्ध हो सकता है ।

व्यक्तियों के स्तरों उनकी आवश्यकताओं से तालमेल बिठाने वाले उपासना विधानों का निर्धारण बहुत विस्तृत हो सकता है। बारीकियों की चर्चा करते हुए इस प्रकार का साधना शास्त्र अत्यधिक बढ़े-चढ़े कलेवर का हो सकता है। इतना सब कुछ लिख सकना आज की परिस्थितियों में सम्भव नहीं । चिकित्सा शास्त्र और ओषधि निर्माण की व्यवस्था होते हुए भी रोगी की स्थिति के अनुरूप चिकित्सा निर्धारण और उतार-चढ़ावों के अनुरूप बार-बार परिवर्तन की आवश्यकता बनी ही रहती है । ठीक इस प्रकार गायत्री की २४ शक्तिधाराओं में से कब, किसे, क्यों, किस प्रकार, क्या साधना विधान अपनाना चाहिए, इसका निर्धारण करने के लिए अनुभवी मार्गदर्शक की सहायता प्राप्त करने से ही काम चलता है। इस प्रकार की सहायता इन दिनों ब्रह्म वर्चस् शोध संस्थान, शान्ति कुंज, हरिद्वार में उपलब्ध है। परिष्कृत मनःस्थिति का कोई भी साधक इसका लाभ उठा सकता है ।

वेदमाता-देवमाता-विश्वमाता

आद्यशक्ति गायत्री का प्रारम्भिक अवतरण अन्तःस्फुरणा के रूप में हुआ । एक से बहुत बनने की—स्व को असीम बनाने और उस असीम को सुरम्य बनाने की आकांक्षा ब्रह्म के अन्तराल में उत्पन्न हुई । इस आत्म विस्तार और सृजन संवेदन को आद्य शक्ति का प्रथम प्रकटीकरण कह सकते हैं । पौराणिक प्रतिपादन के अनुसार इसका अगला उदाहरण ब्रह्माजी का है । जिसने विष्णु की कमल नाभि में से उत्पन्न होते ही तपश्चर्या करने और आत्म बल संग्रह करने की ठानी । साधना से सिद्धि मिलते ही उन्होंने उसे विश्व निर्माण और श्रेष्ठता सम्वर्धन में लगा दिया । ब्रह्म शक्ति के रूप में उसी दिव्य सत्ता का यह व्यापक विस्तार सत्यं शिवं सुन्दरम् का परिचय दे रहा है ।

ब्राह्मी शक्ति ने सर्वप्रथम पदार्थ रचा और उसे निरन्तर गतिशील रहने तथा निर्धारित मर्यादा पालन के लिए अनुशासन-वद्ध कर दिया । यह सावित्री परिकर कहलाया। अब गायत्री का सचेतन विस्तार अग्रगामी हुआ । सर्वप्रथम देवता बने । उन्हें कहा गया-श्रद्धास्पद बने रहने की उत्कृष्टता अपनाये रहें । साथ ही देते रहने के उपक्रम में निरत रहें । उनने वैसा ही किया । पवन, वरुण, अग्नि, धरित्री, आकाश ने अपनी अजस्र सम्पदा को परमार्थ में नियोजित रखने का व्रत लिया । अन्य देवताओं ने समय-समय पर विश्व वैभव एवं सदाशयता सहयोग की परम्परा का निर्वाह करते रहने का उत्तरदायित्व संभाला । अपने लिये न्यूनतम-दूसरों के लिए अधिकतम की नीति अपनाकर देवता अद्यावधि पूज्य हैं और श्रद्धास्पद बने हुए हैं । इस देव परम्परा को प्रजापति की दूसरी कृति कहा जा सकता है । यह निर्माण निर्धारण हुआ तो ब्रह्मा जी के हाथों पर उसके मूल में स्फुरणा उस आद्य शक्ति की ही थी जिसे गायत्री नाम से जाना जाता है और शब्द गुन्थन में-छन्द शास्त्र में आबद्ध किया गया ।

ब्राह्मी सृजन साधना की तृतीय उपलब्धि मनुष्य है और चौथी प्राणि समुदाय । मनुष्य को विवेकवान और कर्तव्य निष्ठ होनेका उत्तरदायित्व सौंपा गया । अन्तःकरण चतुष्टय विवेक के और इन्द्रिय समुच्चय पुरुषार्थ पालन के निमित्त साधन उपकरण के रूप में दिया गया । यह है मानवी विशिष्टता जिसके आगे यह क्रमिक विकास के पथ पर चलता हुआ सृष्टि का मुकुटमणि कहलाने की वर्तमान स्थिति तक पहुंचा । आत्म बोध, आत्म परिष्कार, आत्म विकास एवं आत्म विस्तार की विधि व्यवस्था का तथ्य पूर्ण निरूपण करने के लिए आद्य शक्ति की व्याख्या चार वेदों के रूप में ब्रह्माजी ने चार मुखों से की और मनुष्य के हाथ में क्षुद्र से महान् बनने की- जीवन लक्ष्य पूरा कर सकने की—कुंजी थमा दी गई ।

आद्य शक्ति की चतुर्थ स्फुरणा प्राणि जगत है। उनमें से प्रत्येक का अपना संसार है । मनुष्य के कार्यक्षेत्र और संवेदन से मिलता जुलता न होने पर भी वह परिपूर्ण और मुखर है। हर प्राणी अपनी दुनिया में निर्वाह करने और मोद मनाने के लिए समुचित सुख-सुविधा उपलब्ध किए हुए है। प्रकृति प्रेरणा का अनुसरण करने और सृष्टि संतुलन की मध्यवर्ती भूमिका बनाये रहने का कार्य उन्हें सौंपा गया । वनस्पति और मनुष्य के मध्यवर्ती आदान-प्रदान में उसे प्राणि जगत की भूमिका ही प्रमुख है । उपनिषद के अनुसार इसे गायत्री का चतुर्थ चरण कहा गया है ।

गायत्री को वेदमाता कहा गया है। वेद अर्थात् सद्ज्ञान। इसी के आधार पर स्नेह और सहयोग को चरितार्थ होने का अवसर मिल रहा है । अगणित सुखद संवेदनाऐं और संभावनाएँ इसी के सहारे फलवती बन रही हैं । ऋग, यजु, अथर्व और साम के नाम से चार ग्रन्थों का आर्ष वाङ्मय भी है। पर उसे व्यवहार में शालीनता के नियम निर्धारण के साथ भी जोड़ा गया है । चार वर्ण, चार आश्रम व्यवस्था के साथ जुड़ी हुई अनुशासन व्यवस्था में व्यक्ति और समाज को संतुलित बने रहने की व्यवस्था है । उसे अपनाये रहने पर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की चतुर्विधि प्रगति एवं अनुभूति का सन्तुलन बना रह सकता है । संक्षेप में यही वेदमाता के तत्वज्ञान और कार्यक्षेत्र का सार परिचय है।

देवमाता वह है जो अन्धकार को प्रकाश बनकर चुनौती देती है । आलस्य को पुरुषार्थ से जीतती है । बिखराव को संगठन के सूत्र में आबद्ध करती है । उदारता उसी का नाम है । क्षमा और करुणा के रूप में उसी का परिचय मिलता है । हँसने-हँसाने, खिलने-खिलाने, बढ़ने-बढ़ाने और मिल-बाँट कर खाने की प्रकृति को देव परम्परा समझा जा सकता है । अनुग्रह और सहयोग में उसी का दर्शन होता है । संयम और अनुशासन जहां भी बरता जा रहा है, समझना चाहिए कि देवत्व का सौष्ठव उभर कर ऊपर आ रहा है । सहयोग और प्रतिदान तो मानवी क्षेत्र में आते हैं । देवत्व इससे ऊँचा है । उसमें पीड़ा और पतन को सहन न कर सकने और उससे जूझ पड़ने का मन्यु भरा रहता है। उठना ही पर्याप्त नहीं है, उठाना भी आवश्यक है। खाना ही पर्याप्त नहीं, खिलाना भी उपार्जन को पचाने के लिए अनिवार्य है । बीज के भूमिसात होने और गलकर वृक्ष बनने की प्रक्रिया को देव प्रवृत्ति के नाम से जाना जा सकता है।इस संसार में जो कुछ भी सुखद और सुन्दर है वह देवत्व का ही अनुदान कहा जा सकता है ।

देवत्व वह आलोक है जिसके हटते ही तमिस्रा और निस्तब्धता छाने लगती है। नरक क्या है- देवत्व के अभाव में फैली हुई अव्यवस्था और उसकी सड़न दुर्गन्ध । दैत्य क्या है ? देवत्व के दुर्बल बनने पर परिपुष्ट हुआ औद्धत अनौचित्य । देवमाता ही इस संसार में सत्यं शिवं सुन्दरम् की अनुभूति एवं आभा बन कर प्रकट होती है । उनकी अवहेलना से ही पतन और पराभव का वातावरण बनता और विनाश का सरंजाम खड़ा होता है ।

गायत्री का तीसरा रूप है—विश्व माता विश्व की एकता, समता के सूत्रों से भौतिक और शुचिता ममता के अनुशासन से आत्मिक जगत की सुव्यवस्था बनाती है। वसुधैव कुटुम्बकम् ही उनका प्रतिपादन है। प्रगति और समृद्धि के आधार खड़े करके सुख शान्ति के साधन वे ही जुटाती हैं । व्यवस्था और नियंत्रण उन्हीं का कठोर पक्ष है।

आद्यशक्ति की प्रतिज्ञा है कि जब भी सृष्टि सन्तुलन बिगड़ेगा और मनुष्य अपने उत्तरदायित्वों के निर्वाह में लड़खड़ाने लगेगा तो वे स्वयं आकर शासन संभालेंगी और अपनी कला कृति-विश्व वसुधा को विनाश के गर्त में गिरने से बचा लेंगी । एक के बाद एक अवतारों की शृंखला इसी निमित्त चलती रही है। सृष्टि इतिहास में महाविनाश के अवसर अनेक बार आये हैं, पर कभी भी विभीषिकाओं की दाल गली नहीं । उन्हें परास्त होकर वापस लौटना पड़ा है । इस ब्रह्माण्ड में विश्व माता की सर्वोपरि कलाकारिता यह धरित्री है । उस पर रहने वाले प्राणि समुदाय और पदार्थ समुच्चय का अन्यत्र दर्शन दुर्लभ है । इस बार फिर सन्तुलन लड़खड़ाया है । इतने पर भी महाविनाश जैसी आशंका करने की आवश्यकता नहीं है । प्रज्ञावतार के रूप में आद्य शक्ति का चौबीसवाँ अवतार हो रहा है। युगान्तरीय चेतना के रूप में वेदमाता की सृजन प्रक्रिया का प्रवाह चल पड़ा। उसकी सुखद संभावना सुनिश्चित है। अगले दिनों हम नये ढाँचे में ढले हुए परिष्कृत विश्व का दिव्य दर्शन कर सकेंगे। इसे वेदमाता के स्वरूप और रहस्य को समझने वाले भली प्रकार अनुभव कर रहे हैं ।

महाप्रज्ञा के आठ दिव्य अनुदान

गायत्री मंत्र का प्रत्येक अक्षर अपरिमित शक्ति का भाण्डागार है, अपने में दिव्य प्रेरणाएँ एवं शिक्षाएँ निहित किए हुए है । इस मंत्र की उपासना व इन प्रेरणाओं को जीवन में उतार कर भौतिक किंवा आध्यात्मिक दोनों ही क्षेत्र में प्रगति पथ पर बढ़ा जा सकता है । चौबीस अक्षरों में से चौबीस शक्ति धाराएँ फूटती हैं जो आत्मिक प्रगति की दिशा में अग्रसर साधक का मार्गदर्शन करती हैं ।

गायत्री मंत्र का भावार्थ है-''उस प्राण स्वरूप, पाप नाशक, सुख स्वरूप परमात्मा के सविता तेज को हम अपने अन्दर धारण करते हैं, जो हमारी बुद्धि को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करता है'' इस मंत्र में अंतिम चरण में ''धीमहि'' आता है जिससे हम यह अर्थ समझते हैं कि इन दिव्य गुणों को हम अपने अन्दर धारण करते हैं, जिनका समुच्चय यह परमात्मा है । इसमें भी 'धी' अक्षर मानव को सर्वांगपूर्ण प्रगति की प्रेरणा व व्यक्तित्व के विकास हेतु महत्वपूर्ण दिशा देता है । ''गायत्री स्मृति'' में कहा गया है-

धीरस्तुष्टो भजेन्नैव ह्येकस्यां हि समुन्नतो ।
क्रियतामुन्नतिस्तेन सर्वास्याशासु जीवने ॥

अर्थात्—धीर पुरुष को एक ही प्रकार की उन्नति से संतुष्ट न होकर जीवन की सभी दिशाओं में प्रगति का प्रयास करना चाहिए ।

किसी इंग्लिश कवि ने कहा है- "नेवर बी कंटेण्टेड विद योर एफर्टस" अर्थात्- अपने प्रयासों में सदैव पूर्णता लाने का प्रयास करो, संतुष्ट होकर रुको मत । जिस दिन तुम यह भाव मन में लाने लगोगे कि तुम अपनी उपलब्धियों से संतुष्ट हो, तुम्हारी प्रगति यात्रा रुक जाएगी ।

वस्तुत: मनुष्य को बहुमुखी विकास का प्रयास सतत् करते ही रहना चाहिए । जीवन की विभिन्न दिशाएँ हैं । उन सबमें प्रगति करना मानव के लिए अभीष्ट है। शरीर के विभिन्न अंग हैं, उन सभी का पुष्ट होना आवश्यक है । पेट बहुत बढ़ जाय व हाथ-पाँव पतले रह जायँ तो इस विषमता से शरीर कुरूप ही होगा । इसी प्रकार उस विद्वत्ता का क्या महत्व, जिसमें मनुष्य सदा रोगग्रस्त, चिंतित बना रहे । उस वैभववान का धन अर्थ हीन है, जिसके पास न विद्या है, न स्वास्थ्य ।

गायत्री महा मंत्र का 'धी' अक्षर आठ प्रकार की शक्तियाँ अर्जित कर जीवन को समग्र प्रगति की प्रेरणा देता है । ये हैं स्वास्थ्य-बल, विद्या-बल, धन-बल, मित्र-बल, प्रतिष्ठा-बल, बुद्धिबल, मनोबल, आत्मबल । इनका समुचित मात्रा में संचय कर आदमी व्यक्तित्व-सम्पन्न पूर्णपुरुष बनता है ।

गायत्री की चौबीस शक्ति धाराओं में एक शक्ति धारा है- दुर्गा की "भवानी" की । भवानी को अष्ट भुजा भी कहते हैं। अष्ट भुजा आठ पुरुषार्थों की ही प्रतीक है। दुर्गा अष्ट भुजा की उपासना का अर्थ है- आठों प्रकार के बलों के उपार्जन के लिए तत्पर रहना । गायत्री उपासना के अवलम्बन से आठों प्रकार की शक्तियाँ साधक को मिलती हैं । उसका जीवन एकांगी नहीं होता, बहुमुखी होता है ।

इन आठों शक्तियों की अपनी उपयोगिता एवं महत्ता है। स्वास्थ्य की महत्ता से सभी परिचित हैं । जीवन की समस्त स्थूल गतिविधियाँ सुस्वास्थ्य पर ठीक प्रकार से संचालित होती हैं । निरोग एवं स्वस्थ काया एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है । स्वस्थ शरीर द्वारा ही वस्तुओं एवं विषयों का रसास्वादन किया जा सकता है। रोगग्रस्त रहने पर तो अच्छे से अच्छा भोजन भी अच्छा नहीं लगता । वस्तुओं की पौष्टिकता का लाभ भी तभी मिल पाता है, जब उन्हें पचाने के लिए पाचन संस्थान सही हो । रोगी होने पर तो पौष्टिक तत्व तक उल्टे हानि पहुँचाते हैं । वस्तुओं के रसास्वादन से लेकर श्रम करने तक में निरोग शरीर ही समर्थ होता है। स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन के निवास करने की उक्ति अकारण नहीं है । सांसारिक सफलताओं से लेकर आत्मिक उपलब्धियों में शरीर सामर्थ्य की आवश्यकता पड़ती है ।

विद्याबल की भी उतनी ही आवश्यकता है। विद्या अर्थात् सत-असत्, औचित्य-अनौचित्य के बीच अन्तर कर सकने योग्य सद्बुद्धि । शास्त्रों में इसे ही दूरदर्शी विवेकशीलता कहा गया है । विद्या पुस्तकीय ज्ञान से अलग विधा है । यह स्कूल कालेजों में दी जाने वाली शिक्षा नहीं है । यह तो चिन्तन एवं मनन द्वारा प्राप्त होती है, जिसके लिए आत्म निरीक्षण करना होता है। ब्रह्म विद्या का अवलम्बन लेना पड़ता है । सत्यासत्य के बीच अन्तर करने एवं सत्यावलम्बन के लिए प्रेरित करने वाली बुद्धि का नाम ही विद्या है ।

अविद्या के कारण ही जीवसत्ता काम, क्रोध, लोभ, मोह के बंधनों में जकड़ी भटकती रहती है । विद्या-सद्बुद्धि का अवलम्बन इस तमिस्रा को मिटाता, सही राह दिखाता है । मनुष्य संसार में सांसारिक आकर्षण के मध्य रहता, वस्तुओं का उपयोग करता हुआ भी, उनसे निर्लिप्त बना रहता है। फलस्वरूप बन्धनों में आबद्ध नहीं होता, मुक्त बना रहता है । "धी" अक्षर मानव मात्र को विद्या बल संचित करने की प्रेरणा देता है।

मानव की सर्वांगपूर्ण प्रगति के लिए गायत्री मंत्र का "धी" शब्द तीसरे प्रकार के बल-धनबल को नीति युक्त उपायों से प्राप्त करने का मार्गदर्शन करता है । सुख-सुविधाओं, जीवन-निर्वाह के साधनों की प्राप्ति 'श्री' शक्ति से ही होती है । शरीर को रोटी, वस्त्र, निवास के लिए मकान की जरूरत पड़ती है । इनके बिना शरीर को सुरक्षित एवं जीवित नहीं रखा जा सकता । जीवन-निर्वाह के लिए जिन साधनों की आवश्यकता पड़ती है उनकी आपूर्ति धन से होती है । साधनों के अभाव में न स्वार्थ सध सकता है, और न ही परमार्थ । अतएव 'श्री' बल का उपार्जन भी उतना ही आवश्यक है ।

बहुमुखी विकास में सहायक चौथी शक्ति है- मित्र परिकर की, सहयोगियों की । मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । प्रगति और अवगति सामाजिक सहयोग-असहयोग के ऊपर निर्भर करती है। सहयोगियों की संख्या बढ़े,

उसके लिए मनुष्य को शालीन, उदार एवं व्यावहारिक होना चाहिए। अपने व्यक्तित्व को ऐसा आकर्षक बनाना चाहिए कि उससे प्रभावित हो सभी अपना साथ चाहें सहयोग दें व माँगें।

स्वार्थों पर आघात होते ही मित्रगण संकीर्ण व्यक्ति का साथ छोड़कर भाग जाते हैं। स्थायी और सच्चे सहयोगी तो वे ही बना पाते हैं, जिन्होंने अपने अन्तःकरण को महान बना लिया हो। संकीर्ण स्वार्थों से ऊपर उठ चुके हों। विपुल परिमाण में जन सहयोग ऐसे ही व्यक्तियों को मिलता है।

पाँचवां बल है श्रेय और सम्मान का। जिन कार्यों को करने से अन्तरात्मा प्रफुल्लित एवं गौरवान्वित होती हो- सही अर्थों में वही सम्मान है। गायत्री का 'धी' अक्षर आत्म गौरव रूपी दैवी विभूति अर्जित करने की शिक्षा देता है। सुनिश्चित है कि यह सद्मार्ग पर चलने से, परमार्थ अपनाने से ही यह मिल सकना सम्भव है। स्वार्थों की परिधि से निकला लोक कल्याण में निरत व्यक्ति ही सच्चे श्रेय एवं सम्मान का अधिकारी बनता है। उसकी कीर्त्ति सर्वत्र फैलती है। आत्म-गौरव को बढ़ाने वाला स्वतः मिलने वाला श्रेय एवं सम्मान मनुष्य जीवन की एक बड़ी उपलब्धि है।

छठी शक्ति है बुद्धि बल। सांसारिक उपलब्धियाँ इसी आधार पर अर्जित की जाती हैं। अपनी योग्यता बढ़ाने, प्रतिभा सम्पन्न बनने की शिक्षा 'धी' अक्षर में सन्निहित है। मूर्ख, अज्ञानी, अशिक्षित व्यक्ति न तो विशेष सांसारिक सफलता प्राप्त कर सकता है और न ही आध्यात्मिक प्रगति की ओर बढ़ सकता है धनवान मूर्ख अपनी सम्पत्ति की सुरक्षा नहीं कर पाते। अज्ञानी अभाव ग्रस्त रहते हेय स्थिति में पड़े कष्ट झेलते हैं। सम्पदा मिल भी जाय तो भी उनके पास अधिक दिनों टिक नहीं पाती। बौद्धिक क्षमता विकसित करना भी उतना ही आवश्यक है, जितना कि शरीर बल एवं धन बल एकत्रित करना।

समग्र प्रगति के लिए सातवाँ बल है- मनोबल। मनोबल को एक प्रचण्ड शक्ति के रूप में स्वीकारा गया है। साहस, शौर्य, पराक्रम जैसे गुण मनोबल की ही उपलब्धि हैं। भौतिक अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र में उन्नति के शिखर पर जा पहुँचने वाले व्यक्तियों के पर्यवेक्षण करने पर पता चलता है कि उनकी सफलता में मनोबल का असामान्य योगदान रहा है।

सर्वतोमुखी प्रगति का अन्तिम और सबसे प्रमुख आधार है- आत्मबल का सम्पादन। यही वह आधार है, जिसके द्वारा मनुष्य आन्तरिक विकारों एवं बाह्य आकर्षणों पर विजय प्राप्त करता है। आत्मबल सम्पन्न व्यक्ति कुछ भी कर सकता है। गायत्री उपासना आत्मबल संवर्धन की सशक्त साधना है। मंत्र का "धी" अक्षर मनुष्य की अन्तः शक्ति जागृत करने की शिक्षा देता है। जीवात्मा परमात्मा का अंश है। बीज रूप में वे सभी शक्तियाँ विद्यमान हैं, जो ईश्वर में हैं। आवश्यकता उन्हें जागृत करने की है। उच्चस्तरीय साधनाओं से यह अन्तः शक्ति जागृत होती है और प्रचण्ड आत्मबल के रूप में परिलक्षित होती है।

आठों शक्तियों में एक से बढ़कर एक सम्भावनाएँ सन्निहित हैं। "धी" अक्षर सभी प्रकार की सामर्थ्यों को अर्जित करने की प्रेरणा देता है। गायत्री महामंत्र की उपासना द्वारा साधक के मन में सर्वतोमुखी उन्नति की उमंग उठनी चाहिए। गायत्री उपासना के अवलम्बन से साधक ऐसी प्रेरणा प्राप्त करता है, जिससे समग्र प्रगति के लिए समग्र प्रयास चल सकें।

गायत्री परिकर की नौ देवियाँ

गायत्री को आद्यशक्ति कहा गया है। इस सृष्टि में दो ही तत्व हैं जड़ और चेतन। जड़ के भीतर काम करने वाली सामर्थ्य का विज्ञान द्वारा जाना और प्रयोग में लाया जाता है। चेतन में जो विचारणा और भावना काम करती है उसकी प्रकृति और प्रवृत्ति को समझने के लिए ज्ञान का आधार लेना पड़ता है। ज्ञान और विज्ञान के दोनों स्रोत जिस हिमालय से गंगा-जमुना की तरह निकलते हैं उसे गायत्री महामन्त्र कहा गया है। गायत्री का ज्ञान पक्ष- ब्रह्मविद्या का तत्वदर्शन है और उसका विज्ञान पक्ष साधना प्रयोग है। ज्ञान से अध्यात्म पूर्णता का लक्ष्य-मोक्ष प्राप्त होता है। विज्ञान से लौकिक प्रगति का आधार बनता है जिसे स्वर्ग कहते हैं। इन्हीं दोनों को ऋद्धि और सिद्धि कहा गया है। दोनों की समन्वित क्षमता आद्यशक्ति गायत्री कहलाती है। ब्रह्म-ज्ञान, वर्चस् तेज। ब्रह्मतेज का उद्गम निर्झर होने के कारण गायत्री का नाम 'जगद्धात्री' है। यह जड़ चेतन विश्व, जिस महाशक्ति के द्वारा धारण किया जाता है उसे आद्यशक्ति कहना ही उचित है। यह औचित्य अनिर्वचनीय एवं अगम्य परब्रह्म को लीला क्षेत्र में उतारती और अन्तःकरण द्वारा अनुभव किये जाने योग्य बनाती है। यही माया और ब्रह्म का संयोग है। उपासना, अनुभूति और सिद्धि का आधार ब्रह्म नहीं उसकी ब्राह्मी शक्ति है। गायत्री को इसी दृष्टि से इष्ट एवं उपास्य ठहराया गया है। शिखा,

सूत्र, उपासना, अवलम्बन, महामन्त्र, गुरुमन्त्र आदि के प्रयोग—प्रतीकों का सर्वोपरि मान्यता देते हुए तत्वदर्शियों ने गायत्री की गरिमा का बखान किया है। ज्ञान-विज्ञान की समस्त धारा-उपधाराओं को बीज रूप में अपने में धारण किये रहने के कारण उसे वेदमाता, देवमाता, विश्वमाता कहा गया है। श्रुति कहती है- "इस विश्व में गायत्री से बढ़कर और कुछ नहीं।"

गायत्री का तत्वज्ञान और प्रयोग विज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म और अत्यन्त विस्तृत है। उसका सार तत्व समझने के लिए कहीं अन्यत्र न जाना पड़े, इसलिए इस महामन्त्र की शब्द रचना में ही बीज रूप में ज्ञान और विज्ञान का सार तत्व भर दिया गया है। इन २४ अक्षरों की गरिमा का संकेत करते हुए शास्त्रकारों ने उसकी उपमा तुलना चौबीस दिव्य शक्तियों से की है। चौबीस अवतार, चौबीस देवता, चौबीस ऋषि, चौबीस योग, चौबीस तप, चौबीस तन्त्र, चौबीस चक्र केन्द्र, चौबीस सूत्र आदि रूप में गायत्री महाशक्ति की विशिष्टताओं और विलक्षणताओं का अलंकारिक उल्लेख अध्यात्म ग्रन्थों में मिलता है। भगवान दत्तात्रेय को जिन चौबीस गुरुओं द्वारा ब्रह्मतत्व की प्राप्ति हुई थी, वे प्रकारान्तर से गायत्री के चौबीस अक्षर ही हैं।

चौबीस व्याख्या प्रतिपादनों का स्वरूप बढ़ जाने से महामन्त्र के तत्वज्ञान का सार संक्षेप नौ विभागों में भी विभक्त हुआ है। गायत्री में तीन चरण और नौ शब्द हैं। तीन चरणों को त्रिपदा कहते हैं। आठ-आठ अक्षरों के तीन चरण से बना होने के कारण पिंगलशास्त्र के अनुसार इसे गायत्री छन्द कहा गया है। त्रिपदा-त्रिवेणी है। यह तीन धारायें आस्तिकता, आध्यात्मिकता, धार्मिकता कहलाती हैं। सत्चित्त आनन्द, सत्यं शिवं सुन्दरम्, सत, रज, तम, अमृत, पारस, कल्पवृक्ष, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सरस्वती, लक्ष्मी, काली, भक्ति, शक्ति, शान्ति आदि उपलब्धियाँ गायत्री के तीन चरणों के साथ जुड़ी हुई हैं। त्रिकाल संध्या के तीन रूपों में इसी रहस्य का प्रकटीकरण है।

गायत्री में नौ शब्द हैं। इन शब्दों में से प्रत्येक में वैयक्तिक सत्प्रवृत्तियों और सामाजिक नीति मर्यादाओं का सार संकेत है। व्यक्ति किन सद्गुणों को अपना कर तुच्छ से महान्, नर से नारायण बन सकता है। उनकी संख्या यों तो गिनती की तरह असंख्य है पर उनका वर्गीकरण किया जाय, तो अंकों की तरह उन्हें नौ की सीमा में भली प्रकार सीमित किया जा सकता है। इसी प्रकार समाज को समुन्नत बनाने के लिए जिस आचार संहिता की आवश्यकता है, उसकी असंख्य धाराओं को भी नौ की संख्या में भली प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है। इस नवधा वर्गीकरण का प्रतिनिधित्व यज्ञोपवीत के नौ धागे करते हैं। इस प्रक्रिया को भाव संवेदना के माध्यम से जीवनक्रम में समाविष्ट करने की उपासनात्मक पद्धति नवधा भक्ति है। नवरात्रियां, नवदुर्गा, ग्रह, नक्षत्र, नव द्वीप, नव निद्धि आदि संदर्भों में बहुधा गायत्री के नौ शब्दों की ही अलंकारिक व्याख्याविवेचना होती रहती है। वाममार्गी तत्र प्रयोजनों में नव दुर्गाओं का उल्लेख होता है। उनकी आकृतियां प्रख्यात हैं। दक्षिणमार्गी योग साधना में नव देवियों का वर्णन है। दुर्गाऐं भौतिक समृद्धियां कहलाती हैं और देवियाँ आत्मिक विभूतियां। दोनों के बीच कोई विग्रह नहीं। एक दूसरे की पूरक हैं। भौतिक और आत्मिक को मिला देने में ही समग्र ज्ञान की पूर्णता है। विज्ञान और तत्वज्ञान के भूतकाल को महामनीषियों ने मिलाकर रखा था। आज तो एकांगी, एकपक्षीय लिप्सायें ही सब कुछ बन गई हैं। आवश्यकता दैवी सम्पदा की भी समझी जानी चाहिए। उपासना मात्र दुर्गाओं को नहीं, आत्मिक तेजस्विता का प्रतिनिधित्व करने वाली नव देवियों की भी उनकी अनादि वरिष्ठता वापिस मिलनी चाहिए।

नवाह्न परायण, रामायण पाठ, धुनि कीर्तन आदि के रूप में कितने ही धर्मकृत्य सम्पन्न किये जाते हैं। आश्विन और चैत्र की नवरात्रियों में पिछले दिनों सामन्ती उपचारों का बाहुल्य रहने से नवदुर्गाओं का पूजन ही प्रधान रहा, फिर भी उन दिनों दक्षिणमार्गी देवी पूजन का कोई न कोई रूप बना ही रहा है। रामलीला, रासलीला, रामायण पारायण, नवाह्न यज्ञ, गनगौर आदि की धर्म परम्परा नवरात्रियों में ही सम्पन्न होती है और वे दुर्गा पूजा से भिन्न हैं।

कहा जा चुका है कि गायत्री के नौ शब्दों का वैयक्तिक, सामाजिक, साधनात्मक और सिद्धि चमत्कार-परक वर्गीकरण नौ भागों में विभक्त होता है। रामायण में इन्हीं को "नवगुण परम पुनीत तुम्हारे" कहा गया है। नव देवियों के रूप में इन्हीं की मान्यता है। देव प्रतिभा के रूप में पूजा-अर्चा की आवश्यकता पूरी की जाती है। प्रतीकोपासना में जिन नौ देवियों का उल्लेख है, उन्हें गायत्री के नौ शब्दों में सन्निहित उच्चस्तरीय प्रेरणायें भी कहा जा सकता है।

यह नौ शक्तियां एक प्रकार से नौ ग्रह हैं। नौ रत्न, नौ दुर्गा, अथवा देवियाँ—मानवी चेतना की विशिष्ट क्षमतायें,

विभूतियां इन्हें कहा जा सकता है। यह प्रसुप्त रूप में हर व्यक्ति के अन्तराल में छिपी पड़ी हैं । उन्हें जगाने का विधिवत् प्रयास किया जाय तो साधक उन दिव्य क्षमताओं से सुसम्पन्न बनता है । जिन्हें ऋद्धि, सिद्धि समृद्धि प्रगति कहते हैं । समृद्धि भौतिक होती है, प्रगति आत्मिक । उन्हीं उपलब्धियों को आगे बढ़ना एवं ऊँचे उठना कहते हैं । आगे बढ़ना अर्थात् वैभवशाली सुसम्पन्न बनाना । ऊँचे उठना अर्थात् समुन्नत, सुसंस्कृत होना । दैवी क्षमतायें, सत्प्रवृत्तियाँ हर किसी में बीज रूप में विद्यमान हैं। साधना द्वारा उन्हें जगाया, उगाया, बढ़ाया और फलित किया जा सकता है। बीज में वृक्ष की समग्रसत्ता विद्यमान है । किन्तु वह सामान्यत: दृष्टि गोचर नहीं होती । यदि उसे विधिवत् बोया उगाया जाय तो बीज -अंकुर पौधा बनता है और अन्तत: फल फूलों से लदे हुए विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। दिव्य शक्तियाँ सत्प्रवृत्तियाँ ही दुर्गायें या देवियां हैं । साधना द्वारा उन्हें ही जगाया, परिपुष्ट किया जाता है । जागृत आत्मबल ही कल्पवृक्ष है । उसके फलों को ही वैभव चमत्कार कहते हैं । प्रतिभाशाली आत्मबल के धनी व्यक्ति एक से एक बढ़ कर सफलतायें पाते तथा ऐतिहासिक महान् कृत्य करते हैं । यह उनकी शारीरिक, बौद्धिक क्षमता का प्रतिफल नहीं वरन् आत्मिक विशिष्टता का परिणाम होता है । इसी को आध्यात्म की भाषा में देव वरदान कहा जाता है । ऐसी सुखद प्रतिक्रिया उत्पन्न करने के लिए जो अन्त:क्षेत्र में कृषि कर्म करना पड़ता है वही साधना है । साधना से सिद्धि निश्चित है । शर्त एक ही है—साधना का सही अर्थ समझा जाय । साधना का तात्पर्य है अपनी अनगढ़ मान्यताओं, इच्छाओं एवं आदतों को सुदृढ़, सुसंस्कृत बनाने के लिए प्रबल पराक्रम करना । कुसंस्कारों से जूझना और सुसंस्कारों को व्यक्तित्व का अंग बनाने के लिए प्राण-पण से अनवरत प्रयास करना ।

गायत्री को त्रिपदा कहा गया है। उसमें अनेक त्रिक जुड़े हुए हैं । नौ मानवी विशेषताऐं भी तीन वर्गों में विभाजित हैं । (१) अन्तराल में छिपी हुई दिव्य शक्तियाँ जिन्हें जगाने से मनुष्य विशिष्ट आत्मबल सम्पन्न बनता है और अलौकिक स्तर के पराक्रम कर दिखाने में सफल होता है । इस प्रकार की सफलताओं को अतीन्द्रिय क्षमता सिद्धि एवं विभूति के नाम से पुकारते हैं । (२) गुण, कर्म और स्वभाव की उत्कृष्टता के रूप में दृष्टिगोचर होने वाली सत्प्रवृत्तियां जिनका परिचय शालीनता, कुशलता एवं प्रतिभा के रूप में मिलता है । (३) नीति मर्यादाऐं जिनके आधार पर परस्पर सहयोग-सौहार्द् बढ़ता है और अनाचार-आक्रमण के द्वार बन्द होते हैं । वस्तुओं के उत्पादन की तो छूट रहती है पर उपयोग पर अंकुश लगता है । संक्षेप में इसी को सम्पन्नता, सामाजिकता, सामूहिकता आदि नामों से पुकारते हैं । धैर्य, कर्तव्य, व्रत, संयम, दान जैसी परम्पराऐं इसी नीति तत्व की परिचायक हैं ।

आस्तिकता चेतना क्षेत्र में जमी हुई उच्चस्तरीय आस्था—आध्यात्मिकता, आत्मनिर्भरता, शालीनता । धार्मिकता-दूसरों के प्रति कर्तव्यों का समुचित निर्वाह । यह तीन जीवन धाराऐं आन्तरिक त्रिवेणी कही गई है । गायत्री के तीन पाद, तीन चरण इन्हीं तीनों का प्रतिपादन करते हैं । त्रिपदा की चेतना-प्रेरणा का क्षेत्र यही है । इन तीनों में से तीन-तीन धाराऐं छूटती हैं । प्रत्येक के तीन-तीन विभाग बनते हैं । इस प्रकार वह परिकर संख्या में नौ हो जाता है । यज्ञोपवीत की तीन लड़ें उनमें से प्रत्येक में तीन-तीन धागे इसी तीन को नौ में परिणत होने की साक्षी देते हैं । गायत्री के तीन चरण हैं । हर चरण में तीन-तीन शब्द हैं । यही त्रिधा की त्रिगुणात्मक प्रक्रिया है । नवधा भक्ति के रूप में इसी ब्रह्मविद्या का विस्तार हुआ है । गायत्री का यही परिकर नौ देवियों के नाम से प्रख्यात है । संक्षेप में इसे अन्त:करण व्यक्तित्व और व्यवहार समझा जा सकता है । इस त्रिवर्ग के परिष्कृत होने पर सर्वतोमुखी प्रगति की संभावना में किसी प्रकार का संदेह नहीं रह जाता है ।

गायत्री शक्तिपीठों में नौ देवियों की स्थापना है । इन्हें क्रमश: (१) आद्यशक्ति (२) सावित्री (३) कुण्डलिनी (४) वेदमाता (५) देवमाता (६) विश्वमाता (७) सरस्वती (८) लक्ष्मी (९) दुर्गा कहते हैं ।

गायत्री परिकर के इस नवरत्न परिवार में वह सब कुछ आ जाता है जो व्यक्ति और समाज के लिए सुखद और श्रेयस्कर है ।

गायत्री की असंख्य शक्तियाँ

गायत्री की असंख्य शक्तियाँ और उनका सान्निध्य

परब्रह्म परमात्मा की चेतना, प्रेरणा, सक्रियता, क्षमता एवं समर्थता को गायत्री कहते हैं यह इस विश्व की सर्वोपरि शक्ति है । अन्य छुट-पुट शक्तियाँ जो विभिन्न प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त होती हैं, वे देव नामों से पुकारी जाती हैं । यह समस्त देव शक्तियाँ उस परम शक्ति की किरणें ही हैं, उनका अस्तित्व इस महत्व के अन्तर्गत ही है । उत्पादन, विकास एवं निवारण की त्रिविध देव शक्तियाँ ब्रह्मा, विष्णु, महेश के नाम से विख्यात हैं । पंच तत्वों की

चेतना को आदित्य वरुण, मरुत और अन्तरिक्ष कहकर पुकारते हैं । इन्द्र वृहस्पति, अर्यमा, पूषा, तृष्ट्रा, गणेश, अश्विनी, वसु-विश्वेदेवा आदि सृष्टि के विभिन्न प्रयोजनों में संलग्न शक्तियाँ ही हैं । चूँकि ये दिव्य हैं, प्राणियों को उनका अपार अनुराग मिलता है, इसलिए उन्हें देवता कहते हैं और श्रद्धापूर्वक पूजा, आर्चा एवं अभिवन्दन करते हैं । यह सभी देवता उस महत्त्व के स्फुलिंग हैं जिसे अध्यात्म भाषा में गायत्री कहकर पुकारते हैं जैसे जलते हुए अग्निकुण्ड में से चिनगारियाँ उछलती हैं, उसी प्रकार विश्व की महान शक्ति सरिता गायत्री की लहरें उन देव शक्तियों के रूप में देखी जाती हैं। सम्पूर्ण देवताओं की सम्मिलित शक्ति को 'गायत्री'' कहा जाय तो यह उचित ही है।

हमें जितना भी कुछ वैभव, उल्लास मिलता है, वह शक्ति के मूल्य ही मिलता है। जिसमें जितनी क्षमता है वह उतना ही सफल होता है और उतना ही वैभव उपार्जित कर लेता है । इन्द्रियों में शक्ति रहने तक ही भोगों को भोगा जा सकता है ये अशक्त हो जायें तो आकर्षक से आकर्षक भी उपेक्षणीय और घृणास्पद लगते हैं। नाड़ी-संस्थान की क्षमता क्षीण हो जाय तो शरीर का सामान्य क्रिया-कलाप भी ठीक तरह चल नहीं पाता मानसिक शक्ति घट जाने पर मनुष्य की गणना विक्षिप्तों और उपहासास्पदों में होने लगती है। धन-शक्ति न रहने पर दर-दर का भिखारी बनना पड़ता है। मित्र शक्ति के न रहने पर एकाकी जीवन सर्वथा निरीह और निरर्थक प्रतीत होने लगता है। आत्मबल न होने पर प्रगति के पथ पर एक कदम भी यात्रा नहीं बढ़ती । जीवनोद्देश्य की पूर्ति आत्मबल से रहित व्यक्ति के लिए सर्वथा असम्भव ही है ।

अतएव शक्ति का सम्पादन भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में सफलता प्राप्त करने के लिए नितान्त आवश्यक है। हमें जान ही लेना चाहिए कि भौतिक जगत में जितनी पंचभूतों को प्रभावित करने एवं आध्यात्मिक जगत में जितनी भी विचारात्मक, भावनात्मक तथा संकल्पात्मक शक्तियाँ हैं, उन सबका मूल उद्गम एवं असीम भाण्डागार वह महत्त्व ही है, जिसे गायत्री नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। इस भाण्डागार में जितने ही गहरे उतरा जाय उतनी ही बहुमूल्य रत्न-राशि उपलब्ध होने की सम्भावना बढ़ती चली जाती है ।

विश्व के आत्मोत्कर्ष इतिहास पर दृष्टिपात करने से यही प्रतीत होता है कि चरित्र को उज्ज्वल एवं विचारों उत्कृष्ट रखने के अतिरिक्त हमारे इसी सीढ़ी पर चढ़ते हुए वे देव पुरुषों में गिने जाने योग्य स्थिति प्राप्त कर सके थे। देवदूतों, अवतारों, गृहस्थियों, महिलाओं, साधु, ब्राह्मणों सिद्ध पुरुषों का ही नहीं साधारण सद्-गृहस्थों का उपास्य भी गायत्री ही रही है और अवलम्बन के आधार पर न केवल आत्म-कल्याण का श्रेय साधन किया है वरन् भौतिक सुख-सम्पदाओं की सांसारिक आवश्यकताओं को भी आवश्यक मात्रा में उपलब्ध किया है ।

संसार में अनेक देवताओं के रूप में जो अनेक शक्तियाँ दृष्टिगोचर हो रही हैं जिनकी सहायता से हमारा जीवन धारण, पोषण, अभिवर्धन एवं श्रेय साधन हो रहा है वे गायत्री महाशक्ति के अन्तर्गत आती हैं । उसे यों भी कहा जा सकता है कि वे गायत्री स्वरूप ही हैं। विश्वव्यापी जल तत्व नदी, सरोवरों, कूप, तालाबों, जलाशयों, हिमशृङ्गों, समुद्र और बादलों में विभिन्न रूप स्वाद और स्थिति में दिखाई पड़ता है । उसी प्रकार एक गायत्री महातत्व अगणित देव-शक्तियों के रूप में ही जाना जा सकता है । शास्त्र कहता है-

आदित्य देवा गन्धर्वा मनुष्या-पितरो सुराः तेषां सर्वभूतानां माता मेदिनी मातामही, सावित्री, गायत्री जगत्युवी पृथ्वी वहुला विद्याभूधा ।

— नारायणोपनिषद्

देव, गन्धर्व, मनुष्य, पितर, असुर, इनका मूल कारण अदिति अविनाशी तत्व हैं। यह अदित सब भूतों की माता मेदिनी और माता मही है । उसी विशाल गायत्री के गर्भ में विश्व के सम्पूर्ण प्राणी निवास करते हैं ।

शक्ति स्वभाविकी तस्य विद्या विश्व विलक्षणा ।
एकानेकस्वरूपेण भाँति भानौरिव प्रभा ॥
अनन्ताः शक्तिथस्तस्य इच्छाज्ञानां क्रियादयः ।
इच्छाशक्ति महेशस्य नित्या कार्यनियामिका ॥
ज्ञान शक्तिस्तु तत्कार्य कारणं करण तथा ।
प्रयोजनं च तत्वेम बुद्धिरूपाध्यवस्येति ॥
यथेप्सितं क्रिया शक्तिर्यथाध्यवसितं जयत् ।
कल्पयत्यखिलं कार्य क्षणात् सङ्कल्परूपिणी ॥

(शिवपुराण वायु—संहिता ६)

विश्व लक्षण वाली विद्या उस परब्रह्म की स्वाभाविक शक्ति है । वह सूर्य की प्रभा की तरह एक ही अनेक रूपों में प्रकट होती है । इच्छा, मान, क्रिया आदि उसकी अनन्त शक्तियाँ हैं । ये ही दैवी शक्तियाँ संसार के समस्त कार्यों का नियन्त्रण करती हैं । उसी की शक्ति ही कार्य और कारण के रूप में काम करती है और वही

अपनी सङ्कल्प शक्ति से अनादि काल से इसका संचालन करती आई है ।

गङ्गा च यमुना चैव विपासा च सरस्वती ।
सरयूर्देविका सिन्धुर्नर्मदेरावती तथा ॥
गोदावरी शतद्रुश्च कावेरी देव लोकगा ।
कौशकी चन्द्रभाग च वितस्ताश्च सरस्वती ॥
गंडकी तपनी तोया गोमती वेगवत्यपि ।

"गङ्गा, यमुना, विपासा, सरस्वती, सरयू, देविका, सिन्धु, नर्मदा, ऐरावती, गोदावरी, शतद्रु, कावेरी, कौशकी, चन्द्रभागा, वितस्ता, गन्डकी, तपनी, तोया, गोमती, वेगवती आदि समस्त सरितायें तुम्हीं हो ।"

इड़ा च पिङ्गला चैव सुषुम्णा च तृतीयका ।
गाँधारी हस्तिजिह्वा च पूषा, अपूषा तथैव च ॥
अलबेषा कुहुश्च शङ्खिनी प्राणवाहिनी ।
नाड़ी च त्वं शरीरस्था गीय ते प्रक्तनैर्वुधै ॥

"इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, गाँधारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, अपूषा, अलम्बुषा, कुदू, शङ्खिनी, प्राणवाहिनी—ये शरीर में टिकी हुई समस्त नाड़ियाँ भी तुम्हीं हो ।"

हत्पाद्यस्था प्राणशक्तिः कंठस्था स्वप्नायिका ।
तालुस्था त्वं सदाधारा बिंदुस्था बिंदुमालिनी ॥
मूले तु कुण्डली शक्तिव्यापिनी केशमूलगा ॥

"हृदय कमल में टिकी हुई प्राणशक्ति, कण्ठ में स्थित स्वप्नशक्ति, तालु में सदाधारा, भौं के मध्य में बिंदुमालिनी, मूलाधार में कुण्डली शक्ति, केशमूल में व्यापिनी शक्ति तुम्हीं हो ।"

गरिष्ठा च बाराहा च वरारोह च सप्तमी ।
नीलगङ्गा तथा संध्या सर्वदा भोग मोक्षदा ॥

"गरिष्ठा, बाराहा, वरारोह, नीलगङ्गा, संध्या तथा भोगमोदा ।"

हंसस्था गरुड़ारूढ़ा तथा वृषभवाहिनी ।
ऋग्वेदाध्यापिनी भूमौ दृश्यते ता तपस्विभि ॥

"ब्राह्मी, हंसारूढ़ सावित्री, वृषभवाहिनी और सरस्वती गरुड़ारूढ़ है इनमें से ब्राह्मी ऋग्वेदाध्यापिनी, भूमितल में तपस्वियों द्वारा देखी जाती है ।"

ब्रह्माण्ड में संव्याप्त अनेक शक्तियाँ इस जगत का संचालन एवं नियंत्रण करती हैं । उन्हीं के कारण संसार इतना सुन्दर और गतिशील दिखाई पड़ता है । यदि यह शक्तियाँ न होतीं और केवल जड़ पदार्थ ही इस संसार में भरे होते तो यहाँ श्मशान जैसी नीरवता का ही साम्राज्य होता न कोई हलचल होती न परिवर्तन की गुंजायश रहती। तब न प्राणियों, वनस्पतियों का अविर्भाव होता और न उनके कारण जो विविध-विधि, क्रिया-कलाप चल रहे हैं उनकी कोई सम्भावना रहती । संसार का जो भी स्थूल, सूक्ष्म स्वरूप हमारे सामने उपस्थित है, उसके मूल में वे अदृश्य शक्तियाँ ही काम कर रही हैं जिन्हें देवताओं अथवा देवियों के नाम से पुकारा जाता है । स्मरण रखने की बात यह है कि यह सारा शक्ति परिवार जगजननी गायत्री महाशक्ति का ही सृजन, निर्माण, वैभव एवं परिवार है। हम गायत्री महाशक्ति को अपने में जितना ही धारण करते हैं, उतना ही वह अधिकार प्राप्त हो जाता है जिससे विश्वव्यापी शक्ति शृंङ्खला के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर सकें । उन्हें अभीष्ट प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त कर सकें । यह क्षमता जिन्हें उपलब्ध हो जाती है, वे सिद्ध पुरुष कहलाते हैं । सामान्य पुरुषों को इन शक्तियों के आधिपत्य में रहना पड़ता है, वे परिस्थितियों के दास रहते हैं, पर जिन्हें शक्तियों से सम्बन्ध बनाने एवं उन्हें मोड़ने का अधिकार मिल जाता है, वे परिस्थितियों को अपने अनुकूल बना लेते हैं । इस अनुकूलता के आधार पर वे अपना और असंख्य दूसरों का भला कर सकते हैं । शक्तिरूपा गायत्री के बारे में शास्त्र कहते हैं—

भ्रजते दीप्यते यस्माज्जगदन्ते हरत्यपि ।
कालाग्नि रूपमास्थाय सप्तार्चिः सप्तरश्मिभिः ॥

(याज्ञ० सं०)

जिस तेज के प्रताप से यह जगत शोभित, वर्द्धित एवं सचेतन होकर अन्त में समाप्त हो जाता है वही सप्तार्चि तथा सप्तरश्मियुक्त सत्ता काल रूपी अग्नि की भाँति रूप धारण करती है।

त्वमेव सन्ध्या गायत्री सावित्री च सरस्वती ।
ब्राह्मी च वैष्णवी रौद्री रक्ता श्वेता सितेतरा ॥

"सन्ध्या, गायत्री, सावित्री, सरस्वती, ब्राह्मी, वैष्णवी, रौद्र, रक्ता श्वेता, कृष्णा तुम्हीं हो ।"

तत-परा पराशक्ति परमा त्वम् हि गीयसे ।
इच्छाशक्तिः क्रियाशक्तिर्ज्ञान शक्तिस्त्रिशक्तिदा ॥

"तुम्हीं परा, परमाशक्ति कही जाती हो । इच्छाशक्ति और ज्ञानशक्ति भी तुम्हीं हो ।"

रुद्रलोकं गता त्वं हि विष्णुलोकनिवासिनी ।
त्वमेव ब्रह्मणो लोकेऽमर्त्यानुग्रहकारिणी ॥

"सावित्री रुद्र लोक में, सरस्वती विष्णुलोक में और ब्राह्मी ब्रह्मलोक में विराजमान रहती हैं—ये सब प्राणियों पर कृपा करने वाली हैं ।"

मानव-शरीरों में अनेक शक्तियाँ हैं, उसके मस्तिष्क एवं हृदय में इतनी अद्भुत क्षमतायें हैं, जिनका कोई पारावार नहीं। देखने में सभी मनुष्य लगभग एक जैसे प्रतीत होते हैं। हाड़-मांस, इन्द्रियाँ, अङ्ग, अवयव, आहार-विहार, स्वभाव, अभ्यास, लम्बाई, चौड़ाई की दृष्टि से मानव-प्राणियों में कुछ बहुत ज्यादा-अन्तर दिखाई नहीं देता, पर उनमें जो सूक्ष्म विशेषताएँ सन्निहित हैं, उन्हीं की न्यूनाधिकता में कोई गुजरी स्थिति से पड़ा रहता है, कोई उन्नति के उच्चशिखर पर जा पहुँचता है। बहुतों को इन क्षमताओं के अभाव में दु:ख दारिद्रय से भरा शोक-सन्तापग्रस्त जीवन जीना पड़ता है, पर जिसमें कुछ विशेषताएँ प्रतिभा के रूप में अधिक होती हैं, वे उन उपलब्धियों के कारण अनेक दिशाओं में सफलताएँ प्राप्त करते हैं और सुख-शान्ति का लाभ लेते हुए यशस्वी एवं तेजस्वी जीवन व्यतीत करते हैं। इन शक्ति संस्थानों से बढ़कर भी अदृश्य ब्रह्माण्ड में कुछ देव शक्तियाँ हैं, जो मनुष्य की सत्ता से भी सामर्थ्यवान हैं और उनसे लाभान्वित होने का भी विज्ञान है। भारतीय दर्शन की विशेषता देव शक्तियों का यह वैज्ञानिक अनुसन्धान ही रहा है।

गायत्री उस विश्व व्यापी चेतना शक्ति भण्डार का एक उच्चस्तरीय प्रवाह है। उस प्रवाह के साथ जिन व्यक्तियों ने अपने आपको जोड़ लिया, वे अपनी पात्रता के अनुसार अभीष्ट तत्व प्राप्त कर लेते हैं। लघु आत्मा अपनी छोटी सी चेतना में विभु परमात्मा को महान् चेतना शक्ति का प्रवाह अपने अन्दर धारण करने का जो प्रयत्न करता है, उसे उपासना कहते हैं। उपासना कोई भावुकता, काल्पनिकता या भ्रान्ति नहीं है वरन् एक सुनिश्चित वैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिसके आधार पर अतीत काल में बहुत से उपासक बहुत कुछ प्राप्त कर चुके हैं और अब भी बहुत कुछ प्राप्त कर रहे हैं।

विश्व व्यापी ईश्वरीय चेतना शक्ति प्रवाह—गायत्री से सम्बन्ध स्थापित करके मनुष्य कितने प्रकार के लाभ प्राप्त कर सकता है? इसकी सही गणना कर सकना तो कठिन है पर प्राचीनकाल के तत्वदर्शियों ने उनकी एक अनुमानिक सीमा एक सहस्त्र मानी है। जिस प्रकार किसी जड़ी बूटी का वैज्ञानिक विश्लेषण करके उसके भीतर पाये जाने वाले पदार्थों, क्षारों, विटामिनों तथा गुणों की व्याख्या करता है, उसी प्रकार गायत्री महाशक्ति का विश्लेषण भी प्राचीन काल के अज्ञात तत्ववेत्ता लोगों ने किया है और निरू५ण को ''गायत्री सहस्त्रनामं'' नाम से प्रस्तुत किया है।

गायत्री सहस्त्र नाम का महत्व, पाठ उपासना की दृष्टि से तो है ही, पर उसमें लिखे हुए गायत्री के एक हजार नाम केवल नाम मात्र ही नहीं हैं, वरन्—प्रत्येक नाम में गायत्री तत्व में सन्निहित तत्वों, तथ्यों, गुणों, प्रभावों और विशेषताओं का विश्लेषण है। उन एक हजार से प्रत्येक नाम पर यदि हम ध्यान दें तो यह पता चलेगा कि गायत्री की कितनी बड़ी महत्ता है और उसके अन्तर्गत तथ्यों का उपयोग हम अपनी किन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कर सकते हैं।

गायत्री के उन सहस्त्र नामों में से कुछ नामों का विश्लेषण उपस्थित किया जाता है :-

अचिन्त्य लक्षणा

यह प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है कि गायत्री के सम्पूर्ण लक्षणों, गुणों का वर्णन और विश्लेषण मानव की स्वल्प बुद्धि द्वारा सम्भव नहीं है। उसकी गरिमा अत्याधिक विस्तृत एवं व्यापक है। अपने प्रयत्न और अनुभवों से मनुष्य ने गायत्री के एक सहस्त्र गुणों का पता लगाया है। इसका अर्थ यह नहीं कि गायत्री इतनी ही सीमित है। इनसे अधिक और कुछ कार्य उसकी शक्ति से नहीं हो सकता। ऐसी बात नहीं है। चेतना जगत् में जो कुछ भी हलचलें होती हैं, उन सबका सम्बन्ध गायत्री महा शक्ति से है और उन सब पर उस महाशक्ति के माध्यम से नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है। गायत्री की सर्वाङ्गीण सम्भावनाएँ अत्यधिक हैं, इतनी अधिक कि उन सबका पता लगाना तो दूर ठीक प्रकार चिन्तन कर सकना भी कठिन है। अब तक जिन एक सहस्त्र प्रमुख गुणों का पता इस विद्या के वैज्ञानिकों ने लगाया है केवल उन्हीं का उल्लेख गायत्री सहस्त्र नाम से हुआ है।

अव्यक्ता

यों उपासना की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में अन्य सभी साधनाओं की भांति गायत्री का भी नाम और रूप व्यक्त करना पड़ा है। उच्चारण की दृष्टि से २४ अक्षरों में उसे स्वर बद्ध किया गया है और ध्यान का एक मात्र आधार रूप भी प्रस्तुत करके गायत्री माता की छवि में अंकित किया गया है, पर यह ध्यान करना चाहिये कि यह नाम रूप पर आधारित माता का विग्रह केवल उपासना की अनिवार्य आवश्यकता के लिए ही है। वस्तुत: गायत्री।

मनुष्यों के समान शरीर धारी नहीं है । वरन् वह अव्यक्त व्यापक शक्ति प्रवाह के रूप में उसी प्रकार फैली हुई है जैसे गर्मी, सर्दी, विद्युत, ईथर आदि सूक्ष्म एवं अदृश्य रूप से सर्वत्र फैले रहते हैं । इस दृष्टि से उसे निराकार भी कहा जा सकता है ।

अमृतार्णव मध्यस्थला

अमृत के समुद्र में रहने वाली गायत्री है। मस्तिष्क के मध्य जो सहस्रार कमल है, उसके मध्य में मधु-कोष या अमृत घर माना गया है । खेचरी क्रिया करते समय जब जिह्वा को उलट कर तालु के मूल में लगाते हैं तो इसी मधु कोष सेअमृत की बूँद झरने और उसका रसास्वादन होने का अनुभव साधक को होता है। इस सहस्रार कमल पर ही विष्णु भगवान की शैय्या है। इसी को सहस्र फन वाला शेषनाग कहते हैं । इसका मध्य बिन्दु जो अमृत कोष है, उसी में गायत्री शक्ति का मूल निवास है । शिवजी ने गङ्गा को जिस प्रकार मस्तिष्क के मध्य भाग में धारण किया हुआ है, इसी प्रकार प्रत्येक साधक उसे विश्वव्यापी गायत्री शक्ति को सर्वप्रथम इस अमृतार्णव में अवस्थित चुम्बक केन्द्र में ही धारण करता है । फिर वह शरीर मस्तिष्क के विभिन्न भागों में तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विस्तृत होती है ।

व्यापक बाह्य जगत में प्रकृति का मध्य बिन्दु अमृतार्णव माना गया है । सब प्रकार के आनन्दों की किरणें इसी केन्द्र से उद्‌भुत होकर प्राणियों के नाना प्रकार के आनन्दों एवं उल्लासों का रसास्वादन कराती है । इस अमृतार्णव केन्द्र का जो रसोद्भव है, इसी गायत्री का निवास बताया गया है । इस प्रकार वह सब प्रकार के आनन्दों की मूल जननी मानी गई है ।

अजिता

अर्थात्—जिसे कोई जीत न सके । गायत्री के टक्कर की और कोई शक्ति नहीं है जो उससे प्रतिद्वन्द्विता में ठहर सके या उसे अधिक बड़ी सिद्ध होकर उसे परास्त कर सके । वशिष्ठ और विश्वामित्र का उपाख्यान प्रसिद्ध ही है कि गायत्री गौ के प्रताप से वशिष्ठजी ने राजा विश्वामित्र की विशाल सेना को भोजन सेही तृप्त नहीं किया था वरन् युद्ध होने पर उस गौ गायत्री ने ही उस सेना को पराास्त कर दिया था । दूसरे शक्ति की उपासना से आश्चर्य चकित होकर विश्वामित्र ने राज-पाट छोड़कर तप द्वारा गायत्री को सिद्ध करके विश्व का सर्वोपरि बल उपलब्ध करने का प्रयत्न किया और उसी की सिद्धि से वे एक अलग दुनियाँ की स्वतंत्र रचना करने तक में सफल हुए । अकेले विश्वामित्र ही नहीं, जिनने भी गायत्री का प्रत्यक्ष किया है उन्होंने उसे सर्वोपरि एवं अजिता ही पाया है ।

अपराजिता

वह किसी से भी पराजित नहीं होता । संसार का कोई बड़े से बड़ा असुर, पाप, संकट, विघ्न या मनुष्य ऐसा नहीं है जो गायत्री को चुनौती दे सके, उससे अधिक प्रबल सिद्ध हो सके, उसे पराजित कर सके । उचित रूप से साधना की हुई गायत्री संकटों को भी पछाड़ती-परास्त करती है, स्वयं कभी पराजित या परास्त नहीं होती ।

अणिमादिगुणाधार

अणिमा, लघिमा, महिमा आदि जो ऋद्धि सिद्धियाँ हैं, उन चमत्कारी मानवी गुणों या विशेषताओं का मूल आधार गायत्री ही है । अष्ट सिद्धि, नव निद्धि जिन्हें उपलब्ध करके मनुष्य प्रकृति के विभिन्न क्षेत्रों पर अपना अधिपत्य स्थापित कर लेता है और उनका इच्छित उपयोग करके देवताओं जैसे बल एवं ऐश्वर्य का अधिकारी बनता है । वे ऋद्धि सिद्धियाँ गायत्री शक्ति पर ही आधारित हैं । सिद्धि साधना के मार्ग पर चलने वाले योगियों का अनादिकाल में एकमात्र आधार 'गायत्री' ही रही है । अन्य साधनाओं द्वारा अस्थायी एवं हलकी सी ही सफलता किसी साधक को भले मिली हो पर चिरस्थायी और सर्वाङ्गपूर्ण सिद्धियाँ तो केवल गायत्री के द्वारा ही संभव हुई हैं और हो सकती हैं ।

अर्क मण्डल संस्थिता

अर्क अर्थात् सूर्य के मण्डल में बैठी हुई गायत्री का ही ध्यान पूजन किया जाता है । चित्रों में गायत्री माता को सूर्य मण्डल के बीच विराजमान ही चित्रित किया गया है। इस दृश्य सूर्य को प्राणतत्व का केन्द्र माना गया है । उससे केवल उष्णता या प्रकाश ही उपलब्ध नहीं होता वरन् वह समस्त संसार को प्राण भी देता है । प्राणियों में जो जीवन दिखाई देता है वह सूर्य से ही उद्‌भूत होता है। यदि सूर्य न हो तो इस पृथ्वी पर एक भी जीवित प्राणी दृष्टिगोचर नहीं हो सकता । सूर्य मण्डल में जो प्राण शक्ति के रूप में विराजमान है वह गायत्री ही है। गायत्री शब्द का भी यही अर्थ है । गय- कहते हैं प्राण को और-कहते हैं त्राण को । प्राणों का त्राण करने वाली जो शक्ति सूर्य मण्डल के माध्यम से इस पृथ्वी पर आती है वह गायत्री है । प्रकाश और उष्णता ज्ञान और पुरुषार्थ भी उसी के दो सहायक तत्व हैं ।

अजरा

जो कभी वृद्ध नहीं होती, जिसकी शक्ति कभी क्षीण नहीं होती, जो सदा तरुण एवं प्रचण्ड ही रहती है। प्रकृति के नियमानुसार सभी वस्तुएँ कालान्तर में दुर्बल हो जाती हैं और नष्ट होकर उनका पुनर्निर्माण होता है। प्रलय होने से पूर्व पंच तत्व तथा उनकी तन्मात्राएँ इतनी दुर्बल हो जाती हैं कि सृष्टि का कार्य साधारण रीति से चलना कठिन हो जाता है। टूटी मशीनों की भांति, बूढ़े की भांति सृष्टि की व्यवस्था में आये दिन गड़बड़ी होती रहती है। अन्ततः उनको बिगाड़ कर पुनर्निर्माण की आवश्यकता पड़ती है और प्रलय उपस्थित हो जाती है। किन्तु नव निर्माण होने पर हर तत्व नया होने और शक्ति में पूर्णता होने के कारण सतयुग में सारे काम विधिवत् चलते हैं विकृतियाँ तो जैसे-जैसे वह सब पुराने होते जाते हैं, दुर्बल पड़ते जाते हैं तब बाद के युगों में होना आरम्भ होती है। जो नियम सृष्टि की अन्य सब स्थूल सूक्ष्म वसुन्धरा पर लागू होता है पर गायत्री पर लागू नहीं होता। वह काल से प्रभावित नहीं होती। उसमें कभी भी शिथिलता या जरावस्था का विकार नहीं आता।

अजा

उसका कभी जन्म नहीं होता। परमात्मा की अभिन्न सत्ता होने के कारण वह भी परमात्मा के समान ही अजन्मा है। उसका कोई आरम्भ काल नहीं, जिस प्रकार सूर्य में उष्णता ओतप्रोत है उसी प्रकार ब्रह्म में जो चेतनता समाई हुई है उसे गायत्री कहते हैं। साक्षी, दृष्टा, निर्विकार ब्रह्म में जो सक्रियता, विधि व्यवस्था, भावना, आकांक्षा दिखाई देती है, सत् के साथ जो चित् और आनन्द जुड़ा हुआ है उसका कारण गायत्री महाशक्ति को ही समझना चाहिए। वह जन्मने व मरने वाली साधारण वस्तु नहीं है।

अकारादिज्ञकारान्ता

'अ' से लेकर 'ज्ञ' अक्षरों तक की जो वर्णमाला है, वह स्वर यंत्र से लेकर नाभि स्थान तक अवस्थित सूक्ष्म उपत्यिकाओं में से निरन्तर निकलती रहने वाली ध्वनियों के आधार पर विनिर्मित हुई है। इन ५४ ध्वनियों को कंठ से नाभि तक स्थित इन उपत्यिकाओं को सन्निहित अनेक सद्गुणों के एक सत्प्रवृत्तियों का बीज मन्त्र समझना चाहिए। देव नागरी लिपि के स्वर व्यंजनों की बनी वर्णमाला भी एक प्रकार की मन्त्र साधना है। इस वर्णमाला को बालक जब बार-बार पढ़ते हैं तो उनकी इन अक्षरों से सम्बन्धित देवशक्तियाँ जाग्रत होती हैं। इसीलिए इसे देव नागरी लिपि कहते हैं। इस वर्णमाला के ५४ अक्षरों के लिए एक बार कण्ठ से नाभि तक आने और दूसरी बार नाभि से कण्ठ तक लौटने में ५४ + ५४ = १०८ की संख्या हो जाती है। माला में १०८ दाने होने का भी यही रहस्य है। देवनागरी वर्णमाला से सम्बोधित सभी ५४ शक्तियाँ गायत्री स्वरूप हैं। इसलिये गायत्री को 'अकारादिज्ञ कारान्ता' माना गया है।

अरिषड़वर्ग भेदिनी

(१) काम (२) क्रोध (३) लोभ (४) मोह (५) मद (६) मत्सर यह छः वास्तविक शत्रु माने गये हैं। सांसारिक शत्रु तो कुछ देर के लिए थोड़ी आर्थिक या शारीरिक हानि ही पहुँचा सकते हैं पर यह आन्तरिक शत्रु दिन रात साथ रहने के कारण लोक और परलोक दोनों ही नष्ट कर डालते हैं। अन्तः करण की शान्ति, सदाशयता, सद्भाव सत्प्रवृत्तियाँ सभी कुछ इन शत्रुओं द्वारा तहस-नहस करके उनके स्थान पर भय, रोग, शोक, चिन्ता, द्वेष, क्लेश, कुढ़न, असन्तोष तथा नाना प्रकार की उलझनें, दुर्गुण एवं कुसंस्कार उत्पन्न हो जाते हैं। उनका परिणाम पतन एवं नरक ही होता है। गायत्री शक्ति का आविर्भाव अन्तःकरण में होने से ये छः आन्तरिक शत्रु दुर्बल होने लगते हैं और धीरे-धीरे वे समाप्त होते चले जाते हैं। सांसारिक शत्रुओं का भी मुकाबला जिस प्रकार कानून, दृढ़ता, चतुरता, संगठन तथा शस्त्रों की सहायता से, रोग का निवारण चिकित्सा से किया जाता है, उसी प्रकार षड़रिपुओं के भेदन के लिये गायत्री राम बाण है।

असुरघ्नी

असुरों की असुरता को नाश करने वाली गायत्री है। किसी दुष्टता को नष्ट करने के लिए यह आवश्यक नहीं है उस दुष्ट व्यक्ति को मार ही डाला जाय। रोग निवारण के लिए ऐसा नहीं किया जाता कि रोग के साथ रोगी को भी नष्ट किया जाय। गायत्री उपासना से अन्तःकरण की दुष्टता-सज्जनता में परिणित होने लगती है और जिस प्रकार अजामिल आदि अनेकों पापी भगवान् की शरण में आ कर साधु सज्जन बन गए, उसी प्रकार गायत्री की प्रकाश किरणें जिन अन्तःकरणों पर पड़ती हैं उनके भीतर काम करने वाली असुरता की मात्रा घटनी आरम्भ हो जाती है और वे सज्जन देवता बनने लगते हैं। इसके अतिरिक्त गायत्री अभिचार की तांत्रिक प्रक्रिया से वह शक्ति भी है कि असुर को जड़मूल से भी नष्ट कर सके, उसके कुकृत्य का समुचित दण्ड भी दे सके।

अलक्ष्मीघ्नी

अलक्ष्मी को दरिद्रता को दूर करने वाली गायत्री है । दरिद्रता के मुख्य कारण प्रारब्ध पुण्यों की समाप्ति, आलस्य, अयोग्यता, परिस्थितियों की प्रतिकूलता, साधनों की कमी सन्मित्रों का अभाव आदि हैं । गायत्री की उपासना से मनुष्य के स्वभाव में आवश्यक परिवर्तन तुरन्त ही आरम्भ हो जाते हैं । उसके गुणों में, कार्यों में, स्वभावों में ऐसा हेर फेर होता है कि प्रतिकूलताएँ भी अनुकूलता में बदलने लगती है । आलस्य के स्थान पर उत्साह, योग्यता, सम्पादन करने को तत्परता, परिस्थितियों को सुलझाने में योग्य सूझ-बूझ स्वभाव में स्नेह सौजन्य एवं माधुर्य बढ़ने से मित्रों की संख्या तथा उनके सहयोग की मात्रा में वृद्धि के साधन जुटने लगते हैं । मितव्ययता का स्वभाव बनता है और जितना उपलब्ध है उतने से काम चलाने एवं सन्तुष्ट रहने की वृत्ति विकसित होती है । दैवी अनुग्रह के आकस्मिक अवसर भी ऐसे मिलते हैं जिससे दरिद्रता जन्य दुखों से छुटकारा मिलता है । आमतौर से गायत्री उपासक सदा भरे पूरे ही रहते हैं । भूखा नंगा दीन दरिद्र उनमें से कोई बिरला ही मिलेगा ।

आदिलक्ष्मी

जिस लक्ष्मी से हम सभी परिचित हैं, वह रुपया पैसा, सोना, चाँदी, जमीन जायदाद आदि के रूप में देखी और समझी जाती है । यह स्थूल है, इसका महत्व भी मामूली सा ही है । इसे उलूक वाहिनी चंचलता, माया आदि हेय नामों से भी सम्बोधित किया जाता है । यह नशे के समान मादक और अविवेकी लोगों के लिए उनके अधिक दुर्गुणी होने के कारण भी मानी जाती है। इसलिये महापुरुष इसे त्याज्य भी बताते हैं, आत्म कल्याण के तीव्र आकांक्षी इसे त्याग देते हैं और साधारण लोगों को भी इसका सीमित संचय करने एवं अपरिग्रही स्वभाव बनाने का आदेश है। पर आदि लक्ष्मी गायत्री उन २६ संपदाओं की जननी है जिनका वर्णन गीता के सोलहवें अध्याय के आरम्भिक तीन श्लोकों में किया गया है । इन्हें प्राप्त करने वाला विपुल रत्न राशि के भण्डार का स्वामी बनने की अपेक्षा अधिक उन्नतिशील, सुखी तथा सन्तुष्ट देखा जाता है । दैवी सम्पदाएँ जो आत्मा के लिए आध्यात्मिक रत्नजटित आभूषणों के समान शोभनीय है, गायत्री के द्वारा ही प्राप्त होते हैं ।

आदिशक्ति

संसार में अगणित शक्तियाँ अपने-अपने क्षेत्रों में काम कर रही हैं और उनके अपने-अपने महत्व भी हैं, पर इन शक्तियों का मूल उद्गम उस आदि शक्ति में है जिसे गायत्री कहा जाता है । सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्म की अन्तःस्फुरणा के रूप में यही प्रादुर्भूत हुई, पीछे सूर्य की सहस्रों किरणों के समान पानी के सहस्रों बुद्बुदों के समान और भी अगणित शक्तियाँ आवश्यकतानुसार समय-समय पर उत्पन्न और विकसित होती गईं । जैसे विश्व का आदि मूल परमेश्वर है, जीवों का मूल उद्गम ब्रह्म है उसी प्रकार विश्व की समस्त शक्तियों का उद्गम गायत्री है । इसी से उसे आदि शक्ति कहा जाता है ।

आदित्य परिसेविता

प्राण शक्ति के केन्द्र हमारे इस नव ग्रह वाले सूर्य के मध्य में प्राण केन्द्र गायत्री का उल्लेख पहले हो चुका है । विश्व ब्रह्माण्ड में ऐसे-ऐसे अगणित सूर्य हैं । जैसे हमारे सूर्य में प्राण शक्ति प्रधान है वैसे ही अन्य सूर्यों में अन्यान्य प्रकार के तत्व प्रधान हैं कुछ सूर्य ऐसे हैं जो प्राण नहीं वरन् रेडियो तरंग प्रवाह प्रस्फुटित करते हैं और उसी के माध्यम से आज मनुष्य विभिन्न ग्रहों से संपर्क स्थापित करने की कोशिश कर रहा है । ईथर से जितना रेडियो तरंग प्रवाह इस पृथ्वी पर है वह किन्हीं सूर्य से इसी प्रकार आ रहा है जैसे इस सूर्य में गर्मी और रोशनी आदि हैं । विभिन्न सूर्यों से ऐसे-ऐसे विभिन्न प्रकार के असंख्य शक्ति तत्व हैं उन सबके उद्भव तथा पोषण का केन्द्र वह महान् सूर्य है जिसका संकेत गायत्री के प्रथम और द्वितीय शब्द 'तत् सवितु' वह सूर्य में किया गया है । यह साधारण सूर्य नहीं गायत्री रूपी वह सूर्य है जिससे सभी ब्रह्माण्ड के समस्त सूर्य शक्ति प्राप्त करते हैं जो सभी आदित्यों द्वारा परिसेवित है ।

आचार्य वर्तनाचारा

आचार्यों के बर्तने योग्य आचार वाली व्यवस्था गायत्री में अभिप्रेत है । सर्व साधारण को अपने विचारों और कार्यों को किस ढाँचे में ढालना चाहिए इसका विस्तृत विवेचन गायत्री गीता और गायत्री स्मृति में हुआ है । इसे मानव जाति का सार्वभौम धर्म शास्त्र कह सकते हैं । इस विधि व्यवस्था का जो जितना पालन करता वह उतने अंशों में धर्मात्मा एवं कर्तव्य परायण कहा जा सकता है । जिसने अपने आचरणों को, आचार विचार को, इसी व्यवस्था के ढाँचे में भली प्रकार ढाल लिया है—जिसने मानवता के सभी आवश्यक गुणों और कर्तव्यों को अपने व्यावहारिक जीवन में उतार लिया है वही 'आचार्य' कहलाता है । अमुक परीक्षा उत्तीर्ण या अमुक विद्यालय के संचालक को आज की व्यावहारिक

भाषा में आचार्य कहा जाता है पर वस्तुत: आचार्य वही है जिसने गायत्री गीता एवं गायत्री स्मृति में बताये हुए आचरण को अपनाया है ।

आग्नेयी

गायत्री को अग्नि स्वरूपा कहा गया है । अग्नि होत्र-यज्ञ के द्वारा वह प्रतिष्ठित, पूजित एवं परितुष्ट होती है । जिसके अन्तरात्मा में प्रवेश करती है उसे समुचित उष्णता, प्रतिभा, स्फूर्ति, तेजस्विता प्रदान करती है । जैसे अग्नि में पड़ने वाली प्रत्येक वस्तु उसी के जैसे गुण और रूप की बन जाती है उसी प्रकार गायत्री रूप अग्नि में प्रवेश करने वाला साधक भी उस आदि शक्ति की विशेषताओं से भर जाता है । अग्नि जैसे कूड़े करकट को जला देती है वैसे ही साधक के मल आवरणों को, पाप तापों को, कुविचार-कुसंस्कारों को गायत्री रूपी अग्नि भी जला डालती है । अग्नि प्रकाशवान है, साधक के अन्त:करण में भी अज्ञानान्धकार को समाप्त करने वाला प्रकाश उत्पन्न होता है । तांत्रिक विधान के अनुसार गायत्री मंत्र से अभिचारात्मक 'आग्नेयास्त्र' भी बन सकता है, जो प्रचण्ड गोला बारूद के ढेर से भी अधिक दाहक एवं नाशक शक्ति से भरपूर होता है ।

आसनस्थिता

एक स्थान पर निष्ठा पूर्वक बैठने को, मनको जगह-जगह न डुला कर एक ही लक्ष्य पर चित्त केन्द्रित करने को आसन कहते हैं । गायत्री शक्ति का अवतरण उन्हीं मन: क्षेत्रों में होना संभव है जो सांसारिक 'कामनाओं और मानसिक उद्वेगों एवं आवेशों से चंचल नहीं रहते वरन् शान्ति, स्थिरता, निष्ठा, सन्तोष और प्रसन्नता को धारण कर एकात्मतापूर्वक आत्मोन्नति की दिशा में प्रयत्नशील रहते हैं। गायत्री आसन स्थिता इसलिए कही गई है कि उसका अनुग्रह चंचल, अस्थिर मति के लोगों को नहीं वरन् उन लोगों को प्राप्त होता है जो स्थान, भावना लक्ष्य और आकांक्षा की दृष्टि से स्थिर हैं एवं दीर्घकाल तक धैर्य के साथ प्रेम पूर्वक साधना संलग्न रहते हैं ।

अंतरध्वांन्तिनाशिनी

संसार के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक क्षेत्रों में अनेक ध्वान्तियाँ और भ्राँतियाँ फैली हुई हैं । इसके कारण आये दिन नानाविधि अनाचार और संघर्ष होते रहे हैं । इन्हीं के कारण लोग दिगभ्रान्त होकर अपने लिए हितकर सरल मार्ग को भूल जाते हैं और उलटी दिशा में चल कर उत्थान के स्थान पर पतन का और सुख के स्थान पर दुख का वरण करते हैं । जैसे संसार में अनेक ध्वान्तियाँ और भ्रान्तियाँ हैं वैसे ही मनुष्य के अंतकरण में भी जीवनोद्देश्य के संबन्ध में भारी अंधकार एवं भ्रम भरा होता है । लोग न तो जीवन के सही पक्ष को समझ पाते हैं और न उसको प्राप्त करने में संलग्न होते हैं । इस आन्तरिक विपन्नता को गायत्री दूर करती है । अन्धकार को हटा कर प्रकाश उत्पन्न करना तथा उलझनों को सही रूप से सुलझाना गायत्री शक्ति का प्रधान कार्य है ।

इष्टदा

इष्टदा अर्थात् अभीष्ट वस्तुओं को प्रदान करने वाली। कामनाओं और उनकी पूर्ति के बीच में जितना अन्तर है उतना ही दु:ख इस मनुष्य जीवन में समझना चाहिये । जिसकी कामनाएँ तृप्त हैं उसे ही सुखी माना जा सकता है। आकांक्षा और परिस्थिति का ताल मेल मिलता रहे, दोनों साथ साथ रहें तो सदा प्रसन्नता एवं आनन्द की दशा बनी रहेगी । इस स्थिति को जीवन में बनाये रखने में गायत्री बहुत ही सहायक होती है। जो कामनाएँ अपने प्रारब्ध, पराक्रम, योग्यता एवं परिस्थिति के अनुकूल हैं उनकी पूर्ति के लिए साधन जुट जाते हैं और जो आकांक्षाएँ अपनी सीमा और औकात से बाहर की हैं या शीघ्र ही पूर्ण होने वाली नहीं हैं, तो उनके सम्बन्ध में सन्तोष उत्पन्न हो जाता है । इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्नति के लिये प्रयत्न और पुरुषार्थ करने की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है, वरन् यह है कि अपनी शक्ति, कल्पना के महल खड़े करने और उनकी पूर्ति न होने पर दुखी होने में नष्ट करने की अपेक्षा वर्तमान से पूर्ण सन्तुष्ट और उत्तम भविष्य के लिए प्रयत्नशील रहने में हमारा मन लगता है । ऐसी मनोभूमि के लोग उन्नति भी करते हैं और सुखी तथा सन्तुष्ट भी रहते हैं । उनकी इष्ट कामना पूर्ण ही रहती है।

इन्दुरूपिणी

इन्दु रूपिणी—चन्द्रमा के समान रूप वाली । चन्द्रमा को शान्ति और शीतलता का, प्रेम और सौन्दर्य का देवता माना गया है । इसकी ज्योत्स्ना भी इन्हीं गुणों वाली है । गायत्री में भी ऐसी ही विशेषता है । जिस प्रकार शरद पूर्णिमा की चांदनी सारी पृथ्वी पर अमृत छिड़क देती है उसी प्रकार गायत्री की पुण्यमयी किरणों के लिए जिस साधक ने अपने अन्तर्द्वार खोल दिए हैं उसमें भी सर्वत्र ऐसा ही अमृत छिड़का मिलता है । चन्द्र चकोर की प्रीति प्रसिद्ध है, आत्मा भी जिस प्रीति की प्यासी है वह दिव्य प्रेम धारा गायत्री के द्वारा ही उसे प्राप्त होती है। समस्त मन्त्र नक्षत्रों के बीच गायत्री चन्द्रमा के समान अपनी सर्वश्रेष्ठता के साथ सुशोभित है ।

इषुसंधानकरणी

इषु कहते हैं धनुष-बाण को । उसका सन्धान करने वाली गायत्री की चोट बड़े से बड़े धनुष बाण से भी अधिक होती है। जैसे लक्ष्य बेधी बाण अपने लक्ष्य पर अचूक निशाने की तरह लगते हैं और जिस पर चोट करते हैं उसे भूमिसात बना देते हैं, इसी प्रकार गायत्री शक्ति का प्रयोग भी जिस लक्ष्य के लिये किया जाता है वह निष्फल नहीं जाता । लौकिक एवं पारलौकिक प्रयोजनों में जिन्होंने गायत्री का आधार ग्रहण किया है उन्हें कभी असफलता का मुँह नहीं देखना पड़ा ।

प्राचीन काल में जो आग्नेयास्त्र, वरुणास्त्र, पाशुपत अस्त्र, सम्मोहनास्त्र आदि अस्त्र-शस्त्र युद्धों में प्रयुक्त होते थे उनमें मन्त्र शक्ति का ही प्रधान आधार रहता था । ब्रह्मदण्ड-ब्रह्मास्त्र आदि अस्त्र युद्ध में तो नहीं वरन् ब्राह्मणत्व की, ब्रह्मयज्ञों की रक्षा के लिये काम आते थे, इन्हीं पर ब्रह्मतेज आधारित था । परशुराम के कन्धे पर जो फरसा रहता था जिससे उन्होंने २१ बार समस्त संसार को दिग्विजय किया था, वह यही गायत्री शक्ति सम्भव ब्रह्मदण्ड था । गायत्री को इस प्रकार शस्त्रास्त्र के रूप में भी प्रयुक्त किया जा सकता है ।

इड़ापिंगलारूपिणी

ब्रह्मरंध्र से लेकर कुण्डलिनी तक, सहस्रार कमल से लेकर मूलाधार तक ब्रह्मनाड़ी में होकर दो विद्युत शक्ति प्रवाह निरन्तर बहते रहते हैं । इसमें से एक ऋण (नेगेटिव) है दूसरी धन (पौजेटिव) है । इन्हें सूर्य शक्ति और चन्द्र शक्ति भी कहते हैं । योग की भाषा में इनका नाम इड़ा और पिंगला है। यह दांये-बांये नासिका स्वरों के साथ प्रवाहित होती हैं । जैसे बिजली से चलने वाले सारे यन्त्र दो प्रकार के ठण्डे और गरम तारों के मिलन पर ही अपनी सक्रियता बनाये रखने में समर्थ होते हैं, उसी प्रकार मनुष्य का शारीरिक और मानसिक संस्थान भी इन दोनों इड़ा पिंगला नाड़ियों पर अवस्थित है । यह दोनों प्रवाह गायत्री के ही लोम विलोम रूप हैं । इसलिए उसे इड़ा पिंगला रूपिणी कहा गया है।

ईश्वरी देवी

ईश्वर को यों भाषा की दृष्टि से पुल्लिंग माना जाता है, पर वस्तुतः वह लिंग भेद से बाहर है, उसे न नर कहा जा सकता है न नारी । विद्युत, वाष्प, अग्नि, सर्दी, गर्मी आदि को भाषा की दृष्टि से किसी लिंग में गिन लिया जाय पर उन्हें तात्विक दृष्टि से देखा जाय तो नर-नारी की कसौटी पर कसकर किसी भी पक्ष का घोषित नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वे स्त्री-पुरुष दोनों के लक्षणों में रहते हैं । ईश्वर के संबंध में भी यही बात है । उसे भक्त अपनी भावना के अनुसार "त्वमेव माता च पिता त्वमेव" माता, पिता जो चाहे सो कह सकता है। इस प्रकार ईश्वर को पुल्लिंग बोधक शब्द में सम्बोधन न करके यदि ईश्वरी इस स्त्रीलिंग सूचक शब्द में कहा जाय तो इससे कुछ भी दोष नहीं आता ।

जिस प्रकार सूर्य और उसकी तेजस्विता एक ही वस्तु है, अलग लगने पर भी वस्तुतः एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार ईश्वर की दिव्य शक्ति चेतना एवं सक्रियता जिसे गायत्री के नाम से पुकारते हैं किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है । इसी से उसे ईश्वरी देवी कहते हैं ।

ऊषा

जिस प्रकार प्रभात काल होने पर ब्रह्म मुहूर्त में पूर्व दिशा में ऊषा का उदय होता है—पौ फटती है—हल्का-हल्का लाल पीला प्रकाश फैलकर सूर्य के उदय होने की पूर्व सूचना देता है तथा प्राणिमात्र में जगने-उठने और चलने की प्रेरणा प्रदान करता है, उसी प्रकार मानव अन्तःकरणों में छाई हुई सघन अज्ञान अन्धकार की निशा को समाप्त करने के लिए गायत्री शक्ति ऊषा के रूप में उदय होती है । जिसके भीतर यह उदयन शुरू हुआ नहीं, कि उसे अपने अन्दर परमात्मा की दिव्य किरणें काम करती हुई परिलक्षित होती हैं । आत्म कल्याण के लिए सजगता पूर्वक कटिबद्ध होने की किसी दैवी प्रेरणा का अनुभव उसे वैसे ही होता है, जैसे ऊषा उदय होने पर चिड़ियों तक को अनुभव होता है और वे अनायास ही प्रभु का नाम लेकर चहचहाने लगती हैं एवं घोंसले की सीमा में बैठी न रहकर अनन्त आकाश में उड़ने का आनन्द लेने को कटिबद्ध हो जाती हैं । आध्यात्मिक ऊषा—गायत्री भी—साधक के मनःस्तर में ऐसी ही ज्योति, प्रेरणा, स्फूर्ति तथा तत्परता उत्पन्न करती है ।

उडुप्रभा

उडुप्रभा—नक्षत्रों की रोशनी । तारागणों की रोशनी देखने में छोटी और तनिक सी मालूम देती है पर वैज्ञानिक यंत्रों से देखने पर पता चलता है कि यह जितनी मालूम होती है वस्तुतः उससे असंख्यों गुनी अधिक है । "अल्फा सैंटोरो" जो हमसे सबसे निकट तारा है, पृथ्वी से इतनी दूर है कि इसके प्रकाश को हम तक आने में ८ वर्ष लगते हैं जबकि प्रकाश एक सैकिण्ड में १८५०००० मील चलता है। जो तारे हमें जरा से दीखते हैं उनमें से हजारों ऐसे हैं

जो पृथ्वी तो बेचारी क्या चीज—सूर्य से भी हजारों गुने बड़े हैं जबकि हमारा सूर्य ही हमारी इस पृथ्वी से ढाई लाख गुना बड़ा है ।

तात्पर्य यह है कि तारे तथा उनकी रोशनी दीखती जरूर नन्हें से हैं पर वस्तुतः वे इतने बड़े हैं कि उनके विस्तार की कल्पना मात्र से शिर चकराने लगता है । गायत्री के सम्बन्ध में भी यही बात है । उसे थोड़े से अक्षरों का एक जरा सा मन्त्र कहा जा सकता है पर वस्तुतः उसकी महत्ता हमारी कल्पना शक्ति की सामर्थ्य से बहुत अधिक बड़ी है ।

ऊर्ध्वकेशी

अर्थात् जिसके बाल ऊपर को हों । यहाँ बालों से मतलब उन बालों से नहीं है जो सिर पर दीखते हैं और जिन्हें काढ़ा सँभाला जाता है । वरन् मस्तिष्क से निकलने वाली उन किरणों से आशय है जो विचार-प्रवाह के रूप में, सूक्ष्म विद्युत तरङ्गों के रूप में निकलती रहती हैं । गायत्री से प्रभावित मस्तिष्क सदा ही ऊर्ध्वगामी विचार करता है । ऊपर की ओर, उच्च उद्देश्यों की ओर उसकी गति रहती है, नीच, पतनकारी, अधोगामी प्रवृत्ति पर अंकुश लगता है और वह प्रवाह कुमार्ग की ओर न जाकर सन्मार्ग की दिशा में ही प्रवाहित रहता है । गायत्री अपने साधक को ऊर्ध्वगामी बनाती है और वह उच्चता की ओर दिन-दिन बढ़ते हुए अन्ततः ऊर्ध्व लोकों को ही प्राप्त कर लेता है ।

ऊर्ध्वाधोगतिभेदिनी

आत्म विकास की दिशा में बढ़ता हुआ साधक प्रारम्भ में सतोगुण की ओर, स्वर्गीय आनन्दों की ओर बढ़ता है। पर जब उच्च भूमिका में पहुंचता है तो त्रिगुणातीत हो जाता है । उसकी स्थिति परमहंस गति में, स्थितप्रज्ञता में, निर्विकल्प समाधि में हो जाती है । अधोगति से तो वह पहले ही छूट चुका था, इस उच्च स्थिति पर पहुँच कर वह सतोगुण जन्य स्वर्गादि सुख से भी विमुख हो जाता है और ब्रह्मानन्द से परमानन्द में लीन होकर अविचल शान्ति का अधिकारी बनता है । इसी पूर्णावस्था तक पहुंचा देने वाली होने के कारण, समस्त शुभ-अशुभ भव-बन्धनों से मुक्त कर देने के कारण गायत्री ऊर्ध्वागति भेदिनी—अर्थात् ऊँची-नीची गतियों को समाप्त कर देने वाली कही जाती है ।

ऋषिदेव नमस्कृता

ऋषियों और देवताओं द्वारा अभिनन्दित गायत्री ही है। मनुष्य को ऋषि बना देने की क्षमता गायत्री में है । उसके पाशविक कुसंस्कार समाप्त होकर धर्म कर्तव्यों के अनुरूप विचार आचरणों की प्रधानता हो जाती है तो वह ऋषि कहलाने लगता है । ऋषि का गौरव प्राप्त कर लेना मनुष्य के लिए चक्रवर्ती शासक या कुबेर के कोष का अधिपति बन जाने से भी बढ़कर अधिक महत्वपूर्ण है । जब यह गौरवास्पद स्थिति प्राप्त होती है तो वह ऋषि इस उत्थान के मूल कारण गायत्री के लिये अत्यन्त कृतज्ञता पूर्वक नतमस्तक होता है। ऋषि से अगली पदवी-देवता की है। दिव्य गुणों, दिव्य स्वभावों, दिव्य आचरणों के कारणों के बढ़ाते-बढ़ाते वह ऋषि ही आगे चलकर, अमर होकर देवता बन जाता है, तब भी उसे यही अनुभूति होती है। इस उच्च स्थिति पर पहुंचने के लिये गायत्री रूपी सीढ़ी ही सर्व प्रधान उसकी सहायिका रही है । उसके प्रति उसका मन निरन्तर शतशः प्रणाम करता रहता है । इन्हीं कारणों से गायत्री को 'ऋषि देव नमस्कृता' कहा जाता है ।

ऋणहर्त्री

संसार में ऋण को सबसे बड़ा शत्रु कहा जाता है । इससे चिन्ता, अपमान आदि की जो विपन्न स्थिति पैदा होती है वह शारीरिक कष्टों से भी अधिक दुख देती है। इसका कारण कभी-कभी तो आकस्मिक आपत्ति एवं आवश्यकता भी होती है पर अधिकतर खर्चीला स्वभाव और किन्हीं विशेष अवसरों पर उत्साह में आकर अपनी परिस्थिति से अधिक खर्च कर डालना होता है । गायत्री उपासना में मनुष्य को यह सद्बुद्धि प्राप्त होती है कि वह अपनी आमदनी और मर्यादा से अधिक खर्च नहीं करता चाहे उसे इसमें कष्ट ही क्यों न उठाना पड़े ऐसे लोग एक तो ऋण-ग्रस्त होते ही नहीं । यदि हो भी जायँ तो आवश्यक खर्चों से कमी करके उऋण होने का प्रयत्न करते हैं । सन्मार्गगामी साधक पर सदय होकर कभी-कभी माता ऐसा अनुग्रह भी करती है कि ऋण मुक्त होने के कोई आकस्मिक सुयोग सामने आ जावें । धार्मिक दृष्टि से देवऋण, ऋषिऋण, पितृऋण यह तीन ऋण प्रत्येक व्यक्ति पर होते हैं और इन्हें चुका कर ही वह भव-बन्धनों से छूट सकता है । माता उसे ऐसी प्रेरणा और आकांक्षा प्रदान करती है कि सतकर्मों द्वारा वह इन तीनों ऋणों को चुकाता हुआ मानव-जीवन का उद्देश्य पूर्ण करता है। इन्हीं कारणों से गायत्री को ऋण हर्त्री कहते हैं ।

ऋषि-मण्डल-चारिणी

वस्तुतः गायत्री ऋषि मण्डल में निवास करने वाली ही है । दुष्ट, दुराचारी, वासना तृष्णा में उलझे हुए, अधोगामी

प्रवृत्तियों के गुलाम न तो गायत्री की उपयोगिता जानते हैं, न मानते हैं, न उसको जीवन में धारण करने का प्रयत्न करते हैं । उनके लिए वह व्यर्थ की वस्तु है । हीरे का मूल्य घसियारा भला क्या समझ पावेगा, उसकी परख तो जौहरी ही कर सकते हैं । जिनमें विवेक की समुचित मात्रा है वे ही गायत्री का महत्व जानते हैं और उससे लाभ उठाने के लिए प्राणपण से प्रयत्न करते हैं । ऋषियों के समाज से ही गायत्री का आचरण होता देखा गया है इसी से वह ऋषिमण्डल चारिणी है।

ऋजुमार्गस्था

कल्याण के मार्ग में अवस्थित गायत्री ही है । ऋजु, आत्मकल्याण को कहते हैं, वह बिना किसी सुनिश्चित साधना मार्ग पर चले उपलब्ध नहीं हो सकता। उच्च विचार और उज्ज्वल चरित्र रखते हुए ऋजु मार्ग के पथिक को साधना संलग्न भी होना पड़ता है । यों अनेकों साधनाऐं प्रचलित हैं, सन्तों ने अपनी अपनी सूझ-बूझ के अनुसार अनेकों साधन मार्ग तथा सम्प्रदाय चला रखे हैं, वे विभिन्न दिशाओं की ओर खींचते हैं और परस्पर भारी मतभेद से भी भरे हुए हैं। इन औधे सीधे मार्गों में से किन्हीं पर भटकते रहने से अनेकों व्यक्ति अपना बहुमूल्य समय भी बर्बाद करते हैं । साधना का सर्वश्रेष्ठ वेदोक्त वही मार्ग है जिसको अब तक प्रत्येक ऋषि और तत्वदर्शी ने अपनाया है । अनादि काल से लेकर आज तक के शास्त्रवेत्ता एवं विज्ञ व्यक्तियों के द्वारा गायत्री उपासना का ही अवलम्बन स्वीकार किया जाता रहा है, उसे ही निर्भ्रान्त माना गया है। ऋजु मार्ग की सीधी सड़क को गायत्री ही कहते हैं ।

ऐहकामुष्मिप्रदा

पारलौकिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए तो गायत्री की उपयोगिता निर्विवाद है ही, इहलौकिक कामनाओं की पूर्ति में भी वह कम सहायक सिद्ध नहीं होती । यों तो वह अनुचित और असंबद्ध कामनाओं को शान्त कर देती है या फिर ऐसा सुझाव देती है जिस पर चलकर मनुष्य अपनी अभीष्ट कामनाओं को प्राप्त करने के साधन जुटा सके। दोनों में से कोई मार्ग क्यों न निकले इतना अवश्य होता है कि साधक का मन कामना-सन्तप्त नहीं रहता उसे किसी न किसी प्रकार मानसिक शांति का द्वार अवश्य मिल जाता है ।

ओतप्रोत निवासिनी

यों मन्दिर देवालयों में, वेदी चौकियों में, प्रतिमाओं तथा चित्रों में, अग्नियों में, वेद मंत्रों एवं भावना सूत्रों से आह्वान करके गायत्री शक्ति को विशेष स्थानों पर स्थापित किया जाता है और वहाँ उसकी पूजा अर्चा भी होती है। उपासना विज्ञान की दृष्टि से यह आवश्यक भी है । पर ऐसा न समझना चाहिए कि वह इसी स्थिति तक सीमित है । या कहीं किसी लोक विशेष के स्थान विशेष में निवास करती है । उसकी सत्ता सर्वत्र समाई हुई है । प्रत्येक पदार्थ में तथा प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण में वह ओतप्रोत है । वह सर्वत्र है, कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ वह न हो । भावना द्वारा उसे कहीं भी प्रकट किया जा सकता है ।

औपसन फलप्रदा

जिस प्रकार वर्षा, धूप आदि बिना बुलाये, बिना आमंत्रित किये चाहे जहाँ जा पहुँचते हैं और माँगने, न माँगने पर भी अपना प्रसाद हर किसी को प्रदान करते हैं वह बात गायत्री में नहीं है । वह केवल उसे ही फल देती है जो उसकी उपासना करता है, साथ ही उपासना के परिमाण के अनुसार फल देती है। बछड़ा जब दूध पीने का उपक्रम करता है तभी उसे गाय दूध पिलाती है, यदि वह न पीना चाहे तो उसे दूध नहीं मिल सकता । फिर जितनी देर, जितनी तीव्र या मन्द गति से वह दूध पीता है उसी मात्रा में उसे उपलब्ध होता है । गाय बछड़े को दूध पिलाना चाहती है, पिलाती भी है पर उसकी मर्यादा उतनी ही होती है जितना बछड़े का प्रयत्न । ठीक यही बात गायत्री के सम्बन्ध में भी है, वह उपासना के अनुपात से ही फल-प्रद है । अनायास हर कोई बिना प्रयत्न के ही लाभ प्राप्त कर सके ऐसी छूट इस साधना में नहीं है ।

कल-कण्ठिनी

मधुर वाणी वाली गायत्री है। ऋग्वेद में जिस मधु विद्या का वर्णन है वह गायत्री में सन्निहित मधुरता ही है । कटुता, कर्कशता, कठोर वचन बोलना निन्दा, चुगली आदि जितने भी वाणी के, कंठ के दोष हैं उन्हें दूर करने में साधक निरन्तर ही प्रयत्नशील रहने लगता है और कुछ ही दिन में अपनी जिह्वा तथा भावना पर ऐसा नियंत्रण स्थापित कर लेता है कि किसी से दुर्वचन न कहे, हर किसी से मधुर और स्नेहयुक्त ही बोले तथा वैसा ही व्यवहार भी करे । कोयल को कल-कण्ठिनी कहते हैं उसकी मधुर वाणी सबको प्रिय होती है, गायत्री उपासना से भी हर किसी को यह कल-कण्ठ प्राप्त होता है । उसका स्वर कैसा ही रहे, स्नेह सौजन्य की समुचित मात्रा वचन में रहने से वह सङ्गीत के समान हर किसी को मधुर लगता है, सभी उसकी इस वचन सज्जनता से प्रभावित होकर उसके प्रति प्रेम और आदर का व्यवहार करते हैं । यही वशीकरण मन्त्र भी है।

कल्याणी

कल्याण की करने वाली। कभी अकल्याण की उलटे प्रतिफल की सम्भावना गायत्री में नहीं है। कई तान्त्रिक कौल मन्त्र ऐसे होते हैं जिनमें उच्चारण या विधान सम्बन्धी कोई दोष रह जाय तो उसका परिणाम उलटा, हानिकारक हो जाता है, लाभ के स्थान पर हानि का, सिद्धि के स्थान पर विपत्ति का सामना करना पड़ता है। यह कठिनाई गायत्री साधना में नहीं है। उसमें कोई भूल या अशुद्धि भी हो जाय तो अधिक से अधिक इतनी हानि हो सकती है कि सत्परिणाम में कमी हो जाय, स्वल्प लाभ हो। पर ऐसी सम्भावना कभी भी नहीं है कि उससे कभी किसी का रंच मात्र भी अनिष्ट हो। वह हर किसी के लिए—बाल, वृद्ध, नर, नारी, गृही, विरक्त के लिए समान रूप से कल्याण कारक है।

कालरूपिणी

काल रूपिणी—अर्थात् समय-साध्य एवं विकराल भी। जैसे समय पर ही वृक्ष बढ़ते एवं फलते हैं, उसी प्रकार गायत्री साधना भी उतावली करने से नहीं, आवश्यक समय व्यतीत होने पर ही फल देती है। नियत समय पर साधना के लिये बैठना, उपासना के लिए जितना समय लगाना निश्चित किया हो उतना नियमित रूप से लगाना, जितने समय में वह सफल होती है उतने समय तक धैर्य पूर्वक प्रतीक्षा करना यह सफलता के लिए आवश्यक शर्त हैं। काल के, समय के आधार पर गायत्री की सफलता निर्भर रहने के कारण उसे काल-रूपिणी कहा गया है। वह विकराल भी है। साधक के भीतरी दोष दुर्गुणों का ऐसे संहार करती है जैसे असुर निकन्दनी दुर्गा ने महिषासुर आदि राक्षसों का किया था। वह साधक के सम्मुख उपस्थित कष्टों, विघ्नों एवं अनिष्टों को भी काल-रूपिणी बन कर मटियामेट करती है। उस विकरालता के सामने कोई अशुभ अनिष्ट ठहर नहीं सकता।

कामचारप्रभंजिनी

पराई नारी या पराये पुरुष के प्रति अनुचित आकर्षण होना या अपनी धर्मपत्नी के प्रति भी रमणी भाव होना, विषय विकार की ओर अमर्यादित ध्यान जाना कामचार है। इससे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य नष्ट होता है। पारिवारिक, अनुवंशिक और सामाजिक व्यवस्था बिगड़ती है। इन्हीं कारणों से उसे हेय माना गया है। इतना सब जानते हुए भी लोग मनोविकारों से ग्रसित होकर उसी तरफ झुकते हैं और अपना सत्यानाश करते हैं। इस कामचार की हानिकारक प्रवृत्ति को गायत्री माता घटाती है। विकार शान्त होते हैं। गायत्री माता के चित्र के प्रति पवित्र और पूज्यभाव रखते-रखते साधक नारी मात्र के प्रति वैसी ही मातृबुद्धि रखने लगता है। काम सेवन की व्यर्थता और हानियों को वह अच्छी तरह समझता है और उस ओर से घृणा भाव जागृत करके इस कुमार्ग से विमुख होता जाता है।

कौशिकी

गायत्री मंत्र का देवता सविता और ऋषि विश्वामित्र हैं। विश्वामित्र ने अत्यन्त कठोर तप करके गायत्री का तत्व दर्शन किया था इसलिए वे ही इसके दृष्टा कहलाये। विश्वामित्र जी के द्वारा ही उसका महत्व उद्घोषित हुआ और उन्होंने उसका विश्वव्यापी प्रचार किया। इसलिए गाायत्री को विश्वामित्र प्राण प्रिय होने के कारण कौशिकी भी कहते हैं। कौशिक विश्वामित्र जी का ही दूसरा नाम है। विश्वामित्र के पास गायत्री की प्रचण्ड शक्ति का अतुलित भंडार था इसलिए इस शक्ति को उसके संगठन कर्ता के नाम से भी पुकारते हैं।

कान्ति

तेजस्विता, प्रतिभा, आत्मविश्वास, दृढ़ता, निर्भयता आदि गुणों को कान्ति कहते हैं। यों चेहरे की चमक तो कई व्यक्तियों को जन्मजात भी होती है और उसे तेल मालिस आदि उपचारों से पैदा कर लेते हैं, पर यह तो बनावटी और अस्थायी है। सच्ची कान्ति चेहरे पर नहीं नेत्रों में चमकती है। मनुष्यता के गुणों और कर्तव्यों के प्रति अटूट आस्था और निष्ठा के आधार पर मनुष्य की कर्मठता एवं दृढ़ता चमकती है वही सच्ची कान्ति है। गायत्री उपासक रंग रूप में कुरूप है तो भी उसमें यह कांति प्रवाह पर्याप्त मात्रा में रहता है।

कौमारी

ब्रह्मचर्य की तेजस्विता और ही होती है, उसी में सतोगुण का भंडार छिपा रहता है। यों नारी में धर्म तत्व और सतोगुण पुरुष की अपेक्षा स्वभावतः ही बहुत अधिक होते हैं, कुमारी अवस्था में ब्रह्मचारिणी कन्याओं में तो वह हिलोरें ही लेते रहते हैं। जिस प्रकार गीता के सातवें अध्याय में विशिष्ट महत्वपूर्ण वस्तुओं की विशेषता को अपनी विभूति बताया है उसी प्रकार गायत्री की स्वाभाविक विभूति का संसार में दर्शन करना हो तो वह कुमारी कन्याओं में किया जा सकता है। गायत्री अनुष्ठान आदि की पूर्णाहुति में कन्याओं को भोजन कराया जाता है। कन्याभोज, ब्रह्मभोज से किसी भी प्रकार कम महत्व का

नहीं है। गायत्री कुमारी शक्ति है। ब्रह्मचर्य उसकी प्राप्ति के लिए आवश्यक नियम है।

कुण्डनिलया

गायत्री का युग्म यज्ञ है। गायत्री को माता और यज्ञ को पिता माना गया है। यज्ञकुण्ड में गायत्री का निवास बताया जाना ठीक ही है। क्योंकि जिस प्रकार छोटी-सी आवाज को लाउडस्पीकर यंत्र द्वारा सैकड़ों गुनी बढ़ा देते हैं और जिस आवाज को पास बैठे सौ पचास आदमी ही मुश्किल से सुन सकते थे उसे लाखों आदमी सुनते हैं इसी प्रकार गायत्री शक्ति की प्रचण्डता यज्ञ के माध्यम से हजारों गुनी हो जाती है। यही कारण है कि प्रत्येक गायत्री अनुष्ठान के अन्त में हवन करना आवश्यक माना जाता है।

कमण्डलु धारा

गायत्री के चित्रों में, मूर्तियों में उसे कमण्डलु धारिणी बताया है। कमण्डलु का जल शान्ति का, स्नेह का, सद्भाव का, वात्सल्य का प्रतीक है। गायत्री माता के एक हाथ में यह दिव्य अमृत भरा है। उसकी गोदी में चढ़कर पयपान करने का प्रयत्न करने वाले उपासक को यह कमण्डलु में भरा अमृत पीने का अवसर सहज ही प्राप्त हो जाता है।

कर्म निर्मूलकारिणी

बन्धन रूप कर्म वे होते हैं जो कामना, वासना, स्वार्थ एवं अहंकार की पूर्ति के लिए किए जाते हैं। जो कर्म अनासक्त भाव से कर्तव्य समझ कर किये जाते हैं वे साधारण प्रकार के दीखते हुए भी पुण्य परमार्थ स्वरूप बन जाते हैं। ऐसे कर्म बन्धन कारक नहीं होते। गीता में यह कर्मयोग विस्तारपूर्वक समझाया गया है। इस तत्व ज्ञान को गायत्री माता अपने उपासक के अन्तःकरण में बहुत गहराई तक प्रवेश करा देती है। उसके जीवन में ही उतार देती है जिससे उसके किये हुए कर्म के बन्धनकारी परिणाम निर्मूल हो जाते हैं।

काम दुधा

स्वर्ग में देवताओं के पास एक कामधेनु है जो अमृतमय दूध देती है साथ ही समस्त कामनाएँ भी पूर्ण कर देती है। इस पृथ्वी पर भी एक कामदुधा-कामधेनु है जिसे गायत्री कहते हैं। यह अपनी सेवा करने वाले को अगणित सद्गुणों का, सत्कर्म और सत् स्वभावों का अमृतमय दूध पिलाती है जिसे पीकर आत्मा अनन्तकाल तक तृप्ति अनुभव करता रहता है। यह कामधेनु जहाँ है वहाँ अपूर्ण कामनाओं का कोलाहल दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। कामनाएँ या तो समाप्त हो जाती हैं, या फिर जो कुछ मङ्गलमयी आकांक्षाएें शेष रहती हैं उनके पूर्ण होने का सुयोग बन जाता है।

खड्ग

खड्ग अर्थात् तलवार। हिंसक हत्यारे दुष्ट दानवों की दुरभिसंधि को दूर करने के लिए जैसे लपलपाती खड्ग ही अचूक ओषधि है, उसी से उनका मद मर्दन होता है, उसी प्रकार गायत्री रूपी तलवार भी जीवन प्रगति में बाधक विघ्न-बाधाओं एवं तापों पर ऐसा आक्रमण करती है कि उनके भयावने स्वरूप को चूर-चूर ही होना पड़ता है। गायत्री उपासक बड़ी से बड़ी बाधाओं को पार करता हुआ अपने उच्च लक्ष को पूर्ण करने में सफल होता है।

खेटकरी

खेटकरी अर्थात् शिकार करने वाली। जिस प्रकार कोई विवेकशील शिकारी सिंह, व्याघ्र, अजगर, मगर आदि त्रासदायक बुरे जीवों का आखेट कर उनके भय से संत्रस्त लोगों को अभय दान करते हैं उसी प्रकार गायत्री भी संसार में फैले हुए हानिकारक, पतनकारी, आसुरी तत्वों को वैसे ही साफ करती रहती है जैसे किसान अपने खेत में उगे हुए झाड़-झंकाड़ों को काटता उखाड़ता रहता है। जहाँ गायत्री देवी आखेट करती हुई विचरती है वहाँ संतापदायक तत्व फलते-फूलते नहीं, उनका उन्मूलन ही होता रहता है।

खेचरी

बन्ध एवं मुद्रायें योग साधना में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। मस्तक के मध्य बिन्दु त्रिकुटी में एक आध्यात्मिक अमृत कलश रहता है। जिह्वा को उलट कर तालु मूल में लगाने और अन्य नियमों के साथ उस अमृत कलश का बिन्दुपान करने की विधि खेचरी मुद्रा कहलाती है। इसका विस्तृत विधान योग ग्रंथों में मौजूद है तथा अनुभवी गुरुओं से सीखा जा सकता है। २४ मुद्राओं में खेचरी को अधिक फलप्रद माना गया है, वह गायत्री स्वरूप ही है। गायत्री साधक प्रायः उसे ही करते हैं।

खलघ्नी

खलों को, दुष्टों को मारने वाली। भगवान् के अवतार का उद्देश्य 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' है। इसी प्रकार भगवती गायत्री भी दुष्कृतों-खलों-का शमन करती है। साधक को अपने भीतरी और बाहरी क्षेत्रों में अनेक खलों से नित्य ही काम पड़ता है, इनके निराकरण में गायत्री माता का सहारा लिया जा सकता है। इन खलों को निर्मलों में बदल देना असन्तों को सन्त बना देना इस महाशक्ति का प्रधान कार्य है।

गंगा

जैसे भौतिक जगत में अनेक पाप तापों को हरण करने वाली, हरितमा, शीतलता शान्ति और सम्पत्ति बढ़ाने वाली गङ्गा है, उसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र की भी एक गङ्गा है जिसे गायत्री कहते हैं । शिवजी की जटाओं से लेकर गङ्गासागर तक जिस प्रकार वह पुण्य नदी बहती है उसी प्रकार मस्तिष्क के मध्य बिंदु ब्रह्मरंध्र से निकल कर मेरुदण्ड में अवस्थित ब्रह्म नाड़ी में होती हुई यह मूलाधार तक जाती है और वहाँ कुण्डलिनी रूप बनकर विराजती है । इड़ा पिंगला के माध्यम से यह गंगा प्रवाह निरन्तर ज्वार-भाटे की तरह हिलोरें लेता रहता है । इस दृश्य वाली गङ्गा में स्नान करने पर भव सागर से तरना संदिग्ध हो सकता है पर आध्यात्मिक गङ्गा गायत्री में अभिमंजन करने से परम श्रेय का अधिकारी बन जाना निश्चित ही है ।

गोमयी

गो माता के सहित ही गायत्री है । हिंदू धर्म की चार शक्तियाँ गौ, गङ्गा, गीता और गायत्री मानी गई हैं। नदियों में जिस प्रकार गङ्गा की तुलना गायत्री से की जाती है उसी प्रकार पशुओं में गौ माता भी गायत्री रूप है । गायत्री उपासक के लिए गौ दुग्ध का सेवन, गौमूत्र से स्नान, गोमय से लिपे हुए घर में निवास, गोघृत से हवन तथा गौचारण (गौओं का चराना) साधना में सफलता प्रदान करने वाला है । गायत्री शक्ति गोमयी है। गाय के शरीर में ओत-प्रोत है । गौ पालन, गौ सेवा भी गायत्री उपासना का ही एक अंग है ।

गीता

श्रीमद्भगवद् गीता के १८ अध्यायों में जो ज्ञान भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को दिया है उसे गायत्री के ९ शब्दों का ही विस्तार कह सकते हैं । एक-एक शब्द की व्याख्या दो-दो अध्यायों में की गई है । गीता के ज्ञान में मानव जीवन को उच्च कोटि का सात्विक, कर्तव्य परायण एवं अनासक्त बनाने की शिक्षा दी गई है यही शिक्षण गायत्री के २४ अक्षरों में भी है । गायत्री गीता और गायत्री स्मृति प्रकरण पढ़ने पर स्पष्ट हो जाता है कि जो ज्ञान इन अक्षरों में है उसी को भगवान ने और अधिक स्पष्ट और विस्तृत रूप में अर्जुन को बताया है। गीता को भी गायत्री की व्याख्या ही मानना चाहिये ।

गुणत्रिय विभाविता

गायत्री सत, रज, तम तीनों गुणों से परिपूर्ण हैं । जिस प्रकार वात, पित्त, कफ तीनों तत्व शरीर में सन्तुलित रहने पर ही स्वास्थ्य ठीक रहता है उसी प्रकार सत, रज और तम तीनों ही तत्व मन: क्षेत्र में आवश्यक मात्रा में उपस्थित रहें तभी उसका काम ठीक प्रकार चलता है । गायत्री की इन तीनों विशेषताओं को तीन देवियों के रूप में चित्रित किया गया है। सतोगुण की प्रतीक सरस्वती, रजोगुण की प्रतिमा लक्ष्मी, तमोगुण की प्रतिनिधि काली । इन तीनों को बुद्धि, सम्पत्ति और शक्ति इन तीन नामों से भी पुकारते हैं। सतोगुण को जीवन में प्रधान माना जा सकता है, पर शरीर निर्वाह के लिए अन्न, वस्त्र, मकान आदि के रूप से रजोगुण और अपनी या दूसरे की दुष्टता के प्रति क्रोध, उससे संघर्ष के रूप में तमोगुण भी आवश्यक है । गायत्री के तीन अक्षर इन तीनों गुणों के प्रतिनिधि हैं । वह साधक को आवश्यक मात्रा में इन तीनों को ही प्रदान करती रहती हैं । इसलिए गायत्री को 'गुणत्रिय विभाविता' कहा गया है ।

गुणवती

आकाश गङ्गा एक निहीरिका मात्र नहीं है वरन् उसमें हजारों तारे भी जुड़े हुए हैं उसी प्रकार गायत्री केवल सद्‌बुद्धि दायिनी मन्त्रशक्ति-मात्र नहीं है वरन् उसके साथ हजारों सद्‌गुण समन्वित हैं । जब गङ्गा दिखाई देती है तो उससे सम्बन्धित तारे भी दृष्टिगोचर होते हैं, जिधर वह आकाश गङ्गा घूमती है उधर ही उसके तारे भी चलते हैं। इसी प्रकार जहाँ गायत्री का उदय होता है वहाँ उससे सम्बन्धित अनेकों सद्‌गुण भी अपने आप प्रकट होने लगते हैं । उपासक को माता का अनुग्रह अनेक दिव्य गुणों के रूप में प्राप्त होता है । उसके मन, वचन और कर्म में एक से एक बढ़कर श्रेष्ठताएँ जब उदय होती हैं तो जीवन तारागणों से विहँसित निशा की तरह झिलमिलाने लगता है ।

गुर्वी

गुर्वी कहते हैं भारी को । गायत्री को एक साधारण-सी चीज नहीं मानना चाहिए, उसकी गुरुता इतनी बड़ी है कि संसार के सारे भौतिक पदार्थों को भी उसकी तुलना में तुच्छ माना जा सकता है । जिस क्षेत्र में भी गायत्री की शक्ति का चमत्कार देखा जाय वह अद्भुत और अद्वितीय दिखाई पड़ेगा । क्या लौकिक क्या पारलौकिक दोनों ही दिशाओं में, शारीरिक बौद्धिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक सभी समस्याओं को सुलझाने में गायत्री एक बहुत बड़ी—नितान्त असाधारण सिद्ध होती है। इसलिए उसकी गुरुता को जितना भी अधिक माना जाय कम ही रहेगा वह वस्तुत: गुर्वी है ।

गुह्या

गुह्या अर्थात् गुप्त—छिपी हुई। यों गायत्री के २४ अक्षर प्रकट हैं, सबको मालूम हैं, पुस्तकों में छपे हैं फिर भी उसका सारा कलेवर छिपा हुआ है। कुछ पुस्तकों में उसका थोड़ा-सा विज्ञान प्रकट भी किया गया है पर अभी तक जितना अप्रकट है, जितना गुप्त है, जितना रहस्यमय है उसका अनुमान लगा सकना भी साधारण व्यक्ति के लिए कठिन है। उसके सामान्य विधान जो सर्व साधारण के लिए उपयोगी हैं जहाँ-तहाँ पुस्तकों में लिखे हैं, पर जो असाधारण तत्व ज्ञान एवं महत्वपूर्ण रहस्य हैं वह अप्रकट ही रखा गया है। उस ज्ञान और रहस्य को केवल अधिकारी व्यक्ति ही सदुपयोग के लिए उपलब्ध कर सकें इसलिए उन बातों को गुप्त ही रखा गया है। अनुभवी मार्गदर्शक किन्हीं सत्पात्रों की प्रतीक्षा करते रहते हैं और जब कभी ऐसे जिज्ञासु मिल जाते हैं वे अपने अनुभव में आये हुए रहस्यों को बड़ी प्रसन्नता पूर्वक बता देते हैं। पर अनाधिकारी यदि उन्हें प्राप्त करलें तो जल्दबाजी, अस्थिरमति और अशुद्ध भावनाओं के कारण या तो साधना काल में ही अपना कुछ अनिष्ट कर बैठते हैं या फिर सफल भी हुए तो दूसरों को आश्चर्य चकित करने का एक खेल बनाने में या सांसारिक कामनाओं में दुरुपयोग करते हैं। ऐसे लोगों के हाथ यह विद्या, विशेषतया गायत्री का तांत्रिक पक्ष पड़ने न पावे इसका बहुत ध्यान रखा गया है। गायत्री गुह्या-तिगुह्य है। उसे अब तक के साधकों ने जितना जाना है प्रयत्न करने पर उससे भी बहुत अधिक जाना जा सकता है।

गर्वापहारिणी

गर्व का अपहरण करने वाली, घमंड एवं अहंकार को नष्ट करने वाली शक्ति गायत्री है। धन, विद्या, सत्ता, रूप, प्रभुता आदि वस्तुओं को प्राप्त करके मनुष्य इतराने लगता है, अपने को दूसरों से बड़ा समझता है और अन्यों को छोटा समझ कर उनसे हेय व्यवहार करता है। यह मानसिक स्थिति मनुष्य के उथले, असंस्कृत, उद्धत एवं तुच्छ होने का चिह्न है। इस स्थिति के कारण मनुष्य आत्मिक दृष्टि से दिन-दिन अधिक पतनोन्मुख होता जाता है। उसके व्यवहार से लोगों में क्षोभ एवं रोष फैलता है सो अलग। घमण्डी आदमी एक प्रकार का असुर है जो अनेकों सद्गुणों से हाथ धो बैठता है। इसलिये गर्व का दूर किया जाना, चूर किया जाना आवश्यक है। गायत्री या तो ऐसी सद्बुद्धि देती है कि गर्व गलकर सज्जनता में परिणित हो जाय या फिर ऐसी विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न करती है जिनकी ठोकर से गर्व चूर हो जाय। तात्पर्य यह है कि साधक का ही नहीं, दूसरे अन्य उद्धत व्यक्तियों का भी वह गर्व चूर करती रहती हैं।

घोषा

घोष अर्थात् शब्द ! घोषा अर्थात् शब्द स्वरूप। शब्द को श्रुतियों में ब्रह्म माना गया है। 'शब्दो वै ब्रह्म।' शब्द की शक्ति अपार है। अखिल आकाश में व्याप्त ईथर तत्व में गायत्री मन्त्र की स्फुट या अस्फुट उच्चारण से जो तरंगें उत्पन्न होती हैं वे विश्व के मानव मस्तिष्कों से टकराकर उनमें भी अपनी प्रतिध्वनि उत्पन्न करती हैं। जिस प्रकार उत्तम प्रवचन सुनते रहने से सुनने वालों में मस्तिष्कों में थोड़ी बहुत सद्वृत्ति बढ़ती है, उसी प्रकार गायत्री मंत्र का जप या उच्चारण करने से उनकी परम मङ्गल मयी तरंगे उठकर अगणित मस्तिष्कों में सूक्ष्म पर्दों तक टकराने लगती हैं। फलस्वरूप उनके मस्तिष्कों में भी किन्हीं अंशों में धार्मिकता का उदय होता है। इस प्रकार गायत्री का जप एक प्रकार से विश्व की महत्वपूर्ण मानसिक सेवा है। मंत्रोचारण से उत्पन्न ध्वनि तरंगें अपने अन्तराल में छिपे हुए अनेक सूक्ष्म चक्रों एवं उपत्यिकाओं को भी जाग्रत करती हैं। शब्द विज्ञान के आधार पर गायत्री मंत्र जाप आत्म जागरण का एक श्रेष्ठ साधन है।

चतुर्भुजी

चार भुजाओं वाली। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष यह चार भुजाएँ गायत्री की हैं। चारों वेद भी गायत्री की चार भुजाएँ हैं। चारों दिशाओं में यह चार भुजाएँ फैली हुई हैं। इनमें से एक भी वरदहस्त यदि साधक के मस्तक पर पड़ जाय तो वह उसी सम्पदा का अधिकारी होकर धन्य बन जाता है। जिसके ऊपर माता के चारों हाथों से स्नेह सिंचन हो जाता है वह जीवनमुक्त ही है उसे समस्त दैवी ऐश्वर्यों का अधिपति ही मानना चाहिये।

चातुरी

चातुरी चतुरता, बुद्धिमत्ता। यों तो लोगों में जेब काटने से लेकर ठगने तक की, धन कमाने से लेकर मिटाने तक की अनेक प्रकार की कला-कुशलताएँ होती हैं, पर सच्ची चतुरता यह है जिसके आधार पर कोई व्यक्ति मानव-जीवन का, नरतन धारण के सौभाग्य का समुचित लाभ उठा सके। गायत्री उपासक में वह चातुरी होती है। वह व्यर्थ के खेल खिलौनों में बच्चों की तरह न उलझ कर अपनी आत्मा का कल्याण करता है, अपने परलोक को बनाता है। जिसने इस दिशा में जितनी सफलता प्राप्त करली उसे उतना ही बड़ा चतुर कहा जा सकता है, उसी की चातुरी सराहनीय है। गायत्री में यह सच्ची चतुरता ओत-प्रोत है।

चरित्र प्रदा

चरित्र को, आचरण को प्रशंसा योग्य बनाने में गायत्री माता बड़ा योग देती है । दुराचार से मन हटता है और सदाचार में प्रवृत्ति होती है। माता का अनुग्रह जिसे प्राप्त होगा वह चरित्र का धनी बनता जायगा । पराई बहिन, बेटी को अपनी बहिन-बेटी से बढ़कर मानना, पराये पैसे को ठीकरी के समान समझना, दूसरों के सुख-दुःख में अपने सुख दुख की अनुभूति करना यह तीन विशेषताएँ उसके चरित्र में अधिकाधिक बढ़ती जाती हैं । आचार और विचार दोनों से मिलकर चरित्र बनता है । मातृभक्त न तो अशुद्ध विचार करता है और न दुष्कर्मों की ओर कदम बढ़ाता है ।

ऊपर गायत्री माता के गुणों और उनकी उपासना से विकसित होने वाले गुणों का संक्षिप्त विवरण दिया है । ऐसे-ऐसे हजारों गुण और शक्तियाँ उनमें सन्निहित हैं । उन्हें चन्द्रमाश्चन्दनप्रिया, छत्रधरा, जिद्रोपद्रव भेदनी, जातवेदा जितेन्द्रिया, जितक्रोधा, जगताजरा, ज्वरघ्नी, जितविष्टापा, झिझिक, जल्लकी वाद्यकुशला, त्रिभुजा, टक भेदिनी, टकनीयमहोरसा, ठठशब्दनिनादिनी, डामरी, डिराडी, रवसहा, ढक्काहस्ता, ढिलव्रजा, नित्यश्राना, निरुपमा, त्रिगुणा, त्रिपदा तरुणातरु, तुरीयपद गामिनी, तुहिनातुरा, तनुमध्या, त्रिविष्टपा, तित्तरी, तरुणाकृति, तप्तकाँचनभूषणा, त्रिकालदायिनी, तृप्तिदा, दोहनी, दीनवत्सला, देवयानी, दिग्वासा, दण्डिनी, देवपूर्ति, धात्री, धर्मचारिणी, धर्मशीला, धृतधन्या, धूमकेशी, नन्द-प्रिया, नित्यशुद्धा, निरंजना नीलग्रीवा, परमोद्धारा, परतेज, पावनी, पवनाशिनी, प्रज्ञावती, पयस्विनी, पृथुजवा, पिंगाक्षी, प्रणवागति, पुण्यभद्रा, पाटली, पर्णाश फलदा, फलकाकृति, बाल-बला, बहुमता बाल भानुप्रभाकारा, बीजरूपिणी, बहुविक्रमा, बिन्दुदर्पण भृगुलता, भार्गवी, भुवनेश्वरी, भूतधात्री, भीमा, भागधेयनी महादेवी, मधुट्रता, मधुमासा, मन्दारी मुद्रा, मलया, माधवी, मात्रका, मिपिराभासा, मुग्धा, मृदाक्षी, वाजुषी, यंत्ररूपिणी, यातुधान भयंकरी, रोहिणी, रोकेशीरत्नमालिका, ललिता तुन्तविषा, लोजधारिणी, वाराही, विरजा, वर्षा, शोभा, शुभाशया, शुभ्रा, श्रीमती, षडभाषा, सर्वज्ञा, सीमसहिता, सद्गुणा, हिरण्य वर्णा, हंसवाहिनी, क्षौम-वस्त्रा क्षमा आदि नाम और विषयों से भी पुकारते और पूजते हैं । इन नामों में जहाँ उनके गुणों का बोध कराया जाता है वहाँ उनसे मिलने वाले शारीरिक, मानसिक, औद्योगिक, आर्थिक, सामाजिक, लौकिक, पारलौकिक सुख-सम्पदाओं का ज्ञान विज्ञान भी हुआ है ।

गायत्री उपासक इन कर्मों को उपासना काल से जानने लगते हैं । यदि कोई न भी बतावे तो भी नैतिक उपासक इन गुणों, शक्तियों और वरदानों से स्वयमेव लाभान्वित होता चला जाता है । जिनकी श्रद्धा, निष्ठा अधिक प्रगाढ़ नहीं होती वे प्रारम्भ में उतने लाभ प्राप्त नहीं करते तो भी गायत्री मन्त्र की विलक्षणता यही है कि उपासक की श्रद्धा भी दिनों-दिन स्वयमेव प्रगाढ़ होती जाती है और वह उपरोक्त गुणों को भगवती गायत्री में यथार्थ सार्थक हुआ पाता है।

❑❑❑

गायत्री की २४ शिक्षाएँ

ॐ भू र्भुवः स्वः
भूर्भुवः स्वस्त्रयो लोका व्याप्तमोम्ब्रह्म तेषु हि ।
स एव तथ्यतो ज्ञानी यस्तद्वेत्ति विचक्षणः ॥ १ ॥

भूः, भुवः और स्वः ये तीन लोक हैं, इन तीनों लोकों में ओऽम् ब्रह्म व्याप्त है । जो बुद्धिमान उस ब्रह्म को जानता है, वह ही वास्तव में ज्ञानी है ।

परमात्मा का वैदिक नाम 'ॐ' है । ब्रह्म की स्फुरणा का सूक्ष्म प्रकृति पर निरन्तर आघात होता रहता है। इन्हीं आघातों के कारण सृष्टि में गतिशीलता उत्पन्न होती रहती है । काँसे के बर्तन पर जैसे हथौड़ी की हलकी चोट मारी जाय तो वह बहुत देर तक झनझनाता रहता है, इसी प्रकार ब्रह्म और प्रकृति के मिलन-स्पन्दन स्थल पर ॐ की झङ्कार होती रहती है। इसलिए यही परमात्मा का स्वयं घोषित नाम माना गया है ।

यह ॐ तीनों लोकों में व्याप्त है । भूः पृथ्वी, भुवः पाताल, स्वः स्वर्ग यह तीनों ही लोक परमात्मा से परिपूर्ण हैं । भूः शरीर, भुवः संसार, स्वः आत्मा यह तीनों ही परमात्मा के क्रीड़ा-स्थल हैं । इन सभी स्थलों को, निखिल विश्व ब्रह्माण्ड को भगवान का विराट् रूप समझकर वही आध्यात्मिक उच्च भूमिका प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए, जो गीता के ११ वें अध्याय में भगवान ने अर्जुन को अपना विराट् रूप दिखाकर प्राप्त कराई थी । परमात्मा को सर्वत्र, सर्वव्यापक, सर्वेश्वर, सर्वात्मा देखने वाला मनुष्य माया, मोह, ममता, संकीर्णता, अनुदारता, कुविचार एवं कुकर्मों की अग्नि में झुलसने से बच जाता है और हर घड़ी परमात्मा के दर्शन करने के परमानन्द सुख में निमग्न रहता है। ॐ भूः भुवः स्वः का तत्व ज्ञान समझ लेने वाला ब्रह्मज्ञानी एक प्रकार से जीवन-मुक्त ही हो जाता है।

तत्-तत्वज्ञास्तु विद्वान्सो ब्राह्मणः स्वतपश्चयैः ।
अन्धकारमपाकुर्यु र्लोकादज्ञानसम्भवम् ॥ २ ॥

तत्वदर्शी विद्वान् ब्राह्मण अपने एकत्रित तप के द्वारा संसार से अज्ञान से उत्पन्न अन्धकार को दूर करें ।

ब्राह्मण वे हैं जो तत्व को, वास्तविकता को, परिणाम को देखते हैं, जिन्होंने अपनी पढ़ाई को भाषा, साहित्य, शिल्प-कला, विज्ञान आदि की पेट भरू शिक्षा तक ही सीमित न रखकर जीवन का उद्देश्य, आनन्द और साफल्य प्राप्त करने की 'विद्या' भी सीखी है । शिक्षित तो गली-कूँचों में मक्खी-मच्छरों की तरह भरेपड़े हैं, पर विद्वान कोई विरले ही होते हैं । जो विद्वान हैं, वे ही ब्राह्मण हैं ।

भगवान ने जिन्हें तत्वदर्शी और विद्वान बनने की सुविधा एवं प्रेरणा दी है, उन ब्राह्मणों को अपनी जिम्मेदारी अनुभव करनी चाहिए, क्योंकि वे सबसे बड़े धनी हैं । लोग व्यर्थ ही ऐसा सोचते हैं कि धन की अधिकता ही सुख का कारण है । सच बात यह है कि बिना सद्ज्ञान के कोई मनुष्य सुख-शान्ति का जीवन नहीं बिता सकता, चाहे वह करोड़ों करोड़ रुपयों का स्वामी क्यों न हो । भारतवासी सद्ज्ञान का महत्व आदि काल से समझते आये हैं, इसीलिए यहाँ सद्ज्ञान के, ब्रह्मज्ञान के धनी ब्राह्मणों की मान प्रतिष्ठा सबसे अधिक होती रहती है । आज इस गये बीते जमाने में भी उसकी चिह्न पूजा किसी न किसी रूप में ब्राह्मणों के अनाधिकारी वंशजों तक को प्राप्त हो जाती है।

ब्राह्मणत्व विश्व का सबसे बड़ा धन है । रत्नों का भंडार बढ़िया, कीमती, मजबूत तिजोरी में रखा जाता है। जो शरीर तपः पूत है तपस्या की, संयम की, तितीक्षा की, त्याग की अग्नि में तपा-तपाकर जिस तिजोरी को भली प्रकार मजबूती से गढ़ा गया है, उसी में ब्राह्मणत्व रहेगा और ठहरेगा । जो असंयमी, भोगी, स्वार्थी, तप-विहीन हैं, वे शास्त्रों की तोता-रटन्त भले ही करते रहें पर उस बकवाद के अतिरिक्त अपने में ब्राह्मणत्व को भली प्रकार सुरक्षित एवं स्थिर रखने में समर्थ नहीं हो सकते । इसलिए ब्राह्मण को, सद्ज्ञान के धनी को अपने को तपः पूत बनाना चाहिए । तप और ब्राह्मणत्व के सम्मिश्रण से ही सोना सुगन्ध की उक्ति चरितार्थ होती है ।

ब्राह्मण को भूसुर कहा जाता है । भूसुर का अर्थ है पृथ्वी का देवता । देवता वह है जो दे । ब्राह्मण संसार के सर्वश्रेष्ठ धन का, सद्ज्ञान का धनपति होता है । वह देखता है कि जो धन उसके पास अटूट भंडारों में भरा हुआ है, उसी के अभाव के कारण सारी जनता दुख पा रही है । अज्ञान से, अविद्या से बढ़कर दुखों का कारण और कोई नहीं । जैसे भूख से छटपटाते हुए, करुण-क्रन्दन करते हुए मनुष्यों को देखकर सहृदय धनी व्यक्ति उन्हें कुछ दान दिए बिना नहीं रह सकते, उसी प्रकार अविद्या के अन्धकार में

भटकते हुए जन-समूह को सच्चा ब्राह्मण अपनी सद्ज्ञान सम्पदा से लाभ पहुँचाता है। यह कर्तव्य आवश्यक एवं अनिवार्य है। यह ब्राह्मण की स्वाभाविक जिम्मेदारी है।

गायत्री का प्रथम शब्द 'तत्' ब्राह्मणत्व की इस महान् जिम्मेदारी की ओर संकेत करता है। जिसकी आत्मा जितने अंशों में तत्वदर्शी, विद्वान और तपस्वी है, वह उतने ही अंश में ब्राह्मण है। यह ब्राह्मणत्व जिस वर्ण, कुल, वंश के मनुष्य में निवास करता है, उसी का यह कर्तव्य-धर्म है कि अज्ञान से उत्पन्न अन्धकार को दूर करने के लिए जो कुछ कर सकता हो, अवश्य करता रहे।

स—सत्तावन्तस्तथा शूराः क्षत्रिय लोक रक्षकाः।
अन्यायाशक्तिसम्भूतान ध्वंसयेयुहि आपदः॥ २॥

सत्तावान् वीर संसार के रक्षक क्षत्रिय अन्याय और अशक्ति से उत्पन्न होने वाली आपत्तियों को नष्ट करें।

जन-बल, शरीर-बल, बुद्धि-बल, सत्ता-शक्ति, पद, शासन, गौरव, बड़प्पन, सङ्गठन, तेज, पुरुषार्थ, चातुर्य, साधन, साहस, शौर्य यह क्षत्रियत्व के लक्षण हैं। जिनके पास इन वस्तुओं में से जितनी अधिक मात्रा है, उतने ही अंशों में उसका क्षत्रियत्व बढ़ा हुआ है।

देखा गया है कि यह क्षत्रियत्व जब अनाधिकारियों के हाथ में पहुँच जाता है तो इससे उन्हें अहङ्कार और मद बढ़ जाता है। अहङ्कार को बड़प्पन समझकर वे उसकी रक्षा के लिए अनेक प्रकार के अनावश्यक खर्च और आडम्बर बढ़ाते हैं। उसकी पूर्ति के लिए अधिक धन की आवश्यकता पड़ती है, जिसे वे अनीति, अन्याय, शोषण, अपहरण आदि द्वारा पूरा करते हैं, दूसरों को सताने में अपना पराक्रम समझते हैं। व्यसनों की अधिकता होती जाती है और इन्द्रिय लिप्सा में प्रवृत्ति बढ़ती है। ऐसी दशा में वह क्षत्रियत्व उस व्यक्ति की आत्मा को ऊँचा उठाने और तेजस्वी महापुरुष बनाने की अपेक्षा अहङ्कारी, दम्भी, अत्याचारी, व्यसनी और दुराचारी बना देता है। ऐसे दुरुपयोग से बचना ही उचित है।

गायत्री का 'स' अक्षर कहता है कि हे सत्तावानो! तुम्हें सत्ता इसलिए दी गई है कि शोषितों और निर्बलों को हाथ पकड़ कर ऊँचा उठाओ, उनकी सहायता करो और जो दुष्ट उन्हें निर्बल समझकर सताने का साहस करते हैं उन्हें अपनी शक्ति से परास्त करो। बुराइयों से लड़ने और अच्छाइयों को बढ़ाने के लिए ही ईश्वर शक्ति देता है उसका उपयोग इसी दिशा में होना चाहिए।

वि—विशक्त्या तु कर्त्तव्या उचिताभाव पूर्त्तयः।
न तु शक्त्यानया कार्यं दर्पौद्धत्य प्रदर्शनम्॥ ३॥

धन की शक्ति द्वारा तो उचित अभावों की पूर्ति करनी चाहिए। उस शक्ति द्वारा घमण्ड और उद्धतता का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए।

विद्या और सत्ता की भाँति धन भी एक महत्वपूर्ण शक्ति है। इसका उपार्जन इसलिए आवश्यक है कि अपने तथा दूसरों के उचित अभावों की पूर्ति की जा सके। शरीर, मन, बुद्धि तथा आत्मा के विकास के लिए और सांसारिक उत्तरदायित्वों की पूर्ति के लिए धन का उपयोग होना चाहिए और इसीलिये उसे कमाया जाना चाहिए।

पर कई व्यक्ति प्रचुर मात्रा में धन जमा करने में अपनी प्रतिष्ठा अनुभव करते हैं। अधिक धन का स्वामी होना उनकी दृष्टि में कोई "बहुत बड़ी बात" होती है। अधिक कीमती सामान का उपयोग करना, अधिक अपव्यय, अधिक भोग, अधिक विलास इन्हें जीवन की सफलता के चिह्न मालूम पड़ते हैं। इसलिए जैसे भी बने वैसे धन कमाने की उनकी तृष्णा प्रबल रहती है। इसके लिए वे धर्म-अधर्म का, उचित-अनुचित का विचार करना भी छोड़ देते हैं। धन में उनकी इतनी तन्मयता होती है कि स्वास्थ्य, मनोरंजन, स्वाध्याय, आत्मोन्नति, लोक-सेवा, ईश्वराराधन आदि सभी उपयोगी दिशाओं से वे मुँह मोड़ लेते हैं। धन-पतियों को एक प्रकार का नशा-सा चढ़ा रहता है, जिससे उनकी सद्बुद्धि, दूरदर्शिता और सत्-असत् परीक्षणी प्रज्ञा कुण्ठित हो जाती है। धनोपार्जन की यह दशा निन्दनीय है।

धन कमाना आवश्यक है इसलिए कि उससे हमारी वास्तविक आवश्यकताऐं उचित सीमा तक पूरी हो सकें। इसी दृष्टि से प्रयत्न और परिश्रमपूर्वक लोग धन कमावें, गायत्री का वि अक्षर वित्त के धन के सम्बन्ध में यही संकेत करता है।

तु—तुषाराणां प्रपातेऽपि धर्म आत्मनः।
महिमा च प्रतिष्ठा च प्रोक्तोऽपारः श्रमस्यहि॥ ४॥

तुषारापात में भी प्रयत्न करना आत्मा का धर्म है। श्रम की महिमा और प्रतिष्ठा अपार है ऐसा कहा गया है।

मनुष्य जीवन में विपत्तियाँ, कठिनाइयाँ, विपरीत परिस्थितियाँ, हानियाँ और कष्ट की घड़ियाँ भी आती ही रहती हैं। जैसे रात और दिन समय के दो पहलू हैं वैसे ही सम्पदा और विपदा, सुख और दुःख भी जीवन रथ के दो पहिये हैं। दोनों के लिए ही मनुष्य को धैर्यपूर्वक तैयार रहना चाहिए। न विपत्ति में छाती पीटे और न सम्पत्ति में इतरा कर तिरछा चलें।

कठिन समय में मनुष्य के चार साथी हैं—(१) विवेक, (२) धैर्य, (३) साहस, (४) प्रयत्न। इन चारों

को मजबूती से पकड़े रहने पर बुरे दिन धीरे-धीरे निकल जाते हैं और वे जाते समय अनेक अनुभवों, गुणों, योग्यताओं तथा शक्तियों का उपहार दे जाते हैं। चाकू पत्थर पर घिसे जाने पर तेज होता है, सोना अग्नि में पड़कर खरा सिद्ध होता है, मनुष्य कठिनाइयों में पड़कर इतनी शिक्षा प्राप्त करता है जितनी कि दस गुरु मिलकर भी नहीं सिखा सकते। इसलिए कष्ट से डरना नहीं चाहिए वरन् उपरोक्त चार साधनों द्वारा संघर्ष करके उसे परास्त करना चाहिए।

परिश्रम, प्रयत्न, कर्तव्य यह मनुष्य के गौरव और वैभव को बढ़ाने वाले हैं। आलसी, भाग्यवादी, कर्महीन, संघर्ष से डरने वाले, अव्यवहारिक मनुष्य प्रायः सदा ही असफल होते रहते हैं। जो कठिनाइयों पर विजयी होना और आनन्दमय जीवन का स्वादन करना चाहते हैं, उन्हें गायत्री रस का 'तु' शब्द उपदेश करता है कि प्रयत्न करो, परिश्रम करो, कर्तव्य पथ पर बहादुरी से डटे रहो, क्योंकि पुरुषार्थ की महिमा अपार है। 'पुरुष कहाने का अधिकारी वही है जो पुरुषार्थी है।'

व—वद नारीं बिना कोऽन्यो निर्माता मनुसन्ततेः।
सहत्वं रचनाशक्तेः स्वस्याः नार्या हि ज्ञायताम्॥ ५॥

नारी के बिना मनुष्य को बनाने वाला दूसरा और कौन है। अर्थात् मनुष्य की निर्मात्री नारी ही है। नारी को अपनी रचना शक्ति का महत्व समझना चाहिए।

जन समाज दो भागों में बँटा हुआ है (१) नर (२) नारी। नर की उन्नति, सुविधा एवं सुरक्षा के लिए काफी प्रयत्न किया जाता है परन्तु नारी हर क्षेत्र में पिछड़ी हुई है। फलस्वरूप हमारा आधा समाज, आधा संसार, आधा परिवार, आधा जीवन, पिछड़ा हुआ रह जाता है। जिस रथ का एक पहिया बड़ा, एक छोटा हो, जिस हल में एक बैल बड़ा दूसरा बहुत छोटा जुता हो, उसके द्वारा सन्तोषजनक कार्य नहीं हो सकता। हमारा देश, समाज, समुदाय तब तक सच्चे अर्थों में विकसित नहीं कहा जा सकता जब तक कि नारी को भी नर के समान ही अपनी क्रियाशीलता एवं प्रतिभा प्रकट करने का अवसर प्राप्त न हो।

नारी से ही नर उत्पन्न होता है। बालक का आदि गुरु उसकी माता होती है। पिता के वीर्य की एक बूँद ही निमित्त होती है बाकी बालक के सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग माता के रक्त से ही बनते हैं। उस रक्त में जैसी स्वस्थता, प्रतिभा, विचारधारा होगी उसी के अनुसार बालक का शरीर, मस्तिष्क और स्वभाव बनेगा। नारियाँ यदि अस्वस्थ, अशिक्षित, अविकसित, कूप मंडूक और पिछड़ी हुई रहेंगी तो उनके द्वारा उत्पन्न किये हुए बालक भी इन्हीं दोषों से युक्त होंगे। ऊसर खेत में अच्छी फसल पैदा नहीं हो सकती। अच्छे फलों का बाग लगाना है तो अच्छी भूमि की आवश्यकता होगी।

गायत्री का 'व' शब्द कहता है कि यदि मनुष्य जाति अपनी उन्नति चाहती है तो उसे पहले नारी को शारीरिक, बौद्धिक, सामाजिक, आर्थिक क्षेत्रों में प्रतिभावान, सुविकसित बनाना चाहिए। तभी नर समुदाय में सबलता, सूक्ष्मता, समृद्धि, सद्बुद्धि, सद्गुण और महानता के संस्कारों का विकास हो सकता है। नारी को पिछड़ी रखना अपने पैरों पर आप कुल्हाड़ी मारना है।

रे—रेवेव निर्मला नारी पूजनीया सता सदा।
यतो हि सैव लोकेऽस्मिन् साक्षाल्लक्ष्मी मता बुधैः॥ ६॥

सज्जन पुरुष को हमेशा नर्मदा नदी के समान निर्मल नारी की पूजा करनी चाहिये, क्योंकि विद्वानों ने उसी को इस संसार में साक्षात् लक्ष्मी माना है।

स्त्री लक्ष्मी का अवतार है। जहाँ नारी सुलक्षिणी है, बुद्धिमती है, सहयोगिनी है वहाँ गरीबी होते हुए भी अमीरी का आनन्द बरसता रहता है। धन-दौलत निर्जीव लक्ष्मी है, किन्तु स्त्री लक्ष्मीजी की सजीव प्रतिमा है। उसका यथोचित आदर, सत्कार और पारितोषण होना चाहिए।

जैसे नर्मदा नदी का जल सदा निर्मल रहता है, उसी प्रकार ईश्वर ने नारी को निर्मल अन्तःकरण दिया है। परिस्थिति, दोषों के कारण अथवा दुष्ट सङ्गति से कभी-कभी उसमें विकार पैदा हो जाते हैं, पर इन कारणों को बदल दिया जाय तो नारी हृदय पुनः अपनी शाश्वत निर्मलता पर लौट आता है। स्फटिक मणि को रङ्गीन मकान में रखा जाय या उसके निकट कोई रङ्गीन पदार्थ रख दिया जाय तो वह मणि भी रङ्गीन छाया के कारण रङ्गीन दिखाई पड़ने लगती है। परन्तु पीछे जब उन किरणों को हटा दिया जाय तो वह शुद्ध, निर्मल, शुभ्र मणि ही दिखाई पड़ती है। इसी प्रकार नारी जब बुरी परिस्थितियों में फँसी है तब बुरी दिखाई देती है, उस परिस्थिति का अन्त होते ही वह निर्मल एवं निर्दोष हो जाती है।

वैधव्य, किसी की मृत्यु, घाटा आदि दुर्घटनाऐं घटित होने पर उसे नव आगन्तुक वधू के भाग्य का दोष बनाना नितान्त अनुचित है। ऐसी घटनाऐं होतव्यता के अनुसार होती हैं। नारी तो लक्ष्मी का अवतार होने से सदा ही कल्याणी और मङ्गलमयी है। गायत्री का शब्द 'रे' नारी सम्मान की अभिवृद्धि चाहता है ताकि लोगों को लक्ष्मी का मङ्गलमय वरदान प्राप्त हो।

न्य—न्यस्यन्ते ये नराः प्रादान् प्रकृत्याज्ञानुसारतः ।
स्वस्थाः सन्तस्तु ते नूनं रोगमुक्ता भवन्ति हि ॥ ७ ॥

जो मनुष्य प्रकृति की आज्ञानुसार पैरों को रखते हैं अर्थात् प्रकृति की आज्ञानुसार चलते हैं वे मनुष्य स्वस्थ होते हुए निश्चय ही रोग से मुक्त हो जाते हैं ।

स्वास्थ्य को ठीक रखने और बढ़ाने का राजमार्ग प्रकृति के आदेशानुसार चलना, प्राकृतिक आहार-विहार अपनाना, प्राकृतिक जीवन व्यतीत करना है । अप्राकृतिक, अस्वाभाविक, बनावटी, आडम्बर और विलासिता से भरा हुआ जीवन बिताने से लोग बीमार बनते हैं और अल्पायु में ही काल के ग्रास बन जाते हैं ।

(१) भूख लगने पर, खूब चबाकर, प्रसन्न चित्त से, थोड़ा पेट खाली रखकर भोजन करना, (२) फल, शाक, दूध, दही, छिलके समेत अन्न और दालें जैसे ताजे सात्विक आहार लेना, (३) नशीली चीजें, मिर्च, मसाले, चाट, पकवान, मिठाइयाँ, माँस आदि अभक्षों से बचना । (४) सामर्थ्य के अनुकूल श्रम एवं व्यायाम करना, (५) शरीर, वस्त्रों, मकान और प्रयोजनीय सामान की भली प्रकार सफाई रखना, (६) रात को जल्दी सोना, प्रातःकाल जल्दी उठना, (७) मनोरंजन और देशाटन, निर्दोष, विनोद के लिए पर्याप्त अवसर प्राप्त करते रहना, (८) कामुकता, चटोरपन, अन्याय, बेईमानी, ईर्ष्या, द्वेष, चिन्ता, क्रोध, पाप आदि के कुविचारों से मन को हटाकर सदा प्रसन्नता और सात्विकता के सद्विचारों में रमण करना, (९) स्वच्छ जलवायु का सेवन, (१०) उपवास, एनेमा, फलाहार, जल, मिट्टी आदि प्राकृतिक उपचारों से रोग-मुक्ति का उपाय करना ।

यह दस नियम ऐसे हैं जिन्हें अपनाकर प्राकृतिक जीवन बिताने से खोये हुए स्वास्थ्य को पुनः प्राप्त करना और प्राप्त स्वास्थ्य को सुरक्षित एवं उन्नत बनाना बिल्कुल सरल है । गायत्री का 'न्य' शब्द यही उपदेश करता है ।

भ—भवोद्विग्नमना नैव हृदुद्वेगं परित्यज ।
कुरु सर्वास्ववस्थासु शान्तं सन्तुलितं मनः ॥ ८ ॥

मानसिक उत्तेजना को छोड़ दो । सभी आवश्यकताओं में मन को शांत और संतुलित रखो ।

शरीर में उष्णता की मात्रा अधिक बढ़ जाना 'ज्वर' कहलाता है और वह ज्वर अनेक दुष्परिणामों को पैदा कर सकता है वैसे ही उद्वेग, आवेश, उत्तेजना, मद, आतुरता आदि लक्षण मानसिक ज्वर के हैं । आवेश का अन्धड़ तूफान जिस समय मन में आता है उस समय ज्ञान, विचार, विवेक, सबका लोप हो जाता है और उस सन्निपात से ग्रस्त व्यक्ति अंड-बंड बातें बकता है, न करने लायक अस्त-व्यस्त क्रियाऐं करता है । यह स्थिति मानव जीवन में सर्वथा अवांछनीय है ।

विपत्ति पड़ने पर लोग चिन्ता, शोक, निराशा, भय, घबराहट, क्रोध, कायरता आदि विषादात्मक आवेश से ग्रस्त हो जाते हैं और सम्पत्ति बढ़ने पर अहङ्कार, मद, मत्सर अति हर्ष, अमर्यादा, नास्तिकता, अतिभोग, ईर्ष्या, द्वेष आदि विध्वंसक उत्तेजनाओं में फँस जाते हैं । कई बार लोभ और भोग का आकर्षण उन्हें इतना लुभा लेता है कि वे आँखें रहते हुए भी अन्धे हो जाते हैं । इन तीनों स्थितियों में मनुष्य का होश-हवास दुरुस्त नहीं रहता । देखने में वह स्वस्थ और भला चङ्गा दीखता है पर वस्तुतः उसकी आन्तरिक स्थिति पागलों-बालकों, रोगियों तथा उन्मत्तों जैसी हो जाती है । ऐसी स्थिति मनुष्य के लिए विपत्ति, त्रास, अनिष्ट और अनर्थ के अतिरिक्त और कुछ उत्पन्न नहीं कर सकती ।

इसलिए गायत्री के 'भ' शब्द का सन्देश है कि इन आवेशों और उत्तेजनाओं से बचो । दूरदर्शिता, विवेक, शान्ति, स्थिरता से काम लो । बदली की छाया की तरह रोज घटित होती रहने वाली रङ्ग-बिरङ्गी घटनाओं से अपनी आंतरिक शांति को नष्ट न होने दो । मस्तिष्क को स्वस्थ रखो, चित्त को शांत रहने दो, आवेश की उत्तेजना से नहीं, विवेक और दूरदर्शिता के आधार पर अपनी विचार-धारा और कार्य-प्रणाली को चलाओ ।

गो—गोप्याः स्वीया मनोवृत्तीर्नासहिष्णुनरो भवेत् ।
स्थितिमन्यस्य व वीक्ष्य तदनुरूपमाचरेत् ॥ ९ ॥

अपने मनोभावों को नहीं छिपाना चाहिए । मनुष्य को असहिष्णु नहीं होना चाहिए । दूसरे की स्थिति को देखकर उसके अनुसार आचरण करे ।

अपने मनोभाव और मनोवृत्ति को छिपाना, छल, कपट और पाप है । जैसे भीतर हैं वैसा ही बाहर प्रकट कर दिया जाय तो वह पाप-निवृत्ति का सबसे बड़ा राज-मार्ग है । स्पष्ट कहने वाले, खरी कहने वाले, जैसा पेट में है वैसा मुँह से कहने वाले लोग, चाहे किसी को कितने ही बुरे क्यों न लगें पर वे ईश्वर के आगे, आत्मा के आगे अपराधी नहीं ठहरते । जो आत्मा पर असत्य का आवरण चढ़ाते रहते हैं वे एक प्रकार के आत्म हत्यारे हैं । कोई व्यक्ति यदि अधिक रहस्यवादी हो, अधिक अपराधी कार्य कर्ता हो तो भी वह अपने कुछ ऐसे आत्मीय जनविश्वासी जीव अवश्य

रखना चाहता है, जिनके आगे अपने सब रहस्य प्रकट करके मन हलका कर लिया करे। ऐसे आत्मीय मित्र और गुरुजन हर मनुष्य को नियुक्त कर लेने चाहिए।

प्रत्येक मनुष्य का दृष्टिकोण, विचार, अनुभव, अभ्यास, ज्ञान, स्वार्थ, रुचि एवं संस्कार विभिन्न होते हैं। इसलिए सबका सोचना एक प्रकार का नहीं हो सकता। इस तथ्य को समझते हुए दूसरों के प्रति सहिष्णु होना चाहिए। अपने से किसी भी अंश में मतभेद रखने वाले को मूर्ख, अज्ञानी, दुराग्रही या विरोधी मान लेना उचित नहीं। ऐसी असहिष्णुता झगड़ों की जड़ है। एक दूसरे के दृष्टिकोण के अन्तर को समझते हुए यथा सम्भव समझौते का मार्ग निकालना चाहिए। फिर भी जो मतभेद रह जाय उसे पीछे धीरे-धीरे सुलझते रहने के लिए छोड़ देना चाहिए।

संसार में सभी प्रकृति के मनुष्य हैं। मूर्ख, विद्वान्, रोगी, स्वस्थ, पापी, पुण्यात्मा, कायर, वीर, कटुवादी, नम्र, चोर, ईमानदार, निन्दनीय, आदरास्पद, स्वधर्मी, विधर्मी, दया-पात्र, दण्डनीय, शुष्क, सरस, भोगी, त्यागी आदि परस्पर विरोधी स्थितियों के मनुष्य भरे पड़े हैं। उनकी स्थिति को देखकर तदनुसार उनसे भाषण, व्यवहार, सहयोग करे। उनकी स्थिति के आधार पर ही उनके लिए शक्य सलाह दे। सबसे एक समान व्यवहार नहीं हो सकता और न सब एक मार्ग पर चल सकते हैं। यह सब बातें ''गो'' शब्द हमें सिखाता है।

दे—देयानि स्ववशे पुंसा स्वेन्द्रियाण्यखिलानि वै।
असंयतानि खादन्तीन्द्रियाण्येतानि स्वामिनम्॥ १०॥

मनुष्य को अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ अपने वश में करनी चाहिए। ये असङ्गत इन्द्रियाँ स्वामी को खाती हैं।

इन्द्रियाँ आत्मा के औजार हैं, घोड़े हैं, सेवक हैं। परमात्मा ने इन्हें इसलिए प्रदान किया है कि इनकी सहायता से आत्मा की आवश्यकता पूरी हो और सुख मिले। सभी इन्द्रियाँ बड़ी उपयोगी हैं। सभी का कार्य जीव को उत्कर्ष एवं आनन्द प्रदान करना है। यदि उनका सदुपयोग हो तो क्षण-क्षण पर मानव-जीवन का मधु-रस चखता हुआ, प्राणी अपने भाग्य को सराहता रहेगा।

किसी इन्द्री का भोग पाप नहीं है। सच तो यह है कि अन्तःकरण की विविध क्षुधाओं को, तृषाओं को तृप्त करने का इन्द्रियाँ एक माध्यम है जैसे पेट की भूख-प्यास को न बुझाने से शरीर का सन्तुलन बिगड़ जाता है, वैसे ही सूक्ष्म शरीर की क्षुधाऐं उचित रीति से तृप्त न की जाती रहें तो आन्तरिक क्षेत्र का सन्तुलन बिगड़ जाता है और अनेक मानसिक रोग उठ खड़े होते हैं।

इन्द्रिय भोगों की जगह-जगह निन्दा की जाती है और वासनाओं को दमन करने का उपदेश दिया जाता है। उसका वास्तविक तात्पर्य यह है कि अनियन्त्रित इन्द्रियाँ स्वाभाविक एवं आवश्यक मर्यादा का उल्लङ्घन करके इतनी स्वेच्छाचारी एवं चटोरी हो जाती हैं कि वे स्वास्थ्य और धर्म के लिए सङ्कट उत्पन्न करके भी मनमानी करती हैं। आजकल अधिकांश मनुष्य इसी प्रकार के इन्द्रिय-गुलाम हैं। वे अपनी वासना पर काबू नहीं रख सकते। बेकाबू हुई वासना अपने स्वामी को खा जाती है।

गायत्री का ''दे'' शब्द आत्म-नियन्त्रण का उपदेश देता है। इन्द्रियों पर हमारा काबू हो, वे अपनी मनमानी करके हमें चाहे जब चाहे जिधर को घसीट न सकें, बल्कि हम जब आवश्यकता अनुभव करें तब उचित आन्तरिक भूख बुझाने के लिए उनका प्रयोग कर सकें। यही इन्द्रिय निग्रह है। निग्रहीत इन्द्रियों से बढ़कर मनुष्य का सच्चा मित्र तथा अनियन्त्रित इन्द्रियों से बढ़कर शत्रु और कोई नहीं है।

व—वसतां ना पवित्रः सन् वाह्यतोऽभ्यन्तरस्तथा।
यतः पवित्रतायां हि राजतेऽतिप्रसन्नता॥ ११॥

मनुष्य को बाहर और भीतर सब तरफ से पवित्र होकर रहना चाहिए, क्योंकि पवित्रता में ही प्रसन्नता रहती है।

पवित्रता-अहा! कितना शीतल, शान्तिदायक, चित्त को प्रसन्न और हल्का करने वाला शब्द है। कूड़ा, करकट, मैल, विकार, पाप, गन्दगी, दुर्गन्ध, सड़न, अव्यवस्था, घिचपिच को झाड़-बुहार कर स्वच्छता, सफाई, पवित्रता स्थापित करली जाती है तो पहली और पीछे की स्थिति में कितना भारी अन्तर हो जाता है?

मलीनता अन्ध तामसिकता की प्रतीक है। आलस्य और दारिद्रय, पाप और पतन जहाँ रहते हैं वहाँ मलीनता या गन्दगी का निवास होता है। जो इस प्रकृति के हैं उनके वस्त्र, घर, सामान, शरीर, मन सब में गन्दगी और अस्तव्यस्तता भरी रहती है। इसके विपरीत जहाँ चैतन्यता, जागरूकता, सुरुचि, सात्विकता होगी वहाँ सबसे पहले स्वच्छता की ओर ध्यान जायगा। सफाई, सादगी, सजावट, व्यवस्था का नाम ही पवित्रता है।

मलीनता से घृणा होनी चाहिए पर उसे हटाने या उठाने में रुचि होनी चाहिए। जो गन्दगी को छूने या उसे उठाने-हटाने से हिचकिचाते हैं वे सफाई नहीं रख सकते। मन में, शरीर में, वस्त्रों में, सामान में हर घड़ी गन्दगी पैदा होती है। निरन्तर टूट-फूट एवं जीर्णता के लक्षण प्रकट होते रहते

हैं । यदि बार-बार जल्दी-जल्दी उस मलीनता का परिशोधन न किया जाय, टूट फूट का जीर्णोद्धार न किया जाय, तो गन्दगी बढ़ती जायगी और सफाई चाहने की इच्छा केवल एक कल्पनामात्र बनी रह जायगी ।

गायत्री का 'व' शब्द स्वच्छता का सन्देश देता है । स्वच्छ शरीर, स्वच्छ वस्त्र, स्वच्छ निवास, स्वच्छ सामान, स्वच्छ जीविका, स्वच्छ विचार, स्वच्छ व्यवहार जिसमें इस प्रकार की स्वच्छताऐं निवास करती हैं, वह पवित्रात्मा मनुष्य निष्पाप जीवन व्यतीत करता हुआ पुण्य गति को प्राप्त करता है ।

स्य—स्यन्दनं परमार्थस्य परार्थो हि बुधैर्मतः ।
योऽन्यान् सुखयते विद्वान् तस्य दुःखं विनश्यति ॥ १२ ॥

दूसरे का प्रयोजन सिद्ध करना परमार्थ का रथ है, ऐसा बुद्धिमानों ने कहा है। जो विचारवान् दूसरे लोगों को सुख देता है, उसका दु:ख नष्ट हो जाता है ।

लोक व्यवहार के तीन मार्ग हैं-(१) अर्थ-जिसमें दोनों पक्ष समान रूप से आदान-प्रदान करते हैं, इसे व्यापार, नौकरी, कीमत-विनिमय आदि कहा जाता है, (२) स्वार्थ-दूसरों को हानि पहुँचाकर अपना लाभ करना, (३) परमार्थ-अपनी हानि करके भी दूसरों को लाभ पहुँचाना। स्वार्थ में चोरी, ठगी, अपहरण, शोषण, बेईमानी आदि आते हैं । परमार्थ, दान, सेवा, सहायता, शिक्षा आदि कार्यों को कहा जाता है ।

अर्थ (जीविका) हमारा नित्य कर्म है । उसके बिना जीवन यात्रा भी नहीं चल सकती । आहार, निद्रा, भोजन, मल-त्याग आदि के समान स्वाभाविक होने के कारण उसका विधि निषेध कुछ नहीं है। वह तो हर एक को करना ही होता है। स्वार्थ त्याज्य है, निन्दनीय है, पाप-मूलक है, उससे यथा सम्भव बचते ही रहना चाहिए। परमार्थ-धर्म-कार्य है, इससे अपने को त्याग का, उदारता का, लोक-हित का अभ्यास बढ़ता है और आत्म-कल्याण का धर्म-मार्ग प्रशस्त होता है तथा उससे दूसरों का लाभ होने से वह प्रसन्न होकर बदले में प्रत्युपकार करते हैं, प्रशंसा तथा आदर करते हैं ।

गायत्री का 'स्य' शब्द परमार्थ के लिये प्रेरणा देता है। हर मनुष्य का कर्तव्य है कि अर्थ उपार्जन करता हुआ स्वार्थ से बचे और परमार्थ के लिए यथा सम्भव प्रयत्नशील रहे। अपना पेट तो पशु-पक्षी भी भर लेते हैं, प्रशंसनीय वह है जिसके द्वारा दूसरे भी लाभ उठावें ।

धी- धीरस्तुष्टो भवेन्नैव ह्येकस्यां हि समुन्नतौ ।
कृयतामुन्नतिस्तेन सर्वास्वशासु जीवने ॥ १३ ॥

धीर पुरुष को एक ही प्रकार की उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए। मनुष्य को जीवन में सभी दिशाओं में उन्नति करनी चाहिए ।

जैसे शरीर के कई अङ्ग हैं और उन सभी का पुष्ट होना आवश्यक होता है, वैसे ही जीवन की अनेक दिशाऐं हैं और उन सभी का विकास होना सर्वतोमुखी उन्नति का चिह्न है। यदि पेट बढ़ जाय और हाथ-पाँव बहुत पतले हो जाँय तो इस विषमता से प्रसन्नता न होकर चिन्ता ही बढ़ेगी, इसी प्रकार यदि कोई आदमी केवल धनी, केवल विद्वान या केवल पहलवान बन जाय तो यह उन्नति पर्याप्त न होगी। वह पहलवान किस काम का जो दाने-दाने को मोहताज हो, वह विद्वान किस काम का जो रोगों से ग्रस्त रहता हो। वह धनी किस काम का जिसके पास न विद्या हो न तन्दुरुस्ती।

केवल एक ही दिशा में उन्नति के लिए अत्यधिक प्रयत्न करना और अन्य दिशाओं की उपेक्षा करना, उनकी ओर से उदासीन रहना उचित नहीं । जैसे पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ईशान, वायव्य, नैऋत्य, आग्नेय आठ दिशाएँ हैं वैसे ही जीवन की भी आठ दिशा हैं, आठ बल हैं—(१) स्वास्थ्य-बल (२) विद्या-बल (३) धन-बल (४) मित्र-बल (५) प्रतिष्ठा-बल (६) चातुर्य-बल (७) साहस-बल (८) आत्म बल। इन आठों का यथोचित मात्रा में सञ्चय होना चाहिए। जैसे किसान खेत को सब ओर से रखाता है, जैसे चतुर सेनापति युद्ध क्षेत्र के सब मोर्चों की रक्षा करता है, वैसे ही जीवन-युद्ध के यह आठों मोर्चे सावधानी के साथ ठीक रखे जाने चाहिए। जिधर भी भूल रखी जायगी उधर से ही शत्रु का आक्रमण होने और परास्त होने का भय रहेगा ।

गायत्री का 'धी' शब्द हमें सजग करता है कि आठों बल बढ़ाओं, आठों मोर्चों पर सजग रहो, अष्टभुजी दुर्गा की उपासना करो, आठों दिशाओं की रखवाली करो, तभी सर्वाङ्गीण उन्नति हो सकेगी । सर्वाङ्गीण उन्नति ही स्वस्थ उन्नति है अन्यथा किसी एक अङ्ग को बढ़ा लेना और अन्यों को दुर्बल रखना कोई बुद्धिमत्ता की बात नहीं है ।

म—महेश्वरस्य विज्ञाय नियमान्नयाय संयुतान् ।
तस्य सत्तां च स्वीकुर्वन् कर्मणा तमुपासयेत् ॥ १४ ॥

परमात्मा के न्यायपूर्ण नियमों को समझकर और उसकी सत्ता को स्वीकार करते हुए कम से कम उस परमात्मा की उपासना करें ।

परमात्मा के नियम न्यायपूर्ण हैं। सृष्टि में उसके प्रधान कार्य भी दो ही हैं (१) संसार को नियम बद्ध रखना (२)

कर्मों का न्यायानुकूल फल देना। इन दोनों ईश्वरीय प्रधान कार्यों को समझकर जो अपने को नियमानुसार बनाता है, प्रकृति के कठोर नियमों को ध्यान में रखता है, सामाजिक, राजकीय, धार्मिक, लोक-हितकारी कानूनों, कायदों को मानता है वह एक प्रकार से ईश्वर को प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार जो यह समझता है कि न्याय की अदालत में खड़ा होना ही पड़ेगा और बुरे-भले कर्मों के अनुसार दुःख-सुख की प्राप्ति अनिवार्यतः होगी वह ईश्वर के समीप पहुँचता है। काम करने पर ही उसकी उजरत मिलती है। जो पसीना बहायेगा, परिश्रम करेगा, पुरुषार्थ, उद्योग और चतुरता का परिचय देगा, उसे उसके प्रयत्न के अनुसार साधन-सामग्री में सफलता मिलेगी।

परमात्मा की पूजा उपासना की जितनी साधनाएँ हैं, जितने कर्म काण्ड हैं उनका तात्पर्य यही है कि साधक परमात्मा के अस्तित्व पर, उसकी सर्वज्ञता और सर्वव्यापकता पर विश्वास करे। यह विश्वास जितना ही दृढ़ होगा, उतना ही उसे परमात्मा का नियम और न्याय स्मरण रहेगा। इन दोनों की कठोरता और निश्चयता पर विश्वास होना, सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा का प्रधान हेतु है। जो समझता है कि जल्दी या देर-सबेर में, तुरन्त या विलम्ब से, कर्म का फल मिले बिना नहीं रह सकता, वह कभी आलसी या कुकर्मी नहीं हो सकता। जो आलस्य और कुकर्म से जितना ही बचता है वह ईश्वर का उतना ही बड़ा भक्त है। गायत्री का 'म' अक्षर ईश्वर-उपासना के रहस्य का स्पष्टीकरण करता है और बताता है कि ईश्वरीय नियम और न्याय का ध्यान रखते हुए हम सत्पथ पर चलें।

हि-हितं मत्वा ज्ञानकेन्द्रं स्वातन्त्र्येण विचारयेत्।
नान्धानुसरणं कुर्यात् कदाचित् कोऽपिकस्यचित्॥ १५॥

हितकारी ज्ञान-केन्द्र को समझकर स्वतन्त्रता पूर्वक विचार करे। कभी भी कोई किसी का अन्धानुसरण न करे।

देश, काल, पात्र, अधिकार और परिस्थिति के अनुसार मानव जाति के हल और सुविधा के लिये विविध प्रकार के नियम, धर्मादेश, कानून और प्रथाओं का निर्माण एवं परिचालन होता है। परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ इन प्रथाओं एवं मान्यताओं का परिवर्तन होता रहता है। आदि काल से लेकर अब तक अनेकों प्रकार की शासन-पद्धतियाँ, धर्म धारणाऐं, रीति-रिवाजें तथा परम्पराऐं बदल चुकी हैं। समय-समय पर जो परिवर्तन होते रहते हैं, उन सभी का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। यही कारण है कि उनमें परस्पर विरोधी बातें दिखाई पड़ती हैं। वास्तव में विरोध कुछ नहीं है। विभिन्न समयों पर विभिन्न कारणों से जो परिवर्तन रीति-नीति में होता रहता है, वह पुस्तकों में लिखा तो है पर यह स्पष्ट नहीं है कि ये पुस्तकें और प्रथाएँ किस-किस काल में रही हैं। यदि उनके काल का उल्लेख होता तो ग्रन्थों में परस्पर विरोध न दिखाई पड़ता और पाठक समझ जाते कि देश, काल, परिस्थिति के कारण यह अन्तर है, विरोध नहीं।

समाज के सुसञ्चालन के लिए प्रथाएँ मनुष्य जाति की सुव्यवस्था के लिए बनाई गई हैं। ऐसा नहीं कि उन प्रथाओं को अपरिवर्तनशील समझकर समाज और जाति के लिए उन्हें अमिट मान लिया जाय। संसार में आदि काल से बराबर परिवर्तन होता आ रहा है। जो रिवाजें आज के लिए उपयुक्त हैं तो ऐसा नहीं कि परस्पर मोह के कारण उनका अन्धानुकरण किया ही जाय।

गायत्री का 'हि' अक्षर कहता है कि मनुष्य समाज के हित का ध्यान रखते हुए देश, काल और विवेक के अनुसार प्रथाओं को, परम्पराओं को बदला जा सकता है। आज हिन्दू समाज में ऐसी अगणित प्रथाएँ प्रचलित हैं जिन्हें बदलने की अत्यधिक आवश्यकता है।

धि—धियामृत्युं स्मरन्मर्म जानीयाज्जीवनस्य च।
तदा लक्ष्यं समालक्ष्य पादौ सन्ततमाक्षिपेत॥ १६॥

बुद्धि से मृत्यु का ध्यान रखे और जीवन के मर्म को समझे तब अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर अपने पैरों को चलावे। अर्थात् निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर बढ़े।

जीवन और मृत्यु के रहस्य को विवेक पूर्वक गम्भीरता से समझना आवश्यक है। मृत्यु कोई डरने की बात नहीं, पर उसे ध्यान में रखना जरूरी है। न जाने किस समय मृत्यु सामने आ खड़ी हो और कूँच की तैयारी करनी पड़े। इसलिए जो समय हाथ में है, उसे अच्छे से अच्छे उपयोग में लगाना चाहिए। धन, यौवन आदि अस्थिर हैं। छोटे से रोग या हानि से इनका विनाश हो सकता है, इसलिए इसका अहङ्कार न करके दुरुपयोग न करके ऐसे कार्यों में लगाना चाहिए जिससे भावी जीवन में सुख-शान्ति की अभिवृद्धि हो।

जीवन एक अभिनय है और मृत्यु उसका पटाक्षेप है। इस अभिनय को हमें इस प्रकार करना चाहिए जिससे दूसरों की प्रसन्नता बढ़े और अपनी प्रशंसा हो। नाटक या खेल के समय सुखपूर्ण और दुख भरे अनेकों अवसर आते हैं पर अभिनय कर्त्ता समझता है कि यह केवल खेलमात्र हो रहा है। इसमें वास्तविकता कुछ नहीं है, उस खेल के

समय होने वाले दुःख के अभिनय में न दुखी होता है न सुख के अभिनय में सुखी। वरन् अपना कौशल प्रदर्शित करने में, अपनी नाट्य सफलता में प्रसन्नता अनुभव करता है। जीवन नाटक का भी अभिनय इसी प्रकार होना चाहिए। हर मनुष्य पर आये दिन आने वाली सम्पदा-विपदा का कुछ महत्व नहीं, उनकी ओर विशेष ध्यान न देकर अपना कर्म कौशल दिखाने के लिए हमें प्रयत्नशील रहना चाहिए। मृत्यु जीवन का अन्तिम अतिथि है। उसके स्वागत के लिए सदा तैयार रहना चाहिए। अपनी कार्य-प्रणाली ऐसी रखनी चाहिए कि किसी भी समय मृत्यु सामने आ खड़ी हो तो तैयारी में कोई कमी अनुभव न करनी पड़े।

गायत्री का 'वि' शब्द जीवन और मृत्यु के सत्य को समझाता है। जीवन को इस प्रकार बिताओ जिससे मृत्यु के समय पश्चाताप न हो। जो वर्तमान की अपेक्षा भविष्य को उत्तम बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं, वे जीवन और मृत्यु का रहस्य भली प्रकार जानते हैं।

यो—यो धर्मो जगदाधारः स्वाचरणे तमानय।
मा विडम्वय तं स ते ह्येको मार्गे सहायकः॥ १७॥

जो धर्म संसार का आधार है उस धर्म को अपने आचरण में लाओ। उसकी विडम्बना मत करो। वह तुम्हारे मार्ग में एक ही अद्वितीय सहायक है।

धर्म संसार का आधार है। उसके ऊपर विश्व का समस्त भार रखा हुआ है। यदि धर्माचरण उठ जाय और सब लोग पूर्णरूप से अधर्मी बन जाँय तो एक क्षण के लिए भी कोई प्राणी चैन से न बैठ सके। सबको अपने प्राण बचाने और दूसरों का अपहरण करने की चक्की के दुहरे पाटों के बीच पिसना पड़ेगा। आज अनेक व्यक्ति लुक-छिपकर अधर्माचरण करते हैं पर उन्हें भी यह साहस नहीं होता कि प्रत्यक्षतः अपने को अधर्मी घोषित करें या अधर्म को उचित ठहराने की वकालत करें। बुराइयाँ भी भलाई की आड़ लेकर की जाती हैं। इससे प्रकट है कि धर्म ऐसी मजबूत चीज है कि उसी का आश्रय लेकर, आडम्बर ओढ़कर, दुष्ट दुराचारी भी बेड़ा पार लगाते हैं। ऐसे मजबूत आधार को ही हमें अपना अवलम्बन बनाना चाहिए।

कई आदमी धर्म को कर्म-कांड का, पूजा-पाठ या तीर्थ, व्रत, दान आदि का विषय मानते हैं और कुछ समय इनमें लगाकर शेष समय को नैतिक-अनैतिक कैसे ही कार्य करने के लिए स्वतन्त्र समझते हैं। यह भ्रांत धारणा है। धर्म पूजा-पाठ तक ही सीमित रहने वाली वस्तु नहीं है। वरन् उसका उपयोग तो अपनी प्रत्येक विचार-धारा और क्रिया प्रणाली में पूरी तरह होना चाहिये।

गायत्री का 'यो' अक्षर बताता है कि धर्म की विडम्बना मत करो, उसे आडम्बर का आचरण मत बनाओ, वरन् उसे अपने जीवन में घुला डालो। जो कुछ सोचो, जो कुछ करो वह धर्मानुकूल होना चाहिए। शास्त्र की उक्ति है कि "रक्षा किया हुआ धर्म अपनी रक्षा करता है और धर्म को जो मारता है धर्म उसे मार डालता है।" इस तथ्य को ध्यान में रखकर हमें धर्म को ही अपनी जीवन-नीति बनाना चाहिए।

यो—यो जन व्यसनेभ्यः स्यात्तानि पुंसस्तु शत्रवः।
मिलित्वैतानि सर्वाणि समये घ्नन्ति मानवम्॥ १८॥

व्यसनों से योजन भर दूर रहे अर्थात् व्यसनों से बचा रहे क्योंकि वे मनुष्य के शत्रु हैं। ये सब मिलकर समय पर मनुष्य को मार देते हैं।

व्यसन मनुष्य के प्राण-घातक शत्रु हैं। मादक पदार्थ व्यसनों में प्रधान हैं। तम्बाकू, गाँजा, चरस, भाँग, अफीम, शराब आदि नशीली चीजें एक से एक बढ़कर हानिकारक हैं। इससे क्षणिक उत्तेजना आती है। जिन लोगों की जीवनी शक्ति क्षीण एवं दुर्बल हो जाती है वे अपने को शिथिल तथा अशक्त अनुभव करते हैं। उसका उपचार, आहार-विहार में प्रकृति अनुकूल परिवर्तन करके शक्ति-सञ्चय की वृत्ति द्वारा होना चाहिए। परन्तु भ्रांत मनुष्य दूसरा मार्ग अपनाते हैं। वे थके घोड़े को चाबुक मार-मारकर दौड़ाने का उपक्रम करके चाबुक को शक्ति का केन्द्र मानने की भूल करते हैं। नशीली चीजें मस्तिष्क को मूर्च्छित कर देती हैं, जिससे मूर्च्छाकाल में शिथिलता की पीड़ा नहीं होती। दूसरी ओर वे चाबुक मार-मारकर उत्तेजित करने की क्रिया आरम्भ करती हैं। नशीली चीजों को सेवन करने वाला ऐसा समझता है कि वे मुझे बल दे रही हैं पर वस्तुतः उससे बल नहीं मिलता वरन् बची हुई शक्तियाँ भड़क कर बहुत शीघ्र समाप्त हो जाती हैं और मादक द्रव्य सेवन करने वाला व्यक्ति दिन-दिन क्षीण होते-होते अकाल मृत्यु के मुख में चला जाता है। व्यसन मित्र के वेष में शरीर में घुसते हैं और शत्रु बनकर उसे मार डालते हैं।

नशीले पदार्थों के अतिरिक्त और भी ऐसी आदतें हैं जो शरीर और मन को हानि पहुँचाती हैं पर आकर्षण और आदत के कारण मनुष्य गुलाम बन जाता है। वे उससे छोड़े नहीं छूटते। सिनेमा, नाचरङ्ग, व्यभिचार, मुर्गा, तीतर, बटेर लड़ाना आदि कितनी ही हानिकारक और निरर्थक आदतों के लोग शिकार बनकर अपना धन, समय और स्वास्थ्य बर्बाद करते हैं।

गायत्री का 'यो' अक्षर व्यसनों से दूर रहने का आदेश करता है । क्योंकि यही शरीर और मन दोनों का नाश करने वाले हैं । व्यसनी मनुष्य की प्रवृत्तियाँ नीच मार्ग की ओर ही चलती हैं ।

नः- नः शृणवेकामिमाँ वार्ता "जागृतस्त्वं सदा भव" ।
स्वपमाणं नरं नूनं हयाक्रीमन्ति विपक्षिणः ॥ १९ ॥

हमारी यह एक बात सुनो कि तुम हमेशा जागृत रहो क्योंकि निश्चय ही सोते हुए मनुष्य पर दुश्मन आक्रमण कर देते हैं । असावधानी, आलस्य, बेखबरी, अदूरदर्शिता ऐसी भूल हैं जिन्हें अनेक आपत्तियों की जननी कह सकते हैं। बेखबर आदमी पर चारों ओर से हमले होते हैं । असावधानी में ऐसा आकर्षण है, जिससे खिंच-खिंचकर अनेक प्रकार की हानियाँ, विपत्तियाँ एकत्रित हो जाती हैं। असावधान, आलसी पुरुष एक प्रकार का अर्धमृत है । मरी हुई लाश को पड़ी देखकर जैसे चील, कौए, कुत्ते, शृगाल, गिद्ध दूर-दूर से दौड़कर वहाँ जमा हो जाते हैं, वैसे ही असावधान पुरुष के ऊपर आक्रमण करने वाले तत्व कहीं न कहीं से आकर अपनी घात लगाते हैं ।

जो स्वास्थ्य की रक्षा के लिए जागरूक नहीं है, उसे देर-सबेर में बीमारियाँ आ दबोचेंगी । जो नित्य आते रहने वाले उतार-चढ़ावों से बेखबर है, वह किसी दिन दिवालिया बनकर रहेगा । जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मदमत्सर सरीखे मानसिक शत्रुओं की गति-विधियों की ओर से आँखें बन्द किए रहता है वह कुविचारों और कुकर्मों के गर्त में गिरे बिना न रह सकेगा । जो दुनिया के छल, फरेब, झूठ, ठगी, लूट, अन्याय, स्वार्थपरता, शैतानी आदि की ओर से सावधान नहीं रहता उसे उल्लू बनाने वाले, ठगने वाले, सताने वाले अनेकों पैदा हो जाते हैं । जो जागरूक नहीं, जो अपनी ओर से सुरक्षा के लिए प्रयत्नशील नहीं रहता, उसे दुनिया के शैतानी तत्व बुरी तरह नोच खाते हैं ।

इसलिए गायत्री का 'न' अक्षर हमें सावधान करता है कि होशियार रहो, सावधान रहो, जागते रहो कि तुम्हें शत्रुओं के आक्रमण का शिकार न बनना पड़े । विवेक पूर्वक त्याग करना और उदारता से परोपकार करना तो उचित है पर अपनी बेवकूफी से दूसरे बदमाशों का शिकार बनना सर्वथा अवांछनीय और पापमूलक है । जहाँ अच्छाई की और उन्नति की ओर बढ़ने का प्रयत्न आवश्यक है वहाँ बुराई से सावधान रहने, बचने और उससे संघर्ष करने की भी आवश्यकता है ।

प्र-प्रकृते स्तु भवोदारो नानुदारः कदाचन ।
चिन्तयोदार दृष्ट्यैव तेन चित्तं विशुद्धयति ॥ २० ॥

स्वभाव से ही उदार होओ, कभी भी अनुदार मत बनो, उदार दृष्टि से ही विचार करो, ऐसा करने से चित्त शुद्ध हो जाता है ।

अपनी बात, अपनी रीति, अपनी रिवाज, अपनी मान्यता, अपनी अकल को ही सही मानना और दूसरे सब लोगों को मूर्ख, भ्रांत, बेईमान ठहराना, अनुदारता का लक्षण है । अपने लाभ के लिए चाहे सारी दुनिया का विनाश होता हो तो हुआ करे, ऐसी नीति अनुदार व्यक्तियों की होती है। वे सिर्फ अपनी सुविधा और इच्छा को सर्वोपरि रखते हैं । दूसरों की कठिनाई और असुविधा का उन्हें जरा भी ध्यान नहीं होता ।

ऐसी अनुदारता पशुता की सूचक है । जिद्दी, दुराग्रही, घमण्डी, खुदगर्ज, संकीर्ण भावना वाले मनुष्यों की वाणी बड़ी रूखी, विचार-धारा बड़ी शुष्क एवं क्रिया बड़ी कर्कश होती है। गायत्री का सन्देश सुनने और समझने वालों को ऐसा अनुदार कदापि न होना चाहिए । दूसरों के विचारों, तर्कों, स्वार्थों और परिस्थितियों को समझकर मतभेद होते हुए भी उनका आदर करना सीखना चाहिए। दूसरे लोग अपनी सुविधा और स्थिति के अनुसार किसी बात को सोचते हैं । जब हम अपनी बात को ठीक समझने के लिए दृढ़ हैं तो दूसरे को वैसी दृढ़ता के लिए क्यों कोसना चाहिए ?

गायत्री का 'प्र' अक्षर कहता है कि दूसरों की भूलों और कमियों के प्रति हमें कठोर नहीं, उदार होना चाहिए। उनकी उचित इच्छाओं, आवश्यकताओं और माँगों के प्रति हमारी सहानुभूति होनी चाहिए । दूसरे जिस स्थिति में हैं, उस स्थिति में हम होते तो कैसी इच्छा करते ? यह सोचकर उदार दृष्टि से उनके साथ व्यवहार करना चाहिए और मतभेदों को संघर्ष का कारण न बनाकर जितने अंशों में एकता मिल सके, उसे प्रेम का निमित्त बनाना चाहिए ।

चो—चोदयत्येव सत्सङ्गो धियमस्य फलं महत् ।
स्वमती सज्जनै विद्वान् कुर्यात् पर्यावृतं सदा ॥ २१ ॥

सत्सङ्ग बुद्धि को प्रेरणा देता है। इस सत्सङ्ग का फल महान् है । इसलिए विद्वान् अपने आपको हमेशा सत्पुरुषों से घिरा हुआ रखे अर्थात् हमेशा सज्जनों का सङ्ग करे ।

मनुष्य का मस्तिष्क निर्मल जल के समान है । वातावरण, संस्कार और अनुकरण के साधन उसे विभिन्न दिशाओं में मोड़ते हैं । पानी का बहाव नाव को बहा ले

जाता है। हवा जिधर को चलती है, पतङ्ग उधर ही उड़ती है। मनुष्य जिस वातावरण में रहता है- रमता है, उधर ही उसकी मनोवृत्तियाँ चलने लगती हैं और धीरे-धीरे वह उसी ढाँचे में ढलने लगता है। एक जैसे दो बालकों को जन्म से ही, एक को कसाई के यहाँ रखा जाय तथा एक को ब्राह्मण के यहाँ, तो बड़े होने पर उन दोनों के गुण, कर्म, स्वभाव में जमीन-आसमान का अन्तर होगा, यह सङ्गति का ही प्रभाव है।

जो लोग अच्छाई की दिशा में अपनी उन्नति करना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि अपने को अच्छे वातावरण में रखें, अच्छे लोगों को अपना मित्र बनायें, उन्हीं से अपना व्यापार, व्यवहार तथा सम्बन्ध रखें। सम्भव हो तो परामर्श, उपदेश और पथ-प्रदर्शन भी उन्हीं से प्राप्त करें। इस प्रकार की स्थिति में रहने से प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से वैसा ही प्रभाव अपने ऊपर पड़ता है और उसी दिशा में चलने के लिए प्रेरणा मिलती है। कुसङ्ग में रहने से, बुरे वातावरण के सम्पर्क में आने से मलीनता बढ़ती है। इसलिए उधर से मुँह मोड़े रहना ही उचित है।

यथासाध्य अच्छे व्यक्तियों का सम्पर्क बढ़ाने के अतिरिक्त अच्छी पुस्तकों का स्वाध्याय भी वैसा ही उपयोगी है। अच्छी पुस्तकें पढ़कर भी सत्सङ्ग का लाभ उठाया जा सकता है। एकान्त में स्वयं भी अच्छे विचारों का चिन्तन और मनन करके तथा अपने मस्तिष्क को उसी दिशा में लगाये रहने से भी आत्म सत्सङ्ग होता है। यह सभी सत्सङ्ग आत्मोन्नति के लिए आवश्यक हैं। गायत्री का 'यो' अक्षर सत्सङ्ग का महत्व बताता है और उसके लिए प्रयत्नशील रहने का उपदेश करता है।

द—दर्शनंह्यात्मनः कृत्वा जानीयादात्म गौरवम्।
ज्ञात्वा तु तत्तदात्मानं पूर्णोन्नतिपथं नयेत्॥ २२॥

आत्मा का दर्शन करके आत्मा के गौरव को पहचानो। उसको जानकर तब आत्मा को पूर्ण उन्नति के मार्ग पर ले चलो।

मनुष्य-शरीर नाशवान और तुच्छ है। उसके हानि लाभ भी तुच्छ तथा महत्वहीन हैं, पर उसकी आत्मा ईश्वर का अंश होने के कारण महान् है। उसकी महिमा और महत्ता इतनी बड़ी है कि किसी से भी उसकी तुलना नहीं हो सकती। मनुष्य का गौरव उसके शरीर के कारण नहीं, वरन् आत्मा की विशेषताओं के कारण है। जिसकी आत्मा जितनी अधिक बलवान होती है, वह उतना ही बड़ा महापुरुष कहा जाता है।

जिन कार्यों से हमारी प्रतिष्ठा, साख, सम्मान, आदर, श्रद्धा बढ़ती है, वे ही आत्म-गौरव को बढ़ाने वाले हैं। प्रतिष्ठा सबसे बड़ी सम्पत्ति है, फिर आत्मा की प्रतिष्ठा का मूल्य कम तो हो ही नहीं सकता। इतनी बड़ी अमानत को हमें सब प्रकार सुरक्षित रखना चाहिए। लोग सम्पत्ति द्वारा बनी हुई प्रतिष्ठा को गिरते या नष्ट होते देखकर तिलमिला जाते हैं और उस दु:ख से इतने दुखी हो जाते हैं कि कोई-कोई तो आत्महत्या भी कर डालते हैं। फिर आत्म-प्रतिष्ठा, आत्म-गौरव, आत्म-सम्मान तो और भी ऊँची चीज है, उसे तो किसी भी मूल्य पर न गिरने देना चाहिए।

जिससे आत्म-गौरव घटता हो, आत्म-ग्लानि होती हो, आत्म-हनन करना पड़ता हो, ऐसे धन, सुख, भोग, पद को लेने की अपेक्षा भूखा और दीन-हीन रहना कहीं अच्छा है। गायत्री का 'द' अक्षर आत्म-सम्मान की रक्षा और आत्म-हनन की निवृत्ति के लिए हमें बड़े से बड़ा त्याग करने में भी न झिझकने के लिए तैयार रहने को कहता है। जिसके पास आत्म-धन है, वही सबसे बड़ा धनी है। जिसका आत्म-गौरव सुरक्षित है, वह इन्द्र के समान बड़ा पदवीधारी है, भले ही चाँदी ताँबे के टुकड़े उसके पास कम मात्रा में ही क्यों न हों।

या—यायत्स्वोत्तरदायित्वं निवहन् जीवने पिता।
कुपितापि तथा पापः कुपुत्रोऽस्ति यथा यतः॥ २३॥

पिता अपने उत्तरदायित्व को निबाहता हुआ जीवन में चले, क्योंकि कुपिता भी उसी प्रकार पापी होता है, जैसे कुपुत्र होता है।

जिनके हाथ में प्रबन्ध, व्यवस्था, शासन, स्वामित्व, बल होते हैं, वे प्राय: उसका यथोचित उपयोग नहीं करते। ढील, शिथिलता, लापरवाही भी वैसी ही बुराई है, जैसी कि स्वार्थपरता एवं अनुचित लाभ उठाने की नीति। इसका परिणाम बुरा ही होता है। अक्सर पुत्र, शिष्य, स्त्री, प्रजाजन, सेवक आदि के बिगड़ जाने, बुरे होने, अवज्ञा करने, अनुशासनहीन होने के उदाहरण बहुत सुने जाते हैं। इन बुराइयों का बहुत कुछ उत्तरदायित्व पिता, गुरु, पति, शासक, स्वामी आदि पर भी है, क्योंकि प्रबन्ध-शक्ति उनके हाथ में होती है। बुद्धिमत्ता और अनुभव अधिक होने के कारण उत्तरदायित्व उन्हीं का अधिक होता है। व्यवस्था में शिथिलता डालने, बुरे मार्ग पर चलने का अवसर देने, नियन्त्रण में सावधानी न रखने से भी ऐसी घटनाऐं प्राय: घटित होती हैं।

प्रत्येक सम्बन्ध में दो पक्ष होते हैं । दोनों पक्षों को यथोचित कर्तव्य-पालन करने से ही वे सम्बन्ध स्थिर और सुदृढ़ रहते हैं, तो भी समझदार पक्ष का उत्तरदायित्व विशेष है । उसे अपने पक्ष पर अधिक मजबूती से खड़ा रहना चाहिए और छोटे पक्ष के साथ उदार बर्त्ताव करना चाहिए। लोग अपने-अपने अधिकार पर अधिक जोर देते हैं और अपने कर्तव्य से जी चुराते हैं, यही कलह का कारण है । यदि दोनों ओर से अपने-अपने अधिकारों की उपेक्षा की जाय तो संघर्ष का अवसर ही न आवे और सम्बन्ध बड़ी मधुरता से निभते चले जाँय ।

''यो'' शब्द पिता-पुत्र में, बड़े-छोटे में, अच्छे सम्बन्ध रखने का नुस्खा यह बताता है कि दोनों ओर से अधिकार की माँग मन्द रखी जाय और कर्तव्यों का दृढ़ता से पालन हो । बड़ा पक्ष छोटे पक्ष को सँभालने के लिए अधिक सावधानी और उदारता बरते ।

त—तथाचरत्सदान्येभ्यो वाञ्छत्यंन्यैर्यथा नरः ।
नम्रः शिष्टः कृतज्ञश्च सत्यसाहाय्यवान् भवन् ॥ २४ ॥

मनुष्य दूसरे के साथ उस प्रकार का आचरण करे, जैसा वह दूसरों द्वारा चाहता है और उसे नम्र, शिष्ट, कृतज्ञ और सचाई के साथ सहयोग की भावना वाला होना चाहिए ।

दूसरों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, उसकी कसौटी यह है कि ''हम दूसरों से जैसा व्यवहार अपने लिए चाहते हैं, वैसा ही आचरण स्वयं भी दूसरों के साथ करें।'' दुनिया कुएँ की आवाज की तरह है। कुएँ में मुँह करके जैसी वाणी हम बोलेंगे, बदले में वैसी ही प्रतिध्वनि दूसरी ओर से आवेगी ।

हरएक मनुष्य चाहता है कि दूसरे लोग उससे नम्र बोलें, सभ्य व्यवहार करें, उसकी कोई चीज न चुरावें, विपत्ति पड़ने पर सहायता करें, ईमानदारी से बरतें, कोई भूल हो जाय तो उसे सहन कर लें, मार्ग में कोई रोड़ा न अटकावें, उसकी बहिन-बेटियों पर कुदृष्टि न डालें तथा समय-समय पर उदारता एवं सहयोग की भावना का परिचय दें । जब हम दूसरों से ऐसा व्यवहार चाहते हैं तो हमारे लिए भी यह उचित है कि वैसा ही व्यवहार दूसरों से करें । कारण यह है कि सदा ही क्रिया से प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है । यदि हम बुराई करेंगे तो दूसरों के मन पर उसकी छाप पड़ेगी, प्रतिक्रिया होगी और उनमें से भी वैसे ही विचार तथा व्यवहार उत्पन्न होंगे । यदि यह बुरी शृङ्खला चल पड़ी तो अपने लिए तथा अन्यों के लिए इसका बुरा प्रतिफल होगा और अगर यह शृङ्खला अच्छी चली तो उससे पारस्परिक सहयोग, प्रेम, सद्व्यवहार तथा सद्भावों की प्रतिक्रिया होगी जो अपने लिए ही नहीं, अन्यों के लिए भी सुखकर होती है । यदि लोग अपने विचार और कार्यों में वैसे ही तत्व भरलें जैसा कि दूसरों में होने की आशा करते हैं तो संसार में सुख-शान्ति की स्थापना हो सकती है ।

गायत्री का अंतिम अक्षर 'त्' शास्त्रकारों की ''आत्मनः प्रतिकूलानि पेरषां न समाचरेत्'' उक्ति का उद्घोष करता है । इसे क्रियात्मक रूप में लाना गायत्री शिक्षा की ओर एक महत्वपूर्ण कदम बढ़ाना है ।

❑❑❑

ज्ञान-विज्ञान का अनन्त भण्डार-गायत्री महामन्त्र

ब्रह्माजी ने चार वेदों की रचना से पूर्व चौबीस अक्षर वाले गायत्री मन्त्र की रचना की। इस मन्त्र के एक-एक अक्षर में ऐसे सूक्ष्म तत्व भरे हुए हैं कि जिनके पल्लवित होने पर चारों वेदों की अनेक शाखा प्रशाखाएँ उद्‌भूत हुईं। समस्त शास्त्र, पुराण, इतिहास, स्मृति, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, दर्शन आदि एक गायत्री वट वृक्ष के पत्र पल्लव ही हैं। गायत्री के रहस्यों का विस्तार पूर्वक वर्णन करने के लिए ही इन सब की रचना हुई है। जो ज्ञान किसी भी शास्त्र में उपलब्ध है वह सब बीज रूप से गायत्री महा मंत्र के चौबीस अक्षरों में प्रारम्भ से ही मौजूद है।

धर्म, नीति, विज्ञान, कर्म, उपासना, तत्व, ज्ञान आदि बौद्धिक प्रक्रियाऐं तो गायत्री में हैं ही, साथ ही योग, तंत्र, यंत्र निर्माण, रसायन, चिकित्सा, ज्योतिष, दिव्य अस्त्र, ऋद्धि सिद्धि आदि के चमत्कारी भारतीय विज्ञान के अनेक गुप्त रहस्य इन अक्षरों में छिपे हुए हैं, जिनके द्वारा मनुष्य ही पुराणोक्त देव और असुरों जैसे अद्भुत पराक्रमों का स्वामी बन सकता है।

गायत्री, सार्वभौम मानव धर्म का बीज मन्त्र है। विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों, शास्त्रों, पैगेम्बरों, धर्म प्रवर्त्तकों तथा देवदूतों ने जो शिक्षाएँ समय-समय पर मनुष्य जाति को दी हैं उन सबका निचोड़, सारांश एवं मूल तत्व गायत्री में मौजूद है। चौबीस अक्षरों का यह मन्त्र संसार का सबसे छोटा धर्मशास्त्र है पर इसमें मानवीय आचार संहिता का सर्वोत्कृष्ट समावेश है। मानव मात्र के लिए ईश्वरीय आदेश क्या है? उनका दिग्दर्शन गायत्री मन्त्र से अधिक उत्तमता के साथ और कहीं नहीं हो सकता।

जिन २४ सिद्धान्तों का गायत्री के २४ अक्षरों में प्रतिपादन किया गया है वे प्रत्येक सत्यनिष्ठ एवं विचारवान् आत्मा को निर्विवाद रूप से ग्राह्य हो सकते हैं। साम्प्रदायिक सिर फुटौवल जिन विवादास्पद बातों को लेकर होती है उनकी गन्ध भी इन सिद्धान्तों में नहीं है। इस धर्मशास्त्र पर किसी भी सम्प्रदाय को आपत्ति नहीं हो सकती। इसलिए यह एक सार्वभौम -मन्त्र, धर्मशास्त्र एवं सामाजिक विधान सिद्ध होता है। इन शिक्षाओं को अपनाने से मनुष्य सच्चा मनुष्य, सच्चा धार्मिक, सच्चा ईश्वर भक्त बन जाता है।

गायत्री मन्त्र जहां आध्यात्मिक साधना का एक उत्कृष्ट विज्ञान है वहां वह विश्वमानव का सार्वभौम आचार शास्त्र भी है। इस अध्याय में गायत्री के २४ अक्षरों का अर्थ गायत्री स्मृति के अनुसार दिया गया है। यह शिक्षाऐं ऐसी हैं जिनको सार्वभौम ज्ञान या सत्य सनातन धर्म कहा जा सकता है। कोई भी देश, जाति, समाज, सम्प्रदाय इन शिक्षाओं और सिद्धान्तों का खण्डन नहीं कर सकता। इनके सम्बन्ध में किसी वर्ग का कोई विरोध भी नहीं है। यह शिक्षाएँ देश, काल, पात्र के अनुसार भी नहीं बदलतीं। अनादि काल से यह आदर्श समान रूप से उपयोगी एवं सम्माननीय रहे हैं।

इन शिक्षाओं में अध्यात्म, दर्शन, धर्म, सामाजिकता राजनीति, तर्क, लोक-व्यवहार आदि सभी आवश्यक तत्वों का समिश्रण है। इन सिद्धान्तों के ढांचे में यदि अपना व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन ढाला जाय तो निस्संदेह वे सब उलझनें सुलझ सकती हैं, जिनके कारण आज युद्ध और विनाश की घटनाऐं घुमड़ रही हैं और भय, त्रास, उत्पीड़न, अन्याय और आशंका से सर्वत्र आतंक छाया हुआ है।

विज्ञान ने सुविधाओं के साधन बढ़ाये हैं, परन्तु ज्ञान के अभाव में वे साधन विनाश, और पतन के हेतु बन रहे है। सद्ज्ञान के बिना मनुष्य की व्यक्तिगत और सामूहिक सुख शान्ति सुरक्षित नहीं रह सकती। यदि शान्ति प्रेम, सहयोग पूर्वक मनुष्य जाति को रहना है तो उसे उसी सत्य सनातन धर्म को अपनाना पड़ेगा, उन्हीं आदर्शों का अनुसरण करना पड़ेगा जो गायत्री के २४ अक्षरों में सन्निहित है।

जो व्यक्ति इन शिक्षाओं को हृदयंगम करके अपने व्यवहारिक जीवन में उन्हें प्रयुक्त करने का प्रयत्न करते हैं, वास्तव में वे ही सच्चे गायत्री उपासक हैं। गायत्री उपासना का पूर्वार्द्ध उसकी शिक्षाओं को अपनाना और उत्तरार्ध- विशेष साधन विधि से आध्यात्मिक व्यायाम करके आत्म बल बढ़ाना है। इस उभय पक्षीय उपासना से ही हमारा सच्चा कल्याण हो सकता है। ये शिक्षायें इस प्रकार हैं—

१- 'ॐ' भूर्भुवः स्वः (ईश्वर का विराट रूप)
२- 'तत्' (ब्रह्मज्ञान का प्रकाश)
३- 'स' (शक्ति का सदुपयोग)
४- 'वि' (धन का उचित उपयोग)

५- 'तु:' (आपत्तियों में धैर्य)
६- 'व' (नारी की महानता)
७- 'रे' (गृह लक्ष्मी की प्रतिष्ठा)
८- 'ण्यं' (प्रकृति का अनुसरण)
९- 'भर्' (सुस्थिर मानसिक सन्तुलन)
१०- 'गो' (सहयोग और सहिष्णुता)
११- 'दे' (इन्द्रियों का नियन्त्रण)
१२- 'व' (पवित्र जीवन)
१३- 'स्य' (परमात्मा और स्वार्थ का समन्वय)
१४- 'धी' (सर्वतो मुखी उन्नति)
१५- 'म' (ईश्वरीय न्याय और नियम)
१६- 'हि' (विवेक की कसौटी)
१७- 'धि' (जिन्दगी और मौत)
१८- 'यो' (धर्म की सुदृढ़ धारणा)
१९- 'यो' (प्राण घातक व्यसन)
२०- 'न:' (सावधानी और सुरक्षा)
२१- 'प्र' (दूरदर्शिता और उदारता)
२२- 'चो' (स्वाध्याय और सत्सङ्ग)
२३- 'द' (आत्म ज्ञान और आत्म कल्याण)
२४- 'या' (सन्तान की महान् जिम्मेदारी)
२५- 'त्' (शिष्टाचार और सहयोग)

१- ईश्वर का विराट रूप

गायत्री मंत्र का प्रथम पद "ॐ भूर्भुव: स्व:" ईश्वर के विराट स्वरूप की झाँकी कराता है-

भूर्भुवः स्वस्त्रयो लोका व्याप्त भोम्ब्रह्मतेषु हि ।
स एव तथ्यतो ज्ञानी यस्तद्वेति विचक्षण ॥

अर्थात्—"भू: भुव: स्व:" ये तीन लोक हैं । इनमें 'ओऽम्' ब्रह्म व्याप्त है। जो उस ब्रह्म को जानता है वास्तव में वही ज्ञानी है ।"

भू: (पृथ्वी) भुव: (पाताल) स्व: (स्वर्ग) ये तीनों ही लोक परमात्मा से परिपूर्ण हैं । इसी प्रकार भू: (शरीर) भुव: (संसार) स्व: (आत्मा) ये तीनों ही परमात्मा के क्रीड़ा स्थल हैं । इन सभी स्थलों को, निखिल विश्व ब्रह्माण्ड को, भगवान का विराट रूप समझकर, उस उच्च आध्यात्मिक स्थिति को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए, जो गीता के ११ वें अध्याय में भगवान ने अपना विराट् रूप बतलाकर अर्जुन को प्राप्त कराई थी ।

प्रत्येक जड़ चेतन पदार्थ में, प्रत्येक परमाणु में, भू: भुव:स्व: में, सर्वत्र 'ओऽम्' ब्रह्म को व्याप्त देखना, प्रत्येक वस्तु में विश्व व्यापी परमात्मा का दर्शन करना, एक ऐसी आत्मिक विचार पद्धति है, जिसके द्वारा विश्व सेवा की भावना पैदा होती है । इस भावना के कारण संसार के प्रत्येक पदार्थ एवं जीव के सम्बन्ध में एक ऐसी श्रद्धा उत्पन्न होती है, जिसके कारण अनुचित स्वार्थ-साधन का नहीं वरन् सेवा का ही कार्यक्रम बन पड़ता है । ऐसा व्यक्ति प्रभु की इस सुरम्य वाटिका के किसी भी कण के साथ अनुचित अथवा अन्याय मूलक व्यवहार नहीं कर सकता ।

कर्तव्यशील पुलिस, न्यायाधीश अथवा राजा को सामने खड़ा देखकर कोई पक्का चोर भी चोरी करने या कानून तोड़ने का साहस नहीं कर सकता । इसी प्रकार जिस व्यक्ति के मन में यह भावना दृढ़तापूर्वक समाई हुई है कि परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है और हजार आँखों से उसके हर विचार और कार्य को देख रहा है तो उसकी यह हिम्मत नहीं हो सकती कि कोई पाप गुप्त या प्रकट रूप से करे ।

आध्यात्मिकता का मूल आधार

जो व्यक्ति भगवान के इस विराट् स्वरूप की वास्तविकता को हृदयंगम कर लेगा और विश्व के कार्य-कारण रहस्य को समझ जायगा, वह सदैव यही विश्वास करेगा कि भगवान इस सृष्टि में आत्म रूप होकर प्रतिष्ठित है । इस प्रकार की भावना जीवन के अंत तक स्थिर रहे इसी उद्देश्य से हमारे यहाँ योग्यता, बुद्धि, सामर्थ्य के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के कर्तव्य निश्चित कर दिये गये हैं । कर्तव्यों में विभिन्नता होते हुए प्रेरणा में समता है, एक निष्ठा है, एक उद्देश्य है और यह उद्देश्य ही अध्यात्म कहलाता है । यह अध्यात्म लादा नहीं गया है, थोपा भी नहीं गया है, बल्कि प्राकृतिक होने के कारण स्वभाव है और स्वभाव को अध्यात्म कहने भी लगे हैं । 'स्वभावो अध्यात्म उच्यते ।'

विराट् के दो विभाग हैं । एक है अन्त:चैतन्य और दूसरा है बाह्य अंग । बाह्य अंग के समस्त अवयव अपनी-अपनी कार्य दृष्टि से स्वतंत्र सत्ता रखते हैं । कर्तव्य भी उनकी उपयोगिता की दृष्टि से प्रत्येक के भिन्न-भिन्न हैं । लेकिन ये सब हैं उस विराट् अंग की रक्षा के लिए, उस अन्त:चैतन्य को बनाये रखने के लिए । इस प्रकार अलग होकर और अलग कर्मों में प्रवृत्त होते हुए भी जिस चैतन्य के लिए उनकी गति हो रही है, वही हिन्दू संस्कृति का मूलाधार है । गति की यह एकता-समता विनष्ट न हो इसी के लिए संस्कृति के साथ धर्म को जोड़ा गया है और यह

योग ऐसा हुआ है जिसे प्रथक नहीं किया जा सकता। यहाँ तक कि दोनों समानार्थक से दिखाई पड़ते हैं ।

धर्म शब्द की व्युत्पत्ति से ही विराट् की एकता का भाव स्पष्ट हो जाता है । जो वास्तविक है उसी की धारणा रखना धर्म है। वास्तविक है-चैतन्य । यह नित्य है, अविनश्वर है, शाश्वत है, सभी धर्मों में आत्मा के नित्यत्व को, शाश्वतपन को स्वीकार किया गया है। लेकिन अंगांगों में प्रथक दिखाई देते रहने पर भी जो उसमें एकत्व है, उसको सुरक्षित रखने की ओर ध्यान न देने से विविध सम्प्रदायों की सृष्टि हो पड़ी है । तो भी धर्म की इस एकता को बनाये रखने, जागृत रखने की प्रवृत्ति अभी तक कायम है, यही कारण है कि संसार में नाना सम्प्रदायों-मजहबों की सृष्टि हुई लेकिन आज उनका नाम ही शेष है । पर हिन्दू अपनी विशालता के साथ जिन्दा है । यह धर्म वास्तव में मानव-धर्म है । मानव की सत्ता जिसके द्वारा कायम रह सकती है और जिससे वह विश्व चैतन्य के विराट् अंग का अंग बना रह सकता है, उसी के लिए इसका आदेश है ।

हमारे धर्म की सबसे बड़ी विशेषता उसकी अपनी विशिष्ट उपासना पद्धति है। विश्व आत्मा की उपासना के लिए उसके समय विभाग में कोई एक समय निश्चित नहीं है । उपासना देश और काल में विभाजित नहीं है । उनका तो प्रत्येक क्षण उपासनामय है । वे अपने विश्व चैतन्य को एक क्षण के लिए भी भूलना नहीं चाहते, बल्कि गतिविधि का प्रत्येक भाग इन चैतन्य देव के लिए ही लगाना चाहते हैं ।

विराट् के चार स्वरूप

हिन्दू धर्म के पौराणिक ग्रन्थों में ब्रह्माजी का जो स्वरूप वर्णित है, उसमें उनके चार मुख दिखलाये गये हैं। यह परमात्मा की सत्ता का एक आलंकारिक चित्र है । चार मुख उसके चार भेदों का दिग्दर्शन कराते हैं । इन चार मुखों को (१) ब्रह्म (२) ईश्वर (३) विष्णु और (४) भगवान कहा जाता है । वैसे तो परमात्मा एक ही है, पर उससे उत्पन्न विश्व व्यवस्था को समझने के लिए उसके चार विभाग कर दिये गये हैं-

१-ब्रह्म

सात्विकता की ऊँची कक्षा को ब्रह्म कहते हैं, वैसे तो परमात्मा सत्, रज, तम तीनों गुणों में मौजूद हैं, पर उसकी ब्राह्मी ज्योति सतोगुण में ही है। सात्विक भाव, ब्रह्म केन्द्र से ही उत्पन्न होते हैं । मनुष्य के मन में यों तो अनेक प्रकार की इच्छाऐं उत्पन्न होती रहती हैं, पर जब सतोगुणी आकांक्षाएँ उत्पन्न होती हैं तो उनका उद्गम केन्द्र, प्रेरक बिन्दु वह ब्रह्म ही होता है । ऋषियों में, महात्माओं में, सन्तों में, सत्पुरुषों में हम परमात्मा का अधिक अंश देखते हैं, उन्हें परमात्मा के समीप समझते हैं और ऐसा मानते हैं कि परमात्मा की उन पर कृपा है । परमात्मा की विशेष सत्ता उनमें मौजूद है । यह सत का आधिक्य ही ब्राह्मी स्थिति है । पूर्ण सात्विकता में जो अधिष्ठित हो जाते हैं, वे 'ब्रह्म निर्वाण' प्राप्त कहे जाते हैं ।

मनुष्य की अन्त:चेतना प्रकृति और पुरुष दोनों के संयोग से बनी हुई है । मन, बुद्धि और चित्त अहंकार प्रकृति के भौतिक तत्वों द्वारा निर्मित हैं, जो कुछ हम सोचते, विचारते, धारण या अनुभव करते हैं, वह कार्य मस्तिष्क द्वारा होता है । मस्तिष्क की इच्छा, आकांक्षा, रुचि तथा भावना इन्द्रिय रसों तथा सांसारिक पदार्थों की भली-बुरी अनुभूति के कारण होती है । मस्तिष्क में जो कुछ ज्ञान, गति और इच्छा है, वह सांसारिक स्थूल पदार्थों के आधार पर ही बनती है, स्वयं मस्तिष्क भी शरीर का एक अंग है और अन्य अंगों की तरह वह भी पंचतत्वों से, प्रकृति से बना हुआ है । इस अन्त:करण चतुष्टय से परे एक और सूक्ष्म चेतना केन्द्र है, जिसे आत्मा या ब्रह्म कहते हैं । यह ब्रह्म सात्विकता का केन्द्र है । आत्मा में से सदा ही सतोगुणी प्रेरणाएँ उत्पन्न होती हैं । चोरी, व्यभिचार, हत्या, ठगी आदि दुष्कर्म करते हुए हमारा दिल धड़कता है, कलेजा कांपता है, पैर थरथराते हैं, मुँह सूखता है, भय लगता है और मन में तूफान-सा चलता है। भीतर ही भीतर एक सत्ता ऐसा दुष्कर्म करने के लिए रोकती है। यह रोकने वाली सत्ता आत्मा है । इसी को ब्रह्म कहते हैं, असात्विक कार्य, नीचता, तमोगुण पाप और पशुता से भरे हुए कार्य उसकी स्थिति से विपरीत पड़ते हैं, इसीलिए उन्हें रोकने की भीतर ही भीतर प्रेरणा उत्पन्न होती है। यह प्रेरणा शुभ-सतोगुणी पुण्य कर्मों को करने के लिए भी उत्पन्न होती है । कीर्ति से प्रसन्न होना मनुष्य का स्वभाव है और यह स्वभाव अच्छे-अच्छे प्रशंसनीय, श्रेष्ठ कर्म करने के लिए प्रोत्साहित करता है । शुभ कर्मों से यश प्राप्त होता है और यश से प्रसन्नता प्राप्त होती है। यश न भी मिले तो भी सत्कर्म करने के उपरान्त अन्तरात्मा में एक शान्ति अनुभव होती है, यह आत्म तृप्ति इस बात का प्रमाण है कि अन्त:करण की अंतरंग आकांक्षा के अनुकूल कार्य हुआ है । दया, प्रेम,

उदारता, त्याग, सहिष्णुता, उपकार, सेवा-सहायता, दान, ज्ञान, विवेक की सुख-शान्तिमयी इच्छा तरंगें आत्मा में से ही उद्भूत होती है । यह उद्‌गम केन्द्र ही ब्रह्म है ।

वेदान्त दर्शन ने सारी शक्ति के साथ यही प्रतिपादित किया है कि आत्मा ही ईश्वर है । 'तत्वमसि', 'सोऽहम्', 'शिवोऽहम्', 'अयमात्मा ब्रह्म' सरीखे सूत्रों का अभिप्राय यही है कि आत्मा ही ब्रह्म है । ईश्वर का प्रत्यक्ष अस्तित्व अपनी आत्मा में ही देखने की वेदान्त की साधना है । अन्य ईश्वर-भक्त भी अन्तःकरण में परमात्मा की झाँकी करते हैं, असंख्यों कविताएँ एवं श्रुतिवचन ऐसे उपलब्ध होते हैं, जिनमें यह प्रतिपादन किया गया है कि "बाहर ढूँढ़ने से नहीं अन्दर ढूँढ़ने से परमात्मा मिलता है।" सन्त कबीर ने कहा है कि परमात्मा हमसे चौबीस अंगुल दूर है। मन का स्थान मस्तिष्क और आत्मा का स्थान हृदय है । मस्तिष्क से हृदय की दूरी चौबीस अंगुल है । इस प्रतिपादन में ईश्वर को अन्तःकरण में स्थित बताया है ।

मनुष्य दैवी और भौतिक तत्वों से मिल कर बना है। इसमें तन भौतिक और आत्मा दैवी तत्व हैं । आत्मा में तीन गुण हैं, सत्, चित् और आनन्द । वह सतोगुणी है, श्रेष्ठ, शुभ, दिव्य मार्ग की ओर प्रवृत्त वाला एवं सतत् हमेशा रहने वाला अविनाशी है । चित्-चैतन्य, जाग्रत, क्रियाशील, गतिवान है, किसी भी अवस्था में वह क्रिया रहित नहीं हो सकता । आनन्द, प्रसन्नता, उल्लास, आशा तथा तृप्ति उसका गुण है । आनन्द की दिशा में उसकी अभिरुचि सदा ही बनी रहती है । आनन्द, अधिक आनन्द, अति आनन्द उपलब्ध करना उसके लिए वैसा ही प्रिय है जैसा मछली के लिए जल । मछली जलमग्न रहना चाहती है, सत् चित् आनन्द गुण वाली आत्मा में जैसे-जैसे निकटता होती जाती है वैसे ही वैसे मनुष्य अधिक सात्विक, अधिक क्रियाशील और अधिक आनन्द-मग्न रहने लगता है। योगीजन ब्रह्म की प्राप्ति के लिए साधना करते हैं । इस साधना का कार्यक्रम यह होता है कि आत्मा की प्रेरणा के अनुसार मन की सारी इच्छा और कार्य प्रणाली हो । भौतिक पदार्थों के नाशवान् अस्थिर हानिकर आकर्षणों की ओर से मुँह मोड़ कर जब आत्मा की प्रेरणा के अनुसार जीवन चक्र चलने लगता है तो मनुष्य साधारण मनुष्य न रहकर महान मनुष्य बन जाता है। ऐसे महापुरुषों के विचार और कार्य सात्विकता, चैतन्यता और आनन्ददायक स्थिति से परिपूर्ण होते हैं । उन्हें सन्त, महात्मा, योगी, तपस्वी, परमहंस, सिद्ध, आत्मदर्शी या ब्रह्म परायण कहते हैं । जिनका ब्रह्म भाव, आत्म विकास पूर्ण सात्विकता तक विकसित हो गया है, समझना चाहिए कि उनने ब्रह्म को प्राप्त कर लिया, उन्हें आत्म-दर्शन हो गया ।

२-ईश्वर

इस समस्त विश्व के मूल में एक शासक, संचालक एवं प्रेरक शक्ति काम करती है । सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह निरन्तर अपनी नियत चाल से अविश्रांत यात्रा जारी रखे हुए हैं । तत्वों के सम्मिश्रण से एक नियत व्यवस्था के अनुसार तीसरा पदार्थ बन जाता है । बीज अपनी ही जाति के पौधे उत्पन्न करता है। सूर्य एक पल का विलम्ब किए बिना ठीक समय उदय और अस्त होता है। समुद्र में ज्वार-भाटा नियत समय पर आते हैं । पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश सब की क्रियाएँ अचूक हैं । नन्हें-नन्हें अदृश्य परमाणु अत्यन्त द्रुत गति से हरकत करते हैं, पर उनकी इस गति में रंच मात्र भी अन्तर नहीं आता । एक परमाणु को दूसरे परमाणु से लड़ाने के रहस्य को ढूँढ़ कर वैज्ञानिकों ने प्रलयंकारी 'परमाणु बम' बनाये हैं । यदि एक सैकण्ड में हजारों मील की गति से घूमने वाले यह परमाणु आपस में लड़ जाया करते तो आये दिन प्रलय उपस्थित हो जाया करती परन्तु हम देखते हैं कि प्रकृति का हर एक परमाणु अपने गुण, कर्म को ठीक प्रकार कर रहा है।

यदि सृष्टि में नियमितता न होती तो एक भी वैज्ञानिक आविष्कार सफल न होता । आग कभी गर्मी देती कभी ठण्डक, तो भला उसके भरोसे कोई काम कैसे होता । नित्य अनेकों वैज्ञानिक आविष्कार हो रहे हैं, इनका आधार इसी पर निर्भर है कि प्रकृति की दृश्य और अदृश्य शक्तियाँ अपने नियत नियमों से रंचमात्र भी विचलित नहीं होतीं । यह सर्वमान्य और सर्वविदित तथ्य है कि प्रकृति की समस्त क्रिया प्रणाली नियमित है । उसके मूल-भूत नियमों में कभी अन्तर नहीं पड़ता ।

इस नियमितता और गतिशीलता के मूल में एक सत्ता अवश्य है । विचार और प्राण से रहित जड़ प्रकृति अपने आप इस क्रियाकलाप को नहीं चला सकती । रेल, मोटर, इंजन, हवाई जहाज, तलवार, कलम आदि जितने भी निर्जीव यंत्र हैं, उनके चलाने वाला कोई न कोई सजीव प्राणी अवश्य होता है, इसी प्रकार प्रकृति की नियमितता और उद्‌गम केन्द्र भी कोई न कोई अवश्य हैं । इस केन्द्र को हम ईश्वर कहते हैं । ईश्वर का अर्थ है-स्वामी । जड़ प्रकृति के निर्माण, व्यवस्था एवं संचालन में जो शक्ति काम करती है, वह ईश्वर है।

५.५ गायत्री साधना का गुह्य विवेचन

केवल जड़ प्रकृति का ही नहीं, चेतन जगत का भी वह पूरी तरह नियमन करती है। इसने अपने नियमों के अन्तर्गत प्राणिमात्र को बाँध रखा है । जो उस ईश्वर के नियमों के अनुसार चलते हैं, वे सुखी रहते हैं, विकसित होते हैं और जो उन नियमों को तोड़ते हैं वे दुःख पाते और हानि उठाते हैं । स्वास्थ्य के नियमों पर चलने वाले, सदाचारी, संयमी, मिताहारी लोग स्वस्थ रहते हैं और चटोरे, दुराचारी, स्वेच्छाचारी लोग बीमारी, कमजोरी एवं अकाल मृत्यु के शिकार होते हैं । इसी प्रकार सामाजिक, मानसिक, बौद्धिक, आत्मिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक क्षेत्रों में काम करने वाले ईश्वरीय नियमों का ठीक प्रकार से पालन करते हैं । वे उन क्षेत्रों में स्वस्थता, समृद्धि एवं उन्नति प्राप्त करते हैं और जो उन नियमों के प्रतिकूल कार्य करते हैं वे उन क्षेत्रों में दुष्परिणाम भुगतते हैं । पराक्रम, पुरुषार्थ, प्रयत्न, लगन, साहस, उत्साह एवं धैर्य यह सब सफलता के मार्ग की ईश्वरीय पगडण्डियाँ हैं । इन पर जो चलते हैं वे अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं । जो इस राजमार्ग पर नहीं चलते वे पिछड़ जाते हैं ।

ईश्वर पूर्णतया निष्पक्ष, न्यायकारी नियम रूप है । वह किसी के साथ रत्ती भर भी रियायत नहीं करता । जो जैसा करता है वह वैसा ही भोगता है। अग्नि या बिजली के नियमों के अनुसार यदि उनसे काम लिया जाय तो वे हमारे लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध होती है पर यदि अग्नि या बिजली का दुरुपयोग किया जाय तो वह भयंकर दुर्घटना उपस्थित कर देती है। इसी प्रकार जो लोग ईश्वरीय नियमों के अनुसार काम करते हैं उनके लिए ईश्वर वरदाता, त्राता, रक्षक, सहायक, कृपा सिन्धु, भक्तवत्सल है, पर जो उसके नियमों में गड़बड़ी करता है उसके लिए वह यम, काल, अग्नि, शंकर, वज्र एवं दुर्दैव बन जाता है। मनुष्य को स्वतंत्र बुद्धि देकर ईश्वर ने उसे काम करने के लिए स्वच्छन्द अवश्य बना दिया है पर नियमन अपने ही हाथ में रखा है। वह जैसे को तैसा फल दिये बगैर नहीं छोड़ता । आग और लकड़ी को इकट्ठा करना या न करना यह हमारी इच्छा पर निर्भर है, पर उन दोनों को इकट्ठा होने पर ईश्वरीय नियमों के अनुसार जो ज्वलन क्रिया होगी उसे रोकना अपने वश की बात नहीं है । इसी प्रकार शुभ-अशुभ कर्म करना तो हमारे अपने हाथ में है, पर उनसे जिन भले-बुरे परिणामों की उत्पत्ति होगी वह ईश्वरीय नियामक शक्ति के हाथ में है ।

जैन और बौद्ध कर्म के फल की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं, अतएव वे ईश्वर को, ब्रह्म की द्वितीय सत्ता को मानते हैं । सत्कर्म करना प्रकृति के कठोर, अपरिवर्तनशील नियमों का ध्यान रखना, अपने आचरणों और विचारों को ईश्वरीय नियमों की मर्यादा में रखना ईश्वर-पूजा है । अपनी योग्यता और शक्तियों को समुन्नत करना, बाहुबल के आधार पर आगे बढ़ना, अपने भाग्य का स्वयं निर्माण करना ईश्वरवादियों का प्रधान स्वभाव होता है, क्योंकि वे जानते हैं कि सबलों, क्रियाशीलों और जागरूकों को बढ़ाना और कमजोरों, अकर्मण्यों एवं असावधानों को नष्ट करना प्रकृति का नियम है । इस कठोर नियम में किसी के बूते कोई परिवर्तन नहीं हो सकता । ईश्वरवादी इस नग्न सत्य को भलीभाँति जानते हैं कि ईश्वर उन्हीं की मदद करता है जो अपनी मदद आप करता है । इसीलिए वे ईश्वरीय कृपा प्राप्त करके उसके नियमों से लाभ उठाने के लिए सदा शक्ति संचय करने तथा आगे बढ़ने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं । आत्मनिर्भर और आत्मावलम्बी होते हैं । अपने भाग्य का आप निर्माण करते हैं । ईश्वरीय नियमों को ध्यानपूर्वक देखते, परखते और हृदयंगम करते हैं तथा उनकी वज्रोपम कठोरता एवं अपरिवर्तनशीलता का ध्यान रखते हुए अपने आचरणों को 'औचित्य' के, धर्म के, सीमा के अन्तर्गत रखते हैं ।

३-विष्णु

संसार में एक संतुलन शक्ति भी काम कर रही है । जो किसी वस्तु की अतिवृद्धि को रोककर उसे यथास्थान ले आती है। संसार की सुन्दरता और वैभव शालीनता को वह कुरूपता और विनाश से बचाती है । प्रजनन-शक्ति को ही लीजिए । एक-एक जोड़ा कई-कई बच्चे पैदा करता है, यदि वह वृद्ध पीढ़ी दर पीढ़ी निर्बाध गति से चलती रहे तो थोड़े ही दिन में सारी पृथ्वी इतनी भर जाय कि संसार में प्राणियों को खड़ा होने के लिए भी जगह न मिले । मछली करीब सत्रह हजार अण्डे प्रतिवर्ष देती है । मक्खी-मच्छर और कीट-पतंग एक हजार से लेकर सात हजार तक अण्डे प्रतिवर्ष देते हैं। वे अण्डे एक-दो सप्ताह में ही पककर बच्चे की शक्ल में आ जाते हैं और फिर दो-चार हफ्ते बाद ही वे भी अण्डे देने लगते हैं । इनकी एक ही साल में प्रायः आठ पीढ़ी हो जाती हैं । यदि यह सब बच्चे जीवित रहें तो दस-पाँच साल में ही सारा संसार उनमें से एक जाति के रहने के लिए भी पर्याप्त न रहेगा । चींटी, दीमक, टिड्डी आदि कीड़े भी तेजी से बढ़ते हैं । सुअर,

बकरी आदि भी तेजी से प्रचुर संतान वृद्धि करते हैं । एक जोड़ा स्त्री-पुरुष भी औसतन आठ-दस बच्चे पैदा करता है। यह अभिवृद्धि यदि न रुके तो संसार के सम्मुख दस-पाँच वर्ष में ही बड़ी विकट परिस्थिति उत्पन्न होकर खड़ी हो सकती है । परन्तु लाखों-करोड़ों वर्ष प्राणियों को इस पृथ्वी पर हुए हो गए, ऐसी परिस्थिति कभी भी उत्पन्न नहीं हुई । सृष्टि की संतुलन-शक्ति उस विषमता को उत्पन्न होने से रोके रहती है। दुर्भिक्ष, भूचाल, महामारी, युद्ध तथा किसी न किसी दैवी प्रकोप द्वारा प्रकृति प्राणियों की प्रजनन शक्ति से उत्पन्न होने वाले खतरे का निराकरण करती रहती है ।

रात्रि का अन्धकार एक सीमा तक बढ़ता है। उस बाढ़ को प्रकृति रोकती है और पुनः दिन का प्रकाश लाती है। मध्याह्न तक सूर्य की तेजी बढ़ती है, फिर घटने लगती है। समुद्र में ज्वार आते हैं, फिर थोड़े समय बाद उसका प्रतिरोधी भाटा आता है। चन्द्रमा घटते-घटते क्षीण होता है फिर बढ़ने लगता है । गर्मी के बाद सर्दी और सर्दी के बाद गर्मी का मौसम आता है। मरने वाला जन्मता है और जन्मने वाला मृत्यु की तैयारी करता है। सृष्टि के सौन्दर्य का क्रम यथावत चला आता है, उसका बैलेंस बराबर कायम रहता है-संतुलन बिगड़ने नहीं पाता ।

पुराणों में ऐसे वर्णन आते हैं कि देवताओं को जब असुर सताते हैं तो वे इकट्ठे होकर विष्णु भगवान के पास जाते हैं और प्रार्थना करते हैं कि हमारी रक्षा कीजिए । कई पुराणों में ऐसी कथाएँ मिलती हैं कि पृथ्वी पर जब अधर्म बढ़ा तो धरती माता गौ का रूप धारण कर विष्णु भगवान् के पास गई और प्रार्थना की कि अब मुझसे पाप का बोझ नहीं सहा जाता मेरा उद्धार कीजिए । देवताओं की रक्षा करने तथा पृथ्वी का भार उतारने के लिए विष्णु भगवान अवतार धारण करते हैं । गीता में भी ऐसी ही प्रतिज्ञा है । (यदा यदा हि धर्मस्य .... तदात्मानम् सृजाम्यहम्) बुराइयों में यह गुण है कि वे आसानी से और तेजी के साथ बढ़ती हैं । पानी ऊपर से नीचे की ओर बड़ी तेजी से स्वयमेव दौड़ता है, पर यदि उसे नीचे से ऊपर चढ़ाना हो तो बड़ा प्रयत्न करना पड़ता है। पत्थर को ऊपर से नीचे की ओर फेंके तो जरा से संकेत के साथ वह तेजी से नीचे गिरेगा और अगर बीच में कोई रोकने वाली चीज न आवे तो सैकड़ों मील नीचे गिरता चला जायगा । परन्तु यदि उस पत्थर को ऊपर फेंके तो बड़ा जोर लगाकर फेंकना पड़ेगा सो भी थोड़ी ऊँचाई तक जायगा फिर गिर पड़ेगा । इसी प्रकार बुराई के मार्ग पर पतन की ओर मन तेजी से गिरता है, पर अच्छाई की ओर कठिनाई से चढ़ता है। लोगों का झुकाव पाप की ओर अधिक होने के कारण थोड़े ही समय में पाप छा जाता है और फिर उसे दूर करने के लिए 'संतुलन' ठीक करने के लिए इस विष्णु-शक्ति को किसी न किसी रूप में प्रकट होना पड़ता है, उस प्राकट्य को 'अवतार' कहते हैं ।

शरीर में रोगों के विजातीय विषैले परमाणु इकट्ठे हो जाने पर रक्त की जीवनी शक्ति उत्तेजित होती है और उन विषैले परमाणुओं को मार भगाने के लिए युद्ध आरम्भ कर देती है । रक्त के श्वेत कणों और रोग कणों में भारी मारकाट मचती है, खून-खच्चर होता है। इस संघर्ष को बीमारी कहते हैं । बीमारी में पीड़ा, फोड़ा, पीव, पसीव, दस्त, उल्टी, जलन आदि के लक्षण होते हैं । युद्ध में चोट लगती है, दर्द होता है, यही बीमारी की पीड़ा है, खून-खच्चर होता है यही पीव, यही दस्त आदि हैं । बीमारी का प्रयोजन शरीर को निर्दोष बनाना है । अवतार शक्ति का भी यही कार्य होता है। जब रावण, कंस, हिरण्यकशिप सरीखे कुविचार के प्रतिनिधि अधिक बढ़ जाते हैं तो पापों की प्रतिक्रिया स्वरूप अन्तरिक्ष लोकों में हलचल मचती है और उस विषमता को हटाने के लिए अवतार प्रकट होता है । जब ग्रीष्म ऋतु का ताप असह्य हो जाता है तो उसे शान्त करने के लिए मेघ मालाएँ गर्जती हुई चली आती हैं । पापों की अभिवृद्धि का नियमन करने के लिए वैष्णवी सत्ता अवतार धारण करके प्रकट होती है और भीषण संघर्ष उत्पन्न करके शान्ति स्थापित करती है । "परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्" अवतार का यही उद्देश्य होता है । धर्म की संस्थापना के लिए वह बार-बार प्रकट होता है ।

अवतार समिष्टि आत्मा का, परमात्मा का प्रतीक है। सभी आत्माओं की एक सम्मिलित सत्ता है, जिसे "विश्वमानवता" या समाज की एक सम्मिलित आत्मा कहते हैं । यही परमात्मा है । एक मनुष्य यह चाहता है कि मैं सुखपूर्वक रहूँ, मेरे साथ में सब प्रेम, भलाई एवं सहयोग का बर्ताव करें । कोई यह नहीं चाहता कि मेरे साथ चोरी, हिंसा, ठगी, कठोरता, अन्याय का बर्ताव करें । यही इच्छा 'विश्वमानव' की समिति आत्मा या परमात्मा की है । अवतार धर्म की रक्षा के लिए होता है। अधर्म अर्थात् विश्वमानव की इच्छाओं के प्रतिकूल कार्य जब संसार में अधिक बढ़ जाते हैं तो उन्हें दूर करने के लिए विश्वमानव के अन्तस्थल में प्रतिक्रिया होती है और विरोध का उफान

उबला पड़ता है। इस उफान को अवतार के नाम से पुकारा जाता है ।

अवतार एक अदृश्य प्रेरणा है । सूक्ष्म वातावरण में परमात्मा की इच्छा का आवेश भर जाता है। जैसे आकाश में आँधी छायी हुई हो और उसी समय पानी बरसे तो वर्षा की बूँदें उस आँधी की धूलि से मिश्रित होती है । वसन्त ऋतु में प्रकृति के सूक्ष्म अन्तराल में 'काम क्षोभ' का आवेश आता है। उन दिनों सभी नर-नारियों में, पशु-पक्षियों में, जीव-जन्तुओं में कामेच्छा फूट पड़ती है। भय, क्रोध, हिंसा, साम्प्रदायिक, राजनैतिक तनाव, घृणा तथा सत्कर्मों की भी एक लहर आती है, वातावरण में आवेश आता है। उस आवेश से प्रेरित होकर कुछ विशिष्ट पुण्यात्मा, जीवन युक्त महापुरुष संसार में आते हैं और परमात्मा की इच्छा को पूरा करते हैं । एक समय में अनेकों अवतार पूरे होते हैं, किसी में न्यून किसी में अधिक शक्ति होती है। इस शक्ति का माप करने का पैमाना 'कला' है। बिजली को नापने के लिए 'यूनिट' गर्मी को नापने के लिए 'डिग्री', लम्बाई को नापने के लिए 'इन्च' दूरी को नापने के लिए किलो मीटर जैसे होते हैं, वैसे ही किस व्यक्ति में कितना अवतारी अंश है, इसका माप कला के पैमाने से होता है। त्रेता में परशुराम जी और श्रीरामचन्द्र जी एक ही समय में दो अवतार थे । परशुराम जी को तीन कला तथा रामचन्द्र जी को बारह कला का अवतार कहा जाता है । यह तो उस समय के विशिष्ट अवतार थे । वैसे अवतार का आवेश तो अनेकों में था । वानरों की महती सेना को तथा अनेकों अन्य व्यक्तियों को अवतार के समतुल्य कार्य करते हुए देखा जाता है ।

इस प्रकार समय-समय पर युग-युग में आवश्यकतानुसार अवतार होते हैं । बड़े कार्यों के लिए बड़े और छोटे कार्यों के लिए छोटे अवतार होते हैं । सृष्टि का सन्तुलन करने वाली विष्णुशक्ति वैसे तो सदा ही अपनी क्रिया जारी रखती है, पर बड़ा रोग इकट्ठा हो जाने पर बड़ा डॉक्टर भेजती है। उस बड़े डॉक्टर को उनके महान कार्यों के अनुरूप यश एवं सम्मान प्राप्त होता है। अवतारी महापुरुषों की पूजा यथार्थ में विष्णु-शक्ति की पूजा है, जिसके वे प्रतीक होते हैं ।

लक्ष्मीपति विष्णु सृष्टि की सुन्दरता की, सम्पन्नता की, सद्बुद्धि और सात्विकता की रक्षा करते हैं । लक्ष्मीजी के चार हाथ, सुन्दरता, सम्पन्नता, सद्बुद्धि और सात्विकता के प्रतीक हैं । समस्त प्राणियों की समिष्ट-सम्मिलित आत्मा लक्ष्मी है। यह लक्ष्मी विष्णु का अर्धांग है । परमात्मा की आत्मा में समाई हुई है, संसार का नियमन करती है, साथ-साथ लक्ष्मी ही विश्वमानव की इच्छा की रक्षा भी करती है । लक्ष्मी विष्णु से अभिन्न है ।

विष्णु के उपासक-वैष्णव वे हैं जो विश्व-मानव की इच्छाओं के अनुकूल कार्य करने में अपनी शक्ति लगाते हैं । नरसिंह मेहता का प्रसिद्ध भजन है- ''वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीर पराई जाने रे।'' समाज का लाभ, संसार की सेवा, विश्व की श्री वृद्धि, विश्वमानव की सुख-शान्ति के लिए सच्चे अन्तःकरण से हर घड़ी लगे रहने वाले मनुष्य असली वैष्णव हैं । विष्णु की इच्छा ही उन वैष्णवों की इच्छा और विष्णु की कार्यप्रणाली ही उनकी कार्य प्रणाली होती है। वे पाप को घटा कर धर्म की स्थापना के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हैं । जनता को विष्णु रूप समझ कर लोकसेवा में, विष्णु पूजा में प्रवृत्त रहते हैं ।

४-भगवान

ब्रह्म की चौथी शक्ति 'भगवान' है । भगवान भक्तों के वश में होते हैं । भक्त जैसे चाहते हैं उन्हें नचाते हैं । भक्त जिस रूप में उनका दर्शन करना चाहते हैं उसी रूप में प्रकट होते हैं और उनसे जो याचना या कामना करते हैं उसे पूरा करते हैं । भगवान् की कृपा से भक्तों को बड़े-बड़े लाभ होते हैं । परन्तु यह भी स्मरण रखने की बात है कि वे केवल भक्तों को ही लाभ पहुँचाते हैं, जिनमें भक्ति नहीं है उनको भगवान से भी कुछ लाभ नहीं हो सकता । अनेकों देवी देवता भगवान के ही रूप हैं । जिस देवता के रूप में भगवान का भजन किया जाता है, उसी रूप में वैसे ही फल उपस्थित करते हुए भगवान प्रकट होते हैं ।

भगवान की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है । आत्मा के सशक्त क्रिया-रूप को भगवान कहते हैं । आत्मा अनन्त शक्तियों का पुञ्ज है, उसकी जिस शक्ति को प्रदीप्त, प्रचण्ड एवं प्रस्फुटित बनाया जाय । वह शक्ति एक बलवान देवता के रूप में प्रकट होती और कार्य करती है। किसी पक्के गुम्बजदार मकान में आवाज करने से वह मकान गूँज उठता है। आवाज की प्रतिध्वनि चारों ओर बोलने लगती है, रबड़ की गेंद को किसी दीवार पर फेंक कर मारा जाय तो जितने जोर से उसे फेंका था, टक्कर खाने के बाद वह उतने ही जोर से लौट आती है । इसी प्रकार अन्तरंग शक्तियों का विश्वास के आधार पर जब एकीकरण किया जाता है तो उससे आश्चर्यजनक परिणाम उत्पन्न होते हैं ।

सूर्य की किरणों को आतिशी शीशे के द्वारा केन्द्र-बिन्दु पर एकत्रित किया जाय तो इतनी गर्मी उत्पन्न हो जाती है कि उस केन्द्र में अग्नि जलने लगती है। मानसिक शक्तियों को किसी इष्टदेव को केन्द्र मानकर यदि एकत्रित किया जाय तो एक सूक्ष्म सजीव चेतना उत्पन्न हो जाती है। यह श्रद्धा निर्मित सजीव चेतना ही भगवान है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामायण में 'भवानी शंकरौ वन्दे श्रद्धा विश्वास रूपिणौ' श्लोक में यही भाव प्रकट किया है। उन्होंने भवानी तथा शंकर को श्रद्धा-विश्वास बताया है। श्रद्धा साक्षात् भवानी है और विश्वास मनुष्य को मृत्यु के मुख से बचा सकता है और जीवित मनुष्य को क्षण भर में रोगी बनाकर मृत्यु के मुख में धकेल सकता है। 'शंका डायन-मनसा भूत' कहावत किसी बड़े अनुभवी ने प्रचलित की है। चित्त से उत्पन्न हुई शंका डायन बन जाती है और मन का भय भूत का रूप धारण करके सामने आ खड़ा होता है। रस्सी को साँप, झाड़ी को भूत, कड़ुए पानी को जहर बना देने की और मृत्यु का खतरा उत्पन्न करने की शक्ति विश्वास में मौजूद है। केवल घातक ही नहीं निर्माणात्मक शक्ति भी उसमें है। कहते हैं "मानो तो देव नहीं तो पत्थर तो है ही।" पत्थर को देव बना देने वाला विश्वास है। विश्वास की शक्ति अपार है। शास्त्र कहता है- 'विश्वासौ फलदायकः।'

मंत्र शक्ति तथा देव शक्ति और कुछ नहीं आत्मशक्ति या इच्छा शक्ति का दूसरा नाम है। ध्यान, जप, अनुष्ठान आदि की योगमयी साधनाएँ एक प्रकार का मानसिक व्यायाम है। जैसे शारीरिक व्यायाम करने से देह पुष्ट होती है और निरोगता, सुन्दरता, दीर्घायु, भोग, सुख, सहन-शक्ति, धन उपार्जन तथा कठिन कष्ट साध्य कामों को पूरा करने की प्रत्यक्ष सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, वैसे ही मानसिक साधनाओं द्वारा आराधना, उपासना द्वारा मनोबल बढ़ता है और उससे नाना प्रकार की आलौकिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। मंत्र शक्ति देव शक्ति से जो कार्य पूरे होते हैं वे किसी दूसरे के द्वारा प्राप्त नहीं होते, वरन् अपने ही पुरुषार्थ द्वारा अपनी आत्म शक्तियों द्वारा उपलब्ध होते हैं। साधना एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा आत्म-शक्तियाँ बलवान होती हैं और मन चाहे परिणाम उपस्थित करती हैं।

भक्त, भगवान का पिता है। अपनी भक्ति द्वारा वह अपने भगवान को उत्पन्न करता और पुष्ट करता है। जो अपने भगवान् को जितना भक्ति का, साधना का, दूध पिलाता है, उसका भगवान उतना ही बलवान हो जाता है और जितना उसमें बल होता है उतना ही महत्वपूर्ण परिणाम वह उपस्थित करता है। प्रहलाद का भगवान इतना बलवान था कि खम्भ चीर डाला। नरसी का भगवान हुण्डी बरसा सकता था, परन्तु हमारे भगवानों में वह बल नहीं हैं। किसी के भगवान स्वप्न में या जाग्रत अवस्था में दर्शन दे सकते हैं। किसी के भगवान भविष्य में कोई संकेत कर सकते हैं। किसी के भगवान विपत्ति में सहाई हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि जिसने अपने भगवान को जिस योग्य बनाया होगा वह वैसे वरदान देने के लिए, वैसी सहायता करने के लिए तैयार रहेगा।

वस्तुतः मनोबल ही भगवान है। मनोबल को बढ़ाने के तरीके अनेकों हैं। योग-साधना का भारतीय तरीका ही एकमात्र उपाय नहीं है, संसार में अनेकों साधन और उपाय इसके हैं। विश्वास के आधार पर मनोबल बढ़ता है। कई व्यक्ति बिना योग-साधना के भी अपने स्वावलम्बन, आत्मविश्वास, अध्यवसाय, साहस, सत्संग एवं पराक्रम द्वारा अपना मनोबल बढ़ा लेते हैं और वही लाभ प्राप्त करते हैं जो भक्तों को भगवान प्रदान करते हैं। अनेक अनीश्वरवादी व्यक्ति भी बड़े-बड़े सिद्ध हुए हैं, राक्षस लोग देवताओं से अधिक साधन सम्पन्न थे, असुरों को बड़े-बड़े अद्भुत वरदान प्राप्त थे, आज भी वैज्ञानिक लोग बड़े-बड़े अद्भुत आविष्कार कर रहे हैं। इस सबके मूल में उनकी मानसिक विलक्षण शक्तियाँ काम कर रही हैं। यह भगवान की ही कृपा है। भगवान को सुर और असुर सभी बिना भेदभाव के प्रसन्न कर सकते हैं उनका अनुग्रह और वरदान प्राप्त कर सकते हैं।

ब्रह्म की मूल सत्ता निर्लिप्त है, वह नियम रूप है, व्यक्तिगत रूप से किसी पर प्रसन्न, अप्रसन्न नहीं होती। उस पर आराधना, पूजा या निन्दा से कोई प्रभाव नहीं होता। अग्नि देवता को गाली देने वाले या पूजने वाले में भेद की कोई आवश्यकता नहीं। जो भी उसके नियमों में अनुरूप चलेगा, लाभ उठावेगा और जो अग्नि को अनियमित रूप से छुवेगा, निश्चयपूर्वक जल जायेगा। आत्मा का, ईश्वर का, विष्णु का यही नियम है। पर भगवान की लीला विचित्र है। वे भक्त-वत्सल हैं। उन्हें जो जिस भाव से भजता है, कुएँ की आवाज की तरह से उसे वैसे ही भजने लगते हैं। कीर्तन, कथा, जप, तप, पूजा, पाठ, ध्यान, भजन यह भगवान की प्रसन्नता के लिए ही है। श्रद्धा और विश्वास न हो तो सारे अनुष्ठान निष्फल हैं।

भगवान से, आत्मबल से, आस्तिक-नास्तिक सभी अपने-अपने ढंग से लाभ उठाते हैं। संसार के महापुरुषों की जीवनियाँ पढ़ने पर उनके अद्भुत आश्चर्यजनक कार्यों

का जो विवरण मिलता है, उससे हम आश्चर्यान्वित रह जाते हैं और सोचते हैं कि किसी देवता की कृपा से ही वे इतने बड़े कार्यों को पूरा कर सके होंगे । वह देवता भगवान है- जिसे मनोबल भी कहते हैं । प्रयत्न से, साधना से, विश्वास से, श्रद्धा-भक्ति से मनोबल बढ़ता है और फिर उसकी सहायता से बड़े-बड़े कठिन कार्य पूरे हो जाते हैं। मैस्मरेज्म विद्या जानने वाले अपने अकिंचन मनोबल से बड़े-बड़े खेल दिखाते हैं । यह बल अधिक हो जाता है तो जिस दिशा में भी चाहे मनुष्य मोर्चे पर मोर्चा फतह करता हुआ आगे बढ़ता जाता है। अनायास, अप्रत्याशित सुअवसर भी उसे प्राप्त होते हैं। धन को देखकर धन, वैभव को देखकर वैभव और सौभाग्य को देखकर सौभाग्य अपने आप अनायास टपक पड़ते हैं । इन अनायास लाभों में भी सबल की सहायता का ईश्वरीय नियम काम किया करता है ।

भगवान कल्पवृक्ष हैं । उन्हें जो जिस भाव से भजता है, उसकी इच्छा पूर्ण करते हैं । दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि जो व्यक्ति मन तत्व के जिस पहलू को बलवान बना लेता है, उसे उस दिशा में पर्याप्त सफलताएँ मिलती हैं।

इस प्रकार चतुर्मुखी ब्रह्म (ब्रह्मा) की क्रिया पद्धति इस सृष्टि में दृष्टिगोचर हो रही है। उपनिषदों में इसे चार वर्ण वाला ब्रह्म भी कहा है। सत् प्रधान आत्मा को ब्राह्मण, शासनकर्त्ता को स्वामी, ईश्वर को क्षत्रिय, लक्ष्मीपति विष्णु को वैश्य एवं भक्त के वश में पड़े हुए, भक्त की इच्छानुसार कार्य करने वाले भगवान को शूद्र कहा जाता है। यह विचार भेद उसकी शक्तियों का रूप समझने-समझाने के लिए आचार्यों ने उपस्थित किया है। वस्तुतः उसकी अनन्त शक्तियाँ हैं और वह मनुष्य की बुद्धि की पहुँच से बहुत अधिक आगे हैं ।

ईश्वरवाद की व्याख्या और वास्तविकता

यद्यपि ईश्वर संसार का मूल आधार है और सृष्टि के आदि से सभी मनुष्य किसी न किसी रूप में उसे मानते आये हैं, तो भी विद्वानों में इस सम्बन्ध में काफी मतभेद हैं । खासकर दार्शनिक विद्वान तो केवल उसकी बात को स्वीकार कर सकते हैं जो तर्क-संगत हो । इस दृष्टि से ईश्वरवाद के सिद्धान्त की विस्तारपूर्वक व्याख्या की जानी आवश्यक है।

वैदिक ईश्वरवाद का विश्लेषण करने पर हम उसके अन्तर्गत निम्न तत्वों का समावेश पाते हैं । (१) ईश्वर हमारे गुप्त कार्यों और विचारों को भी जानता है, वह बहुत बलवाला है । (२) ईश्वर प्रसन्न होने पर भौतिक सुख सामग्रियाँ और परलोक में स्वर्ग एवं मोक्ष देता है। (३) वह नाराज होने पर दैविक, दैहिक और भौतिक कष्ट देता है। (४) धर्माचरण और उपासना से वह प्रसन्न होता है, पापी और नास्तिक पर अप्रसन्न होता है। अनेकानेक मंत्र, सूत्र, श्लोक इन्हीं चार धारणाओं के आस-पास चक्कर लगाते हैं । अर्थात् नाना प्रकार से इन्हीं चार बातों का प्रतिपादन-उपदेश करते हैं । अब हमें विचार करना चाहिए कि कैसी बुद्धिमत्तापूर्वक मानसिक शासन करने की यह व्यवस्था है । ईश्वर सर्वव्यापक होने से हमारे सब कामों को देखता है, यह शासन की अत्यन्त व्यापकता के लिए है । देखा गया है कि पुलिस थाने के पास चोर लोग उपद्रव नहीं मचाते, पर जहाँ पुलिस की पहुँच कम और देर में होती है, वहाँ चोरियाँ-डकैतियाँ अधिक होती हैं । भरी हुई चलने वाली सड़कों पर तो लूट नहीं हो सकती, पर निर्जन स्थानों में लुटेरों की खूब घात लगती है। प्रकाश की अपेक्षा अन्धकार में अपराध अधिक होते हैं । इससे प्रतीत होता है कि दुष्टता भरे काम की अधिकता एवं न्यूनता इस बात पर निर्भर है कि चोर को कोई देखता है या नहीं ? देखने वाला पहलवान है या नहीं ? बन्दर किसी छोटे बच्चे को कमजोर समझकर उसके हाथ से रोटी छीन ले जाता है, पर बड़े आदमी की ओर बढ़ने में उसकी हिम्मत नहीं पड़ती, क्योंकि बन्दर जानता है कि बलवान आदमी सहज में रोटी नहीं छीनने देगा और डण्डे से हड्डी-पसली तोड़ कर रख देगा । ईश्वर अनन्त बल वाला है, सर्व व्यापक है और पाप से अप्रसन्न होता है। इसका अर्थ दूसरे शब्दों में यह हो सकता है कि कोई हाथी जैसे बल वाला पुलिस का खुफिया सिपाही हाथ में संगीन और हथकड़ी लिए अदृश्य रूप से हमारी निगरानी के लिए हर वक्त शिर के ऊपर उड़ता फिरता है । यह विश्वास जितना ही अधिक सच्चा, स्पष्ट और बलवान होता है उतना ही मनुष्य धर्म प्रिय बन जाता है । उपरोक्त विश्वास जितना ही संशयात्मक, अस्पष्ट, धुँधला और निर्बल होता है, उतना ही स्वच्छन्दता एवं दम्भिकता बढ़ती जाती है । अपराधी मनोवृत्ति उसी मात्रा में बढ़ती जाती है। ईश्वरीय शासन नहीं है, संदेहात्मक एवं निर्बल है, ऐसी मान्यता बढ़ने से मानसिक अराजकता फैलती है। जब गदर होता है तब उपद्रवी लोग पूरी तरह स्वार्थ, साधन करते हैं क्योंकि उनका विश्वास होता है कि राजसत्ता नष्ट या निर्बल हो गई है, वह हमें दण्ड नहीं दे

सकती। हम देखते हैं कि ईश्वर-भक्त कहाने वाले लोग भी बड़े पाप करते हैं, इसका मनोवैज्ञानिक हेतु यह है कि पाखण्ड की तरह लोगों को भुलावे में डालने के लिए सस्ती वाहवाही लूटने के निमित्त वे लम्बे-चौड़े तिलक लगाते हैं, कण्ठीमाला धारण करते हैं, रामधुन लगाते हैं, पर मानसिक भूमिका के अन्तर्गत ईश्वर की अत्यन्त ही धुँधली सत्ता धारण किए रहते हैं। ऊपर की पंक्तियों में अदृश्य रूप से चौकीदारी करते हुए शिर पर उड़ने वाले पुलिस मैन के समतुल्य जिस कल्पना का उल्लेख किया गया है वह चित्र तो उनके मन में बहुत ही धुँधला होता है। इसलिए मानसिक अराजकता के अंधेरे में उनकी पशु प्रवृत्तियाँ मनमानी करती रहती हैं।

ईश्वरवाद का वह प्रथम सिद्धान्त ही आधारभूत है। ऐसी घड़ी किस काम की, जिसमें सुइयाँ न हों। बेपेंदी का लोटा भला किसी की क्या प्यास बुझा सकता है? वेद के जितने ही मंत्रों में ईश्वर सम्बन्धी वर्णन है। उनके अधिकांश भाग में ईश्वर के महानता सूचक गुणों का गान है। उन गुणों में भी सर्व व्यापकता और बल शालीनता का उल्लेख अधिक किया है। प्रयोजन यह है कि मनुष्यों के मस्तिष्क में यह चित्र बहुत ही साफ और सुदृढ़ बन जाय कि वह अनन्त बल वाला शंख, चक्र, गदा जैसे कठोर दण्ड शास्त्रों से सुसज्जित ईश्वर पाप से बहुत कुढ़ता है और हमारी चौकीदारी के लिए अदृश्य रूप से हर घड़ी साथ रहता है। जिसके मन में यह कल्पना चित्र जितना अधिक गहरा और श्रद्धा विश्वासमय है वह उतना ही बड़ा आस्तिक है। जिसके अन्तःकरण में यह विश्वास जितना निर्बल है वह उतने ही अंशों में नास्तिक है।

चार सिद्धान्तों में ऊपर कहा हुआ सर्व व्यापकता का सिद्धान्त प्रमुख है। शेष तीन उसकी पूर्ति के लिए हैं। प्रसन्न प्रलोभन का तत्व मौजूद है, जो पशु स्वभाव को ललचाने के लिए आवश्यक है। धर्म ग्रन्थों का बहुत बड़ा अंश 'माहात्म्य' के वर्णन में लिखा हुआ है। गंगा-स्नान से पाप कट जाते हैं, सत्यनारायण की कथा सुनने से धन प्राप्त होता है, शंकर जी औधड़दानी हैं, वे खुश हो जायँ तो मालामाल कर देते हैं, हनुमानजी रोगों, भूत-पिशाचों को मार भगाते हैं, तुलसी पूजन से लड़की को अच्छा वर एवं लड़के को गुड़िया-सी बहू मिलती है। ब्रह्मकुण्ड में स्नान करने से सन्तान होती है। हर एक तीर्थ का व्रत-उपवास का, पुस्तक सुनने-पढ़ने का, सत्संग का निदान छोटे से बड़े तक सभी उत्तम कामों के हिन्दू धर्म ग्रन्थों में बड़े-बड़े माहात्म्य लिखे मिलते हैं। वह सब मनुष्य के पशु स्वभाव को ललचाने के लिए हैं। बैल को घास के तृण दिखाते ले जाइए वह आपके पीछे-पीछे चला चलेगा। छोटी मानसचेतना वालों के लिए प्रलोभन आवश्यक समझकर माहात्म्यों का उल्लेख करना धर्माचार्यों के लिए अत्यन्त आवश्यक था, इसके बिना वह कार्य आगे न बढ़ता और गाड़ी रुक जाती। ईश्वर के सम्बन्ध में भी उन्हें इसी नीति का अवलम्बन करना पड़ा।

तार्किक लोग अक्सर यह कहते सुने जाते हैं कि भजन का कुछ माहात्म्य नहीं, भजन करने वालों को कोई ऐसी सम्पदा नहीं मिलती जो भजन न करने वालों को न मिलती हो। यदि मिलती है तो उसमें उनका कर्तव्य हेतु होता है भजन नहीं। ऐसे महानुभावों से हमारा निवेदन है कि वे हर बात में तर्क न करें। "दूध पीने से चोटी बढ़ जायेगी।" ऐसे उपदेश माताएँ अपने बच्चों को अधिक दूध पिलाने के लिए करती हैं। "अमुक काम कर लावेगा तो राजा बेटा हो जायगा" ऐसे-ऐसे प्रलोभनों द्वारा माताएँ अपने बालकों को आज्ञानुवर्ती बनाती हैं। यदि माताएँ इस मार्ग को छोड़कर अधिक दूध पिलाने के लिए बच्चों को समझावें कि "दूध में विटामिन, कैल्शियम, फॉस्फोरेस, प्रोटीन आदि ऐसे तत्व हैं जो रक्त के श्वेत कीटाणुओं की वृद्धि करते हैं," तो यह उपदेश सत्य होने पर भी निरर्थक होगा। आज्ञानुवर्ती बनाने के लिए यदि वे राजा बेटा होने का प्रलोभन छोड़ दें और मनुस्मृति के श्लोक खोलकर धर्मोपदेश सुनावें एवं बच्चों का अल्पज्ञ होने के कारण माता की आज्ञा मानने से ही अधिक मानसिक विकास होता है ऐसा उपदेश करें, तो वह निरर्थक होगा। तार्किक कह सकते हैं कि माता झूँठ बोलती है, चोटी बढ़ाने और राजा बेटा होने का प्रलोभन असत्य है। परन्तु इतना कहने से ही काम न चलेगा उन्हें वास्तविकता की पेचीदगी तक पहुँचना होगा। छोटे बच्चे का अविकसित मस्तिष्क लोभ के अतिरिक्त और किसी ढंग से प्रभावित नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार धर्माचार्यों ने भी धर्म-मार्ग में बाल बुद्धि, स्वल्प ज्ञान रखने वालों के लिए नाना प्रलोभनों से युक्त माहात्म्यों की रचना की। और कोई मार्ग भी तो उनके पास नहीं था। इस प्रकार ईश्वर की कृपा से ही सुख मिल सकता है, ऐसी मान्यता रखने वालों से हमारा कुछ विरोध नहीं है। शास्त्र में ईश्वर शब्द बहुत अर्थ वाचक है, कहीं-कहीं इसका अर्थ कर्म भी होता है। कर्तव्यवादी इस स्थल पर ईश्वर शब्द का अर्थ कर्म करते हों तो कोई आपत्ति नहीं है।

इसके बाद भय का नम्बर आता है। अप्रसन्न होने पर ईश्वर नाना प्रकार के दण्ड देता है । यह प्रलोभन वाले उपरोक्त भाग का दूसरा पहलू है। किसी पदार्थ के दो पहलू होते हैं, एक उजाला दूसरा अन्धेरा । ब्रह्मचर्य रखने से बलवान बनोगे यह वीर्य रक्षा का उजाला पहलू है । वीर्य नाश करने से रोगों से ग्रसित हो जाओगे यह उसी एक सिद्धान्त का अंधेरा पहलू है । विद्या पढ़ने से कितने सुख मिलेंगे जब यह बताया जाता है, तो यह भी कहा जाता है कि न पढ़ने से बहुत अभावग्रस्त एवं दुखी जीवन बिताना पड़ेगा । इसी प्रकार जहाँ ईश्वर की प्रसन्नता से सुख मिलना कहा गया है, वहाँ उसका अंधेरा पहलू यह भी बताया गया है कि ईश्वर के नाराज होने से दुःख और कष्ट मिलते हैं । लाभ को उजला पहलू कहा जाता है, भय उसका अंधेरा पहलू है । लोभ से भी आगे न चलने वाले पशु स्वभाव के लिए अन्तिम मार्ग भय ही बच रहता है । धर्म आज्ञाओं पर न चलोगे तो ईश्वर नाना प्रकार की आधि-व्याधियों से व्यथित कर डालेगा । यह भावना अधर्म पर चलने से रोकती है । यदि गहरा विश्वास जम जाय तो निस्संदेह जीवन की सारी क्रियाएँ उसी के अनुकूल होने लगती हैं । पानी में डूबने से मृत्यु हो जाती है, यह विश्वास सदैव गहरे पानी में जाने से सावधान करता रहता है। प्रत्यक्ष रूप से डूबकर मरने का अनुभव अपने को चाहे जीवन भर न हुआ हो पर विश्वास अनुभव से भी अधिक प्रबल होता है । अनुभव को भूला जा सकता है, पर विश्वास का अविस्मरण नहीं होता । भूतों का विश्वास अधिकांश में कल्पित होता है, पर उस अन्ध-विश्वास से ही अगणित व्यक्ति सुख-दुख का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, कितने ही तो उसी में उलझकर मर तक जाते हैं। निस्संदेह विश्वास बड़ी प्रबल शक्ति है । ईश्वर पाप का दण्ड देता है यदि इस बात का पूर्ण निश्चय हो जाय तो संगीन के पहरे में हथकड़ी लगा हुआ कैदी जैसे भलमन-साहत के साथ चलता है वैसा ही आचरण ईश्वरवादी को करना पड़ेगा ।

चौथा तत्व यह है कि धर्माचरण और उपासना से ईश्वर प्रसन्न होता है इसके विपरीत से अप्रसन्न । धर्माचरण की बात हम उपरोक्त पंक्तियों में विस्तारपूर्वक समझा चुके हैं कि तुच्छ स्वार्थ से, पशुवृत्ति से, सामाजिक जीवन की ओर बढ़ने के लिए धर्म का सारा विधान है और उस विधान की रक्षा के लिए ईश्वरीय शासन की स्थापना है । इसलिए यह बात सामने आने पर भारी संदेह उठ खड़ा होता है क्योंकि इससे तो ईश्वर चापलूसी पसन्द, पक्षपाती, नबाव प्रकृति का सिद्ध होता है । उसकी अलिप्तता, समदर्शीपन, निस्पृहता पर स्पष्ट आक्षेप आता है और वह भी साधारण मनोविकारी मनुष्य की सीमा में आ जाता है। इस संदेह का समाधान करने के लिए केवल शुष्क वाद-विवाद से काम न चलेगा, वरन् हमें गहराई में उतर कर उस निमित्त का पता लगाना होगा, जिसके कारण ईश्वर को उपासना प्रिय स्वभाव वाला माना गया है । डाक्टर ने अपने अनुसंधानों के आधार पर यह प्रमाणित कर दिया है कि मूल वृत्तियों के विरुद्ध यदि कोई नवीन मार्ग निकालना हो तो उसके बार-बार लगातार और कठोर प्रयत्न द्वारा नई आदत डालनी पड़ती है, इस पर भी वह आदत इतनी निर्बल होती है कि कुछ दिनों उसकी ओर से उदासीनता धारण कर ली जाय तो वह मिट जाती है । इसलिए ऐसी आदतों को सुरक्षित करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहना पड़ता है। यह अनादि सत्य वैदिक ऋषियों को भी ज्ञात था । उन्होंने सोचा कि ईश्वरीय शासन की सर्वांगीण व्यवस्था बना देने पर भी यह पशु प्रवत्तियों के मुकाबले में हलकी रहेगी और जरा भी ढील देने पर कठिनाई बढ़ जायगी । इसलिए नित्य कई-कई बार विशेष प्रेम एवं भक्ति के साथ मूर्ति-पूजा के सहारे ध्यान में मग्न होकर नित्य नैमित्तिक कर्मकाण्डों द्वारा ईश्वर की पूजा, उपासना करते रहने का आदेश किया। पतंग बनाई जाय, उसमें डोरी बाँधी जाय, हवा में उड़ाई जाय फिर डोरी को हाथ में से छोड़ दिया जाय, तो सारा प्रयत्न निरर्थक हो जाय । जब तक पतंग को हवा में उड़ाना है, तब तक डोरी को हाथ में रखना चाहिए, उसकी गतिविधि का संचालन करना चाहिए । फौजी सिपाहियों को नित्य परेड करनी पड़ती है, ताकि वह उस शिक्षा को भूल न जायें, वरन् अभ्यस्त बने रहें । धर्म की रक्षा के लिए ईश्वर का शासन बनाया गया, पर बिना नियमितता के वह शासन-विधान कैसे चलेगा ? चूँकि ईश्वरवाद नया शिक्षण है, स्वार्थों को जीवन जानता है, पर ईश्वर के बारे में उसको मनुष्य-योनि में ही ज्ञान मिलता है । पुरानी आदत के मुकाबले में नयी, निश्चय ही कमजोर होती है। जंगली सुग्गा बेर जामुन खाया करता है, पर सोने के पिंजडे में दाख, अंगूर खाने का नया सुख ग्रहण करने के लिए पकड़ा जाना पसन्द नहीं करता । पिंजड़े में उत्तम रहन-सहन मिलने पर भी वह फिर से उड़ जाने का यत्न किया करता है, पिंजड़े की तीलियों से लड़ते हुए भागने का उसका यह यत्न नित्य ही देखा जा सकता है । यदि पिंजड़ा कमजोर हो तो संभव है कि नई सुव्यवस्था को ठुकराकर सुग्गा उड़ जाय, चाहे उसे जंगल में कष्ट ही क्यों न सहना पड़े ? यही देवासुर संग्राम मनुष्य के मन में नित्य होता है । आगे बढ़ने

और पीछे हटने की रस्साकशी ही खिंची रहती है। ढील पड़ते ही गुड़ गोबर हो सकता है। इसलिए ईश्वरवाद के आचार्यो ने इस बात पर बहुत जोर दिया है कि ईश्वर की नित्य उपासना करनी चाहिए। इसके बिना ईश्वरीय शासन पर विश्वास करने का लाभ प्राप्त नहीं हो सकता। यही लाभ प्राप्त करना ईश्वर की प्रसन्नता एवं उसे प्राप्त करना उसकी अप्रसन्नता के अर्थों में कहा गया है।

हम मानते हैं कि ईश्वर निस्पृह है, उसे निन्दा-स्तुति की आवश्यकता नहीं, परन्तु यह भी मानना पड़ेगा कि नित्य की उपासना किए बिना ईश्वरीय शासन का विश्वास मन में दृढ़ बनाये रखना कठिन है। प्रसन्नता-अप्रसन्नता को आलंकारिक शब्दों में यहाँ इसी प्रयोजन से प्रयोग किया गया है। प्रसन्न होना सुख देना, अप्रसन्न होना दुःख देना ईश्वर के इस कार्यक्रम पर हम छोटी-मोटी दृष्टि से वाद-विवाद करके किसी ठीक निश्चय पर नहीं पहुँच सकते। यदि हम आज इसका भावार्थ यों समझें कि ईश्श्वर-उपासना में मनुष्य अपने पशु स्वभाव को दबाये रहकर सुख-शान्तिमय जीवन बिताता रह सकता है, तो यह अर्थ ठीक शास्त्रकार की आन्तरिक इच्छा के ही अनुकूल होगा। माहात्म्यों का वर्णन करते समय प्रलोभनों का समावेश जिस दृष्टि से हुआ है, उसी दृष्टि से, उपासना से ईश्वर के प्रसन्न होने और सुख देने का वर्णन है। मूल तात्पर्य इतना ही है कि ईश्वरीय विश्वासों को दृढ़ रखने का निरन्तर अभ्यास रखना आवश्यक है, जिससे धर्माचरण के लिए हमारे पूज्य पूर्वजों ने जो गूढ़ मानसिक रहस्यों के आधार पर ईश्वरवाद की महत्वपूर्ण व्यवस्था बनाई है, वह सुदृढ़ और सुव्यवस्थित बनी रहे।

ईश्वर की अनुभूति कैसे हो ?

जो वस्तु जितनी सूक्ष्म होगी वह उतनी ही व्यापक होगी। पंचभूतों में पृथ्वी से जल, जल से वायु, वायु से अग्नि और अग्नि से आकाश सूक्ष्म है, इसलिए एक-दूसरे से अधिक व्यापक हैं। आकाश-ईथर तत्व हर जगह व्याप्त है, पर ईश्वर की सूक्ष्मता सर्वोपरि है, इसलिए इसकी व्यापकता भी अधिक है। विश्व में रंचमात्र भी स्थान ऐसा नहीं है जहाँ ईश्वर न हो। अणु-अणु में उसकी महत्ता व्याप्त हो रही है। स्थान विशेष में ईश्वर तत्व की न्यूनाधिकता हो सकती है। जैसे कि चूल्हे के आस-पास गर्मी अधिक होती है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि उस स्थान पर अग्नि तत्व की विशेषता है, इसी प्रकार जलाशयों के समीप शीतल स्थान में अग्नि तत्व की न्यूनता कही जायगी। जहाँ सत्य का, विवेक का आचरण अधिक है, वहाँ ईश्वर की विशेष कलाएँ विद्यमान हैं। जहाँ आलस्य, प्रमाद, पशुता अज्ञान हैं, वहाँ उसकी न्यूनता कही जायगी। सम्पूर्ण शरीर में जीव व्याप्त है, जीव के कारण ही शरीर की स्थिति और वृद्धि होती है, परन्तु उनमें भी स्थान विशेष पर जीव की न्यूनाधिकता देखी जाती है। हृदय, मस्तिष्क, पेट और मर्मस्थानों पर तीव्र आघात लगने से मृत्यु हो जाती है, परन्तु हाथ, पाँव, कान, नाक, नितंब आदि स्थानों पर उससे भी अधिक आघात सहन हो जाता है। बाल और पके हुए नाखून जीव की सत्ता से बढ़ते हैं, पर उन्हें काट देने से जीव की कुछ भी हानि नहीं होती। संसार में सर्वत्र ईश्वर व्याप्त है। ईश्वर की शक्ति से ही सब काम होते हैं परन्तु सत्य और धर्म के कामों में ईश्वरत्व की अधिकता है। इसी प्रकार पाप प्रवृत्तियों में ईश्वरीय तत्व की न्यूनता समझना चाहिए। धर्मात्मा, मनस्वी, उपकारी, विवेकवान और तेजस्वी महापुरुषों को 'अवतार' कहा जाता है, क्योंकि उनकी सत्यनिष्ठा के आकर्षण से ईश्वर की मात्रा उनके अन्तर्गत अधिक होती है। अन्य पशुओं की अपेक्षा गौ में तथा अन्य जातियों की अपेक्षा ब्राह्मण में ईश्वर अंश अधिक माना गया है, क्योंकि उनकी सत्यनिष्ठा, उपकारी स्वभाव ईश्वर भक्ति को बलपूर्वक अपने अन्दर अधिक मात्रा में खींच कर धारण कर लेता है।

उपरोक्त पंक्तियों में बताया जा चुका है कि सम्पूर्ण जड़-चेतन सृष्टि का निर्माण, नियंत्रण, संचालन और व्यवस्था करने वाली आद्य बीज शक्ति को ईश्वर कहते हैं। यह सम्पूर्ण विश्व के तिल-तिल स्थान में व्याप्त है और सत्य की, विवेक की, कर्तव्य की जहाँ अधिकता है, वहाँ ईश्वरीय अंश अधिक है। जिन स्थानों में अधर्म का जितने अंशों में समावेश है, वहाँ उतने ही अंश में ईश्वरीय दिव्य सत्ता की न्यूनता है।

सृष्टि के निर्माण में ईश्वर का क्या उद्देश्य है ? इसका ठीक-ठीक कारण जान लेना मानव-बुद्धि के लिए अभी तक शक्य नहीं हुआ। शास्त्रकारों ने अनेक अटकलें इस सम्बन्ध में लगाई हैं, पर उनमें से एक भी ऐसी नहीं है, जिससे पूरा संतोष हो सके। सृष्टि-रचना में ईश्वर का उद्देश्य अभी तक अज्ञेय बना हुआ है। भारतीय अध्यात्म वेत्ता इसे ईश्वर की 'लीला' कहते हैं। अतः ईश्वरवाद का सिद्धान्त सर्वथा स्वाभाविक और मनुष्य के हित के अनुकूल है। आज तक मानव समाज ने जो कुछ उन्नति की है उसका सबसे बड़ा आधार ईश्वरीय विश्वास ही है। बिना परमात्मा का आश्रय लिए मनुष्य की स्थिति बड़ी निराधार हो जाती

है, जिससे वह अपना कोई भी लक्ष्य स्थिर नहीं कर सकता और बिना लक्ष्य के संसार में कोई महान कार्य संभव नहीं हो सकता। इसलिए परमात्मा के विराट् स्वरूप के रहस्य को समझ कर ही हमको संसार में अपनी जीवन-यात्रा संचालित करनी चाहिए।

२. ब्रह्मज्ञान का प्रकाश

गायत्री मंत्र का दूसरा अक्षर 'तत्' ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति और उसके प्रचार की शिक्षा देता है-

तत्वज्ञास्तु विद्वान्सो ब्राह्मणः स्व तपश्चयैः।
अन्धकारमया कुर्युर्लोकादज्ञान संभवम् ॥

अर्थात्—"तत्वदर्शी, विद्वान ब्राह्मण अपने तप द्वारा संसार के अज्ञानजन्य अन्धकार को दूर करे।"

अन्धकार में अनेक प्रकार के भय, त्रास एवं विघ्न छिपे रहते हैं। दुष्ट तत्वों की घात अन्धकार में ही लगती है। अविद्या को अन्धकार कहा गया है। अविद्या का अर्थ "अक्षर-ज्ञान की जानकारी का अभाव" नहीं है, वरन् "जीवन की लक्ष्य भ्रष्टता" है। इसी को नास्तिकता, अनीति, माया, भ्रान्ति, पशुता आदि नामों से पुकारते हैं। इस बौद्धिक अन्धकार में, आध्यात्मिक निशा में विचरण करने वाला जीव भ्रम-पतित होकर ईश्वर द्वारा निर्धारित धर्म, नीति, लक्ष्य, आचरण और कर्तव्य से विमुख होकर ऐसी गतिविधि अपनाता है जो उसके लिए नाना प्रकार के दुःख उत्पन्न करती है।

उपर्युक्त श्लोक में "ज्ञानी ब्राह्मण" को यह आदेश दिया गया है कि वह तपश्चर्या द्वारा संसार के समस्त दुःखों के मूल करण अज्ञानान्धकार को दूर करे। यहाँ 'ब्राह्मण' शब्द किसी वर्ग विशेष के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ है। आत्मा का सर्व प्रधान गुण ब्रह्म-निष्ठा और आध्यात्मिकता है। यह गुण जिसमें जितना न्यूनाधिक है, वह उतने ही न्यूनाधिक अंश में ब्राह्मण है। जिसकी आत्मा में जितना ब्राह्मणत्व है वह उतना ही तपस्वी, दूरदर्शी और तत्वज्ञानी होता है। इसी ब्राह्मणत्व को गायत्री ने सबसे पहली चुनौती दी है, ललकारा है कि अपने व दूसरों के कल्याण के लिए ब्रह्म-ज्ञान का प्रकाश फैलाकर व्यापक अन्धकार को हटाना तेरा परम पवित्र कर्तव्य है।

दीपक जब स्वयं जलता है तो उसका प्रकाश चारों ओर फैलता है और उससे दूर तक का अन्धकार नष्ट होता है। तप, दूरदर्शिता और तत्वज्ञान का दृष्टिकोण अपनाने से जो अन्तर्ज्योति उत्पन्न होती है, उसी से जनता के अन्तःकरणों में सत्य का प्रकाश प्रज्ज्वलित होता है। लोक-कल्याण और आत्मोद्धार का इससे अच्छा मार्ग और कोई नहीं हो सकता। ब्रह्मज्ञान ही संसार का सबसे बड़ा दान है।

ब्रह्मज्ञान और आस्तिकता

ब्रह्मज्ञान का पहला लक्षण सच्ची आस्तिकता है। परमात्मा सर्वत्र व्यापक है, इस सत्य को जानते तो अनेक लोग हैं, पर उसे मानते नहीं। व्यवहार में नहीं लाते। जो परमात्मा को सर्वव्यापी, घट-घटवासी मानेगा, उसका जीवन उसी क्षण पूर्ण पवित्र, निष्पाप और कषाय कल्मषों से रहित हो जायगा। गीता में भगवान ने कहा है कि जो मेरी शरण में आता है, जो मुझे अनन्य भाव से भजता है। वह तुरन्त ही पापों से छूट जाता है। निस्संदेह बात ऐसी ही है। भगवान की शरण में जाने वाला, उस पर सच्चा विश्वास करने वाला, उस पर पूर्ण आस्था रखने वाला, एक प्रकार से जीवनमुक्त ही हो जाता है।

ईश्वर का विश्वास और सच्चा जीवन एक ही वस्तु के दो नाम हैं। जो भगवान् का भक्त है, जिसने सब छोड़ कर प्रभु के चरणों में आत्म समर्पण कर दिया है, जो परमात्मा की उपासना करता है, उसे जगत्पिता की सर्वव्यापकता पर आस्था जरूर होनी चाहिए। यदि यह विश्वास दृढ़ हो जाय कि भगवान जर्रे-जर्रे में समाया हुआ है, हर जगह मौजूद है तो पाप कर्म करने का साहस ही नहीं हो सकता। ऐसा कौन-सा चोर है, जो सावधान खड़ी हुई सशस्त्र पुलिस के सामने चोरी का साहस करे। चोरी, व्यभिचार, ठगी, धूर्तता, दंभ, असत्य, हिंसा आदि के लिए आड़ की, पर्दे की, दुराव की जरूरत पड़ती है। जहाँ मौका होता है, इन बुरे कामों को पकड़ने वाला नहीं होता, वहीं इनका किया जाना संभव है। जहाँ धूर्तता को भली प्रकार समझने वालों, देखने वालों और पकड़ने वाले लोगों की मजबूत ताक सामने खड़ी होती है, वहाँ पाप कर्मों का हो सकना सम्भव नहीं। इसी प्रकार जो इस बात पर सच्चे मन से विश्वास करता है कि परमात्मा सब जगह मौजूद है वह किसी भी दुष्कर्म के करने का साहस नहीं कर सकता।

बुरा काम करने वाला पहले यह भली प्रकार देखता है कि मुझे देखने वाला या पकड़ने वाला तो कोई यहाँ नहीं है। जब वह भलीभाँति विश्वास कर लेता है कि उसका पाप कर्म किसी भी दृष्टि या पकड़ में नहीं आ रहा है, तभी वह अपने काम में हाथ डालता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने को परमात्मा की दृष्टि या पकड़ से बाहर मानते हैं, वे ही दुष्कर्म करने को उद्यत हो सकते हैं। पाप कर्म करने का स्पष्ट अर्थ यह है कि वह व्यक्ति ईश्वर को मानने का दंभ

भले ही करता हो पर वास्तव में वह परमात्मा के अस्तित्व से इन्कार करता है। उसके मन को इस बात पर भरोसा नहीं है कि परमात्मा यहाँ मौजूद है। यदि विश्वास होता तो इतने बड़े हाकिम के सामने किस प्रकार उसके कानूनों को तोड़ने का साहस करता। जो व्यक्ति एक पुलिस के चपरासी को देखकर भय से थर-थर कांपा करते हैं, वे लोग इतने दुस्साहसी नहीं होसकते कि परमात्मा जैसे सृष्टि के सर्वोच्च अफसर की आँखों के आगे, न करने योग्य काम करें, उसके कानून को तोड़ें, उसको क्रुद्ध बनावें, उसका अपमान करें। ऐसा दुस्साहस तो सिर्फ वही कर सकता है जो यह समझता हो कि 'परमात्मा' कहने-सुनने भर की चीज है। वह पोथी-पत्रों में, मन्दिर-मठों में, नदी-तालाबों में या कहीं स्वर्ग-नरक में भले ही रहता होगा, पर हर जगह वह नहीं है। उसकी दृष्टि और पकड़ से मैं बाहर हूँ।

जो लोग परमात्मा की सर्व व्यापकता पर विश्वास नहीं करते, वे ही नास्तिक हैं। जो प्रकट या अप्रकट रूप से दुष्कर्म करने का साहस कर सकते हैं, वे ही नास्तिक हैं। इन नास्तिकों में कुछ तो भजन-पूजा बिल्कुल नहीं करते, कुछ करते हैं। जो नहीं करते वे सोचते हैं कि व्यर्थ का झंझट मोल लेकर उसमें समय गँवाने से क्या फायदा? जो पूजन-भजन करते हैं वे भीतर से तो न करने वालों के समान ही होते हैं, पर व्यापार बुद्धि से रोजगार के रूप में ईश्वर की खाल ओढ़ लेते हैं। कितने ही लोग ईश्वर के नाम के बहाने ही अपनी जीविका चलाते हैं। हमारे देश में करीब ५६ लाख आदमी ऐसे हैं जिनकी कमाई, पेशा, रोजगार ईश्वर के नाम पर हैं। यदि वे यह प्रकट करें कि हम ईश्वर को नहीं मानते तो उसी दिन उनकी ऐश आराम देने वाली, बिना परिश्रम की कमाई हाथ से चली जायगी। इसलिए उन्हें ईश्वर को उसी प्रकार ओढ़े रहना पड़ता है, जैसे जाड़े से बचने के लिए गर्मी देने वाले कम्बल को ओढ़े रहते हैं, जैसे ही यह जरूरत पूरी हुई वैसे ही कम्बल को एक कोने में पटक देते हैं। यह तिजारती लोग जनता के समक्ष अपनी ईश्वर-भक्ति का बड़ा भारी घटाटोप बाँधते हैं, क्योंकि जितना बड़ा घटाटोप बाँध सकेंगे उतनी ही अधिक कमाई होगी। तिजारती उद्देश्य पूरा होते ही वे अपने असली रूप में आ जाते हैं। पापों से खुलकर खेलते हुए एकान्त में उन्हें जरा भी झिझक नहीं होती।

एक तीसरी किस्म के नास्तिक और हैं। एक प्रत्यक्ष रूप से ईश्वर के नाम से रोजी नहीं चलाते, बल्कि उल्टा उसके नाम पर कुछ खर्च करते हैं। ईश्वर का आडम्बर उनके द्वारा आये दिन रचा जाता रहता है। शरीर पर ईश्वर भक्ति के चिन्ह धारण किए रहते हैं, घर में ईश्वर के प्रतीक मौजूद होते हैं, ईश्वर के निमित्त कहे जाने वाले कर्मकाण्डों का आयोजन होता रहता है। ईश्वर-भक्त कहलाने वालों का स्वागत सत्कार, भेंट, पूजा होती रहती है। यह सब इसलिए होता है कि लोग उनके संबंध में अच्छे ख्याल रखें, उनका आदर करें, उन्हें धर्मात्मा समझें, उनके जीवन भर के कुकर्मों की कलई न खोलें और आज भी जो उनके दुष्कर्म चल रहे हैं, वे छिपे रहें।

चौथे प्रकार के नास्तिक वे हैं जो पाप छिपाने या धन कमाने के लिए नहीं किन्तु अपने को पुजवाने के लिए, यश और श्रद्धा प्राप्त करने के लिए ईश्वर भक्त बनते हैं, इसके लिए कुछ त्याग और कष्ट भी उठाते हैं, पर भीतर से उन्हें प्रभु की सर्व व्यापकता पर आस्था नहीं होती। कुछ लोग रिश्वत के रूप में ईश्वर-भक्ति को साधते हैं। अमुक भोग-ऐश्वर्य की लालसा उन्हें उसी मार्ग पर ले जाती है, जिस प्रकार आजकल घूँसखोर हाकिमों को एक मोटी रकम झुकाकर लोग मनमाना काम करवा लेते हैं और थैली खर्च करके थैला भरने में सफल हो जाते हैं। कुछ लोग तथाकथित ऋद्धि-सिद्धियों और न जाने किन-किन अप्रत्यक्ष वैभवों के मनसूवे बाँधकर उसे प्राप्त करने की फिकर में ईश्वर के दरवाजे खटखटाते रहते हैं।

इस प्रकार प्रत्यक्षत: ईश्वर-भक्त दिखाई देने वालों में भी असंख्यों मनुष्य ऐसे हैं, जिनकी भीतरी मनोभूमि परमात्मा से कोसों दूर है। उनका निजी जीवन, घरेलू आचरण, व्यक्तिगत व्यवहार ऐसा नहीं होता, जिससे यह प्रतीत हो कि यह ईश्वर को हाजिर-नाजिर समझ कर अपने को बुराइयों से बचाते हैं। ऐसे लोगों को किस प्रकार आस्तिक कहा जाय? जो पापों में जितना ही अधिक लिप्त है, जिसका व्यक्तिगत जीवन जितना ही दूषित है, वह उतना ही बड़ा नास्तिक है। लोगों को धोखा देकर अपना स्वार्थ साधना, छल, प्रपंच, माया, दंभ, भय, अत्याचार, कपट और धूर्तता से दूसरों के अधिकारों को अपहरण कर स्वयं सम्पन्न बनना नास्तिकता का स्पष्ट प्रमाण है। जो पाप करने का दुस्साहस करता है, वह आस्तिक नहीं हो सकता, भले ही वह आस्तिकता का कितना ही बड़ा प्रदर्शन क्यों न करता हो।

ईश्वर-भक्ति का जितना ही अंश जिसमें होगा वह उतने ही दृढ़ विश्वास के साथ ईश्वर की सर्व व्यापकता पर विश्वास

करेगा, सब में प्रभु को समाया हुआ देखेगा। आस्तिकता का दृष्टिकोण बनते ही मनुष्य भीतर और बाहर से निष्पाप होने लगता है। अपने प्रियतम को घट-घट में बैठा देखकर वह सबसे नम्रता का, मधुरता का, स्नेह का, आदर का, सेवा का, सरलता, शुद्धता और निष्कपटता से भरा हुआ व्यवहार करता है। भक्त अपने भगवान के लिए व्रत, उपवास, तप, तीर्थयात्रा आदि द्वारा स्वयं कष्ट उठाता है और अपने प्राणवल्लभ के लिए नैवेद्य, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप, भोग, प्रसाद आदि कुछ न कुछ अर्पित किया ही करता है। स्वयं कष्ट सहकर भगवान को कुछ समर्पण करना पूजा की सम्पूर्ण विधि-व्यवस्थाओं का यही तथ्य है। भगवान को घट-घटवासी मानने वाले भक्त अपनी पूजा-विधि को इसी आधार पर अपने व्यावहारिक जीवन में उतारते हैं। वे अपने स्वार्थों की उतनी परवाह नहीं करते, खुद कुछ कष्ट भी उठाना पड़े तो उठाते हैं, पर जनता जनार्दन को, नर-नारायण को अधिक सुखी बनाने में वे दत्तचित्त रहते हैं, लोक-सेवा का व्रत लेकर वे घट-घटवासी परमात्मा की व्यावहारिक रूप से पूजा करते हैं। ऐसे भक्तों का जीवन व्यवहार बड़ा निर्मल, पवित्र, मधुर और उदार होता है। आस्तिकता का यही तो प्रत्यक्ष लक्षण है।

पूजा के समस्त कर्मकाण्ड इसलिए हैं कि मनुष्य परमात्मा को स्मरण रखे, उसके अस्तित्व को अपने चारों ओर देखे और मनुष्योचित कर्म करे। पूजा, अर्चना, वन्दना, कथा, कीर्तन, व्रत, उपवास, तीर्थ आदि सबका प्रयोजन मनुष्य की इस चेतना को जाग्रत करना है कि परमात्मा की निकटता का स्मरण रहे और ईश्वर के प्रेम एवं श्रद्धा द्वारा लोक-सेवा का व्रत रखे और ईश्वर के क्रोध से डर कर पापों से बचे। जिस पूजा-उपासना से यह उद्देश्य सिद्ध न होता हो, वह व्यर्थ है। जिस उपाय से भी "पाप से बचने और पुण्य में प्रवृत्त होने" का भाव जाग उठे वह उपाय ईश्वर-भक्ति की साधना ही है।

ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति का मार्ग

संसार के अधिकांश दुःखों का कारण सांसारिक विषयों की कामनाएँ और भोग लिप्सा ही होती है। इससे पीड़ित व्यक्ति के लिए वास्तव में यह संसार दुःख कानन है। दुःख से घिरे हुए व्यक्ति के अन्दर केवल एक ही विचार कार्य करता है कि वह निरीह और घृणास्पद है। अन्य व्यक्ति न उसके प्रति आकृष्ट होते हैं और न हार्दिक सम्वेदना ही प्रकट करते हैं और तो और उसका स्वयं अपने ही ऊपर से विश्वास हट जाता है। बात यही है कि दूसरों से न उसे सहायता मिलती है और न सान्त्वना ही, पर उसके मन से यह बात अलग नहीं होती कि शायद किसी अन्य व्यक्ति द्वारा उसे दुःख से छुट्टी मिल जाय।

दुःख के अवसर पर मन से किसी प्रकार की सहायता नहीं मिलती, क्योंकि उसकी अनर्गल इच्छाएँ ही दुःख उत्पन्न करती हैं। इच्छाओं से उत्पन्न सुख का तो वह आलिंगन करता है, पर दुःख के उपस्थित होने पर उसकी कुछ सुने बिना ही वह उसे भगा देना चाहता है। परिस्थितियों के अनुकूल होने पर यदा-कदा उसे अपनी चाल में सफलता मिल जाती है और बुद्धि निस्सहाय होकर सुषुप्ति-अवस्था में चली जाती है और दुःख के विषय पर गम्भीर विचार करने में असमर्थ हो जाती है। मन के चक्र में फँसा हुआ प्राणी इस प्रकार अधिक काल तक दुःख भोगता रहता है। एक के बाद दूसरा-इस प्रकार कितने ही जीवन ऐसे ही नष्ट हो जाते हैं।

कुछ लोग ऐसे भी हैं जो दुःख की घड़ी उपस्थित होने पर उस पर विचार करते हैं, और सत्संग का आश्रय लेते हैं। लेकिन अधूरे विचार और बाहरी सत्संग से उन्हें लाभ नहीं होता, क्योंकि उसमें भी दुःख भोगने के अतिरिक्त उनका कोई दूसरा अभिप्राय नहीं होता। दुःख पर विचार करते समय या सत्संग के अवसर पर उनका पूरा मन वहाँ नहीं रहता। उनका मन सदा इधर-उधर भटकता रहता है और दूसरों की बातों में दुःख से छुटकारा पाने के लिए समाधान खोजता है, जो उसे कभी नहीं मिलता है। कारण वह अपने इन्द्रिय-सुखों को छोड़ना नहीं चाहता। दुःख के अवसर जीवन में बार-बार आते हैं और जब-जब आते हैं, तब-तब मनुष्य को गहरी चोट पहुँचाते हैं। मनुष्य उससे तिलमिला उठता है, रोता और चिल्लाता है, पश्चात्ताप करता है और उसके मन में भोगों से मुँह मोड़ने की भी इच्छा होती है, लेकिन पुरानी आदत अवसर आने पर उसे भोग भोगने के प्रति पुनः प्रवृत्त कर देती है और उसका पूर्व का प्रत्यय मन्द पड़ जाता है। वास्तव में उसका यह दुःख भी प्रतारणा ही है। किसी कार्य के प्रति सच्चे दुःख से सजगता उत्पन्न होती है। यदि ऐसा न हो, तो समझो कि दुःख का उसके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। दुःख से यदि मनुष्य नहीं सँभला तो संसार में ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जो उसे सत्-पथ पर ले जा सके।

जिस मनुष्य ने जिन्दगी की बातों को अर्थात् उसके सुख-दुःख को भली प्रकार समझ लिया है और जिसके

मन में दुःखों से छुटकारा पाने की तीव्र इच्छा उत्पन्न हो गई है, उसे जीवन पर्यन्त सत्संग करते रहने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। सत्संग से बहुत कम लाभ उठाने वाले वे ही व्यक्ति होते हैं जो सदा सत्संग करते रहते हैं, लेकिन अपने को समझने की कभी कोशिश नहीं करते। अन्य सोसाइटियों की भाँति सत्संग भी उनके लिए वार्तालाप करने का एक साधन हो जाता है। कहीं दो घड़ी बैठकर वहाँ भी वे अपना मन बहला लिया करते हैं। ऐसे लोगों के अज्ञान का जल्दी अन्त नहीं होता। जीवन की किसी बात को सम्मुख रखकर, जिसको कि समझने की उसे अत्यधिक आवश्यकता है यदि वह किसी सन्त के पास जाता है तो संभव है कि उसे अल्पकाल के सत्संग से ही बहुत बड़ा लाभ हो जाय। लेकिन जो केवल बात सुनने एवं समय बिताने की गरज से सत्संग करता है, उसे बहुत कम और देरी से लाभ होता है। सत्संग का अभिप्राय है मार्ग में किसी बाधा के आ जाने पर उसका समाधान कर लेना। हर बात को समझते और साधते हुए आवश्यकता उपस्थित होने पर सत्संग से लाभ उठाते हुए जीवन को ले चलने का मार्ग सुगम हो जाता है।

मनुष्य का जीवन एक वाटिका है। वाटिका को अच्छी दशा में रखने के लिए उस पर सब ओर से निगाह रखनी आवश्यक है। उद्यान के सौन्दर्य को नष्ट कर देने वाली कोई चीज यदि बीच में उग आती है तो चतुर माली उसे तुरन्त उखाड़ कर फेंकता है। बाग देखने में यदि अच्छा न हुआ तो माली का सारा परिश्रम व्यर्थ समझा जाता है। माली जमीन को खूब कमाता है और उसे मुलायम बना देता है। जमीन के सब प्रकार से अच्छी हो जाने पर वह भाँति-भाँति के पुष्प और फल के वृक्षों को यथास्थान उसमें बैठाता है। प्रवीण माली द्वारा इस प्रकार सजाया हुआ बाग देखने में सुन्दर मालूम होता है। बाग के मालिक की भी वहाँ बैठने की इच्छा होती है और आगन्तुकों की भी। यह जीवन भी एक उद्यान के समान है। इसे सब प्रकार से सँभाल कर रखना चाहिए, ताकि इसकी स्वाभाविक प्रगति में किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित न हो। बहुत प्रकार की इच्छाओं से घिर जाने पर मनुष्य का जीवन बिना संभाली हुई वाटिका के समान हो जाता है। इच्छाओं की पूर्ति करने में वह परिश्रम करता है और उसमें संलग्न रहता है। सफलता निकट होती है, पर प्रायः वह विफल ही रहता है। बहुत समय तक इस सुख-प्राप्ति की लगन में लगे रहने के कारण उसे अनेकों प्रकार के अनुभवों से होकर गुजरना पड़ता है। सुख के बीच उसकी प्रतिक्रिया से उसे प्रत्यक्ष आघात पहुँचता रहता है। फिर भी वह उसी को सही जीवन समझता है। दुःख के बहुत बढ़ जाने पर जीवन कभी-कभी उसे भार मालूम होता है। इस घबराहट के बीच उसके मन में एक ही धुन रहती है कि विपरीत स्थिति और दुःख से किस प्रकार छुटकारा मिले। इसके लिए वह न करने योग्य कार्य भी कर डालता है। दुःख के बहुत बढ़ जाने पर मन और बुद्धि पर उसका काबू नहीं रह जाता। मन की अतिशय खिन्न दशा में तो प्राणी शरीरान्त तक चाहने लगता है। अशान्त चित्त की यह बहुत ही मलिन दशा है। इसलिए दुःख की साधारण दशा में होश के रहते हुए जब चित्त में सजगता उत्पन्न हो तो इस अवसर को हाथ से न जाने देना चाहिए। दुःख के समय उत्पन्न हुई सजगता को चिरस्थाई बनाये रखने के लिए उचित प्रति विधान करना चाहिए।

चूँकि हमें अपने सुख का आवश्यकता से अधिक ध्यान रहता है, इसलिए जीवन में यह सारी गड़बड़ी और मुसीबतें हैं। इन्द्रिय-सुख के सम्बन्ध में प्रत्येक का यही अनुभव है कि वह ऐसा सुख नहीं है, जो मनुष्य को निश्चित कर दे। प्रत्युत वह दिनों दिन कष्ट उत्पन्न कर बन्धन को बढ़ाता ही रहता है। इस सुख में तृप्ति नहीं है। किसी भोग को कुछ समय तक स्थाई रखने से मनुष्य को उसकी आदत पड़ जाती है। फिर तो अनायास ही अचेतन मन उस काम को कर बैठता है। इन्द्रिय सुखों में यदि कोई विघ्न और निर्बन्ध न होता तो कदाचित इसको भी स्वाभाविक कहा जा सकता और फिर उससे छुटकारा पाने की कोई बात न सोची जाती। संसार में दिखलाई यही देता है कि विघ्न वाधाओं से विमुक्त होकर कोई भी व्यक्ति इन्द्रिय सुखों को नहीं भोग सकता है। किसी भी सुख के भोग में सबसे बड़ा विघ्न तो अपना शरीर ही है। इसके अतिरिक्त परिस्थिति की विभिन्नता के अनुसार अनेकों प्रकार की दिक्कतें हैं जो मनुष्य के सामने रोज आया करती हैं और मनुष्य उनका नित्य प्रति अनुभव करता है। देखने और विचार करने पर यह भी मालूम पड़ता है कि सुख ऐसा कोई कार्य नहीं है जिसके लिए हमें बाह्य किसी भी वस्तु पर निर्भर रहना पड़ता हो या हम पर उसकी प्रतिक्रिया न होती हो। ऐसी दशा में कौन प्राणी यह कह सकता है कि उसका सुख विघ्न-बाधाओं से रहित है। जब यह दशा है तो मनुष्य के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह अपने सुख-दुःख के प्रति सजग होकर जीवन की बातों को समझने की कोशिश करे और अपनी किसी इच्छा का

जबरदस्ती दमन न करके उसके रहस्य को समझे। इच्छा का रहस्य जब भली प्रकार अवगत हो जाता है, तब उसे त्याग करने में दु:ख नहीं होता। उचित प्रयास द्वारा मनुष्य उसे छोड़ने में समर्थ होता है। यह काम भी आसान नहीं है। यदि मनुष्य सदा सजग रहे तो सम्भव अवश्य है। यदि मनुष्य अपने चिरकाल के अभ्यास को नहीं छोड़ पाता तो उसे कोई दूसरी सज्ञान युक्ति बतलायी भी नहीं जा सकती। ऐसे असमर्थ प्राणी सदा दु:ख में ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं।

मनुष्य को सच्चे मार्ग पर लाने के लिए दु:ख से बढ़कर कोई वस्तु नहीं है। दु:ख ही मनुष्य को सजग होने का अवसर प्रदान करता है। सजगता द्वारा जीवन का बोध हो जाने पर उसकी गति स्वाभाविक हो जाती है। आरम्भ में चित्त पहले से भी अधिक अशान्त हो जाता है, लेकिन यह अशांति सजगता के प्रकाश में धीरे-धीरे कम होने लगती है। आरम्भ की यह वह परेशानी है जो जीवन को समझ की राह पर ले जाती है। जीवन की त्याज्य बातों को समझकर ज्यों-ज्यों मनुष्य उन्हें आसानी से छोड़ सकने में समर्थ होता जाता है, त्यों-त्यों उसका जीवन अधिकाधिक स्वाभाविक और गम्भीर बनता जाता है। त्याग की हुई वस्तु में फिर उसका राग नहीं रह जाता। छोड़ने पर मन में उसके प्रति न कोई क्षोभ होता है और न उस पर विजय प्राप्त करने का गर्व ही। वह प्राणी अपनी किसी दशा में प्रतिहत नहीं होता। जीवन उसे अधिक रुचिकर और अपना मालूम होता है, क्योंकि उसने उसे पास से देखा है और उसके अलग-अलग पहलुओं पर गौर करना सीखा है। जीवन के साथ समवर्ती होने पर कष्ट कम होने लगता है। उसके सामने जो बात आयेगी, उसे समझने के लिए वह अपना हृदय, मन और बुद्धि अर्पित कर देगा। उसके विचार और कार्य में कोई अन्तर न होगा। अपने को समझाने के लिए मनुष्य को अन्य किसी व्यक्ति के उपदेश और आलोचना की आवश्यकता नहीं होती। राग-द्वेष से प्रेरित होकर वह न किसी को अपना मित्र समझेगा और न शत्रु ही। वह मनुष्य अपने को समझने में इतना संलग्न हो जायगा कि बाह्य समस्त वस्तुएँ उसके लिए उपेक्षणीय हो जायेंगी। दूसरों की बातों पर ध्यान देने के लिए उसके पास समय न रहेगा और न वह दूसरों के प्रति कोई विरुद्ध बात ही सोचेगा। किसी को अपने से श्रेष्ठ समझकर न वह उसका प्रभुत्व स्वीकार करेगा और न किसी को अपने से न्यून समझकर उसकी उपेक्षा करेगा या उस पर प्रभुत्व दिखलायेगा। दोनों ही दशाओं में भीतर भय और भेद रहता है, इसलिए ऐसे जीवन में न समत्व होता है और न स्वाभाविकता ही। इसका परिणाम संकीर्णता और अवनति है।

जीवन में जब दूसरों का प्रभाव अधिक पड़ने लगता है। तब वह मनुष्य अपना नहीं रह जाता। उसके अन्दर विचार और स्वतंत्र कार्य करने की क्षमता का अभाव हो जाता है। जीवन की ऐसी परिस्थिति में सत्य का प्रदर्शन नहीं होता। सत्य का अनुभव करने के लिए प्रत्येक प्राणी को अपना बन जाने की आवश्यकता है। सत्य की खोज करने वाले को हर्ष, शोक, मोह, अनुराग और प्रभुत्व की भावना को अपने पास नहीं आने देना चाहिए। ये दशाएँ मन को उत्तेजित करने वाली होती हैं। चित्त को ऐसी स्थिति में रखा जाय कि उस पर बाहरी कोई बात अपना प्रभाव न डाल सके। चित्त में जब आनन्द और निरालम्ब प्रेम स्थान पा लेता है तब अपने-पराये का भेद मिट जाता है। ऐसा पुरुष न कभी उदास रहता है और न मन लगाने के लिए किसी अवलम्ब की आवश्यकता अनुभव करता है। जीव-जन्तु और लता-वल्लियों के साथ उनका सौहार्द हो जाता है। कष्टदायक अवसरों का भी जीवन में अभाव होना आरंभ हो जाता है। मन सदा प्रसन्न और एकाग्र रहने लगता है। संसार के साथ उसका अम्लान प्रेम का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। संसार की प्रत्येक वस्तु में वह अपना रूप देखता है। उसको सर्वत्र सत्य का दर्शन होता है और प्रत्येक अवस्था उसके लिए आनन्द की अवस्था हो जाती है। वायु के रूप में वह संसार की सैर करेगा। फूल-पत्तियों और घास के साथ वह नृत्य करेगा, आकाश उसका रूप होगा, जल, पृथ्वी और अग्नि उसके बाह्य प्रतीक होंगे। संसार की प्रत्येक वस्तु के साथ जब एकता और मैत्री स्थापित हो जायगी तब वह खिन्न और भयातुर क्यों रहेगा? शुद्ध और पवित्र मन के अन्दर उच्च और वाञ्छित भावना उदित होती है। ऐसे उद्बोधित पुरुष संसार में आनन्द-प्रसार करने के केन्द्र बन जाते हैं। व्यक्त और अव्यक्त दोनों दशाओं में उनके द्वारा कार्य सम्पादन होता रहता है। आनन्द-उपलब्धि की यह एषणा स्वार्थ की भावना नहीं है। इसमें निवास करने से मन के संकल्प-विकल्पों का तिरोभाव हो जाता है। जीवन की इस स्थिति में प्रयास नहीं रह जाता। यह जीवन की शुद्ध और सात्विक सहज दशा है। ऐसे व्यक्ति को देखकर दूसरे प्राणी भी इस शुद्ध भावना को ग्रहण करने की इच्छा करने लगते हैं और इस ओर अपना प्रयास आरम्भ कर देते हैं। इस शुद्ध अवस्था की प्राप्ति एक

ही क्षण में नहीं हो जाती, पर इसमें हताश होने की कोई बात नहीं है। सत्य सबके लिए एक और अनिवार्य है। सभी एक न एक दिन इसे प्राप्त करेंगे। प्रश्न केवल समय का हो सकता है। इसके लिए सबसे आवश्यक बात है-तीव्र वेग का होना, तीव्र वेग वाले प्राणी उसे शीघ्र कर लेते हैं। इन्हें इधर-उधर भटकना नहीं पड़ता। देर तो उनको लगती है, जो मन्द वेग के कारण रास्ते में रुक कर इधर-उधर की सैर करने लगते हैं।

भिन्न-भिन्न उपायों द्वारा लोगों ने इसकी खोज की और उनका कहना है कि सत्य की प्राप्ति के लिए मार्ग अनेक हैं, किन्तु सत्य की प्राप्ति का मार्ग केवल एक है और वह है- ''सृष्टि और जीवन के रहस्य को समझना।'' इसे लोग जब तक भली प्रकार नहीं समझ लेते, तब तक वे अनेकों मार्ग और अनेकों उपायों द्वारा अनुभव प्राप्त करने की चेष्टा करते रहते हैं। लोग कहते हैं कि ईश्वर घट-घट में व्याप्त रहा है, लेकिन वह भी केवल मुँह से ही कहते हैं। इस सत्य को समझ लेने पर प्राणी अपने प्रत्येक कार्य का जिम्मेदार हो जाता है। वह अपने अन्तरात्मा की ध्वनि को सुनता है और उसके अनुसार आचरण करता है। अर्थात् वह प्रत्येक कार्य में अपने हृदय और मन को एक करके कार्य करने की चेष्टा करता है। हृदय और मन में ऐक्य ही बुद्धि का विकास है। अन्तःकरण में ईश्वर, सत्य तथा जीवन की अनुभूति हो जाने पर प्राणी अपने समस्त कार्यों के प्रति सावधान हो जाता है। उसका यह पथ जीवन की वास्तविकता को सामने रखता है। इससे जीवन स्वाभाविक और सरल बनता है। फिर उसके अन्दर ईश्वर-प्राप्ति और सत्य को जानने की भी कोई इच्छा नहीं रह जाती, प्रत्युत उसका जीवन ही सत्य हो जाता है। उसका प्रत्येक आचरण, व्यवहार और कार्य इस प्रकार का होता है कि उससे कोई कर्म-बन्धन नहीं स्थापित होता। इस प्रकार का समत्वमय जीवन ही सत्य है और इसमें ईश्वर का दर्शन है।

सत्य की अनुभूति के बाद सब बातों और सब दशाओं में मनुष्य अपनी सत्ता का अनुभव करता है। सन्देह उसके मन से हट जाता है। प्रत्येक स्थिति में वह सत्य के अन्दर निवास करता है। अकेलेपन की भयावह दशा का अन्त हो जाता है। प्रतिक्षण सत्य के सम्मुख होने से वह सदा आनन्द में निवास करता है।

सत्य विहीन की दशा जल से बिछुड़ी हुई मछली की-सी होती है। कुछ क्षण तक जीवित तो रहते हैं लेकिन उनके जीवन में आनन्द-उत्साह और सार नहीं रहता। उनकी दशा उस मीन की-सी होती है, जो किसी मछुए के जाल में फँसकर अतिशय दु:ख से प्राण त्याग करती है। अपने किसी क्षणिक सुख के कारण यदि किसी मनुष्य ने अपनी दशा का इससे कुछ अतिरिक्त समझा है तो वास्तव में वह भ्रान्त है और अपने जीवन को भली प्रकार नहीं समझ रहा है। संसार एक बहुत ही बड़ा जाल है, उसके असंख्य छिद्रों में मनुष्य अपनी इच्छाओं की तृप्ति देखता है और लोभ-मोह के कारण उसमें फँसने की चेष्टा करता है। एक बार फँस जाने पर उससे निकलना कठिन है, अत: मनुष्य को श्वास-प्रश्वास में सचेत रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं है।

पूर्ण सचेत हो जाने पर कर्तापन का भाव भी जाता रहता है और उसे कोई वस्तु अपने में फँसा नहीं पाती। आनन्द की सत्ता से अधिक महत्वपूर्ण वस्तु जब दूसरी नहीं है, तब संसार का क्षणिक सुख-दु:ख पश्चिम में डूबते हुए सूर्य की भाँति मन के दूर देश में कहीं अस्त हो जाता है। यह जीवन में तटस्थता की दशा है, जहाँ संसार के वैभव आकाश में स्थित प्रात:कालीन नक्षत्रों की भाँति फीके होकर आनन्द के परम प्रकाश में विलीन हो जाते हैं। आनन्द की प्राप्ति के पश्चात संसार की बातों का चित्त पर असर ही नहीं होता। फिर कोई भी पदार्थ अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकते। सारे प्रपञ्च मिट जाते हैं।

जब यही एक वस्तु जीवन में प्राप्त करने के योग्य है, बल्कि यही जीवन है, तब मनुष्य यहाँ के सुख-दु:ख के पचड़े में पड़कर व्यर्थ अपना समय क्यों नष्ट करता है। मार्ग में यदि कोई प्रतिरोध आ जाय तो उस पर विचार करना चाहिए और उसे समझने की कोशिश करनी चाहिए। आनन्द को सम्पूर्ण रूप में प्राप्त कर लेने की प्रत्येक मनुष्य के अन्दर अभिलाषा होनी चाहिए। इस पथ पर चलते हुए भी ऐसा नहीं है कि दु:ख न पावे। दु:ख के आने पर उसे टालने की व्याकुलता न हो। ऐसा करने से लगन के होते हुए भी लक्ष्य तक पहुँचने में विलम्ब होगा।

आनन्द की अनुभूति कोई किसी को करा दे, यह सम्भव नहीं है। अपने ही प्रयास से जीवन की यह स्थिति प्राप्त की जाती है। यह कोरी कल्पना नहीं है। बोधपूर्वक प्रयास करने पर इसमें सफलता मिलती है, यह ध्रुव सत्य है। प्रत्येक मनुष्य अपने पुरुषार्थ और प्रयास के द्वारा इसे प्राप्त कर सकता है। लोगों के जीवन में विभिन्नता अवश्य दृष्टिगोचर होती है, लेकिन यह कोई रुकावट नहीं है। सत्य वस्तु में कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं है।

चूँकि बहुतों के मन में सत्य को जान लेने की इच्छा और लगन है और किसी सरल मार्ग की खोज है, इसलिए उनको इस पथ पर चलने के लिए प्रस्तुत हो जाना चाहिए। एक बार सजग होकर पैर आगे बढ़ा देने पर फिर निराश नहीं होना पड़ता और मनुष्य पीछे कदम हटाना पसन्द नहीं करता। समझ बूझकर जब हम इस पथ पर पैर रखेंगे, तब हमारे अन्दर सुख-दु:ख के रहस्य को समझने की क्षमता आ जायगी। सुख का प्रसंग आने पर हमें फूलना नहीं चाहिए और दु:ख के प्रसंगों से घबराना नहीं चाहिए। बल्कि उनके बीच में रहते हुए उनके रहस्य को समझकर उनसे मुक्त हो जाना चाहिए।

आनन्द ही एकमात्र सत्य है। यही एक स्वाभाविक मन्दिर है, जहाँ सबको आना है। यहाँ बैठकर आप सच्चे ध्यान में निमग्न हो सकते हैं। इसको एक बार दृढ़तापूर्वक अपना लेने से सारा सन्देह दूर हो जाता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य संसार का हो जाता है और संसार उसका हो जाता है। 'अहं' की पृथक भावना मिटकर विराट में लीन हो जाती है। रागद्वेष की अग्नि सदा के लिए बुझ जाती है।

इस आत्यान्तिक आनन्द के प्राप्त कर लेने पर मनुष्य स्वतंत्रतापूर्वक संसार में विचरण करता है। जो मनुष्य पूर्ण स्वतंत्र है और आनन्द में स्थित हैं, वे संसार के सामने कुछ सही बात रख सकते हैं। आनन्द में प्रतिष्ठित हो जाने पर पुरुष प्राणीमात्र का मित्र हो जाता है और प्रेम ही उसका मुख्य आचरण रहता है, प्रेम के अतिरिक्त उसके पास और कोई वस्तु नहीं रहती। इस स्थिति को प्राप्त कर लेने पर एक को अनेक में देखने की क्षमता स्वाभाविक ही रहती है। यही मोक्ष की स्थिति है।

ब्रह्मज्ञान का मार्ग कठिन नहीं

यद्यपि सांसारिक लोग ब्रह्मज्ञान को बड़ा कठिन-प्राय असम्भव मानते हैं, पर यह एक बड़ी भूल है। ब्रह्मज्ञान अथवा अध्यात्मिकता मनुष्य के जीवन में आदि काल से ओत-प्रोत है, इसलिए उसे समझ सकना और पालन कर सकना कुछ भी कठिन नहीं है। वर्तमान समय में इसमें जो कुछ कठिनाई जान पड़ती है, उसका कारण यही है कि इन दिनों संसार वास्तविकता को छोड़कर कृत्रिमता में बहुत अधिक लिप्त हो गया है। इसलिए जो मार्ग मनुष्य के वास्ते सीधा, सरल और हितकारी था वही उसे कठिन और असम्भव जान पड़ता है, पर यदि विचारपूर्वक देखा जाय, तो भलाई एवं पवित्रता का मार्ग पाप और नीचता की अपेक्षा कहीं सरल है। भलाई में जो स्वाद है, पवित्रता में जो आनन्द है वह पाप और नीचता के सरूर से अधिक मजेदार है। भलाई करना पाप करने से ज्यादा आसान है, क्योंकि परमात्म स्वरूप मनुष्य की प्रवृत्ति स्वभावत: पवित्रता की ओर है। पाप और नीचता बड़े अप्राकृतिक है। मनुष्य नहीं चाहता है कि वह निकृष्टता के पंजे में फँस जाय। उस मार्ग पर चलने में उसे पग-पग पर अपनी आत्मा का संहार करना पड़ता है, मन की रुचि पर बलात्कार करना होता है, तब कहीं वह पाप कर पाता है।

जो व्यक्ति धूम्रपान का प्रारम्भ करते हैं, उन्हें भयंकर खाँसी उठती है, नेत्रों में आँसू आ जाते हैं, शरीर में पीड़ा होती है, सर में चक्कर आते हैं, मुँह में से दुर्गन्ध उठती है। यह सब इसी कारण होता है, क्योंकि तम्बाकू अप्राकृतिक है। परमेश्वर नहीं चाहता कि हम वह कार्य करें। प्रकृति का सहयोग उसमें नहीं है। केवल हमारी अनाधिकार चेष्टा ही उन दिव्य शक्तियों के विरुद्ध युद्ध करती है।

इसी प्रकार पाप एवं नीचता का प्रारम्भ करने में हमारे अन्त:करण में भयंकर विक्षोभ होता है, आत्म-ग्लानि तथा क्लेश उत्पन्न होता है, मन किसी अज्ञात भय से थर-थर काँपता है, हमारे दुष्कृत्य में साथ नहीं देना चाहता, हमारा शरीर स्वाभाविक गति से उस ओर नहीं चलता। अड़ियल घोड़े की तरह वह स्थान-स्थान पर अटकता है और उस मार्ग पर नहीं चलना चाहता। हमारे संकल्प, हमारी धारणाएँ, हमारी वृत्तियाँ सब ही जबाव दे देते हैं। अपने मन पर अत्याचार करते हुए हम पाप में प्रवृत्त होते हैं। बार-बार उसी की आवृत्ति करते रहने से हमारी पवित्र आकांक्षाऐं मृत प्राय हो जाती हैं। जिस प्रकार जानते बूझते हम अफीम, शराब, तम्बाकू तथा अनेकों विषैले पदार्थों के अभ्यस्त हो जाते हैं तथा हमें उनकी कड़ुवाहट भी प्रतीत नहीं होती, उसी प्रकार अभ्यस्त हो जाने पर हमें पाप और नीचता करते हुए ग्लानि का अनुभव नहीं होता। कालान्तर में हम पक्के पापी हो जाते हैं।

परमात्मा को अपने अन्दर से कार्य करने दीजिए। आदि प्रभु की जो इच्छा है उसी के अनुसार चलने के लिए अपने आप को विवश कीजिए। परमात्मा को स्वयं अपनी मर्जी के अनुसार चलने को मजबूर न कीजिए। तुम्हारी इच्छा एक होनी चाहिए। तुम वही सर्व शक्तिमान परमात्मा हो जिसने तमाम जगत को अपनी पवित्रता प्रदान की है

और अणु-अणु में वही उत्कृष्ट तत्व ओत-प्रोत कर दिया है, जो सत्य है, सुन्दर है तथा सर्वत्र शिव है।

आत्म निरीक्षण द्वारा मालूम कीजिए कि कितने अंशों में तुम ईश्वरेच्छा के अनुगामी बने हो ? तुम्हारे कितने कार्य परमात्मा के लिए होते हैं ? कितनी देर तुम "स्वः" की पूर्ति में व्यतीत करते हो ? कितनी देर तुम पूजा-उपासना में लगाते हो ?

तुम्हारे विभिन्न अंगों का क्या अभिप्राय है ? वे किस आशय से बनाये गये हैं ? तुम्हारे नेत्रों का कार्य पवित्र से पवित्र वस्तुओं का दर्शन होना चाहिए, तुम कुरूपता में भी भव्यता खोज निकालो। प्रतिकूलता में भी सहायक तत्वों के दर्शन करते रहो। कठिन से कठिन और विषम से विषम परिस्थिति में भी विचलित न हो। तुम्हारे पाँव तीव्र आँधी, पानी में भी स्थिर रहें। तुम्हारे हृदय में पवित्रता की गर्मी हो। शरीर में उत्साह हो। परमेश्वर का तेज अंग-प्रत्यंग से झलकता हो।

आत्म बन्धुओ ! हमारा इस संसार से कोई संबंध नहीं है। हम सत्-चित्-आनन्द विशुद्ध परम पदार्थ-आत्मा है। संसार और सांसारिक संबंध खिलौने मात्र हैं। अक्सर हम कहा करते हैं कि अमुक व्यक्ति हमारा शत्रु है, अमुक हमारा मित्र है, अमुक हमारा पिता है, अमुक हमारा पुत्र है किन्तु वास्तव में न कोई शत्रु है न मित्र, न पिता है न पुत्र। हम सब साक्षात् परब्रह्म पदार्थ हैं। हमारा संसार के क्षुद्र झगड़ों से कोई संबंध नहीं है। सुख-दुख छाया तथा उजाला है जो आया-जाया करता है। हमारी आन्तरिक शान्ति भंग नहीं होनी चाहिए। हम संसार से बहुत ऊँचे हैं।

जैसे वायुयान में बैठकर आकाश में विहार करने से संसार की प्रत्येक वस्तु घरबार, मनुष्य, पशु, वृक्षादि छोटे-छोटे प्रतीत होते हैं। उसी प्रकार आत्म-स्वरूप का प्रकाश करने वाले साधक को सांसारिक पदार्थ मिथ्या प्रतीत होते हैं। वह उससे बहुत ऊँचा उठ जाता है। माया-मोह के चक्र में नहीं फँसता। उसे दिव्य ज्ञान, वह प्रकाश प्रदान करता है, जिसकी रोशनी में उसे भव्यता, पवित्रता तथा वास्तविक सत्यता के दर्शन होते हैं।

आप संसार के साथ जुदा ही रहकर आत्म ज्योति का प्रकाश कर सकें, ऐसी बात नहीं है। संसार के थपेड़े सहकर भी आप भलीभाँति दिव्यता प्राप्त कर सकते हैं। घर-गृहस्थ के अनेक उत्तरदायित्वों का पालन करते हुए भी आप सहर्ष अपने भीतर से परमात्म तत्व को प्रकाशित कर सकते हैं।

आप यह मानकर प्रत्येक कार्य को कीजिए कि आप परमात्मा हैं। उसी के अंग हैं। आप में ज्ञान, सत्य, प्रेम भरा पड़ा है और आप नित्य प्रति के जीवन में उन्हीं तत्वों का प्रकाश कर रहे हैं। आप सर्वत्र प्रेम, दिव्यता एवं शान्ति का ही दर्शन करते हैं। आपकी दृष्टि केवल भव्य तत्वों के चिन्तन में ही लगती है। आप पवित्र शब्दों का ही उच्चारण करते हैं और मनोमंदिर में सदा-सर्वदा पवित्र संकल्पों को ही स्थान देते हैं।

आप का लक्ष्य एवं आदर्श जितना दिव्य होगा उतनी ही आपको ईश्वरीय प्रेरणा प्राप्त होगी। जो गुण आप में नहीं है उन्हें अपने अन्दर मान लीजिए। फिर उन्हीं के अनुरूप आचरण कीजिए। कालान्तर में वे ही शुभ तत्व आप में प्रकट होंगे। आप अपने को दीन-हीन पापी नहीं, परम पवित्र निर्विकार आत्मा मानिए।

ब्रह्मज्ञान के लिए ध्यान की आवश्यकता

ब्रह्मज्ञान अथवा ईश्वर के स्वरूप को समझने और उसके अनुसार चलने के अनेक मार्ग हैं, पर भक्तिपूर्वक ईश्वर का ध्यान और भजन करना उन सब में प्रधान है। यह एक ऐसा साधन है जो प्रत्येक ईश्वरीय मार्ग की सफलता के लिए आवश्यक है। 'गरुड़ पुराण' में कहा गया है-

भज इत्येव वै धातुः सेवायां परिकीर्तिता।
सत्मात्सेवाबुधै प्रोक्ता भक्तिः साधन भूयसी ॥

श्लोक का तात्पर्य है कि—'भज' धातु का अर्थ सेवा है। (भज्-सेवायां) इसलिए बुध जनों ने भक्ति का साधन सेवा कहा है। 'भजन' शब्द भज् धातु से बना है जिसका स्पष्ट अर्थ सेवा है। "ईश्वर का भजन करना चाहिए" जिन शास्त्रों ने इस महामंत्र का मनुष्य को उपदेश दिया है, उनका तात्पर्य ईश्वर की सेवा में मनुष्य को प्रवृत्त करा देना था। जिस विधि-व्यवस्था से मनुष्य-प्राणी ईश्वर की सेवा में तल्लीन हो जाय, वही भजन है, इस भजन के अनेक मार्ग हैं। अध्यात्म मार्ग के आचार्यों ने देश, काल और पात्र के भेद को ध्यान में रखकर भजन के अनेकों कार्यक्रम बनाये और बताये हैं। विश्व के इतिहास में जो-जो अमर विभूतियाँ, महान आत्माएँ, सन्त, सिद्ध, जीवन-मुक्त, ऋषि एवं अवतार हुए हैं। उन सभी ने भजन किए हैं और कराये हैं पर उन सबके भजनों की प्रणाली एक-दूसरे के समान नहीं है। देश, काल और परिस्थिति के अनुसार उन्हें भेद करना पड़ा है, यह भेद होते हुए भी मूलतः भजन के आदि मूल तथ्य में किसी ने अन्तर नहीं आने दिया है।

भजन (ईश्वर की सेवा) करने का तरीका ईश्वर की इच्छा और आज्ञा का पालन करना है। सेवक लोग अपने मालिकों की सेवा इसी प्रकार किया करते हैं। एक राजा के शासन तंत्र में हजारों कर्मचारी काम करते हैं। इन सबके जिम्मे काम बँटे होते हैं। हर एक कर्मचारी अपना-अपना नियत काम करता है। अपने नियत कार्य को उचित रीति से करने वाला राजा का कृपा पात्र होता है, उसके वेतन तथा पद में वृद्धि होती है, पुरस्कार मिलता है, खिताब आदि दिये जाते हैं। जो कर्मचारी अपने नियत कार्य में प्रमाद करता है वह राजा का कोप भाजन बनता है, जुर्माना, मौतिह्ली, तनख्वा में तनज्जुली, बर्खास्तगी या अन्य प्रकार की सजाएँ पाता है। इन नियुक्त कर्मचारियों की सेवा का उचित स्थान उन्हीं कार्यों में है जो उनके लिए नियत हैं। रसोइए, मेहतर, पंखा झलने वाले कहार, धोबी, चौकीदार, चारण, नाई आदि सेवक भी राजा के यहाँ रहते हैं वे भी अपना नियत काम करते हैं। परन्तु इन छोटे कर्मचारियों में से कोई ऐसा नहीं सोचता कि राजा की सर्वोपरि कृपा हमारे ही ऊपर है। बात ठीक भी है। राजा के अभीष्ट उद्देश्य को सुव्यवस्थित रखने वाले राज मंत्री, सेनापति, अर्थमंत्री, व्यवस्थापक, न्यायाध्यक्ष आदि उच्च कर्मचारी जितना आदर, वेतन और आत्मभाव प्राप्त करते हैं, बेचारे मेहतर, रसोइए आदि को वह जीवन भर स्वप्न में भी प्राप्त नहीं होता।

राज्य के समस्त कर्मचारी यदि अपने नियत कार्यों में अरुचि प्रकट करते हुए राजा के रसोइये, मेहतर, कहार, धोबी चारण आदि बनने के लिए दौड़ पड़ें तो राजा को इससे तनिक भी प्रसन्नता और सुविधा न होगी। हजारों-लाखों रसोइयों द्वारा पकाया और परोसा हुआ भोजन अपने सामने देखकर राजा को भला क्या प्रसन्नता हो सकती है? यद्यपि इन सभी कर्मचारियों का राजा के प्रति अगाध प्रेम है और प्रेम से प्रेरित होकर ही उन्होंने व्यक्तिगत शरीर-सेवा की ओर दौड़ लगाई, पर ऐसा विवेक रहित प्रेम करीब-करीब द्वेष जैसा ही हानिकर सिद्ध होता है। इससे राज्य के आवश्यक कार्य में हर्ज और अनावश्यक कार्य की वृद्धि होगी यह कार्यवाही किसी बुद्धिमान राजा को प्रिय नहीं हो सकती।

ईश्वर राजाओं का महाराज है। हम सब उसके राज्य कर्मचारी हैं, सबके लिए नियत कर्म उपस्थित हैं। अपने-अपने उत्तरदायित्व का उचित रीति से पालन करते हुए हम ईश्वर की इच्छा और आज्ञा को पूरा करते हैं और इस प्रकार सच्ची सेवा करते हुए स्वभावतः उसके प्रिय पात्र बन जाते हैं। राजाओं को व्यक्तिगत सेवा की आवश्यकता भी है, परन्तु परमात्मा को रसोइए, मेहतर, कहार, चारण, चौकीदार आदि की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। वह सर्वव्यापक है, वासना और विकारों से रहित है, ऐसी दशा में उसके लिए कपड़ा, भोजन, पंखा, रोशनी आदि का कुछ उपयोग नहीं है।

ध्यान, जप, स्मरण-कीर्तन, व्रत, पूजन, अर्चन, वन्दन यह सब आध्यात्मिक व्यायाम हैं। इनके करने से आत्मा का बल और सतोगुण बढ़ता है। आत्मोन्नति के लिए इन सबका करना आवश्यक है और उपयोगी भी है। परन्तु इतना मात्र ही ईश्वर भजन या ईश्वर भक्ति नहीं। यह भजन का एक छोटा सा अंश मात्र है। सच्ची ईश्वर-सेवा उसकी इच्छा और आज्ञाओं को पूरा करने में है। उसकी फुलवारी को अधिक हरा-भरा फला-फूला बनाने में है। अपने नियत कर्तव्य करते हुए अपनी और दूसरों की सात्विक उन्नति तथा सेवा में लगे रहना प्रभु को प्रसन्न करने का सर्वोत्तम उपाय हो सकता है।

ईश्वर का भजन कैसे किया जाय ?

साधारण रीति से सभी भगवान का नाम लेते हैं, पर जब तक उसके साथ भगवान के आदेशों के पालन का ध्यान न रखा जाय, तब तक विशेष फल प्राप्त नहीं हो सकता। भगवान का नाम जप करने के साथ दशों इन्द्रियों की कुवासनाओं को त्याग कर चित्त को सदाचारी और सात्विक बनाकर जब परमात्मा का स्मरण किया जाता है तभी उसमें सच्चा लाभ प्राप्त होता है। नाम जप करने वाले के लिए शास्त्रकारों ने दस नामापराध बताये हैं और उनसे बचे रहने का कठोर आदेश किया है। जैसे औषधि सेवन के साथ-साथ परहेज से रहना भी आवश्यक है, उसी प्रकार नाम-जप करने वालों को दस नामापराधों से बचना भी आवश्यक है। परहेज बिगाड़ने से, कुपथ्य करने से अच्छी औषधि का सेवन भी निष्फल हो जाता है, उसी प्रकार नामापराध करने से नाम जप भी निष्फल चला जाता है। दशऋतों से, दस नामापराधों से बचकर राम नाम जपने से कोटि यज्ञों का फल प्राप्त होता है। वे दश ऋतु यह हैं—

सान्निन्दासति नामवैभव कथा श्रीशेशयोर्भेदधीर-
श्रद्धा गुरु शास्त्र वेद वचने नाम्न्यर्थवादभ्रमः।
नामास्तीतिनिषिद्ध वृत्ति विहित त्यागैहि धर्मान्तरैः
साम्यं नाम जपे शिवस्य च हरेर्नामापराधा दश ॥

(१) सनिन्दा (२) असति नाम वैभव कथा (३) श्रीशेशयोर्भेदधी: (४) अश्रद्धा गुरु वचने (५) शास्त्र वचने (६) वेद वचने (७) नाम्यर्थवाद भ्रम: (८) नामास्तीति निषिद्ध वृत्ति (९) विहित त्याग (१०) धर्मान्तरे साम्यम्-यह देश नामापराध या त्रुत है, इनको त्यागने से नाम-जप का कोटि यज्ञ फल प्राप्त होता है। इन दसों का खुलासा नीचे किया जाता है—

(१) सत् निन्दा-सत् पुरुषों की, सज्जनों की, सत्य की, सच्चे कार्यों की, सत् सिद्धान्तों की किसी स्वार्थ भाव से प्रेरित होकर निन्दा करना। सत्य पर चलने की, सत् सिद्धान्तों को अपनाने का किसी लोभ या भय से साहस न होता हो तो लोग अपनी कमजोरी छिपाने के लिए सत्य बातों का या सत पुरुषों का ही किसी मिथ्या आधार पर विरोध करने लगते हैं, यह 'सन्निन्दा' है। शत्रु में भी सत्यता हो तो उस सत्यता की तो प्रशंसा ही करनी चाहिए।

(२) असति नाम वैभव कथा- असत्य के आधार पर बढ़े हुए व्यक्तियों या सिद्धान्तों के नाम या वैभव की प्रशंसा करना। कितने ही झूठे, पाखण्डी, अत्याचारी व्यक्ति अपनी धूर्तता के आधार पर बड़े कहलाने लगते हैं। उनकी चमक-दमक से आकर्षित होकर उनकी प्रशंसा करना या उनके वैभव का लुभावना वर्णन करना त्याज्य है। असत्य की सदा निन्दा ही की जानी चाहिए, झूठे आधार पर मिली हुई सफलताओं को इस प्रकार समझना या समझाना कि उसका अनुकरण करने का लोभ पैदा हो, नामापराध है।

(३) श्रीशेशयोर्भेदधी:- विष्णु, महादेव और देवताओं में भेद बुद्धि रखना, उन्हें अलग-अलग मानना। एक ही सर्वव्यापक सत्ता की विभिन्न शक्तियों के नाम ही देवता कहलाते हैं। वस्तुत: परमात्मा ही एक देव है। अनेक देवों के अस्तित्व के भ्रम में पड़ना-नाम जप करने वाले के लिए उचित नहीं।

(४) अश्रद्धा गुरु वचने-सद्गुरु, धर्मावद् तत्वदर्शी, निस्पृह, आप्तपुरुषों के सद् वचनों में अश्रद्धा रखना। विरोध न करते हुए भी उदासीन रहना अश्रद्धा कहलाती है। सद्गुरुओं के लोक-हितकारी सद्वचनों में श्रद्धा रखनी चाहिए।

(५) अश्रद्धा शास्त्र वचने-शास्त्र के वचनों में अश्रद्धा रखना। यों तो कितनी ही पुस्तकें साम्प्रदायिक परस्पर विरोधी और असंगत बातों से भरी रहने पर भी शास्त्र कहलाती हैं, पर वास्तविक शास्त्र वह है जो सत्यता, लोकहित, कर्तव्य परायणता और सदाचार का समर्थन करता हो। इस कसौटी पर जो ज्ञान खरे सोने के समान ठीक उतरता हो, वह शास्त्र है। ऐसे शास्त्रों के वचनों पर अश्रद्धा नहीं करनी चाहिए।

(६) अश्रद्धा वेद वचने-अर्थात् वेद वाक्य में अश्रद्धा रखना। वेद ज्ञान को कहते हैं। ज्ञानपूर्ण, सद्बुद्धि सम्मत वचनों में अश्रद्धा नहीं करनी चाहिए। वेद, सत्य ज्ञान के आधार होने के कारण श्रद्धा करने योग्य हैं।

(७) नाम्यर्थवाद भ्रम: - नाम के अर्थवाद में भ्रम करना। ईश्वर के अनेक नामों के अर्थ में जो भिन्नता है उसके कारण भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। गोपाल, मुरलीधर, यशोदानन्दन, राम, रघुनाथ, दीनबन्धु, अल्लाह, गौड़ आदि नामों के शब्दार्थ पृथक-पृथक हैं। इन अर्थों से तत्व के अलग-अलग होने का भ्रम होता है, यह ठीक नहीं। सब नाम उस एक परमात्मा के हैं। इसलिए परमात्मा के सम्बन्ध में किसी पृथकता के भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए।

(८) नामास्तीति निषिद्ध वृत्ति: - नाम तो है ही फिर अन्य बातों की क्या जरूरत, ऐसी निषिद्ध वृत्ति। ईश्वर का नाम उच्चारण करने मात्र से सब पाप कट जावेंगे, इसलिए पाप करने में कुछ हर्ज नहीं, ऐसा कितने ही लोग सोचते हैं। दिन-रात कुविचारों में और कुकर्मों में लगे रहते हैं, उनके फल से बचने का सहज नुस्खा खोजते हैं, कि दो-चार बार राम नाम जबान से कह दिया बस बेड़ा पार हो गया। सारे पाप नष्ट हो गये। यह भारी अज्ञान है। परमात्मा निष्पक्ष, सच्चा न्यायाधीश है। वह खुशामद करने वाले के न तो पाप माफ करता है और न बिना खुशामद करने वाले के पुण्यों को रद्द करता है। कर्मों का यथायोग्य फल देना उसका सुदृढ़ नियम है। इसलिए आत्मबल वृद्धि के लिए नाम स्मरण करते हुए भी यही आशा करनी चाहिए कि परमात्मा हमारे भले-बुरे कर्मों का यथायोग्य फल अवश्य देगा। जो पाप-नाश की आशा लगाये बैठे रहते हैं और कुमार्ग को छोड़कर सन्मार्ग पर चलने का प्रयत्न नहीं करते वे नामापराध करते हैं।

(९) विहित त्याग-विहित कर्मों का त्याग, उत्तरदायित्व का छोड़ना, कर्तव्य धर्म से मुँह मोड़ना नामापराध है। कितने ही मनुष्य 'संसार मिथ्या है, दुनियाँ झूठी है।' यदि महावाक्यों का सच्चा रहस्यमय अर्थ न समझकर अपने कर्तव्य, धर्म एवं उत्तरदायित्व को छोड़कर घर से भाग जाते हैं, इधर-उधर आवारागर्दी में, दुर्व्यसनियों के कुसंग में मारे-मारे फिरते हैं। यह अनुचित है, ईश्वर

प्रदत्त उत्तरदायित्वों और कर्तव्य धर्मों को पूरी सावधानी और ईमानदारी से पूरा करते हुए भगवान का नाम-स्मरण करना चाहिए।

(१०) **धर्मान्तरैः साम्यम्**- धर्म से इतर, धर्म विरुद्ध बातों को भी धर्म की समता में रखना। अनेक सामाजिक कुरीतियाँ ऐसी हैं, जो धर्म-विरुद्ध होते हुए भी धर्म में स्थान पाती हैं। जैसे पशु-बलि एवं स्त्री और शूद्रों के साथ होने वाली असमानता तथा अन्याय के व्यवहार धर्म के नाम पर प्रचलित हैं, पर वास्तव में अधर्म हैं। ऐसे अधर्मों को धर्म से जोड़ना, धर्म नहीं हो सकता। अकर्तव्यों को रुढ़िवाद के कारण धर्म-साम्य नहीं बनाना चाहिए।

इन दशऋतों से शुद्ध होकर, इन्हें त्यागकर, दसों इन्द्रियों को संयम में रखकर, सत्य और धर्म से जीवन को ओत-प्रोत बनाते हुए जो लोग नाम-जप करते हैं, भगवान का मंत्रोच्चार करते हैं, उन्हीं की आत्मा पवित्र होती है और वे ही कोटि यज्ञ-फल के भागी होते हैं। वैसे तो तोते भी राम-राम रटते रहते हैं, पर इससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। पाठकों को दशऋत होकर ही नाम-जप करना चाहिए और याद रखना चाहिए कि-

राम नाम सब कोई कहे, दशऋत कहे न कोय।
एक बार दशऋत कहे, कोटि यज्ञ फल होय॥

अपनी प्रवृत्ति को अन्तर्मुखी बनाइए

समस्त आध्यात्मिक उपदेशों का सारांश यही निकलता है कि हमारी प्रवृत्ति बहिर्मुखी होने के बजाय अर्न्तमुखी होनी चाहिए। चेतना का प्रकाश जिस ओर जाता है उसी ओर आलोक हो जाता है और जिस ओर उसका प्रकाश नहीं जाता उस ओर अन्धकार हो जाता है। चेतना के प्रकाश में दो विशेषताएँ हैं-एक-वह पदार्थ का ज्ञान कराता है और दूसरे, वह जो उसे प्रिय बनाता है। उससे जिस ओर हमारी चेतना जाती है अर्थात् जिन वस्तुओं की ओर हम ध्यान देते हैं वे न केवल हमें ज्ञात हो जाती हैं वरन् वे हमें प्रिय हो जाती हैं। जिन बातों के बारे में हम कुछ जानते नहीं वे हमें प्रिय भी नहीं होतीं। मनुष्य को जो वस्तु प्यारी लगती है, वह उसकी वृद्धि करने की चेष्टा करता है। इस प्रकार चेतना से प्रकाशित वस्तुओं की वृद्धि इसी प्रकार होती है। शरीर की उन्नति भी शरीर के विषय में सोचने से होती है।

जब मनुष्य बहिर्मुखी रहता है तो वह सांसारिक उन्नति करता है। उसके धन, यश और मान-प्रतिष्ठा बढ़ते हैं, पर उसका स्वत्व अन्धकार में रह जाता है। अन्धकार में रहने के कारण न तो मनुष्य को अपने आपका कुछ ज्ञान होता है और न उसे अपने आप प्रिय ही लगता है। इतना ही नहीं, बहिर्मुखी व्यक्ति को अकेला छोड़ दिया जाय तो वह अपने आपसे इतना विफल हो जायगा कि आत्महत्या करने की इच्छा होने लगेगी। यदि किसी कारण से बहिर्मुखी व्यक्ति को कभी अकेले रह जाना पड़ता है तो वे जीवन से निराश हो जाते हैं। उनके विचार उनके नियंत्रण में नहीं रहते। उनकी मानसिक ग्रन्थियाँ उन्हें भारी त्रास देने लगती हैं और उन्हें जीवन भार रूप हो जाता है।

चेतना का प्रकाश बाहर जाने से मनुष्य के मन में अनेकों प्रकार के संस्कार पड़ते हैं। ये सभी संस्कार मानसिक क्लेश के कारण बन जाते हैं। इनसे आत्मा की प्रियता कम हो जाती है और बाहरी पदार्थों की ओर आकर्षण बढ़ जाता है। इस प्रकार मनुष्य की चेतना के पीछे सांसारिक पदार्थों की इच्छाओं के रूप में एक अचेतन मन की सृष्टि होती है। जो व्यक्ति जितना ही बहिर्मुखी है उसकी सांसारिक पदार्थों की इच्छायें उतनी ही प्रबल होती हैं। इन ग्रन्थियों के कारण मनुष्य का आन्तरिक स्वत्व दुःखी हो जाता है। वह फिर चेतना के प्रकाश को अपने आपके पास बुलाने का उपाय रचता है। रोग की उत्पत्ति अपने आपकी ओर चेतना के प्रकाश के बुलाने का उपाय है।

मनुष्य का वैयक्तिक अचेतन मन उसकी मानसिक ग्रन्थियों और दलित इच्छाओं का बना हुआ है। दबी हुई इच्छाओं का चेतना पर प्रकाशित होने से रेचन हो जाता है और बहुत सी मानसिक ग्रन्थियाँ इस प्रकार खुल जाती हैं, पर इससे मानसिक ग्रन्थियों का बनना रुकता तक नहीं। नयी मानसिक ग्रन्थियाँ बनती ही जाती हैं। इस प्रकार अचेतन मन का नया भार तैयार होता जाता है। मनोविश्लेषण चिकित्सा से मनुष्य की व्याधि विशेष का उपचार हो जाता है, पर उससे मूल रोग नष्ट नहीं होता।

जब मनुष्य अन्तर्मुखी हो जाता है तो बाह्य पदार्थों की प्रियता चली जाती है। उसके कारण वे मनुष्य के मन पर अपने दृढ़ संस्कार नहीं छोड़ते। इस प्रकार नया कर्म विपाक बनना बन्द हो जाता है। सदा आध्यात्मिक चिन्तन करने से मनुष्य की पुरानी मानसिक ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। अब उसे अपने सुख के लिए इधर-उधर दौड़ना नहीं पड़ता। उसे अपने विचारों में असीम आनन्द मिलने लगता है। अब अनेक प्रकार की सांसारिक चिन्ताएँ किसी प्रकार की मानसिक अशान्ति उत्पन्न नहीं करतीं। मनुष्य निजानन्द

में निमग्न रहता है। ऐसा व्यक्ति सदा साम्यावस्था में रहता है।

चेतना का प्रकाश धीरे-धीरे भीतर की ओर मोड़ा जाता है। इसके लिए नित्य अभ्यास और विचार की आवश्यकता है। जब मनुष्य को बाह्य विषयों से विरक्ति हो जाती है अर्थात् जब वे उसे दुःख रूप प्रतीत होने लगते हैं, तभी वह सुख को अपने भीतर खोजने की चेष्टा करता है। मन के हताश होने की अवस्था में मनुष्य के विचार स्थिर नहीं रहते, वह सभी प्रकार के प्रयत्नों को सन्देह की दृष्टि से देखने लगता है । अतएव एकाएक मन को अन्तर्मुखी नहीं बनाया जा सकता पर धीरे-धीरे उसे अभ्यास के द्वारा अन्तर्मुखी बनाया जा सकता है ।

जब मनुष्य अन्तर्मुखी होता है तो उसे ज्ञात होता है कि मनुष्य का मानसिक संसार उसके बाह्य संसार के फैलाव से कम नहीं है । जितना बाह्य संसार का विस्तार है, उससे कहीं अधिक आन्तरिक संसार का है । अर्थात् मनुष्य को आत्म-स्थिति प्राप्त करने के लिए उतना ही अधिक अध्ययन, विचार और अन्वेषण करना पड़ता है, जितना कोई भौतिक विज्ञान में रुचि रखने वाला अन्वेषक करता है।

संसार की सभी वस्तुएँ आत्म-सन्तोष के लिए हैं । यदि मनुष्य को आत्म-सन्तोष का सरल मार्ग ज्ञात हो जाय तो वह सांसारिक पदार्थों के पीछे क्यों दौड़े ? पर यह आत्मसंतोष प्राप्त करना सरल काम नहीं है । जितनी कठिनाई किसी इच्छित बाह्य पदार्थ के प्राप्त करने में होती है, उससे कहीं अधिक कठिनाई आत्म-ज्ञान प्राप्त करने में होती है। आत्मज्ञान मन की साधना से उत्पन्न होता है । जब तक मन निरवलम्ब नहीं हो जाता, तब तक निज स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, पर मन का सहज स्वभाव है आत्मा से इतर वस्तु पर अवलम्बित होकर रहना । उसे अपनी इस आदत से मुक्त करने में जितना प्रयास करना पड़ता है, वह कल्पनातीत है।

ईश्वरवाद में विश्वास रखने और उसके ध्यान में तल्लीन होने का मुख्य उद्देश्य यही है कि आत्मा अपने वास्तविक सर्वोत्कृष्ट स्वरूप को समझकर स्वावलम्बी बन सके । ईश्वर की उपासना के द्वारा हम 'दिव्य सत् तत्व' की आराधना करते हैं, जिससे हमारी आत्मा तमोगुण और रजोगुण से छूटकर सत् तत्व में सराबोर हो जाय । नाना विधि विधानों से, अनेकानेक कर्मकाण्डों से संसार भर में ईश्वर की जो पूजा-उपासना होती हुई दिखलाई पड़ती है, उस सबका मर्म यही है कि जीव ईश्वरीय सत्-तत्व के अधिकाधिक समीप पहुँचता जाय और अन्त में स्वयं भी वैसा ही बन जाय । उस अवस्था को प्राप्त हो जाने से आनन्द की सीमा नहीं रहती । अनन्त आनन्द में उसकी चेतना तल्लीन हो जाती है । सत्वगुण की इसी परिपूर्णता को ब्रह्म की प्राप्ति कहते हैं ।

३. शक्ति का सदुपयोग

गायत्री का तीसरा अक्षर 'स' शक्ति की प्राप्ति और उसके सदुपयोग की शिक्षा देता है-

सत्तावन्तस्तथा शूराः क्षत्रिया लोकरक्षकाः ।
अन्यायाशक्ति संभूतान ध्वंसयेयुहि व्यापदाः ॥

अर्थात्- "सत्ताधारी, शूरवीर तथा संसार के रक्षक क्षत्रिय अन्याय और अशक्ति से उत्पन्न होने वाली आपत्तियों को नष्ट करें ।"

क्षत्रियत्व एक गुण है । वह किसी वंश विशेष में न्यूनाधिक भले ही मिलता हो, पर किसी एक वंश या जाति तक ही सीमित नहीं हो सकता । क्षत्रियत्व के प्रधान लक्षण हैं-शूरता अर्थात् धैर्य, साहस, निर्भयता, पुरुषार्थ, दृढ़ता, पराक्रम आदि । ये गुण जिसमें जितने न्यूनाधिक हैं, वह उतने ही अंश में क्षत्रिय है ।

शारीरिक प्रतिभा, तेज, सामर्थ्य, शौर्य, पुरुषार्थ और सत्ता का क्षात्रबल जिनके पास है, उनका पवित्र कर्तव्य है कि वे अपनी इस शक्ति के द्वारा निर्बलों की रक्षा करें, ऊपर उठावें तथा अन्याय, अत्याचार करने वाले दुष्ट प्रकृति के लोगों से संघर्ष करने में अपने प्राणों का भी मोह न करें ।

शक्ति और सत्ता ईश्वर की कृपा से प्राप्त होने वाली एक पवित्र धरोहर है, जो मनुष्य को इसलिये दी जाती है कि वह उसके द्वारा निर्बलों की रक्षा करे । जो उसके द्वारा दुर्बलों को सहायता पहुँचाने के बजाय उल्टा उनका शोषण, दमन, त्रास, उत्पीड़न करता है, वह क्षत्रिय नहीं असुर है । सामर्थ्य का आसुरी उपयोग करना उस महाशक्ति का प्रत्यक्ष अपमान है और इस अपमान का फल वैसा ही भयंकर होता है जैसा महाकाली से लड़ने वाले महिषासुर आदि का हुआ था । वर्तमान युग में यह शक्ति का दुरुपयोग बहुत बढ़ गया था, जिसके फल से पिछले कुछ वर्षों में अनेक सत्ता धारियों का पतन हो चुका है ।

शक्ति की आवश्यकता

जीवन एक प्रकार का संग्राम है । इसमें घड़ी-घड़ी में विपरीत परिस्थितियों से, कठिनाइयों से लड़ना पड़ता है। मनुष्य को अपरिमित विरोधी तत्वों को पार करते हुए अपनी यात्रा जारी रखनी होती है । दृष्टि उठाकर जिधर भी देखिये उधर ही शत्रुओं से जीवन घिरा हुआ प्रतीत होगा। ''दुर्बल, सबलों का आहार है ।'' यह एक ऐसा कडुआ सत्य है जिसे लाचार होकर स्वीकार करना ही पड़ता है। छोटी मछली को बड़ी मछली खाती है, बड़े वृक्ष अपना पेट भरने के लिए आस-पास के अनेक छोटे-छोटे पौधों की खुराक झपट लेते हैं और वे बेचारे छोटे पौधे मृत्यु के मुख में चले जाते हैं । छोटे कीड़ों को चिड़ियाँ खा जाती हैं और उन चिड़ियों को बाज आदि बड़ी चिड़ियाँ मार खाती हैं । गरीब लोग अमीरों द्वारा, दुर्बल बलवानों द्वारा सताये जाते हैं । इन सब बातों पर विचार करते हुए हमें इस निर्णय पर पहुँचना होता है कि यदि सबलों का शिकार होने से पहले उनके द्वारा नष्ट किये जाने से अपने को बचाना है, तो अपनी दुर्बलता को हटाकर इतनी शक्ति तो कम से कम अवश्य ही संचय करनी चाहिए कि चाहे कोई यों ही चट न कर जावे ।

रोगों के कीटाणु जो इतने छोटे होते हैं कि आँखों से दिखाई ही नहीं पड़ते, हमारे स्वास्थ्य को नष्ट कर डालने और मार डालने के लिए चुपके-चुपके प्रयत्न करते रहते हैं । हमारे शरीर में उन्हें थोड़ी भी जगह मिल जाय तो बड़ी तीव्र गति से वे हमें बीमारी और मृत्यु की ओर खींच ले जाते हैं । जरा सा मच्छर मलेरिया का उपहार लिये हुए पीछे फिरा करता है, मक्खियाँ हैजा की भेंट लिये तैयार खड़ी हैं । बिल्ली, घर में से खाने पीने की चीजें चट करने के लिए, चूहा कपड़े काट डालने के लिए, बंदर बर्तन उठा ले जाने के लिए तैयार बैठा है । बाजार में निकलिये, दुकानदार खराब माल देने, कम तौलने, दूने पैसे वसूल करने की घात लगाये बैठा है । गठकटे, ठग, चोर, उचक्के अपना-अपना दाव देख रहे हैं, ढोंगी मुफ्तखोर अपना जाल ही बिछा रहे हैं । चोर, गुण्डे, दुष्ट अकारण ही जलते, दुश्मनी बांधते और नुकसान पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। हितू सम्बन्धी भी अपने-अपने स्वार्थ-साधन की प्रधानता से ही आपसे हित या अनहित घटाते-बढ़ाते रहते हैं ।

चारों ओर मोर्चा बन्दियाँ बंधी हुई हैं, यदि आप सावधान न रहें, जागरूकता से काम न चले, अपने को बलवान साबित न करें तो निस्सन्देह इतने प्रहार चारों ओर से होने लगेंगे कि उनकी चोटों से अपने को बचाना कठिन हो जायगा । ऐसी दशा में उन्नति करना, आनन्द प्राप्त करना तो दूर, शोषण, अपहरण, चोट और मृत्यु से बचना मुश्किल होगा । अतएव सांसारिक जीवन में प्रवेश करते हुए इस बात को भली प्रकार समझ लेना चाहिए और समझकर गांठ बांध लेनी चाहिए कि केवल जागरुक और बलवान व्यक्ति ही इस दुनियाँ में आनन्दमय जीवन के अधिकारी हैं । जो निर्बल, अकर्मण्य और लापरवाह स्वभाव के हैं, वे किसी न किसी प्रकार दूसरों द्वारा चूसे जायेंगे और आनन्द से वंचित कर दिये जायेंगे । जिन्हें अपने स्वाभाविक अधिकारों की रक्षा करते हुए प्रतिष्ठा के साथ जीने की इच्छा है, उन्हें अपने दुश्मनों से सजग रहना होगा, उनसे बचने के लिए बल एकत्रित करना होगा ।

जब तक आप अपनी योग्यता नहीं प्रकट करते, तब तक लोग अकारण ही आपके रास्ते में रोड़े अटकावेंगे किन्तु जब उन्हें यह मालूम हो जायगा कि आप शक्ति सम्पन्न हैं तो वे जैसे अकारण दुश्मनी ठानते थे, वैसे ही अकारण मित्रता करेंगे । बीमार के लिए पौष्टिक भोजन विष तुल्य होता जाता है किन्तु स्वस्थ मनुष्य को बल प्रदान करता है । जो सिंह रास्ता चलते सीधे साधे आदमियों को मार कर खा जाता है वही सिंह सर्कस मास्टर के आगे दुम हिलाता है और उसकी आज्ञा का पालन करता हुआ, बहुत बड़ी आमदनी कराने का साधन बन जाता है ।

अच्छे स्वास्थ्य वाले को बलवान कहते हैं, परन्तु आज के युग में यह परिभाषा अधूरी है । इस समय शरीर-बल, पैसे का बल, बुद्धि का बल, प्रतिष्ठा का बल, साथियों का बल, साहस का बल यह सब मिलकर एक पूर्ण बल बनता है । आज के युग में बलवान वह है, जिसके पास उपरोक्त छः बलों में से कोई बल हों, आप अपने शरीर को बलवान बनाइये परन्तु साथ-साथ अन्य पांच बलों को भी एकत्रित कीजिए । किसी के साथ बेइन्साफी करने में इन बलों का उपयोग करें, ऐसा हमारा कथन नहीं है परन्तु जब आपको अकारण सताया जा रहा हो तो आत्मरक्षा के लिए यथोचित रीति से इनका प्रयोग भी कीजिए, जिससे शत्रुओं को दुस्साहस न करने की शिक्षा मिले । बलवान बनना पुण्य है क्योंकि इससे दुष्ट लोगों की कुवृत्तियों पर अंकुश लगता है और दूसरे कई दुर्बलों की रक्षा हो जाती है ।

शक्ति बिना मुक्ति नहीं

एक महात्मा का कथन है- 'सत्य ही शक्ति है, इसलिए शक्ति ही सत्य है ।' अविद्या, अंधकार और अनाचार का नाश सत्य के प्रकाश के द्वारा ही हो सकता है। शक्ति की विद्युत धारा में ही वह शक्ति है कि वह मृतक व्यक्ति या समाज की नसों में प्राण-संचार करे और उसे सशक्त एवं सचेत बनाये । शक्ति एक तत्व है जिसको आह्वान करके जीवन के विभिन्न विभागों में भरा जा सकता है और उसी अंग में तेज एवं सौन्दर्य का दर्शन किया जा सकता है, शरीर में शक्ति का आविर्भाव होने पर देह कुन्दन जैसी चमकदार, हथौड़े जैसी गढ़ी हुई, चंदन जैसी सुगंधित एवं अष्ट धातु सी निरोग बन जाती है, बलवान शरीर का सौन्दर्य देखते ही बनता है। मन में शक्ति का उदय होने पर साधारण से मनुष्य कोलम्बस, लेनिन, गांधी, सनयातसेन जैसी हस्ती बन जाते हैं और ईसा, बुद्ध, राम, कृष्ण, मुहम्मद के समान असाधारण कार्य अपने मामूली शरीरों के द्वारा ही करके दिखा देते हैं । बौद्धिक बल की जरा सी चिनगारियाँ बड़े-बड़े तत्व ज्ञानों की रचना करती हैं और वर्तमान युग के वैज्ञानिक आविष्कारों की भाँति चमत्कारिक वस्तुओं के अनेकानेक निर्माण कर डालती हैं, अधिक बल का थोड़ा सा प्रसाद हमारे आस-पास चकाचौंध उत्पन्न कर देता है, जिन सुख-साधनों के स्वर्गलोक में होने की कल्पना की गयी है, पैसे के बल से वे इस लोक में भी प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं और संगठन बल, अहा ! वह तो गजब की चीज है, 'एक और एक मिलकर ग्यारह' हो जाने की कहावत पूरी सच्चाई से भरी हुई है। दो व्यक्ति यदि सच्चे दिल से मिल जावें, तो उनकी शक्ति ग्यारह गुनी हो जाती है। सच्चे कर्मवीर थोड़ी संख्या में भी आपस में मिल कर काम करें, तो वे आश्चर्यजनक काम कर सकते हैं । कलियुग में तो संघ को ही शक्ति कहा गया है। निस्सन्देह गुटबन्दी, गिरोहबन्दी, एका, मेल, संगठन एक जादू है, जिसके द्वारा सम्बन्धित सभी व्यक्ति एक दूसरे को कुछ देते हैं और उस आदान-प्रदान से उनमें से हर एक को बल मिलता है ।

आत्मा की मुक्ति भी ज्ञान, शक्ति एवं साधना की शक्तियों से ही होती है। अकर्मण्यता और निर्मल मन वाला व्यक्ति आत्मोद्धार नहीं कर सकता और न ईश्वर को ही प्राप्त कर सकता है । लौकिक और पारलौकिक सब प्रकार के दु:ख-द्वन्द्वों से छुटकारा पाने के लिए शक्ति की ही उपासना करनी पड़ेगी । निस्सन्देह शक्ति के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती, अशक्त मनुष्य तो दु:ख-द्वन्दों में ही पड़े-पड़े बिलबिलाते रहेंगे और कभी भाग्य को, कभी ईश्वर को, कभी दुनियाँ को दोष देते हुए झूठी विडम्बना करते रहेंगे। जो व्यक्ति किसी भी दशा में महत्व प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि अपने इच्छित मार्ग के लिए शक्ति संपादन करें ।

(१) सच्ची लगन और (२) निरन्तर प्रयत्न, यही दो महान साधनाऐं हैं, जिनसे भगवती शक्ति को प्रसन्न करके उनसे इच्छित वरदान प्राप्त किया जा सकता है । आपने अपना जो भी कार्यक्रम बनाया हो, जो भी जीवनोद्देश्य बनाया हो, उसे पूरा करने में जी-जान से जुट जाइये। सोते जागते उसी के सम्बन्ध में सोच विचार करते रहिये और आगे का रास्ता तलाश करते रहिए ! परिश्रम ! परिश्रम !! घोर परिश्रम !!! आपकी आदत में शामिल होना चाहिए, मत सोचिये कि अधिक काम करने से आप थक जायेंगे, वास्तव में परिश्रम एक स्वयं चालक शक्ति है, अपनी बढ़ती हुए गति के अनुसार कार्य क्षमता उत्पन्न कर लेती है । उदासीन, आलसी और निकम्मे व्यक्ति दो घण्टा काम करके एक पर्वत पार कर लेने की थकान अनुभव करता है, किन्तु उत्साही, उद्यमी और अपने कार्य में दिलचस्पी लेने वाले व्यक्ति सोने के समय को छोड़कर अन्य सारे समय लगे रहते हैं और जरा भी नहीं थकते। सच्ची लगन, दिलचस्पी, रुचि और झुकाव एक प्रकार का डायनुमा है, जो काम करने के लिये क्षमता की विद्युत शक्ति हर घड़ी उत्पन्न करता रहता है।

स्मरण रखिये कि आपका कोई भी मनोरथ क्यों न हो, शक्ति द्वारा ही पूरा हो सकता है। इधर-उधर बगलें झांकने से कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा, दूसरों के सहारे सिर भिगोने पर तो निराशा ही हाथ लगती है। अपने प्रिय विषय में सफल होने के लिये अपने पाँवों पर उठ खड़े हूजिये, उसमें सच्ची लगन और दिलचस्पी पैदा कीजिये, एवं मशीन की तरह जी तोड़ परिश्रम के साथ काम में जुट जाइये, अधीर मत होइये, शक्ति की देवी आपके साहस की बार-बार परीक्षा लेगी, बार-बार असफलता और निराशा की अग्नि में तपावेगी तथा असली-नकली की जांच करेगी। यदि आप कष्ट, कठिनाई, असफलता, निराशा, विलम्ब आदि की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए तो वह प्रसन्न होकर प्रकट होगी और इच्छित वरदान ही नहीं वरन् उससे भी कई गुना फल प्रदान करेगी ।

एक बार, दो बार नहीं, हजार बार इस बात को गिरह बाँध लीजिये कि 'शक्ति के बिना मुक्ति नहीं।' दु:ख दारिद्र की गुलामी से छुटकारा शक्ति उपार्जन किये बिना कदापि नहीं हो सकता। आप अपने लिये कल्याण चाहते हैं तो उठिये, शक्ति को बढ़ाइये, बलवान बनिये, अपने अन्दर लगन, कर्मण्यता और आत्म विश्वास पैदा कीजिए, तब आप अपनी सहायता खुद करेंगे, तो ईश्वर भी आपकी सहायता करने के लिये दौड़ा-दौड़ा आवेगा।

शक्ति का अपव्यय मत करो

ऐसे बहुत ही कम सौभाग्यशाली व्यक्ति निकलेंगे जिन्हें शक्ति जन्म जात मिली हो। अधिकांश मनुष्यों को धीरे-धीरे शक्ति अभ्यास द्वारा ही प्राप्त होती है और उसका संचय करने से ही वे शक्तिशाली बन सकते हैं।

हमारी शक्ति के विकास के तीन द्वार हैं- मन, वचन और काया। इन्हीं के द्वारा हम कोई कार्य करने में समर्थ होते हैं, पर हमने अपनी शक्ति को अनेक कार्यों में बिखेर रखा है, इसी से हम अपने आपको कमजोर समझते हैं। यह तो मानी हुई बात है कि कोई वस्तु चाहे कितनी ही ताकतवर क्यों न हो, टुकड़े कर देने पर वह जितने भागों में विभक्त हुई है, शक्ति का बल भी उतने ही अंशों में कम हो जायगा। इसी प्रकार हम अपने मन को अनेक संकल्पों-विकल्पों में बाँटे रखेंगे तो एक निश्चय पर पहुँचने में कठिनता होगी, किसी भी विषय को गंभीरता से नहीं सोच सकेंगे, उसकी तह तक नहीं पहुँच सकेंगे।

इसी प्रकार वचन शक्ति को व्यर्थ की बकवास या वाचालता में लगाये रखेंगे तो उसका कोई असर नहीं होगा। शक्ति इतनी कमजोर पड़ जायगी कि वह शक्ति के रूप में अनुभव भी नहीं की जाने लगेगी।

इसी प्रकार कायिक शक्ति को भी समझें। कहने का आशय है कि हर समय इन विविध शक्तियों का जो अपव्यय हो रहा है, उसकी ओर ध्यान देकर उसे रोका जाय, उनको लक्ष्य में केन्द्रित किया जाय, इससे जो कार्य वर्षों में नहीं होता था, वह महीनों, दिनों, घंटों एवं मिनटों में होने लगेगा, क्योंकि जहाँ कहीं उसका प्रयोग होगा, पूरे रूप से होगा। अत: उस कार्य की शीघ्र सफलता अवश्यम्भावी है।

मन: शक्ति के विकास के लिए मन की दृढ़ता जरूरी है। पचास बातों पर विचार न करके एक ही बात पर विचार किया जाय। व्यर्थ के संकल्प-विकल्पों को रोका जाय। वचन शक्ति को प्रबल करने के लिए परिमिति बोला जाय, मौन रहने के लिये इधर-उधर व्यर्थ न घूमा फिरा जाय, इन्द्रियों को चंचल न बनाया जाय।

इस तरह तीनों शक्तियों को प्रबल बनाकर और निश्चित कर उन्हें लक्ष्य की ओर करने से जीवन में अद्भुत सफलता मिल सकेगी। लक्ष्य की प्राप्ति ही जीवन की सफलता है।

जड़ पदार्थों के अधिक समय के संसर्ग से हमारी वृत्ति बहिर्मुखी हो गयी है। अत: प्रत्येक कार्य एवं कारण का मूल हम बाहर ही खोजते रहते हैं, हम यह कभी अनुभव ही नहीं करते कि आखिर कोई चीज आयेगी कहाँ से ? और देगा कौन ? यदि उसमें वह शक्ति है ही नहीं तो हम लाख उपाय करें पर जड़ तो जड़ ही रहेगा, चेतन से सम्बन्धित होकर वह चेतना भास हो सकता है पर चेतन नहीं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु का स्वभाव भिन्न है, जिसका जो स्वभाव है वह उसी रूप में रहता है, स्वभाव छोड़ता नहीं। उपादान नहीं है तो निमित्तादि कारण करेंगे क्या ? अत: कार्य-कारण का सम्बन्ध हमें जरा अर्न्तमुखी होकर सोचना चाहिए। जो अच्छा-बुरा करते हैं, वह हमी करते हैं, अन्य नहीं और जब कोई विकास होता है वह अन्दर से ही होता है, बाहर से नहीं। निमित्त तभी कार्यकर होते हैं जब उपादान के साथ ही सम्बन्धित हो।

हमारी शक्ति का श्रोत हमारे अन्दर ही है। अत: उसे बाहर ढूँढ़ते फिरने से सिद्धि नहीं होगी। मृग की नाभि में कस्तूरी होती है, उसकी सुगंध से वह मतवाला रहता है, पर वह उसे बाहर कहीं से आती हुई मानकर चारों ओर भटकता फिरता है। फिर भी उसे कुछ भी हाथ नहीं आता इसी प्रकार हम अपने स्वरूप, स्वभाव, गुणों को भूल कर, पराई आशा में भौतिक पदार्थों को जुटा कर उनके द्वारा ज्ञान, सुख, आनन्द प्राप्त करने को प्रयत्नशील हैं। यह भ्रम है। इसी भ्रम के कारण अनेकों अनन्त काल से सुख प्राप्ति के लिये भौतिक साधनों की ओर आशा लगाये बैठे रहे, पर सुख नहीं मिला। बाह्य जगत से हम इतने घुल मिल गये हैं कि इससे अन्य एवं भिन्न भी कुछ है, इसकी कल्पना तक हमें नहीं हो पाती। जिन महापुरुषों ने अपनी अनन्त आत्म शक्ति को पहिचान कर उसे प्रगट किया है, पूर्ण ज्ञान एवं आनन्द के भोगी बने हैं, उनकी सारी चिन्तायें विलीन हो गयी हैं, आकुलता-व्याकुलता नष्ट होकर पूर्ण शान्ति प्रकट हो गयी है। उनको इच्छा नहीं, आकांक्षा नहीं, अभिलाषा नहीं, आशा नहीं, चाह नहीं। अत: अन्तर्मुखी

बनकर अपनी शक्ति को पहिचानना और उसका विकास करना ही हम सबके लिए नितान्त आवश्यक है ।

शक्ति-संचय की प्रणाली

संसार में शक्ति की आवश्यकता और महत्व को समझ कर बुद्धिमान व्यक्ति सदैव उसका संचय करने में तत्पर रहते हैं । कोई जप-तप करके आध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न करते हैं, कोई व्यायाम द्वारा शारीरिक शक्ति को बढ़ाते हैं, कोई तरह-तरह की विद्याओं और कलाओं का अभ्यास करके बौद्धिक शक्ति को तीक्ष्ण करते हैं । सारांश यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को संसार में सफलता प्राप्त करने के लिए शक्ति संचय की आवश्यकता पड़ती है। निर्बलता एक बहुत बड़ा पातक है । अशक्त व्यक्ति अपना बुरा प्रभाव जिन निकटवर्ती एवं कुटुम्बियों पर डालते हैं, उनकी मनोवृति भी उसी सांचे में ढलती है। इस प्रकार यह छूत की बीमारी एक से दो में, दो से दस में और दस से सैकड़ों में फैलती चली जाती है। कायर, आलसी, निकम्मे, निर्बल, भिखारी, दीन, दास वृत्ति के लोग अपने समान औरों को भी बना लेते हैं ।

निर्बल व्यक्ति जीवन भर दुःख भोगते हैं, जिसका शरीर निर्बल है उसे बीमारियाँ सताती रहेंगी । सांसारिक सुखों से उसे वञ्चित रहना पड़ेगा । इन्द्रियाँ साथ न देंगी तो सुखदायक वस्तुऐं पास होते हुए भी उनके सुख को प्राप्त न किया जा सकेगा । जो आर्थिक दृष्टि से निर्बल है वह जीवनोपयोगी वस्तुऐं जुटाने में सफल न हो सकेगा, सुखी और सफल मनुष्यों के समाज में उसे दीन, हीन गरीब समझ कर तिरष्कृत किया जायगा । अनेक स्वाभाविक आकांक्षाओं को उसे मन मारकर मसलना पड़ेगा ।

संसार में पाप, अनीति एवं अत्याचार की वृद्धि का अधिकांश दोष निर्बलता पर है । कमजोर भेड़ और बकरियों को मांसाहारी मनुष्य और पशु उदरस्थ कर जाते हैं । पर भेड़िये का मांस पकाने की किसी की इच्छा नहीं होती, कमजोरी में एक ऐसा आकर्षण है कि उससे अनुचित लाभ उठाने की हर एक को इच्छा हो आती है। नन्हें-नन्हें अदृश्य रोग कीटाणु जो हवा में उड़ते फिरते हैं उन्हीं पर आक्रमण करते हैं, जिन्हें कमजोर देखते हैं । हम अपने चारों ओर आंख फैलाकर देख सकते हैं कि कमजोर पर हर कोई हमला करने की सोचता है। जैसे गंदगी इकट्ठी कर लेने से मक्खियाँ अपने आप पैदा हो जाती हैं या दूर-दूर से इकट्ठी होकर वहीं आ जाती हैं, इसी प्रकार कमजोरों से अनुचित लाभ उठाने के लिये घर के, पास पड़ौस के तथा दूर देश के व्यक्ति एकत्रित हो जाते हैं या वैसे लोग पैदा हो जाते हैं । यदि कमजोरी का अन्त हो जाय तो अत्याचार या अन्याय का भी अन्त निश्चित है ।

दुर्बल मनुष्य स्वयं अपने आप में स्वस्थ विचार धारा धारण नहीं कर सकता । कारण कितने ही हैं जैसे- (१) शारीरिक दृष्टि से कमजोर व्यक्ति के मस्तिष्क में पर्याप्त खून नहीं पहुँचता, इसलिये वह जरा सी बात में उत्तेजित, चिन्तित, भयभीत, कातर एवं किंकर्तव्य विमूढ़ हो जाता है। ऐसी अस्थिर अवस्थाओं में मस्तिष्क सही निर्णय नहीं कर सकता, वह अन्धकार पूर्ण पथ की ओर अग्रसर हो जाता है। (२) पुरुषार्थ शक्ति के अभाव में वह अभीष्ट वस्तुओं को बाहुबल से प्राप्त नहीं कर सकता, पर इच्छा उसे सताती है। इस इच्छा-पूर्ति के लिये वह अधर्म पूर्वक भोग वस्तुओं, सम्पदाओं को प्राप्त करने के लिए प्रवृत्त होता है । (३) अपनी हीन दशा और दूसरों की अच्छी दशा देखकर उसके मन में एक कसक, आत्मग्लानि कुढ़न एवं ईर्ष्या उत्पन्न होती है, ऐसी स्थिति में दुर्भाग्य के निराशाजनक भाव या प्रतिहिंसा के घातक भाव मस्तिष्क में उठते रहते हैं । (४) अभावों के कारण जो कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं उनसे विचलित होकर मनुष्य अधर्म पर उतारू हो जाता है । (५) निर्बलता एक प्रकार का रोग है। उस रुग्ण अवस्था में विचार भी रोगी हो जाते हैं, उच्चकोटि के आध्यात्मिक विचार उस अवस्था में नहीं रह पाते । शास्त्रकार कहते हैं-"क्षीणानरा: निष्करुणा भवन्ति" अर्थात् दुर्बल मनुष्य निर्दय हो जाते हैं ।

इन कारणों से स्पष्ट हो जाता है कि भौतिक उन्नति ही नहीं, आध्यात्मिक उन्नति के लिए भी बलवान बनना आवश्यक है । एक प्रसिद्ध कहावत है कि- "शक्ति का प्रयोग करने के लिए शक्ति का प्रदर्शन जरूरी है।" प्रकृति का, मनुष्यों का, रोगों का, शैतान का आक्रमण अपने ऊपर न हो, इसको रोकने का एक मात्र तरीका यह है कि हम अपने शारीरिक, बौद्धिक, आत्मिक बल को इतना बढ़ा लें कि उसे देखते ही आक्रमणकारी पस्त हो जायें । बल का संचय अनेक आने वाली विपत्तियों से अनायास ही बचा देता है । सबलता एक मजबूत किला है, जिसे देखकर शत्रुओं के मनसूबे धूल में मिल जाते हैं ।

शाक्त लोग अष्टभुजी दुर्गा की पूजा करते हैं । भवानी शक्ति की मूर्तियों में हम उनकी आठ भुजायें देखते हैं । इनका तात्पर्य है कि आठ साधन हैं- (१) स्वास्थ्य,

(२) विद्या, (३) धन, (४) व्यवस्था, (५) संगठन, (६) यश, (७) शौर्य, (८) सत्य, इन आठों के सम्मिलन से एक पूर्ण शक्ति बनती है, इन शक्तियों में से जिसके पास जितना भाग होगा, वह उतना ही शक्तिवान समझा जायेगा।

(१) स्वास्थ्य की महत्ता हम सब जानते हैं कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का मूल है। अस्वस्थ मनुष्य तो इस पृथ्वी का एक भार है जो दूसरों के कष्ट का कारण बनकर अपनी सांस पूरी करता है, सच्चे जीवन का स्वाद लेने से और मनुष्यता के उत्तरदायित्वों को पूरा करने से वह सर्वथा वंचित रह जाता है। किसी मार्ग में उन्नति करना तो दूर, उसे प्राण धारण किये रहना भी बड़ा कठिन हो जाता है। स्वास्थ्य सर्वप्रथम और सर्वोपरि बल है। इस बल के बिना अन्य सब बल निरर्थक हैं। इसलिए स्वस्थता की ओर सबसे अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

अस्वस्थ होने के थोड़े से कारण हैं। यदि हम उनकी ओर सतर्क रहें तो बीमारी और कमजोरी से बचकर स्वाभाविक स्वस्थता प्राप्त कर सकते हैं। स्वास्थ्य की ओर पर्याप्त ध्यान न देना, निरोगता में पूरी दिलचस्पी न लेना, तन्दुरुस्ती के खराब होने का सबसे बड़ा मूल कारण है। रुपया कमाने में, कारोबार-व्यापार में, या अन्यान्य अनेकों कामों में जितनी पैनी दृष्टि से होशियारी और दिलचस्पी से काम करते हैं यदि उसका दसवां भाग भी तन्दुरुस्ती की ओर ध्यान दिया जाय तो दुर्बल होने की नौबत न आवे। आमतौर से लोग शरीर को आराम देने और सजाने की तो फिकर करते हैं, इन्द्रिय भोगों के साधन जुटाते हैं, पर यह नहीं सोचते कि चिरस्थायी स्वास्थ्य और दीर्घ जीवन किस प्रकार प्राप्त हो सकता है। यदि हम धनी बनने की इच्छा की भांति स्वस्थ एवं दीर्घजीवी बनने की भी इच्छा करें तो अवश्य ही सफल मनोरथ हो सकते हैं। धनी बनने से स्वस्थ बनना सुगम है।

स्वाद, फैशन या आराम की ओर ध्यान न देकर आरोग्य की दृष्टि से हमें अपना जीवन-क्रम बनाना चाहिए। प्रातःकाल जल्दी उठना, रात को जल्दी सोना, नियमित व्यायाम, त्वचा को खूब रगड़-रगड़ कर पूरा स्नान, मालिश, मलों की भली प्रकार सफाई, चटोरेपन को बिल्कुल तिलांजलि देकर सात्विक मन से खूब चबाकर, प्रसन्नतापूर्वक कम भोजन करना, सामर्थ्य के अनुसार श्रम, चिन्ता से बचाव, वीर्य रक्षा आदि बातों में सावधानी बरती जाय तो स्वस्थता परछाँई की भाँति साथ रहेगी। तन्दुरुस्ती हकीम डाक्टरों की दुकानों में या रंग बिरंगी शीशियों में नहीं है, वरन् आहार-विहार की सात्विकता एवं सावधानी में है। आडम्बरी, कृत्रिम, चटोरे, प्रकृति विरुद्ध, आलसी रहन-सहन से हम रोगी बनते हैं, उसे परित्याग करके यदि सीधा-सादा सरल और प्रकृति-अनुकूल जीवन क्रम बनाया जाय तो स्वस्थता निश्चित हमारे साथ रहेगी।

(२) विद्या के दो विभाग हैं- एक शिक्षा दूसरी विद्या। सांसारिक जानकारी को शिक्षा कहते हैं जैसे भाषा, भूगोल, गणित, इतिहास, चिकित्सा, व्यापार, शिल्प, साहित्य, संगीत, कला, विज्ञान, नीति, न्याय व्यवस्था आदि। विद्या मनुष्यता के कर्तव्य और उत्तरदायित्व को हृदयंगम करने को कहते हैं। धर्म, अध्यात्म, शिष्टाचार, सेवा, पुण्य, परमार्थ, दया, त्याग, सरलता, सदाचार, संयम, प्रेम, न्याय, ईमानदारी, ईश्वरपरायणता, कर्तव्य भावना, प्रभृति वृत्तियों का जीवन में घुलमिल जाना विद्या है। शिक्षा और विद्या दोनों को ही प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। शिक्षा से सांसारिक जीवन की श्री वृद्धि होती है और विद्या से, आत्मिक जीवन से सुसम्पन्नता आती है।

बौद्धिक विकास के लिए जिज्ञासा की सबसे अधिक आवश्यकता है। जिसके मन में जानने की इच्छा होती है अनेकों तर्क-वितर्क उठते हैं, चिन्तन, मनन और विवाद करने में जिसे रस आता है, जो अपनी जानकारी बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील रहता है, जिसे ज्ञान संग्रह का शौक है, जो ज्ञानवान बनने के महत्व और आनन्द से परिचित है, वह नित्य प्रति अधिक ज्ञानवान होता चला जायगा। ज्ञानवान बनने के अनेकों साधन उसे पग-पग पर प्राप्त होते रहेंगे। मूढ़ मति मनुष्यों को जहाँ कोई खास बात दिखाई नहीं पड़ती, जिज्ञासु व्यक्ति की सूक्ष्म दृष्टि वहाँ भी बहुत सी जानने योग्य बातें ढूँढ़ निकालती हैं। ज्ञानवान बनने की तीव्र आकांक्षा हुए बिना मस्तिष्क की वे सूक्ष्म शक्तियाँ जाग्रत नहीं हो सकतीं जिनके आधार पर शिक्षा और विद्या की प्राप्ति हुआ करती है। "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" के सूत्रकार ने ज्ञान-साधना का प्रथम उपाय जिज्ञासा को बताया है। जिज्ञासु होना विद्वान होने का पूर्व रूप है।

पर्यटन, यात्रा, समाचार पत्रों को पढ़ना, विचार पूर्ण पुस्तकों का अध्ययन, सत्संग, आमलोगों की मनोवृत्तियों का अध्ययन, घटनाओं पर विचार और उनका निरूपण एवं अनुभव-संपादन में रुचि लेने वाले मनुष्य बुद्धिमान हो जाते हैं। जो अपनी भूलों को ढूँढ़ने और सही निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए हठधर्मी से बचा कर अपने मस्तिष्क को खुला रखते हैं वे आवश्यक एवं उपयोगी ज्ञान को पर्याप्त

मात्रा में एकत्रित कर लेते हैं। समर्थक और विरोधी दोनों तथ्यों को समझने और उनकी विवेचना करने के लिए जो लोग प्रस्तुत रहते हैं वे भ्रम से, अज्ञान से बचकर वास्तविकता तक पहुँच जाते हैं। अपनी जानकारी की अल्पता को समझना अधिक मात्रा में एवं अधिक वास्तविक ज्ञान को प्राप्त करने की निरन्तर चाह रखना मनुष्य को क्रमशः ज्ञानवान बनाती जाती है। ज्ञान-वृद्धि को प्राप्त करने के अवसरों को जो लोग तलाशते रहते हैं और वैसे अवसर मिलने पर उनका समुचित लाभ उठाते हैं, उनकी विद्या बढ़ती जाती है।

(३) धन- समय के प्रभाव से आज पैसे का मनुष्य जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य की लघुता, महानता अब पैसे के पैमाने से नापी जाने लगी है। पैसे के द्वारा सब सुख सामग्रियाँ, सब प्रकार की योग्यता और शक्तियाँ खरीद ली जाती हैं। आज जो अनुचित और अत्यधिक महत्व पैसे को प्राप्त है, उसकी ओर ध्यान न दिया जाय तो इतना तो मानना ही पड़ेगा कि पैसे की आवश्यकता हर एक की है। भोजन, वस्त्र एवं मकान की जरूरत पड़ती है। अतिथि सत्कार, परिवार का भरण-पोषण, बच्चों की शिक्षा, विवाह, चिकित्सा, दुर्घटना, अकाल, आपत्ति, यात्रा आदि के लिये थोड़ा बहुत पैसा हर सद्गृहस्थ के पास रहना आवश्यक है।

धन-उपार्जन की अनेकों प्रणाली संसार में प्रचलित हैं। उनमें से व्यापार, उत्पादन एवं निर्माण की प्रणाली सबसे उत्तम है। शिल्प, वाणिज्य, कला-कौशल, कृषि, गौ पालन, दलाली के द्वारा आसानी से पैसा पैदा किया जा सकता है। नौकरी बिना पूँजी वाले और ढीले स्वभाव वालों का सहारा है। ऐसे ही किसी उत्तम कार्य से जीविका उपार्जित करनी चाहिए। न्यायोचित आधार पर समुचित जीविका प्राप्त कर लेना कुछ कठिन नहीं है।

थोड़े प्रयत्न में अधिक धन कमाने के के लिए लोग चोरी, डकैती, लूट, रिश्वत, ठगी, उठाईगिरी, बेईमानी, धोखा, मिलावट, विश्वासघात, जुआ, सट्टा, लाटरी, अन्याय, शोषण, अपहरण आदि नीच निन्दित मार्गों का आश्रय ग्रहण करते हैं। इस प्रकार का धन कमाने में लोक निन्दा, राजदण्ड, शत्रुता, घृणा, प्रतिहिंसा का भय तो प्रत्यक्ष ही है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार झटके का पैसा बुरी तरह अपव्यय होता है। जो पैसा पसीना बहाकर, किफायतशारी से नहीं जमा किया गया है, उसके खर्च होने में कुछ दर्द नहीं होता। चोर, जुआरी, ठग इस हाथ विपुल धन कमाते हैं और उस हाथ होली में जलाकर स्वाहा कर देते हैं। इस प्रकार के अपव्यय से अनेक पाप दुर्गुण एवं बुरे उदाहरण उत्पन्न होते हैं।

इन सब बातों पर ध्यान रखते हुए परिश्रम पूर्वक ईमानदारी के साथ उचित मार्गों से धन कमाना चाहिए और किफायतशारी से कुछ बचाने का प्रयत्न करना चाहिए। सही मार्ग से धनी बनना प्रशंसनीय है। धन को जोड़-जोड़ कर विशाल राशि जमा करने में नहीं, वरन् उसका ठीक समय पर आवश्यक एवं उचित उपयोग कर लेने में बुद्धिमानी है। धन को विवेकपूर्वक कमाना चाहिए और विचारपूर्वक खर्च करना चाहिए। तभी धन की शक्ति का वास्तविक लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

(४) व्यवस्था- बहुत बड़ी शक्ति है। बड़ी-बड़ी सफलतायें प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अच्छा व्यवस्थापक होना चाहिए, जो व्यक्ति कार्य को करने का समुचित प्रबन्ध कर सकता है, वह बहुत बड़ा जानकार है। धनी, विद्वान और स्वस्थ पुरुष अनेक स्थानों पर असफल रहते देखे गये हैं पर चतुर प्रबन्धक स्वल्प साधनों से बड़े-बड़े कार्यों के लिए सरंजाम जुटा डालते हैं और अपनी हिम्मत, चतुरता, बुद्धिमत्ता एवं व्यवस्था के बल पर उन्हें पूरा कर लेते हैं।

१- दूसरों पर प्रभाव डालना, २- उपयोगी मनुष्यों का सहयोग एकत्रित करना, ३- काम की ठीक योजना बनाना, ४- नियमित कार्य प्रणाली का सञ्चालन करना, ५- रास्ते में आने वाली कठिनाइयों का निराकरण करना। यह पाँच गुण व्यवस्थापकों में देखे जाते हैं। वे मधुर भाषण, शिष्टाचार, सद्व्यवहार, लोभ, भय आदि से दूसरों को प्रभावित करना जानते हैं। अनुपयोगी अयोग्य लोगों की उपेक्षा करके काम के आदमियों को सहयोग में लेते हैं, लाभ और हानि के हर एक पहलू का वर्तमान परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अनुभव और आंकड़ों के आधार पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने के पश्चात् वे अपने काम की योजना बनाते हैं। समय की पाबन्दी, नियमितता, ठीक समय पर ठीक कार्य करना, स्वच्छता, निरालस्यता एवं जागरूकता उनके स्वभाव का एक अंग बन जाती है। दोषों को वे बारीकी से ढूंढ़ लेते हैं और उन्हें दूर हटाने के लिए सदा प्रयत्नशील रहते हैं। बदलती हुई परिस्थितियों के कारण जो खतरे आते हैं उन्हें रोकने एवं शमन करने पर उनका पूरा ध्यान रखते हैं। सफल व्यवस्थापक में इस प्रकार के गुण होते हैं, उनकी सूझ-बूझ व्यावहारिक होती है।

निरालस्यता, जागरुकता, स्वच्छता, नियमितता, पाबंदी, मर्यादा का ध्यान रखने से मनुष्य के विचार और कार्य व्यवस्थित होने लगते हैं और वह धीरे-धीरे अपने क्षेत्र में एक कुशल व्यवस्थापक बन जाता है। ऐसे आदमी का दुनियाँ लोहा मानती है, सफलता उसका पानी भरती है ।

(५) संगठन- शास्त्रकारों ने "संघशक्ति कलौयुगे" सूत्र में वर्तमान समय में संघ शक्ति, संगठन, एकता को प्रधान शक्ति माना है । जिस घर में, कुटुम्ब में, जाति में, देश में एकता है वह शत्रुओं के आक्रमण से बचा रहता है एवं दिन-दिन समुन्नत होता है । फूट के कारण जो बर्बादी होती है वह जग-जाहिर है । अच्छे मित्रों का, सच्चे मित्रों का समूह एक दूसरे की सहायता करता हुआ आश्चर्यजनक उन्नति कर जाता है । तनबल, धनबल, भुजबल की भाँति जन-बल भी महत्वपूर्ण है । जिसके साथ दस आदमी हैं, वह शक्तिशाली है । जन शक्ति-द्वारा बड़े कठिन कार्यों को आसान बना लिया जाता है ।

घर में और बाहर हर जगह मित्रता बढ़ानी चाहिए । समानता के आधार पर परस्पर सहायता करने वाला गुण अपनाना चाहिए, उसे बढ़ाना और मजबूत करना चाहिए। संघ-शक्ति से, जनबल से, जीवन विकास में असाधारण सहायता मिलती है । संगठित गौओं का झुण्ड सामूहिक हमला करके बलवान बाघ को मार भगाता है ।

आप सामूहिक प्रयत्नों में अधिक दिलचस्पी लीजिये। अकेले माला जपने की अपेक्षा सन्ध्या, भजन, कीर्तनों में सामूहिक रूप से सम्मिलित होना पसन्द कीजिए । अकेले कसरत करने की अपेक्षा सामूहिक खेलों में भाग लेना और अखाड़ों में जाना ठीक समझिये । सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, बौद्धिक एवं मनोरंजन संस्थाओं में भाग लीजिये । यदि आपके यहाँ वे न हों तो स्थापित कीजिए, अपने जैसे समान विचारों के लोगों की एक मित्र-मंडली बना लीजिए और आपस में खूब प्रेमभाव बढ़ा लीजिए। घर में और बाहर सच्ची मैत्री का, एकता का बढ़ाना एक महत्वपूर्ण वास्तविक लाभ है ।

(६) यश- नीतिकारों का कहना है कि जिसका यश है उसी का जीवन, जीवन है । प्रतिष्ठा का, आदर का, विश्वास का, श्रद्धा का संपादन करना सचमुच एक बहुत बड़ी कमाई है। देह मर जाती है पर यश नहीं मरता । ऐतिहासिक सत्पुरुषों को स्वर्ग सिधारे हजारों वर्ष बीत गये परन्तु उनके पुनीत चरित्रों का गायन कर असंख्यों मनुष्य अब भी प्रकाश प्राप्त करते हैं ।

जो व्यक्ति अपने अच्छे आचरण और अच्छे विचारों के कारण, सेवा, साहस, सच्चाई एवं त्याग के कारण लोगों की श्रद्धा एकत्रित कर लेता है । उसे बिना मांगे अनेक प्रकार से प्रकट और अप्रकट सहायतायें प्राप्त होती रहती हैं । यशस्वी व्यक्ति पर कोई संकट आता है तो उसका निवारण करने के लिए अनेकों व्यक्ति आश्चर्यजनक सहायता करते हैं, इस प्रकार उन्नति के लिए अयाचित सहयोग प्राप्त करते हैं । सुख्याति द्वारा जिनने दूसरों के हृदयों को जीत लिया है, इस संसार में यथार्थ में वे ही विजयी है ।

प्रतिष्ठा आत्मा को तृप्त करने वाली दैवी सम्पत्ति है । बाजार में ईमानदारी एवं सच्चाई के लिए जिसकी ख्याति है, वही व्यापारी स्थाई लाभ कमाता है । यशस्वी पर हमला करके अपने आपको सबकी निगाह में गिरा लेने के लिए कोई बिरले ही दुस्साहस करते हैं । यह यश सद्गुणों से, सत्कार्यों से, सद्विचारों से एवं भीतर-बाहर से विश्वस्त रहने वालों को ही प्राप्त होता है ।

(७) शौर्य- साहसी बाजी मारता है । हिम्मत वालों की खुदा मदद करता है। आपत्ति में विचलित न होना, संकट के समय धैर्य न खोना, विपत्ति के समय विवेक को कायम रखना मनुष्य की बहुत बड़ी विशेषता है । बुराइयों के विरुद्ध लड़ना, संघर्ष करना और उन्हें परास्त करके दम लेना शौर्य है । शान्ति अच्छी है परंतु अशान्ति का अन्त करने वाली अशान्ति भी शान्ति के समान ही अच्छी है । कायरता की जिन्दगी से मर्दानगी की मौत अच्छी । स्वाभिमान, धर्म और मर्यादा की रक्षा के लिए मनुष्य को बहादुर होना चाहिए ।

खतरे में पड़ने का चाव, निर्भीकता, बहादुरी, जोश यह सब आन्तरिक प्रेरक शक्ति के, गरम खून के चिन्ह हैं। जो फूँक-फूँक कर पाँव धरते हैं वे सोचते और मौका ढूंढ़ते रह जाते हैं । पर साहसी पुरुष कूद पड़ते हैं और तैरकर पार हो जाते हैं । दब्बू, डरपोक, कायर, कमजोर, शंकाशील मनुष्य सोचते और डरते रहते हैं, उनसे कोई असाधारण कार्य नहीं हो पाता, यह पृथ्वी वीर भोग्या है। वीर पुरुषों के गले में ही यह जयमाला पहनाई जाती है। उद्योगी सिंह पुरुष ही लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं ।

मनुष्य को साहसी होना चाहिए । विपत्ति आने पर शोक, चिन्ता, भय, घबराहट को हटाकर विवेक पूर्वक उस संकट का समाधान करने के लिए ठीक-ठीक सोच सकने का साहस होना मनुष्यता का लक्षण है। आतताइयों से

मुठभेड़ करने की बहादुरी होना चाहिए। आगे बढ़ने के मार्ग में जो खतरे हैं उनसे उलझने में जिसे रस आता है वह शूरवीर है। जो साहसी, पराक्रमी, कर्मठ और निर्भीक है वह शक्तिवान है क्योंकि साहसरूपी प्रचण्ड शक्ति उसके हृदय में विद्यमान है।

(८) **सत्यता** में अकूत बल भरा हुआ है, साँच को कहीं आँच नहीं। सत्य इतना मजबूत है कि उसे किसी भी हथियार से नष्ट नहीं किया जा सकता। जिसके विचार और कार्य सच्चे हैं, वह इस संसार का सबसे बड़ा बलवान है। उसे कोई नहीं हरा सकता, सत्यता पूर्ण हर एक कार्य के पीछे दैवी शक्ति होती है। असत्य के पैर जरा सी बात में लड़खड़ा जाते हैं और उसका भेद खुल जाता है किन्तु सत्य अडिग चट्टान की तरह सुस्थिर खड़ा रहता है। उस पर चोट करने वालों को स्वयं ही परास्त होना पड़ता है।

सदुद्देश्य, सद्भाव, सद्विचार, सत्कर्म, सत्संकल्प चाहे कितने ही छोटे रूप में सामने आवें, यथार्थ में उनमें बड़ी भारी प्रभावशालिनी महानता छिपी होती है। हजार आडम्बरों से लिपटा हुआ असत्य जो कार्य नहीं करता, वह कार्य सीधी और सरल सत्यता द्वारा पूरा हो जाता है। सत्यनिष्ठ पुरुष प्रभावशाली, तेजस्वी और शक्तिशाली होता है। जो सत्यनिष्ठ हैं, मन, कर्म और वचन से सत्य परायण रहते हैं, उनके बल की किसी भी भौतिक बल से तुलना नहीं की जा सकती।

शक्ति का दैवी श्रोत

बहुत से व्यक्ति, जो अपने को स्वभाव से ही निर्बल और सामर्थ्यहीन समझ लेते हैं, सहज में यह विश्वास कर ही नहीं सकते कि उद्योग करने से हम महान शक्तिशाली हो सकते हैं। वे अपनी वर्तमान दुर्बल अवस्था को देख कर यही विचार करते हैं कि हम तो सदा इसी प्रकार दबे हुए रहने को उत्पन्न हुए हैं। पर यह एक भ्रमजनित धारणा है। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर एक ऐसा शक्ति केन्द्र मौजूद है, जो उसे इच्छानुसार ऊँचे स्थान पर पहुँचा सकता है, शास्त्र में कहा गया है :-

प्रत्येकमस्ति चिच्छक्तिर्जीव शक्ति स्वरूपिणी।

"प्रत्येक जीव में चैतन्य शक्ति (आत्मा की अनन्त और अपार शक्ति) विद्यमान है।"

शक्ति से ही मनुष्य पहले धर्म प्राप्त करता है, पुन: उसी से अर्थ सिद्ध करते हुए पुण्य संचय करके कामनाओं की पूर्ति करने में समर्थ होता है, अन्त में इसी शक्ति से पूर्ण त्याग एवं ज्ञान के द्वारा मोक्ष पा जाता है। अपनी शक्ति के प्रवाह का समुचित प्रयोग करना ही पुरुषार्थ है। इस प्रकार शक्ति सम्पन्नता को स्वार्थ सिद्धि के विरुद्धे दूसरों के हित में लगाते रहना ही उन्नति-पथ पर बढ़ते जाना है।

शक्ति की कहीं किसी से भीख नहीं मांगनी है, यह तो सबको स्वत: प्राप्त है। किन्तु जब तक ज्ञान, विवेक का उदय नहीं होता, तब तक देह द्वारा निरर्थक क्रिया करते हुए, प्राणों की निरर्थक चेष्टा पर ध्यान न देते हुए एवं इन्द्रियों द्वारा व्यर्थ व्यापार फैलाते हुए अथवा मन द्वारा प्रपञ्चमय विचारों को स्थान देते हुए और उनका मनन करते हुए, इसी प्रकार बुद्धि द्वारा असद्भावों को सत्य मानते हुए अपने जीवन में सुलभ शक्ति का दुरुपयोग करता रहता है।

कदाचित हमारा जीवन सद्गुणों और सद्भावों से रहित है, तो हम शक्ति के सदुपयोग से किसी भी प्रकार के अभाव को दूर कर तुच्छ, अकिंचन से महान हो सकते हैं।

देह, प्राण, इन्द्रियाँ मन और बुद्धि के द्वारा दुरुपयोगित शक्ति का सदुपयोग होने के लिए ही पूजा पाठ, कीर्तन, जप, तप और ध्यान आदि अनेकों साधनों का आश्रय लेना पड़ता है।

जिस प्रकार हमारा यह भौतिक शरीर क्षेत्र इसी भूलोक के द्रव्यों से बना हुआ है, उसी प्रकार हमारे प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय क्षेत्र उत्तरोत्तर सूक्ष्मातिसूक्ष्म लोकों के द्वारा निर्मित है। प्रत्येक क्षेत्र में भिन्न-भिन्न प्रकार की शक्ति है और अपने-अपने लोकों की द्रव्य शक्ति को लेकर प्रत्येक क्षेत्र क्रियाशील हो रहे हैं। जिस क्षेत्र में क्रिया की प्रधानता रहती है, वही क्षेत्र विशेष शक्ति सम्पन्न होता है।

स्थूल क्षेत्र में संग्रहीत शक्ति के द्वारा स्थूल कर्म भली प्रकार सिद्ध होते रहते हैं। प्राणमय सूक्ष्म क्षेत्र में प्राण शक्ति के द्वारा विविध विषय वासनाओं तथा कामनाओं की पूर्ति होती रहती है। इसी प्रकार मनोमय क्षेत्र में केन्द्रित शक्ति के द्वारा विविध भाव, इच्छा एवं संकल्प की सिद्धि होती है। इससे भी ऊपर विज्ञानमय क्षेत्र में विकसित शक्ति के योग से अद्भुत प्रतिभायुक्त ज्ञान का प्रकाश होता है। इसी लोक में परमार्थ का पथिक अपनी विखरती हुई बहिर्मुख शक्ति को अन्तर्मुख करते हुए अपने परम लक्ष्य की ओर अग्रसर होने में समर्थ होता है।

जिस प्रकार भौतिक भवन को दूसरे रूप में बदलने के लिए उचित सम्पत्ति की आवश्यकता है, उसी प्रकार इच्छित रूप में अपने भाग्य-भवन को बदलने के लिए भी शक्ति और पुण्य रूपी सम्पत्ति की आवश्यकता है। तप के द्वारा शक्ति और सेवा के द्वारा पुण्य रूपी सम्पत्ति प्राप्त होती है। सांसारिक स्वार्थ को ही सिद्ध करते रहना शक्ति का दुरुपयोग है। शक्ति के दुरुपयोग से दुर्भाग्य और सदुपयोग से सौभाग्य की प्राप्ति होती है। लेकिन परोपकार करते हुए अपना परमार्थ सिद्ध कर लेना शक्ति का सदुपयोग है। संसार में आसक्त रहना शक्ति का दुरुपयोग है और त्याग के द्वारा ज्ञान तथा भक्ति में अनुरक्त होना शक्ति का सदुपयोग है। अहंकार पूर्वक अपनी शक्ति से किसी को गिरा देना शक्ति का दुरुपयोग है और गिरे हुओं को सरल भाव से तत्परता पूर्वक उठा लेना शक्ति का सदुपयोग है।

संयम-साधना के द्वारा शक्ति का विचार करने के लिए, शक्ति के समुचित सदुपयोग की सिद्धि के लिए ही मन्दिरों में, तीर्थस्थानों में, शक्तिपीठों में, वनों-उपवनों में समयानुसार जाने की प्रक्रिया हमारे देश में चली आ रही है। ऐसे पावन स्थानों में अपने अन्त: क्षेत्रों के भीतर की सुप्त शक्ति सहज प्रयास से जाग्रत हो जाती है।

हम सबको ध्यान देकर निरीक्षण करते रहना चाहिए कि शक्ति का किसी भी क्रिया, चेष्टा, भाव एवं विचार के द्वारा दुरुपयोग हो रहा है अथवा सदुपयोग।

इस प्रकार हम अपनी प्राप्त शक्ति की अधिकाधिक वृद्धि कर सकते हैं। शुद्ध सात्विक आहार और विषय संयम से शारीरिक उन्नति होती है, सद्व्यवहार एवं सद्गुण विकास से मानसिक उन्नति होती है और निष्काम प्रेम एवं सत्य स्वरूप के ध्यान से आत्मोन्नति होती है।

हमें सर्वप्रथम संतों के सत्संग की सर्वोपरि आवश्यकता है, जिससे हम विवेक की दृष्टि प्राप्त करें, तदन्तर हम आत्म संयम की साधना धारण करें, क्योंकि बुद्धिमत्ता पूर्वक आत्म-संयम से ही शक्ति सम्पन्न होकर आनन्द और परम-धाम की प्राप्ति की जा सकती है।

प्रत्येक क्षेत्र में शक्ति की प्राप्ति एवं निर्बलता का अभाव ही मानवी उत्थान अथवा शक्ति का सदुपयोग है। जब हम भय की जगह निर्भय होकर प्रत्येक कठिनाई को परास्त करने में समर्थ हो जायें और अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते ही चले जायें तथा जब हमें सदा शक्ति की महती कृपा का अनुभव होने लगे, तब हम शक्ति का सदुपयोग करने वाले व्यक्ति के रूप में अपने आपको पाकर धन्य हो जायेंगे।

शक्ति और आध्यात्मिकता

एकाग्रता में दिव्य शक्ति के भण्डार भरे हुए हैं। सांसारिक जीवन में मन की शक्ति से बड़े-बड़े अद्‌भुत कर्मों को मनुष्य पूरा करता है। इसी मन: शक्ति को जब बाहर से समेट कर अन्तर्मुखी किया जाता है और असाधारण कठिन परिश्रम द्वारा उसको सुव्यवस्थित रूप से आत्म साधना में लगाया जाता है तो और भी अद्‌भुत, आश्चर्यजनक परिणाम उपस्थित होते हैं, जिन्हें ऋद्धि-सिद्धि के नाम से पुकारते हैं। नि:सन्देह आध्यात्मिक साधना के फलस्वरूप कुछ ऐसी विशेष योग्यतायें प्राप्त होती हैं, जो सर्व साधारण में नहीं देखी जाती। यदि इस प्रकार का विशेष लाभ न मिला होता तो मनुष्य प्राणी जो स्वभावत: वैभव और आनन्द को तलाश करता रहता है, इन्द्रिय भोग को त्याग कर योग की कठोर साधनाओं की ओर आकर्षित न होता। रुखी, नीरस, कठोर, अरुचिकर, कष्टसाध्य साधनायें करने को कोई कदापि तैयार न होता यदि उसके फलस्वरूप कोई ऊँचे दर्जे की वस्तु प्राप्त न होती।

मूर्ख, अनपढ़, नशेबाज, हरामी, और अधपगले भिखमंगों के लिये यह कहा जा सकता है कि यह लोग बिना मेहनत पेट भरने के लिए जटा रखाये फिरते हैं। परन्तु सबके लिए ऐसा नहीं कहा जा सकता। विद्या, वैभव, बुद्धि, प्रतिभा और योग्यताओं से सम्पन्न व्यक्ति जब विवेक पूर्वक सांसारिक भोग-विलास से विरत होकर आत्मसाधना में प्रवृत्त होते देखे जाते हैं, तो उसमें कुछ विशेष लाभ ही होना साबित होता है। प्राचीन काल में जितने भी तपस्वी हुए हैं और आज भी जो सच्चे तपस्वी हैं, वे विवेक से प्रेरित होकर इस मार्ग में आते हैं। उनकी व्यापार बुद्धि ने गंभीरता पूर्वक निर्णय किया है कि भोग की अपेक्षा आत्म साधना में अधिक लाभ है। लाभ का लोभ ही उन्हें स्थूल वस्तुओं में रस लेने की अपेक्षा सूक्ष्म संपदाओं का संचय करने की ओर ले जाता है।

जो लोग सच्ची लगन और निष्ठा के साथ आध्यात्मिक साधना में प्रवृत्त हैं, उनका उत्पादन कार्य अच्छी फसल उत्पन्न करता है, उनमें एक खास तौर की शक्ति बढ़ती है जिसे आत्म बल कहते हैं। यह बल सांसारिक अन्य बातों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। प्राचीन काल में राजा विश्वामित्र की समस्त सेना और संपदा, तपस्वी वशिष्ठ के आत्मबल के सामने पराजित हो गयी तो "धिक बलं क्षत्रिय

बलं, ब्रह्म तेजो बलं बलम् ।" कहते हुए विश्वामित्र राज पाट छोड़कर आत्म साधना के मार्ग पर चल पड़े । राजा की अपेक्षा ऋषि को उन्होंने अधिक बलवान पाया । सांसारिक बल की अपेक्षा आत्मबल को उन्होंने महान अनुभव किया । छोटी चीज को छोड़कर लोग बड़ी की ओर बढ़ते हैं । राज त्याग कर विश्वामित्र का योगी होना इसका ज्वलन्त प्रमाण है । गौतम बुद्ध का चरित्र भी इसी की पुष्टि करता है। जो आत्म साधना में लीन हैं वे ऊँचे दर्जे के व्यापारी हैं । छोटा रोजगार छोड़कर के बड़ी कमाई में लगे हुए हैं ।

शक्ति का ह्रास न होने दीजिए

शक्ति संचय करने वाले साधनों के साथ ही हमको इस बात पर भी दृष्टि रखनी चाहिए कि हमारी शक्ति निकम्मे कामों में खर्च न हो । जैसा कहा गया है शक्ति परमात्मा की अमूल्य देन है, जिसका महत्व धन से भी बड़ा है, क्योंकि धन का उपार्जन और रक्षा भी शक्ति के द्वारा ही सम्भव है। पर वर्तमान समय में हमारा जीवन ऐसा बहुमुखी हो गया है और कृत्रिम साधनों तथा अस्वाभाविक रहन-सहन ने ऐसी अव्यवस्था उत्पन्न कर दी है कि हमारी बहुत सी शक्ति निरर्थक कार्यों में नष्ट हो जाती है ।

यदि जीवन यापन ठीक तरह किया जाय तथा जीवन तत्वों को ह्रास से बचाया जाय, तो मनुष्य दीर्घकाल तक जीवन का सुख लूट सकता है । प्रत्येक व्यक्ति को उन खतरों से सावधान रहना चाहिए, जिनसे जीवन शक्ति का ह्रास होता है, सर्वप्रथम मनुष्य की शक्ति का ह्रास करने वाली बात अधिक भोग-विलास है । संसार के समस्त पशु पक्षियों की प्रजनन शक्ति अत्यन्त परिमित है । वे केवल आनन्द, क्षणिक वासना के वशीभूत होकर रमण नहीं करते, विशेष ऋतुओं में ही प्रजनन कार्य होता है । प्रकृति उन्हें विवश करती है, तब उनका गर्भाधान होता है । आज के मानव समाज ने नारी को केवल वासना-तृप्ति का साधन मात्र समझ लिया है । पति-पत्नी के संयोग की मात्रा अनियमित हो रही है । हम सन्तानोत्पत्ति का उद्देश्य, आदर्श तथा प्रकृति का आदेश नहीं मान रहे हैं । फलतः समाज में आयुष्यहीन, अकर्मण्य, निकम्मे बच्चे बढ़ रहे हैं । इन्द्रियों की चपलता, कामुकता बढ़ रही है । अधिक भोग विलास से मनुष्य निर्बल होते जा रहे हैं । कामुक और कामुकता में लगे रहने वाले जीव या व्यक्तियों के बच्चे कभी बलवान, आचारवान, संयमी, धीमान, विचारवान् नहीं हो सकते । वीर्य का प्रत्येक बिन्दु शक्ति का बिन्दु है। एक बिन्दु का भी ह्रास शक्ति को नष्ट करना है। यदि शक्ति, जीवन तथा आरोग्य की रक्षा करना चाहते हैं तो भोग-विलास से दूर रहिए ।

शक्ति का ह्रास अधिक दौड़ धूप से होता है । आधुनिक मनुष्य जल्दी में है । उसे हजारों काम हैं । प्रातः से सायंकाल तक वह व्यस्त रहता है । उसका काम ही जैसे समाप्त होने में नहीं आता । बड़े नगरों में तो दौड़ धूप इतनी बढ़ गयी है कि दम मारने का अवकाश नहीं मिलता । क्लबों, होटलों में गप-शप करता है, आफिस में कार्य करता है, घर के लिए सामान लाता है, बाल-बच्चों को मदरसे भेजता है, अस्पताल से दवाई लाता है । यदि आप व्यापारी हैं तो व्यापार के चक्कर में प्रातः से सायंकाल तक दौड़-धूप करते हैं । आज के सभ्य व्यक्ति को शान्ति से बैठकर मन को एकाग्र करने तक का अवसर नहीं मिलता । संसार के कोने-कोने से अशान्ति और उद्विग्नता की चिल्लाहट सुनाई दे रही है। चित्त की चंचलता इतनी बढ़ती जा रही है कि हम क्षुब्ध एवं संवेगशील बन रहे हैं । इस दौड़-धूप में एक क्षण भी शान्ति नहीं ? यदि हम इसी उद्विग्न एवं उत्तेजित अवस्था में चलते रहें, तो मानव जीवन में कैसे आनन्द, प्रतिष्ठा एवं शान्ति पा सकते हैं । हमारे चारों ओर का वायुमण्डल जब विक्षुब्ध है, तो आत्मा की उच्चतम शक्ति क्यों कर सम्पादन कर सकते हैं । जो व्यक्ति शक्ति संचय करना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि अधिक दौड़-धूप से बचें, केवल अर्थ उत्पादन को ही जीवन का लक्ष्य न समझें, शान्तिदायक विचारों में रमण करें । जिस साधक के हृदय में ब्रह्मनिष्ठा एवं संतोष है, उसकी मुखाकृति दिव्य आलोक से चमकती है। जो ब्रह्म विचार में लगता है, वह अपने आपको निर्बलता, प्रलोभन, पाप से बचाता है ।

शक्ति के ह्रास का तीसरा कारण है अधिक बोलना । जिस प्रकार अधिक चलने से जीवन का क्षय होता है, उसी प्रकार अधिक बोलने, बातें बनाने, अधिक भाषण देने, बड़बड़ाने, गाली गलोज देने, चिड़कर कांव-कांव करने से लोग फेफड़ों को कमजोर बना डालते हैं । पुनः पुनः तेज आवाज निकालने से फेफड़ों का निर्बल हो जाना स्वाभाविक है । यही नहीं, गले में खराश तथा खुश्की से खांसी उत्पन्न होना स्वाभाविक है । खाँसी बनी रहने पर क्षय रोग होकर मनुष्य मृत्यु का ग्रास होता है। प्रायः देखा गया है कि व्याख्याता, अध्यापक, लेक्चरार पतले-दुबले रहते हैं । यह शक्ति के क्षय का प्रत्यक्ष लक्षण है । अधिक बोलने

से शारीरिक शक्ति का ह्रास अवश्यम्भावी है । यह अपनी शक्ति का अपव्यय है । अधिक बोलने की आदत से मनुष्य बकवासी बनता है, लोग उसका विश्वास नहीं करते, ढपोर शंख कहते हैं । वह प्राय: दूसरों की भली, बुरी, खोटी आलोचना करता है, अनावश्यक बातें बनाता है, निन्दा करता है, अपनी गंभीरता खो बैठता है, प्राय: ऐसा करने वालों का आदर कम हो जाता है । शक्ति को अपव्यय से बचाने की इच्छा रखने वालों को चाहिए कि मितभाषी बनें, मृदु-भाषी बनें । कम बोलें, किन्तु जो कुछ बोलें वह मनोहारी और दूसरे तथा अपने हृदय को प्रसन्न करने वाला हो, सार युक्त हो, शब्द योजना सुन्दर हो, प्रेम तथा आनन्द का, आदर और स्नेह का परिचायक हो । शक्ति संचय के लिए मितभाषी बनिये । आध्यात्म चिन्तन, पठन, अध्ययन, मौन, मितभाषी बनने के सुन्दर उपाय हैं ।

शक्ति को नष्ट करने के दुष्परिणाम

शक्ति के नाश के अनेक कारणों में विषय-लोलुपता कदाचित सबसे बड़ा कारण है । प्राय: देखा जाता है कि शक्ति सम्पन्न व्यक्तियों में काम वासना का विकार विशेष रूप से उत्पन्न हो जाता है, जिसके फलस्वरूप वे अपनी शक्ति को नष्ट कर डालते हैं और दूसरों को भी हानि पहुँचाते हैं ।

सौन्दर्य, शक्ति, यौवन और धन, संसार की चार दिव्य विभूतियाँ हैं । ईश्वर ने इन शक्तियों की सृष्टि इस मन्तव्य से की है कि इनकी सहायता एवं विवेकशील प्रयोग के द्वारा मानव धीरे-धीरे उत्थान एवं समृद्धि के शिखर पर पहुँच जाय । वास्तव में इन दैवी विभूतियों के सदुपयोग द्वारा मनुष्य शारीरिक, बौद्धिक एवं मानसिक शक्तियों का चरम विकास कर सकता है। मानव व्यक्तित्व के विकास में ये पृथक-पृथक अपना महत्व रखती है।

भगवान के गुण-स्वरूप की कल्पना में हम सौन्दर्य शक्ति एवं चिर यौवन को महत्ता प्रदान करते हैं । हमारी कल्पना में परमेश्वर सौन्दर्य के पुञ्ज हैं, शक्ति के अगाध सागर हैं, चिर युवा हैं, अक्षय हैं । लक्ष्मी उनकी चेरी है। ये ही गुण मानव-जगत में हमारी सर्वतोमुखी उन्नति में सहायक हैं । जिन-जिन महापुरुषों को इन शक्ति केन्द्रों को ज्ञान हुआ और जैसे-जैसे उन्होंने इनका विवेकपूर्ण उपयोग किया वैसे-वैसे उनकी उन्नति होती गयी, किन्तु जहाँ इनका दुरुपयोग हुआ, वहीं पतन प्रारम्भ हुआ । वह पतन भी इतना भयंकर हुआ कि अन्तिम सीमा तक पहुँच गया और उनका सर्वनाश इतना पूरा हुआ कि बचाव सम्भव न हो सका ।

शक्ति का दुरुपयोग मनुष्य को राक्षस बना सकता है। रावण जाति का ब्राह्मण, बुद्धिमान और तपस्वी राजा था किन्तु शक्ति का मिथ्या दम्भ उस पर सवार हो गया । पण्डित रावण-राक्षस रावण बन गया । उसकी वासना उत्तेजित हो गयी । जितना उसने वासनाओं की पूर्ति करने का प्रयत्न किया, उससे दुगने वेग से वह उद्दीप्त हुई । शक्ति उसके पास थी । वासना की पूर्ति के लिए रावण ने शक्ति का दुरुपयोग किया । अन्त में अपनी समस्त शक्ति के बाबजूद रावण का क्षय हुआ । शक्ति के दुरुपयोग से न्याय का गला घुट जाता है, विवेक दब जाता है, मनुष्य को निज कर्तव्य का ज्ञान नहीं रहता, वह मदहोश हो जाता है और उसे सत्-असत् का अन्तर प्रतीत नहीं होता ।

गायत्री मात्रा स्वयं शक्ति-स्वरुपिणी है और उसकी उपासना से हम सब प्रकार की शक्तियों को प्राप्त कर सकते हैं । पर शर्त यही है कि जो शक्ति प्राप्त की जाय, उसका सदुपयोग ही किया जाय । दुरुपयोग करने से तो उसका परिणाम महा भयानक होता है और उससे हमारा सांसारिक पतन ही नहीं होता वरन् हम आध्यात्मिक दृष्टि से भी अत्यन्त निम्न स्तर पर पहुँच जाते हैं ।

४. धन का सदुपयोग

गायत्री मंत्र का चौथा अक्षर 'वि' हमको धन के सदुपयोग की शिक्षा देता है-

वित्त शक्तातु कर्तव्य उचिताभाव पूर्तय: ।
न तु शक्त्या न या कार्य दर्पोद्धात्य प्रदर्शनम् ॥

अर्थात्- ''धन उचित अभावों की पूर्ति के लिए है, उसके द्वारा अहंकार तथा अनुचित कार्य नहीं किए जाने चाहिए ।''

धन का उपार्जन केवल इसी दृष्टि से होना चाहिए कि उससे अपने तथा दूसरों के उचित अभावों की पूर्ति हो । शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा के विकास के लिए सांसारिक उत्तरदायित्वों की पूर्ति के लिए धन का उपयोग होना चाहिए और इसीलिए उसे कमाना चाहिए ।

धन कमाने का उचित तरीका वह है, जिसमें मनुष्य का पूरा शारीरिक और मानसिक श्रम लगा हो, जिसमें किसी दूसरे के हक का अपहरण न किया गया हो, जिसमें कोई चोरी, छल, प्रपञ्च, अन्याय, दबाव आदि का प्रयोग न किया गया हो । जिससे समाज और राष्ट्र का कोई अहित

न होता हो, ऐसी ही कमाई से उपार्जित पैसा फलता-फूलता है और उससे मनुष्य की सच्ची उन्नति होती है।

जिस प्रकार धन के उपार्जन में औचित्य का ध्यान रखने की आवश्यकता है, वैसे ही उसे खर्च करने में, उपयोग में भी सावधानी बरतनी चाहिए। अपने तथा अपने परिजनों के आवश्यक विकास के लिए धन का उपयोग करना ही कर्तव्य है। शान शौकत दिखलाने अथवा दुर्व्यसनों की पूर्ति के लिए धन का अपव्यय करना मनुष्य की अवनति, अप्रतिष्ठा और दुर्दशा का कारण होता है।

अपनी उचित शारीरिक, मानसिक, आत्मिक और सांसारिक आवश्यकताओं की उपेक्षा करके जो लोग अधिकाधिक धन इकट्ठा करने की तृष्णा में डूबे रहते हैं और सात पुस्त के लिए अमीरी छोड़ जाना चाहते हैं, वे बड़ी भूल करते हैं। मुफ्त की दौलत मिलने से आगामी संतान आलसी, व्यसनी, अपव्ययी तथा अन्य बुराइयों की शिकार बन सकती है। जिसने जिस पैसे को पसीना बहाकर नहीं कमाया है, वह उसका मूल्यांकन नहीं कर सकता। बच्चों के लिए सम्पत्ति जोड़ कर रख जाने के बजाय उनको सुशिक्षित, स्वस्थ और स्वावलम्बी बनाने में खर्च करना अधिक उत्तम है।

धन की तृष्णा से बचिए

धन कोई बुरी चीज नहीं है और खासकर वर्तमान समय में दुनियाँ का स्वरूप ही ऐसा हो गया है कि बिना धन के मनुष्य का जीवन-निर्वाह संभव नहीं, पर धन तभी तक शुभ और हितकारी है जब तक उसे ईमानदारी के साथ कमाया जाय और उसका सदुपयोग किया जाय। इसके विपरीत यदि हम धन कमाने और चारों तरफ से उसे बटोरकर अपनी तिजोरी में बन्द करने को ही अपना लक्ष्य बना लेते हैं, अथवा यह समझकर कि हम अपनी सम्पत्ति का चाहे जैसा उपयोग करें, उसे दुर्व्यसनों की पूर्ति में खर्च करते हैं, तो वह हमारे लिए अभिशाप स्वरूप बन जाता है। ऐसा मनुष्य अपना पतन तो करता ही है, साथ ही दूसरे लोगों को उनके उचित अधिकार से वंचित करके उनकी विपत्ति का कारण भी बनता है। आजकल तो हम यही देख रहे हैं कि जिसमें चतुरता एवं शक्ति की तनिक भी अधिकता है, वह कोशिश करता है कि मैं संसार की अधिक से अधिक सुख-सामग्री अपने कब्जे में कर लूँ। अपनी इस हविस को पूरा करने के लिए वह अपने पड़ोसियों के अधिकारों के ऊपर हमला करता है और उनके हाथ की रोटी, मुख के ग्रास छीनकर खुद मालदार बनता है।

एक आदमी के मालदार बनने का अर्थ है अनेकों का क्रन्दन, अनेकों का शोषण, अनेकों का अपहरण। एक ऊँचा मकान बनाया जाय तो उसके लिए, बहुत-सी मिट्टी जमा करनी पड़ेगी और जहाँ-जहाँ से वह मिट्टी उठाई जायगी, वहाँ-वहाँ गड्ढा पड़ना निश्चित है। इस संसार में जितने प्राणी हैं उसी हिसाब से वस्तुएँ भी परमात्मा उत्पन्न करता है। यदि एक आदमी अपनी आवश्यकता से अधिक वस्तुएँ जमा करता है तो इसका अर्थ-दूसरों की जरूरी चीजों का अपहरण ही हुआ। गत द्वितीय महायुद्ध में सरकारों ने तथा पूँजीपतियों ने अन्न का अत्यधिक स्टाक जमा कर लिया, फलस्वरूप दूसरी जगह अन्न की कमी पड़ गई और बंगाल जैसे प्रदेशों में लाखों आदमी भूखे मर गये। गत शताब्दी में ब्रिटेन की धन सम्पन्नता भारत जैसे पराधीन देशों के दोहन से हुई थी। जिन देशों का शोषण हुआ था वे बेचारे दीनदशा में गरीबी, बेकारी, भुखमरी और बीमारी से तबाह हो रहे थे।

वस्तुएँ संसार में उतनी ही हैं, जिससे सब लोग समान रूप से सुखपूर्वक रह सकें। एक व्यक्ति मालदार बनता है, तो यह हो नहीं सकता कि उसके कारण अनेकों को गरीब न बनना पड़े, यह महान सत्य हमारे पूजनीय पूर्वजों को भलीभाँति विदित था इसलिए उन्होंने मानव धर्म में अपरिग्रह को महत्वपूर्ण स्थान दिया था। वस्तुओं का कम से कम संग्रह करना यह भारतीय सभ्यता का आदर्श सिद्धान्त था। ऋषिगण कम से कम वस्तुएँ जमा करते थे। वे कोपीन लगाकर फूँस के झोपड़ों में रहकर गुजारा करते थे। जनक जैसे राजा अपने हाथों खेती करके अपने पारिवारिक निर्वाह के लायक अन्न कमाते थे। प्रजा का सामूहिक पैसा-राज्य कोष केवल प्रजा के कामों में ही खर्च होता था। व्यापारी लोग अपने आप को जनता के धन का ट्रस्टी समझते थे और जब आवश्यकता पड़ती थी उस धन को बिना हिचकिचाहट के जनता को सौंप देते थे। भामाशाह ने राणाप्रताप को प्रचुर सम्पदा दी थी, जनता की थाती को, जनता की आवश्यकता के लिए बिना हिचकिचाहट सौंप देने के असंख्यों उदाहरण भारतीय इतिहास के पन्ने-पन्ने पर अंकित हैं।

आज का दृष्टिकोण दूसरा है। लोग मालदार बनने की धुन में अन्धे हो रहे हैं। नीति-अनीति का, उचित-अनुचित का, धर्म-अधर्म का प्रश्न उठा कर ताक पर रख दिया गया

है और यह कोशिशें हो रही हैं कि किस प्रकार जल्द से जल्द धनपति बन जायें। धन ! अधिक धन ! जल्दी धन! धन !! धन !!! इस रट को लगाता हुआ, मनुष्य होश-हवास भूल गया है। पागल सियार की तरह धन की खोज में उन्मत्त-सा होकर चारों ओर दौड़ रहा है।

पाप एक छूत की बीमारी है। जो एक से दूसरे को लगती और फैलती है। एक को धनी बनने के लिए यह अन्धाधुन्धी मचाते हुए देखकर और अनेकों की भी वैसी ही इच्छा होती है। अनुचित रीति से धन जमा करने वाले लुटेरों की संख्या बढ़ती है फिर लुटने वाले और लूटने वालों में संघर्ष होता है। उधर लूटने वालों में प्रतिद्वन्दिता का संघर्ष होता है। इस प्रकार तीन मोर्चों पर लड़ाई ठन जाती है। घर-घर में गाँव-गाँव में जाति में, वर्ग में तनातनी हो रही है। जैसे बने वैसे जल्दी से जल्दी धनी बनने, व्यक्तिगत सम्पन्नता को प्रधानता देने का एक ही निश्चित परिणाम है- कलह। जिसे हम अपने चारों ओर ताण्डव नृत्य करता हुआ देख रहे हैं।

इस गतिविधि को जब तक मनुष्य जाति न बदलेगी तब तक उसकी कठिनाइयों का अन्त न होगा। एक गुत्थी सुलझने न पावेगी तब तक नई गुत्थी पैदा हो जायगी। एक संघर्ष शान्त न होने पावेगा तब तक नया संघर्ष आरम्भ हो जावेगा। न लूटने वाला सुख की नींद सो सकेगा और न लुटने वाला चैन से बैठेगा। एक का धनी बनना अनेकों के मन में ईर्ष्या की, डाह की, जलन की आग लगाना है। यह सत्य सूर्य-सा प्रकाशवान है कि एक का धनी होना अनेकों को गरीब रखना है। इस बुराई को रोकने के लिए हमारे पूर्वजों ने अपरिग्रह का स्वेच्छा स्वीकृत शासन स्थापित किया था। आज की दुनियाँ राज-सत्ता द्वारा समाजवादी प्रणाली की स्थापना करने जा रही है।

वस्तुत: जीवनयापन के लिए एक नियत मात्रा में धन की आवश्यकता है। यदि लूट-खसोट बन्द हो जाय तो बहुत थोड़े प्रयत्न से मनुष्य अपनी आवश्यक वस्तुएँ कमा सकता है। शेष समय में विविध प्रकार की उन्नतियों की साधना की जा सकती है। आत्मा मानव शरीर को धारण करने के लिए जिस लोभ से तैयार होती है, प्रयत्न करती है, उस रस को अनुभव करना उसी दशा में सम्भव है, जब धन संचय का बुखार उतर जाय और उस बुखार के साथ-साथ जो अन्य अनेकों उपद्रव उठते हैं, उनका अन्त हो जाय।

परमात्मा समदर्शी है। वह सबको समान सुविधा देता है। हमें चाहिए कि भौतिक पदार्थों का उतना ही संचय करें जितना उचित रीति से कमाया जा सके और वास्तविक आवश्यकताओं के लिए काफी हो। इससे अधिक सामग्री-के संचय की तृष्णा न करें क्योंकि यह तृष्णा ईश्वरीय इच्छा के विपरीत तथा कलह उत्पन्न करने वाली है :

धन विपत्ति का कारण भी हो सकता है?

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान समय में संसार के अधिकांश लोगों ने धन के वास्तविक दर्जे को भूल कर उसे बहुत ऊँचे आसन पर बैठा दिया है। आजकल की अवस्था को देखकर तो हमको यही प्रतीत होता है कि मानव जीवन का सबसे बड़ा शत्रु धन ही है, यह स्वीकार करना होगा। ईसा मसीह ने गलत नहीं लिखा है कि 'धनी का स्वर्ग में प्रवेश पाना असम्भव है।' इसका अर्थ केवल यही है कि धन मनुष्य को इतना अन्धा कर देता है कि वह संसार के सभी कर्तव्यों से गिर जाता है। धन को इसी में महत्व है कि वह लोक-सेवा में व्यय हो। नहीं तो धन के समान अनर्थकारी और कुछ नहीं है। श्रीमद्‌भागवत में कहा है-

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः ।
भेदोः वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम् ।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ॥

-११/२३/१८-१९

"(धन) से ही मनुष्यों में ये पन्द्रह अनर्थ उत्पन्न होते हैं-चोरी, हिंसा, झूठ, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, मद, भेद बुद्धि, बैर, अविश्वास, स्पर्धा, लम्पटता, जूआ और शराब। इसलिए कल्याणकारी पुरुष को अर्थ नामधारी-अनर्थ को दूर से ही त्याग देना चाहिए।"

आज संसार में बहुत ही कम लोग सुखी कहे जा सकते हैं। भूतकाल में हमारा जीवन केवल रोटी कमाने में बीता। अब हमको समाज में अपना स्थान कमाने में बिताना चाहिए। केवल धन और समृद्धि ही जीवन का लक्ष्य नहीं होना चाहिए। लक्ष्य होना चाहिए कभी भी दुखी न रहना। हरेक के जीवन में सबसे महान् प्रेरणा यह होनी चाहिए कि हमारा जीवन प्रकृति के अधिक से अधिक निकट हो और तर्क तथा बुद्धि से दूर न हो। हमको अपने जीवन में काम करने का आदर्श समझ लेना चाहिए। यह आदर्श पेट का धन्धा नहीं, सेवा होना चाहिए। सर्वकल्याण, समाज

सेवा, सामाजिक जीवन तथा शिक्षा ही हमारा कार्यक्षेत्र हो, हमको ऐसे युग की कल्पना करनी चाहिए, जब हमारा जीवन ध्येय केवल जीविका-उपार्जन न रह जाय। जीवन केवल अर्थशास्त्र या प्रतिस्पर्द्धा की वस्तु न रह जाय। व्यापार के नियम बदल जायँ। एक काम के अनेक करने वाले हों और अनेक व्यक्ति एक ही काम को अपना सकें। मालिक और नौकर में काम करने के घण्टों की झिकझिक दूर हो। मनुष्य केवल मनुष्य ही नहीं है, उसकी आत्मा भी है, उसका देवता भी है, उसका इहलोक और परलोक भी है।

यदि हम अपने तथा दूसरों के हृदय के भीतर बैठकर यह सब समझ जाँय, तो हमारा जीवन कितना सुखी हो जायगा, पर आज हम ऐसा नहीं करते हैं। यह क्यों? इसका कारण धन की विपत्ति है। धन की दुनियाँ में निर्धन की व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है। जब तक अपने व्यक्तित्व के विकास का अवसर न मिले, आदमी सुखी नहीं हो सकता। यह सभ्यता व्यक्तित्व के विकास को रोकती है, बिना इसके विकसित हुए सुख नहीं मिल सकता। सुख वह इत्र है, जिसे दूसरों को लगाने से पहले अपने को लगाना आवश्यक होता है। यह इत्र तभी बनता है, जब हम अपने एक कार्य को दूसरे की सहायता के भाव से करें। हमें चाहे अपनी इच्छाओं का दमन ही क्यों न करना पड़े, पर हमें दूसरे के सुख का आदर करना पड़ेगा। सुख का सबसे बड़ा साधन निःस्वार्थ सेवा ही है।

संसार में रुपये के सबसे बड़े उपासक यहूदी समझे जाते हैं, पर यहूदी समाज में भी अब धन के विरुद्ध जेहाद शुरू हो गया है। 'यरुशलम मित्र संघ' की ओर से 'चूज' यानी पसन्द कर लो शीर्षक एक पुस्तक प्रकाशित हुई है, जिसका लक्ष्य है- 'तुम ईश्वर तथा शैतान दोनों की एक साथ उपासना नहीं कर सकते।' इसके लेखक श्री आर्थर ई. जोन्स का कहना है कि 'न जाने किस कुघड़ी में रुपया-पैसा संसार में आया, जिसने आज हमारे ऊपर ऐसा अधिकार कर लिया है कि हम उसके अंग बन गये हैं। यदि मैं यह कहूँ कि संसार की समृद्धि में सबसे बड़ी बाधा धन यानी रुपया है, तो पुराने लोग सकपका उठेंगे। किन्तु आज संसार में जो भी कुछ पीड़ा है, वह इसी नीच देवता के कारण हैं। खाद्य-सामग्री का संकट, रोग-व्याधि-सबका कारण यही है। चूँकि सुख की सभी वस्तुएँ इसी से प्राप्त की जा सकती हैं, इसीलिए संसार में इतना कष्ट है। जितना समय उपभोग की सामग्री के उत्पादन में लगता है, उससे कई गुना अधिक समय उन वस्तुओं के विक्रय के दाँव-पेंच में लगता है। व्यापार की दुनियाँ में ऐसे करोड़ों नर-नारी व्यस्त हैं, जो उत्पत्ति के नाम पर कुछ नहीं करते।'

'विपत्ति यह है कि आदमी एक दूसरे को प्यार नहीं करते। यदि अपनाने की स्वार्थी भावना के स्थान पर प्रतिपादन की भावना हो जाय तो हर एक वस्तु का आर्थिक महत्व समाप्त हो जाय। आज लाखों आदमी हिसाब-किताब बही खाते के काम में परेशान हैं और लाखों आदमी फौज, पल्टन या पुलिस में केवल इसलिए नियुक्त हैं कि बहीखाते वालों की तथा उनके कोष की रक्षा करें। जेल तथा पुलिस की आवश्यकता रुपये की दुनियाँ में होती है। यदि यही लोग स्वयं उत्पादन के काम में लग जायँ तथा अपनी उत्पत्ति का आर्थिक मूल्य न प्राप्त कर शारीरिक सुख ही प्राप्त कर सकें, तो संसार कितना सुखमय हो जायगा। आज संसार में अटूट सम्पत्ति, उच्च अट्टालिकाओं में, बैंक तथा कम्पनियों के भवनों में, सेना, पुलिस, जेल तथा रक्षकों के दल में लगी हुई है। यदि इतनी सम्पत्ति और उसका बढ़ता हुआ मायाजाल संसार का पेट भरने में खर्च होता तो आज की दुनियाँ कैसी होती? अस्पतालों में लाखों नर-नारी रुपये की मार से या अभाव से बीमार पड़े हैं तथा लाखों नर-नारी धन के लिए जेल काट रहे हैं। प्रायः हर परिवार में इसका झगड़ा है। मालिक तथा नौकर में इसका झगड़ा है। यदि धन की मर्यादा न होती, तो यह संसार कितना मर्यादित हो जाता।'

यह सत्य है कि संसार से पैसा एकदम उठ जााय, ऐसी सम्भावना नहीं है, पर पैसे का विकास, उसकी महत्ता तथा उसका राज्य रोका अवश्य जा सकता है। इसके लिए हमको अपना मोह तोड़ना होगा, स्वार्थ के स्थान पर पदार्थ, समृद्धि के झूठे सपने के स्थान पर त्याग तथा भाग्य के स्थान पर भगवान की शरण लेनी होगी। नहीं तो आज की हाय-हाय जो हमारे जीवन का सुख नष्ट कर चुकी है, अब हमारी आत्मा को भी नष्ट करने वाली है। हमें सब कुछ खोकर भी अपनी आत्मा को बचाना है।

धन के प्रति उचित दृष्टिकोण रखिए

बात यह है कि भ्रमवश हम रुपये-पैसे को धन समझ बैठे, स्थावर सम्पत्ति का नामकरण हमने धन के रूप में कर डाला और हमारे जीवन का केन्द्र-बिन्दु, आनन्द का स्रोत इस जड़, स्थावर, जंगम के रूप में सामने आया। हमारा प्रवाह गलत मार्ग पर चल पड़ा।

क्या हमारे अमूल्य श्वांस-प्रश्वास की कुछ क्रियाओं की तुलना या मूल्यांकन त्रैलोक्य की सम्पूर्ण सम्पत्ति से की जा सकती है ? कारूँ का सारा खजाना जीवन रूपी धन की चरण रज से भी अल्प क्यों माना जाय ? सच्चा धन हमारा स्वास्थ्य है, विश्व की सम्पूर्ण उपलब्ध सामग्री का अस्तित्व जीवन धन की योग्य शक्ति पर ही अवलम्बित हैं। मानव अप्राप्य के लिए चिंतित तथा प्राप्य के प्रति उदासीन है । हमारे पास जो है-उसके लिए सुख का श्वांस नहीं लेता, सन्तोष नहीं करता, वरन् क्या नहीं है इसके लिए वह चिन्तित दु:खी व परेशान है । मानव स्वभाव की अनेक दुर्बलताओं में प्राप्य के प्रति असन्तोषी रहना सहज ही स्वभावजन्य पद्धति मानी गई ।

मानव आदिकाल से ही मस्तिष्क का दिवालिया रहा। देखिए न, एक दिन एक हृष्ट-पुष्ट भिक्षुक, जिसका स्वस्थ शरीर सबल अभिव्यक्ति का प्रतीक था, एक गृहस्थ ज्ञानी के द्वार पर आकर अपनी दरिद्रता का, अपनी अपूर्णता का बड़े जोरदार शब्दों में वर्णन सुना रहा था, जिससे पता चलता था, कि वह व्यक्ति महान् निर्धन है और इसके लिए वह विश्व निर्माता ईश्वर को अपराधी करार दे रहा था । अचानक ज्ञानी गृहस्थी ने कहा- भाई हमें अपने छोटे भाई हेतु आँख की पुतली की दरकार है, सौ रुपये लेकर आप हमें देवें । भिक्षुक ने तपाक से नकारात्मक उत्तर दिया कि वह दस हजार रुपये तक भी अपने इस बहुमूल्य शरीर के अवयवों को देने को तैयार नहीं । कुछ क्षण बाद पुन: ज्ञानी गृहस्थ ने कहा- मेरे पुत्र का मोटर दुर्घटना में बाँया पाँव टूट चुका है, अत: दस हजार रुपये आप नगद लेकर आज ही अस्पताल चलकर अपना पैर दे देंगे तो बड़ी कृपा होगी। इस प्रश्न पर वह भिक्षुक अत्यन्त ही क्रोधित मुद्रा में होकर बोला- दस हजार तो दरकिनार रहे, एक लाख क्या दस लाख तक मैं अपने बहुमूल्य अवयवों को नहीं देऊँगा और रुष्ट होकर जाने लगा । गम्भीरता के साथ ज्ञानी ने रोककर कहा- भाई तुम तो बड़े ही धनी हो जब तुम्हारे दो अवयवों का मूल्य ५० लाख रुपये के लगभग होता है तो भला सम्पूर्ण देह का मूल्य तो अरबों रुपये तक होगा । तुम तो अपनी दरिद्रता का ढिंढोरा पीटते हो अरे लाखों को ठोकर मार रहे हो, अत: जीवन धन अमूल्य है ।

हम अपना दृष्टिकोण ठीक बनावें । मिट्टी के ढेलों को, जड़ वस्तु को धन की उपमा देकर उसकी रक्षा के लिए सन्तरी तैनात किए, विशाल तिजोरियों के अन्दर सुरक्षित किया । चोरों से, डाकुओं से किसी भी मूल्य पर हमने उसे बचाया, परन्तु प्रतिदिन नष्ट होने वाला, हमारी प्रत्येक दैनिक, अशोच्य क्रियाओं द्वारा घुल-घुल कर मिटने वाला यह जीवन दीप बिना तेल के बुझ जायगा । 'निर्वाण दीपे किम् तैल्य दानम्' फिर क्या होने वाला है, जबकि दीपक बुझ जाय । हमें आलस्य, अकर्मण्यता आदि स्वास्थ्य को हानि पहुँचाने वाली दैनिक क्रियाओं द्वारा इस जीवन धन की रक्षा करनी होगी । व्यसन, व्यभिचार, संयमहीनता के डाकू कहीं लूट न लें । सतर्कता के साथ जागरूक रहना होगा । रुग्ण शैया पर पड़े रोम के अन्तिम सम्राट को राजवैद्य द्वारा अन्तिम निराशाजनक सूचना पाने पर कि वह केवल कुछ क्षणों के ही मेहमान हैं, आस-पास के मंत्रियों से साम्राज्ञी ने कई बार मिन्नतें की कि वे साम्राज्य के कोष का आधा भाग वैद्य के चरणों में भेंट करने को तैयार हैं अगर उन्हें वे दो घण्टे जीवित और रखें । उत्तर था- ''त्रैलोक्य की सम्पूर्ण लक्ष्मी भी सम्राट को निश्चित क्षण से एक श्वाँस भी अधिक देने में असमर्थ है ।'' क्या हमारी आँखों के ज्ञान की ज्योति बुझ चुकी है ? क्या उपरोक्त कथन से स्पष्ट नहीं होता कि जीवन धन अमूल्य है, बहुमूल्य है तथा अखिल ब्रह्माण्ड की किसी भी वस्तु की तुलना में वह महान है ?

धन का सच्चा स्वरूप

धन इसलिए जमा करना चाहिए कि उसका सदुपयोग किया जा सके और उसे सुख एवं सन्तोष देने वाले कामों में लगाया जा सके, किन्तु यदि जमा करने की लालसा बढ़कर तृष्णा का रूप धारण कर ले और आदमी बिना धर्म-अधर्म का ख्याल किए पैसा लेने या आवश्यकताओं की उपेक्षा करके उसे जमा करने की कंजूसी का आदी हो जाय तो वह धन धूल के बराबर है । हो सकता है कि कोई आदमी धनी बन जाय, पर उसमें मनुष्यता के आवश्यक गुणों का विकास न हो और उसका चरित्र अत्याचारी, बेईमान या लम्पटों जैसा बना रहे । यदि धन की वृद्धि के साथ-साथ सद्वृत्तियाँ भी न बढ़ें तो समझना चाहिए कि यह धन जमा करना बेकार हुआ और उसने धन को साधन न समझकर साध्य मान लिया है। धन का गुण उदारता बढ़ाना है, हृदय को विशाल करना है, कंजूसी या बेईमानी के भाव जिसके साथ सम्बद्ध हों, वह कमाई केवल दु:खदायी ही सिद्ध होगी ।

जिनका हृदय दुर्भावनाओं से कलुषित हो रहा है, वे यदि कंजूसी से धन जोड़ भी लें तो वह उनके लिए कुछ

भी सुख नहीं पहुँचाता, वरन् उलटा कष्टकर ही सिद्ध होता है। ऐसे धनवानों को हम कंगाल ही पुकारेंगे, क्योंकि पैसे से जो शारीरिक और मानसिक सुविधा मिल सकती है, वह उन्हें प्राप्त नहीं होती, उलटी उसकी चौकीदारी की भारी जोखिम सिर पर लादे रहते हैं। जो आदमी अपने आराम में, स्त्री के स्वास्थ्य में, बच्चों को पढ़ाई में दमड़ी खर्चना नहीं चाहते, उन्हें कौन धनवान कह सकता है ? दूसरों के कष्टों को पत्थर की भाँति देखता रहता है किन्तु शुभ कार्य में कुछ दान करने के नाम पर जिसके प्राण निकलते हैं, ऐसा अभागा मक्खीचूस कदापि धनी नहीं कहा जा सकता। ऐसे लोगों के पास बहुत ही सीमित मात्रा में पैसा जमा हो सकता है, क्योंकि वे उसके द्वारा केवल ब्याज कमाने की हिम्मत कर सकते हैं, उनमें घाटे की जोखिम भी रहती है। कंजूस डरता है कि कहीं मेरा पैसा डूब न जाय, इसलिए उसे छाती से छुड़ाकर किसी कारोबार में लगाने की हिम्मत नहीं होती। इन कारणों से कोई भी कंजूस स्वभाव का मनुष्य बहुत बड़ा धनी नहीं हो सकता।

तृष्णा का कहीं अन्त नहीं, हविस छाया के समान हैं, जिसे आज तक कोई भी पकड़ नहीं सका है। मनुष्य जीवन का उद्देश्य केवल पैसा पैदा करना ही नहीं वरन् इससे भी कुछ बढ़कर है। पोम्पाई नगर के खण्डहरों को खोदते हुए एक ऐसा मानव अस्थि-पंजर मिला, जो हाथ में सोने का एक ढेला बड़ी मजबूती से पकड़े हुए था। मालूम होता है कि उसने मृत्यु के समय सोने की रक्षा की सबसे अधिक चिन्ता की होगी। एक जहाज जब डूब रहा था, तो सब लोग नावों में बैठकर भागने लगे, किन्तु एक व्यक्ति उस जहाज के खजाने में से धन समेटने में लगा। साथियों ने कहा- चलो भाग चलो, नहीं तो डूब जाओगे, पर वह मनुष्य अपनी धुन में ही लगा रहा और जहाज के साथ डूब गया। एक कन्जूस आदमी की तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान शंकर ने उसे एक ऐसी थैली दी, जिसमें बार-बार निकालने पर भी एक रुपया बना रहता था। साथ ही शंकर जी ने यह भी कह दिया कि-जब तक इस थैली को नष्ट न कर दो, तब तक खर्च करना आरम्भ न करना। वह गरीब आदमी एक-एक करके रुपया निकालने लगा। साथ ही उसकी तृष्णा बढ़ने लगी। बार-बार निकालता ही रहा, यहाँ तक कि निकालते-निकालते उसकी मृत्यु हो गई। एक बार लक्ष्मी जी ने एक भिखारी से कहा कि तुझे जितना सोना चाहिए ले ले, पर वह जमीन पर न गिरने पावे, नहीं तो मिट्टी हो जायेगा। भिखारी अपनी झोली में अन्धा-धुन्ध सोना भरता गया, यहाँ तक कि झोली फट कर सोना जमीन पर गिर पड़ा और धूल हो गया। मुहम्मद गोरी जब मरने लगा तो उसने अपना सारा खजाना आँखों के सामने फैलवाया, वह उसकी ओर आँखें फाड़-फाड़कर देख रहा था और नेत्रों में से आँसुओं की धार बह रही थी। तृष्णा के सताये हुए कंजूस मनुष्य भिखमंगों से जरा भी कम नहीं है, भले ही उनकी तिजोरियाँ सोने से भरी हुई हों।

सच्ची दौलत का मार्ग आत्मा को दिव्य गुणों से सम्पन्न करना है। सच समझिए हृदय की सद्वृत्तियों को छोड़कर बाहर कहीं भी सुख-शान्ति नहीं है। भ्रमवश भले ही हम बाह्य परिस्थितियों में सुख ढूँढ़ते फिरें। यह ठीक है कि कुछ कमीने और निकम्मे आदमी भी अनायास धनवान हो जाते हैं, पर असल में वे धनपति नहीं हैं। यथार्थ में तो दरिद्रों से अधिक दरिद्रता भोग रहे हैं, उनका धन बेकार है, अस्थिर है और बहुत अंशों में तो वह उनके लिए दुःखदायी भी है। दुर्गुणी धनवान कुछ नहीं, केवल एक भिक्षुक है। मरते समय तक जो धनी बना रहे, कहते हैं कि वह बड़ा भाग्यवान था, लेकिन हमारा मत है कि वह अभागा है, क्योंकि अगले जन्म में अपने पापों का फल तो वह स्वयं भोगेगा, किन्तु धन को न तो भोग सका और न साथ ले जा सका। जिसके हृदय में सत्प्रवृत्तियों का निवास है, वही सबसे बड़ा धनवान है, चाहे बाहर से वह गरीबी का जीवन ही क्यों न व्यतीत करता हो। सद्गुणी का सुखी होना निश्चित है। समृद्धि उसके स्वागत के लिए दरवाजा खोले खड़ी हुई है। यदि आप स्थाई रहने वाली सम्पदा चाहते हैं तो धर्मात्मा बनिए। लालच में आकर अधिक पैसे जोड़ने के लिए दुष्कर्म करना यह तो कंगाली का मार्ग है। खबरदार रहो, कि कहीं लालच के वशीभूत होकर सोना कमाने तो चलो, पर बदले में मिट्टी ही हाथ लगकर न रह जाये।

एडीसन ने एक स्थान पर लिखा है कि देवता लोग जब मनुष्य जाति पर कोई बड़ी कृपा करते हैं तो तूफान और दुर्घटनाएँ उत्पन्न करते हैं, जिससे कि लोगों का छिपा हुआ पौरुष प्रकट हो और उन्हें अपने विकास का अवसर प्राप्त हो। कोई पत्थर तब तक सुन्दर मूर्ति के रूप में परिणत नहीं हो सकता, जब तक कि उसे छैनी हथोड़े की हजारों छोटी-बड़ी चोटें न लगें। एडमण्डवर्क कहते हैं कि- "कठिनाई व्यायामशाला के उस उस्ताद का नाम है जो अपने शिष्यों को पहलवान बनाने के लिए उनसे खुद लड़ता है और उन्हें पटक-पटक कर ऐसा मजबूत बना देता

है कि वे दूसरे पहलवान को गिरा सकें।'' जान बानथन ईश्वर से प्रार्थना किया करते थे कि- 'हे प्रभु ! मुझे अधिक कष्ट दे, ताकि मैं अधिक सुख भोग सकूँ।'

जो वृक्ष, पत्थरों और कठोर भू-भागों से उत्पन्न होते हैं और जीवित रहने के लिए सर्दी, गर्मी, आँधी आदि से निरन्तर युद्ध करते हैं, देखा गया है कि वे वृक्ष अधिक सुदृढ़ और दीर्घजीवी होते हैं। जिन्हें कठिन अवसरों का सामना नहीं करना पड़ता, उनसे जीवन भर कुछ महत्वपूर्ण कार्य नहीं हो सकता। एक तत्वज्ञानी कहा करता था कि महापुरुष दुःखों के पालने में झूलते हैं और विपत्तियों का तकिया लगाते हैं। आपत्तियों की अग्नि हमारी हड्डियों को फौलाद जैसी मजबूत बनाती है। एक बार एक युवक ने एक अध्यापक से पूछा- 'क्या मैं एक दिन प्रसिद्ध चित्रकार बन सकता हूँ ? अध्यापक ने कहा- 'नहीं।' इस पर उस युवक ने आश्चर्य से पूछा- 'क्यों ?' अध्यापक ने उत्तर दिया- 'इसलिए कि तुम्हारी पैतृक सम्पत्ति से एक हजार रुपया मासिक की आमदनी घर बैठे हो जाती है।' पैसे की चकाचौंध में मनुष्य को अपना कर्तव्य-पथ दिखाई नहीं पड़ता और वह रास्ता भूलकर कहीं से कहीं चला जाता है। कीमती औजार लोहे को बार-बार गरम करके बनाये जाते हैं। हथियार तब तेज होते हैं, जब उन्हें पत्थर पर खूब घिसा जाता है। खराद पर चढ़े बिना हीरे में चमक नहीं आती। चुम्बक पत्थर को यदि रगड़ा न जाय तो उसके अन्दर छिपी हुई अग्नि यों ही सुषुप्त अवस्था में पड़ी रहेगी। परमात्मा ने मनुष्य जाति को बहुत-सी अमूल्य वस्तुएँ दी हैं, इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण गरीबी, कठिनाई, आपत्ति और असुविधा है, क्योंकि इन्हीं के द्वारा मनुष्य को अपने सर्वोत्तम गुणों का विकास करने योग्य अवसर मिलता है। कदाचित् परमेश्वर हर एक व्यक्ति के सब काम आसान कर देता तो निश्चय ही आलसी होकर हम लोग कब के मिट गये होते।

यदि आपने बेईमानी करके लाखों रुपये की सम्पत्ति जमा कर ली तो क्या बड़ा काम कर लिया ? दीन-दुखियों का रक्त चूसकर यदि अपना पेट बढ़ा लिया तो यह क्या बड़ी सफलता हुई ? आपके अमीर बनने से यदि दूसरे व्यक्ति गरीब बन रहे हों, आपके व्यापार से दूसरों के जीवन पतित हो रहे हों, अनेकों की सुख-शान्ति नष्ट हो रही हो तो ऐसी अमीरी पर लानत है। स्मरण रखिए-एक दिन आपसे पूछा जायगा कि धन को कैसे पाया और कैसे खर्च किया ? स्मरण रखिये आपको एक दिन न्याय-तुला पर तोला जायगा और उस समय अपनी भूल पर पश्चात्ताप होगा, तब देखोगे कि आप उसके विपरीत निकले, जैसा कि होना चाहिए था।

आप आश्चर्य करेंगे कि क्या बिना पैसा के भी कोई धनवान हो सकता है ? लेकिन सत्य समझिये इस संसार में ऐसे अनेक मनुष्य हैं, जिनकी जेब में एक पैसा नहीं है या जिनकी जेब ही नहीं है, फिर भी वे धनवान हैं और इतने बड़े धनवान कि उनकी समता कोई दूसरा नहीं कर सकता। जिसका शरीर स्वस्थ है, हृदय उदार है और मन पवित्र है यथार्थ में वही धनवान है। स्वस्थ शरीर चाँदी से अधिक कीमती है, उदार हृदय सोने से भी अधिक मूल्यवान है और पवित्र मन की कीमत रत्नों से अधिक है। लार्ड कालिंगउड कहते थे- 'दूसरों को धन के ऊपर मरने दो, मैं तो बिना पैसे का अमीर हूँ, क्योंकि मैं जो कमाता हूँ, नेकी से कमाता हूँ।' सिसरो ने कहा है- 'मेरे पास थोड़े से ईमानदारी के साथ कमाए हुए पैसे हैं परन्तु वे मुझे करोड़पतियों से अधिक आनन्द देते हैं।'

दधीचि, वशिष्ठ, व्यास, वाल्मीकि, तुलसीदास, सूरदास, रामदास, कबीर आदि बिना पैसे के अमीर थे। वे जानते थे कि मनुष्य का सब आवश्यक भोजन मुख द्वारा ही अन्दर नहीं जाता और न आनन्द देने वाली वस्तुएँ पैसे से खरीदी जा सकती हैं। ईश्वर ने जीवन रूपी पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ पर अमूल्य रहस्यों को अंकित कर रखा है, यदि हम चाहें तो उनको पहचान कर जीवन को प्रकाशपूर्ण बना सकते हैं। एक विशाल हृदय और उच्च आत्मा वाला मनुष्य झोंपड़ी में भी रत्नों की जगमगाहट पैदा करेगा। जो सदाचारी है और परोपकार में प्रवृत्त है, वह इस लोक में धनी है और परलोक में भी। भले ही उसके पास द्रव्य का अभाव हो। यदि आप विनयशील, प्रेमी, निस्वार्थ और पवित्र हैं तो विश्वास कीजिए कि आप अनन्त धन के स्वामी हैं।

जिसके पास पैसा नहीं, वह गरीब कहा जायगा, परन्तु जिसके पास केवल पैसा है, वह उससे भी अधिक कंगाल है। क्या आप सद्‌बुद्धि और सद्‌गुणों को धन नहीं मानते? अष्टावक्र आठ जगह से टेढ़े थे और गरीब थे, पर जब जनक की सभा में जाकर अपने गुणों का परिचय दिया तो राजा उनका शिष्य हो गया। द्रोणाचार्य जब धृतराष्ट्र के राज-दरबार में पहुँचे तो उनके शरीर पर कपड़े भी न थे, पर उनके गुणों ने उन्हें राजकुमारों के गुरु का सम्मानपूर्ण पद दिलाया। महात्मा ड्योजनीज के पास जाकर दिग्विजयी

सिकन्दर ने निवेदन किया- महात्मन् ! आपके लिए क्या वस्तु उपस्थित करूँ ? उन्होंने उत्तर दिया- 'मेरी धूप मत रोक और एक तरफ खड़ा हो जा । वह चीज मुझसे मत छीन, जो तू मुझे नहीं दे सकता ।' इस पर सिकन्दर ने कहा- 'यदि मैं सिकन्दर न होता तो ड्योजनीज ही होना पसन्द करता ।'

गुरु गोविन्द सिंह, वीर हकीकतराय, छत्रपति शिवाजी, राणा प्रताप आदि ने धन के लिए अपना जीवन उत्सर्ग नहीं किया था । माननीय गोखले से एक बार एक सम्पन्न व्यक्ति ने पूछा- 'आप इतने राजनीतिज्ञ होते हुए भी गरीबी का जीवन क्यों व्यतीत करते हैं ?' उन्होंने उत्तर दिया- 'मेरे लिए यही बहुत है। पैसा जोड़ने के लिए जीवन जैसी महत्वपूर्ण वस्तु का अधिक भाग नष्ट करने में मुझे कुछ भी बुद्धिमत्ता प्रतीत नहीं होती ।'

तत्वज्ञों का कहना है कि-वे ऐश्वर्य की इच्छा करने वालो ! अपने तुच्छ स्वार्थों को सड़े और फटे-पुराने कुर्ते की तरह उतार कर फेंक दो, प्रेम और पवित्रता के नवीन परिधान ग्रहण कर लो । रोना, झींकना, घबराना और निराश होना छोड़ो, विपुल सम्पदा आपके अन्दर भरी हुई है। धनवान बनना चाहते हो तो उसकी कुञ्जी बाहर नहीं, भीतर तलाश करो । धन और कुछ नहीं, सद्‌गुणों का छोटा-सा प्रदर्शन मात्र है । लालच, क्रोध, घृणा, द्वेष, छल और इन्द्रिय लिप्सा को छोड़ दो । प्रेम, पवित्रता, सज्जनता, नम्रता, दयालुता, धैर्य और प्रसन्नता से अपने मन को भर लो । बस, फिर दरिद्रता तुम्हारे द्वार से पलायन कर जायगी। निर्बलता और दीनता के दर्शन भी न होंगे । भीतर से एक ऐसी अगम्य और सर्व विजयी शक्ति का आविर्भाव होगा, जिसका विशाल वैभव दूर-दूर तक प्रकाशित हो जायगा ।

ईमानदारी की कमाई ही स्थिर रहती है

जो मनुष्य धन के विषय में अध्यात्मवेत्ताओं के दृष्टिकोण को समझ लेता है, वह उसे कभी सर्वोपरि स्थान नहीं दे सकता । इसका अर्थ यह नहीं कि वह संसार को त्याग दे अथवा निर्धनता और दरिद्रता का जीवनयापन करने लगे । हमारे कथन का आशय इतना ही है कि धन के लिए नीति और न्याय के नियमों की अवहेलना कदापि मत करो और जहाँ धर्म और अधर्म, सत्य और असत्य का प्रश्न उठे वहाँ हमेशा धर्म और सत्य का पक्ष ग्रहण करो, चाहे उससे धन का लाभ होता हो और चाहे हानि । धन कमाया जाय और उसका उचित उपभोग भी किया जाय, पर पूरी ईमानदारी के साथ ।

धन नदी के समान है। नदी सदा समुद्र की ओर अर्थात् नीचे की ओर बहती है । इसी तरह धन को भी जहाँ आवश्यकता हो वहीं जाना चाहिए । परन्तु जैसे नदी की गति बदल सकती है, वैसे ही धन की गति में भी परिवर्तन हो सकता है । कितनी ही नदियाँ इधर-उधर बहने लगती हैं और उनके आस-पास बहुत सा पानी जमा हो जाने से जहरीली हवा पैदा होती है । इन्हीं नदियों में बाँध, बाँधकर जिधर आवश्यकता हो उधर उनका पानी ले जाने से वही पानी जमीन को उपजाऊ और आस-पास की वायु को उत्तम बनाता है। इसी तरह धन का मनमाना व्यवहार होने से बुराई बढ़ती है, गरीबी बढ़ती है। सारांश यह है कि वह धन विष तुल्य हो जाता है, पर यदि उसी धन की गति निश्चित कर दी जाय, उसका नियमपूर्वक व्यवहार किया जाय, तो बाँधी हुई नदी की तरह वह सुखप्रद बन जाता है ।

अर्थशास्त्री धन की गति के नियंत्रण के नियम को एकदम भूल जाते हैं । उनका शास्त्र केवल धन प्राप्त करने का शास्त्र है, परन्तु धन तो अनेक प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है। एक जमाना ऐसा था जब यूरोप में धनिकों को विष देकर लोग उनके धन से स्वयं धनी बन जाते थे । आजकल गरीब लोगों के लिए जो खाद्य पदार्थ तैयार किए जाते हैं, उनमें व्यापारी लोग मिलावट कर देते हैं । जैसे दूध में सुहागा, आटे में आलू, कहवे में 'चीकरी' मक्खन में चरबी इत्यादि । यह भी विष देकर धनवान होने के समान ही है। क्या इसे हम धनवान होने की कला या विज्ञान कह सकते हैं ?

परन्तु यह समझ लेना चाहिए कि अर्थशास्त्री निरी लूट से ही धनी होने की बात कहते हैं । उनकी ओर से कहना ठीक होगा कि उनका शास्त्र कानून-संगत और न्याय युक्त उपायों से धनवान होने का है, पर इस जमाने में यह भी होता है कि अनेक बातें जायज होते हुए भी न्याय बुद्धि से विपरीत होती हैं । इसलिए न्यायपूर्वक धन अर्जन करना ही सच्चा रास्ता कहा जा सकता है और यदि न्याय से ही पैसा कमाने की बात ठीक हो तो न्याय-अन्याय का विवेक उत्पन्न करना मनुष्य का पहला काम होना चाहिए । केवल लेन-देन के व्यावसायिक नियम से काम लेना या व्यापार करना काफी नहीं है । यह तो मछलियाँ, भेड़िये और चूहे भी करते हैं । बड़ी मछली छोटी मछली को भी खा जाती

है, चूहा छोटे जीव-जन्तुओं को खा जाता है और भेड़िया आदमी को खा डालता है। उनकी यही नियम है, उन्हें दूसरा कोई ज्ञान नहीं है, परन्तु मनुष्य ने ईश्वर को समझ दी है, न्याय-बुद्धि दी है। उसके द्वारा दूसरों को भक्षण कर उन्हें ठगकर उन्हें भिखारी बनाकर उसे धनवान न बनना चाहिए।

धन साधन-मात्र है और उससे सुख तथा दुःख दोनों ही हो सकते हैं। यदि वह अच्छे मनुष्य के हाथ में पड़ता है तो उसकी बदौलत खेती होती है और अन्न पैदा होता है, किसान निर्दोष मजदूरी करके सन्तोष पाते हैं और राष्ट्र सुखी होता है। खराब मनुष्य के हाथ में धन पड़ने से उससे (मान लीजिए कि) गोले-बारूद बनते हैं और लोगों का सर्वनाश होता है। गोला-बारूद बनाने वाला राष्ट्र और जिस पर इनका प्रयोग होता है, वे दोनों ही हानि उठाते और दुःख पाते हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि सच्चा आदमी ही धन है। जिस राष्ट्र में नीति है वह धन सम्पन्न है। यह जमाना भोग-विलास का नहीं है। हर एक आदमी को जितनी मेहनत-मजदूरी हो सके, उतनी करनी चाहिए।

सोना-चाँदी एकत्र हो जाने से कुछ राज्य मिल नहीं जाता। यह स्मरण रखना चाहिए कि पश्चिम में सुधार हुए अभी सौ ही वर्ष हुए हैं। बल्कि सच पूछिये तो कहा जाना चाहिए कि इतने ही दिनों में पश्चिम की जनता वर्णशंकर-सी होती दिखाई देने लगी है।

व्यापारी का काम भी जनता के लिए जरूरी है, पर हमने मान लिया है कि उसका उद्देश्य केवल अपना घर भरना है। कानून भी इसी दृष्टि से बनाये जाते हैं कि व्यापारी झपाटे के साथ धन बटोर सके। चाल भी ऐसी ही पड़ गई है कि ग्राहक कम से कम दाम दे और व्यापारी जहाँ तक हो सके अधिक माँगे और ले। लोगों ने खुद ही व्यापार में ऐसी आदत डाली और अब उसे उसकी बेईमानी के कारण नीची निगाह से देखते हैं। इस प्रथा को बदलने की आवश्यकता है। यह कोई नियम नहीं हो गया है कि व्यापारी को अपना स्वार्थ ही साधना-धन ही बटोरना चाहिए। इस तरह के व्यापार को हम व्यापार न कहकर चोरी कहेंगे। जिस तरह सिपाही राज्य के सुख के लिए जान देता है उसी तरह व्यापारी को जनता के सुख के लिए धन गँवा देना चाहिए, प्राण भी दे देना चाहिए। सिपाही का काम जनता की रक्षा करना है, धर्मोपदेशक का, उसको शिक्षा देना है। चिकित्सक का उसे स्वस्थ रखना है और व्यापारी का उसके लिए आवश्यक माल जुटाना है। इन सबका कर्तव्य समय पर अपने प्राण भी दे देना है।

धन का अपव्यय बन्द कीजिए

ईमानदारी और सत्य व्यवहार के उपदेश सुनते हुए भी बहु-संख्यक व्यक्ति इनका पालन नहीं कर सकते, इसका मुख्य कारण है हमारी अपव्यय की आदत। जिन लोगों को दूसरों की देखा-देखी अपनी सामर्थ्य सेअधिक शान-शौकत दिखलाने, तरह-तरह के बेकार खर्च करने की आदत पड़ जाती है, वे इच्छा करने पर भी ईमानदारी पर स्थिर नहीं रह सकते। ऐसे लोगों की आर्थिक अवस्था किन कारणों से नहीं सुधर पाती उसका एक चित्र यहाँ दिया जाता है।

आप १००) रुपये मासिक कमाते हैं, पास-पड़ोस वाले आपको आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न समझते हैं, आपके हाथ में रुपये आते-जाते हैं, किन्तु आपको यह देखकर अत्यन्त दुःख होता है कि आपका वेतन महीने की बीस तारीख को ही समाप्त हो जाता है। अन्तिम दस दिन खींचतान, कर्ज, तंगी और कठिनाई से कटते हैं। आप बाजार से उधार लाते हैं, जीवन रक्षा के पदार्थ भी आप नहीं खरीद पाते। आपके नौकर, बच्चे, पत्नी आपसे पैसे माँगते हैं, बाजार वाले तगादे भेजते हैं, आप किसी प्रकार अपना मुँह छिपाये टालमटोल करते रहते हैं और बड़ी उत्सुकता से महीने की पहली तारीख की प्रतीक्षा करते हैं। वर्ष के बारहों महीने यह क्रम चलता है। कुछ बचत नहीं होती, वृद्धावस्था में दूसरों के आश्रित रहते हैं, बच्चों के विवाह तक नहीं कर पाते, पुत्रों को उच्च शिक्षा या अपनी महत्वाकांक्षाएँ पूर्ण नहीं कर पाते, लेकिन क्यों ?

कभी आपने सोचा है कि आपका वेतन क्यों २० तारीख को समाप्त हो जाता है ? आप असंतुष्ट झुँझलाये से क्यों रहते हैं ?

अच्छा अपने घर के समीप वाली जो पान-सिगरेट की दुकान है, उसका बिल लीजिए। महीने में कितने रुपये आप पान-सिगरेट में व्यय करते हैं ? प्रतिदिन कम से कम ५-६ सिगरेट और दो-चार पान आप प्रयोग में लेते हैं। बढ़िया सिगरेट या बीड़ी-माचिस आपकी जेब में पड़ी रहती है। यदि चार-पाँच आने रोज भी आपने इसमें व्यय किये तो महीने के आठ-दस रुपये सिगरेट में फुँक गये। सिगरेट वाले का यह तो न्यूनतम व्यय है। बहुत से १५ से २० रुपये प्रतिमास तक खर्च कर डालते हैं।

चाट-पकौड़ी, चाय वाला, काफी हाउस, रेस्तरां, चुसकी, शरबत, सोड़ा, आइसक्रीम, लाइट रिफ्रेशमेंट वालों से पूछिए कि वे आपकी कमाई का कितना हिस्सा ले लेते हैं ? यदि अकेले गये तो -५० पैसे या -७५ पैसे का अन्यथा एक रुपया-सवा रुपया बिल मित्रों के साथ जाने पर बन जाता है । एक प्याली चाय (या प्रत्यक्ष विष) खरीद कर आप अपने पसीने की कमाई व्यर्थ गँवाते हैं । चुस्की, शरबत, सोड़ा क्षण भर की चटोरी आदतों की तृप्ति करती है। इच्छा फिर भी अतृप्त रहती है। मिठाई से न ताकत आती है, न कोई स्थाई लाभ होता है, उलटे पेट में भारी विकार उत्पन्न होते हैं ।

सिनेमा हाउस का टिकिट बेचने वाला और गेट कीपर आपको पहिचानता है। आपको देखकर वह मुस्करा उठता है । हँसकर दो बातें करता है। फिल्म अभिनेत्रियों की तारीफ के पुल बाँध देता है। आप यह फिल्म देखते हैं, साथ ही दूसरी का नमूना देखकर दूसरी को देखने का बीज मन में ले आते हैं । एक के पश्चात् दूसरी, फिर तीसरी फिल्म को देखने की धुन सवार रहती है और रुपया व्यय कर, आप सिनेमा से लाते हैं, वासनाओं का ताण्डव, कुत्सित कल्पना के वासनामय चित्र, गन्दे गीत, रोमाण्टिक भावनाएँ, शरारत से भरी आदतें। साथ ही अपनी नेत्र ज्योति भी बरबाद करते हैं । गुप्त रूप से वासना पूर्ति के नाना उपाय सोचते, दिमागी ऐय्याशी करते और रोग ग्रस्त होकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं ।

बीमारियों में आप मास में ८-१० रुपये व्यय करते हैं । किसी को बुखार है, तो किसी को खाँसी, जुकाम, सरदर्द या टॉन्सिल । पत्नी प्रदर या मासिक धर्म के रोगों से दुःखी है। आप स्वयं कब्ज या अन्य किसी गुप्त रोग के शिकार हैं, तब तो कहने की बात ही क्या है ? कभी इन्जेक्शन, तो कभी किसी को ताकत की दवाई चलती ही रहती है। कुछ बीमारियाँ ऐसी भी हैं जिन्हें आपने स्वयं पाल-पोस कर बड़ा किया है। आप दाँत साफ नहीं करते, फिर आये दिन नये दाँत लगवाते या उन्हीं का इलाज कराया करते हैं । दन्त डाक्टर आपकी लापरवाही और आलस्य पर पलते हैं । क्या आपने कभी सोचा है कि आपके शहर में दवाइयों की इतनी दुकानें क्यों बढ़ती चली जा रही हैं? हम ही अपना पैसा रोगों के शिकार होकर इन्हें देते हैं और पालते हैं ।

विवाह, झूठा दिखावा, धनी पड़ोसी की प्रतियोगिता, सैर-सपाटा, यात्राएँ, उत्सवों, दान इत्यादि में आप प्रायः इतना व्यय कर डालते हैं कि साड़ी या किसी अन्य कीमती सामान की जिद की, तो आप अपनी जेब देखने के स्थान पर केवल उसे प्रसन्न करने मात्र के लिए तरन्त कुछ भी शौक की चीज खरीद लेते हैं ।

आप दिन में एक रुपया कमाते हैं, पर भोजन, वस्त्र या मकान अच्छे से अच्छा रखना चाहते हैं । फैशन में भी अन्तर नहीं करते, आराम और विलासिता की वस्तुएँ-क्रीम, पाउडर, शेविंग, सिनेमा, रेशमी कपड़ा, सूट-बूट सुगन्धित तेल, सिगरेट भी कम करना नहीं चाहते । फिर बताइये कर्जदार क्यों कर न बनें ?

आपका धोबी महीने में १० रुपये आपसे कमा लेता है। आप दो दिन तक एक धुली हुई कमीज नहीं पहनते। पैण्ट की क्रीज, रंग एक दिन में खराब कर डालते हैं, हर सप्ताह हेयर कटिंग के लिए जाते हैं, प्रतिदिन जूते पर पालिश करते हैं, बिजली के पंखे और रेडियो के बिना आपका काम नहीं चलता । पैसे पास नहीं, फिर भी आप अखबार खरीदते हैं, मित्रों को घर पर बुलाकर कुछ न कुछ चटाया करते हैं । रिक्शा, इक्के, ट्राम, साइकिल की सवारी में आपके काफी रुपये नष्ट होते हैं ।

ज्यों-ज्यों आपकी आवश्यकता बढ़ेगी त्यों-त्यों आपको खर्च की तंगी का अनुभव होगा। आजकल कृत्रिम आवश्यकताएँ वृद्धि पर हैं। ऐश, आराम, दिखावट, मिथ्या गर्व प्रदर्शन, विलासिता, शौक, मेले, तमाशे, फैशन, मादक द्रव्यों पर फिजूल खर्ची खूब की जा रही है। ये सब क्षणिक आनन्द की वस्तुएँ हैं । कृत्रिम आवश्यकताएँ हमें गुलाम बनाती हैं । इन्हीं के कारण हम मँहगाई और तंगी अनुभव करते हैं । चूँकि कृत्रिम आवश्यकताओं में हम अधिकांश आमदनी व्यय कर देते हैं, हमें जीवनरक्षक और आवश्यक पदार्थ खरीदते हुए मँहगाई प्रतीत होती है। साधारण, सरल और स्वस्थ जीवन के लिए निपुणतादायक पदार्थ अपेक्षाकृत अब भी सस्ते हैं। जीवन रक्षा के पदार्थ-अन्न, वस्त्र, मकान इत्यादि साधारण दर्जे के भी हो सकते हैं । मजे में आप निर्वाह कर सकते हैं। अतः जैसे-जैसे जीवन रक्षक पदार्थों का मूल्य बढ़ता जावे, वैसे-वैसे आपको विलासिता और ऐशोआराम की वस्तुएँ त्यागते रहना चाहिए । आप केवल आवश्यक पदार्थों पर दृष्टि रखिए, वे चाहे जिस मूल्य पर मिलें, खरीदिए किन्तु विलासिता और फिजूलखर्ची से बचिए । बनावटी, अस्वाभाविक रूप से दूसरों को भ्रम में डालने के लिए या आकर्षण में फँसाने के लिए जो मायाचार चल रहा है, उसे त्याग दीजिए । भड़कीली पोशाक के दंभ से मुक्ति पाकर आप सज्जन कहलायेंगे ।

आप पूछेंगे कि आवश्यकताओं, आराम की वस्तुओं और विलासिता की चीजों में क्या अन्तर है ? मनुष्य के लिए सबसे मूल्यवान उसका शरीर है। शरीर में उसका सम्पूर्ण कुटुम्ब भी सम्मिलित है । वह अपना और अपने परिवार का शरीर (स्वास्थ्य और अधिकतम सुख) बनाये रखने की फिक्र में है। उपभोग के आवश्यक पदार्थ वे हैं, जो शरीर और स्वास्थ्य के लिए जरूरी है । ये ही मनुष्य के लिए महत्व के हैं ।

जीवन रक्षक पदार्थों के अन्तर्गत तीन चीजें प्रमुख हैं। (१) भोजन (२) वस्त्र (३) मकान। भोजन मिले, शरीर ढकने के लिए वस्त्र हों और सर्दी-गर्मी बरसात से रक्षा के निमित्त मकान हो। यह वस्तुएँ ठीक हैं, तो जीवन रक्षा और निर्वाह चलता रहता है। जीवन की रक्षा के लिए ये वस्तुएँ अनिवार्य हैं ।

यदि इन्हीं पदार्थों की किस्म अच्छी है तो शरीर रक्षा के साथ-साथ निपुणता भी प्राप्त होगी। कार्य शक्ति, स्फूर्ति बल और उत्साह में वृद्धि होगी, शरीर निरोग रहेगा और मनुष्य दीर्घ जीवी रहेगा। ये निपुणतादायक पदार्थ क्या हैं? अच्छा पौष्टिक भोजन, जिसमें अन्न, फल, दूध, तरकारियाँ, घृत इत्यादि प्रचुर मात्रा में हों, टिकाऊ वस्त्र, जो सर्दी से रक्षा कर सकें, हवादार स्वस्थ वातावरण में खड़ा हुआ मकान जो शरीर को धूप, हवा, जल इत्यादि प्रदान कर सके ।

यदि आपकी आमदनी इतनी है कि निपुणतादायक चीज (अच्छा अन्न, घी, दूध, फल, हवादार मकान, स्वच्छ वस्त्र, कुछ मनोरंजन) खरीद सकते हैं, तो आराम की चीजों को अवश्य लीजिए। इनसे आपकी कार्य कुशलता तो बढ़ेगी, पर उस अनुपात में नहीं जिस अनुपात में आप खर्च करते हैं ।

विलासिता में धन व्यय करना नाशकारी है

इनसे खर्च की अपेक्षा निपुणता और कार्य कुशलता कम प्राप्त होती है । कभी-कभी कार्य कुशलता का ह्रास तक हो जाता है। मनुष्य आलसी और विलासी बन जाता है, काम नहीं करना चाहता । रुपया बहुत खर्च होता है, लाभ न्यून मिलता है ।

इस श्रेणी में ये वस्तुएँ हैं- आलीशान कोठियाँ, रेशम या जरी के बढ़िया कीमती भड़कीले वस्त्र, मिष्ठान्न, मेवे, चाट-पकौड़ी, शराब, चाय, तरह-तरह के अचार-मुरब्बे, मांस भक्षण, फैशनेबिल चीजें, मोटर, तम्बाकू, पान, गहने, जन्मोत्सव और विवाह में अनाप-शनाप व्यय, रोज दिन में दो बार बदले जाने वाले कपड़े, साड़ियाँ, अत्यधिक सजावट, नौकर-चाकर, मनोरंजन के कीमती सामान, घोड़ा गाड़ी, बढ़िया फाउन्टेन पेन, सोने की घड़ियाँ, होटल रेस्टरां में खाना, सिनेमा, सिगरेट, पान, वेश्यागमन, नाच-रंग, व्यभिचार, शृंगारिक पुस्तकें, कीमती सिनेमा की पत्र-पत्रिकायें, तसवीरें, अपनी हैसियत से अधिक दान, हवाखोरी, सफर, यात्रायें, बढ़िया रेडियो, भड़कीली पोशाक, क्रीम, पाउडर, इत्र आदि ।

उपरोक्त वस्तुएँ जीवन रक्षा या कार्य कुशलता के लिए आवश्यक नहीं है किन्तु रुपये की अधिकता से आदत पड़ जाने से आदमी अनाप-शनाप व्यय करता है और इनकी भी जरूरत अनुभव करने लगता है। इन्हीं वस्तुओं पर सबसे अधिक टैक्स लगते हैं, कीमत बढ़ती है । ये कृत्रिम आवश्यकताओं से पनपते हैं । इनसे सावधान रहिए ।

हम देखते हैं कि लोग विवाह, शादी, त्यौहार, उत्सव, प्रीतिभोज आदि के अवसर पर दूसरे लोगों के सामने अपनी हैसियत प्रकट करने के लिए अन्धाधुन्ध व्यय करते हैं । भूखों मरने वाले लोग भी कर्ज लेकर अपना प्रदर्शन इस धूमधाम से करते हैं मानो कोई बड़े भारी अमीर हों। इस धूमधाम में उन्हें अपनी नाक उठती हुई और न करने में कटती हुई दिखाई पड़ती है।

भारत में गरीबी है, पर गरीबी से कहीं अधिक मूढ़ता, अन्ध-विश्वास, रूढ़िवादिता, मिथ्या प्रदर्शन, घमण्ड, धर्म का तोड़-मरोड़ दिखावा और अशिक्षा है। हमारे देशवासियों की औसत आय तीन-चार आने प्रतिदिन से अधिक नहीं। इसी में हमें भोजन, वस्त्र, मकान तथा विवाह-शादियों के लिए बचत करनी होती है। पैसे की कमी के कारण हमारे देशवासी मुश्किल से दूध, घी, फल इत्यादि खा सकते हैं। अधिक संख्या में तो वे स्वच्छ मकानों में भी नहीं रह पाते, अच्छे वस्त्र प्राप्त नहीं कर पाते, बच्चों को अच्छी शिक्षा नहीं दिला पाते, बीमारी में उच्च प्रकार की चिकित्सा नहीं करा सकते, यात्रा, अध्ययन, मनोरंजन के साधनों से वंचित रह जाते हैं । फिर भी शोक का विषय है कि वे विवाह के अवसर पर सब कुछ भूल जाते हैं, मृतक भोज कर्ज लेकर करते हैं, मुकदमेबाजी में हजारों रुपया फूँक देते हैं। इस उपक्रम के लिए उन्हें वर्षों पेट काटकर एक-एक कौड़ी जोड़नी पड़ती है, कर्ज लेना पड़ता है, या और कोई अनीति मूलक पेशा करना पड़ता है ।

आर्थिक सफलता की कुञ्जी आत्म-विश्वास

अगर आपने धन के वास्तविक रूप को समझ लिया है और आप उसका दुरुपयोग करने से बच कर रहते हैं, तो कोई कारण नहीं कि उचित प्रयत्न करने पर आप आर्थिक सफलता प्राप्त न करें ।

आप आर्थिक रूप से सफल होना चाहते हैं तो समृद्धि के विचारों को बहुतायत से मनोमन्दिर में प्रविष्ट होने दीजिए । यह मत समझिए कि आपका सरोकार दरिद्रता, क्षुद्रता, नीचता से है। संसार में यदि कोई चीज सबसे निकृष्ट है तो वह विचार दारिद्र्य ही है। जिस मनुष्य के विचारों में दरिद्रता प्रविष्ट हो जाती है, वह रुपया पैसा होते हुए भी सदैव भाग्य का रोना रोया करता है । दरिद्रता के अनिष्टकारी विचार हमें समृद्धशाली होने से रोकते हैं, दरिद्री ही बनाये रखते हैं ।

आप दरिद्री, गरीब या अनाथ हीन अवस्था में रहने के हेतु पृथ्वी पर नहीं जन्मे हैं । आप केवल मुट्ठी भर अनाज या वस्त्र के लिए दास वृत्ति करते रहने को उत्पन्न नहीं हुए हैं ।

गरीब क्यों सदैव दीनावस्था में रहता है। इसका प्रधान कारण यह है कि वह उच्च आकांक्षा, उत्तम कल्पनाओं, स्वास्थ्यदायक स्फूर्तिमय विचारों को नष्ट कर देता है, आलस्य और अविवेक में डूब जाता है, हृदय को संकुचित, क्षुद्र प्रेम-विहीन और निराश बना लेता है। सीमाक्रान्त दरिद्रता आने पर जीवन ठहर भी जाता है, प्रगति अवरुद्ध हो जाती है, मनुष्य ऋण से दबकर निष्प्रभ हो जाता है, उसे अपने गौरव, स्वाभिमान को भी सुरक्षित रखना दुष्कर प्रतीत होता है । दरिद्री विचार वाले असमय में ही वृद्ध होते देखे गये हैं । जो बच्चे दरिद्री घरों में जन्म लेते हैं, उनके गुप्त मन में दरिद्रता की गुप्त मानसिक ग्रन्थियाँ इतनी जटिल हो जाती हैं, कि वे जीवन में कुछ भी उच्चता या श्रेष्ठता प्राप्त नहीं कर सकते । दरिद्रता कमल के समान तरोताजा चेहरों को मुर्झा देती है। सर्वोत्कृष्ट इच्छाओं का नाश हो जाता है। यह दुस्सह मानसिक दरिद्रता मनुष्य को पीस देने वाली है। सैकड़ों मनुष्य इसी क्षुद्रता के गर्त में डूबे हुए हैं ।

आर्थिक सफलता के लिए भी एक मानसिक परिस्थिति, योग्यता एवं प्रयत्नशीलता की आवश्यकता है। लक्ष्मी का आवाहन करने के हेतु भी मानसिक दृष्टि से आपको कुछ पूजा का सामान एकत्रित करना होता है।

दीपावली के लक्ष्मी-पूजन के अवसर पर आप घर झाड़ते, लीपते, पोतते, सजाते हैं । नई-नई तस्वीरें कलात्मक वस्तुओं से घर को चित्रित करते हैं, अपने शरीर पर सुन्दर-सुन्दर वस्त्र और आभूषण धारण करते हैं । इसी भाँति मानसिक पूजा भी किया कीजिए । अर्थात् मन के कोने-कोने से दरिद्रता, गरीबी, परवशता, क्षुद्रता, संकुचितता, ऋण के जाले, विवेक की झाड़ू से साफ कर दीजिए, मानसिक पटल को आशावादिता की सफेदी से पोत लीजिए । मानसिक घर में आनन्द, आशा, उत्साह, प्रसन्नता, हास्य-उत्फुल्लता, खुशमिजाजी, के मनोरम चित्र लगा लीजिए । फिर श्रम और मितव्ययता के नियमों के अनुसार लक्ष्मीदेवी की साधना कीजिए । आर्थिक सफलता आपकी होगी । सब विद्याओं में शिरोमणि वह विद्या है, जो हमें पवित्रता और निकृष्ट विचारों से मन को साफ करना सिखाती है।

परमपिता परमात्मा की कभी यह इच्छा नहीं कि हम आर्थिक दृष्टि से भी दूसरों के गुलाम बने रहें । हमें उन्होंने विवेक दिया है, जिसे धारण कर हम उचित-अनुचित खर्चों का अन्तर समझ सकते हैं, विषय-वासना और नशीली वस्तुओं से मुक्त हो सकते हैं, अपने अनुचित खर्चे, विलासिता और फैशन में कमी कर सकते हैं, घर में होने वाले नाना प्रकार के अपव्यय को रोक सकते हैं । अपनी आय-वृद्धि करना हमारे हाथ की बात है। जितना हम परिश्रम करेंगे योग्यताओं को बढ़ायेंगे, अपनी विद्या में सर्वोत्कृष्टता, मान्यता, निपुणता प्राप्त करेंगे, उसी अनुपात में हमारी आय भी बढ़ती चली जावेगी । सबको अपनी-अपनी योग्यता और निपुणता के अनुसार धन प्राप्त होता है। फिर क्यों न हम अपनी योग्यता बढ़ायें और अपने आपको हर प्रकार से योग्य प्रमाणित करें ।

श्री ओरसिन मार्डन ने अपनी पुस्तक 'शान्ति, शक्ति और समृद्धि' में कई आवश्यक तत्वों की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए लिखा है-

"विश्व के अनेक दरिद्री लोगों के कारण को खोजो तो पता लगेगा कि उनमें आत्म विश्वास नहीं था, उन्हें यह विश्वास नहीं है कि वे दरिद्रता से छुटकारा पा सकते हैं। हम गरीबों को बताना चाहते हैं कि वे ऐसी कठोर स्थिति में भी अपने आप को उन्नत बना सकते हैं । सैकड़ों नहीं प्रत्युत हजारों ऐसी स्थिति में उन्नत-धनवान बने हैं और

इसलिए हम कहते हैं कि इन गरीबों के लिए भी आशा है। वे दुर्धर्ष परिस्थिति को बदल सकते हैं। संसार में आत्म-विश्वास ही ऐसी कुञ्जी है कि जो सफलता का द्वार खोल सकती है।''

संसार में जितनी प्रकार की श्रेष्ठ शक्तियाँ हैं वे भगवान की प्रदान की हुई हैं। धन की शक्ति भी उन्हीं के द्वारा उत्पन्न की गई है और उन्होंने 'लक्ष्मी' के रूप में उसे संसार के कल्याणार्थ प्रेरित किया है। मनुष्य का कर्तव्य है कि इसे भगवान् की पवित्र धरोहर समझकर ही व्यवहार करें। इतना ही नहीं उसे इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि यह शक्ति ऐसे लोगों के पास न जा सके जो इसका दुरुपयोग करके दूसरों का अनिष्ट करने वाले हों।

हम सदा से धन की प्रशंसा और बुराई दोनों तरह की बातें सुनते आये हैं। सन्तजनों ने 'कामिनी और कंचन' को आत्मिक पतन का कारण माना है। दूसरी ओर सांसारिक कवि 'सर्वे गुणः कंचनमाश्रयन्ति' का सिद्धान्त सुनाया करते हैं। ये दोनों ही बातें सत्य हैं। अगर हम धन में आसक्त होकर उसी को 'सार-वस्तु' समझ लें और उसकी प्राप्ति के लिए पाप-पुण्य का ध्यान भी छोड़ दें अथवा उसका दुरुपयोग करें, तो निश्चय ही वह नर्क का मार्ग है। पर यदि उसे केवल सांसारिक आवश्यकताओं की पूर्ति का एक साधन मान कर उचित कामों में उसका उपयोग करें तो वही कल्याणकारी बन सकता है। इसलिए आत्म-कल्याण के इच्छुकों को सदैव धन की वास्तविकता को ध्यान में रखते हुए उसका सदुपयोग ही करना चाहिए।

५. आपत्तियों में धैर्य

गायत्री का पाँचवाँ अक्षर 'तु' आपत्तियों और कठिनाइयों में धैर्य रखने की शिक्षा देता है-

तुषाराणां प्रपातेऽपि प्रयत्नो धर्म आत्मनः।
महिमा च प्रतिष्ठां च प्रोक्तोऽपारः श्रमस्यहि॥

अर्थात्- ''आपत्तिग्रस्त होने पर भी सत्प्रयत्न करना आत्मा का धर्म है। प्रयत्न की महिमा और प्रतिष्ठा अपार कही गई है।''

मनुष्य के जीवन में विपत्तियाँ, कठिनाईयाँ, विपरीत परिस्थितियाँ, हानियाँ और कष्ट की घड़ियाँ आती ही रहती हैं। जैसे काल-चक्र के दो पहलू-काल और दिन हैं, वैसे ही सम्पदा और विपदा सुख और दुःख भी जीवन रथ के दो पहिये हैं। दोनों के लिये ही मनुष्य को निस्पृह वृत्ति से तैयार रहना चाहिए। आपत्ति में छाती पीटना और सम्पत्ति में इतरा कर तिरछा चलना, दोनों ही अनुचित हैं।

आशाओं पर तुषारपात होने की, निराशा, चिन्ता, भय और घबराहट उत्पन्न करने वाली स्थिति पर भी मनुष्य को अपना मस्तिष्क असन्तुलित नहीं होने देना चाहिए। धैर्य को स्थिर रखते हुए सजगता, बुद्धिमत्ता, शान्ति और दूरदर्शिता के साथ कठिनाईयों को मिटाने का प्रयत्न करना चाहिए। जो कठिन समय में भी हँसता ता है, जो नाटक के पात्रों की तरह जीवन के खेल को खलता है उसी की बुद्धि स्थिर मानी जा सकती है।

समयानुसार बुरे दिन तो निकल जाते हैं, पर वे अनेक अनुभवों, गुण और सहन शक्ति का उपहार दे जाते हैं। कठिनाइयाँ मनुष्य को जितना सिखाती हैं उतना दस गुरु मिलकर भी नहीं सिखा सकते। संचित प्रारब्ध भोगों का बोझ भी उन आपत्तियों के साथ उतर जाता है। आपत्तियाँ हमारे विवेक और पुरुषार्थ को चुनौती देने आती हैं, और जो उस परीक्षा में उत्तीर्ण होता है, उसी के गले में कीर्ति प्रतिष्ठा की जयमाला पहनाई जाती है।

इसलिए मनुष्य का कर्तव्य है कि वह भूतकाल से अभिज्ञ, वर्तमान के प्रति सजग और भविष्य के प्रति निर्भय रहे। मनुष्य को अच्छी से अच्छी आशा करनी चाहिए, किन्तु बुरी से बुरी परिस्थितियों के लिए तैयार भी रहना चाहिए। मानसिक संतुलन सम्पत्ति या विपत्ति किसी भी दशा में नहीं बिगड़ने देना चाहिए। वर्तमान की अपेक्षा उत्तम दशा में पहुँचने का पूर्ण प्रयत्न करना तो आत्मा का स्वाभाविक धर्म है, परन्तु कठिनाइयों से घबरा जाना उसे गौरव की दृष्टि से अनुपयुक्त है।

आपत्तियों से डरना व्यर्थ है ?

मनुष्य जीवन में दुःख और कठिनाइयों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। कठिनाइयों के आघातों में ही प्रगति का विधान छिपा हुआ है। यदि सदा केवल सरलता और अनुकूलता ही रहे तो चैतन्यता घटती जायेगी और मनुष्य शनैः शनैः आलसी, और अकर्मण्य बनने लगेगा उसके मनः क्षेत्र में एक प्रकार का अवसाद उत्पन्न हो जायेगा, जिसके कारण उन्नति, अन्वेषण, आविष्कार और महत्वाकांक्षाओं का मार्ग रुद्ध हुए बिना न रहेगा। जब दुख की अनुभूति न हो, तब सुख में कोई आनन्द नहीं मिल सकता। रात न हो सदैव दिन ही रहे तो उस दिन से किसे क्या आनन्द मिलेगा। यदि नमक, मिर्च, कड़ुआ, कसैला

स्वाद न हो और केवल मीठा ही मीठा सदा खाने को मिले तो वह मधुरता एक भार बन जायेगी। इसी प्रकार सुख में आनन्द का आस्वादन होना तभी संभव है जब दु:ख का पुट साथ-साथ में हो। दु:ख को हम बुरा कहते हैं पर वस्तुत: वही प्रगति का वास्तविक केन्द्र है।

संसार में जितने महापुरुष हुए हैं, उनकी महानता, यश एवं प्रतिष्ठा का कारण उनकी कष्ट सहिष्णुता ही है। राजा हरिश्चन्द्र यदि चाण्डाल (डोम) के हाथों न बिके होते कोई उनका नाम भी न जानता होता। दधीच, शिवि, प्रहलाद, मोरध्वज, सीता, दमयन्ती, द्रोपदी, कुन्ती आदि के जीवन में यदि कठिनाई न आती, वे लोग ऐश्वर्य से जीवन बिताते रहते तो उनकी महानता का कोई कारण शेष न रहता। दुर्गम पर्वतों पर उगने वाले वृक्ष ही विशाल आकार के और दीर्घ जीवी होते हैं, जो फुलवारी नित्य सींची जाती है वह कुछ ही दिन में मुरझाकर अपनी जीवन लीला समाप्त कर देती है। जो व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र परिश्रमी और कष्ट सहिष्णु होता है वही विजय और उन्नति का वरण करता है। इतिहास बताता है कि जो जातियाँ सुखोपभोग में डूबीं, वे थोड़े ही समय में हतप्रभ होकर दीनता और दासता के गर्त में गिर पड़ीं।

हमारे पूर्वज कष्ट सहिष्णुता के महान लाभों से भली प्रकार परिचित थे इसीलिए उन्होंने उसके अभ्यास को जीवन व्यवस्था में प्रमुख स्थान दिया था। तितीक्षा और तपश्चर्या के कार्यक्रम के अनुसार वे दु:खों से लड़ने का वैसा ही पूर्वाभ्यास करते थे जैसे युद्ध स्थल में लड़ने से पूर्व फौजी जवान को बहुत दिन तक युद्ध कौशल की शिक्षा प्राप्त करनी होती है। राजा रईसों के बालक भी प्राचीन काल में शिक्षा प्राप्त करने के लिये ऋषियों के गुरुकुलों में जाया करते थे और कठोर श्रम जीवी दिनचर्या को अपना कर विद्याध्यन करते थे। जैसे जलाशय को पार करने का अवसर मिलने पर तैराक को बड़ा उत्साह और आनन्द होता है, वैसे ही कष्ट सहिष्णु जीवन के अभ्यासी को नाना प्रकार की उलझनों और आपत्तियों को पार करने में अपने पौरुष और गौरव के विकास का उत्साह वर्धक अवसर दिखाई पड़ता है, इसके विपरीत जो लोग केवल सुख ही सुख को चाहते हैं वे अति सामान्य, रोज मर्रा के जीवन में आती रहने वाली घटनाओं से भी ऐसी घबराहट, चिन्ता, बेचैनी और पीड़ा अनुभव करते हैं मानो उनके सिर पर कोई भारी वज्र टूट पड़ा हो।

कठिनाइयाँ हर मनुष्य के जीवन में आती हैं, उनका आना अनिवार्य और आवश्यक है। प्रारब्ध कर्मों के भोग के बोझ को उतारने के ही लिए नहीं, वरन् मनुष्य की मनोभूमि और अन्तरात्मा को सुदृढ़, तीक्ष्ण, पवित्र, प्रगतिशील, अनुभवी और विकसित करने के लिए भी कष्टों एवं आपत्तियों की भारी आवश्यकता है। जैसे भगवान मनुष्य को दया करके नाना प्रकार के उपहार दिया करते हैं, वैसे ही वे दु:ख और आपत्तियों का भी आयोजन करते हैं, जिससे मनुष्य का अज्ञान, अहंकार, आलस्य, अपवित्रता और व्यामोह नष्ट हो।

कठिनाइयाँ आने पर हतप्रभ, किंकर्तव्य विमूढ़ या कायर हो जाना और हाथ पैर फुलाकर रोना-झीकना शुरु कर देना, अपने को या दूसरों को कोसना सर्वथा अनुचित है। यह तो भगवान की उस महान् कृपा का तिरस्कार करना हुआ। इस प्रकार तो वह कठिनाई कुछ लाभ न दे सकेगी वरन् उलटे निराशा, कायरता, अवसाद, दीनता आदि का कारण बन जायेगी। कठिनाई देखकर डर जाना, प्रयत्न छोड़ बैठना, चिन्ता और शोक करना किसी सच्चे मनुष्य को शोभा नहीं देता। आपत्ति एक प्रकार से हमारे पुरुषार्थ की ईश्वरीय चुनौती है। जिसे स्वीकार करके ही हम प्रभु के प्रिय बन सकते हैं। अखाड़े के उस्ताद पहलवान नौसिखिये पहलवानों को कुश्ती लड़ना सिखाते हैं तो उन्हें पटक कर मार कर दाब-पेच सिखाते हैं। नौसिखिये लोग पटक खाकर शोक संतप्त नहीं हो जाते, वरन् अपनी भूल को समझ कर फिर उस्ताद से लड़ते हैं और धीरे-धीरे पूरे एवं पक्के पहलवान बन जाते हैं। ईश्वर ऐसा ही उस्ताद है जो आपत्तियों की पटक मार-मार कर हमारी अनेक अपूर्णताऐं दूर करके पूर्णता तक पहुँचाने की महान् कृपा करता है।

कठिनाइयों से डरने या घबराने की कोई बात नहीं, वह तो इस सृष्टि का एक उपयोगी, आवश्यक एवं सार्वभौम विधान है। उससे न तो दु:खी होने की जरूरत है, न घबराने की, न किसी पर दोषारोपण करने की। हाँ, हर आपत्ति के बाद नये साहस और नये उत्साह के बाद उस परिस्थिति से लड़ने की और प्रतिकूलता को हटाकर अनुकूलता उत्पन्न करने के लिए प्रयत्नशीलता की आवश्यकता है। यह प्रयत्न आत्मा का धर्म है, इस धर्म को छोड़ने का अर्थ अपने को अधर्मी बनाना है। प्रयत्न की महिमा अपार है। आपत्ति द्वारा जो दु:ख सहना पड़ता है उसकी अपेक्षा उसे विशेष समय में विशेष रूप से प्रयत्न करने का जो स्वर्णिम

अवसर मिला, उसका महत्व अधिक है। प्रयत्नशीलता ही आत्मोन्नति का प्रधान साधन है, जिसे आपत्तियाँ तीव्र गति से बढ़ाती हैं।

प्रयत्न, परिश्रम एवं कर्त्तव्य पालन से मनुष्य के गौरव एवं वैभव का विकास होता है। जो आनन्दमय जीवन का रसास्वादन करना चाहता है, उसे कठिनाइयों से निर्भय होकर अपने कर्त्तव्य पथ पर दृढ़ता पूर्वक आरूढ़ हो जाना चाहिए और हँसते हुए हर स्थिति का मुकाबला करना चाहिए।

कठिनाइयों द्वारा आध्यात्मिक विकास

मनुष्य का आध्यात्मिक विकास सदा कठिनाइयों से लड़ते रहने से होता है। जो व्यक्ति जितना ही कठिनाइयों से भागता है, वह उतना ही अपने आपको निकम्मा बनाता है और जो उन्हें जितना ही आमन्त्रित करता है वह अपने आपको उतना ही योग्य बनाता है। मनुष्य जीवन की सफलता उसकी इच्छा शक्ति के बल पर निर्भर करती है। जो व्यक्ति जितना ही यह बल रखता है, वह जीवन में उतना ही सफल होता है। इच्छा शक्ति का बल बढ़ाने के लिए सदा कठिनाइयों से लड़ते रहना आवश्यक है। जिस व्यक्ति का कठिनाइयों से लड़ने का अभ्यास रहता है वह नयी कठिनाइयों के सामने आने से भयभीत नहीं होता, वह उनका जमकर सामना करता है। कायरता की मनोवृत्ति ही मनुष्य के लिए अधिक दु:खों का कारण होती है। शूरवीर की मनोवृत्ति ही दु:खों का अन्त करती है। निर्बल मन का व्यक्ति सदा अभद्र कल्पनाएँ अपने मन में लाता है। उसके मन में भली कल्पनाएँ नहीं आतीं। वह अपने आपको चारों ओर से आपत्तियों से घिरा पाता है। अतएव अपने जीवन को सुखी बनाने का सर्वोत्तम उपाय कठिनाइयों से लड़ने के लिए सदा तत्पर रहना ही है।

मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः

मनुष्य की कठिनाइयाँ दो प्रकार की होती हैं- एक बाहरी और दूसरी आन्तरिक अर्थात् भीतरी। साधारण मनुष्य की दृष्टि बाहरी कठिनाइयों की ओर ही जाती है, बिरले ही मनुष्य की दृष्टि भीतरी कठिनाइयों को देखने की क्षमता रखती है। पर वास्तव में मनुष्य की सच्ची कठिनाइयाँ आन्तरिक हैं, बाहरी कठिनाइयाँ आन्तरिक कठिनाइयों का आरोपण मात्र हैं। किसी भी प्रकार की परिस्थिति मनुष्य को लाभ अथवा हानि पहुँचा सकती है। अनुकूल परिस्थिति बुराई का काम कर सकती है और प्रतिकूल भलााई का। जो परिस्थिति मनुष्य को भयभीत करती है, वही वास्तव में उसकी हानि करती है। यदि परिस्थिति कठिन हुई और उससे मनुष्य भयभीत न हुआ तो वह मनुष्य की हानि न कर उसका लाभ ही करती है।

मनुष्य का मन आन्तरिक चिन्तन से बली होता है। जिस व्यक्ति को अपने कर्त्तव्य का पूरा निश्चय है, जो उसको पूरा करने के लिए अपना सर्वस्व खोने के लिए तैयार रहता है उसे कोई भी परिस्थिति भयभीत नहीं करती। मनुष्य के मन में अपार शक्ति है। वह जितनी शक्ति की आवश्यकता अनुभव करता है उतनी शक्ति उसे अपने ही भीतर से मिल जाती है। जो व्यक्ति अपने आपको कर्त्तव्य दृष्टि से भारी संकटों में डालता रहता है, वह अपने भीतर अपार शक्ति की अनुभूति भी करने लगता है। उसे अपने संकटों को पार करने के लिए असाधारण शक्ति भी मिल जाती है। जैसे जैसे उसकी इस प्रकार की आन्तरिक शक्ति की अनुभूति बढ़ती है उसकी कार्य क्षमता भी बढ़ती है।

जब कभी कोई मनुष्य अपने आपको कठिनाइयों में पड़े हुए पाता है तो उसे अपने कर्त्तव्य का ध्यान नहीं रहता। कर्त्तव्य का ध्यान न रखने पर बाहरी कठिनाई घिर जाती है। कठिनाई में पड़े हुए व्यक्ति के कर्त्तव्य सम्बन्धी विचार उलझे हुए रहते हैं। यदि किसी व्यक्ति की आन्तरिक कठिनाइयाँ उलझ जायँ तो उसकी बाहरी कठिनाइयाँ भी सरलता से सुलझ जाँय। बाहरी और भीतरी कठिनाइयाँ एक दूसरे की साक्षेप हैं। मनुष्य को अपने आपका ज्ञान बाहरी कठिनाइयों से लड़ने से होता है और जैसे जैसे उसे अधिकाधिक ज्ञान होता है वह बाहरी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने में भी समर्थ होता है।

प्रत्येक कठिनाई से भय की अनुभूति करने वाले व्यक्ति के मन में मानसिक अन्तर्द्वन्द की स्थिति बनी रहती है, इस अन्तर्द्वन्द के कारण मनुष्य की मानसिक शक्ति का एकीकरण नहीं होता, आपस में बँटवारा होने के कारण, व्यर्थ की लड़ाई हो जाने के कारण मनुष्य का मन निर्बल हो जाता है। ऐसी अवस्था में जब एक बाहरी भारी कठिनाई उसके सामने आ जाती है तो वह अपनी मानसिक शक्ति को बटोर नहीं पाता और उससे भयाक्रांत हो जाता है। जिस प्रकार भीतरी संघर्ष चलने वाला राष्ट्र निर्बल होता है और बाहरी आपत्तियों का आवाहन करता है, उसी प्रकार मानसिक अन्तर्द्वन्द वाले व्यक्ति जम कर ऐसी कठिनाइयों का सामना करें तो उसके आंतरिक मन में भी एकता प्राप्त

हो जाय। निकम्मा मन ही शैतान की क्रिया-शाला होता है। बाहरी कठिनाइयों के हल करने के प्रयत्न में अनेक कठिनाइयाँ अपने आप ही हल हो जाती हैं।

साधारणत: जो काम मनुष्य के हाथ में आ जाय और जिससे न केवल अपना ही लाभ हो वरन् दूसरे का भी लाभ हो उसे छोड़े न। वह काम पूरा करने के लिए जो त्याग और कष्ट सहने की आवश्यकता हो उसे सहे। यदि वह अपना अभ्यास इस तरह बना ले तो वह देखेगा कि उसे धीरे-धीरे ठोस आध्यात्मिक ज्ञान होता जाता है। जो ज्ञान मनुष्य को दार्शनिक चिन्तन मात्र से नहीं आता, वही ज्ञान उसे अपनी परिस्थितियों से लड़ने से आ जाता है। जो मानसिक एकता और शान्ति, राग-भोग से नहीं आती वही कठिनाइयों से लड़ने से अपने आप आ जाती है। कठिनाइयों से लड़ते रहना न केवल अपने जीवन को सफल बनाने के लिए आवश्यक हैं, वरन् दूसरे लोगों को भी प्रोत्साहित करने के लिए आवश्यक है। जिस प्रकार मनुष्य के दुर्गुण संक्रामक होते हैं। उसी प्रकार सदगुण भी संक्रामक होते हैं एक कायर को रण से भागते देखकर दूसरे सैनिक भी रण से भाग पड़ते हैं और एक को रण में जमकर लड़ते देखकर दूसरे व्यक्ति भी हिम्मत नहीं छोड़ते। उनके भीतर भी वीरता का भाव जाग्रत हो जाता है। सभी मनुष्यों में सभी प्रकार के दुर्गुणों और सद्गुणों की भावना रहती है। मनुष्य जिस प्रकार के वातावरण में रहता है उसमें उसी प्रकार के मानसिक गुणों का आविर्भाव होता है। वीर पुरुष का चरित्र ही दूसरे लोगों के लिए शिक्षा है। यही उसकी समाज की सबसे बड़ी देन होती है।

कठिनाइयाँ हमारी उन्नति में सहायक होती हैं

साधारण लोग कठिनाईयों को दुर्भाग्य की बात समझते हैं। जिन लोगों ने किसी सम्पन्न परिवार में जन्म लिया हैं वे तो हर तरह की असुविधा से ही बहुत घबड़ाते हैं और यही अभिलाषा किया करते हैं कि उनकी समस्त आवश्यकताएँ बिना किसी दिक्कत के यथा समय पूर्ण होती रहें। अन्य लोग भी ऐसे व्यक्तियों को बड़ा 'भाग्यवान' समझते हैं। पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है। जिन लोगों ने कभी जीवन की कठोरता के दर्शन नहीं किये हैं, वे अनेक दृष्टियों से कच्चे रह जाते हैं। इसलिए भगवान ने जहाँ सुखों की सृष्टि की है, वहाँ दुखों और कठिनाइयों की रचना कर दी है। इनका अनुभव हुए बिना मनुष्य अपूर्ण रह जाता है और उसका उचित विकास नहीं हो पाता।

भगवान को दया सिन्धु एवं करुणा-सागर कहा जाता है। उनके वात्सल्य, दान और उपकार का कोई अन्त नहीं। साधारण प्राणियों का जब अपनी कृतियों पर, अपनी संतति पर इतना ममत्व होता है तो उस महान प्रभु का अपने बालकों पर कितना स्नेह होगा इसकी कल्पना करना भी सहज नहीं है। चित्रकार अपने चित्र को, माली अपने बाग को, मूर्तिकार अपनी मूर्ति को, किसान अपने खेत को, गड़रिया अपनी भेड़ों को अच्छी उन्नत, विकसित स्थिति में रखना चाहता है। उन्हें अच्छी स्थिति में देखकर प्रसन्न होता है, फिर परमात्मा अपनी सर्वश्रेष्ठ रचना मनुष्य को अच्छी स्थिति में न रखना चाहे, ऐसा नहीं हो सकता है। निश्चय ही प्रभु का यह प्रयत्न निरन्तर रहता है कि हम सब सुखी एवं सुविकसित हों। उनकी दया और करुणा निरन्तर हमारे ऊपर बरसती रहती है।

इतना होते हुए भी देखा जाता है कि कितने ही मनुष्य अत्यन्त दुखी हैं। उन्हें अनेक प्रकार के कष्ट और अभाव सता रहे हैं, भय, पीड़ा वियोग, त्रास अन्याय एवं अभाव से संत्रस्त हुए कितने ही व्यक्ति बुरी तरह दुख के सागर में गोते लगा रहे हैं, किसी-किसी पर ऐसी आकस्मिक विपत्ति आती हैं कि देखने वालों का हृदय दहल जाता है। ऐसे अवसरों पर ईश्वर की दयालुता पर सन्देह होने लगता है, कई बार तो कष्टों को दैवी कोप, ईश्वरीय निष्ठुरता मान लिया जाता है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। प्रभु एक क्षण भर के लिए भी करुणा रहित नहीं हो सकते, उनकी अनन्त दया का निर्झर एक क्षण के लिये भी नहीं रुक सकता। जिसे हम विपत्ति समझते हैं, वह भी एक प्रकार से उनकी दया ही होती है।

माता का अपने बच्चे पर असाधारण प्यार होता है, वह उसे सुखी बनाने के लिए अपनी समझ के अनुसार कोई बात उठा नहीं रखती तो भी उसके कई कार्य ऐसे हैं जो बालक को अप्रिय होते हैं। बालक किसी स्वादिष्ट भोजन को बहुत अधिक मात्रा में खाना चाहता है, माता जानती कि अधिक खाने से यह बीमार पड़ जायेगा इसलिए वह बच्चे के रूठने, रोने, हाथ-पाँव पीटने की कुछ भी परवाह न करके उतना ही खाने को देती है जितना कि आवश्यक है। आग, हथियार, बारूद आदि से बच्चे को दूर रखा जाता है, वह उनसे खेलना चाहे तो बलपूर्वक रोक दिया जाता है। घर के पशुओं के साथ खेलना चाहे तो भी उसे रोका जाता है ताकि उनके पैरों की चपेट में आकर कहीं कुचल

न जाय। बच्चा खिड़की छज्जों में से बाहर की ओर झुक कर देखना चाहे तो उसकी स्वाधीनता को तुरन्त रोक दिया जाता है। कोई अनुचित काम करने पर चपत भी लगाई जाती है और डराने के लिए कोठरी में भी बन्द कर दिया जाता है। कई बार उसे मुर्गा बनाने, धूप में खड़ा होने, कान पकड़ कर उठने-बैठने, भूखा रहने, आदि की सजा दी जाती है। बीमार होने पर माता उसे कड़ुई दवा जबरदस्ती पिलाती है और उसके कष्ट की परवाह न करके आवश्यक होने पर इन्जेक्शन या आपरेशन कराने के लिए भी छाती कड़ी करके तैयार हो जाती है।

बालक समझता है कि माता बड़ी निष्ठुर है, मुझे अमुक वस्तु नहीं देती, अमुक प्रकार सताती हैऔर अमुक कष्ट पड़ने पर भी मेरी सहायता नहीं करती। अल्पज्ञान के कारण वह माता के प्रति अपने मन में दुर्भावना ला सकता है, उस पर निष्ठरता का दोषारोपण कर सकता है, पर निश्चय ही उसकी मान्यता भ्रमपूर्ण होती है, यदि वह माता के हृदय को देख सकता तो उसे प्रतीत होता कि उसमें कितनी अपार करुणा भरी हुई है और कितना ऊँचा वात्सल्य उसमें हिलोरें ले रहा है, यदि इतना वात्सल्य उसमें न होता तो उसके हित-साधन के लिए बच्चे के कष्ट के समय होने वाले अपने दु:ख को, वह किस प्रकार छाती कड़ी करके सहन करती ?

माता के दुलार के तरीके दो प्रकार के होते हैं। एक- वे जिनसे बालक प्रसन्न होता है। जब उसे मिठाई, खिलोने बढ़िया कपड़े आदि दिये जाते हैं और सैर कराने या तमाशे दिखाने ले जाया जाता है तो बालक प्रसन्न होता है और सोचता है कि मेरी माता कितनी अच्छी है। परन्तु जब माता काजल लगाने के लिए हाथ पकड़ कर जबरदस्ती करती है, जबरदस्ती नहलाती है, स्कूल जाने के लिए कमची फटकार कर विवश करती है तो बच्चा झल्लाता है और माता को कोसता है। बाल बुद्धि नहीं जानती कि कभी मधुर कभी कठोर व्यवहार उनके साथ क्यों किया जाता है। वह माता के वात्सल्य पर शंका करता है, जो 'वस्तु स्थिति' को जानते हैं उन्हें पता है कि माता बच्चे के प्रति केवल उपकार का व्यवहार ही कर सकती है। मधुर और कठोर दोनों ही व्यवहारों में वात्सल्य भरा होता है। प्रभु की कृपा भी दो प्रकार की होती है- एक सुख दूसरी दु:ख। दोनों में ही हमारा हित और उसका स्नेह भरा होता है। अल्पज्ञता उस वस्तुस्थिति से हमें परिचित नहीं होने देती, पर भगवान की जब कृपा होती है, सद्बुद्धि का हृदय में प्रकाश हो जाता है, तो 'कष्ट' नाम की दु:ख देने वाली कोई वस्तु शेष नहीं रहती। कठोर एवं प्रतिकूल परिस्थितियाँ एक भिन्न प्रकार का दैवी उपहार प्रतीत होती हैं और उनसे डरने या दु:खी होने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता।

सुख से मनुष्य को कई लाभ हैं, चित्त प्रसन्न रहता है, इन्द्रियाँ तृप्त होती हैं, मन में उत्साह रहता है, उन्नति करने में सुविधा रहती है, मित्र बढ़ जाते हैं, साहस बढ़ता है, मान बड़ाई के अवसर मिलते हैं। इस प्रकार के और भी लाभ सुख में होते हैं, परन्तु दु:ख के लाभ भी कम लाभ नहीं हैं। दु:ख से मनुष्य की सोई हुई प्रतिभा का विकास होता है, कष्ट से त्राण पाने के लिए मन के सब कल पुर्जे बड़ी तत्परता से क्रियाशील होते हैं, शरीर भी आलस्य छोड़कर कर्मनिष्ठ हो जाता है। घोड़े को अच्छी चाल सिखाने वाले सईस उसके पुट्ठे पर हंटर फटकारते हैं, जिससे घोड़ा उत्तेजित होकर जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाता है, इसी समय लगाम के इशारे से उसे बढ़िया चाल चलाने का अभ्यास कराया जाता है। दु:ख, एक प्रकार का हंटर है जो हमारी शिथिल हुई शारीरिक और मानसिक शक्तियों को भड़का कर क्रियाशील बनाता है और साथ ही धर्माचरण की शिक्षा देकर सही चाल चलना सिखाता है।

फोड़ा चिर जाने से उसमें भरा हुआ मवाद निकल जाता है, दस्त हो जाने से पेट में संचित मल की शुद्धि हो जाती है, लंघन हो जाने से कोष्ठ गत दोषों का शमन हो जाता है। दु:ख आ जाने से संचित पाप का भार उतर जाता है और अन्त:चेतना बड़ी शुद्ध, निर्मल एवं हलकी हो जाती है। सोने को अग्नि में डालने से उसके साथ चिपटे हुए दूषित पदार्थ छूट जाते हैं और कान्तिमान तपा हुआ शुद्ध स्वर्ण प्रत्यक्ष हो जाता है। मनुष्य की कितनी ही बुराइयाँ बुरी आदतें, दूषित भावनाऐं और विचारधाराऐं तब तक नहीं छूटती जब तक कि वह किसी विपत्ति में नहीं पड़ता। कुदरत का एक बड़ा तमाचा खाकर उस बेहोश को होश आता है और तब वह उस बेढंगी चाल को सँभालता है। जो ज्ञान बड़े-बड़े उपदेशों, प्रवचनों और कथाओं के सुनने से नहीं होता, वह विपत्ति की एक दुलत्ती खा लेने पर बड़ी सरलता से हृदयंगम हो जाता है, इस प्रकार कई बार काल दंड का एक आघात, हजार ज्ञानी गुरुओं से अधिक शिक्षा दे जाता है।

सुख में जहाँ अनेक अच्छाइयाँ हैं, वहाँ यह एक भारी बुराई भी है कि मनुष्य उन सुख साधनों को सत्कर्म बढ़ाने में लगाने का सदुपयोग भूल कर, ऐश उड़ाने, अहंकार में

डूब जाने, अधिक धन जोड़ने के कुचक्र में पड़ जाता है। उसके समय का अधिकांश भाग तुच्छ स्वार्थों में लगा रहता है । परमार्थ की ओर से वह प्राय: पीठ ही फेर लेता है। इस बुरी स्थिति से अपने पुत्र को बचाने के लिए ईश्वर उसकी धन-सम्पत्ति छीन लेते हैं, पढ़ने से जी चुराकर हर घड़ी खिलौने से उलझे रहने वाले बालक के खिलौने जैसे माता छीन कर छिपा देती है, वैसे ही धन, सन्तान, स्त्री, वैभव आदि के खेल-खिलौनों को छीनकर ईश्वर हमें यह प्रेरणा करता है कि इस झंझट की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण कार्य आपके लिए करने को पड़ा हुआ है। 'खेल छोड़ो और स्कूल जाओ' की शिक्षा के लिए कई बार हानि का, आपत्ति का, दैवी आयोजन होता है।

कितनी ही उच्च आत्माऐं तप रूपी कष्ट को अपना परम मित्र और विश्व कल्याण का मूल समझ कर उसे स्वेच्छा पूर्वक छाती से लगाती हैं । इससे उनकी कीर्ति अजर अमर हो जाती है और उस तप की अग्नि युग युगान्तरों तक जनता को प्रकाश देती रहती है । हरिश्चन्द्र, प्रहलाद, शिवि, मोरध्वज, दधीचि, प्रताप, शिवाजी, हकीकतराय, बन्दाबैरागी, भागीरथ, गौतम बुद्ध, ईसामसीह आदि ने जो कष्ट सहे, वे उनने स्वेच्छा पूर्वक शिरोधार्य किये थे । यदि वे अपनी गतिविधि में थोड़ा सा परिवर्तन कर लेते तो उन आपत्तियों से सहज ही बच सकते थे । पर उनने देखा कि यह कष्ट या हानि उस महान् लाभ की तुलना में तुच्छ है इसलिए उन्होंने प्रसन्नता पूर्वक अपने कष्टसाध्य मार्ग पर दृढ़ रहना उचित समझा । दूसरे लोग यह कल्पना कर सकते हैं कि उन्होंने बड़े कष्ट सहे, पर यदि उनकी मनोभूमि का कोई ठीक प्रकार परिचय प्राप्त कर सकेगा तो उसे प्रतीत होगा कि उनकी अन्तरात्मा प्रसन्नता पूर्वक उस सबको सहन कर रही थी ।

भगवान जिसे अपनी शरण में लेते हैं, जिसे बन्धन मुक्त करना चाहते हैं, उसके अनिवार्य कर्म भोगों को जल्दी-जल्दी भुगतवा कर उसे ऐसा ऋण मुक्त बना देते हैं कि भविष्य के लिए कोई बन्धन शेष न रहे और भक्त को फिर जन्म-मरण के चक्र में न पड़ना पड़े । एक ओर तो विपत्ति द्वारा प्रारब्ध भोग समाप्त हो जाते हैं दूसरी ओर उसकी आन्तरिक पवित्रता बहुत बढ़ती है, इन उभय पक्षीय लाभों से वह बड़ी गति से परम लक्ष की ओर प्रगति करता है । तपस्वी लोग ऐसे कष्टों को प्रयत्न पूर्वक अपने ऊपर आमन्त्रित करते हैं, ताकि उनकी लक्ष्य यात्रा शीघ्र पूरी हो जाय ।

साधारणत: अनेक सद्‌गुणों के विकास के लिए भगवान समय-समय पर अनेक कटु अनुभव कराते हैं । बच्चे की मृत्यु होने पर उसके शोक में 'वात्सल्य' का हृदयगत परम सात्विक तत्व उमड़ता है, जिसके कारण वह अन्य बालकों पर अधिक प्रेम करना सीखता है । देखा गया है कि जिसकी पहली पत्नी गुजर जाती है वह अपनी दूसरी पत्नी से अधिक सद्व्यवहार करता है क्योंकि एक पत्नी खो देने के कारण जो भावोद्रेक मन में हुआ, उसके कारण दाम्पत्य कर्त्तव्यों का उसे ज्ञान हुआ है और अपने प्रथम दाम्पत्य की अपेक्षा दूसरे दाम्पत्ति जीवन में अधिक सफल सिद्ध होता है, एक वियोग उसे उस खोई हुई वस्तु के महत्व को भली प्रकार हृदयंगम करा देता है। धन खोकर मनुष्य यह सीखता है कि धन का सदुपयोग किस प्रकार किया जाना चाहिए । रोगी हो जाने पर आदमी यह जान पाता है कि संयत आहार-विहार का क्या महत्व है । गाली देने पर जिसका मुँह पिट जाता है, उसी को यह अकल आती है कि गाली देना बुरी बात है। जिसको अत्याचार सहना पड़ा है, वही जानता है कि दूसरों पर यदि जुल्म करूँ तो उन्हें कितना कष्ट होगा । जब हम आपत्ति ग्रस्त होकर दूसरों की सहायता के लिए हाथ पसारते हैं और दीन नेत्रों से दूसरों की ओर ताकते हैं तब यह पता चलता है कि दूसरे दुखियों की सहायता करना हमारे लिए भी कितना आवश्यक कर्त्तव्य है ।

धैर्य एक महत्वपूर्ण गुण है

संसार में रहते हुये विपरीत परिस्थितियाँ अथवा आपत्तियाँ आना स्वाभाविक है। विशेष कर यदि हम कोई महत्वपूर्ण कार्य करना चाहते हैं तो उसमें अनेक कठिनाइयों का मुकाबला करना अनिवार्य ही समझना चाहिए । अनेक व्यक्ति ऐसे ही भय के कारण किसी-किसी भारी काम में हाथ नहीं डालते । संभव है वे इस जीवन में आपत्तियों से बच जायें, पर वे किसी प्रकार की प्रगति, उन्नति भी नहीं कर सकते और एक तत्वदर्शी की निगाह में उनका जीवन कीड़े-मकोड़ों से बढ़कर नहीं होता ।

जिसने शरीर धारण किया है, उसे सुख-दु:ख दोनों का ही अनुभव करना होगा । शरीरधारियों को केवल सुख ही सुख या केवल दु:ख कभी प्राप्त नहीं हो सकता । जब यही बात है, शरीर धारण करने पर सुख-दु:ख दोनों का ही भोग करना है, तो फिर दु:ख में अधिक उद्विग्न क्यों हो जायँ? दु:ख-सुख तो शरीर के साथ लगे ही रहते हैं ।

हम धैर्य धारण करके उनकी प्रगति को ही क्यों न देखते रहें। जिन्होंने इस रहस्य को समझ कर धैर्य का आश्रय ग्रहण किया है, संसार में वे ही सुखी समझे जाते हैं। दुःखों की भयंकरता को देखकर विचलित होना प्राणियों का स्वभाव है। किन्तु जो ऐसे समय में भी विचलित नहीं होता, वही 'पुरुषसिंह' धैर्यवान कहलाता है। आखिर हम अधीर होते क्यों हैं ? इसका कारण हमारे हृदय की कमजोरी के सिवा और कुछ भी नहीं हैं। इस बात को सब कोई जानते हैं कि आज तक संसार में ब्रह्मा से लेकर कृमिकीट पर्यन्त सम्पूर्ण रूप से सुखी कोई भी नहीं हुआ। सभी को कुछ न कुछ दुःख अवश्य हुए हैं। फिर भी मनुष्य दुःखों के आगमन से व्याकुल होता है, तो यह उसकी कमजोरी ही कही जा सकती है। महापुरुषों के सिर पर सींग नहीं होते, वे भी हमारी तरह दो हाथ और दो पैर वाले साढ़े तीन हाथ के मनुष्याकार जीव होते हैं। किन्तु उनमें यही विशेषता होती है कि दुःखों के आने पर वे हमारी तरह अधीर नहीं हो जाते। उन्हें प्रारब्ध कर्मों का भोग समझ कर वे प्रसन्नता पूर्वक सहन करते हैं। पाण्डव दुःखों से कातर होकर अपने भाइयों के दास बन गये होते, मोरध्वज पुत्र शोक से दुःखी होकर मर गये होते, हरिश्चन्द्र राज्यलाभ से अपने वचनों से फिर गये होते, श्री रामचन्द्र वन के दुःखों की भयंकरता से घबराकर अयोध्यापुरी में रह गये होते, शिवि राजा ने यदि शरीर के कटने के दुःखों से कातर होकर कबूतर को बाज के लिये दे दिया होता, तो इनका नाम अब तक कौन जानता ? ये भी असंख्य नरपतियों की भाँति काल के गाल में चले गये होते, किन्तु इनका नाम अभी तक ज्यों का त्यों ही जीवित है, इसका एकमात्र कारण उनका धैर्य ही है।

अपने प्रियजन के वियोग से हम अधीर हो जाते हैं। क्योंकि वह हमें छोड़कर चल दिया। इस विषय में अधीर होने से क्या काम चलेगा ? क्या वह हमारी अधीरता को देखकर लौट आवेगा ? यदि नहीं, तो हमारा अधीर होना व्यर्थ है। फिर हमारे अधीर होने का कोई समुचित कारण भी तो नहीं। क्योंकि जिसने जन्म धारण किया है, उसे मरना तो एक दिन है ही। जो जन्मा है, वह मरेगा भी। सम्पूर्ण सृष्टि के पितामह ब्रह्मा हैं, चराचर सृष्टि उन्हीं से उत्पन्न हुई है। अपनी आयु समाप्त होने पर वे भी नहीं रहते। क्योंकि वे भी भगवान् विष्णु के नाभि कमल से उत्पन्न हुए हैं। अतः महाप्रलय में वे भी विष्णु के शरीर में अन्तर्हित हो जाते हैं। यह अटल सिद्धान्त है, कि जायमान वस्तु का नाश होगा ही, तो फिर तुम उस अपने प्रिय का शोक क्यों करते हो? उसे तो मरना ही था, आज नहीं तो कल और कल नहीं तो परसों। सदा कोई जीवित रहा भी है जो वह रहता ? जहाँ से आया था चला गया ? एक दिन तुम्हें भी जाना है। जो दिन शेष हैं, उन्हें धैर्य के साथ उस गुणागार के गुणों के चिन्तन में बिताओ। शरीर व्याधियों का घर है। जाति, आयु, भोग को साथ लेकर ही तो यह शरीर उत्पन्न हुआ है। पूर्व जन्म के जो भोग हैं, वे तो भोगने पड़ेंगे।

दान, पुण्य, जप, तप और औषधि उपचार करो अवश्य, किन्तु उनसे आराम न होने पर अधीर मत हो जाओ। क्योंकि भोग की समाप्ति में ही, दान, पुण्य और औषधि कारण बन जाते हैं। बिना कारण के कार्य नहीं होता तुम्हें क्या पता कि तुम्हारी व्याधि के नाश में क्या कारण बनेगा ? इसलिये आर्य पुरुषों ने शास्त्र में जो उपाय बताये हैं, उन्हें ही करो। साथ ही धैर्य भी धारण किये रहो। धैर्य से तुम व्याधियों के चक्कर से सुखपूर्वक छूट सकोगे।

जीवन की आवश्यक वस्तुऐं जब नहीं प्राप्त होती हैं तो हम अधीर हो जाते हैं। हा ! घर में कल को खाने के लिए मुट्ठी भर अन्न नहीं है, स्त्री की साड़ी बिल्कुल चिथड़ा बन गई है, बच्चा भयंकर बीमारी में पड़ा हुआ है, उसकी दवा-दारू का कुछ भी प्रबन्ध नहीं। क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? इन्हीं विचारों में विकल हुए हम रात-रात भर रोया करते हैं और हमारी आँखें सूज जाती हैं ऐसा करने से न तो अन्न ही आ जाता है और न स्त्री की साड़ी ही नई हो जाती है। बच्चे की भी दशा नहीं बदलती। सोचना चाहिए, हमारे ही ऊपर ऐसी विपत्तियाँ हैं सो नहीं। विपत्तियों का शिकार किसे नहीं बनना पड़ा ? त्रिलोकेश इन्द्र ब्रह्म-हत्या के भय से वर्षों घोर अन्धकार में पड़े रहे। चक्रवर्ती महाराज हरिश्चन्द्र डोम के घर जाकर नौकरी करते रहे। उनकी स्त्री अपने मृत बच्चे को जलाने के लिये कफन तक नहीं प्राप्त कर सकी। जगत् के आदि कारण मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी को चौदह वर्षों तक घोर जंगलों में रहना पड़ा। वे अपने पिता चक्रवर्ती महाराज दशरथ को पावभर आटे के पिण्ड भी न दे सके। जंगल के इंगुदी फलों के पिण्डों से ही उन्होंने चक्रवर्ती राजा की तृप्ति की।

शरीरधारी कोई भी ऐसा नहीं है, जिसने विपत्तियों के कड़वे फलों का स्वाद न चखा हो। सभी उन अवश्य प्राप्त होने वाले कर्मों के स्वाद से परिचित है। फिर हम अधीर क्यों हों ? हमारे अधीर होने से हमारे आश्रित भी दुःखी होंगे, इसलिये हम धैर्य धारण करके क्यों नहीं उन्हें

समझावें ? जो होना है, होगा। बस, विवेकी और अविवेकी में यही अन्तर है। जरा, मृत्यु और व्याधियाँ दोनों को ही होती हैं किन्तु विवेकी उन्हें अवश्यम्भावी समझ कर धैर्य के साथ सहन करता है और अज्ञानी विकल होकर विपत्तियों को और बढ़ा लेता है । महात्मा कबीर ने इस विषय पर क्या ही उपयुक्त बात कही है ।

ज्ञानी काटे ज्ञान से, अज्ञानी काटे रोय ।
मौत, बुढ़ापा आपदा, सब काहू को होय ॥

जो धैर्य का आश्रय नहीं लेते, वे दीन हो जाते हैं, परमुखापेक्षी बन जाते हैं । इससे वे और भी दु:खी होते हैं। संसार में परममुखापेक्षी बनना, दूसरे के सामने जाकर गिड़गिड़ाना, दूसरे से किसी प्रकार की आशा करना, इससे बढ़कर दूसरा कष्ट और कोई नहीं है । इसलिए विपत्ति आने पर धैर्य धारण किये रहिए और विपत्ति के कारणों को दूर करने एवं सुविधा प्राप्त करने के प्रयत्न में लग जाइये । जितनी शक्ति अधीर होकर दु:खी होने में खर्च होती है उससे आधी शक्ति भी प्रयत्न में लगा दी जाय तो हमारी अधिकांश कठिनाइयों के निवारण का हल निकल सकता है।

प्रत्येक परिस्थिति में आगे बढ़िये

मनुष्य जीवन उन्नति करने के लिये है । कहने के लिये संसार में शेर, हाथी, सर्प आदि मनुष्य से कहीं अधिक शक्तिशाली प्राणी मौजूद हैं, पर अन्य किसी प्राणी में वह विवेक-शक्ति नहीं पाई जाती जिससे भलाई-बुराई, लाभ-हानि का निर्णय करके उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हुआ जा सके । संसार के अन्य समस्त प्राणी प्रकृति द्वारा निर्मित एक छोटे से दायरे में ही जीवन-यापन करते हैं । यह विशेषता केवल मनुष्य को ही प्राप्त है कि वह इच्छानुसार नये-नये मार्ग खोज कर अगम्य स्थलों पर जा पहुँचता है और महत्वपूर्ण कार्यों को सम्पादित करता है । जो लोग ऐसी श्रेष्ठ मनुष्य-योनि को पाकर भी उन्नति के मार्ग पर आगे नहीं बढ़ते, वे वास्तव में बड़े अभागे हैं ।

"अगर मुझे अमुक सुविधाऐं मिलती तो मैं ऐसा करता" इस प्रकार की बातें करने वाले एक झूठी आत्म प्रवंचना किया करते हैं । अपनी नालायकी को भाग्य के ऊपर, ईश्वर के ऊपर थोप कर खुद निर्दोष बनना चाहते हैं । यह एक असंभव मांग है कि यदि मुझे अमुक परिस्थिति मिलती तो ऐसा करता । जैसी परिस्थिति की कल्पना की जा रही है यदि वैसी मिल जाय तो वे भी अपूर्ण मालूम पड़ेंगी और उससे अच्छी स्थिति का अभाव प्रतीत होगा । जिन लोगों को धन, विद्या, मित्र, पद आदि पर्याप्त मात्रा में मिले हुए हैं, देखते हैं कि उनमें से भी अनेकों का जीवन बहुत अस्तव्यस्त और असन्तोषजनक स्थिति में पड़ा हुआ है । धन आदि का होना उनके आनन्द की वृद्धि न कर सका, वरन् जी का जंजाल बन गया । जो सर्प-विद्या नहीं जानता उसके पास बहुत सांप होना भी खतरनाक है। जिसे जीवन-कला का ज्ञान नहीं, उसे गरीबी में अभावग्रस्त अवस्था में थोड़ा बहुत आनन्द तब भी है, यदि वह सम्पन्न होता तो उन सम्पत्तियों का दुरुपयोग करके अपने को और भी अधिक विपत्तिग्रस्त बना लेता ।

यदि आपके पास आज मनचाही वस्तुऐं नहीं हैं, तो निराश होने की कुछ आवश्यकता नहीं है । टूटी-फूटी चीजें हैं, उन्हीं की सहायता से अपनी कला को प्रदर्शित करना प्रारम्भ कर दीजिये । जब चारों ओर घोर घना अन्धकार छाया हुआ होता है तो वह दीपक जिसमें छदाम का दिया, आधे पैसे का तेल और दमड़ी की बत्ती है, कुल मिलाकर एक पैसे की भी पूँजी नहीं है, चमकता है, और अपने प्रकाश से लोगों के रुके हुए कामों को चालू कर देता है। जबकि हजारों पैसे के मूल्य वाली वस्तुऐं चुपचाप पड़ी होती हैं, यह एक पैसे की पूँजी वाला दीपक प्रकाशवान होता है अपनी महत्ता प्रकट करता है, लोगों का प्यार बनता है, प्रशंसित होता है और अपने अस्तित्व को धन्य बनाता है । क्या दीपक ने कभी ऐसा रोना रोया कि मेरा आकार होता तो ऐसा बड़ा प्रकाश करता ? दीपक को कर्महीन नालायकों की भाँति बेकार-शेखचिल्लियों के से मनसूबे बाँधने की फुरसत नहीं है, वह अपनी आज की परिस्थिति, हैसियत, औकात को देखता है, उसका आदर करता है और अपनी केवल मात्र एक पैसे की पूँजी से कार्य आरम्भ कर देता है। उसका कार्य छोटा है बेशक पर उस छोटेपन में भी सफलता का उतना ही अंश है जितना कि सूर्य और चन्द्र के चमकने की सफलता में है। यदि आन्तरिक संतोष, धर्म और परोपकार की दृष्टि तुलना की जाय तो अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार दोनों का ही कार्य एक सा है। दोनों का ही महत्व समान है, दोनों की सफलता एक सी है ।

सच बात तो यह है कि अभावग्रस्त, कठिनाइयों में पले हुए, साधनहीन व्यक्ति ही संसार के नेता, महात्मा, महापुरुष, सफल जीवन, मुक्तिपथगामी हुए हैं । कारण यह है कि विपरीत परिस्थितियों से टकराने पर मनुष्य की

अन्त: प्रतिभा जाग्रत होती है, सुप्त शक्तियों का विकास होता है । पत्थर पर रगड़ खाने वाला चाकू तेज होता है और वह अपने काम में अधिक कारगर साबित होता है उसका स्वभाव, अनुभव और दिमाग मंज कर साफ हो जाता है, जिससे आगे बढ़ने में उसे बहुत सफलता मिलती है। इसके विपरीत जो लोग अमीर और साधन सम्पन्न घरों में पैदा होते हैं उन्हें जीवन की आवश्यक सामग्रियाँ प्राप्त करने के लिए संघर्ष नहीं करना पड़ता, लाड़ दुलार, ऐश, आराम के कारण उनकी प्रतिभा निखरती नहीं, वरन् बन्द पानी की तरह सड़ जाती है यह निष्क्रिय चाकू की तरह जंग लगकर निकम्मी हो जाती है। आमतौर पर आजकल ऐसा देखा जाता है कि अमीरों के लड़के अपने जीवन में असफल रहते हैं और गरीबों के लड़के आगे चलकर चमक जाते हैं । पुराने जमाने में राजा रईस अपने लड़कों को ऋषियों के आश्रम में इसलिए भेज देते थे कि यहाँ रहकर अभावग्रस्त जीवन व्यतीत करें और अपनी प्रतिभा को तीव्र बनावें ।

हमारा उद्देश्य यह कहने का नहीं है कि अमीरी कोई बुरी चीज नहीं है और अमीरों के घर में पैदा होने वाले उन्नत जीवन नहीं बिता सकते । जहाँ साधन हैं वहाँ तो और भी जल्दी उन्नति होनी चाहिए । बढ़ई के पास बढ़िया लकड़ी और अच्छे औजार हों तब तो वह बहुत ही सुन्दर फर्नीचर तैयार करेगा यह तो निश्चित है । हमारा तात्पर्य केवल यह कहने का है कि यदि जिन्दगी जीने की कला आती हो तो अभाव कठिनाई या विपरीत परिस्थिति भी कुछ बाधा नहीं डाल सकती । गरीबी या कठिनाई में साधनों की कमी का दोष है तो प्रतिभा को चमकाने का गुण भी है। अमीरी में साधनों की बाहुल्यता है तो लाड़ दुलार और ऐश आराम के कारण प्रतिभा के कुन्द हो जाने का दोष भी है । दोनों ही गुण-दोष युक्त हैं । किन्तु जो जीवन जीना जानता है, वह चाहे अमीर हो या गरीब, अच्छी परिस्थितियों में अनुकूलता पैदा कर सकता है, हर अवस्था में उन्नति, सफलता और आनन्द प्राप्त कर सकता है ।

आनन्दमय जीवन बिताने के लिए धन, विद्या, अच्छा सहयोग, स्वास्थ्य आदि की आवश्यकता है । परन्तु ऐसा न समझना चाहिए कि इन वस्तुओं के होने से ही जीवन आनन्दमय बन सकता है। एक अच्छी पुस्तक लिखने के लिए कागज, दवात, कलम की आवश्यकता है, परन्तु इन तीनों के इकट्ठे हो जाने से ही पुस्तक तैयार नहीं हो सकती बुद्धिमान लेखक ही उत्तम पुस्तक के निर्माण में प्रमुख है, दवात, कलम, कागज तो एक गौण और छोटी वस्तु है । जिसे पुस्तक लिखने की योग्यता है, उसका काम रुका न रहेगा, इन वस्तुओं को वह बहुत ही आसानी से इकट्ठी कर लेगा। आज तक एक भी घटना किसी ने ऐसी न सुनी होगी कि अमुक लेखक इसलिये रचनायें न कर सका कि उसकी दवात में स्याही न थी । अगर कोई लेखक यों कहे कि- "क्या करूँ साहब मेरे पास कलम ही न थी, यदि कलम होती तो बहुत बढ़िया ग्रन्थ लिख देता।" तो उसकी इस बात पर कोई विश्वास न करेगा । भला कलम भी कोई ऐसी दुष्प्राप्य वस्तु है, जिसे लेखक प्राप्त न कर सके । एक कहावत है कि "नाच न जानें आँगन टेढ़ा" नाचना नहीं आता वह अपनी अयोग्यता को यह कहकर छिपाता है कि क्या करूँ आंगन टेढ़ा है । टेढ़ा ही सही, जिसे नाचना आता है उसके लिये टेढ़ेपन के कारण कुछ विशेष अड़चन पड़ने की कोई बात नहीं है । इसी प्रकार जो जीवन की विद्या जानता है, उसे साधनों का अभाव और विपरीत परिस्थितियों की शिकायत करने की कोई बात नहीं है । साधनों की आवश्यकता है बेशक, परन्तु इतनी नहीं कि उनके बिना प्रगति ही न हो सके ।

चतुर पुरुष विपरीतता में अनुकूलता पैदा कर लेते हैं। विष को अमृत बना लेते हैं । संखिया, कुचला, धतूरा, पारा, गुग्गुल, हरताल आदि प्राणघातक विषों से लोग रोगनाशक, आयुवर्धक रसायनें बनाते हैं । बाल में से चाँदी, कोयले में से हीरा निकालते हैं । सर्पों की विष थैली में से मणि प्राप्त करते हैं, धरती की शुष्क और कठोर तह को खोदकर शीतल जल निकालते हैं, गरजते समुद्र के पेट में घुसकर मोती लाते हैं । दृष्टि पसार कर देखिये, आपको चारों ओर ऐसे कलाकार बिखरे हुए दिखाई पड़ेंगे, जो तुच्छ चीजों की सहायता से बड़े महत्वपूर्ण कार्य करते हैं, ऐसे वीर पुरुषों की कमी नहीं है, जो वज्र जैसी निष्ठुर परिस्थिति में प्रवेश करके विजयलक्ष्मी का वरण करते हैं । यदि आपकी इच्छा शक्ति जरा वजनदार हो तो आप भी इन्हीं कलाकारों और वीर पुरुषों की श्रेणी में सम्मिलित होकर अपनी आज की सारी शिकायतें, चिन्ताऐं, विवशताऐं आसानी के साथ संतोष, आशा और समर्थता में बदल सकते हैं ।

आपत्तियों से चिन्तित न हों

अनेक व्यक्ति आपत्तियों से इतने इतने भयभीत रहते हैं कि वे तरह-तरह की सच्ची और झूँठी आपत्तियों की

कल्पना करके अपने जीवन को चिन्ता-ग्रस्त बना लेते हैं। यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो भूतकाल की गुजरी हुई घटनाओं और भविष्यकाल की भली-बुरी संभावनाओं के लिये व्याकुल होना निरर्थक है। पर ये व्यक्ति प्रायः वर्तमान का ख्याल छोड़कर पुरानी घटनाओं का ही रोना रोया करते हैं अथवा भविष्यकाल में आने वाली सम्भावित कठिनाइयों की कल्पना करके डरते रहते हैं । वे दोनों ही प्रवृत्तियाँ बुद्धिहीनता और डरपोकपन की परिचायक है। पुरानी या नई, कैसी भी आपत्तियों के कारण चिन्ता करना सब तरह से हानिकारक है । इसमें हमारी बहुत-सी शक्ति व्यर्थ ही नष्ट हो जाती है और हम अपने सम्मुख उपस्थित वास्तविक समस्याओं का हल करने में भी असमर्थ हो जाते हैं ।

चिन्ता, मन में केन्द्रिभूत नाना दुखद स्मृतियाँ तथा भावी भय की आशंका से उत्पन्न मानव मात्र का सर्वनाश करने वाला, उसकी मानसिक शारीरिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों का ह्रास करने वाला दुष्ट मनोविकार है । एक बार इस मानसिक व्याधि के रोगी बन जाने से मनुष्य कठिनता से इससे मुक्ति पा सके हैं, क्योंकि अधिक देर तक रहने के कारण यह गुप्त मन में एक जटिल मानसिक भावना ग्रन्थि के रूप में प्रस्तुत रहता है । वहीं से हमारी शारीरिक एवं मानसिक क्रियाओं को परिचालित करता है । आदत बन जाने से, चिन्ता नैराश्य का रूप ग्रहण कर लेती है। ऐसा व्यक्ति निराशावादी हो उठता है। उसका सम्पूर्ण जीवन नीरस, निरुत्साह और असफलताओं से परिपूर्ण हो उठता है।

चिन्ता का प्रभाव संक्रामक रोग की भाँति विषैला है। जब हम चिन्तित व्यक्ति के सम्पर्क में रहते हैं, तो हम भी निराशा के तत्व खींचते हैं और अपना जीवन निरुत्साह से परिपूर्ण कर लेते हैं । बहुत से व्यक्ति कहा करते हैं कि "भाई अब हम थक गये, बेकाम हो गये । अब परमात्मा हमें सम्हाल ले तो अच्छा है।" वे इसी रोने को रोते रहते हैं कि हम बड़े अभागे हैं, बदनसीब हैं, हमारा भाग्य फूट गया है, दैव हमारे प्रतिकूल हैं, हम दीन हैं, गरीब हैं । हमने सर तोड़ परिश्रम किया किन्तु भाग्य ने साथ नहीं दिया ।" ऐसी चिन्ता करने वाले व्यक्ति यह नहीं जानते कि इस तरह का रोना रोने से हम अपने हाथ से अपने भाग्य को फोड़ते हैं, उन्नति रूपी कौमुदी को काले बादलों से ढँक लेते हैं ।

एक सुप्रसिद्ध विद्वान का कथन है-आपके जीवन में नाना पुरानी दुखद, कटु, चुभने वाली स्मृतियाँ दबी हुई पड़ी हैं । उनमें नाना प्रकार की बेवकूफियाँ, अशिष्टताऐं, मूर्खता से युक्त कार्य भरे पड़े हैं । अपने मन मन्दिर के किवाड़ उनके लिये बन्द कर दीजिये । उनकी दुःख भरी पीड़ा, वेदना, हाहाकार की काली परछांई वर्तमान जीवन पर मत आने दीजिए । इस मन के कमरे में इन मृतकों को, भूतकाल के मुर्दों को दफना दीजिये । इसी प्रकार मन का वह कमरा भी बन्द कर दीजिये जिसमें भविष्य के लिए मिथ्या भय, शंकाएँ, निराशापूर्ण कल्पनाएं एकत्रित हैं । इस अजन्मे भविष्य को भी मन की कोठरी में दृढ़ता से बन्द कर दीजिए। मरे हुए अतीत को अपने मुर्दे दफनाने दीजिए । आप तो 'आज' की परवाह कीजिये । 'आज,' यह मदमाता-उल्लासपूर्ण 'आज' आपकी अमूल्य निधि है। यह आपके पास है। आपका साथी है । 'आज' की प्रतिष्ठा कीजिये । उससे खूब खेलिए, कूदिए और मस्त रहिये और उसे अधिक से अधिक उल्लासपूर्ण बनाइये । 'आज' जीवित चीज है । 'आज' में वह शक्ति है, जो दुःखद कल को भुलाकर भविष्य के मिथ्या भयों को नष्ट कर सकता है।"

इस कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि भविष्य के लिए कुछ न सोचें, या न विचारें ? नहीं, कदापि नहीं । इसका तात्पर्य यही है कि आगे आने वाले 'कल' के लिए, व्यर्थ ही चिन्ता करने से काम न चलेगा, वरन् अपनी समस्त बुद्धि, कौशल, युक्ति और उत्साह से आज का कार्य सर्वोत्कृष्ट रूप में सम्पन्न करने से चलेगा । यदि हम 'आज' का कार्य कर्त्तव्य समझकर सम्पूर्ण एकाग्रता और लगन से पूर्ण करते हैं, तो हमें 'कल' की (भविष्य की) चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार आप उज्ज्वल भविष्य का निर्माण कर सकते हैं ।

ईसाइयों में प्रार्थना का एक अंश इस प्रकार है, 'हे प्रभु ! हमें आज का भोजन दीजिए । हमें आज समृद्ध कीजिए।' स्मरण रखिए, प्रार्थना का तात्पर्य है कि 'आज' हमें भोजन, आनंन्द, समृद्धि प्राप्त हों । इसमें न तो बीते हुए कल के लिए शिकायत है, न आने वाले 'कल' के लिए याचना या भय। यह प्रार्थना हमें 'आज' (वर्तमान) का महत्व स्पष्ट करती है । यदि हम आज को आदर्श रूप में अधिकतम आनन्द से व्यतीत कर लें तो हमारा भावी जीवन स्वयं समुन्नत हो सकेगा । सैकड़ों वर्ष पूर्व एक निर्धन दर्शनवेत्ता ऐसे पर्वतीय प्रदेश में घूम रहा था, जहाँ लोग कठिनता से जीविकोपार्जन कर पाते थे । एक दिन उसने उन्हें एकत्रित किया और एक लघु भाषण में कहा- 'कल' की चिन्ताओं में निमग्न आत्माओं ! कल के भय, चिन्ताओं और अन्धकार में क्यों

इस सुनहरे वर्तमान को नष्ट कर रहे हो ? कल स्वयं अपनी चिन्ता करेगा । यदि तुम आज को अधिकाधिक आनन्द, सन्तोष और आदर्श रूप में व्यतीत कर सको तो उत्तम है। परमेश्वर स्वयं तुम्हारे भविष्य को समुन्नत करने में प्रयत्नशील है ।''

महापुरुष ईसा ने कहा है- ''कल की चिन्ता मत करो।'' पर इसका वास्तविक मर्म बहुत कम लोग समझते हैं । आप कहेंगे कल की चिन्ता कैसे न करें ? हमारा परिवार है, हमारे बच्चों की शिक्षा, वस्त्र, भोजन, मकान की विषम समस्याएँ हैं ? कल हमें उनके विवाह करने हैं? क्या रुपया एकत्रित किए बिना काम चलेगा ? हमें बीमा पौलिसी में रुपया जोड़ना चाहिए ? हमारी आज नौकरी लगी है कल छूट भी सकती है, आज हम स्वस्थ हैं कल बीमार पड़ेंगे तो कैसे काम चलेगा ? वृद्धावस्था में हमारा क्या होगा ?

इस प्रकार की बातें ठीक हैं । एक विचारशील मस्तिष्क में ये विचार आने चाहिए । हमारा सुझाव है कि आप 'कल' के लिये अपने आपको शक्तिशाली बनाने के लिये, योग्यतर, स्वस्थ, आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होने के लिये नई योजनाओं को कार्यान्वित करें । भावी जीवन के लिये जितना सम्भव हो तैयारी कीजिए । परिश्रम, उद्योग, मिलनसारी द्वारा समाज में अपना स्थान बनाइए पर चिन्ता न कीजिये । योजना बना कर दूरदर्शिता पूर्ण कार्य करना एक बात है, चिन्ता करना दूसरी बात है । चिन्ता से क्या हाथ आवेगा ? जो रही सही शक्ति और मानसिक सन्तुलन है, वह भी नष्ट हो जायेगा । चिन्ता तो आपको उत्साह, शक्ति और प्रसन्नता से पंगु कर देगी । जिस कठिनाई या प्रतिरोध को आप अपनी व्यक्तिगत शक्तियों से बखूबी जीत सकते थे, वह पर्वत सदृश कठिन प्रतीत होगी । चिन्ता आपके सामने एक ऐसा अन्धकार उत्पन्न करेगी, कि आपको उस महान् शक्ति-केन्द्र का ज्ञान न रह जायगा, जो आदिकर्त्ता परमेश्वर ने आपके अंग-प्रत्यंग में छुपा रखा है।

युद्ध, बीमारी, दिवाला या दुखद मृत्यु के अन्धकार पूर्ण रुदन में, शुभ चिन्तन और अशुभ चिन्तन में केवल यह अन्तर है, अच्छा विस्तार वह है जो कार्य-कारण के फल को तर्क की कसौटी पर परखता है, दूर की देखता है और किस कार्य से भविष्य में क्या फल होगा, इसका सम्बन्ध देखकर भावी उन्नति की योजनाएँ निर्माण करता है । सृजनात्मक विचार भावी निर्माण में पुरानी गलतियों की सजा के अनुभवों और संसार की कठोरताओं को देखभाल कर अपनी उन्नति के लिये योजना प्रदान करता है। अच्छे चिन्तन में संग्रहीत सांसारिक अनुभवों के बल पर उत्साह और आशा का शुभ आलोक है, कार्यनिष्ठा और साहस का बल है, शक्ति और कुशलता का पावन योग है, कार्य से भागकर नहीं, वरन् गुत्थियों को सुलझा कर अपूर्व सहनशक्ति का परिचय देने का विधान है।

बुरी विचार धारा का प्रारम्भ ही डर और घबराहट से होता है। कठिनाइयाँ आ रही हैं, हमें वह कार्य करना ही पड़ेगा, जो साधारणतः हम ने नहीं किया है, पैसा और शक्ति पास में नहीं रहेंगी, फिर क्या किया जायेगा- ऐसी फालतू गलत कल्पनाएँ आकर शक्ति और उत्साह का विनाश कर देती हैं । मानसिक सन्तुलन नष्ट हो जाता है । इच्छाशक्ति और मनोबल पिछली गलतियों की स्मृति और वेदनाओं से नष्ट या पंगु हो जाता है । पश्चात्ताप एवं आत्म ग्लानि के अन्धकार में ऐसा व्यक्ति रही सही शक्ति को भी खो बैठता है । यह गलत कल्पनाऐं चिन्ता जैसी राक्षसी की ही सन्तानें हैं ।

आजकल पागलखानों तथा शफाखानों में मानसिक रोगों के जितने बीमार आते हैं, उनमें से अधिकांश ऐसे होते हैं, जो चिन्ता भार के कारण मन को सन्तुलित नहीं रख सके हैं । उनके मस्तिष्क में बीते हुए जीवन के हृदयद्रावक हाहाकार, कल्पना, मौन रुदन हैं । प्रिय व्यक्ति के विछोह की आकुलता, पीड़ा और दुस्सह वेदना है। हजारों रुपयों की हानि की कसक है। समाज में दूसरों द्वारा की हुई मान हानि की जलन है, समाज, अफसर, रुढ़ियों तथा पुलिस द्वारा किये गये अत्याचारों के विरुद्ध विद्रोह है । कोई पिटते कुटते ऐसे जड़ निराशावादी हो गये हैं कि उनका जैसे आनन्द का स्रोत ही सूख गया है। इन्हीं अनुभवों के बल पर वे भविष्य में भय से उत्पन्न दुष्प्रवृत्तियों के शिकार हैं। अपनी प्रतिकूलता के दूषित विचार उनके अन्तःकरण की उत्तम योजनाओं को क्षण भर में धूल में मिला देते हैं । मनुष्य की मानसिक शक्तियों को क्षय कर चिन्ता में फँसाने वाला भय महा राक्षस है । भय की प्रथम सन्तान चिन्ता है। इन स्मृतियों तथा भावी दुःस्वप्नों का द्वन्द्व मानसिक रोगों के रूप में प्रकट होता है। अव्यक्त आशंकायें, कुकल्पनायें संस्काराधीन होती हैं वे रोग के रूप में उद्भूत होकर किसी प्रकार अपनी परितृप्ति चाहती हैं ।

आपत्ति-निवारण के कुछ स्वर्ण सूत्र

विपत्ति से घबराओ मत । विपत्ति कड़वी जरूर होती है, पर याद रखो, चिरायता और नीम जैसी कड़वी चीजों से ही ताप का नाश होकर शरीर निर्मल होता है।

विपत्ति में कभी भी निराश मत होओ । याद रक्खो, अन्न उपजा कर संसार को सुखी कर देने वाली जल की बूँदें काली घटा से ही बरसती हैं ।

विपत्ति असल में उन्हीं को विशेष दुःख देती है, जो उससे डरते हैं । जिनका मन दृढ़ हो, संसार की अनित्यता का अनुभव करता हो और हर बात में भगवान की दया देख कर निडर रहता हो, उसके लिये विपत्ति फूलों की सेज के समान है ।

जैसे रास्ते में दूर से पहाड़ियों को देखकर मुसाफिर घबड़ा उठता है कि मैं इन्हें कैसे पार करूँगा, लेकिन पास पहुँचने पर वे उतनी कठिन मालूम नहीं होतीं, यही हाल विपत्तियों का है। मनुष्य दूर से उन्हें देखकर घबड़ा उठता है और दुःखी होता है, परन्तु जब वे ही सिर पर आ पड़ती हैं तो धीरज रखने से थोड़ी सी पीड़ा पहुँचा कर ही नष्ट हो जाती हैं ।

जिस तरह खरादे बिना सुन्दर मूर्ति नहीं बनती, उसी तरह विपत्ति से गड़े बिना मनुष्य का हृदय सुन्दर नहीं बनता ।

विपत्ति प्रेम की कसौटी है। विपत्ति में पड़े हुए बन्धु-बान्धवों में तुम्हारा प्रेम बढ़े और वह तुम्हें निरभिमान बनाकर आदर के साथ उनकी सेवा करने को मजबूर कर दे, तभी समझो कि तुम्हारा प्रेम असली है। इसी प्रकार तुम्हारे ऊपर विपत्ति पड़ने पर तुम्हारे बन्धु-बान्धवों और मित्रों की प्रेम-परीक्षा हो सकती है ।

काले बादलों के अँधेरे में ही बिजली की चमक छिपी रहती है, विपत्ति अर्थात् दुःख के बाद सुख, निराशा के बाद आशा, पतझड़ के बाद बसन्त ही सृष्टि का नियम है ।

याद रहे कि जब तक सुख की एकरसता को वेदना की विषमता का गहरा आघात नहीं लगता, तब तक जीवन के यथार्थ सत्य का परिचय नहीं मिल सकता। विपत्ति पड़ने पर पाँच प्रकार से विचार करो-

१- तुम्हारे अपने ही कर्म का फल है, इसे भोग लोगे तो तुम कर्म के एक कठिन बन्धन से छूट जाओगे ।

२- विपत्ति तुम्हारे विश्वास की कसौटी है इसमें न घबराओगे तो तुम्हें भगवान की कृपा प्राप्त होगी ।

३- विपत्ति मंगलमय भगवान का विधान है और उनका विधान कल्याणकारी ही होता है। इस विपत्ति में भी तुम्हारा कल्याण ही भरा है ।

४- विपत्ति के रूप में जो कुछ तुम्हें प्राप्त होता है, यह ऐसा ही होने को था, नयी चीज कुछ भी नहीं बन रही है । भगवान का पहले से रचकर रखा हुआ ही दृश्य सामने आता है ।

५- जिस देह को, जिस नाम को और जिस नाम तथा देह के सम्बन्ध को सच्चा मान कर तुम विपत्ति से घबराते हो, वह देह, नाम और सम्बन्ध सब आरोप मात्र हैं, इस जन्म से पहले भी तुम्हारा नाम, रूप और सम्बन्ध था, परन्तु आज उससे तुम्हारा कोई सरोकार नहीं है, यही हाल इसका भी है, फिर विपत्ति में घबराना तो मूर्खता ही है, क्योंकि विपत्ति का अनुभव देह नाम और इनके सम्बन्ध को लेकर ही होता है।''

जीवन के समस्त अन्य व्यापारों की तरह कठिनाईयों और आपत्तियों का आते-जाते रहना भी स्वाभाविक नियम है । उनको बुरा या भला समझना बहुत कुछ अपनी मनोवृत्ति पर निर्भर है। पर वास्तव में अधिकांश आपत्तियाँ मनुष्य को उसकी गलतियाँ बतलाने वाली होती हैं इसलिये मनुष्य का कर्तव्य है कि कैसी भी आपत्तियाँ क्यों न आवें धैर्य को कभी न छोड़ें और शान्त चित्त से उनके निवारण का प्रयत्न करें । ऐसा करने से आपत्तियाँ हानि करने के बजाय अन्तिम परिणाम में लाभकारी ही सिद्ध होंगी ।

६. नारी की महानता

गायत्री मंत्र का छठा अक्षर 'व' नारी जाति की महानता और उसके विकास की शिक्षा देता है-

वद नारीं बिना कोऽन्यो निर्माता मनु सन्तते ।
महत्वं रचना शक्तेः स्वस्याः नार्या हि ज्ञायताम् ॥

अर्थात्- 'मनुष्य की निर्मात्री नारी ही है। नारी को अपनी शक्ति का महत्व समझना चाहिए ।'

नारी से ही मनुष्य उत्पन्न होता है। बालक की आदि गुरु उसकी माता ही होती है। पिता के वीर्य की एक बूँद ही निमित्त मात्र होती है, बाकी बालक के समस्त अंग-प्रत्यंग माता के रक्त से बनते हैं । उस रक्त में जैसी स्वस्थता, प्रतिभा, विचारधारा, अनुभूति होगी, उसी के अनुसार बालक का शरीर, मस्तिष्क और स्वभाव बनेगा । नारियाँ यदि अस्वस्थ, अशिक्षित, अविकसित, पराधीन, कूपमण्डूक और दीन-हीन रहेंगी तो उनके द्वारा उत्पन्न बालक भी इन्हीं दोषों से युक्त होंगे । ऊसर खेत में अच्छी फसल उत्पन्न नहीं हो सकती ।

यदि मनुष्य जाति उन्नति चाहती है तो पहले नारी को शारीरिक, बौद्धिक, सामाजिक, आर्थिक सभी दृष्टियों से महत्वपूर्ण और सुविकसित बनाना होगा, तभी मनुष्यों में

सबलता, सक्षमता, सद्बुद्धि, सद्गुण और महानता के संस्कारों का उदय हो सकता है । नारी को पिछड़ा हुआ रखना अपने पैरों में आप कुल्हाड़ी मारना है।

मनुष्य-समाज दो भागों में बँटा हुआ है - (१) नर (२) नारी । आजकल नर की उन्नति, सुविधा और सुरक्षा के लिए तो प्रयत्न किया जाता है, परन्तु नारी हर क्षेत्र में पिछड़ी है, फलस्वरूप हमारा आधा राष्ट्र, आधा समाज, आधा परिवार, आधा जीवन पिछड़ा हुआ रह जाता है। जिस रथ का एक पहिया बड़ा और दूसरा छोटा हो वह ठीक ढंग से नहीं चल सकता । हमारा देश, समाज, जाति तब तक सच्चे अर्थों में विकसित नहीं कहे जा सकते, जब तक नारी को भी नर के समान ही क्रियाशीलता और प्रतिभा प्रकट करने का अवसर न मिले ।

नारियों के उत्थान की समस्या

नारी का महत्व इतना अधिक होने पर भी वर्तमान समय में हमारे देश की अवस्था इस दृष्टि से विपरीत दिखलाई पड़ती है । हम यह तो भली प्रकार समझते हैं कि साधारण गृहस्थ समाज में, सुखी जीवन-यापन में नारी का बड़ा भारी हाथ रहता है। योग्य नारी के आगमन से घर चमक उठता है और अयोग्य के उपस्थित होने पर वह कलह एवं अशान्ति का अखाड़ा बन जाता है। साधारणत: प्रत्येक स्त्री-पुरुष की योग्यता एवं विचारों में भिन्नता रहती ही है, पर वह इतनी अधिक हो जाय कि बात-बात में एक-दूसरे से अनबन बढ़ने लगे तो उस घर को लड़ाई का मैदान समझना चाहिए । बहुत बार यह अनुभव हुआ है कि आज के वातावरण में पला हुआ युवक चाहता है कि स्त्री नवीन सभ्यता के ढाँचे में ढल जाय, पर पत्नी वैसे वातावरण में न पलने व शिक्षित न होने के कारण उस बात को पसन्द नहीं करती । अत: परस्पर अनबन रहती है। कई व्यक्ति स्त्रियों के साथ जबरदस्ती भी करते हैं । उससे जबरन मनचाहा कार्य करवाया जाता है। करना तो उसे पड़ता ही है, पर उसका भविष्य अन्धकारमय हो जाता है। मन दुर्बल हो जाता है। आशाएँ और उत्साह विलीन हो जाता है। अत: दोनों के विचारों में साधारणत: समानता होनी आवश्यक है। अन्यथा सारा जीवन क्लेशदायक और भार रूप हो जाता है । इसके लिए नारी जाति में शिक्षा के प्रचार की बहुत आवश्यकता है, जिससे वह स्वयं अपना भला-बुरा सोच समझ सकें और कर्तव्य निर्धारण कर सकें ।

शिक्षा की उपयोगिता जीवन के प्रत्येक पल में होने पर भी वर्तमान शिक्षा में सुधार की आवश्यकता प्रतीत होती है । आज की शिक्षित कन्याएँ बड़ी फैशन प्रिय हो गई हैं, अत: खर्च बहुत बढ़ जाता है। वे घर वालों के प्रति अपना कर्तव्य भी बिसार देती हैं अत: जिस शिक्षा से वह सुगृहणी बनें, उसी की आवश्यकता है ।

साधारणतया हमारे यहाँ कन्या का जन्म पिता के लिए बड़ा दु:खद समझा जाता है क्योंकि वह पराया घर बसाती है । उसके लिए वर ढूँढ़ने, विवाह करने एवं उसे दहेज देने में बड़ा धन व्यय करना पड़ता है। वास्तव में दहेज प्रथा समाज के लिए अभिशाप बन चुकी है। बिना वर के पिता को राजी किए कन्या का विवाह करना कठिन हो गया है। अत: वर्तमान समाज-व्यवस्था में सुधार करना परमावश्यक है। उसके पराये घर बसाने की कह कर अनादर करना सर्वथा अविचार पूर्ण है क्योंकि हमारे घर में पुत्र-वधू आती है, वर पराये घर से आने पर भी हमारा घर बसाती है । यह तो बराबरी का सौदा है। विधवा बहनों के प्रति तो हमें अधिक सहानुभूति रखनी चाहिए एवं उन्हें समाज-सेवा के योग्य बनाने का प्रयत्न करना चाहिए । वे चाहें तो समाज का बड़ा कल्याण कर सकती हैं ।

नारी-धर्म का प्राचीन आदर्श

सत्राजित-दुहिता तथा भगवान श्रीकृष्ण की अर्धांगिनी सत्यभामा ने द्रौपदी से प्रश्न किया- ''हे द्रौपदी !कैसे तुम अति बलशाली पाण्डु पुत्रों पर शासन करती हो ? वे कैसे तुम्हारे आज्ञाकारी हैं तथा तुमसे कभी कुपित नहीं होते ? तुम्हारी इच्छाओं के पालन हेतु सदैव प्रस्तुत रहते हैं । मुझे इसका कारण बतलाओ ।''

द्रौपदी ने उत्तर दिया- ''हे सत्यभामा ! पाण्डु पुत्रों के प्रति मेरे व्यवहार को सुनो- मैं अपनी इच्छा, वासना तथा अहंकार को वश में कर अति श्रद्धा एवं भक्ति से उनकी सेवा करती हूँ । मैं किसी अहंकार-भावना से उनके साथ व्यवहार नहीं करती ।''

मैं बुरा और असत्य भाषण नहीं करती । मेरा हृदय कभी किसी सुन्दर युवक, धनवान या आकर्षण पर मोहित नहीं होता । मैं कभी नहीं स्नान करती, खाती अथवा सोती, जब तक कि पति नहीं स्नान कर लेते, खा लेते अथवा सो जाते एवं तब तक जब तक कि हमारे समस्त सेवक तथा अनुगामी नहीं स्नान कर लेते, खा लेते या सो जाते । जब कभी भी मेरे पति क्षेत्र से, वन से या नगर से लौटते हैं, तो

मैं उसी समय उठ जाती हूँ, उनका स्वागत करती हूँ तथा उनको जलपान कराती हूँ ।

मैं घर के सामान तथा भोजन को सदैव स्वच्छ एवं क्रम से रखती हूँ। सावधानी से भोजन बनाती तथा ठीक समय पर परोसती हूँ । मैं कभी भी कठोर शब्द नहीं बोलती । कभी भी अनुलाओं (बुरी स्त्रियों) का अनुसरण नहीं करती ।

मैं वही करती हूँ जो उनको रुचिकर तथा सुखकर लगता है । कभी भी आलस्य तथा सुस्ती नहीं दिखाती, बिना विनोदावसर के नहीं हँसती। मैं द्वार पर बैठ कर व्यर्थ समय नष्ट नहीं करती । मैं क्रीड़ा-उद्यान में व्यर्थ नहीं ठहरती, जबकि मुझे अन्य काम करने होते हैं ।

जोर-जोर से हँसना, भावुकता तथा अन्य इसी प्रकार अप्रिय लगने वाली वस्तुओं से अपने को बचाती एवं सदैव पति-सेवा में रत रहती हूँ ।

पति-विछोह मुझे कभी नहीं सुहाता । जब कभी मेरे पति मुझे छोड़कर बाहर जाते हैं तो मैं सुगन्धित पुष्पों तथा अंगराग का प्रयोग न कर जीवन कठोर तपस्या में बिताती हूँ। मेरी रुचि-अरुचि, मेरे पति की रुचि-अरुचि ही है और उन्हीं की आवश्यकतानुसार अपना समायोग करती हूँ। मैं प्राण-प्रण से अपने पति की भलाई चाहती हूँ । मैं उन वक्तव्यों का यथातथ्य पालन करती हूँ जो कि मेरी सास ने सम्बन्धियों, अतिथि, दान, देव-पूजा एवं पितृ-पूजा के विषय में बतलाए थे । मैं उनका निशदिन अक्षरशः पालन करती हूँ। मैं अपने पति के साथ बहुत ही नम्रता और आदर का व्यवहार करती हूँ। पति-सेवा में निर्धारित व्यावहारिक नियमों से तनिक भी विचलित नहीं होती । मेरा विचार है कि नारी का सर्वोत्तम गुण पति-सेवा ही है । पति स्त्री का ईश्वर है । वही उसका एक मात्र शरणालय है। उसके लिए और कहीं शरण नहीं है । ऐसी दशा में पत्नी वह कार्य कैसे कर सकती है जो कि उसके पति को अप्रिय एवं अरुचिकर प्रतीत होते हैं ।

मेरे पति मेरे मार्गदर्शक हैं । मैं कभी भी अपनी सास की बुराई नहीं करती । मैं कभी भी सोने, खाने अथवा अलंकरण में अपने पति की इच्छा के प्रतिकूल नहीं जाती। मैं अपने काम पूर्णतः एकाग्र चित्त, प्रोत्साहित ही किया करती हूँ ।

मैं अपने गुरु की सेवा अत्यन्त नम्रता से किया करती हूँ, अतएव मेरे पति मुझसे बहुत प्रसन्न रहते हैं । प्रतिदिन मैं अपनी सास की सेवा अति आदर और नम्रता से करती हूँ । मैं खाने, पीने तथा कपड़ों आदि का स्वयं निरीक्षण करती हूँ । मैंने खाने, पीने, गहने, कपड़े आदि के विषय में अपनी सास से अधिक पाने की कभी इच्छा नहीं की। मैं उनका अत्यधिक सम्मान करती हूँ । महाराज युधिष्ठिर के राज-प्रासाद में वेद-पाठ करने वाले ब्राह्मणों को मैं भोजन, जल तथा परिधान द्वारा पूजा करती हूँ । मैं समस्त परिचारिकाओं के अभियोग सुनती तथा उनके निराकरण का उद्योग करती और उनको संतुष्ट रखने का प्रयत्न करती हूँ ।

मैं उनके पालन योग्य नियमों को बनाती हूँ । मैं अतिथियों की अति भक्ति भाव से सेवा करती हूँ । मैं सर्वप्रथम शैया से उठती तथा सबसे पीछे शयन को जाती हूँ ।

हे सत्यभामा ! यही मेरा व्यवहार और अभ्यास रहा है जिसके कारण मेरे पति मेरे आज्ञाकारी हैं । अब मैं तुमको अपने पति को आकर्षित करने का उपाय बतलाऊँ । संसार में ऐसा कोई भी देवता नहीं है- जो पति की बराबरी कर सके, यदि पति तुमसे प्रसन्न हैं तो तुम्हारे पराक्रम की सीमा नहीं है और यदि वे अप्रसन्न हैं तो तुम सब कुछ खो दोगी। तुम अपने पति से परिधान, अलंकार कीर्ति यहाँ तक कि अन्त में स्वर्ग भी पा सकती हो । जो स्त्री पतिव्रता, प्रेम परिचित तथा कर्तव्यवती होती है, उसके निमित्त सुख तो एक प्रकार का जन्म सिद्धि अधिकार होता है। उसको कष्ट एवं कठिनाइयों का यदि सामना करना पड़े वे अल्पकालीन तथा मायावी होते हैं। अतएव सदैव प्रेम और भक्ति से कृष्ण की उपासना करो। सेवा के निमित्त सदैव प्रस्तुत रहो, पति के सुख का भी ध्यान रखो । वह तुम्हारा भक्त बन जायेगा और सोचेगा कि मेरी पत्नी मुझे सचमुच प्यार करती है। मैं भी उसका अनुगमन करूँ । द्वार पर जैसे ही अपने पति की आवाज सुनो, खड़ी हो जाओ तथा उसकी सेवा के लिए प्रसन्न वदन हो प्रस्तुत रहो । जैसे ही वे कक्ष में प्रवेश करें, उनको आसन तथा पैर धोने को जल दो । जब वह किसी परिचारिका को किसी काम के लिए पुकारें तो तुम स्वयं जाकर वह काम करो । कृष्ण को अनुभव करने दो कि तुम अन्तःकरण से उनकी पूजा करती हो। सदैव अपने पति की भलाई सोचो । वही उन्हें खिलाओ जो कि तुम्हें रुचिकर हो। उनके पास मत उठो-बैठो जो भी तुम्हारे पति से विद्वेष रखते हैं । पति की उपस्थिति में कभी भी उत्तेजित न हो अपने मन को मौन धारण कर शान्ति दो। केवल उन्हीं स्त्रियों से मित्रता रखो जो पति-भक्त हैं, जो उच्च कुल,

पाप शून्य तथा गुणवती और उज्ज्वल चरित्र की हैं। तुमको स्वार्थी तथा बुरे स्वभाव की स्त्रियों से दूर रहना चाहिए।

इस प्रकार का आचरण प्रशंसनीय होता है। यही समृद्धि, प्रसिद्धि तथा सुख का द्वार खोल देता है। अतएव अपने पति की प्रेम, विश्वास एवं भक्ति भाव से पूजा करो।

तब सत्यभामा ने द्रौपदी को हृदय से लगा लिया और कहा-"ओ पवित्रे ! तुम पृथ्वी पर अपने पति के साथ शान्ति का भोग करोगी। तुम्हारे पुत्र द्वारिका में आनन्द से हैं। तुम शुभ चिह्नों से सुशोभित हो। तुम कभी भी अधिक समय तक दुर्भाग्य न भोगोगी। मैं तुम्हारी प्राण प्रेरक वार्ता से अति लाभान्वित हुई। यह बुद्धिमत्ता तथा उच्च विचारों की खान है। प्रिय द्रौपदी ! तुम सदैव प्रसन्न रहो।"

यह शब्द कहती हुई सत्यभामा रथ पर बैठ गई और भगवान के साथ उन्होंने अपने नगर को प्रस्थान किया।

(वन पर्व अ. २३२-२३३)

हमारी पवित्र मातृभूमि, भारतवर्ष ने सुलभा, गार्गी, मदालसा आदि साधु नारियों, सीता, सावित्री, अनुसूया तथा नलयानी आदि पतिव्रताओं तथा मीरा जैसी भक्त नारियों, महारानी चुडलाय जैसी योगिनियों को जन्म दिया है। ये इतिहास में सहस्त्रों ज्ञात, अज्ञात नामों में से कुछ ही हैं।

आधुनिक नारी वर्ग को उनसे प्रेरणा लेनी चाहिए। उनको उन्हीं की तरह जीवन बिताना चाहिए। उनको भौतिक प्रभावों से दूर रहना चाहिए। एक व्यसनी, विलासी नारी सच्ची स्वाधीनता को नहीं समझती।

यत्र-तत्र घूमना, कर्तव्य हीन बनना, मनचाहा सब कुछ करना, सब कुछ खाना-पीना, मोटर दौड़ाना अथवा पच्छिम-निवासियों का अन्धानुसरण करना स्वतंत्रता नहीं है। सतीत्व स्त्री का सर्वोत्तम अलंकार है। सतीत्व की सीमा पार करने, मनुष्य की तरह व्यवहार करने से नारी अपनी कोमलता, बुद्धिमत्ता, प्रताप तथा सुन्दरता का नाश करती है।

स्त्रियाँ किसी प्रकार भी मनुष्य से हीन नहीं हैं। वे उत्कृष्ट व्यक्तित्व रखती हैं। वे स्वभावत: धैर्यवान, सहनशील, भक्तिभाव पूर्ण होती हैं। वे मनुष्य से अच्छे गुण रखती हैं। वे मनुष्य से अधिक आत्मबल रखती हैं। उनका देवी रूप में सम्मान तथा आदर करना चाहिए किन्तु फिर भी उनकी अपने पतियों की आज्ञाकारिणी होना चाहिए। यह सब कुछ उनके प्रताप, तेज तथा पतिव्रत धर्म को और उज्ज्वल करेगा।

पत्नी मनुष्य की अर्धांगिनी होती है। कोई यज्ञ अथवा धार्मिक कृत्य उसके बिना सफल न होगा। वह मनुष्य की जीवन साथिन है। ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि जब पत्नी भक्ति और पवित्रता के कारण अपने पति की गुरु बन जाती है। यदि मनुष्य अपनी पत्नी को अपनी दासी, हीन मानकर यह सोचता है कि स्त्री केवल भोजन बनाने तथा भोग के लिए है तो वह अत्यधिक दारुण तथा अक्षम्य अपराध करता है।

स्त्रियों को शिक्षा देनी चाहिए। सभ्य नारियाँ समाज के निमित्त आशीर्वचन के समान होती हैं। किन्तु अत्यधिक स्वाधीनता तथा स्वच्छता का फल अत्यन्त भयानक होता है। वह दैहिक जीवन महत्वपूर्ण है। मध्यमार्ग ही सर्वोत्तम है। किसी वस्तु का अतिक्रमण बुरा होता है। स्त्रियों को गीता, भागवत, रामायण तथा अन्य धार्मिक पवित्र ग्रन्थों का ज्ञान होना चाहिए। स्वास्थ्य विज्ञान, गृह चिकित्सा, परिचर्या कर्म, बाल शिक्षण, आहार शास्त्र तथा संतान शास्त्र आदि का ज्ञान होना चाहिए।

स्त्रियाँ प्रकृतित: अच्छी माताएँ होती हैं। ईश्वरीय महान उपक्रम में उनको इतना महान् कार्य करना होता है। दैवी-उपक्रम में यही सोचा गया था। यही ईश्वरीय इच्छा है। स्त्रियाँ अपना अलग मनोवैज्ञानिक विशिष्ट स्वभाव, सामर्थ्य, गुण तथा संस्कार रखती हैं। नारी समाज में अपना अलग क्षेत्र रखती हैं तथा मनुष्य अलग। वे मनुष्य से प्रतियोगिता नहीं कर सकतीं और न उनको करनी चाहिए। उनको मनुष्य का काम नहीं करना चाहिए। अवश्य वे शिक्षित हों, उनको अपने धार्मिक ग्रन्थों का ज्ञान होना चाहिए। माता-पिता का कर्तव्य है कि अपनी पुत्रियों को समुचित शिक्षा दिलायें। यह अत्यावश्यक है। अच्छी माताओं का समाज में पूजनीय स्थान होता है। अच्छी माताएँ सभी से सम्मानित तथा आदर का पात्र होती हैं। समाज में अतुलनीय स्थिति अपूर्व, स्थान तथा पद की अधिकारिणी हैं।

भारतीय नारी की महानता

यद्यपि काल-प्रभाव से भारतीय नारियों का प्राचीन आदर्श बहुत कुछ मिट गया है, परिवर्तित हो गया है, तो भी प्राचीन संस्कारों के कारण अब भी एक साधारण भारतीय नारी में जो विशेषताएँ मिलती हैं, संसार के किसी भी अन्य भाग में मिल सकना असंभव है। अब भी भारतीय नारियों में जितना सतीत्व, श्रद्धा, त्याग का भाव पाया जाता

है, उसका उदाहरण किसी भी देश में मिल सकना कठिन है ।

बचपन से ही नारी में भोलापन होता है । उसमें सहनशीलता, सुकुमारता, लज्जा, उदारता आदि गुण स्वाभाविक होते हैं, और साथ ही होती है आत्मसमर्पण की प्रबल साधना । यह जिसे आत्म-समर्पण करती है उसके दोषों को नीलकण्ठ की तरह जीवन भर बूँद-बूँद करके पी जाने में सतत् प्रयत्नशील रहा करती है और उसे मानती है-अपना स्वाभाविक देवता । वह उसे अपने हृदय से कभी विलग नहीं करना चाहती । साथ ही साथ आत्म समर्पण के बाद वह अपने जीवन-धन के प्रत्येक कार्य की जानकारी चाहती है, केवल घर के कार्यों से ही बस नहीं, वह तो अपने पतिदेव के सम्बद्ध सभी बाहरी कार्यों का भी लेखा चाहती है । यह सब क्यों ? इसीलिए कि वह अपना सब कुछ उसे समर्पित करके उसकी अर्धांगिनी बन गई है और अपने दूसरे अंग के विषय में चिन्ता करना उसका स्वाभाविक अधिकार है । इसके औचित्य को न मानना पुरुषों की नासमझी होगी ।

इस प्रकार नारी प्रारम्भ से ही अपने जीवन को उत्सर्ग के मार्ग पर ले जाती है, उसका आदान भी अवसर आने पर उत्सर्ग के लिए हो जाता है। संसार में अपने लिए उसका कुछ नहीं। उसके पास जो कुछ है वह सब दूसरों के लिए-पति, परिवार और देश के लिए ।

आदान के विषय में वह गर्भ-धारण करती है। यह सबसे बड़ा उदाहरण दिया जाता है। परन्तु यदि गम्भीरता से सोचा जाय तो उससे उसको अपने लिए क्या मिलता है- वह तो हो जाती है देश और समाज के लिए महान देन ।

वह अपना रक्त पिला-पिला कर गर्भ का पालन करती है, नौ मास तक अनावश्यक बोझ ढोती है, घुमरी, मचलाहट, खुमारी आदि के प्रकोप से दिन-रात परेशान रहती है, चलते समय अचानक गिर पड़ती है और कभी-कभी तो गर्भप्रसव की असह्य पीड़ा से अन्त में जान तक खो देती है और यदि बच्चा सकुशल पैदा भी हो गया तो वह देश और समाज का होता है न कि उसका, क्योंकि बड़ा होने पर वह अपनी इच्छा के अनुसार मार्ग पकड़ लेता है। तब भला इसे आदान कैसे कहा जाय ? शरीर भी, जिसे वह अपना कह सकती, गर्भ के कारण क्षीण हो जाता है। तब उसे मिला क्या ? वह तो शुक्र की कुछ बूँदें ग्रहण करती है और उसके साथ शरीर के रक्त की सहस्रों बूँदें मिलाकर समाज के लिए एक नई सन्तति का महान दान करती है। फिर आदान कैसा ?

बच्चा पैदा होता है और वह उस समय काल के गाल से निकले हुए पीत शरीर को लेकर सप्ताहों चारपाई पर पड़ी रहती है। कराहती है, छटपटाती है और अपने को असमर्थ देखकर चुपचाप शैया पर लेटी रहती है। इस व्यापार में गर्भ-धारण करना आदान कैसे कहा जाय ? यह तो जगत् को एक महान् दान देने का बहाना है। अतएव गर्भाधान एक उदाहरण हो सकता है। महान उत्सर्ग का, न कि आदान का ।

और आगे सोचिए तो नारी की महत्ता और भी निखर उठती है। बच्चे बड़े होते हैं और वह उन्हें प्रसन्न रखने के लिए भैया, लाला, बाबू कह कर पुचकारती हुई खाना-पीना भूल जाती है। यदि उसका परिवार गरीब हुआ अथवा किसी कारणवश उसके भोजनालय में भोजन की कमी रही तो वह सारे परिवार को खिला-पिला कर स्वयं निराहार सो जायगी, किसी से उसके विषय में कुछ कहना या शिकायत करना उसके स्वभाव की बात नहीं । दूसरे दिन संयोग से यदि पर्याप्त भोजन न हुआ तो वह सबको खिला-पिला कर पुनः भूखी रह सकती है, यह क्यों ? क्या उसे भूख नहीं सताती ?

भूख उसे भी सताती है, उसी तरह जैसे सारे मानव प्राणी को ? फिर वह वैसा क्यों करती है ? इसीलिए कि वह दूसरों के लिए अपना उत्सर्ग करना बालापन से सीख चुकी है और यह गुण उसमें स्वाभाविक हो गया है।

यदि कभी पतिदेव किसी कारणवश घर से नाराज होकर कहीं चले गये तो कौन रात-रात भर बैठी हुई उनके लिए रोती रह जाती है ? आपसी कलह के समय पति की गलती रहने पर भी उनसे कौन स्वयं क्षमा माँगती, रूठने पर मनाती और पग-पग पर बलैया लेती फिरती है ? कौन अपनी मर्यादा की रक्षा के लिए चीमूर की स्त्रियों की तरह कुए और नदी में कूद कर जान दे देता है ? किसे अपने अस्तित्व को खोकर जीवन भर दूसरे के वश में रहना खुशी से अंगीकार है ? कौन बारह-एक बजे रात में अतिथि के आ जाने पर शैया और आलस्य त्याग कर उन्निद्र रहने पर भी उसके अशन-वसन के सम्बन्ध में जुटा रह सकता है ?

उक्त सभी प्रश्नों का एक स्वर से उत्तर मिलेगा-भारतीय नारी । धर्म और संस्कृति की प्रतीप स्वरूप भारतीय नारी किसका हल नहीं रखती । वह दानव को भी मानव,

हत्यारे को भी धर्मात्मा और निर्दय को भी सदय बना सकती है। उसके आँसुओं में धर्म है, ब्रीड़ा में संस्कृति और हास्य में सुख का राज्य। मानव-धर्मों का सच्चे अर्थ में केवल वही पालन कर सकती है।

मनुजी ने धर्म के दस लक्षण गिनाये हैं-

धृति-क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रयनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्॥

इनमें से प्रत्येक को नारी किस तरह निभाती है, इस पर संक्षेप में दृष्टि डालना अधिक समोचीन होगा।

संसार का कोई भी मानव दस लक्षण सम्पन्न धर्म का पूर्णरूपेण शायद ही पालन कर पाता हो, यदि कोई करता भी होगा तो उसे ऐसा करने में असीम साधना करनी पड़ी होगी। परन्तु नारी के जीवन में उक्त दसों बातें स्वभाव बन गयी हैं। उनके बिना उसे चैन ही नहीं पड़ता। वह उन बातों का कठोरता से पालन करके सारे संसार की पथ-प्रदर्शिका बन गई है।

कठिन से कठिन परिस्थितियों में आपदाओं में घिरी रहने पर भी वह धैर्य के साथ पति की अनुगामिनी बनी रहती है। पति उसके साथ घोर से घोर अत्याचार कर डालता है, शराबखोरी से उसका जीवन दूभर बना देता है, उसके जेबर बेचकर जुआ खेलता है पर ज्यों ही उसे विपन्नावस्था में घर आया देखती है, तो वह सब कुछ भूलकर सहानुभूति के साथ उसकी सहायता में तत्पर हो जाती है। अपनी बीती पीड़ाओं के बदले में एक भी शब्द पति के विरुद्ध कहना उसके बूते का नहीं। वह अपने हृदय और स्वभाव से मजबूर है। कोमलता छोड़कर कठोर बनना उसे भाता नहीं। उसका शील हृदय क्षमा के अतिरिक्त और कुछ जानना नहीं चाहता। वह अपने में ही पूर्ण है।

दम के विषय में उसकी तितीक्षा-इच्छा रहते हुए भी अच्छी वस्तुओं और आहार स्वयं न खाकर परिवार वालों को खिला देना, अपनी पीड़ा भूलकर दूसरे की पीड़ा में सम-वेदना प्रकट करना, क्रोध न करके सदैव सरस बनी रहना ही पर्याप्त है।

शौच और इन्द्रिय निग्रह के लिए उसका प्रतिदिन आचरण अनुकरणीय है। कुटुम्ब, साधु और पति की सेवा करने, उदार हृदय से पीड़ितों और दुखियों को सहारा देने और अपने सुख-दुख की बिना परवाह किये रात-दिन गृह कार्यों में निरत रहकर 'गृहिणी' पद पर जिम्मेदारी निभाने से बढ़ कर शौच और इन्द्रिय-निग्रह होगा ही क्या ?

नारियों का समाजोत्थान में भाग

आधुनिक विद्वानों ने संसार की विभिन्न जातियों की सभ्यता की जाँच करने में जिन विधियों से काम लिया है, उनमें 'स्त्रियों की स्थिति' एक विशेष स्थान रखती है। संसार में ऐसे देश बहुत कम हैं, जिनमें प्राचीनकाल से स्त्रियों को उच्च स्थान दिया गया है। अनेक देशों में तो स्त्रियों को सर्वथा दास का ही दर्जा दिया गया था, पर प्राचीन भारतवासियों ने समाज-निर्माण में स्त्रियों के महत्व को अनुभव करते हुए उनको इतना उच्च स्थान दिया था कि वे पूजा के योग्य मानी गई थीं।

भारतीय संस्कृति में स्त्री व पुरुष दोनों को एक गाड़ी के दो पहियों की तरह माना गया था। दोनों पहिए साथ-साथ और बराबर चलेंगे तभी जीवन रूपी गाड़ी भली प्रकार अग्रसर हो सकती है। इसी दृष्टि से स्त्री को पुरुष की अर्धांगिनी कहा गया था। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि "पत्नी पुरुष की आत्मा का आधा भाग है। इसलिए जब तक पुरुष पत्नी को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक प्रजोत्पादन न होने से वह अपूर्ण रहता है।"

महाभारत के आदि पर्व (७४-४०) में लिखा है- "भार्या पुरुष का आधा भाग व उसका श्रेष्ठतम मित्र है। वही त्रिवर्ग की जड़ है और वही तारने वाली है।" मनु भगवान ने तो स्पष्टत: ही कह दिया है कि "जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है, वहाँ देवता निवास करते हैं।" इस व्यवस्था में इस बात की आशंका नहीं थी कि पुरुष अपनी शक्ति का घमण्ड करके स्त्री पर अपना अधिकार दिखला सके। जबकि स्त्री उसी का आधा अंग है तब अधिकार का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। वे दोनों ही बराबर हैसियत रखते हैं। स्त्री और पुरुष एक ही पारिवारिक जीवन के दो विभिन्न पहलू हैं। पारिवारिक जीवन में दो प्रकार की जिम्मेदारियाँ रहती हैं। एक घर के भीतर की और दूसरी घर के बाहर की। इनमें से एक का संचालन विशेषत: स्त्री द्वारा ही होता है और दूसरे का पुरुष द्वारा। पारिवारिक अभ्युदय के लिए दोनों पहलुओं का सुचारू रूप से संचालन होना आवश्यक है। यदि दो में से किसी एक में कमी रही तो जीवन दुखमय हो जाता है।

स्त्री-पुरुष के एक साथ रहने से ही पारिवारिक जीवन का श्री गणेश होता है। ज्यों-ज्यों संतान वृद्धि होती है या अन्य प्रकार से परिवार के सदस्यों की संख्या बढ़ने लगती है, त्यों-त्यों उसका आन्तरिक जीवन भी विकसित होने

लगता है। इस जीवन का संबंध पूर्णतया स्त्री से ही रहता है । प्राचीन समाज में उसे ही परिवार के छोटे-बड़े सब सदस्यों की चिन्ता करनी पड़ती थी । उसे अपने घर को साफ-सुथरा रखना, भोजन की व्यवस्था करना और अतिथि सत्कार के उत्तरदायित्व को पूरा करना पड़ता था। उसे अपनी सन्तान का पालन-पोषण करके उन्हें योग्य नागरिक बनाने का प्रयत्न भी करना पड़ता था । इसीलिए उसे गृहिणी के पद पर सुशोभित किया गया था । महाभारत के शान्ति पर्व (१४४-६६) में लिखा है "घर, घर नहीं है, वरन् गृहिणी ही घर कही जाती है ।" प्राचीन सामाजिक जीवन में गृहिणी पद अत्यन्त महत्वपूर्ण था क्योंकि उस समय पारिवारिक जीवन स्वावलम्बन के सिद्धान्त पर स्थित था । इसलिए स्त्रियों को ऊपर लिखे कार्यों के अतिरिक्त सूत कातने, कपड़ा बुनने, गाय दुहने, खेती सम्बन्धी बहुत से कार्यों की जिम्मेदारी अपने ऊपर न उठाये तो स्पष्ट है कि पुरुष को कितनी ही कठिनाइयों का सामना करना पड़े ।

गृहिणी पद के अतिरिक्त प्रकृति ने स्त्री को मातृपद के योग्य भी बनाया है । 'माता' शब्द तो पारिवारिक जीवन के लिए मानो अमृत का भण्डार है । माता, परिवार के लिए त्याग, तप और प्रेम की त्रिवेणी ही है । माता और पुत्र का जो प्रेम परस्पर रहता है, उसी से पारिवारिक जीवन अधिक सुखी बनता है। माता समाज-सेवा के ऊँचे से ऊँचे आदर्शों की साक्षात् मूर्ति ही है । अपने बच्चों को पालने-पोसने में वह सब कष्टों को हँस-हँस कर झेलती है । प्राचीन भारत में माता की महिमा सबसे अधिक बतलाई गई थी और सूत्र तथा स्मृति ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा गया है ।

स्त्री को उपरोक्त दो पदों के अतिरिक्त एक और पद प्राप्त था और वह पुरुष की सहचरी का । गृहिणी और माता की जिम्मेदारियों से उसका जीवन नीरस न हो जाय और घर के बाहरी झंझटों में फँस कर उसके पति का भी जीवन कटु न हो जाय, इसलिए वह अपने पति की सहचरी बनकर उसे जीवन-सौख्य का आनन्द प्रदान करती थी । प्रकृति ने उसे जो सौन्दर्य और माधुर्य दिया है, उसे वह अपने प्रयत्नों से ललित कला में परिणत करके जीवन के दु:खों को भुलाने में समर्थ होती थी । उसका सौन्दर्य और माधुर्य युक्त प्रेम, जो उसमें अंग-अंग से टपकता था, उसके पति की दिन भर की चिन्ताओं और झंझटों को दूर करने में समर्थ होता था । विवाह के समय जो वेद-मंत्र पढ़े जाते थे उनमें स्त्री के गृहिणी, माता और सहचरी के पदों का उल्लेख है । ये भाव पहले से ही वधू के मन पर अंकित कर दिये जाते थे, जिससे नये जीवन में प्रवेश करने के पहले वह अपनी जिम्मेदारियों को भली प्रकार समझ ले। विवाह स्त्री और पुरुष को एक आजीवन बन्धन में बाँध देता था ।

नारी जागरण और वर्तमान सामाजिक स्थिति

इस सचाई से तो कोई इन्कार नहीं किया जा सकता कि प्राचीन भारत में स्त्रियों की स्थिति पर्याप्त उच्च और संतोषजनक थी । आज भी हम बड़े गर्व के साथ वैदिक काल की विदुषियों, बौद्धकाल की धर्म-प्रचारिकाओं और मुसलमान काल की वीरांगनाओं के नाम लेते रहते हैं । पर इसमें सन्देह नहीं कि एक हजार वर्ष की गुलामी के फलस्वरूप जहाँ अन्य अनेक विषयों में भारतीय समाज का पतन हुआ, वहाँ स्त्रियों की स्थिति बहुत गिर गई । अब नवयुग का आविर्भाव होने पर समाज के हितैषियों का ध्यान इस त्रुटि की तरफ गया है और स्वयं अनेक स्त्रियाँ ही अपने अनुचित बन्धनों को ढीले करने का प्रयत्न कर रही हैं । ऐसी महिलाओं को हम दो विभागों में बाँट सकते हैं । एक तो वे जो भारतीय संस्कृति की उपासिका हैं और पतनकाल में उत्पन्न हुई कुप्रथाओं को दूर करके नारियों को पूर्वकाल के उन्नत और उत्तरदायित्वपूर्ण आदर्श की ओर ले जाना चाहती हैं । दूसरे विभाग में उनकी गणना की जा सकती है, जो पश्चिमी शिक्षा और आदर्शों से अनुप्राणित होकर भारतीय महिलाओं को पूर्ण स्वतंत्र और पुरुषों की समानता करने वाली बनाने की पक्षपातिनी है। इनमें से दूसरे विभाग का मत तो प्राय: सभी समाज हितोषियों ने त्याज्य बतलाया है, पर प्रथम विभाग वाली विदुषी नारियों का मत विचारणीय और अधिकांश में मानने योग्य है। नीचे हम उसी की विवेचना करेंगे ।

हमारे पूर्वजों ने समाज की रचना इस प्रकार की कि कोई किसी को पराधीन न बना सके । स्नेह और कर्तव्य के बन्धन इतने मजबूत हैं कि मनुष्य एक-दूसरे के साथ अपनी सहज प्रकृति के साथ सहज ही बँध जाता है और परस्पर एक-दूसरे के लिए बड़े से बड़ा त्याग करने को तैयार हो जाता है। माता अपने बालक के लिए बड़े से बड़ा त्याग कर सकती है। अपनी जान को भी जोखिम में डाल

सकती है पर नौकरानी से वह आशा कितना ही लोभ और भय दिखाने पर भी नहीं की जा सकती ।

नर और नारी के सहयोग से सृष्टि के आरम्भ काल में परिवार बने और समाज की रचना की व्यवस्था करने वालों ने यह पूरा ध्यान रखा कि यह दोनों ही सहयोगी एक-दूसरे के लिए अधिक से अधिक सहायक हों, एक-दूसरे को पराधीन बनाने का अनैतिक प्रयत्न न करें । उसी दृष्टिकोण के अनुसार जन समाज की रचना हुई । नर और नारी लाखों-करोड़ों वर्षों तक एक-दूसरे के सहायक, मित्र और स्वेच्छा से सहयोग बनकर जीवन व्यतीत करते रहे, इससे स्वस्थ समाज का विकास हुआ उन्नति, प्रगति, प्रसन्नता और सुख-शान्ति के उपहार भी इस व्यवस्था ने दिये ।

विश्व के विशेषतया भारत के प्राचीन इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट प्रकट है कि नारी ने नर के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर कार्य किया है और जीवन की अनेक समस्याओं को सरल करने में, ज्ञान और विज्ञान की महत्वपूर्ण प्रगति में भारी योग किया है। एक ने दूसरे को अपनी अपेक्षा अधिक सम्माननीय समझा और घनिष्टता के आत्मीय बन्धनों को दिन-दिन मजबूत बनाते हुए हर लौकिक दृष्टि से एक-दूसरे पर कोई पराधीनता लादने का प्रयत्न नहीं किया । स्वस्थ विकास और सच्चे प्रेम भाव का तरीका भी इसके अतिरिक्त और कोई न था । भारतीय इतिहास के पृष्ठों पर नर और नारी, निश्छल शिशुओं की तरह किलकारियाँ मारते हुए परस्पर खेलते-कूदते दीखते हैं । विश्व का अधिक विकास इन्हीं मंगलमयी भावनाओं के साथ हुआ है ।

देवगण, ऋषि और राजाओं से लेकर साधारण गृहस्थ और दीन-हीनों के जीवन में नर और नारी की एकता और समता ऐसी गुथी पड़ी है कि यह निर्णय करना कठिन पड़ता है कि दोनों पक्षों में से किसे प्रथम माना जाय । देव वर्ग में लक्ष्मी, दुर्गा, सरस्वती आदि का जो स्थान है, उसे किसी पुरुष देवता से किसी भी प्रकार कम नहीं कहा जा सकता । देवताओं के साथ भी नारी असाधारण रूप से गुथी हुई है । ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र आदि किसी भी देवता को लें, उनकी धर्म-पत्नियाँ उनके समकक्ष ही कार्य और उत्तरदायित्व सँभालती दीखती हैं । सीता और राधा को राम और कृष्ण के जीवन से अलग नहीं किया जा सकता । अनुसूया, अरुन्धती, गार्गी, मैत्रेयी, शतरूपा, अहिल्या, मदालसा आदि ऋषिकाओं का महत्व भी उनके पतियों जैसा ही है । गान्धारी, सावित्री, शैव्या आदि असंख्यों महिलाएँ योग्यता और महानता की दृष्टि से अपने पतियों से किसी भी प्रकार पीछे नहीं थीं । वैदिक काल में ऋषियों की भाँति अनेक ऋषिकाओं में उनका समुचित स्थान रहा है। यज्ञ में तो नारी की अनिवार्य आवश्यकता मानी गई है ।

नर और नारी समान रूप से अपना विकास करते हुए आगे बढ़े हैं और संसार को आगे बढ़ाया है । भारतीय संस्कृति का समस्त तत्व-ज्ञान और इतिहास इस बात का साक्षी है कि नर ने कदापि कहीं भी यह प्रयत्न नहीं किया है कि नारी को अपने से पिछड़ी हुई दुर्बल, अविश्वस्त माने और उसके साधनों का शोषण करके, उसे अपंग बनाकर अपनी मनमर्जी पर चलने के लिए विवशता एवं पराधीनता को लादे । यदि ऐसी बात रही होती तो इतिहास के पृष्ठ दूसरी ही तरह लिखे गये होते-जगद्गुरु कहलाने, विश्व का नेतृत्व करने और विश्व में सर्वत्र आशा और प्रकाश की किरणें फैलाने में जो श्रेय भारत को प्राप्त हुआ था वह कदापि न हुआ होता ।

आज भारतवर्ष में स्त्री जाति का सामाजिक स्थान बहुत पिछड़ा हुआ है । उसके व्यक्तित्व को इतना अविकसित बना दिया गया है कि वह सब प्रकार परमुखापेक्षी और लुञ्ज-पुञ्ज हो गई है। रसोई और प्रजनन इन दो कार्यों को छोड़कर किसी क्षेत्र में उसकी कोई उपयोगिता नहीं रह गई है । शहरों में अब कन्याओं को लोग थोड़ा-सा इसलिए पढ़ाने लगे हैं कि पढ़े-लिखे लड़कों के साथ उसकी शादी करने में सुविधा हो । विवाह होते ही वह शिक्षा समाप्त हो जाती है और फिर जीवन भर और आगे की पढ़ाई तो दूर, जो कुछ पढ़ा था उसका उपयोग करने का भी अवसर नहीं आता । आर्थिक दृष्टि से नारी सर्वथा परावलम्बी है । जब कोई वैधव्य आदि की दुर्घटना घटित हो जाती है और कोई उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति नहीं होती तो बालकों को पालना कठिन हो जाता है । यदि संतान न हुई तो भी उस बेचारी को घर-भर का कोप भाजन बनना पड़ता है। कई बार तो इसी अपराध में पतिदेव दूसरा विवाह कर लेते हैं और उसे विधवा जैसा दुख सधवा होते हुए भी सहना पड़ता है। इसी प्रकार एक पिंजड़े में बन्द, बाह्य क्षेत्रों से सर्वथा अपरिचित होने के कारण उसे इतना भी ज्ञान नहीं होता कि जीवन-धारण करने की आवश्यकता समस्याओं को सुलझाने में भी

समर्थ हो सके। जीवन को सफल या समुन्नत बनाने वाले कोई पुरुषार्थ कर सकना तो उसके लिए असंभव ही है।

यह विपन्न अवस्था आज की नारी के लिए एक दुर्भाग्य ही है कि वह व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन के विकास में अपनी शक्ति, सामर्थ्य, और प्रतिभा का कोई उपयोग नहीं कर सकती, आपत्ति आने पर अपना और अपने बच्चों के सम्मानपूर्ण जीवन की रक्षा भी नहीं कर सकती। एक और भारी लांछन उस पर यह है कि वह चरित्र की दृष्टि से सर्वथा अविश्वस्त समझी जाती है। उसके ऊपर कम से कम पहरेदार हर समय रहना चाहिए। अपनी पुत्रियों, बहिनों और माताओं के प्रति ऐसी अविश्वास की भावना रखना, पुरुषों की अपनी नैतिक दुर्बलता का चिह्न है। 'चोर की दाढ़ी में तिनका' वाली कहावत के अनुसार वे अपनी चरित्रहीनता का आरोपण नारी में देखते हैं, जो कि वस्तुत: पुरुष की अपेक्षा स्वभावत: अनेक गुनी चरित्रवान होती है।

नारी पर अनेक प्रकार के बन्धन लगाकर उसे शिक्षा, स्वास्थ्य, धन-उपार्जन, सामाजिक ज्ञान, लोक-सेवा आदि की योग्यताओं से वंचित रखना, एक ऐसी बुराई है जिससे आधे राष्ट्र को लकवा मार जाने जैसी स्थिति पैदा हो जाती है। अविकसित पराधीन और अयोग्य नारी का भार पुरुष को वहन करना पड़ता है, फलस्वरूप उसकी अपनी उन्नति भी अवरुद्ध हो जाती है। यदि नारी को सभ्य बनने दिया जाय तो वह पुरुष के ऊपर भार न रह कर उसके स्वास्थ्य, अर्थ व्यवस्था, शिशु विकास से लेकर अनेक अन्य कार्यों में भी सहायक होकर उन्नति के अनेक द्वार खोल सकती है। पर्दे में पिंजड़े में बन्द रखकर पुरुष यह सोचता है कि इस प्रकार उसे व्यभिचार से रोका जा सकेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि नारी इतनी पतित है कि बन्धन के बिना यह सदाचारिणी रह ही नहीं सकती। यह मान्यता भारतीय नारी का जो भारी अपमान है और इन आदर्शों एवं भावनाओं के सर्वथा प्रतिकूल है जो अनादिकाल से भारतीय संस्कृति में नारी के प्रति समाहित की गई हैं।

अनेक नारियाँ ऐसी हैं जिनके पास पर्याप्त समय है, पर उन्हें अवसर नहीं दिया जाता, जिसमें वे अपने जीवन को बन्दी से अधिक कुछ बना सकें। विधवाएँ और परित्यक्ताएँ घर वालों के लिए एक भार रहती हैं, पर वेउन्हें शिक्षा, लोक-सेवा आदि किसी भी क्षेत्र में बढ़ने देने कके लिए बन्धन ढीले नहीं करते। इन्हें अवसर दिया जाय तो अपने समय का सदुपयोग करके अपने व्यक्तिगत जीवन में भारी उत्कर्ष करके नारी रत्नों की श्रेणी में पहुँच सकती हैं और अपनी योग्यता से संसार को वैसा ही लाभ पहुँचा सकती हैं, जैसा अनेक नर-रत्न, महापुरुष पहुँचाते हैं।

भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान की पुनीत बेला में महिलाओं की न्याय-पुकार भी सुनी जानी चाहिए। नारी चाहती है कि उसके बन्धन ढीले किये जायें, उसे बिना पहरेदारों के भी सदाचारिणी रह सकने जितना विश्वासी माना जाय, उसकी शिक्षा की व्यवस्था की जाय ताकि वह मनुष्यता की जिम्मेदारी को समझ सके, उसे जानकारी प्राप्त करने दी जाय ताकि वह पुरुष की परेशानी को सरल करने और उन्नति-प्रगति में सहायक हो सके, उसे योग्य बनने दिया जाय ताकि वह अपने परिवार की आर्थिक सुस्थिरता में हाथ बँटा सके। बदलते हुए युग में नारी अपने को एक जीवित लाश मात्र की स्थिति में रखे जाने से असंतुष्ट है वह भी आगे बढ़कर राष्ट्र-निर्माण और समाज में कुछ योग देना चाहती है। भारतीय संस्कृति में इन सहज आकाक्षाओं के प्रति समुचित सहानुभूति एवं प्रेरणा का तत्व मौजूद है। वर्तमान के अनेक संस्कारों में से ही एक बुराई नारी की अनावश्यक पराधीनता है।

भावी युग में नारी का स्थान

आज नव निर्माण का युग है और इन नव निर्माण में नारी का सहयोग वांछनीय है अथवा यों कहें कि आने वाले युग का नेतृत्व नारी करेगी तो भी अतिशयोक्ति न होगी। नव निर्माण एवं युग-परिवर्तन कहाँ से और कैसे आरम्भ होगा व नारी का उसमें क्या योग रहेगा, इस विषय का अध्ययन करने से पूर्व जरा प्रस्तुत विश्व स्थिति पर दृष्टिपात किया जाय। संक्षेप में आज का मानव, जीवन जिन भीषण परिस्थितियों से गुजर रहा है, उसका अनुमान लगाना भी भयंकर है। आज का वैयक्तिक जीवन, पारिवारिक जीवन, सामाजिक जीवन, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन इतना अशांतिमय एवं अभावग्रस्त हो गया है कि मनुष्य को पलभर को चैन नहीं। तृतीय विश्व-युद्ध के कगार पर खड़ी मानवता विज्ञान को कोस रही है और सुरक्षा एवं शान्ति के लिए त्राहि-त्राहि कर रही है। भौतिकवाद के नाद में एक देश दूसरे देश को, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को हड़पने की ताक में बैठा है, युद्धीय अस्त्र-शस्त्रों की होड़ ने तथा विषैले बमों ने विश्वशान्ति को खतरे में डाल रखा है। जीवन में जो अनास्था आ गई है, उसका कोई अन्त नहीं। जीवन के हर क्षेत्र में हम पिछड़ गये हैं और अध: पतन

की ओर जा रहे हैं। सामाजिक विशृंखलता, नैतिक पतन, राजनैतिक विप्लव, धार्मिक अन्धानुकरण व अधार्मिकता, नैष्ठिक पतन आज के जीवन में घुन की भाँति लग गए हैं।

ऐसी पृष्ठभूमि में आज विश्व की माँग है और वह माँग भारत पूरी कर सकता है। वह माँग है शान्ति की, प्रेम की, सुरक्षा की तथा संगठन की। आज के युग की सबसे बड़ी माँग है- नव निर्माण की, प्रस्तुत परिस्थितियों में आमूल-चूल परिवर्तन एवं क्रान्ति की। आज हम युग-परिवर्तन के प्रहरी बन कर विश्व को शान्ति का दीप दिखाएँगे, फिर से हमें अपने भारतीय ऋषि-मुनियों की परंपरा को जीवित करना होगा, फिर से धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, नैतिक एवं नैष्ठिक पुनरोत्थान की भावना को जन-जन में भर देना होगा। आज हमें भारतीय होने के नाते प्रत्येक नर-नारी को देश के नव निर्माण में प्राण-पण से जुट जाना होगा। इस युग परिवर्तनकारी आन्दोलन में और जागरण की स्वर्णिम बेला में भारतीय नारी का प्रथम उत्तरदायित्व है कि वह आगे कदम उठाए। आज की नारी सजग है, वह स्वतंत्रता, धार्मिकता एवं मर्यादा की प्रहरी है।

आज भारतीय नारी हर क्षेत्र में कार्य कर रही है, वह युग का निर्माण करने के लिए सन्नद्ध है। युग करवट ले रहा है- परिस्थितियों का घटनाक्रम तीव्र गति से घूम रहा है- मानवता के अर्धभाग को छोड़ कर कोई देश व समाज उन्नति नहीं कर सकता। अपने कर्तव्यों एवं अधिकारों के पोषण के लिए भारतीय नारी कटिबद्ध होकर कार्यक्षेत्र में उतर रही है। नारी की शिक्षा का प्रतिशत बढ़ाने के साथ-साथ उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व को ढालना होगा, दासता की शृंखलाओं से मुक्त करना होगा और पुरुष समाज को समझना होगा कि नारी उपभोग एवं वासना की वस्तु नहीं, एक जीती जागती आत्मा है, उसमें भी प्राण है, मान है और है स्वाभिमान की भावना। मनु ने नारा लगाया था- "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता" नारी आज हर कदम पर नई प्रेरणा देगी, उसकी अगम शक्ति को फिर से प्रतिस्थापित करना होगा। वह ममतामयी माँ है, स्नेहमयी भगिनी है, पतिपरायण पत्नी है किन्तु दूसरी ओर वह चण्डी है, दुर्गा है, काली है। नारी ही वीर पुत्रों को जन्म देती है। ध्रुव, प्रहलाद, अभिमन्यु, शिवाजी, राणाप्रताप को जन्म देने वाली माताएँ भारत में ही हुईं, रणचण्डी दुर्गा की भाँति मर्यादा और मान के लिए जूझने वाली क्षत्राणियाँ और वीर झाँसी की रानी यहीं हुईं, किन्तु हम भूल गये उन सतियों के तेज को, उन वीर प्रसविनी जननियों को, उन कुल ललनाओं को किन्तु नारी का तेज आभूषणों की चमक व रेशमी परिधानों में धूमिल पड़ गया। इस चतुर्मुखी निर्माण की बेला में नारी को प्रेरणा लेनी होगी, उसमें फिर से आत्मबल जाग्रत करना होगा। जो आज की शिक्षित नारियाँ हैं, वे आर्थिक स्वतंत्रता एवं पाश्चात्य सभ्यता को अपनाकर भारतीय गौरव को कलुषित न करें, उसकी गुप्त शक्तियों का ज्ञान करावें। देश में कन्याओं की शिक्षा पर लड़कों की शिक्षा से अधिक बल दिया जाय। ये भावावेश की बात नहीं, यह एक स्वयं सिद्ध सत्य है। नारियाँ शिक्षित होंगी तो पुरुष समाज तो स्वतः सुधर जायेगा, माताओं और पत्नियों के संस्कार से पुरुष समाज अपने आप सुसंस्कृत होगा। देश की मान-मर्यादा की रक्षा करने वाली नारी जब नवविहान का स्वर गुंजा देगी तो कोई सन्देह नहीं कि हमारे देश में आज फिर हरिश्चन्द्र, प्रताप, राम, भीम और अर्जुन पैदा होंगे।

आज सम्पूर्ण नारी जाति का कर्तव्य है कि निन्दनीय वातावरण को छोड़कर, परवशता की ग्रन्थियाँ काटकर आगे बढ़े और समाज सुधार का, नैतिक उत्थान का, धार्मिक पुनर्जागरण का सन्देश मानवता को दे। पुरुषों से कन्धा मिलाकर घर और बाहर दोनों क्षेत्रों में नारी को कार्य करना होगा, यही आज भारत की माँग है। आज भारत की माँग है-अध्यात्म एवं वैदिक धर्म का पुनरुत्थान और भारतीय धर्म एवं संस्कृति का पुनर्स्थापन। जब घर-घर में पुनः वेदों की वाणी गूँज उठेगी तब भारत फिर से अपने प्राचीन जगद्गुरु के गौरव को प्राप्त करेगा। हर क्षेत्र में, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक, नैतिक, शैक्षणिक एवं नैष्ठिक पुनर्संगठन करते हुए आज की शिक्षित नारी जिस पथ का निर्माण करेगी, वह पथ बड़ा सुगम एवं आध्यात्मिक होगा। फिर से भारत में ऋषियों की परंपरा जाग्रत होगी, फिर से नारी की मातृ-शक्ति रूप में पूजा होगी और हम सम्पूर्ण विश्व को एक मौलिक प्रकाश एवं नवीन सन्देश देंगे। नारी ही घर-घर में ऐसा वातावरण उत्पन्न कर सकती है जो भारतीय संस्कृति पर आधारित हो। वह आज सबला बनकर चेतना, प्रेरणा, मुक्ति एवं आध्यात्मिकता की साकार मूर्ति के रूप अवतरित हो रही है। नारी का सहयोग परिवार में, समाज में आरम्भ होगा तो एक ऐसा वातावरण बना होगा, जहाँ फिर से दधीचि, कर्ण और राम पैदा होंगे। नारी की सबल प्रेरणा पुरुष को

१

नवशक्ति से भर देगी किन्तु इसके लिए आवश्यक है कि उसे आत्म-बल, चरित्र-बल, तप-बल में महान बनाना होगा ।

नारी विश्व की चेतना है, माया है, ममता है, मोह और मुक्ति है, किन्तु समय-समय पर उसकी अवतारणा भिन्न-भिन्न रूपों में होती है । आज हमें उन क्षत्राणियों की आवश्यकता है, जो समय पड़ने पर समरांगण में उतर पड़ें, साथ ही यह न भूलना चाहिए कि उसे पारिवारिक इकाई से विस्तृत क्षेत्र की ओर बढ़ना है । गहनों से लदी रहने वाली भोग-विलासिनियों की आवश्यकता नहीं, आज तो ऐसी कर्मठ महिलाओं की आवश्यकता है, जो पुरुष समाज एवं जाति तथा संपूर्ण देश को भारत की संस्कृति का पावन संदेश देकर देश में, घर-घर में फिर से प्रेम, त्याग, बलिदान, पवित्रता एवं माधुर्य का संदेश दें । अफलातून नामक यूनानी दार्शनिक ने कहा था, नारी स्वर्ग और नरक दोनों का द्वार है । बस, आज फिर से नारी जाति कटिबद्ध हो जाये और अपने बल से पृथ्वी पर ही स्वर्ग का अवतरण करे।

राष्ट्रीयता में नारियों का स्थान

जिस संकुचित वातावरण में रहकर स्त्रियाँ स्वयं संकुचित विचारों वाली बन गईं और जिस वातावरण के कारण पुरुषों में भी स्त्रियों के बारे में संकुचित विचार पैदा हो गये, उन सबको मिटाकर आज सुधरे हुए संसार में यह बात सिद्ध की जा चुकी है कि स्त्री और पुरुष दोनों मानव समाज के दो अंग हैं, जिन पर समाज की समान जिम्मेदारी है।

मनुष्य जीवन में स्त्री की जो जिम्मेदारियाँ हैं, उनको अंगीकार करके हमें स्त्रियों को अपना विशिष्ट भाग प्रदान करना है। अब तक गृह जीवन स्त्रियों के हाथ में था और बाहर का सारा व्यवहार पुरुषों के हाथ में था । इसके दो परिणाम स्पष्ट रूप से आज हमारे सामने हैं । एक तो यह कि आज समाज में पुरुषों के सभी व्यवहारों को एक प्रकार की श्रेष्ठता और प्रतिष्ठा प्राप्त है और स्त्रियों के काम को जनाना समझकर उन्हें हीन दृष्टि से देखा जाता है । आज भी कहीं बाहर जाकर काम करने में स्त्रियाँ विशेष गौरव अनुभव करती हैं जब कि घर में रहने वाली और घर सम्हालने वाली बहनें अपने मन में यही समझती हैं कि हम कुछ नहीं करतीं और हमारा जीवन व्यर्थ ही बीत रहा है।

दूसरा परिणाम यह हुआ कि बाहर के सब व्यवहारों पर पुरुषों की छाप पड़ी हुई है। आज हम जिस जगत में रह रहे हैं, वह आदि से अन्त तक पुरुषों की सृष्टि है। व्यापार, व्यवहार, कानून-कायदा, राजनीति, धर्म-नीति, उद्योग-धन्धे, सभी कुछ पुरुषों के बनाये हुए हैं । स्त्रियाँ आज इन कामों में कितना ही भाग क्यों न लें तब भी वे पुरुष बनकर यानी पुरुषों द्वारा ठहराये हुए तरीके से, उनके द्वारा विकसित की गई पद्धति से ही, उन सब कामों को करती हैं । स्त्रियाँ आज कितनी ही आगे क्यों न बढ़ जायें, कितने ही विभिन्न क्षेत्रों को क्यों न पदाक्रांत कर लें और पुरुषों की बराबरी करने का कितना ही आत्म-संतोष क्यों न अनुभव करें तथापि आखिरकार उनको रहना तो उसी दुनियाँ में हैं, जिसका विधाता पुरुष है।

जो काम स्त्रियों को कुदरत की ओर से सौंपा गया है और जिसे वे भली-भाँति कर सकती हैं, उसी बाल शिक्षा के काम को यदि वे पूरी तरह सम्हाल लें, तो वे एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी को सँभाल लेंगी ।

स्त्रियाँ कह सकती हैं कि इसमें आपने नई बात क्या कही ? आज न जाने कितने युगों से हम घर की और बच्चों की ही गुलामी करती आयी हैं और रात-दिन उन्हीं का पाखाना-पेशाब उठाती हैं, फिर उसी को करने में विशेषता क्या है ? पहली विशेषता तो भावना है । नारियों को समझना चाहिए यह काम सिर पर आकर पड़ा हुआ कोई बोझ नहीं है और पुरुष जितने भी काम करते हैं उनमें से किसी से किसी प्रकार हल्का नहीं है। इस भावना से यदि इन कामों को करें तो इनमें रस के घूँट पी सकती हैं । इसमें संदेह नहीं कि भावना के रंग से रँग कर हमारे सब काम अधिक सजीव और प्रकाशित हो उठेंगे ।

दूसरी विशेषता यह हैं उन्हीं कामों को करने के तरीकों की । परम्परागत तरीकों से बच्चों की परवरिश करना एक बात है और इस विषय के शास्त्रों का अध्ययन करके स्वयं प्रयोगों द्वारा उन तरीकों में उन्नति करना दूसरी बात है । यदि स्त्रियाँ बालसंगोपन सम्बन्धी शास्त्रों का अध्ययन करें, गहराई के साथ इन विषयों का चिन्तन और मनन करें और इस प्रकार अपने अनुभवी विचारों की भेंट समाज के चरणों में चढ़ाती रहें, तो यह काम आज जितना हीन और गौण माना जाता है, उतना न स्वयं स्त्रियों को ही हीन और गौण मालूम होगा और न पुरुषों को ही गौण लगेगा ।

यदि हमारी बहनें बाल-मनोविज्ञान, बाल-शिक्षा शास्त्र, बाल-शरीर और बाल-मानस के विकास का और ऐसे अन्य विषयों का गंभीर अध्ययन करके तदनुसार इस दिशा में भली-भाँति करम करने लगें तो पुरुषों के दिल में कभी ख्याल उठेगा ही नहीं कि चूँकि स्त्रियाँ उनकी तरह बाहर जाकर नौकरी नहीं करतीं, इसलिए वे कोई कम महत्व का काम करती है । एक कहावत है कि 'जिसके हाथ में पालने की डोरी है, वही संसार का उद्धारकर्त्ता भी है।' यह कहावत या तो केवल लेखों, निबन्धों में प्रयुक्त होती है अथवा मातृ दिन के उत्सव पर दोहरा दी जाती है, पर यदि बहनें मन में धार लें तो कल यह चीज पूरे अर्थों में सत्य और सार्थक हो सकती हैं ।

दूसरी बात यह है कि संसार के मानवी व्यवहारों में स्त्री को स्त्री के नाते ऐसा परिवर्तन करना चाहिए जो उसके विचारों और वृत्ति के अनुकूल हो । आजकल जिस तरह व्यवहार देश-देश और जाति-जाति के बीच हो रहा है उसमें कई प्रकार का जंगलीपन भरा हुआ है, पशुता भी है, हृदय शून्यता और अमानुषता भी है, पुरुषों की इस दुनियाँ में यह एक सामान्य धारणा बनी हुई है कि जहाँ-जहाँ व्यवहार का संबंध आता है, वहाँ-वहाँ उसकी नींव असत्य पर ही बनी होनी चाहिए । मनुष्य को दुनियाँ में यही सोचकर चलना चाहिए कि जो कुछ है सो बुरा ही बुरा है। जितने भी हक या अधिकार पाने हैं, वे सब लड़-झगड़ कर ही पाने हैं । ये और ऐसे अन्य अनेक अलिखित नियम आज मनुष्यों के आपसी व्यवहार में प्रचलित हैं ।

यह सच है कि यदि स्त्रियाँ पुरुषों का अनुकरण करना छोड़ दें और ज़ो कुछ उनके मन को अच्छा लगे वैसा ही करने लगें तो मनुष्यों के व्यवहार में वे बहुत कुछ परिवर्तन कर सकती हैं और उसको अभीष्ट रूप भी दे सकती हैं । इसमें शक नहीं कि जो संस्कार पीढ़ियों और सदियों पुराने हैं, उनके दूर होने या बदलने में काफी समय लगेगा । फिर भी दुनियाँ में ऐसी कोई चीज नहीं, जो असंभव हो, आजकल की स्त्री रोगों से ग्रसित हैं । एक रोग तो यह है कि वह चाहें या न चाहें, तो भी उनका मन यह मानना चाहता है कि पुरुष जो कहता है वही ठीक है, पुरुषों के ठहराए हुए नियम, उनके बनाए हुए विधि-विधान, उनके तैयार किए हुए कानून-कायदे और उनके द्वारा प्रचारित रीति-रिवाज, जो कुछ भी हैं सो सब उसको सोलहों आने ठीक मालूम होते हैं ।

स्त्री का दूसरा रोग है-तंगदिली अर्थात् हृदय की संकुचितता । आज स्त्री महान बातों का उतनी ही महानता के साथ विचार नहीं कर पाती । उसके लिए यह बहुत जरूरी है कि वह अपने हृदय को विशाल बनावे और दुनियाँ को विशाल दृष्टि से देखे ।

यद्यपि नर और नारी भगवान की सृष्टि में समान महत्व रखते हैं, तो भी प्रकृति ने नारी पर संतानोत्पादन तथा उसके पालन के रूप में जो विशेष उत्तरदायित्व रखा है, उसके कारण उसका महत्व अवश्य बढ़ जाता है । नारी का कर्तव्य है कि सबसे पहले अपने इस उत्तरदायित्व को भली प्रकार और अधिकार पूर्वक निबाहे । वह आज अगर अबला बनी है और अनेक बार उसे पुरुष का दुर्व्यवहार सहन करना पड़ता है, तो इसमें कुछ त्रुटि उसकी भी है । वह संतान के प्रति, विशेषत: पुत्रों से आवश्यकता से अधिक मोह रखती है और उनको सुयोग्य और कर्तव्य परायण बनाने की तरफ कम ध्यान देती है। इसी का परिणाम है कि पुरुषों में अनेक दोष पैदा हो जाते हैं और वे मातृ जाति के प्रति गर्वित व्यवहार करने में भी संकुचित नहीं होते । यदि नारियों ने अपने को पुरुष की दासी का पद ग्रहण करने के बजाय उसकी उसकी निर्मात्री के पद का कर्तव्य पालन किया होता तो आज संसार की दशा कुछ और ही होती।

७. गृह लक्ष्मी की प्रतिष्ठा

गायत्री मंत्र का सातवाँ अक्षर 'रे' गृह लक्ष्मी के रूप में नारी की प्रतिष्ठा की शिक्षा देता है-

रे रेव निर्मला नारी पूजनीया सतां सदा ।
यतो हि सैव लोकेऽस्मिन् साक्षाल्लक्ष्मी मता बुधै ॥

अर्थात्- ''नारी सदैव नदी के समान निर्मल है । वह पूजनीय है, क्योंकि संसार में उसे साक्षात् लक्ष्मी माना गया है ।''

जैसे नर्मदा का जल सदा निर्मल रहता है, उसी प्रकार ईश्वर ने नारी को स्वभावत: निर्मल अन्त:करण दिया है । परिस्थिति के दोषों के कारण अथवा दुष्ट संगति के प्रभाव से उसमें विकार पैदा हो जाते हैं, पर यदि कारणों को बदल दिया जाय तो नारी हृदय पुन: अपनी शाश्वत निर्मलता पर लौट आता है ।

नारी लक्ष्मी का अवतार है । भगवान मनु स्पष्ट शब्दों में कह गये हैं कि जहाँ नारी का सम्मान होता है, वहाँ देवता निवास करते हैं । अर्थात् उस स्थान में सुख, शान्ति का निवास रहता है । सम्मानित और संतुष्ट नारी अनेक

सुविधाओं और सुव्यवस्थाओं का घर बन जाती है, उसके साथ गरीबी में भी अमीरी का आनन्द बरसता है। धन, दौलत तो निर्जीव लक्ष्मी है, किन्तु स्त्री तो लक्ष्मी की सजीव प्रतिमा है। उसके समुचित आदर, सहयोग और संतोष का सदैव ध्यान रखना चाहिए।

नारी में नर की अपेक्षा दयालुता, उदारता, सेवा, परमार्थ और पवित्रता की भावनाएँ अधिक होती हैं। उसका कार्य क्षेत्र संकुचित करके घर तक ही सीमाबद्ध कर देने के कारण संसार में स्वार्थपरता, निष्ठुरता, हिंसा, अनीति और विलासिता की बाढ़ आई है। यदि राष्ट्र और समाज की बागडोर नारियों के हाथ में हो तो उनका मातृ-हृदय अपने सौजन्य और सहृदयता के कारण सर्वत्र सुख-शान्ति की स्थापना कर सकता है।

नारी के द्वारा अनन्त उपकार और असाधारण सहयोग प्राप्त करने के उपरान्त नर का यह पवित्र उत्तरदायित्व हो जाता है कि वह उसे स्वावलम्बी, सुशिक्षित, स्वस्थ, प्रसन्न और संतुष्ट बनाने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहे। उसके साथ कठोर अथवा अपमानजनक व्यवहार किसी प्रकार उचित नहीं।

नारी के सहयोग के बिना नर अपूर्ण है

प्रत्येक जीव के जीवन में यौवन के उभार के समय एक ऐसा अवसर आता है, जब वह धीरे-धीरे इस बात का अनुभव करने लगता है कि उसके पास कुछ वस्तुओं, गुणों, स्वाभाविक विशेषताओं की कमी है। पुरुष में यौवन का उभार आने पर जहाँ पुरुषत्व विकसित होता है, वहाँ उसके अन्तर्मन में कामवेग भी उत्पन्न होता है। वह किसी पर अधिकार करने के लिए प्रेमोपासना करने लगता है, पुरुष स्त्री की ओर सहज भाव से रस लेने लगता है। उसमें उसे कुछ अजीव आकर्षण प्रतीत होने लगता है। उसके हाव-भाव उसे आकर्षक लगते हैं। इसी प्रकार नारी जीवन में भी प्रणय की गुप्त इच्छाएँ धीरे-धीरे विकसित होने लगती हैं। अपनी कोमलता, तितिक्षा, कला, लज्जा इत्यादि के कारण वह मनोभावों के आत्म समर्पण के लिए उन्मुख होती है। वह अपने भेद गुप्त रखने में कुशल होती है किन्तु उसका सहज ज्ञान क्रमशः प्रकट होने लगता है। नर-नारी की ये स्वभावगत विशेषताएँ हैं, जो समाज का निर्माण करती हैं।

पृथक-पृथक स्त्री-पुरुष अधूरे और अपूर्ण हैं। यदि स्त्री-पुरुष पृथक रहेंगे, तो वे समाज के लिए अनुपयोगी, अपरिपक्व, अविकसित रहेंगे। स्त्री और पुरुष दोनों के मिलने से नर-नारी की स्वाभाविक अपूर्णता दूर होती हैं। एक-दूसरे की कमी जीवन-सहचर प्राप्त करने से ही दूर हो पाती है। जैसे धनात्मक और ऋणात्मक तत्वों के मिलने से विश्व बनता है, वैसे ही स्त्री और पुरुष के मिलने से 'मनुष्य' बनता है। यही पूरा मनुष्य, समाज के उत्तरदायित्वों को पूरा करता है।

विवाह की उपयोगिता

आधुनिक मनोविज्ञान इच्छाओं को पूरा करने का मार्ग दर्शाता है, उनका दमन मानसिक बीमारियाँ उत्पन्न करता है। इसी से अनेक बार मानसिक नपुंसकता उत्पन्न होती है। मनुष्य के अन्तस्थल में अनेक वासनाएँ दब कर अन्तःप्रदेश में छिप जाती हैं। इनसे समय-समय पर अनेक बेढंगे व्यवहार, गाली देने की प्रवृत्ति, स्मरण-विस्मरण, पागलपन तथा प्रलाप, हिस्टीरिया आदि अनेक मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। मानसिक व्यापारों में एक विचित्र प्रकार का संघर्ष चला करता है। मन की अनेक भावनाएँ विकसित नहीं हो पातीं, मनुष्य शिकायत करने की मनोवृति का शिकार बना रहता है। दूसरे के प्रति वह अनुदार रहता है, उसकी कटु आलोचना किया करता है। अधिक उग्र या असन्तोषी, नाराज प्रकृति, तेज स्वभाव का कारण वासनाओं का समुचित विकास एवं परिष्कार न होना ही है। इस प्रकार का जीवन गीता में निंद्य माना गया है।

प्रत्येक स्त्री-पुरुष के जीवन में एक समय ऐसा आता है, जब उसे अपने जीवन साथी की तलाश करनी होती है। आयु, विचार, भावना स्थिति के अनुसार सद्‌गृहस्थ के लिए उचित जीवन साथी की तलाश होनी चाहिए। उचित शिक्षा एवं आध्यात्मिक विकास के पश्चात् किया हुआ विवाह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ठीक है। आजन्म कौमार्य या ब्रह्मचर्य महान है। उनका फल अमित है किन्तु साधारण स्त्री-पुरुषों के लिए यह सम्भव नहीं है। इससे मन की अनेक कोमल भावनाओं का उचित विकास एवं परिष्कार नहीं हो पाता। वासना को उच्च स्तर एवं उन्नत भूमिका में ले जाने के लिए एक-एक सीढ़ी चढ़कर चलना होता है। एक सीढ़ी लाँघ दूसरी पर कूद जाना कुछ इच्छाओं का दमन अवश्य करेगा, जिसके फलस्वरूप मानसिक व्याधि

हो सकती है। अतः प्रत्येक सीढ़ी पर पाँव रखकर उन्नत जीवन पर पहुँचना ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए।

एक पिता तथा माता के हृदय में जो नाना प्रकार के स्वर झंकृत होते हैं, उन्हें भुक्त-भोगी ही जान सकता है। दो हृदयों के पारस्परिक मिलन से जो मानसिक विकास सम्भव है, वह पुस्तकों के शुष्क अध्ययन से नहीं प्राप्त किया जा सकता। विवाह काम वासना की तृप्ति का साधन मात्र है, ऐसा समझना भयंकर भूल है। वह तो दो आत्माओं, दो मस्तिष्कों, दो हृदयों और साथ ही साथ दो शरीरों के विकास, एक-दूसरे में लय होने का मार्ग है। विवाह का मर्म दो आत्माओं का स्वरैक्य है, हृदयों का अनुष्ठान है, प्रेम, सहानुभूति, कोमलता, पवित्र भावनाओं का विकास है। यदि हम चाहते हैं कि पुरुष-प्रकृति तथा स्त्री-प्रकृति का पूरा-पूरा विकास हो, हमारा व्यक्तित्व पूर्ण रूप से खिल सके, तो हमें अनुकूल विचार, बुद्धि, शिक्षा एवं धर्म वाली सहधर्मिणी चुननी चाहिए। उचित वय में विवाहित व्यक्ति आगे चल‍ॅ र प्रायः सुशील, आज्ञाकारी, प्रसन्नचित्त, सरल, मिलनसार, साफ-सुथरे, शान्तचित्त, वचन के पक्के, सहानुभूतिपूर्ण, मधुरभाषी, आत्म विश्वासी और दीर्घजीवी पाए जाते हैं।

विवाह आत्म-विकास का प्रधान साधन है

हिन्दू धर्म में जिन षोडश संस्कारों का विधान है, उनका ध्येय मनुष्य को पशुत्व से देवत्व की ओर उन्मुख करना है। वह जैसे-जैसे बड़ा होता है उसका आत्म-भाव उभरता है और आत्म विस्तार प्रारम्भ होता है। ज्यों-ज्यों वह आत्म-दमन करता है, अपने ऊपर नियन्त्रण लगाता है, त्याग करता है, त्यों-त्यों उसमें आत्मीयता का भाव बढ़ता जाता है। बड़ा होने पर उसका विवाह संस्कार होता है। यह होने पर मनुष्य के ऊपर अनेक जिम्मेदारियाँ आ पड़ती हैं। यहाँ तो देह-भाव-विलोपन और आत्म-बलिदान का पाठ पूरा-पूरा सीखना पड़ता है। कालान्तर में जो सन्तान प्राप्त होती है, उसकी सेवा बिना आत्म-त्याग और बलिदान के सम्भव नहीं। साथ-साथ अपने जीवन सहचर के व्यक्तित्व में जो अपने व्यक्तित्व को मिलाना होता है-वह भी बिना आत्मोत्सर्ग के सम्भव नहीं। कदाचित् अपने जीवन-सहचर के व्यक्तित्व में अपने व्यक्तित्व को हमें विलीन भी करना पड़ता है- 'होमना भी पड़ता है और यह देह-भाव को बनाए रखकर नहीं बन सकता। इस जीवन में तो इच्छा निरोध, आत्म-संयम की पूरी-पूरी साधना करनी पड़ती हैं, क्योंकि बिना इसके अपने जीवन-सहचर के साथ पूर्णतया घुल-मिल जाना नहीं बनता। अतएव विवाह में आत्म विलीनीकरण परमावश्यक है और यह आत्म-विलीनीकरण देह-भाव का यह उच्छेद-पशुत्व को दबाने और देवत्व को जगाने का एक साधन है। अतएव विवाह पशुत्व से देवत्व की ओर बढ़ने का एक मार्ग है।'

विवाह भौतिक दृष्टि के अतिरिक्त, आध्यात्मिक जीवन के क्रमिक विकास की दृष्टि से भी जीव के बाल्यकाल के पश्चात् स्वाभाविक रूप से ही आवश्यक है। बाल्यकाल के उपरान्त आध्यात्मिक सोपान पर आगे चढ़ने के लिए जो अगली सीढ़ी हो सकती है, वह विवाह-बन्धन ही है। बाल्यकाल के उपरान्त एकदम संन्यास धर्म में पहुँचना सबके लिए सरल नहीं और न अपेक्षित ही है। बाल्यकाल में सदा खाते-पीते, सोते-जागते सुखों का उपभोग ही होता है-इन्द्रियों की तृप्ति का प्रयत्न ही चलता रहता है। इच्छाओं का निरोध नहीं होता, किन्तु इसके ठीक विपरीत संन्यास में एकदम त्याग ही त्याग है। अतएव विवाह ही एक ऐसी बीच की अवस्था है जो मनुष्य को विरक्ति और भोग की अवस्था के ठीक बीचों-बीच रखकर विरक्ति और त्याग के साथ-साथ ही सुख-भोग की शिक्षा देती है। मध्यम मार्ग इस जीवन में ही संभव है। राग-द्वेष से विमुक्त होकर सुखोपभोग करना इस जीवन के अतिरिक्त न तो बाल्यावस्था में संभव है और न संन्यासावस्था में। इसलिए विवाह एक पवित्र बन्धन है और विवाहित जीवन को योग्यतापूर्वक निबाहने में ही मनुष्य का आध्यात्मिक कल्याण है।

सफल विवाहित जीवन ईश्वर से सम्मिलन की पूर्वावस्था है। जायसी आदि संतों ने ईश्वर-प्रेम कैसा होना चाहिए उसकी एक क्षुद्र झाँकी पति-पत्नी के प्रेम को माना है। जब लौकिक प्रेम के निबाहने में इतने बलिदान की आवश्यकता होती है तो ईश्वर प्रेम तो फिर सिर का सौदा है, सिर हथेली पर रखकर चलना है। अतएव लौकिक प्रेम ही ईश्वर से सामीप्य लाभ करने का मार्ग प्रशस्त करता है। तैत्तरीयोपनिषद् में तो ''प्रजातंतु मा व्यवच्छेत्सीः'' ऐसा उपदेश है। अतएव जहाँ पवित्र जीवन है, वहाँ पापमय उत्पत्ति कहाँ से हो सकती है? फिर हम ब्रह्मज्ञान हो जाने पर भी सत्यकाम जाबाल और समुग्वारैक्य जैसे ब्रह्म ज्ञानियों को भी विवाह करते देखते हैं। इससे भी विवाहित

जीवन की पवित्रता ही प्रतिपादित होती है। केवल आत्म-संयम का होना न होना ही विवाहित जीवन को पवित्र या अपवित्र बना देता है। पुनश्च भगवान कृष्ण ने भी तो कहा है "धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ" अर्थात् 'प्राणियों में स्थित मैं धर्म अविरुद्ध काम हूँ।'

ऋग्वेद का वचन है-

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसाहसति ॥

अर्थात्- "हमारा आचरण समान हो, हमारे हृदय समान हों, हमारे मन समान हों और हम एक-दूसरे की सहायता के लिए सदा तत्पर रहें।" यदि हम अपने जीवन-सहचर के साथ भी एकात्मकता और अभिन्नता का अनुभव नहीं कर सकते तो वेद में वर्णित समाज के साथ इतनी अभिन्नता हो सकना तो बहुत दूर की बात है। इस दृष्टि से भी विचार करें तो विवाह बन्धन उत्कृष्ट सामाजिक तथा आध्यात्मिक जीवन यापन करने के लिए उत्तम शिक्षण-स्थल है। विवाह आध्यात्मिक विकास के लिए सुअवसर प्रदान करता है।

विवाहित जीवन बहुतों के लिए दुःखमय प्रतीत होता है। किन्तु इसका कारण केवल आत्म-संयम और पुरुषार्थ की कमी है। कठिनाइयाँ केवल हमारी चरित्रगत तथा पुरुषार्थ सम्बन्धी न्यूनताओं की ओर ही संकेत करती हैं और मानों हमें उन पर विजय प्राप्त करने के लिए उद्‌बोधित करती है। जो लोग पलायन-मनोवृति लेकर विवाह-बन्धन से बच निकलते हैं, वे दुःख और कठिनाइयों से भी भले ही बच निकलें, किन्तु कठिनाइयों से बच निकलना ही जीवन का लक्ष्य नहीं है। इससे उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती। जीवन का लक्ष्य है अपनी आत्म-शक्ति बढ़ाना और अपनी उन चरित्रगत तथा पुरुषार्थ सम्बन्धी न्यूनताओं को दूर करना, जो कठिनाइयों को जन्म देती हैं और जिनके रहते हुए कठिनाइयाँ प्रतीत होती हैं। विवाहित जीवन की उपेक्षा कर तथा अपनी चरित्रगत न्यूनताओं के ज्ञान से अपरिचित रहकर पूर्ण आनन्द भोगने का दावा करना भ्रम मात्र है। पूर्ण आनन्द तो पूर्णतया पुरुषार्थी और दोष-मुक्त होने पर भी प्राप्त हो सकता है। विवाह पुरुषार्थी और पूर्णतया दोष-मुक्त होने का बढ़िया साधन है। अतएव जिनके जीवन में कोई दोष नहीं है और जो पूर्ण पुरुषार्थी हैं केवल वे ही इस बीच की सीढ़ी-विवाहित जीवन की उपेक्षा करने के अधिकारी हैं, क्योंकि उनको विवाहित जीवन फल आत्म-विजय पहले प्राप्त ही रहता है।

मनुष्य ने अपने विकास काल में जिस सर्वोत्तम तत्व को विकसित किया है, वह माता-पिता का हृदय ही है। इसमें जिस सुकोमलता का निवास है, वह मनुष्य को देवोपम बना सकती है। इसी के कारण मनुष्य इस हिंसक विश्व में सर्वोपरि सुशोभित हो रहा है। इस प्रेममय हृदय की प्राप्ति के लिए विवाह ही द्वार को उन्मुक्त करता है।

हमारा वैवाहिक जीवन कैसे सुखी हो सकता है?

विवाह को आत्म-विकास और चरित्र-विकास का एक बड़ा साधन माना गया है। इसमें सन्देह नहीं कि विवाह हमारी जीवन-यात्रा में एक बहुत बड़े मोड़ या परिवर्तन की तरह होता है। इसलिए यदि उसे पूर्ण सफल और सुखी बनाना है तो उसके संबंध में पहले ही से पर्याप्त जानकारी प्राप्त कर लेना हमारा कर्तव्य है। खेद है कि आजकल अनेक नवयुवक और नवयुवतियाँ इस नियम पर ध्यान न देकर क्षणिक आवेश में अथवा ऊपरी टीमटाप को देखकर विवाह सूत्र में आबद्ध हो जाते हैं। जिसका अन्तिम परिणाम स्वभावतः दुखदाई होता है।

सफल विवाहित जीवन मनुष्य के सुख की एक आधार शिला है। यदि सच्चा दाम्पत्य प्रेम हुआ तो वह दोनों की अन्तरात्मा का केवल विकास ही नहीं करता, वरन् उसमें निहित उस अमूल्य भावना की सिद्धि का कारण होता है जो पुरुष नारी के प्रति तथा नारी पुरुष के प्रति अनुभव करती है। वास्तव में सच्चे दाम्पत्य प्रेम का आधार ही सुखी वैवाहिक जीवन है। अब हमें देखना है कि इस सुखी वैवाहिक जीवन के मूल तत्व क्या हैं? सच तो यह है कि वैवाहिक आनन्द का कोई निश्चित मापदण्ड नहीं है और न कोई ऐसा निरपेक्ष नियम है जिसके अनुसार इस अत्यन्त कलापूर्ण क्षेत्र में मानवीय सम्बन्धों का नियन्त्रण होता हो। अनेक स्त्री और पुरुष ऐसे जीवन में भी सुखी रहते हैं जो अन्य स्त्री-पुरुषों के दुःख और निरुत्साह का कारण बन जाता है। कई दम्पत्ति सन्तान के अभाव में दुःखी हैं, तो कई बिना सन्तान के ही पूर्ण सुखी हैं। कई अपनी गरीबी में सुखी हैं तो कइयों की आर्थिक अवस्था ही उनके दुःख की जड़ है। शारीरिक प्रतिकूलता जहाँ एक दम्पत्ति के दुःख का कारण है, वहीं दूसरे के सुन्दर सहयोग का आधार है। अनेक बातें ऐसी हैं, जिनको वैवाहिक जीवन के आरम्भ में कोई महत्व नहीं दिया जाता, परन्तु समय

बीतने पर वे ही सुख या दु:ख का कारण बन जाती हैं । अनेक दम्पत्ति जो आरंभ में सब प्रकार से सुखी होते हैं बाद को दु:खी रहने लगते हैं, क्योंकि मनुष्यों का मानसिक और आध्यात्मिक विकास विभिन्न गतियों से होता है ।

उपरोक्त बातों के होते हुए भी सुखी वैवाहिक जीवन की कुछ मौलिक आवश्यकताएँ हैं और वे इस प्रकार हैं- वैवाहिक बन्धन में बँधने वाले दोनों साथियों में एक-दूसरे के आत्म-सम्मान की ठोस बुद्धि, मानसिक परिपक्वता, शारीरिक स्वास्थ्य, दृष्टिकोण में मनोवैज्ञानिक स्वतंत्रता, प्रेमकला तथा लैंगिक ज्ञान, पारिवारिक उत्तरदायित्व की परिपक्व भावना, वस्तुस्थिति के अनुकूल आचरण करने की योग्यता, काल्पनिक आदर्श से मुक्ति, विस्तृत एवं उदार मानवीय प्रवृत्ति तथा सहयोग के आधार पर आगे बढ़ने, कष्ट उठाने और जीवन-सुख में भाग लेनेकी क्षमता आदि। ये ही दिन-प्रतिदिन की वैवाहिक समस्याओं को सफलतापूर्वक सुलझाने के मूल मन्त्र हैं । अपने वैवाहिक साथी की परिस्थिति से पूर्ण आत्मीयता तथा उसे निरन्तर उत्साहित करते रहने की तत्परता, दाम्पत्य जीवन की साधारण बाधाओं को सहज ही में दूर कर देती है। साथ ही यदि दोनों समान रूप से शिक्षित हुए और दोनों में समाज के लिए उपयोगी काम-धन्धों में लगने की समान भावना, समानता हुई तो सोने में सुगन्ध आ जाती है । अन्त में थोड़ी बहुत आर्थिक स्वतंत्रता और धार्मिक तथा सामाजिक साम्यता यदि उपलब्ध हो, तो वह वैवाहिक जीवन को सुखद बनाने में बड़े ही सहायक होते हैं ।

परन्तु बहुत कम ऐसे व्यक्ति हुए हैं, जो उपरोक्त आदर्श साधनों के साथ विवाह सम्बन्ध में प्रवेश करते हैं । यही कारण है कि जीवन में हमें अनेक बेजोड़ गठ-बन्धन जैसे किसी निर्दयी पुरुष और अबला स्त्री में, किसी जबरदस्त मर्दानी और स्त्रैण पुरुष में, किसी स्वतंत्र एवं साहसी पुरुष तथा कायर एवं मूर्ख स्त्री में, किसी स्वस्थ और मोटी स्त्री और सूखे हुए किताबी कीड़े पुरुष में, किसी बालिका और वृद्ध में, किसी अशिक्षित और गँवार स्त्री और शिक्षित पुरुष में, किसी सुन्दर युवक और कुरूप स्त्री या सुन्दर स्त्री और कुरूप पुरुष में देखने को मिलते हैं ।

अब यदि हम वैवाहिक असफलता के कारणों पर किंचित दृष्टिपात करें तो देखेंगे कि बेजोड़ विवाह न होने पर भी लैंगिक विज्ञान और प्रेम कला की अनभिज्ञता वैवाहिक असफलता का एक प्रधान कारण है। जीवन के आरम्भ से ही हमें चलने, बोलने अभिवादन करने तथा कायदे के कपड़े पहिनने आदि की शिक्षा दी जाती है, हमारी पढ़ाई-लिखाई के साथ-साथ हमें खेलने-कूदने, लोगों से मिलने-जुलने तथा अन्य सामाजिक शिष्टाचारों की शिक्षा दी जाती है । जीविकोपार्जन करके हम अपना निर्वाह कर सकें, इसके लिए कुछ उद्योगों की भी शिक्षा हमें दी जाती है, परन्तु शायद ही कोई ऐसा पुरुष या स्त्री हो, जिसे किसी कुशल शिक्षक द्वारा इस बात की शिक्षा दी गई हो कि एक सफल प्रेमी, आदर्श पति अथवा पत्नी कैसे बना जा सकता है ।

हमारे आधुनिक जीवन का अभिशाप यह है कि अश्लील आख्यानों से भरे हुए उपन्यासों, कामोद्दीपक चित्रों और लेखों से पूर्ण समाचार.पत्रों तथा लम्पटता पूर्ण दृश्यों में भरे हुए नाटकों और चलचित्रों की प्रबल धारा में बहकर हम अपने नौजवानों का दिमाग अनेक गलत धारणाओं से भर ही नहीं देते, वरन् उनकी स्वाभाविक एवं सामान्य काम-वृत्ति को बुरी तरह उत्तेजित और विकृत भी बना देते हैं । जहाँ एक तरफ हम अपने हाथों इतने उत्तेजित वातावरण की सृष्टि करते हैं, वहाँ दूसरी तरफ लैंगिक-ज्ञान (सैक्स) के ऊपर एक गुप्त और अपवित्रता का झूठा पर्दा डालकर अपने बच्चों को जीवन की इस अमूल्य जानकारी से वंचित रखते हैं । जिस समय लड़की को यह विश्वास कराया जाता है कि उसके जीवन का एक मात्र लक्ष्य विवाह को सफल बनाना तथा एक सुन्दर घर बसाना है, कामवृत्ति और गर्भाधान सम्बन्धी अत्यन्त उपयोगी जानकारी उससे छिपा कर रखी जाती है। वैवाहिक जीवन को सफल बनाने के लिए इस अज्ञान को दूर करना आवश्यक है ।

वैवाहिक नैराश्य का दूसरा प्रधान कारण स्त्री और पुरुष के बीच प्रभुता और शान के लिए प्रतिद्वन्द्विता है। इस प्रतिद्वन्दिता को आज हम बड़े स्पष्ट रूप में विशेष कर शिक्षित दम्पत्तियों में देख सकते हैं । कुछ अंशों में हम इसे उस आन्दोलन की शाखा कह सकते हैं, जिसे आधुनिक शिक्षित नारी आज के शक्तिशाली पुरुष की निरंकुशता के विरुद्ध चला रही है। व्यक्तिवादी समाज के व्यापारिक कार्यों में एक जीवन-दायिनी शक्ति के रूप में प्रतिद्वन्द्विता को चाहे हम जो भी महत्व दें, परन्तु प्रेम और वैवाहिक जीवन के लिए तो प्रतिद्वन्द्विता मृत्यु के समान है अथवा छिपी हुई चट्टान है जिससे टकराकर अनेक विवाह विचूर्ण हो चुके हैं ।

लोग इसे एक मनोवैज्ञानिक आदेश की भाँति ग्रहण करें कि जिस भी व्यक्ति ने अपने स्त्री पुरुष साथी पर प्रभुत्व

जमाना चाहा या उसकी निन्दा की तथा उसके आत्म-सम्मान को ठेस पहुँचाई उसने सदा के लिए अपने वैवाहिक आनन्द पर कुठाराघात कर लिया।

वास्तव में लोगों का वैवाहिक जीवन अधिक सफल होता यदि दम्पत्ति बाह्य आकर्षण और सुन्दरता पर आधारित प्रेम की बात कम सोचते तथा अपनी आर्थिक परिस्थिति, संतान पालन के सिद्धान्त, खाली समय का पारस्परिक सदुपयोग, एक दूसरे की भावनाओं का समुचित ध्यान, साथ मिलकर जिम्मेदारी उठाने की योग्यता आदि आवश्यक विषयों पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर अपनी नौका को कुशलता के साथ खेते। कितनी विचित्र बात है कि यदि कोई आदमी व्यापार या साझेदारी में केवल इसलिए शामिल होने को लालायित हो उठता है कि उस व्यवसाय विशेष के दफ्तर की कुर्सी और मेज उसे बहुत पसन्द है तो लोग उसे बेवकूफ बनाते हैं, परन्तु यदि वही आदमी एक लड़की से केवल इसलिए शादी कर ले कि वह देखने में सुन्दर है, नाच अच्छा करती है तथा पार्टियों में जाने की शौकीन है तो उसके मित्र उसे बधाई देते नहीं थकते। ऐसे गुणों तथा बाह्य सुन्दरता और आकर्षण पर आधारित प्रेम बिल्कुल अस्थाई रहता है। अवस्था के साथ-साथ यौवन ढलने पर ऐसा प्रेम प्रायः हवा हो जाता है। प्रेम का सच्चा बन्धन तो आन्तरिक सुन्दरता पर अवलम्बित है। प्रत्येक व्यक्ति में कोई न कोई गुण अवश्य होता है। दम्पत्ति को एक-दूसरे की आन्तरिक सुन्दरता और विशिष्ट गुणों की खोज कर प्रेमपूर्वक जीवन निर्वाह करना चाहिए। हाँ, विवाह बन्धन में फँसने से पूर्व इस बात का ध्यान रहे कि स्त्री और पुरुष दोनों में प्रत्येक दृष्टिकोण से अधिक से अधिक साम्य रहे। शुरू की जरा-सी भी जल्दबाजी और असावधानी सारे वैवाहिक जीवन को दुःखद बना देती है।

अन्त में यह बात ध्यान रखना आवश्यक है कि विवाहित जीवन को सुखमय बनाने का सबसे सुन्दर नियम वास्तव में यह है कि विवाह करने के पहले अपने साथी को भलीभाँति समझ लीजिए तथा विवाह के बाद उसे वही समझिए जो वह वास्तव में है और आदर्श कल्पना को त्याग कर उसी का सन्तोषपूर्वक प्रसन्नता के साथ उत्तम से उत्तम उपयोग कीजिए।

वैवाहिक जीवन का उत्तरदायित्व

सांसारिक कार्यों में विवाह कदाचित् सबसे अधिक उत्तरदायित्व का काम है। इसलिए वैवाहिक जीवन में प्रविष्ट होने के पूर्व जितना ही अधिक सोच-विचार करके निर्णय किया जाय, उतना ही उत्तम है। आजकल हर प्रकार से संतुष्ट, सन्तुलित, सुखी विवाहित जोड़े बहुत कम दिखाई पड़ते हैं, उसका कारण प्रायः यही होता है कि अधिकांश लोग प्रायः अज्ञान में अथवा आवेश में विवाह कर डालते हैं। आजकल के अनेक नवयुवकों तो विवाह के पूर्व अपनी पत्नी के विषय में सिनेमा की प्रेम- लीला जैसी सुमधुर कल्पनाएँ करके गगन-विहार किया करते हैं। उन्हें प्रायः विवाहित जीवन में भारी निराशा का सामना करना पड़ता है। पश्चिमी देशों में तलाकों की संख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि का एक मुख्य कारण भी यही है।

इस मनोवृत्ति का शिक्षित युवक जब विवाह करता है तो उसके मन में अपनी पत्नी का एक आदर्श रूप उपस्थित रहता है। वह उसकी पुष्प-सी कोमल, चन्द्रमा-सी सुन्दर, विद्या में चतुर, संगीत-नृत्य विद्याओं में निपुण हर प्रकार से सरल, साधु मीठे स्वभाव की कल्पना करता है। वह सिनेमा के चलचित्रों में कार्य करने वाली नर्तकियों को देखते-देखते एक ऐसा आदर्श मन में बना लेता है जो कभी पूर्ण नहीं हो सकता। वह बड़ी-बड़ी आशाएँ लेकर वैवाहिक जीवन में प्रविष्ट होता है। मनोविज्ञान का यह अटूट नियम है कि दूर से स्त्री को पुरुष तथा पुरुष को स्त्री आकर्षक प्रतीत होते हैं। विवाह के कुछ मास एक प्रकार के उन्माद में बीत जाते हैं। तत्पश्चात् उसका मन ऊबने लगता है। पुरुष स्वभाव से नवीनता का उपासक है। समीप में रहने वाली वस्तु उसे पुरानी, नीरस, आकर्षण विहीन, फीकी-सी प्रतीत होने लगती है। यही दाम्पत्य जीवन के असन्तोष का कारण है। जिसकी वजह से तलाक जैसी अप्रिय बातें होती हैं। इसी वृत्ति से संघर्ष कर उस पर विजय प्राप्त करने की आवश्यकता है।

विवाह से पूर्व स्त्री को पुरुष तथा पुरुष को स्त्री को देख लेने, परखने, उसके विषय में दूसरों से सलाह लेने, यदि सम्भव हो सके तो परीक्षा करने, हर प्रकार की सतर्कता, दूरदर्शिता बरतने की गुञ्जायश है। वर-वधू को चाहिए कि झूठी शर्म त्याग कर एक-दूसरे के गुण, कर्म, स्वभाव का ज्ञान प्राप्त करें। एक जैसा न हो तो दूसरे साथी को उसका सन्तुलन करना होता है। एक-सी रुचि के दो

व्यक्ति जीवन में सरलता से चल सकते हैं । एक शिक्षित तथा दूसरा अशिक्षित होने से अनेक बार दृष्टिकोण में विभिन्नता तथा कटुता उत्पन्न होकर दाम्पत्य माधुर्य को नष्ट कर देती है। अतएव वर-वधू को प्रारम्भ में अति सावधानी एवं सतर्कता बरतने की आवश्यकता है ।

अपने साथी के शरीर, मस्तिष्क, विचार तथा स्वभाव का ज्ञान प्राप्त कीजिए। वह नीरस प्रकृति का है या हँसमुख मजाकिया ? वह गम्भीर अध्ययनशील है या सदैव जल्दबाजी में रहने वाला या तीव्र भावों में बह जाने वाला। वह उदार है या संकुचित, जिद्दी, निश्चयी, पुरुषार्थी, मत्त या स्फूर्तिवान ? वह किसी कार्य को लगातार करता है या बीच में ही छोड़ भागने का अभ्यस्त है ? प्रेम के सम्बन्ध में उसके क्या विचार हैं ? उसकी आर्थिक स्थिति तथा आवश्यकताएँ कैसी हैं ? इन तथा इसी प्रकार के अनेक प्रश्नों पर विवाह से पूर्व ही खूब देखभाल, विचार-विनिमय करने की आवश्यकता है।

उत्तरदायित्व का निर्वाह

विवाह के पश्चात् आप पर एक बड़ी जिम्मेदारी आ जाती है। पति को पत्नी के स्वास्थ्य, आराम, मानसिक तथा शारीरिक सुख का ध्यान रखना है, तथा पत्नी को पति के कार्य, पेशे, भोजन, मनोरंजन, बच्चों की देखभाल, गृह-प्रबन्ध इत्यादि में अपने पृथक-पृथक उत्तरदायित्व का निर्वाह करना है। पति का कार्यक्षेत्र अधिकतर घर के बाहर संघर्षपूर्ण कार्यस्थल है, जहाँ उसे जीविका उपार्जन करने के हेतु कठोर परिश्रम, कार्यदक्षता, कौशल प्रदर्शित करना होता है । उसका उत्तरदायित्व अधिक है, क्योंकि उसे जीविका कमाने का कार्य तत्परता से करना होता है। पत्नी अपने गृह-प्रबन्ध, मृदुल सहानुभूति पूर्ण व्यवहार तथा सौन्दर्य से घर को स्वर्ग बनाती है ।

हमें विवाहित जीवन में अपनी जिम्मेदारी निभानी है, अपने जीवन-साथी की निर्बलताओं को सहानुभूतिपूर्ण ढंग से निकालना है, उसके स्थान पर उत्तम गुणों का समावेश करना है । हम सब तरह के असन्तोष को दूर करेंगे, परस्पर एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझेंगे, आपसी गलतफहमियों को न बढ़ने देंगे, यह मानकर दाम्पत्य जीवन में प्रविष्ट होना श्रेयस्कर है। यह समझने की भावना सुखमय दाम्पत्य जीवन का मूलमंत्र है।

कौन पति-पत्नी नहीं झगड़ते ? विचारों में अन्तर कहाँ नहीं है ? एक जैसे स्वभाव कहाँ मिलते हैं ? ऐसा कौन है जिसमें कमजोरियाँ, दुर्गुण, शारीरिक या मानसिक दुर्बलताएँ नहीं हैं । यदि आप एक-दूसरे की दुर्बलताओं पर कलह करेंगे तो अल्पकाल में असंतोष नामक महा भयंकर राक्षस आपका विवाहित जीवन कटु बना देगा । आपका सौन्दर्य और प्रेम-पिपासु मन एक स्त्री की सुन्दरता छोड़ दूसरी, दूसरी से तीसरी, चौथी, दसवीं न जाने कहाँ-कहाँ मारा-मारा फिरेगा । मन की बागडोर ढीली न कीजिए। अपने जीवन साथी में ही सरलता, सौन्दर्य, कौशल, माधुर्य, खोज निकालिए, उसकी अपूर्णता को पूर्ण बनाइए । अशिक्षित है तो शिक्षित कीजिए । पुस्तकें, समाचार-पत्र कहानियाँ, उपन्यास पढ़ाइए । यदि स्वास्थ्य खराब है, तो स्वास्थ्य रक्षा, व्यायाम, पौष्टिक भोजन और दुश्चिन्ताओं को दूर कर उसे सुन्दर बनाइये, किन्तु उसे त्यागने का भाव कदापि मन में उदित न होने दीजिए । त्यागने की बात सोचना, एक-दूसरे की सहायता न करना, शील सौन्दर्य की अभिवृद्धि न करना, विद्या प्रदान न करना पति के लिए लज्जा के विषय हैं ।

एक विद्वान ने सुखमय विवाहित जीवन की कुञ्जी इन शब्दों में भर दी है। वे कहते हैं- 'जिस प्रकार जिस उद्यान का माली उसका ध्यान नहीं रखता तो वहाँ घास-फूँस उग आती है, काँटे उत्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार जब पति-पत्नी दाम्पत्य प्रेम की सतर्कता और ध्यानपूर्वक रक्षा नहीं करते तो वे कटु भावों (मनोमालिन्य, ईर्ष्या, ऊँच-नीच का भाव, शिक्षा-अशिक्षा, सन्देह, गलतफहमी, असन्तोष, मानापमान) में परिवर्तित हो जाता है। प्रत्येक कार्य आलस्य, नीरसता, रोग, परपुरुष या परस्त्री का दाह के रूप में दाम्पत्य सुख को हानि पहुँचाने की धमकी देने लगता है।

दो स्वर्णिम सूत्र

इस स्थिति पर विजय प्राप्त करने के दो मार्ग हैं- प्रथम वह है जो दाम्पत्य जीवन का सच्चा सार है- अर्थात् यह दृढ़ प्रतिज्ञा और उसका निर्वाह कि हम दोनों पति-पत्नी एक-दूसरे का परित्याग नहीं करेंगे, हम प्रेम, सहानुभूति, त्याग, शील, आदान-प्रदान, सहायता के टूटे हुए प्रत्येक तार को गाँठ लेंगे । हम 'विश्वास, आशा, सहिष्णुता, अवलम्ब, उपयोगिता की गिरी हुई दीवार के प्रत्येक भाग की निरन्तर प्रयत्न और भक्ति से मरम्मत करेंगे, हम एक-दूसरे से माँफी माँगने, सुलह और समझौता करने को सदैव प्रस्तुत रहेंगे ।

दूसरा उपाय है पति-पत्नी की एक-दूसरे के प्रति अनन्य भावना। पति-पत्नी एक-दूसरे में लीन हो जायँ, समा जायँ, लय हो जायँ, अधीनता की भावना छोड़ स्वभाव की पूजा करें। विवाह का आध्यात्मिक अभिप्राय दो आत्माओं का शारीरिक, मानसिक और आत्मिक सम्बन्ध है। इसमें दो आत्माएँ ऐसी मिल जाती हैं कि इस पार्थिव जीवन तथा उच्च देवलोक में भी मिली रहती हैं। यह दो मस्तिष्कों, दो हृदयों, दो आत्माओं तथा साथ ही साथ दो शरीरों का एक-दूसरे में लय हो जाना है। जब तक यह स्वैरैक्य नहीं होता, विवाह का आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। विवाहित जोड़े में परस्पर वह विश्वास और प्रतीति होना आवश्यक है, जो दो हृदयों को जोड़कर एक करता है। जब दो हृदय एक-दूसरे के लिए आत्म-समर्पण करते हैं, तो एक या दूसरे को कोई तीसरा व्यक्ति बिगाड़ने नहीं पाता है। केवल इस प्रकार ही वह आध्यात्मिक दाम्पत्य अनुराग सम्भव हो सकता है, जिसका समझना उन व्यक्तियों के लिए कठिन है, जो अपने अनुभव से इस प्रेम और समझौते के, इस पारस्परिक उत्तरदायित्व तथा समान के, आसक्ति और आत्म-सन्तोष के, मानव तथा दिव्य प्रेरणाओं के विस्मयोत्पादक संयोग को जिसका नाम सच्चा विवाह है, नहीं जानते।

गृहस्थ जीवन की सफलता

शास्त्रों में कहा है कि "न गृहं मित्याहु गृहिणी गृहंमुच्यते" घर को घर नहीं कहते, वरन् गृहिणी को ही घर कहते हैंऔर लोक प्रसिद्ध है कि 'बिन घरनी घर भूत का डेरा।' लोक और शास्त्र की बात का समर्थन व्यवहार द्वारा हो जाता है।

मनुष्य जीवन का आधार प्रेम है। जहाँ प्रेम है, वहाँ स्वर्ग है, सुख है। जिस घर में प्रेम नहीं वहाँ रहने की इच्छा ही नहीं होती, ठहरने की आकांक्षा नहीं रहती। प्रेम में एक आकर्षण है, एक खिंचाव है।

जब तक मनुष्य अपनी ही अपनी बात सोचता है, तब तक कहीं से भी उसे आकर्षण प्राप्त नहीं होता। आकर्षण या खिंचाव उसी समय उसे अनुभव होता है जब वह अपने को भूलकर औरों के प्रति अपना उत्सर्ग कर देता है। जब स्वार्थ को खत्म करके परम स्वार्थ की शरण लेता है।

कौन मानव जानबूझकर दु:ख की ओर कदम बढ़ाता है, परेशानी को मोल लेना चाहता है। जीवन का क्रम ही है-सुख की ओर बढ़ना, शान्ति की ओर चलना। लेकिन अपने सुख की चिन्ता नहीं, जब तक दूसरों के सुख की चिन्ता न होने लगे- तब तक सुख पास नहीं आता। इसी से तो हम कहते हैं कि दूसरे के लिए त्याग करना ही मानव का परम स्वार्थ है। दूसरे के लिए सुख खोजने की प्रवृत्ति उत्पन्न करने से अपने लिए सुख पाने का राजपथ तैयार किया जाता है। इस प्रवृत्ति का जनक है-गृहस्थ जीवन। वह एक ऐसी पाठशाला है जहाँ इस हाथ देकर उस हाथ पाने की तात्कालिक शिक्षा प्राप्त होती है।

विवाहित जीवन के लिए एक नारी को पराये घर से लाते हैं, और अपना घर और उसकी ताली-कुञ्जी दे देते हैं, तो ठण्डी साँस लेते हैं। उसे उस घर की मालकिन बना देने पर ही मानवीय सुख की शुरुआत कर देते हैं और तब फिर पुरुष का सारा व्यापार अपने लिए न होकर उस नारी के लिए होता है, जो कि अपनी नहीं थी, पर जिसके लिए सब कुछ उत्सर्ग कर दिया गया। घर लाई हुई नारी को सुखी रखना एक मात्र यही कर्तव्य पुरुष का रह जाता है और इसका परिणाम यह होता है, कि वह आई हुई नारी अपना सर्वस्व पुरुष के प्रति समर्पित कर देती है। स्वयं भूखी रहकर भी वह पुरुष को तृप्त कर देना चाहती है। यह परस्पर का आत्म-समर्पण ही गृहस्थ जीवन के सुख की कुञ्जी है।

परन्तु यह सुख उस समय मिट्टी में मिल जाता है, जब एक दूसरे के प्रति त्याग की भावना समाप्त हो जाती है या समाप्त होने के लिए कदम बढ़ाती है। जब एक-दूसरे को शंका की नजर से देखते हैं या एक-दूसरे को अपने अधीन रखने के प्रयत्न में लग जाते हैं, आप जानते हैं, इसमें कौन-सी भावना काम करने लगती है? वह भावना होती है दूसरे को कम देना और अधिक पाने की इच्छा रखना। यह इच्छा जिस दिन अंकुरित होती है, सुख और शान्ति की भावना का उसी दिन से तिरोभाव आरम्भ हो जाता है और एक नया शब्द जन्म लेता है, जिसके द्वारा दूसरे को अपने काबू में रखने के लिए मानव चेष्टा करता है। वह शब्द है-अधिकार। अधिकार दूसरे से कुछ चाहता है परन्तु दूसरे को देने की बात भूल जाता है। इस माँग और भूख की लड़ाई में ही गृहस्थ जीवन का सुख विदा माँगना आरम्भ कर देता है।

हम पहले ही बतला चुके हैं कि प्रेम के जीवन में सुख है और प्रेम-त्याग और समर्पण का पाठ पढ़ाता है। वहाँ अधिकार नामक शब्द का प्रवेश निषेध है। वहाँ तो एक ही शब्द जा सकता है, जिसका पर्याय है कर्तव्य। अपना

कर्तव्य करते चलो। जो तुम्हारा प्राप्य है अपने आप मिल जायेगा। लेकिन कर्तव्य की बात भूलकर प्राप्य की बात को सामने रखने से प्राप्य के प्राप्त करने में कठिनाई रहती है। समस्त झगड़े-बखेड़ों की यही एक मात्र जड़ है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि दुनियाँ का कार्य स्वयं ही आदान-प्रदान से चल रहा है, जब कुछ दिया जाता है तब तुरन्त ही कुछ मिल जाता है। देना बन्द होते ही मिलना बन्द हो जाता है। इसलिए लेने की आकांक्षा होने पर देने की भावना पहले बना लेना आवश्यक होता है। अधिकार में लेने की भावना भरी रहती है, देने की नहीं। इसलिए आपस का प्रेम कम होना आरम्भ हो जाता है। जिस दिन ये अधिकार की लालसा गृहस्थ जीवन में प्रविष्ट हो जाती है, गृहस्थ जीवन कलह का अखाड़ा बन जाता है। आज यही कारण है कि अधिकांश मानव इसी के शिकार हो रहे हैं और अपने जीवन को अशान्त और दुःखी बनाये हुए हैं। अपने ही हाथों उन्होंने अपनी सुख-सुविधा को लात मार दी है।

अधिकार की मंशा है, दूसरों को अपने अधीन रखना, अपना इच्छा के अधीन रखना, अपने सुख का भोग या यन्त्र बनाना। जब किसी भावना का प्रवाह एक ओर से चलना आरम्भ हो जाता है तो उसकी प्रतिक्रिया दूसरी ओर से भी होना आरम्भ हो जाती है। जब एक-दूसरे को अपने भोग का यंत्र बनाना चाहता है तो दूसरा भी पहले को यंत्र बनाने की धुन में लग जाता है।

पुरुष ने जिस दिन से स्त्री को अपने भोग का उपकरण बनाना विचारा, उसी दिन से स्त्री ने भी पुरुष को अपनी तृप्ति का साधन बनाने की ठानी। एक-दूसरे को सुख देने, प्रसन्न रखने की भावना का लोप हो गया। प्रेम की जगह भोग ने आश्रय लिया। घरनी की जगह रमणी की प्रतिष्ठा हुई और घर भूत का डेरा बनने लगा। गृहिणी जो आत्म-साधिका थी, लिपिस्टक, जम्फर, जार्जेट, विलायती तरीके के जूतों की साधिका बनी। दिखावट बढ़ी, रुपयों की माँग बढ़ी, स्वच्छन्दता बढ़ी और पुरुष ने उसे दबाकर रखने की माँग को बढ़ाया। इस तरह गृह कलह जन्मा, भोग और अधिकार के प्रश्न ने सेवा को खोया, प्रेम को खोया और आज घर-घर में चिताएँ जल रही हैं।

एक युग था, पति के बिना नारी घर में न रह सकती थी, पति के सुख को ही अपना सुख मानने वाली नारी पति के साथ वन जाकर-

भूमि शयन, बल्कल वसन, असन कन्द फलमूल।
तेकि सदा सब दिन मिलहिं, समय-समय अनुकूल॥

पाकर भी वन में सुखी रहीं और अधिकार का प्रश्न उठाने वाली महल में स्वच्छन्द रहने पर भी एक टीस, एक वेदना लिए जिन्दा हैं।

भावना बदलते ही जिन्दगी बदल गई। जिन्दगी की तृप्ति और शान्ति दोनों विदा ले गये। मानव जीवन का जो श्रेयस्कर मार्ग था उसे छोड़कर भ्रष्ट पथ होने का पुरस्कार हजारों नर-नारी रात-दिन भोग रहे हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि उन्हें फिर से आर्य-पथ पर चलने की तैयारी करनी चाहिए।

अधिक माँगने से नहीं, देने से मिलता है। कर्तव्य कर्म करने से स्वयं उसका बदला मिल जाता है। भारतीय दर्शन में "कर्तव्य" का नाम ही धर्म है। पुरुष धर्म और नारी धर्म दोनों का आदि स्रोत समर्पण है। दोनों की भावनाओं में, दिल में और दिमाग में समर्पण की, उत्सर्ग की भावना के बीजों को आरोपित करने से फिर से शान्ति, तृप्ति और सुख का समावेश हो जायेगा-विवाहित जीवन का जो उद्देश्य है वह सफल होगा।

दाम्पत्य-जीवन में कलह से बचिए

अनेक परिवारों में स्त्री-पुरुषों के मध्य वैसे मधुर सम्बन्ध नहीं देखे जाते जैसे कि होने चाहिए। अनेकों घरों में आये दिन संघर्ष, मनोमालिन्य और अविश्वास के चिह्न परिलक्षित होते रहते हैं। कारण यह है कि पति-पत्नी में से एक या दोनों ही केवल अपनी-अपनी इच्छा, आवश्यकता और रुचि को प्रधानता देते हैं। दूसरे पक्ष की भावना और परिस्थितियों को न समझना ही प्रायः कलह का कारण होता है।

जब एक पक्ष दूसरे पक्ष की इच्छानुसार आचरण नहीं करता तो उसे यह बात अपना अपमान, उपेक्षा या तिरस्कार प्रतीत होती है, जिससे चिढ़ कर वह दूसरे पक्ष पर कटुवाक्यों का प्रहार या दुर्भावनाओं का आरोपण करता है। उत्तर-प्रत्युत्तर, आक्रमण-प्रत्याक्रमण, आक्षेप-प्रत्याक्षेप का सिलसिला चल पड़ता है तो उससे कलह बढ़ता ही जाता है। दोनों में से कोई अपनी गलती नहीं मानता, वरन् दूसरे को अधिक दोषी सिद्ध करने के लिए अपनी जिद को बढ़ाते रहते हैं। इस रीति से कभी भी झगड़े का अन्त नहीं हो सकता। अग्नि में ईंधन डालते जाने से तो और भी अधिक प्रज्ज्वलित होती है।

जो पति-पत्नी अपने सम्बन्धों को मधुर रखना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि दूसरे पक्ष की योग्यता, मनोभूमि, भावना, इच्छा, संस्कार, परिस्थिति एवं आवश्यकता को समझने का प्रयत्न करें और उस स्थिति के मनुष्य के लिए जो उपयुक्त हो सके ऐसा उदार व्यवहार करने की चेष्टा करें, तो झगड़े के अनेकों अवसर उत्पन्न होने से पहले ही दूर हो जावेंगे। हमें भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि सब मनुष्य एक समान नहीं हैं, सबकी रुचि एक समान नहीं है, सबकी बुद्धि, भावना और इच्छा एक जैसी नहीं होती। भिन्न वातावरण, भिन्न परिस्थिति और भिन्न कारणों से लोगों की मनोभूमि में भिन्नता हो जाती है। यह भिन्नता पूर्णतया मिटकर दूसरे पक्ष के बिल्कुल समान हो जावे यह हो नहीं सकता। कोई स्त्री-पुरुष आपस में कितने ही सच्चे क्यों न हों, उनके विचार और कार्यों में कुछ न कुछ भिन्नता रह ही जायगी।

अनुदार स्वभाव के स्त्री-पुरुष कट्टर एवं संकीर्ण मनोवृत्ति के होने के कारण यह चाहते हैं कि हमारा साथी हमारी किसी भी बात में तनिक भी मतभेद न रखे। पति अपनी पत्नी को पतिव्रत का पाठ पढ़ाता है और उपदेश करता है कि तुम्हें पूर्ण पतिव्रता, इतनी उग्र पतिव्रता होना चाहिए कि पति की किसी भी भली बुरी विचारधारा, आदत, कार्य प्रणाली में हस्तक्षेप न हो। इसके विपरीत स्त्री अपने पति से आशा करती है कि पति के लिए भी यह उचित है कि स्त्री को अपना जीवन-संगी, आधा अंग समझकर उसके सहयोग एवं अधिकार की उपेक्षा न करें। यह भावनाएँ जब संकीर्णता और अनुदारता से संमिश्रित होती हैं तो एक पक्ष सोचता है कि मेरे अधिकार को दूसरा पक्ष पूर्ण नहीं करता। बस, यहीं से झगड़े की जड़ आरम्भ हो जाती है।

इस झगड़े का एक मात्र हल यह है कि स्त्री पुरुष को और पुरुष स्त्री को अपने मन की अधिकाधिक उदार भावना से बरतें। जैसे किसी व्यक्ति का एक हाथ या एक पैर कुछ कमजोर, रोगी या दोषपूर्ण हो तो वह उसे न तो काट कर फेंक देता है, न कूट डालता है और न उससे घृणा, असन्तोष, विद्वेष आदि करता है अपितु उस विकृत अंग को अपेक्षाकृत अधिक सुविधा देने और उसके सुधारने के लिए स्वस्थ भाग की भी थोड़ी उपेक्षा कर देता है। यही नीति अपने कमजोर साथी के प्रति बरती जाय तो झगड़े का एक भारी कारण दूर हो जाता है।

झगड़ा करने से पहले आपसी विचार-विनिमय के सब प्रयोगों को अनेक बार कर लेना चाहिए। कोई वज्र मूर्ख और घोर दुष्ट प्रकृति के मनुष्य तो ऐसे हो सकते हैं जो दण्ड के अतिरिक्त और किसी वस्तु से नहीं समझते, पर अधिकांश मनुष्य ऐसे होते हैं जो प्रेम भावना के साथ, एकान्त स्थान में सब ऊँच-नीच समझाने से बहुत कुछ समझ और सुधर जाते हैं। जो थोड़ा-बहुत मतभेद रह जाय उसकी उपेक्षा करके उन बातों को ही विचार क्षेत्र में आने देना चाहिए जिनमें मतैक्य है। संसार में रहने का यही तरीका है कि मन-दूसरे के सामने थोड़ा-थोड़ा झुका जाय और समझौते की नीति से काम लिया जाय। महात्मा गाँधी, उच्चकोटि के आदर्शवादी और संत थे, पर उनके ऐसे भी अनेकों सच्चे मित्र थे जो उनके विचार और कार्यों से मतभेद ही नहीं विरोध भी रखते थे। यह मतभेद उनकी मित्रता में बाधक न होते थे। ऐसी ही उदार समझौतावादी नीति के आधार पर आपसी सहयोग सम्बन्धों को कायम रखा जा सकता है।

इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि साथी में दोष, दुर्गुण हों उनकी उपेक्षा की जाय और उन बुराइयों को अबाध रीति से बढ़ने दिया जाय। ऐसा करना तो एक भारी अनर्थ होगा। जो पक्ष अधिक बुद्धिमान, विचारशील एवं अनुभवी है उसे अपने साथी को सुसंस्कृत, समुन्नत, सद्गुणी बनाने के लिए भरसक प्रयत्न करना चाहिए। साथ ही अपने आपको भी ऐसा मधुर भाषी, उदार, सहनशील एवं निर्दोष बनाने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए कि साथी पर अपना समुचित प्रभाव पड़ सके। जो स्वयं अनेक बुराइयों में फँसा हुआ है वह अपने साथी को सुधारने में सफल कैसे हो सकता है? सती सीता परमसाध्वी उच्चकोटि की पतिव्रता थी, पर उनके पतिव्रता होने का एक कारण यह भी था कि वे एक पत्नी व्रतधारी अनेक सद्गुणों से सम्पन्न राम की धर्मपत्नी थीं। रावण स्वयं दुराचारी था, उसकी स्त्री मंदोदरी सर्वगुण सम्पन्न एवं परम बुद्धिमान होते हुए भी पतिव्रता न रह सकी। रावण के मरते ही उसने विभीषण से पुनर्विवाह कर लिया।

जीवन की सफलता, शान्ति, सुव्यवस्था इस बात पर निर्भर है कि हमारा दाम्पत्य जीवन सुखी और संतुष्ट हो। इसके लिए आरम्भ में ही बहुत सावधानी बरती जानी चाहिए और गुण, कर्म एवं स्वभाव की समानता के आधार पर लड़के-लड़कियों के जोड़े चुने जाने चाहिए। अच्छा चुनाव होने पर भी पूर्ण समता तो हो नहीं सकती, इसलिए

हर एक स्त्री-पुरुष के लिए इस नीति को अपनाना आवश्यक है कि अपनी बुराइयों को कम करे, साथी के साथ मधुरता, उदारता और सहनशीलता का आत्मीयतामय व्यवहार करे, साथ ही उसकी बुराइयों को कम करने के लिए धैर्य, दृढ़ता और चतुरता के साथ प्रयत्नशील रहे। इस मार्ग पर चलने से असन्तुष्ट दाम्पत्य जीवनों में सन्तोष की मात्रा बढ़ेगी और सन्तुष्ट दम्पत्ति स्वर्गीय जीवन का आनन्द उपलब्ध करेंगे।

विवाहित जीवन में ब्रह्मचर्य का पालन

अविवाहित रह कर ब्रह्मचर्य का पालन करने के समान, विवाहित होते हुए भी ब्रह्मचर्य का पालन करना सम्भव है, वरन् बहुत हद तक सुगम भी हैं। जो लोग विवाहित हैं, उन्हें समझना चाहिए कि पत्नी गृहस्थ धर्म का मूल है। उसे कामोपभोग की सामग्री या ब्रह्मचर्य का विघ्न समझना भूल है।

साधारणतया पत्नी से दूर रहने से नारी जाति के प्रति वासनामय विचारों की सृष्टि होती है। दूरी में सदैव एक आकर्षण रहता है जो समीपता में नष्ट हो जाता है। जिन्हें दाम्पत्य जीवन अप्राप्य है उन्हें वह अप्राप्य वस्तु बड़ी आकर्षक और सरस दीखती है और उसकी प्राप्ति के लिए उनके मनःक्षेत्र में बड़ी घुड़दौड़ मचती रहती है, किन्तु जो पति-पत्नी साथ-साथ रहते हैं, वे यदि चाहें तो स्वाभाविक और सरल जीवन व्यतीत करते हुए उन विकारमय विचारों से सहज ही बच सकते हैं।

जब तक परीक्षा की कसौटी न हो, तब तक यह नहीं जाना जा सकता कि किस की साधना किस हद तक परिपक्व हो चुकी है। जो लोग अविवाहित रह कर ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं उनकी निष्ठा किस हद तक परिपक्व हो चुकी है इसका ठीक प्रकार पता नहीं चलता। वे प्रलोभन के समय फिसल सकते हैं, परन्तु जो प्रलोभन से नित्य संघर्ष करते हैं, उन्हें पता रहता है कि वे कितने संयमशील हो चुके हैं। साधन सामने रहते हुए भी जो त्याग कर सकता है, उसी का त्याग परीक्षित है। अभाव को त्याग मान कर सन्तोष कर लेना, एक कच्चा आधार ही रहता है।

पति-पत्नी यदि वासना पर विजय प्राप्त करते हुए संयमशील जीवन बितावें तो वासना के स्थान पर एक अत्यन्त शक्तिशाली आध्यात्मिक तत्व का आविर्भाव होता है जिसे 'पतिव्रत' कहते हैं। यह तत्व दाम्पत्य जीवन की पूर्णता, पारिवारिक सुव्यवस्था, उत्तम संतति एवं आत्म शान्ति के लिए बहुत ही उपयोगी एवं आवश्यक होता है। यह तत्व मानव जीवन की एक अपूर्णता को पूरा कर देता है।

द्वैत को मिटाये बिना, अद्वैत की प्राप्ति नहीं हो सकती। स्त्री से दूर रहने वाला, उससे घृणा करने वाला व्यक्ति, उसे अपने से भिन्न एवं विपरीत मानता है। ऐसी दशा में उसकी द्वैत बुद्धि मजबूत होती जाती है और उसे अद्वैत ब्रह्म की प्राप्ति में भारी बाधा दिखाई देती है। अद्वैत की प्राप्ति के लिए अपनी पत्नी (अर्धांगिनी) को अभिन्न मानने की आवश्यकता है। जैसे अपने ही सौन्दर्य पर कोई मोहित नहीं होता, जैसे अपने आपसे स्वयं ही वासना पूर्ति करने के भाव नहीं आते वैसे ही यदि पत्नी को अभिन्न मान लिया जाय तो वह बाधा सहज ही दूर हो जाती है, जिसके भय से ब्रह्मचारी लोग दूर-दूर भागते फिरते हैं। अपनी अर्धांगिनी को आत्मरूप समझना अद्वैत तत्व की प्रारम्भिक साधना है। इसमें परीक्षित हो जाने पर आत्म-भावना का विश्व व्यापी विस्तार करना सुगम होता है।

शुद्ध 'प्रेम' को परमात्मा का प्रत्यक्ष रूप कहा है। यह प्रेम नर-नारी के पवित्र मिलन से सुगमतापूर्वक और अधिक मात्रा में उत्पन्न होता है। माता का पुत्र में, बहिन-भाई में, पति-पत्नी में जितने विशुद्ध प्रेम का उद्रेक होता है, उतना पुरुष-पुरुष में या स्त्री-स्त्री में नहीं होता। प्रकृति ने उभय लिंग के प्राणियों के सम्मिलन में एक सहज प्रेम धारा छिपा रखी है। यदि उसे स्वार्थपरता या वासना से दूषित न किया जाय तो प्रकृति प्रदत्त एक स्वर्गीय निर्झरिणी के अमृत जल का रसास्वादन हर आत्मा कर सकती है। यह समझना भारी अज्ञान है कि काम सेवन से ही दाम्पत्य प्रेम बढ़ता है। सच बात तो यह है कि संयमी आत्मा ही 'प्रेम' को उत्पन्न कर सकती है और उसके रसास्वादन का आनन्द ले सकती है।

काम को 'मनसिज' कहा है। यह विकार मन में उत्पन्न होता है और यहीं से संहार लीला प्रारम्भ करता है। मन से यदि काम चिन्तन करते रहा जाय और शरीर से ब्रह्मचर्य रखा जाय तो उसका कोई विशेष लाभ न होगा क्योंकि मन में उत्पन्न होने वाली वासना से मानसिक व्यभिचार होता रहेगा और आत्मिक बल संचय न हो सकेगा। उसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति साधारण गृहस्थ धर्म का पालन करता है और मन से निर्विकार रहता है तो उसका थोड़ा-सा शारीरिक स्खलन उतना हानिकारक नहीं होता, जितना कि अविवाहित का मानसिक उद्वेग। यों शारीरिक और

मानसिक दोनों ही प्रकार का संयम रखा जाय तो सर्वोत्तम है ।

'अर्धांगिनी' और 'धर्मपत्नी' यह दोनों ही शब्द आत्मिक पूर्णता और धर्म प्रतिपालन के अर्थ-बोधक हैं । पत्नी इन दोनों कार्यों में सहायक होती है, इसलिए उसे अभिन्न अंग एवं जीवन सहचरी माना है । कामिनी, रमणी, रूपसी आदि की विकार ग्रस्त दृष्टि स्त्री के प्रति रखना नारी जाति के प्रति अपराध एवं अपमान व्यक्त करना है । स्वाभाविक एवं सरल दृष्टिकोण अपनाकर नारी को एक सच्चा साथी, मित्र एवं आत्म-भाग माना जाय तो उससे जिस प्रकार सांसारिक जीवन में सुविधा मिलती है, वैसे ही आत्म-कल्याण के मार्ग में भी भारी सहयोग मिल सकता है। स्त्री ब्रह्मचर्य की बाधा नहीं । वह असंयम के विकारों को अनियंत्रित नहीं होने देती और मनुष्य को सुसंयत जीवन व्यतीत करने में सहायता प्रदान करती है ।

पत्नी का सदैव सम्मान कीजिए

बहुत से व्यक्ति अपने को स्त्री से बड़ा समझकर अथवा लापरवाही से अपनी पत्नियों के साथ शिष्टता का व्यवहार करना अनावश्यक समझते हैं, पर यह एक बड़ी भूल है। जो लोग अपने दाम्पत्य-जीवन को सफल बनाने के इच्छुक हों उनको सदैव अपनी पत्नी के प्रति सम्मान युक्त व्यवहार और वार्तालाप करना चाहिए । जो पुरुष उससे कठोर व्यवहार करते हैं, अपनी आश्रित समझकर तिरस्कार करते हैं, उनकी बेइज्जती करते रहते हैं, वे अश्लील हैं । गुप्त मन में उनकी स्त्रियाँ उन्हें दुष्ट राक्षस-तुल्य समझती हैं । ऐसा प्रसंग ही मत आने दीजिए कि नारी को मारने-पीटने का अवसर आये । उसे अपने आचार, व्यवहार, प्रेम भरे सम्बोधन से पूर्ण सन्तुष्ट रखिए ।

पत्नी की भावनाओं की रक्षा, उसके गुणों का आदर, उसके शील, लज्जा, व्यवहार की प्रशंसा मधुर सम्बन्धों का मूल रहस्य है । पत्नी आपकी जीवन सहचरी है । अपने सद्व्यवहार से उसे तृप्त रखिये ।

पत्नी, पति की प्राण है, पुरुष की अर्धांगिनी है, पत्नी से बढ़कर कोई दूसरा मित्र नहीं, पत्नी तीनों फलों-धर्म, अर्थ, काम को प्रदान करने वाली है और संसार सागर को पार करने में सबसे बड़ी सहायिका है। फिर, किस मुँह से आप उसका तिरस्कार करते हैं ?

उससे मधुर वाणी में बोलिए । आपके मुँह पर मधुर मुस्कान हो, हृदय में सच्चा निष्कपट प्रेम हो, वचनों में नम्रता, मृदुलता, सरलता और प्यार हो । स्मरण रखिये, स्त्रियों का 'अहं' बड़ा तेज होता है, वे स्वाभिमानी, आत्माभिमानी होती हैं । तनिक-सी अशिष्टता या फूहड़पन से क्रुद्ध होकर आपके सम्बन्ध में घृणित धारणाएँ बना लेती हैं । उनकी छोटी-छोटी माँगों या फरमाइशों की अवहेलना या अवज्ञा न करें । इसमें बड़े सावधान रहें । जो स्त्री एक छोटे से उपहार से प्रसन्न होकर आपकी दासता और गुलामी करने को प्रस्तुत रहती है, उसके लिए सब कुछ करना चाहिए । अत: पत्नी का आदर करें, उसके सम्बन्ध में कभी कोई अपमान सूचक बातें, मुँह से न निकालें और उनकी उपस्थिति में या अनुपस्थिति में उनकी हँसी न करें ।

स्त्रियोचित शिक्षा की आवश्यकता

पत्नियों को वास्तविक अर्थ में गृह-लक्ष्मी बनाने के लिए उपयुक्त शिक्षा की बड़ी आवश्यकता है। शिक्षा के प्रभाव से ही मनुष्य का मस्तिष्क और मन विकसित होता है और वह अपने कर्तव्यों को पूरा करने योग्य बन सकता है। जीवन-संघर्ष में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का सम्पर्क अधिक होता है । पुरुष का काम तो कमाई के क्षेत्र तक ही सीमित है लेकिन स्त्रियाँ तो समाज का निर्माण करती हैं इसलिए यदि स्त्रियों की वास्तविक शिक्षा न हुई तो समाज में अशान्ति का वातावरण फैलना स्वाभाविक है । इसलिए पुरुषों की शिक्षा की अपेक्षा स्त्रियों की शिक्षा का महत्व अधिक है ।

नारी को यदि रमणी बनाना हो तो कल्पना मूलक शिक्षा की आवश्यकता है। लेकिन नारी का चरम लक्ष्य माँ बनना है। नारी समाज की निर्माता है, समाज में भाई, पिता, पुत्र और बहिन, पत्नी, पुत्री रहते हैं । इसलिए घर में रहते हुए इन सबके यथायोग्य निर्माण का काम नारी को करना है । क्योंकि ये सब ही आगे जाकर समाज के सदस्य बनेंगे और समाज-संगठन में इनका व्यापक हाथ रहेगा, इसलिए यदि उनमें पिता, पुत्र, भाई, बहिन, माँ और पत्नी की कर्तव्यमूलक भावना जाग्रत होगी तो यह दुनिया थोड़े दिनों में ही नन्दनवन बनकर चारों ओर शान्ति का प्रवाह प्रवाहित कर सकेगी ।

बालपन की जिन्दगी पराश्रित जिन्दगी होती है, इसमें उसके सिर पर किसी प्रकार की जिम्मेदारी नहीं होती यहाँ तक कि खाना और खेलना ये ही दो काम रहते हैं । लेकिन जीवन में बालपन ही नहीं रहता, जवानी भी आती है और बुढ़ापा भी आता है । ऐसा समय भी आता है, जबकि जीवन

की शक्तियाँ विकसित होती हैं और जबाव भी दे जाती हैं। इसलिए जो शिक्षा शक्तियों का व्यावहारिक उपयोग करना सिखाती है, जीवन के संघर्ष में विजय दिलाती है, वही जीवन-निर्माण और शान्ति का कारण होती है ।

आजकल स्त्रियों को जो शिक्षा दी जाती है, उससे भावनाओं और वासनाओं का तो उत्तेजन मिलता है लेकिन कर्मठता एवं कर्तव्य के लिए कोई स्थान नहीं होता। इसका परिणाम यह निकल रहा है कि पढ़ी-लिखी लड़कियाँ स्कूल तथा कॉलेजों से एक प्रकार के कल्पनामय जगत को लेकर बाहर आती हैं जिसका निर्माण करना उन्हें नहीं सिखाया गया है । जिन्हें यदि कुछ सिखाथा गया है तो उपभोग करना। बिना निर्माण किए उपभोग के लिए स्थान ही कहाँ हो सकता है? लेकिन उन्हें इसका ज्ञान ही नहीं होता। परसी हुई पातर पर खाने की कल्पना के कारण जब उन्हें परसी हुई पत्तल नहीं मिलती तो वे बौखला उठती हैं और अपनी जिम्मेदारियों से बचती हुई अपने लिए दुःखों की अजेय सुदृढ़ दीवार खड़ी कर लेती हैं ।

अनेक शिक्षित स्त्रियाँ विवाह-बन्धन से बचना चाहती हैं। विवाह को वे पुरुष के अधीन होना मानती हैं, जबकि किसी के अधीन होकर रहना उन्हें सिखाया ही नहीं जाता। लेकिन भारतीय वातावरण में बिना विवाह किए रहना सम्भव नहीं है, इसलिए जबरदस्ती विवाह के फन्दे में फँस जाने के कारण जीवन भर उनमें छटपटाहट भरी रहती है। आनन्द के स्रोत विवाहित जीवन को वे दुःख से भर डालती हैं और जिस घर को स्वर्ग बनाकर जहाँ अपना साम्राज्य स्थापित करना चाहिए, वहाँ कल्पना जगत में विचरण करने के कारण उस घर को नरक बना देती हैं । साथ ही जीवन भर तड़फते-तड़फते अपनी जीवन-लीला समाप्त कर डालती हैं ।

धर्मशास्त्रों और विद्वजनों का यह कथन पूर्णतया सत्य है कि गृहस्थ-जीवन का और इस दृष्टि से मनुष्य-समाज का सुचारु रूप से संचालन, सद्गुणी पत्नियों पर ही आधारित है । इसलिए स्त्रियों को सुयोग्य गृहिणी बनाना और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उनको उचित साधन और अधिकार देना हमारा परम कर्तव्य है। समाज का कल्याण मुख्य रूप से कर्तव्य परायण पत्नियों पर ही निर्भर है ।

८. प्रकृति का अनुसरण

गायत्री मंत्र का आठवाँ अक्षर 'ण्य' प्रकृति के साहचर्य में रहकर तदनुकूल जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देता है-

न्यस्यन्ते ये नराः पादान प्रकृत्याज्ञानुसारतः ।
स्वस्थाः सन्तुस्तु ते नूनं रोगमुक्ता भवन्ति हि ॥

अर्थात्- "जो मनुष्य प्रकृति के नियमानुसार आहार-विहार रखते हैं, वे रोगों से मुक्त रहकर स्वस्थ जीवन बिताते हैं ।"

स्वास्थ्य को ठीक रखने और बढ़ाने का राजमार्ग प्रकृति के आदेशानुसार चलना, प्राकृतिक आहार-विहार को अपनाना, प्राकृतिक जीवन व्यतीत करना है। अप्राकृतिक, अस्वाभाविक, कृत्रिम, आडम्बर और विलासितापूर्ण जीवन बिताने से लोग बीमार बनते हैं और अल्पायु में ही काल के ग्रास बन जाते हैं ।

मनुष्य के सिवाय सभी जीवजन्तु, पशु-पक्षी प्रकृति के नियमों का आचरण करते हैं । फलस्वरूप उन्हें तरह-तरह की बीमारियाँ होती हैं और वैद्य-डाक्टरों की जरूरत पड़ती है। जो पशु-पक्षी मनुष्यों द्वारा पाले जाते हैं और अप्राकृतिक आहार-विहार के लिए विवश होते हैं वे भी बीमार पड़ जाते हैं और उनके लिए पशु चिकित्सालय खोले गये हैं । परन्तु स्वतंत्र रूप से जंगलों और मैदानों में रहने वाले पशु-पक्षियों में कहीं बीमारी और कमजोरी का नाम नहीं दिखाई पड़ता। इतना ही नहीं किसी दुर्घटना अथवा आपस की लड़ाई में घायल और अधमरे हो जाने पर भी वे स्वयं ही चंगे हो जाते हैं । प्रकृति की आज्ञा का पालन स्वास्थ्य का सर्वोत्तम नियम है ।

प्राकृतिक जीवन स्वास्थ्य का मूलमंत्र है

पृथ्वी पर रहने वाले पशुओं का अध्ययन कीजिए । गाय, भैंस, बकरी, भेड़, घोड़ा, कुत्ता, बिल्ली, ऊँट इत्यादि जानवर अधिकतर प्रकृति के साहचर्य में रहते हैं, उनका भोजन सरल और स्वाभाविक रहता है, खान-पान तथा विहार में संयम रहता है। घास या पेड़-पौधों की हरी ताजी पत्तियाँ या फल इत्यादि उनकी क्षुधा निवारण करते हैं, सरिताओं और तालाबों के जल से वे अपनी तृषा निवारण करते हैं, ऋतुकाल में विहार करते हैं । प्रकृति स्वयं उन्हें काल और ऋतु के अनुसार कुछ गुप्त आदेश दिया करती हैं, उनकी स्वयं की वृत्तियाँ उन्हें आरोग्य की ओर अग्रसर करती हैं । उन्हें ठीक मार्ग पर रखने वाली प्रकृति माता ही है । यदि कभी किसी कारण से वे अस्वस्थ हो भी जाँय, तो प्रकृति स्वयं अपने आप उनका उपचार भी करने लगती हैं । कभी पेट के विश्राम द्वारा, कभी धूप, मालिश, रगड़, मिट्टी के प्रयोग, उपवास द्वारा, कभी ब्रह्मचर्य द्वारा किसी

न किसी प्रकार जीव-जन्तु स्वयं ही स्वास्थ्य की ओर जाया करते हैं ।

पक्षियों को देखिए। संसार में असंख्य पक्षी हैं । हम उन्हें इधर-उधर पेड़-पौधों पर उड़ता, फुदकता, चहकता, आनन्द-मंगल करता देखते हैं, उनका मधुर गुञ्जन हमारे हृदय सरोवर को तरंगित कर देता है । उनका रंग, भाव भंगी, शरीर की बनावट हमारे मन को मोह लेती है। कौन इन्हें इतना सुन्दर, फुर्तीला सुरीला रखता है? कौन इनके स्वास्थ्य की खैर-खबर रखता है? कौन इन्हें आरोग्य के सम्बन्ध में पाठ पढ़ाता है? और जब ये बीमार पड़ते हैं, तो कौन इनकी दवा-दारू करता है? हमने पक्षियों को बीमारी से अकाल में मरते नहीं देखा। अधिकांश को अन्य पक्षी या मनुष्य मार कर खाते हैं । वे स्वयं अपनी मूर्खता से बीमारी बुलाकर बहुत कम मरते हैं । उनमें पूर्ण स्वस्थ रहने और आरोग्य का मधुर आनन्द लाभ करने की सामर्थ्य है। प्रकृति उनके शरीर की रक्षा करती है । स्वयं शरीर के अन्दर एकत्रित हो जाने वाले विषों को निकालने का प्रयत्न करती है, शरीर के संवर्धन का पूरा-पूरा विधान रखती है। वही उनका डाक्टर, हकीम या वैद्य है ।

प्रकृति में प्रचुरता है, हर प्रकार की प्रचुरता है । आनन्द, स्वास्थ्य, आरोग्य की इतनी अधिकता है कि हम उसका सीमा बन्धन नहीं कर सकते । स्वास्थ्य की उस अधिकता के कारण ही प्रकृति के अनेक पशु-पक्षी, जीव-जन्तु जीवन का आनन्द लेते हैं । जल, वायु, प्रकाश, भोजन से जीवन तत्व खींचकर वे दीर्घ जीवन के सुख लूटते हैं ।

प्रकृति के कण-कण में, पत्तियों, फलों, पौधों तथा जल की प्रत्येक बूँद में आरोग्य भरा हुआ है । वायु के प्रत्येक अंश को जिसे हम अन्दर खींचते हैं, जल के प्रत्येक घूँट में जिसे हम पीते हैं, फल और तरकारियों के कण-कण में स्वास्थ्य और बल हमारे लिए संचित है । प्रकृति के पास जीवन को सर्वांग-रूप से स्वस्थ रखने के लिए सभी उपकरण हैं ।

प्रकृति में वैचित्र्य है । अपने-अपने स्वभाव, रुचि, काल, अवस्था, परिस्थिति के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति जीव-जन्तु, पक्षी प्रकृति से जीवन-शक्ति खींचता है, उसके द्वारा जैसा भी शरीर उसे मिला है, उसे स्वस्थ और सुन्दर बनाता है, अपनी समस्त शक्तियों को कार्यशील रखता है। प्रकृति के भण्डार में सभी कुछ है । शहद जैसा मधुर पदार्थ क्या कभी मनुष्य बना सकता था ? दुग्ध जैसा अमृत-सदृश पदार्थ किसी रासायनिक प्रयोगशाला में तैयार किया जा सकता था ? मेवे, फल, तरकारियाँ, गन्ना, प्रकृति ने इस प्रचुरता से उत्पन्न किये हैं कि प्रत्येक जीव को अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उचित मात्रा में ये भोजन के पदार्थ उपलब्ध हो जाते हैं । सर्प अपना विष एकत्रित करता है, मधुमक्खी शहद जुटाती है, नींबू खटाई के तत्व पृथ्वी से खींचता है तो करेला कड़वाहट एकत्रित करता है । प्रकृति में षट्-रस का विधान है । इन षट्-रसों में जो जिसे रुचे वह उसी से अपना स्वास्थ्य स्थिर रखता है ।

प्रकृति में किसी भी लक्ष्य की पूर्ति के लिए सभी साधन विद्यमान हैं । आपको बाह्य उपचारों की आवश्यकता नहीं । आप जैसा भी काम करना चाहें उसके लिए सभी उपकरण एकत्रित कर सकते हैं । भाँति-भाँति की जड़ी-बूटियाँ, पौष्टिक पदार्थ, अमृतोपम दिव्य पदार्थ हमारे लिए संचित हैं । मिट्टी से लेकर धूप, जल, वायु, सूर्य-किरण इत्यादि तक को यह शक्ति दी गई है कि वे हमारे शरीर को सबल और स्वस्थ बना सकें ।

प्राकृतिक सौन्दर्य

प्रकृति में वास्तविक सुन्दरता है । आजकल के फैशन के भार से युक्त पुरुष या स्त्री को लोग सुन्दर समझते हैं उसकी प्रशंसा करते नहीं थकते । यह भ्रम-मात्र है। वास्तविक सौन्दर्य तो पूर्ण रूप से सुविकसित, परिपुष्ट और स्वस्थ शरीर में है । प्रत्येक पुट्ठे और मांसपेशी में स्वाभाविक सौन्दर्य है । जिस युवक या युवती के शरीर में लाल-लाल रक्त प्रवाहित होता है, जिसके शरीर में स्वा-भाविक लालिमा वर्तमान है, जिनका डीलडौल सन्तुलित है, न कोई अंग पतला है, न कोई मोटा, न बादी न चर्बीयुक्त, न पेट ही बढ़ा हुआ है, नेत्र सुन्दर और चमकदार हैं, त्वचा कोमल और लाल है, फेफड़े परिश्रम सहन कर लेते हैं और गहरी नींद और आराम देते हैं, शुद्ध जल से (सोड़ा, लेमन, शराब, चाय, शरबत से नहीं) जिनकी प्यास शान्त हो जाती है, चूरण-चटनी पर जिनकी जिह्वा नहीं लपलपाती, जिनके स्वभाव में न चिड़-चिड़ापन है, न क्रोध न उतावलापन, उदासी या निरुत्साह है, ऐसे स्वस्थ मनुष्य को ही पूर्ण सुन्दर कहना युक्ति संगत है।

एक प्रकृति प्रेमी के शब्दों में "मोर के नीले-हरे पंख, सिंह की अयाल, बारहसिंहा के उलझे हुए लम्बे सींग, सांड़ के चौड़े कंधे, मुर्गे की कलंगी, साँप का चौड़ा फन,

बिलाव की लम्बी मूँछ को सुन्दर मानने से कौन इन्कार कर सकता है? पशु-पक्षियों में सारी सुन्दरता नर-वर्ग को मिली है। प्रकृति ने जहाँ नर वर्ग को सुन्दरता प्रदान की वहाँ शक्ति भी दी। वस्तुतः पुरुष का सौन्दर्य उसकी शक्ति में निहित है। उसका सौन्दर्य उसकी शक्ति द्वारा प्रस्फुटित होता है।''

पुरुष हो या स्त्री-यदि वह पूर्ण स्वस्थ और सुन्दर बना रहना चाहता है, या कुरूप से सुरूप होना चाहता है तो उसे प्रकृति का आश्रय ग्रहण करना होगा। प्रकृति के नियमों का पालन करना होगा। व्यायाम और प्राकृतिक भोजन के द्वारा, शरीर की प्रत्येक मांसपेशी को संतुलित रूप में विकसित करना होगा, शक्ति का अर्जन करना होगा-तभी हम सुन्दर बन सकेंगे। प्रकृति में ही वास्तविक सुन्दरता विद्यमान है।

चेहरे पर लाल रंग, पाउडर, क्रीम पोतने से क्या लाभ? वह तो पानी से धुल जायगा। यदि शरीर में मांस, स्वस्थ रक्त, उत्तम स्वास्थ्य और आरोग्य नहीं तो उसे रेशमी कपड़ों या आभूषणों से अलंकृत करने से क्या सौन्दर्य प्राप्त हो सकेगा? वास्तविक सौन्दर्य, जो चिरस्थायी है, जिसमें ईश्वरत्व प्रकट होता है, वह प्राकृतिक सौन्दर्य ही है।

प्रकृति हमारी भूलें सुधारती है

हमारे शरीर की रचना ही कुछ ऐसी बनाई गई हैं कि प्रकृति अवांछनीय विजातीय द्रव्यों, संचित विषों, गंदी वस्तुओं या विषैले पदार्थों को भिन्न-भिन्न द्वारों से निकालकर बाहर करती रहती है। हमारी छोटी-मोटी भूलों, जैसे खान-पान का असंयम, अत्यधिक थकान, चलते-फिरते, उठते-बैठते जीवन शक्तियों की न्यूनता इत्यादि को प्रकृति स्वयं दुरुस्त करती है और प्रायः प्रकृति के इस उपयोगी कार्य का हमें पता भी नहीं चलता। सृष्टि के सभी जीव-जन्तु इन्हीं प्राकृतिक क्रियाओं से स्वस्थ रहते हैं। प्रकृति ने प्रत्येक शरीर में ऐसे-ऐसे गुप्त द्वार रखे हैं, जिनके द्वारा विषैले पदार्थ स्वयं निकलते रहते हैं और हमारी आकृति में यथोचित सुन्दरता को अक्षुण्ण रखते हैं। यदि प्रकृति इस महान कार्य को अपने आप स्वाभाविक गति से सम्पन्न न करती, तो हमारे शरीर बेढंगे हो जाते, अंगों में भद्दापन और विषमता उत्पन्न हो जाती, हम लोग रोज ही अपच, कब्ज, स्थूलता, सूजन, फोड़े-फुन्सी, गठिया, प्रमाद, सिर दर्द या अन्य ऐसे ही छोटे-मोटे रोगों के शिकार रहा करते। भाग्यवश ऐसा नहीं है। हमारे शरीर के अन्दर व्याप्त प्रकृति इन विषैले पदार्थों से निरन्तर संघर्ष करती रहती है, अनावश्यक पदार्थों को शरीर में ठहरने नहीं देती और हमारे साधारण शारीरिक विकारों को दुरुस्त करती है।

प्राकृतिक रूप से स्वस्थ मनुष्य की पहिचान

प्रकृति ने मनुष्य को विश्व का सबसे सुन्दर, शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक शक्तियों से सम्पन्न, स्वस्थ, सशक्त, सुडौल, दीर्घजीवी प्राणी बनाया है। आरोग्य और उत्तम स्वास्थ्य का मार्ग उसने बड़ा सरल और सीधा रखा है। मनुष्य तो क्या अल्पबुद्धि वाले पशु-पक्षी भी उसे भली-भाँति समझ सकते हैं। प्राकृतिक जीवन की आधारशिला क्या है, इसके लिए कुछ ज्ञातव्य बातें यहाँ दी जाती हैं-

(१) **डीलडौल**- स्वस्थ मनुष्य का आकार संतुलित होना चाहिए। कद काफी ऊँचा हो, न शरीर पतला-दुबला अस्थिपंजरवत् हो, न भारी-भरकम मांस से लटकता हुआ, थुलथुला हो। प्रत्युत संतुलित रूप से प्रत्येक अंग विकसित हो, शरीर की मशीन का प्रत्येक कलपुर्जा ठीक काम करता हो। प्रशस्त उन्नत ललाट, चमकदार नेत्र, माथे व गालों पर स्वाभाविक रक्त की लालिमा हो, सिकुड़न का नाम तक न हो। पाँव व जाँघ मजबूत और शरीर का भार वहन कर सकने वाली हो। शरीर श्रम व मौसम के परिवर्तनों को सम्हाल सकें, रोग से लड़ सकें, आमाशय अपना कार्य उचित रीति से करता रहे।

(२) **आन्तरिक अवस्था**- पाचन क्रिया अपना कार्य ठीक से करे, शुद्ध लाल खून निर्मित हो, शरीर से मल-विसर्जन कार्य अपनी स्वाभाविक गति से होता रहे। जो भोजन खाया जाय, वह शरीर को परिपुष्ट एवं स्वस्थ रखे, अपच या दस्त से निकल न जाय। कभी अपच, कभी कब्ज, दस्त, पेट में दर्द इत्यादि न हों। खाया हुआ भोजन चार-पाँच घण्टे में पच जाय। खाना खाते समय रुचि एवं स्वाद स्वास्थ्य के सूचक हैं। भोजन के उपरान्त आलस्य या नींद नहीं आना चाहिए। चटपटी चीजों पर मन न चले, साधारण भोजन में ही मजा आये।

(३) **हृदय तथा फेंफड़े**- शरीर के दो महत्वपूर्ण अंग हृदय तथा फेंफड़े हैं। स्वस्थ मनुष्यों में ये दोनों ही बड़े मजबूत होने अनिवार्य हैं। तेज भागने में आप हाँफ न जाँय, मुख में से श्वाँस न लेने लगें। यह स्वस्थ फेंफड़ों की

१

पहचान है । सुषुप्तावस्था में मुँह से श्वाँस लेने की आदत कमजोर फेंफड़ों की निशानी है। स्वस्थ फेंफड़े बाहर से स्वच्छ वायु अन्दर लेकर रक्त की सफाई में सहायता करते हैं और अशुद्ध वायु को बाहर निकालते हैं । हृदय दूषित रक्त की सफाई निरन्तर किया करता है । स्वस्थ फेंफड़े और मजबूत हृदय मनुष्य को परिश्रमी और स्वस्थ बनाते हैं ।

(४) मल विसर्जन कार्य- शरीर में जो कूड़ा-करकट या गंदगी एकत्रित होती रहती है, उसे निकालने के लिए प्रकृति ने कई द्वार बना रखे हैं । मलमार्ग, मूत्रमार्ग, यकृत, त्वचा, फेंफड़ों के अतिरिक्त हमारे नेत्र और कान भी स्वास्थ्य के शत्रु-शरीर के अंग-प्रत्यंगों में उत्पन्न हुए विकारों को निकाला करते हैं । जब तक हमारे शरीर के ये विकार स्वाभाविक गति से स्वयं बाहर निकलते रहें, तब तक हम अपनी मल-विसर्जन इन्द्रियों को स्वस्थ नहीं कह सकते ।

यदि मल विसर्जन कार्य में किसी भी प्रकार की पीड़ा होती है, तो आप स्वस्थ नहीं हैं । यदि मल या मूत्र के साथ रक्त आता है तो उसके दो कारण हो सकते हैं । (१) शरीर के उस भाग में कुछ चोट, घाव या सूजन आ गई है अथवा (२) आन्तरिक रूप से कुछ विकार हो गया है। मलमूत्र करने के पश्चात् एक प्रकार से शान्ति होनी चाहिए । यदि रक्त या पीव आवे, मल-मार्ग से कीड़े आवें तो आन्तरिक विकारों के सूचक हैं ।

(५) मानसिक स्थिति- स्वस्थ्य मनुष्य मधुर, तृप्त और उत्साही ही होता है चिन्ताएँ उसे नहीं सतातीं, चिड़चिड़ापन, क्रोध, उतावलापन, उदासी, निरुत्साह ये सब शरीर में संचित नाना प्रकार के विकारों के द्योतक हैं। अशान्त चित्त, अशुद्ध विचारों से युक्त मन, अतृप्त काम वासना से भरा हुआ अन्तःकरण मानसिक विक्षुब्धता के प्रतीक हैं ।

अहंकार एक प्रकार की मानसिक बीमारी है, चित्त की व्यग्रता, अतृप्त वासनाएँ, विघ्न-बाधाओं से मिथ्या डर, कुत्सित कल्पनाएँ, कायरता आदि सब गिरे हुए स्वास्थ्य की निशानी हैं । इसके विपरीत निर्बल शरीर में भय बाधा, भूतप्रेत के भय, विकार, काम वासनाएँ, क्रोध, ईर्ष्या, मोह इत्यादि भरे पड़े रहते हैं ।

स्वास्थ्य से पवित्र विचार आते हैं, मन प्रसन्न और शुभ कल्पनाओं, मधुर विचारों से परिपूर्ण रहता है। काम में जी लगता है, आलस्य या उदासी नहीं सताती, हृदय मुस्कराते हुए पुरुषों को देखकर प्रफुल्ल होता है, चमचमाते हुए तारक-वृन्द को देखकर चमचमाता है । हम प्राकृतिक दृश्यों को देखकर मोहित हो जाते हैं । प्रकृति का सन्देश हमें हर फूल, पत्ती और पुष्प सुनाता है।

यदि आप प्रकृति के नियमों का अतिक्रमण न करें, प्रकृति के परिवार के अन्य सदस्यों की भाँति सचाई और ईमानदारी से उनका पालन करते रहें, तो स्वाभाविक रूप से आप अपनी पूरी आयु का आनन्द ले सकेंगे । प्रकृति ने आपको बहुत उच्चकोटि का जीव बनाया है प्रसन्नता का स्रोत आपके हृदय में प्रवाहित होना चाहिए । आनन्द से आपका निकट सम्बन्ध होना अनिवार्य है। यदि आप प्रकृति के निकट रह सकें, तो निश्चय जानिए आपका स्वभाव सदैव शान्त और गम्भीर रहेगा, आपका हृदय आन्तरिक आह्लाद से भरा रहेगा और आप जीवन का स्वर्गीय आनन्द लूट सकेंगे ।

स्वामी शिवानन्द जी के शब्दों में, 'प्रकृति का स्वभाव अत्यन्त कठोर और दयालु है। वह अत्यन्त न्यायप्रिय है, वह न्याय में क्षमा नहीं करना जानती । सदाचारियों के लिए प्रकृति परम प्यारी माता है और दुराचारियों के लिए वह पूरी राक्षसी है । वह स्वयं राक्षसी कदापि नहीं है । वह परम दयालु जगतमाता है। केवल दुराचारियों को (जो प्रकृति के नियम तोड़कर अस्वाभाविक जीवन व्यतीत करते हैं) वह राक्षसी प्रतीत होती है। दण्ड में भी प्रकृति हमें सुधारने का काम करती है। ठोकर खाने पर ही मनुष्य सावधान होता है।'

प्रकृति तत्व से हमारी अनभिज्ञता के दुष्परिणाम

आज दवाई का इतना प्रचार हमारे अप्राकृतिक जीवन का द्योतक है । पहिले तो हम प्रकृति के नियमों को तोड़ते हैं । जब प्रकृति हमें रोग के रूप में सजा देती है तो हम तरह-तरह की दवाइयाँ खाते हैं । इस प्रकार क्या युवक और क्या युवतियाँ रसातल के मार्ग में जा रहे हैं । गुप्त रोगों, मूत्र रोगों की संख्या दिन-प्रतिदिन वृद्धि पर है। हमारा भोजन अप्राकृतिक हो चला है, हमारी रहायश अस्वाभाविक हो चली हैं । हम दिन में सोते, रात में सिनेमा देखते, होटलों-नाचघरों में मजेदारियाँ करते फिरते हैं । अप्राकृतिक रोशनी में पढ़ते-लिखते हैं और असमय ही नेत्र रोगों से पीड़ित हो जाते हैं । अतिगर्म चाय और अति शीतल बर्फदार शर्बत या सोडा लेमन पीकर हम दन्त रोगों के शिकार बनते हैं । आज के नब्बे प्रतिशत फैशनपरस्त

नवयुवक नेत्र और दन्त रोगों से पीड़ित हैं । अस्वाभाविक मैथुन, वीर्यपात और व्यभिचार के चक्कर में फँसे हुए नवयुवकों की संख्या का पता हमें गुप्त रोगों के बढ़ते हुए विज्ञापनों और चिकित्सकों से लगता है । कलकत्ता शहर की गली-गली में स्वप्नदोष या धातुक्षय का इलाज होता है।

अप्राकृतिक रीतियों से कच्ची उम्र में वीर्यपात का दुष्परिणाम बड़ा भयंकर होता है, शरीर जर्जर होता है, युवक भी वृद्ध-सा दीखता है। भले ही हम कितनी ही चालाकी से पाप करें किन्तु प्रकृति बड़ी सतर्कता से सब कुछ देखती है। उसके दरबार में माफी नहीं है । क्या बड़ा, क्या छोटा, सभी को वह दण्ड देती है । उसकी आँखों को धोखा नहीं दिया जा सकता, प्रत्येक नीच कर्म के लिए सजा का विधान है । प्रकृति माता अपने हाथ में डण्डा लिए, तुम्हारे मर्मस्थानों पर कठोर प्रहार करने के लिए तैयार रहती है । ज्यों-ज्यों तुम वीर्य नाश करोगे, त्यों-त्यों वह तुम्हें मारते-मारते बेदम व अधमरा कर देगी । तब भी यदि न चेतोगे या सुधरोगे, तब अन्त में तुम्हारा इन्तजार करती हुई मृत्यु की ओर तुम्हें सड़े फल की तरह फेंक देगी तुम्हें उठाकर नर्क कुण्ड में डाल देगी ।

प्रकृति और दीर्घजीवन

विश्वास रखिए प्रकृति के नियम पालन करने से रोगी से रोगी व्यक्ति पुनः स्वास्थ्य और आरोग्य प्राप्त कर सकता है। दुबले-पतले जर्जरित शरीर पुनः हृष्टपुष्ट और सशक्त बन सकते हैं । जो कार्य पौष्टिक दवाइयाँ भी नहीं कर सकतीं, वह प्रकृति के नियमानुसार रहने से अनायास ही प्राप्त हो सकता है। वेदों में निर्देश किया गया है-

''**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतंसमाः**''

(यजु. ४०/२)

अर्थात्- काम करते हुए सौ वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा करनी चाहिए ।''

पश्येम शरदः शतं । जीवेम शरदः शतं ॥
श्रृणुयाम शरदः शतं । प्रब्रवाम शरदः शतं ॥
अदीनाःस्याम शरदः शतं । भूयश्च शरदः शतात् ॥

(यजु. ३६/२४)

''हम सौ वर्ष तक देखें, सौ वर्ष तक जीवें, सौ वर्ष तक सुनें, सौ वर्ष तक बोलें, सौ वर्ष तक समृद्धिशाली रहें ।''

उपरोक्त कथन में हमारे पूर्व पुरुषों ने यह माना है कि यदि हम सचाई से प्राकृतिक नियमों का पालन करें और उनके अनुसार प्राकृतिक जीवन व्यतीत करें, तो हमें अपनी पूरी आयु (अर्थात् सौ वर्ष) तक जीने का अधिकार है और यदि पुरुषार्थ करें तो हमें इससे भी अधिक जीना चाहिए ।

यदि प्राकृतिक जीवन अपनाया जाय तो सौ वर्ष तक जीवित रहना कोई बड़ी बात नहीं है । हमारे पूर्व पुरुष, ऋषि-मुनि इत्यादि प्रकृति के पुण्य प्रताप से बड़ी-बड़ी उम्रें वाले हुए हैं । ग्रीस देश के इतिहास में उल्लेख हैं- ''भारत में एक सौ चालीस वर्ष की आयु तक कई व्यक्ति जीते हैं, सौ वर्ष से ऊपर के मनुष्य को एक निराला नाम देने में आता है।'' यह लेख आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व का है। यदि स्वाभाविक रीति से हम जीते चलें, प्रकृति के नियमों का पालन करते चलें तो आयु क्षीण न होगी । दीर्घायु प्राप्त करने के लिए प्राकृतिक नियमों का पालन अत्यन्त आवश्यक है ।

तत्वों की न्यूनाधिकता से रोगोत्पत्ति

रोगी होना और निरोग रहना प्राकृतिक तत्वों की स्थिति पर निर्भर करता है। आहार-विहार की असावधानी के कारण तत्वों का नियत परिणाम घट-बढ़ जाता है । फलस्वरूप बीमारी खड़ी हो जाती है । वायु की मात्रा में अन्तर आ जाने से गठिया, लकवा, दर्द, कम्प, अकड़न, गुल्म, हड़फूटन, नाड़ी विक्षेप आदि रोग उत्पन्न होते हैं । अग्नि तत्व के विकार से फोड़े-फुन्सी, रक्त-पित्त, हैजा, दस्त, क्षय, श्वांस, उपदंश दाह, खून फिसाद आदि बढ़ते हैं । जलतत्व की गड़बड़ी से जलोदर, पेचिश, संग्रहणी, बहुमूत्र, प्रमेह, स्वप्नदोष, सोम, प्रदर, जुकाम, खाँसी जैसे रोग पैदा होते हैं । पृथ्वी तत्व बढ़ जाने से फीलपाँव, तिल्ली-जिगर, रसौली, मेदवृद्धि, मोटापा आदि रोग होते हैं । आकाश तत्व के विकार से मूर्च्छा, मृगी, उन्माद, पागलपन, सनक, अनिद्रा, बहम, घबराहट, दुःस्वप्न, गूंगापन, बहरापन, विस्मृति आदि रोगों का आक्रमण होता है। दो, तीन या चार, पाँच तत्वों के मिश्रित विकारों से विकारों की मात्रा के अनुसार अनेकानेक रोग उत्पन्न होते हैं ।

अग्नि की मात्रा कम हो जाय तो शीत, जुकाम, नपुंसकता, गठिया, मंदाग्नि, शिथिलता, सरीखे रोग उठ खड़े होते हैं और यदि उसकी मात्रा बढ़ जाय तो चेचक, ज्वर, फोड़े सरीखे रोगों की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार अन्य तत्वों की कमी हो जाना, बढ़ जाना अथवा विकृत

हो जाना रोगों का हेतु बन जाता है । शरीर प्रकृति के पंच तत्वों का बना है, यदि सब तत्व अपनी नियत मात्रा में यथोचित रूप से रहें तो बीमारियों का कोई कारण नहीं रहता। जैसे ही इनकी उचित स्थिति में अन्तर आता है वैसे ही रोगों का उद्‌भव होने लगता है। रसोई का स्वादिष्ट और लाभदायक होना इस बात पर निर्भर करता है कि उसमें पड़ने वाली चीजें नियत मात्रा में हों। चावल, दलिया, दाल, हलुआ, रोटी आदि में यदि अग्नि कम ज्यादा लगे, पानी ज्यादा या कम पड़ जाय, नमक, चीनी, घी आदि की मात्रा बहुत कम या बहुत ज्यादा हो जाय, तो भोजन का स्वाद गुण और रूप बिगड़ जाता है। यही दशा शरीर की है, तत्वों की मात्रा में गड़बड़ी पड़ जाने से स्वास्थ्य में निश्चित रूप से खराबी आ जाती है ।

जिस कारण से कोई विकार पैदा हुआ हो उसी कारण को दूर करने से वह विकार भी दूर हो जाता है। काँटा लग जाने से दर्द हो रहा है तो उस काँटे को निकाल देने से दर्द भी बन्द हो जाता है। मशीन में तेल न होने के कारण वह भारी चल रही हो और आवाज कर रही हो तो उसके कल-पुर्जों में तेल डाल देने से वह खराबी दूर हो जाती है। दीवार में से ईंट निकल जावें तो वहाँ ईंट लगानी पड़ती है और जहाँ चूना निकल गया हो वहाँ चूना लगा देने से मरम्मत हो जाती है। यही बात स्वास्थ्य सुधार के बारे में भी है। जिस तत्व की न्यूनता-अधिकता या विकृति से वह गड़बड़ी पैदा हुई हो उसे सुधार देने से सारा संकट टल जाता है ।

तत्व-चिकित्सा का यही आधार है, पंच तत्वों के बने शरीर को निरोग बनाने के लिए पंच तत्वों द्वारा चिकित्सा करना ही सबसे अच्छा उपाय है। इस उपाय से सुविधापूर्वक बीमारियों का निवारण हो जाता है ।

मिट्‌टी का उपयोग

मिट्‌टी में विष को खींचने की अद्‌भुत शक्ति है। शरीर के जिस भाग को मिट्‌टी में डाला जायगा, उसका विकार गीली मिट्टी में खिचकर चला जायगा । गीली मिट्‌टी को शरीर के किसी रोग युक्त अंग पर बाँध दिया जाय और फिर थोड़े समय बाद उसे खोला जाय तो उस मिट्‌टी में मनुष्य शरीर का विष बहुत अधिक मात्रा में मिलेगा ।

मिट्‌टी के उपयोग से स्वास्थ्य सुधार में हमें बहुत सहायता मिल सकती है। उस लाभ से वंचित न रहना चाहिए। निर्दोष पवित्र भूमि पर नंगे पाँवों टहलना चाहिए। जहाँ हरियाली, छोटी-छोटी नरम घास उग रही हो वहाँ टहलना तो और भी अच्छा है। सोने के लिए यदि मुलायम जमीन पर बिस्तर लगाया जाय तो बड़ा अच्छा है । ऐसा न हो सके तो चारपाई को जमीन से बहुत ऊँचा न रख कर समीप रखना चाहिए, जिससे भूमि से निकलने वाली वाष्प अधिक मात्रा में प्राप्त होती रहे, पहलवान लोग चाहे वे अमीर ही क्यों न हों रुई के गद्दों पर कसरत करने की बजाय मुलायम मिट्‌टी के अखाड़ों में ही व्यायाम करते हैं ताकि मिट्‌टी के अमूल्य गुणों का लाभ उनके शरीर को प्राप्त होता रहे ।

आजकल साबुन से स्नान करने का फैशन चल पड़ा है, परन्तु मिट्‌टी का प्रयोग साबुन की अपेक्षा हजार दर्जे अच्छा है। साबुन में पड़ने वाला कास्टिक सोड़ा त्वचा में खुश्की पैदा करता है और रोमकूपों को रोकता है। किन्तु मिट्‌टी में यह बात नहीं है। वह मैल को दूर करती, तरावट लाती है, रोम कूपों को स्वच्छ करती है, विष को खींचती है और त्वचा को कोमल ताजा, चमकीली एवं प्रफुल्लित कर देती है । मिट्‌टी शरीर पर लगाकर स्नान करना एक अच्छा उबटन है, उससे गर्मी के दिनों मे उठने वाली मरोड़ियाँ-फुन्सियाँ दूर हो जाती हैं । सिर के बालों को मुलतानी मिट्‌टी से धोने का रिवाज अभी तक मौजूद है। इससे मैल दूर होता है। बाल काले मुलायम और चिकने रहते हैं तथा मस्तिष्क में तरावट पहुँचती है। अशुद्ध हाथ साफ करने के लिए मिट्‌टी ही प्रयोग में लानी चाहिए । बर्तन आदि साफ करने के लिए इससे अच्छी और कोई चीज है ही नहीं ।

बीमारियों में मिट्‌टी का प्रयोग गीली मिट्‌टी की पट्‌टी के रूप में करना चाहिए । साफ स्थान की कूड़ा-कचरा, कंकड़ आदि से रहित चिकनी मिट्‌टी चिकित्सा कार्य के लिए अच्छी होती है। कौन-सी मिट्‌टी अच्छी है कौन-सी खराब है इसके लिए अधिक परेशान होने की आवश्यकता नहीं है । अपने आस-पास के किसी साफ स्थान से सूखी मिट्‌टी ले लेनी चाहिए। यह जितनी चिकनी होगी उतनी ही अच्छी होगी । बालू, रेत या बिखर जाने वाली भुसभुसी मिट्‌टी ठीक नहीं होती । चूल्हा पोतने के

लिए जिस मिट्टी को स्त्रियाँ काम में लाती हैं वह ठीक है। मुलतानी मिट्टी जो सिर धोने के काम आती है और गेरू खड़िया आदि बेचने वाले पंसारियों के यहाँ मिलती है, वह भी अच्छी है। मिट्टी को कूटकर महीन करके फिर उसे चलनी में छान लेना चाहिए जिससे यदि उसमें कूड़ा-कचरा कंकड़ आदि हों तो निकल जावें ।

इस छनी हुई मिट्टी में से अपनी आवश्यकता भर लेकर किसी चौड़े तसले, परात आदि बर्तन में रखना चाहिए और उसमें खौलता हुआ पानी इतनी मात्रा में मिलाना चाहिए कि मिट्टी उतनी ही गीली हो पावे जितनी कि कुम्हार की मिट्टी होती है या रोटी बनाने का आटा होता है। पानी डालकर उसे कुछ देर रखा रहने देना चाहिए जिससे मिट्टी भली प्रकार गल जाय और पानी की गर्मी ठण्डी हो जाये खौलता हुआ पानी डालने का प्रयोजन यह है कि उस मिट्टी में यदि कोई रोग कीटाणु किसी प्रकार पहुँच गये हों तो वे गर्मी के द्वारा नष्ट हो जायें ।

मिट्टी की पट्टी प्राय: हर बीमारी में फायदा पहुँचाती है। ऐसा भय न करना चाहिए कि इससे ठण्ड लग जायगी, यह भ्रम अनेक परीक्षणों के बाद गलत साबित हुआ है। अन्दरूनी ऐसे गहरे विकार जहाँ तक दवा का असर ठीक तरह नहीं पहुँच सकता, मिट्टी के उपचार से अच्छे हो जाते हैं । गुर्दे की खराबी, मूत्राशय के रोग, पेट के भीतरी फोड़े, गर्भाशय के विकार, दिल की धड़कन, फेंफड़ों का क्षय, जिगर की सूजन आदि शरीर के अधिक भीतरी भाग में होने वाले रोगों में उदर या छाती पर मिट्टी की पट्टी बाँधने से भीतरी विष धीरे-धीरे खिंच आता है और वे प्राण घातक रोग अच्छे हो जाते हैं ।

अग्नि तत्व का प्रयोग

अग्नि तत्व जीवन का उत्पादक है । गर्मी के बिना कोई जीव या पौधा न तो उत्पन्न हो सकता है और न विकसित होता है । चैतन्यता जहाँ कहीं भी दिखाई पड़ती है उसका मूल गर्मी है । गर्मी समाप्त होते ही क्रियाशीलता समाप्त हो जाती है, शरीर की गर्मी का अन्त हो जाय तो जीवन का भी अन्त ही समझिये । अग्नि तत्व को सर्वोपरि समझते हुए आदि वेद ऋग्वेद में सर्वप्रथम मंत्र का सर्वप्रथम शब्द 'अग्नि' ही आया है। 'अग्नि मीले पुरोहितं' मंत्र में वेद भगवान ने ईश्वर को अग्नि नाम से पुकारा है ।

सूर्य अग्नि तत्व का मूर्तिमान प्रतीक है । इसीलिए सूर्य को जगत् की आत्मा माना गया है । हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि जिन पेड़-पौधों और जीव-जन्तुओं को धूप पर्याप्त मात्रा में मिलती है वे स्वस्थ और निरोग रहते हैं । इसके विपरीत जहाँ धूप की जितनी कमी होती है वहाँ उतनी ही अस्वस्थता रहती है। अंग्रेजी में एक कहावत है कि 'जहाँ धूप नहीं जाती वहाँ डाक्टर जाते हैं ।' अर्थात् प्रकाश रहित स्थानों में बीमारियाँ रहती हैं ।

भारतीय तत्ववेत्ता अति प्राचीनकाल से सूर्य के गुणों से परिचित हैं, इसलिए उन्होंने सूर्य-उपासना की नाना विधि व्यवस्थाएँ प्रचलित कर रखी हैं । अब पाश्चात्य भौतिक विज्ञानवादी भी सूर्य के अद्भुत गुणों से परिचित होते जा रहे हैं । सूर्य की सप्त किरणों में अल्ट्रा वायलेट और अल्फा वायलेट किरणें स्वास्थ्य के लिए बड़ी उपयोगी साबित हुई हैं । मशीनों द्वारा कृत्रिम रूप से भी यह किरणें पैदा की जाने लगी हैं, पर जितना लाभ सीधे सूर्य से आने वाली किरणों से होता है उतना मशीन द्वारा निर्मित किरणों से नहीं होता ।

योरीप अमेरिका में अब रोगियों को धूप के उपचार द्वारा अच्छा करने का विधान बड़े जोरों से चलने लगा है। वहाँ बड़े-बड़े अस्पताल केवल सूर्य शक्ति से बिना किसी औषधि के रोगियों को अच्छा करते हैं । क्रोमोपैथी नामक एक स्वतंत्र चिकित्सा पद्धति का आविष्कार हुआ है । जिसमें रंगीन काँच की सहायता से सूर्य की अमुक किरणों को आवश्यकतानुसार रोगी तक पहुँचाया जाता है। रोग कीटाणुओं का नाश करने की जितनी क्षमता धूप में है उतनी और किसी वस्तु में नहीं होती । क्षय के कीड़े जो बड़ी मुश्किल से मरते हैं, सूर्य के सम्मुख रखने से कुछ मिनटों में ही मर जाते हैं । अनेक उच्चकोटि के सुप्रसिद्ध डाक्टरों ने अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थों में सूर्य किरणों की सुविस्तृत महिमा गाई है और बताया है कि सूर्य से बढ़कर किसी भी औषधि में रोग निवारक शक्ति नहीं है । सूर्य किरणों से निरोग और रोगी सभी को समान रूप से फायदा होता है, इसलिए यदि नित्य नियमित रूप से निम्न विधि से सूर्यस्नान किया जा सके तो स्वास्थ्य सुधार में आश्चर्यजनक सहायता मिल सकती है।

सूर्य स्नान के लिए प्रात:काल का समय सबसे अच्छा है । उससे घटिया दर्जे का समय सन्ध्याकाल है। इसके लिए हलकी किरणें ही उत्तम हैं । तेज धूप में न बैठना चाहिए। सूर्य स्नान आरम्भ में आध घण्टे करना चाहिए । लज्जा निवारण का एक बहुत छोटा हलका, ढीला वस्त्र कटि प्रदेश में रखकर अन्य समस्त शरीर को नंगा रखना चाहिए।

यदि एकान्त स्थान हो तो कटि वस्त्र को भी हटाया जा सकता है । सूर्य स्नान करते समय सिर को रूमाल या हरे पत्तों से ढँक लेना चाहिए । केला या कमल जैसा बड़ा और शीतल प्रकृति का पत्ता मिल जाय तो और भी अच्छा अन्यथा नीम की पत्तियों का एक बड़ा-सा गुच्छा लिया जा सकता है, जिससे सिर ढँक जाय ।

जल तत्व का प्रयोग

मनुष्य शरीर में जल का अंश ९० प्रतिशत और अन्य तत्व १० प्रतिशत हैं । इससे प्रतीत होता है कि अन्य तत्वों की अपेक्षा जल तत्व की सर्वोपरि आवश्यकता है । इसके कम हो जाने से देह सूखने लगती है, नाड़ियाँ जकड़ने लगती हैं, हड्डियाँ निकल आती हैं, खून गाढ़ा हो जाता है और दाह, प्यास, खुश्की आदि के अनेक उपद्रव होने लगते हैं ।

जल शरीर को सींचता है। प्रतिदिन कई सेर पानी लोग पीते हैं ताकि शरीर में जल तत्व की स्थिरता रहे । ताजे जल में रहने वाले उपयोगी रासायनिक पदार्थों से शरीर का पोषण होता है। भीतरी अंगों में जो विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं, वे पसीना, मूत्र तथा अन्य मलों के साथ द्रव्य रूप में बाहर निकलती रहती हैं । जैसे वर्षा से पौधे प्रफुल्ल एवं चैतन्य होते हैं और पानी के अभाव में वे कुम्हलाते एवं सूखते हैं, वही हाल शरीर का है । पर्याप्त मात्रा में उचित विधि से यदि अंग-प्रत्यंगों को जल प्राप्त होता रहे तो शरीर की दृढ़ता एवं स्वस्थता ठीक प्रकार बनी रहती है।

जल द्वारा रोगों के निवारण में महत्वपूर्ण कार्य होता रहता है । स्नान को ही लीजिए, वह स्वास्थ्य को ठीक रखने में अनुपम सहायता देता है। हिन्दू धर्म में हर उत्तम कार्य से पहले स्नान करने का विधान है । तीर्थ स्नान, माघ स्नान, वैसाख स्नान, कार्तिक स्नान, पर्व स्नान आदि नाना विधि विधानों में स्नान की महत्ता से लोगों को लाभ उठाने के अवसर, धर्म के नाम पर दिये गये हैं । स्नान करना दैनिक कृत्य समझा जाता है । हिन्दू, बिना स्नान किए भोजन नहीं करते । दैनिक कार्यक्रम में प्रातःकाल के प्रारम्भिक कार्यों में शौच के बाद स्नान का ही नम्बर आता है । बिना भोजन किए रह सकते हैं, पर बिना स्नान किए नहीं रह सकते । हिन्दू धर्म एक वैज्ञानिक धर्म है, उसमें उन्हीं आचार-विचारोंको स्थान दिया गया है जो शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के लिए उपयोगी एवं आवश्यक हैं ।

हिन्दू धर्मशास्त्र अत्यन्त प्राचीनकाल से कहता आ रहा है कि "अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति" अर्थात् शरीर की शुद्धि जल से होती है । देह में जो विकार, दोष विष भरे हुए हैं, उन अशुद्धियों को निकाल कर शुद्धता प्राप्त करनी है तो जल का उपयोग करो । इन शास्त्र वचनों पर लोग उतना ध्यान नहीं देते थे, पर जब साइन्स भी इस उपदेश का अनुकरण करने को बाध्य हुई तो लोगों का ध्यान इधर आकर्षित हुआ है । योरोपीय ठण्डे देशों में स्नान का उतना प्रचलन नहीं है, ठण्ड के कारण वहाँ सब कोई रोज नहीं नहाते । उन्हें स्नान का महत्व भी मालूम न था, पर अब जब कि वहाँ हर बात की नये सिरे से, वैज्ञानिक दृष्टिकोण से परीक्षा हो रही है तब स्नान का महत्व भी उनके सामने आया है । इसके लाभों को देखकर वे दंग रह गये हैं । अब अनेक विद्वानों ने स्नान को जीवन मूरि बताया है और उसी के आधार पर जल चिकित्सा का आविष्कार करके स्नान द्वारा सम्पूर्ण रोगों का निवारण करने के विज्ञान पर बड़े-बड़े मोटे ग्रन्थ लिखे हैं । भारतवासी इस बात को निर्विवाद रूप से मानते आ रहे हैं कि स्नान स्वास्थ्य के लिए बहुत ही उपयोगी है। भारतवर्ष गर्म देश होने के कारण यहाँ उसके लाभ और भी अधिक है । स्नान के महत्व को व्यावहारिक रूप से स्वीकार किये बिना इस देश में कोई मनुष्य स्वस्थ नहीं रह सकता ।

दैनिक स्नान 'हर हर गंगा' करके दो लोटे सिर और पीठ पर लुढ़का लेने के साथ समाप्त न कर देना चाहिए । यह तो स्नान का एक उपहास होगा । बेगार टालने के लिए नहीं, वरन् शरीर अशुद्धताओं के निवारण और देह सिंचन पोषण के लिए स्नान होना चाहिए । कुआँ, नदी, नहर, झरना, सोता का ताजा पानी उत्तम है । उन बड़े तालाबों का पानी भी ठीक है जिन्हें मनुष्य या पशुओं द्वारा गँदला नहीं किया जाता या जिनमें कोई हानिकारक पदार्थ न पड़ते हों। बहने वाले ताजे पानी में जो तत्व होते हैं वह रुके हुए, बर्तनों में भर कर रखे हुए पानी में नहीं रहते । बीमारों की विशेष आवश्यकता को छोड़कर साधारणतः सबको सह्य ताप के ठण्डे ताजे जल से स्नान करना चाहिए । हर ऋतु के लिए ऐसा पानी ठीक है। कई व्यक्ति जाड़े के दिनों में गरम पानी से स्नान करते हैं यह ठीक नहीं है । जरूरत हो तो धूप में रखकर उसमें थोड़ी गर्मी लाई जा सकती है। सिर पर गरम पानी डालना तो आँखों को नुकसान पहुँचाता है। बहुत तेज हवा में नहाना अच्छा नहीं । इसके लिए ऐसा स्थान रखना चाहिए जहाँ तेज हवा के झोंके न लगते हों।

क्योंकि ठण्डे शरीर पर हवा की तेजी हर ऋतु में खराब असर डालती है ।

स्नान करते समय मोटे खुरदुरे तौलिए से त्वचा को धीरे-धीरे खूब रगड़ना चाहिए, जिससे चमड़ी लाल हो जाय। इस प्रकार घर्षण करने से देह के भीतर की गर्मी को उत्तेजना मिलती है, जैसे लोहे को गरम करके पानी में डाल कर लुहार लोग उसे मजबूत बना लेते हैं, उसी प्रकार घर्षण द्वारा गर्मी बढ़ाकर ठण्डे जल से स्नान करने पर शरीर मजबूत होता है। दूसरे त्वचा में जो बारीक छिद्र हैं वे साफ हो जाते हैं और पसीना ठीक प्रकार निकलता है। त्वचा पर जमा हुआ मैल छूट जाने से बदबू, चिपचिपाहट, आलस्य और उदासी दूर हो जाती है। पीठ, रीढ़ की हड्डी, गरदन, कन्धे, जंघाएँ, गुप्त इन्द्रिय आदि कुछ स्थान ऐसे हैं जिनकी स्वच्छता पर स्नान के समय उचित ध्यान नहीं दिया जाता, यह ठीक नहीं, हर एक अंग की सफाई पर पूरा ध्यान दिया जाना चाहिए । स्नान में जल्दबाजी से काम नहीं लेना चाहिए । धीरे-धीरे प्रसन्नता पूर्वक हर अंग की उचित सफाई करते हुए नहाना चाहिए। स्नान के बाद शरीर को कपड़े से सुखा डालना चाहिए। जाड़े के दिनों में एक बार और अन्य ऋतुओं में सुबह-शाम, दो बार स्नान करना चाहिए ।

स्नान की नियमित और उचित रीति से व्यवस्था रखने पर रोगों के आक्रमण से बहुत बड़ी रक्षा होती रहती है, छोटे-मोटे रोग तो बिना जाने ही इस उपचार से अपने आप अच्छे होते रहते हैं । फुहारे के नीचे बैठकर स्नान करने से क्रीड़ा मनोरंजन और शीतलता अधिक प्राप्त होती है । नदी-तालाब में तैर कर नहाना कई दृष्टियों से बहुत अच्छा है । दो-चार मेह पड़ जाने के बाद वर्षा में स्नान करना भी बड़ा आनन्ददायक होता है । मेह में ऐसी जगह नहाना चाहिए जहाँ कि मकान, छप्पर आदि के गन्दे छींटे न आते हों । इसके लिए मैदान या घर की सबसे ऊपर वाली छत ठीक रहती है ।

वायु तत्व का उपयोग

समस्त प्राकृतिक तत्वों में वायु बहुत सूक्ष्म है । पृथ्वी, जल, अग्नि की अपेक्षा वायु की सूक्ष्मता अधिक है । इसलिए उसका गुण और प्रभाव भी अधिक है । अन्न और जल के बिना कुछ समय मनुष्य जीवित रह सकता है, पर वायु के बिना एक क्षण भर काम नहीं चल सकता । शरीर में अन्य तत्वों के विकार उतने खतरनाक नहीं होते जितने कि वायु के विकार । जिस स्थान पर वायु विकृत होगी, वही अंग तीव्र वेदना का अनुभव करेगा और अपनी सारी शक्ति खो बैठेगा। वायु प्राण है इसलिए प्राण वायु पर जीवन की निर्भरता मानी जाती है । सांस रुक जाय या पेट फूल जाय तो मृत्यु में कुछ देर नहीं लगती । लोग वायु सेवन के लिए जरूरी काम छोड़कर समय निकालते हैं । जहाँ की हवा खराब हो जाती है, वहाँ नाना प्रकार की बीमारियाँ, महामारियाँ फैलती हैं। इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति वहाँ रहना पसन्द करते हैं जहाँ की वायु अच्छी हो । प्राणायाम करने वाले जानते हैं कि विधिपूर्वक वायु-साधना करने से उन्हें कितना लाभ होता है । निस्सन्देह वायु का स्वास्थ्य से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है और वायु के प्रयोग द्वारा अपनी बिगड़ी हुई तन्दुरुस्ती को ठीक कर सकते हैं ।

चिकित्सा जितनी स्थूल होती है उतना ही कम प्रभाव डालती है। चूर्ण, चटनी, अवलेह आदि के रूप में ली हुई दवा पहले पेट में जाती है, वहाँ पचती है तब रक्त बन कर समस्त शरीर में फैलती और अपना असर दिखाती है। यदि पाचन न हुआ तो वह दवा मल मार्ग से निकल जाती है और अपना असर नहीं दिखाती। जिनकी पाचन शक्ति ठीक नहीं होती उन्हें 'पुस्टाई के पाक' कुछ भी फायदा नहीं करते, क्योंकि दवाएँ बिना पचे मल द्वारा बाहर निकल जाती हैं । ऐसी दशा में पतली पानी के रूप में तैयार की हुई दवाएं अधिक काम करती हैं क्योंकि फल आहार की अपेक्षा जल जल्दी पच जाता है । इन्जेक्शन द्वारा खून में मिलाई हुई दवाएँ और भी जल्दी शरीर में फैल जाती हैं। हवा का नम्बर इससे भी ऊँचा है। वायु द्वारा सांस के साथ शरीर में पहुँचाई गई हवा बहुत जल्द असर करती है । जुकाम जैसे रोगों में सूँघने की दवाएं दी जाती हैं । क्लोरोफार्म सुँघाने से जितनी जल्दी बेहोशी आती है उतनी जल्दी खाने से नहीं आ सकती ।

इन सब बातों का ध्यान रखते हुए भारतीय ऋषि-मुनियों ने यज्ञ-हवन की बड़ी ही सुन्दर वैज्ञानिक विधि का आविष्कार किया है। हवन में जलाई हुई औषधियाँ नष्ट नहीं होतीं वरन् सूक्ष्म रूप धारण करके अनेक गुनी प्रभावशाली हो जाती हैं और अनेकों को आरोग्य प्रदान करती हैं। लाल मिर्च के एक टुकड़े को जब आग में डाला जाता है तो वह सूक्ष्म होकर हवा में मिलकर चारों ओर फैलता है और दूर तक बैठे हुए लोगों को खाँसी आने लगती है। इससे प्रकट है कि जलने पर कोई वस्तु नष्ट नहीं होती, वरन् सूक्ष्म होकर वायु में मिल जाती है और उस

वायु के सम्पर्क में आने वालों पर उस वायु का असर पड़ता है। हवन के धार्मिक रूप को छोड़ दें तो भी अग्निहोत्र की रोग निवारण सम्बन्धी महत्ता स्वीकार करनी ही पड़ती है।

बाजार में कृमि नाशक फिनाइल की भाँति की एक अंग्रेजी दवा फार्मेलिन मिलती है । इससे बीमारियों के कीड़े नष्ट हो जाते हैं । यह दवा फार्मिका आलडी हाइड गैस से बनती है । फ्रांस के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डाक्टर ट्रिले ने बताया है कि उपरोक्त गैस लकड़ियाँ जलाने या खाण्ड जलाने से उत्पन्न होती है। जो काम बहुत कीमत खर्च करने पर फार्मेलिन जैसी दवाओं से होता है वह कार्य अग्निहोत्र द्वारा अधिक उत्तमता से हो जाता है । दवा तो वहीं असर करती हैं जहाँ छिड़की जाती है पर अग्निहोत्र द्वारा तो वह कार्य वायु द्वारा बड़े पैमाने पर हो जाता है । इस दृष्टि से हवन को वायु चिकित्सा कहें तो कुछ अनुचित न होगा ।

हवन जहाँ एक धार्मिक कृत्य है, वहाँ वह मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य प्रदान करने वाला भी है। यज्ञ में लोक-कल्याण के लिए समष्टि आत्मा-परमात्मा की उपासना के लिए अपनी वस्तुओं का त्याग-समर्पण, होम करने से परमार्थ, त्याग, उदारता एवं पवित्रता की मनोभावनाएँ उत्पन्न होती हैं । ऐसी भावनाओं का उदय होना अनेक प्रकार के मानसिक रोगों को निर्मूल करने के लिए सर्वश्रेष्ठ उपचार है 'डाया कार्बन गैस' बढ़ने से वर्षा की अधिकता द्वारा संसार की समृद्धि बढ़ती और आवहवा शुद्ध होती है। स्वस्थता प्रदान करने वाली और रोगनाशक औषधियाँ अग्नि की सहायता से सूक्ष्म रूप धारण करके शरीर में व्याप्त हो जाती हैं और निरोगता की स्थापना में बड़ा महत्वपूर्ण कार्य करती हैं । फेंफड़े और मस्तिष्क के रोगों के लिए तो हवन द्वारा पहुँची हुई औषधि मिश्रित वायु बहुत ही हितकर सिद्ध होती है ।

आकाश-तत्व का उपयोग

पंच तत्वों में मिट्टी, पानी, हवा, आग के काम जिस प्रकार प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं वैसे आकाश का अस्तित्व अनुभव में नहीं आता । परन्तु सच पूछा जाय तो इन सबकी अपेक्षा शक्ति सम्पन्न, क्रियाशील और प्रभावकारी आकाश ही है । आकाश का अर्थ कोई 'हवा' समझते हैं, कोई 'बादल' या 'शून्य' समझते हैं, कोई कुछ समझते हैं । यथार्थ में आकाश एक ऐसा सूक्ष्म पदार्थ है जो हर पोले और ठोस पदार्थ में न्यूनाधिक मात्रा में व्याप्त है । अंग्रेजी भाषा में इस तत्व को 'ईथर' कहते हैं । रेडियो में जो दूर-दूर से शब्द ध्वनियाँ आती हैं वे इस ईथर द्वारा ही आती हैं । वायु की चाल तो प्रति मिनट डेढ़ ही मील है, यदि यह शब्द वायु द्वारा आते ही इंग्लैण्ड से हिन्दुस्तान तक आने में हफ्तों लग जाते । फिर हवा का रुख उलटा होता तब तो वे शब्द शायद आ ही न पाते । इसलिए ऐसा न समझना चाहिए कि बेतार का तार वायु द्वारा आता है । यह आकाश (ईथर) द्वारा आता है । आकाश का गुण 'शब्द' माना गया है । जितने भी शब्द होते हैं, वे आकाश के कारण होते हैं । यदि आकाश न हो तो शंख-घण्टा, घड़ियाल, तोप-बन्दूक, मोटर किसी की आवाज न सुनाई पड़े, यहाँ तक कि हम बातचीत भी न कर सकें, किसी के मुँह से एक शब्द भी न निकले ।

शब्द के दो भेद हैं । (१) आवाज (२) विचार । आवाज की तरह विचार भी एक स्वतंत्र पदार्थ है । शब्द के परमाणुओं का आदान-प्रदान दुनियाँ में होते हुए हम नित्य देखते हैं । बातचीत द्वारा अपनी इच्छा, अनुभूति भावना और स्थिति को दूसरों को देते हैं, शब्दों के परमाणुओं को विशेष यन्त्र द्वारा बिजली की शक्ति के साथ फेंकने से वे रेडियो यन्त्र द्वारा पृथ्वी के कोने-कोने में सुने जाते हैं ।

विचार का भी ऐसा ही विज्ञान है । हमारे मस्तिष्क में जो विचार उठते हैं वे एक प्रकार का विद्युत तरंगों की भाँति आकाश में फैल जाते हैं और कभी नष्ट नहीं होते । जैसे जगह-जगह से थोड़ी भाप उड़-उड़कर बड़े बादल जमा हो जाते हैं, उसी प्रकार एक प्रकार के विचार अपनी ही किस्म के अन्य अनेकों मस्तिष्कों में से निकले हुए विचारों के साथ मिलकर अपना एक बड़ा रूप, बादल का सा रूप बना लेते हैं और इधर-उधर उड़ते रहते हैं ।

इन विचार-बादलों का यह स्वभाव होता है कि जहाँ अपनी समानता पाते हैं, वहीं दौड़ जाते हैं । जैसे एक कौवे के काँव-काँव करने पर अन्य अनेकों कौवे इधर-उधर से उड़कर वहीं आकर इकट्ठे हो जाते हैं, उसी प्रकार यह विचार-बादल भी अपनी जाति वाले के पास उड़कर क्षण भर में जा पहुँचते हैं । जैसे कोई आदमी एक समय, क्रोध, आत्महत्या, धूर्तता, चोरी आदि के विचार कर रहा हो तो अनेकों व्यक्तियों द्वारा वैसे ही विचार भूतकाल या वर्तमान काल में किये गये हैं तो उनके विचार बादल उस आदमी के पास आकर इकट्ठे हो जाते हैं । फलस्वरूप उसकी क्रोध आदि की प्रवृत्तियाँ और अधिक बढ़ जाती हैं और

उस दिशा में उसे नई-नई तरकीबें सूझ पड़ती हैं । इसी प्रकार प्रेम, उत्साह, त्याग, परमार्थ, संयम आदि के विचार करने पर अनेक सत्पुरुषों द्वारा किए हुए उसी प्रकार के विचार इकट्ठे हो जाते हैं और उस मार्ग में अधिक उत्साह प्राप्त होता है ।

स्वास्थ्य-रक्षा का सर्वश्रेष्ठ मार्ग

इसमें सन्देह नहीं कि जो लोग प्राकृतिक नियमों के अनुसार अपना रहन-सहन रखते हैं, उनका स्वास्थ्य सदैव उत्तम रहता है और यदि कभी किसी घटनावश कोई रोग हुआ तो वह साधारण उपचार से अथवा बिना उपचार के ही शीघ्र अच्छा हो जाता है । भारत के प्राचीन निवासी प्रायः प्रकृति के संसर्ग में रहकर ही जीवन व्यतीत करते थे । उस समय के ऋषि-मुनि तो प्रायः बस्तियों से दूर वनों और जंगलों में रहते ही थे, जहाँ प्रकृति-विरुद्ध जीवन की कोई सामग्री मिल नहीं सकती थी । फिर यहाँ की ग्रामीण जनता भी सब तरह से स्वावलम्बी थी और अपनी आवश्यकताओं की सीधी-सादी वस्तुएँ स्वयं ही तैयार कर लेती थी । इसलिए उसके जीवन में भी कृत्रिमता और आडम्बर को कोई स्थान न था । केवल बड़े नगरों में, जिनकी संख्या नगण्य थी, विलास की कुछ सामग्री मिल सकती थी और वहीं थोड़े-बहुत प्रकृति के विपरीत आचरण करने वाले और फलस्वरूप बीमार व्यक्ति मिल सकते थे । आजकल परिस्थिति बहुत कुछ बदल गई है और आबादी के बढ़ने तथा तरह-तरह के औद्योगिक आविष्कारों के कारण जलवायु में पहले के समान शुद्धता नहीं रही है, तो भी यदि हम प्रकृति का अनुसरण करें और खानपान तथा रहन-सहन में कृत्रिमता को त्याग दें तो हमारा स्वास्थ्य इस समय से कई गुना उत्तम बन सकता है। पिछले पृष्ठों में पाँचों तत्त्वों का जो उपयोग बतलाया गया है, अगर उस पर ध्यान दें और आवश्यकता पड़ने पर उन्हीं विधियों का प्रयोग करें तो हमारे स्वास्थ्य में बहुत कुछ सुधार हो सकता है। इससे भी आवश्यक बात यह है कि जिससे स्वास्थ्य स्थिर रहे और बीमार होने की नौबत ही न आये ऐसी कुछ बातों का सारांश संक्षिप्त रूप में हम नीचे देते हैं-

(१) प्रातःकाल शौच जाने से पूर्व एक गिलास पानी पिया कीजिए, इससे दस्त साफ होता है और रात का बिना पचा हुआ भोजन पचने में भी सहायता मिलती है ।

(२) आपके लिए हल्का व्यायाम आवश्यक है । सुबह शाम तेज चाल से, दोनों हाथों को हिलाते हुए, सीना निकालकर काफी दूर तक टहलने जाया करें । यह टहलना इतना होना चाहिए कि शरीर में गर्मी काफी बढ़ जाय और थोड़ा पसीना तक झलक आवे । कमजोर आदमियों के लिए यह सर्वोत्तम व्यायाम है । इससे समस्त रक्त का दौरा तेज होता है, शरीर के कल-पुर्जे ठीक प्रकार से काम करने लगते हैं ।

(३) प्रातःकाल की सह्य धूप शरीर पर लिया करें । इससे रोगों के कीटाणु नष्ट होते हैं और जीवनी शक्ति प्राप्त होती है ।

(४) स्नान से पूर्व शरीर पर धीरे-धीरे तेल मालिश किया करें । गर्मी के दिनों में सरसों का और जाड़े में तिली का तेल प्रयोग करना चाहिए । तेल मालिश एक बड़ा ही उपयोगी व्यायाम है ।

(५) आप ऐसे स्थान में स्नान किया करें जहाँ खुली हवा के झोंके न लगते हों । एक मोटे खुरदरे तौलिए को पानी में भिगो कर उससे धीरे-धीरे बहुत देर तक सारे शरीर को रगड़ते रहें, जिससे त्वचा लाल हो जाय और शरीर के सारे छिद्र खुल जावें इससे शरीर के भीतर की विषैली गर्मी बाहर निकल जाती है और त्वचा तथा मांसपेशियों का व्यायाम हो जाता है । बीमार आदमी चारपाई पर पड़े-पड़े भी गरम पानी में तौलिया भिगोकर और बिना भिगोये हुए भी घर्षण स्नान कर सकते हैं ।

(६) नाश्ता करना छोड़ दें । करना ही हो तो दूध, मट्ठा, नींबू का शरबत आदि कोई पतली चीज थोड़ी मात्रा में ले लें । दोपहर और शाम दो बार ही नियत समय पर भोजन किया करें । भूख से कम खावें । प्रत्येक ग्रास को इतना चबायें कि वह खूब पिसे । पेट को एक चौथाई खाली रखना चाहिए । ठूँस-ठूँस कर खाने और दिन भर बकरी की तरह मुँह चलाने वाले अपने दाँतों से अपनी कब्र खोदते हैं । भोजन के साथ कम पानी पीना चाहिए ।

(७) सुपाच्य, स्वादिष्ट फल, शाक तथा हरे अन्न हमारी सर्वोत्तम खुराक हैं । जो कच्चे नहीं खाये जा सकते उन्हें तथा पत्ती के हरे शाकों को उबाल कर खाना चाहिए। मेवाएँ भी पौष्टिक हैं । अन्नों को दलिया या खिचड़ी के रूप में उबालकर रसीला बना लिया जाय तो वह रोटी की अपेक्षा हलके रहते हैं । दूध, दही, मट्ठा तीनों ही उपयोगी हैं ।

तले हुए पूड़ी, पकवान, मिठाइयाँ, चाट, पकौड़ी, जली-भुनी या अधिक घी, तेल, मावा, मिर्च, मसाले पड़ी

हुई चीजें सर्वथा हानिकारक हैं । भोजन ताजा होना चाहिए और स्वच्छता पूर्वक बनाना अथवा खाना चाहिए ।

(८) चाय, दूध आदि कोई चीज गर्म नहीं लेनी चाहिए और न बर्फ या बर्फ मिश्रित अधिक ठण्डी चीजें सेवन करनी चाहिए, इससे दाँत और आँत दोनों में ही विकार भी उत्पन्न होते हैं ।

(९) पानी खूब पिया कीजिए । जाड़े के दिनों में ५-६ गिलास पानी और गर्मी के दिनों में ८-१० गिलास तो कम से कम पीना ही चाहिए । पानी एक साथ सड़ाके से नहीं पिया जाना चाहिए वरन् घूँट-घूँट करके पियें जिससे मुँह की लार उसमें काफी मात्रा में मिल जाय । दूध, मट्ठा आदि अन्य पेय पदार्थ भी इसी प्रकार पीने चाहिए ।

(१०) चाय, तमाखू, भाँग, अफीम, गाँजा, शराब आदि नशीली चीजों से हींग, गरम मसाला, मिर्च लहसन आदि उत्तेजक गरम पदार्थों से तथा माँस-मछली आदि अभक्ष्य वस्तुओं से बचते रहना चाहिए । यह चीजें स्वास्थ्य को बिगाड़ने वाली हैं । इनका पूर्णतया त्याग करना न बन पड़े तो भी जितना कम किया जा सके करते चलना चाहिए ।

(११) कपड़े जहाँ तक हो सके कम ही पहिना करें। जो पहनें वे कसे हुए न हों । शरीर से सदा वायु का स्पर्श होते रहना चाहिए, मुँह ढक कर न सोवें । बिस्तर को धूप में सुखाते रहना चाहिए । जिनमें पसीना लगता है, ऐसे शरीर का स्पर्श करने वाले कपड़ों को नित्य धोना चाहिए ।

(१२) कमजोर और बीमारों को ब्रह्मचर्य से रहना चाहिए ताकि शक्ति-संचय हो । जितना कम काम सेवन किया जाय उतना ही अच्छा है ।

(१३) रात्रि को जल्दी सो जावें, सबेरे जल्दी उठें । अधिक रात्रि तक जागना और नेत्रों पर जोर डालने वाले काम करते रहना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है ।

(१४) आलस्य और अति परिश्रम दोनों ही बुरे हैं । अत्यधिक दिमागी काम करना स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डालता है। चिन्ता, क्रोध, भय, निराशा, शोक, बेचैनी, घबराहट, ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट आदि मनोविकारों से बचना चाहिए, क्योंकि यह जिसके मस्तिष्क में रहते हैं उसका स्वास्थ्य चौपट कर देते हैं ।

(१५) सप्ताह में एक दिन उपवास करना चाहिए । निराहार रहना सबसे अच्छा है। न हो सके तो एक समय फल, दूध आदि हलकी चीजें स्वल्प मात्रा में लेना भी उपवास है। यह भी न हो सके तो एक समय दलिया, खिचड़ी, साबूदाना आदि पानी में पकाये हुए अन्न ले सकते हैं । उपवास के दिन पानी खूब पीना चाहिए । यदि इच्छा हो तो पानी में नींबू, सोड़ा, नमक या शहद मिला सकते हैं ।

(१६) एक ऐनिमा यन्त्र बाजार से खरीद लीजिए या किसी वैद्य डाक्टर के यहाँ से माँग लिया कीजिए । उपवास के लिए प्रातःकाल शौच जाने के उपरान्त थोड़े गुनगुने एक सेर पानी को एनिमा द्वारा पेट में चढ़ाइए । सब पानी पेट में चला जावे तब दस पाँच मिनट उसे रोकना चाहिए । इसके बाद शौच जाना चाहिए । इस विधि से पेट की सफाई बड़ी अच्छी तरह हो जाती है। रोगों की जड़ पेट में होती हैं । पेट साफ हो जाने से बीमारी तुरन्त घट जाती है और उपचार करने पर शीघ्र ही जड़-मूल से दूर हो जाती है ।

(१७) कमजोर और बीमार को कुछ समय पूर्ण विश्राम करने के लिए समय निकालने का प्रयत्न करना चाहिए । नित्य के कामों में काफी शक्ति खर्च होती रहती है । उसे बचा लिया जाय तो वह बची हुई शक्ति रोग दूर करने में सहायता करती है ।

(१८) खुली हवा और खुले प्रकाश में रहना चाहिए। रहने का मकान ऐसा हो जिसमें धूप और हवा भली प्रकार पहुँच सके । अच्छी जलवायु के स्थान में रहने से बिगड़ा हुआ स्वास्थ्य भी सुधर जाता है । शरीर, मन, वस्त्र, घर, भोजन पात्र तथा उपयोग में आने वाली अन्य वस्तुओं की सफाई पर पूरा ध्यान रखना चाहिए । गन्दगी स्वास्थ्य की शत्रु है और सफाई मित्र है ।

(१९) चित्त को प्रसन्न, चेहरे को हँसमुख, मस्तिष्क को शान्त रखने का बार-बार प्रयत्न करना चाहिए । दिन में कई बार ऐसा प्रयत्न किया जाय तो प्रसन्न रहने की आदत पड़ जाती है, जो कि स्वास्थ्य के लिए बहुत उपयोगी है।

(२०) अब तक जिन मिथ्या आहार-विहारों की आदत रही हो, अब उनको दृढ़तापूर्वक छोड़ देने की प्रतिज्ञा करनी चाहिए और नित्य प्रति परमात्मा से सच्चे हृदय से प्रार्थना करनी चाहिए कि वह उन प्रतिज्ञाओं को पूरा करने में सहायता प्रदान करें ।

९. मानसिक सन्तुलन

गायत्री का नौवाँ अक्षर 'भ' हमको प्रत्येक स्थिति में मानसिक भावों को संतुलित रखने की शिक्षा देता है-

भवोद्विग्नमना चैव हृदुद्वेगं परित्यज ।
कुरू सर्वास्ववस्थासु शान्तं संतुलितं मनः ॥

अर्थात्- "मानसिक उत्तेजनाओं को छोड़ दो। सभी अवस्थाओं में मन को शान्त और संतुलित रखो।"

शरीर में उष्णता की मात्रा अधिक बढ़ जाना 'ज्वर' कहलाता है और वह ज्वर अनेक दुष्परिणामों को उत्पन्न करता है। वैसे ही मानसिक ज्वर होने से उद्वेग, आवेश, उत्तेजना, मदहोशी, आतुरता आदि भाव प्रकट होते हैं। आवेश की प्रबलता मनुष्य के ज्ञान, विचार, विवेक को नष्ट कर डालती है। उस समय वह न सोचने लायक बातें सोचता है और जो कार्य पहले कुत्सित जान पड़ते थे, उन्हीं को करने लगता है। ऐसी स्थिति मानव जीवन के लिये सर्वथा अवांछनीय है। विपत्ति पड़ने पर अथवा किसी प्रकार का लड़ाई-झगड़ा हो जाने पर लोग चिन्ता, शोक, निराशा, भय, घबराहट, क्रोध आदि के वशीभूत होकर मानसिक शान्ति को खो बैठते हैं। इसी प्रकार कोई बड़ी सफलता मिल जाने पर, या सम्पत्ति प्राप्त होने पर मद, मत्सर, अति हर्ष, अति भोग आदि दोषों में फँस जाते हैं। इस तरह कोई भी उत्तेजना मनुष्य की आन्तरिक स्थिति को विक्षिप्तों की सी कर देती है। इसके फल से मनुष्य को तरह-तरह के अनिष्ट परिणाम भोगने पड़ते हैं।

जिन लोगों की प्रवृत्ति ऐसी उत्तेजित होने वाली अथवा शीघ्र ही आवेश में आ जाने वाली होती है, वे प्राय: मानसिक निर्बलता के शिकार होते हैं। वे अपने मन को एकाग्र करके किसी एक काम में नहीं ला सकते और इसलिए कोई बड़ी सफलता पाना भी उनके लिये असंभव हो जाता है। उनके अधिकांश विचार क्षणिक सिद्ध होते हैं। इस प्रकार मानसिक असन्तुलन मनुष्य की उन्नति में बाधा स्वरूप बनकर उसे पतन की ओर प्रेरित करने का कारण बन जाता है।

असन्तुलन असफलता का मूल कारण है

मानसिक असन्तुलन की अशान्त दशा में कोई व्यक्ति न तो सांसारिक उन्नति कर सकता है, न आध्यात्मिक प्रगति संभव होती है। कारण यह है कि उन्नति के लिये, ऊँचा उठने के लिये जिस बल की आवश्यकता होती है, वह बल मानसिक अस्थिरता के कारण एकत्रित नहीं हो पाता। जिस प्रकार हाथ कांप रहा हो तो उस समय बन्दूक का निशाना नहीं साधा जा सकता, उसी प्रकार आवेश या उत्तेजना की दशा में मानसिक कम्पन की अधिकता रहती है। उस उद्विग्नता की दशा में यह निर्णय करना कठिन होता है कि क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए?

मानसिक असन्तुलन और उत्तेजना से अधीरता का भाव उत्पन्न होता है। अधीर होना, हृदय की संकीर्णता और आत्मिक बालकपन का चिह्न है। बच्चे जब बाग लगाने का खेल खेलते हैं तो उनकी कार्य प्रणाली विचित्र होती है। अभी बीज बोया, अभी उसमें खाद पानी लगाया, अभी दो-चार मिनट के बाद ही बीज को उलट-पलट कर देखते हैं कि बीज में से अंकुर फूटा या नहीं। जब अंकुर नहीं दीखता तो उसे फिर गाड़ देते हैं और दो-चार मिनट बाद फिर देखते हैं। इस प्रकार कई बार देखने पर भी जब वृक्ष उत्पन्न होने की उनकी कल्पना पूरा नहीं होती तो दूसरा उपाय काम में लाते हैं। वृक्षों की टहनियां तोड़कर मिट्टी में गाढ़ देते हैं और उससे बाग की लालसा को बुझाने का प्रयत्न करते हैं। उन टहनियों के पत्ते उठा-उठा कर देखते हैं कि फल लगे या नहीं। यदि दस बीस मिनट में फल नहीं लगते तो कंकड़ों को डोरे से बांध कर टहनियों में लटका देते हैं। इस अधूरे बाग से उन्हें तृप्ति नहीं मिलती। फलत: कुछ देर बाद उस बाग को बिगाड़ कर चले जाते हैं। कितने ही जवान और वृद्ध पुरुष भी उसी प्रकार की बाल-क्रीड़ाऐं अपने क्षेत्र में किया करते हैं, किसी काम को बड़े उत्साह से आरम्भ करते हैं, इस 'उत्साह' की अति उतावली बन जाती है। कार्य आरम्भ हुए देर नहीं होती कि यह देखने लगते हैं कि सफलता में अभी कितनी देर है। जरा भी प्रतीक्षा उन्हें सहन नहीं होती। जब उन्हें थोड़े ही समय में रंगीन कल्पनाएँ पूरा होती नहीं दीखती तो निराश होकर उसे छोड़ बैठते हैं। अनेकों कार्यों को आरम्भ करना और उन्हें बिगाड़ना ऐसी ही बाल-क्रीड़ाऐं वे जीवन भर करते रहते हैं। छोटे बच्चे अपनी आकांक्षा और इच्छा पूर्ति के बीच में किसी कठिनाई, दूरी या देरी की कल्पना नहीं कर पाते, इन बाल-क्रीड़ा करने वाले अधीर पुरुषों की भी मनोभूमि ऐसी ही होती है। यदि हथेली पर सरसों न जमी तो खेल बिगड़ते हुए उन्हें देर नहीं लगती।

प्राचीन समय में जब शिष्य विद्याध्ययन के लिए गुरु के पास जाता था तो उसे पहले अपने धैर्य की परीक्षा देनी होती थी। गौऐं चरानी पड़ती थीं, लकड़ियाँ चुननी पड़ती थीं, उपनिषदों में इस प्रकार की अनेकों कथायें हैं। इन्द्र को भी लम्बी अवधि तक इसी प्रकार तपस्या पूर्ण प्रतीक्षा करनी पड़ी थी, जब वह अपने धैर्य की परीक्षा दे चुका, तब उसे आवश्यक विद्या प्राप्त हुई। प्राचीन काल में विज्ञ पुरुष जानते थे कि धैर्यवान पुरुष ही किसी कार्य में सफलता प्राप्त कर सकते हैं, इसलिए धैर्यवान स्वभाव वाले

छात्रों को ही विद्याध्ययन कराते थे। क्योंकि उनके पढ़ाने का परिश्रम भी अधिकारी छात्रों द्वारा ही सफल हो सकता था। चंचल चित्त वाले, अधीर स्वभाव के मनुष्य का पढ़ना न पढ़ना बराबर है। अक्षर-ज्ञान हो जाने या अमुक कक्षा का सर्टीफिकेट ले-लेने से कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

आतुरता एवं उतावली का स्वभाव जीवन को असफल बनाने वाला एक भयंकर खतरा है। कर्म को परिपक्व होने में समय लगता है। रुई को कपड़े के रूप तक पहुँचने के लिये कई कड़ी मंजिलें पार करनी होती हैं और कठोर व्यवधानों में होकर गुजरना पड़ता है, जो संक्रान्ति काल के मध्यवर्ती कार्यक्रम को धैर्य पूर्वक पूरा होने देने की जो प्रतीक्षा नहीं कर सकता, उसे रुई को कपड़े के रूप में देखने की आशा न करनी चाहिए। किया हुआ परिश्रम एक विशिष्ट प्रक्रिया के द्वारा फल बनता है। इसमें देर लगती है और कठिनाई भी आती है। कभी-कभी परिस्थिति वश यह देरी और कठिनाई आवश्यकता से अधिक भी हो सकती है। उसे पार करने के लिए समय और श्रम लगाना पड़ता है। कभी-कभी तो कई बार का प्रयत्न भी सफलता तक नहीं ले पहुँचता, तब अनेक बार अधिक समय तक अविचल धैर्य के साथ जुटे रहकर अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त करना होता है। आतुर मनुष्य इतनी दृढ़ता नहीं रखते, जरा सी कठिनाई या देरी से वे घबरा जाते हैं और मैदान छोड़ कर भाग निकलते हैं। यही भगोड़ापन उनकी पराजयों का इतिहास बनता जाता है।

चित्त का एक काम पर न जमना, संशय और संकल्प विकल्पों में पड़े रहना एक प्रकार का मानसिक रोग है। यदि काम पूरा न हो पाया तो ? यदि कोई आकस्मिक आपत्ति आ गयी तो ? यदि फल उल्टा निकला तो ? इस प्रकार की दुविधा पूर्ण आशंकाऐं मन को डांवाडोल बनाये रहती हैं। पूरा आकर्षण और विश्वास न रहने के कारण मन उचटा-उचटा सा रहता है। जो काम हाथ में लिया हुआ है, उस पर निष्ठा नहीं होती। इसलिए आधे मन से वह किया जाता है। आधा मन दूसरे काम की खोज में लगा रहता है। इस डांवाडोल स्थिति में एक भी काम पूरा नहीं हो पाता। हाथ के काम में सफलता नहीं मिलती। बल्कि उल्टी भूल होती जाती है, ठोकर पर ठोकर लगती जाती है। दूसरी ओर आधे मन से जो नया काम तलाश किया जाता है, उसके हानि-लाभों को भी पूरी तरह नहीं विचारा जा सकता। अधूरी कल्पना के आधार पर नया काम वास्तविक रूप में नहीं, वरन् अलंकारिक रूप में दिखाई पड़ता है। पहले काम को छोड़ कर नया पकड़ लेने पर फिर उस नए काम की भी वही गति होती है जो पुराने की थी। कुछ समय बाद उसे भी छोड़कर नया ग्रहण करना पड़ता है। इस प्रकार 'काम शुरू करना और उसे अधूरा छोड़ना' इस कार्यक्रम की बराबर पुनरावृत्ति होती रहती है और अन्त में मनुष्य को अपने असफल जीवन पर पश्चात्ताप करने के सिवा कुछ हाथ नहीं लगता।

मानसिक असंतुलन से आध्यात्मिक पतन

मानसिक असन्तुलन से केवल सांसारिक और भौतिक क्षेत्र में ही हानि नहीं उठानी पड़ती, वरन् आध्यात्मिक दृष्टि से भी उसका परिणाम अनिष्टकारी होता है। जो लोग मानसिक उत्तेजना के शीघ्र वशीभूत हो जाते हैं उनमें अभिमान और लोभ की मात्रा भी बढ़ जाती है, और ये दोनों तत्व अन्य प्रकार के दोषों की उत्पत्ति करते हैं। अभिमान एक प्रकार का नशा है, जिसमें मदहोश होकर मनुष्य अपने को दूसरों से बड़ा और दूसरों को अपने से छोटा समझता है। वह इस बात को पसन्द करता है कि दूसरे लोग उसकी खुशामद करें, उसे बड़ा समझें, उसकी बात मानें, जब इसमें कुछ कमी आती है तो वह अपना अपमान समझता है और क्रोध से सांप की तरह फुसकारने लगता है। वह नहीं चाहता कि कोई मुझसे धन में, विद्या में, बल में, प्रतिष्ठा में बड़ा या बराबर का हो, इसलिए जिस किसी को वह थोड़ा सुखी सम्पन्न देखता है उसी से ईर्ष्या द्वेष करने लगता है। अहंकार की पूर्ति के लिए अपनी सम्पन्नता बढ़ाना चाहता है। सम्पन्नता सद्गुणों से, श्रम से, लगातार परिश्रम करने से मिलती है। पर अभिमान के नशे में चूर व्यक्ति इस सीधे-साधे मार्ग पर चलने में समर्थ नहीं होता, वह अनीति और बेईमानी पर उतर आता है।

अवमान का अर्थ है- आत्मा की गिरावट। अपने को दीन, तुच्छ, अयोग्य, असमर्थ समझने वाले लोग संसार में दीन-हीन बनकर रहते हैं। उनकी प्रतिभा कुण्ठित हो जाती है। कोई साहसिक कार्य उनसे बन नहीं पड़ता। सम्पन्नता प्राप्त करने और अपने ऊपर होने वाले अन्याय को हटाने के लिए जिस शौर्य की आवश्यकता है वह अवमान ग्रस्त मनुष्य में नहीं होता। फलस्वरूप वह न तो समृद्ध बन पाता है और न अन्याय के चंगुल से छूट पाता है। उसे गरीबी घेरे रहती है। और कोई न कोई सताने वाला आये दिन अपनी तीर कमान ताने रहता है। इन कठिनाईयों से बचने

के लिए उसे निर्बलता पूरक अनीतियों का आश्रय लेना पड़ता है। चोरी, ठगी, कपट, छल, दंभ, असत्य, पाखण्ड, व्यभिचार, खुशामद जैसे दीनता सूचक अपराधों को करना पड़ता है। मोह-ममता, भय, आशंका, चिन्ता, कातरता, शोक, पश्चात्ताप, निराशा कुढ़न, सरीखे मनोविकार उसे घेरे रहते हैं। आत्मज्ञान एवं आत्म सम्मान को प्राप्त करना और उनकी रक्षा करने के लिए मनुष्योचित मार्ग अपनाना यह जीवन का सतोगुणी स्वाभाविक क्रम है। यह शृंखला जब विशृंखलित हो जाती है, आत्मिक संतुलन बिगड़ जाता तो पाप करने का सिलसिला चल पड़ता है।

मानसिक सन्तुलन और समत्व की भावना

मानसिक सन्तुलन को हम गीता में बतलाई समत्व की भावना भी कह सकते हैं। सब सांसारिक पदार्थों में प्रवृत्ति की हम में जितनी शक्ति होती है उतनी ही जब उनसे निवृत्त होने की भी शक्ति होती है तो उस अवस्था को सन्तुलित और समत्त्व भावना की अवस्था कह सकते हैं।

इस समत्व को आचरण में उतारने के लिए केवल विरागी अथवा रागहीन होने से ही कार्य न चलेगा। सन्तुलित अवस्था तो तब होगी जब आप रागहीन होने के साथ-साथ द्वेषहीन भी होंगे। हमारे भारतीय साधुओं ने भी वही भूल की। वे होने के लिए तो विरागी हो गये पर साथ-साथ अद्वेषी (अद्वेष्टा) न हुए। राग से बचने की धुन में उन्होंने द्वेष को अपना लिया। संसार के सुख-दुःख से सम्बद्ध न होने की चाह में उन्होंने संसार से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया और उसकी सेवाओं से अपना मुख मोड़ लिया।

जब दो गुण ऐसे होते हैं जो मनुष्य को परस्पर विपरीत दिशाओं में प्रवृत्त करते हैं, तो उनके पारस्परिक संयोग से चित्त की जो अवस्था होती है, उसे भी सन्तुलित अवस्था कहते हैं। दया मनुष्य को दूसरों का दुःख दूर करने में प्रवृत्त कराती है पर निर्मोह या निर्ममत्व मनुष्य को दूसरों के सुख-दुःख से सम्बन्धित होने से पीछे हटाता है। अतएव दया और निर्ममत्व दोनों के एक बराबर होने से चित्त सन्तुलित होता है। जहाँ दया मनुष्य को अनुरक्त करती है वहाँ निर्ममता विरक्त। दया में प्रवृत्तात्मक और निर्ममता में निवृत्तात्मक शक्ति है। उसी तरह सन्तोष और परिश्रमशीलता एक दूसरे को सन्तुलित करते हैं। परिश्रमशीलता में प्रवृत्तात्मक और सन्तोष में निवृत्तात्मक शक्ति है। उसी तरह सत्यता और मृदुभाषिता, सरलता और दृढ़ता, विनय और निर्भीकता, नम्रता और तेज, सेवा और अनासक्ति, शुचिता और घृणाहीनता, स्वतन्त्रता और उत्तरदायित्व, तितीक्षा और आत्म रक्षा, निष्कामता और आलस्य हीनता, अपरिग्रह और द्रव्योपार्जन शक्ति परस्पर एक दूसरे को सन्तुलित करते हैं। इन युग्मों में से यदि केवल एक का ही विकास हो और दूसरे के विकास की ओर ध्यान न दिया जाय तो मनुष्य का व्यक्तित्व असन्तुलित एवं एकांगी हो जावेगा। श्रद्धालु व्यक्ति में श्रद्धेय व्यक्ति के अनुगमन करने तथा उसके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलने की प्रवृत्ति होती है, स्वतन्त्रता प्राप्त व्यक्ति पर अंकुश न होने से उसमें निरंकुशता और उच्छृंखलता बढ़ सकती है, दृढ़ प्रकृति व्यक्ति में हठ करने की प्रवृत्ति हो सकती है, प्रभुत्वशाली व्यक्ति में अभिमान बढ़ सकता है इत्यादि। अतएव जब तक इन व्यक्तियों में क्रमशः आत्म निर्भरता, उत्तरदायित्व, हठ-हीनता और निरभिमानता का विकास न होगा तब तक पूर्वोक्त गुण अपनी-अपनी सीमा के भीतर न रहेंगे। अतएव उपरोक्त युग्मों में से प्रत्येक गुण एक दूसरे को मर्यादित करता है और एक दूसरे का पूरक है।

जब मनुष्य में दण्ड देने की सामर्थ्य रहते हुए भी, अपमान सहन करने की क्षमता होती है, जब वह अहिंसा व्रत पालते हुए भी अपराधियों को अधिकाधिक उच्छृंखल, उद्धत, अभिमानी और निष्ठुर नहीं बनने देता, जब वह सेवा व्रती होते हुए भी सेव्यजनों को आलसी परमुखापेक्षी और अकर्मण्य नहीं होने देता, जब वह क्रोध में होते हुए भी अनुशासन और नियन्त्रण बनाये रखना जानता है, जब उसमें भक्ति और उत्साह होते हुए भी दास वृत्ति और उतावलापन नहीं होता, जब वह सफलता में विश्वास रखते हुए भी कार्य करने में लापरवाही नहीं करता, जब वह त्यागी होते हुए भी विपक्षी का लोभ नहीं बढ़ाता, जब वह मान-सम्मान की परवाह न करते हुए भी लोक-कल्याण करने वाले शुभ कार्यों के करने में पूर्ण उत्साही होता है, जब वह अपमान से दुखी न होते हुए भी अपमान जनक कार्य न करने का संयमी एवं आत्मनिग्राही होता है, जब वह शुभ कर्मों को करने के लिए बाध्य न होते हुए भी स्वेच्छा से उन्हें तत्परता पूर्वक अच्छी तरह करता है, जब वह किसी कार्य में प्रवृत्त होने के साथ-साथ उससे निवृत्त भी हो सकता है, तब उसके चरित्र और गुणावलियों में सन्तुलन आता है।

जब दो विचार धाराऐं मनुष्य से भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कार्य कराती हैं, तब उनके समन्वय से जो स्थिति होती है उसे सन्तुलित विचार धारा कहते हैं। आत्म सुख की भावना बहुधा मनुष्य को स्वार्थमय कर्मों में प्रवृत्त कराती है और लोक-सुख की भावना लोक-कल्याण के कार्यों में। अतएव आत्म-सुख और लोक-सुख दो विभिन्न दृष्टिकोण हुए। इनके समन्वय से जो स्थिति होती है, वही सन्तुलित विचार पद्धति है। उसी प्रकार जिसकी विचारधारा में पूर्व और पश्चिम के आदर्शों का समन्वय, भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय, आदर्श और यथार्थ का समन्वय हुआ है और जो मध्यम मार्ग को अपनाये हुए हैं उसी की विचार धारा सन्तुलित है।

जब हम किसी एक ही कार्य के पीछे पड़ जाते हैं अथवा हम जब किसी कार्य में अति करने के कारण दूसरे करणीय कार्यों को भूल जाते हैं, तब हमारी कार्य पद्धति असन्तुलित होती है। यदि हम एक दम धन कमाने के पीछे पड़ जायें अथवा यदि हम केवल पढ़ने में ही सारा समय बिताने लगें तो हमारी कार्य पद्धति असन्तुलित होगी, यदि कोई विद्यार्थी अपने हस्तलेखन की केवल गति ही बढ़ाने पर ध्यान दे और अक्षरों की सुन्दरता पर ध्यान न दे तो आप उसके प्रयत्न को क्या कहेंगे ? उसी प्रकार यदि किसी देश में ऐसा कोई आयोजन हो कि केवल शिक्षा की क्वालिटी या उसकी उत्कृष्टता ही एक मात्र लक्ष्य हो और इस बात का ध्यान न हो कि शिक्षा अधिक से अधिक संख्या के लोगों को उपलब्ध हो सके तो उस देश के शिक्षा शास्त्रियों की कार्य पद्धति असन्तुलित ही कही जायेगी। यही बात मानव जीवन पर भी घटित होती है। हमें केवल एक ही दिशा में घुड़दौड़ नहीं मचानी चाहिए, वरन् सब दिशाओं में विकास करते हुए मानसिक सन्तुलन को बनाये रखना चाहिए। तभी हम अगाध मानसिक शान्ति के दर्शन कर सकेंगे।

अति सर्वत्र वर्जयेत

हमारे प्राचीन शास्त्रकारों तथा नीतिकारों ने जगह-जगह इस बात पर जोर दिया है कि किसी भी काम में 'अति' नहीं करनी चाहिए। यह नियम बुरी बातों पर ही नहीं अनेक अच्छी बातों पर भी लागू होता है। जैसे कहा गया है कि अति दान वृत्ति के कारण बलि को पाताल में बँधना पड़ा। सम्भव है कि कुछ विशिष्ट आत्माओं के लिए जो किसी असाधारण उद्देश्य की पूर्ति के लिए पृथ्वी पर अवतीर्ण होती है, यह नियम आवश्यक न माना जाय, पर सर्व साधारण के लिए सदैव मध्यम मार्ग-सन्तुलित जीवन का नियम ही उचित सिद्ध होता है।

भगवान बुद्ध ने 'मज्झम मग्ग' का - मध्यम मार्ग का - आचरण करने के लिए सर्व साधारण को उपदेश किया है। बहुत तेज दौड़ने वाले जल्दी थक जाते हैं और बहुत धीरे-धीरे चलने वाले अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचने में पिछड़ जाते हैं। जो मध्यम गति से चलता है वह बिना थके, बिना पिछड़े उचित समय पर अपने गन्तव्य स्थान तक पहुँच जाता है।

हाथी जब किसी नदी को पार करता है तो अपना हर एक कदम बड़ी सावधानी से रखता है। आगे की जमीन को टटोल कर उस पर एक पैर जमाता है। जब देख लेता है कि कोई खतरा नहीं तो उस पर बोझ रख कर पिछले पैरों को हटाता है। इस गति विधि से वह उस भारी काम को पूरा कर लेता है। यदि वह जल्दबाजी करे तो वह गहरे पानी में डूब सकता है, किसी दल-दल में फँस सकता है, या किसी गड्ढे में औंधे मुँह पटक खाकर प्राण गँवा सकता है। साथ ही यदि वह कदम बढ़ाने का कार्य न करे, पानी की विस्तृत धारा को देखकर डर जाय तो नदी पार नहीं कर सकता। हाथी बुद्धिमान प्राणी है। वह अपने भारी भरकम डीलडौल का ध्यान रखता है नदी पार करने की आवश्यकता अनुभव करता है, पानी के विस्तृत फैलाव को समझता है। इन सब बातों का ध्यान रखते हुए वह अपना कार्य गंभीरतापूर्वक आरम्भ करता है। जहाँ खतरा दीखता है, वहाँ से पैर पीछे हटा लेता है और फिर दूसरी जगह होकर रास्ता ढूँढ़ता है। इस प्रकार वह अपना कार्य पूरा कर लेता है।

मनुष्य को भी हाथी की सी बुद्धिमानी सीखनी चाहिए और अपने कार्यों को माध्यम गति से पूरा करना चाहिए। विद्यार्थी कितनी ही उतावली करे, एक दो महीने में अपनी शिक्षा पूरा कर नहीं सकता, कर भी लेगा तो उसे जल्दी भूल जायगा। क्रम-क्रम से नियतकाल में पूरी हुई शिक्षा ही मस्तिष्क में सुस्थिर रहती है। पेड़, पौधे, वृक्ष, पशु-पक्षी सभी अपनी नियत अवधि में परिपक्व फल देने लायक तथा वृद्ध होते हैं यदि उस नियति गति विधि में जल्दबाजी की जाय तो परिणाम बुरा होता है। हमें अपनी शक्ति, सामर्थ्य, योग्यता, मनोभूमि, परिस्थिति आदि को ध्यान में रखकर निर्धारित कार्यों को पूरा करना चाहिए।

बहुत खाना, भूख से ज्यादा खाना बुरा है इसी प्रकार बिल्कुल न खाना-भूखे रहना बुरा है। अति का भोग बुरा है पर अमर्यादित तप भी बुरा है। अधिक विषयी क्षीण होकर असमय में ही मर जाते हैं, पर जो अमर्यादित अतिशय तप करते हैं, शरीर को अत्यधिक कस डालते हैं वे भी दीर्घजीवी नहीं होते। अति का कंजूस होना ठीक नहीं, पर इतना दानी होना भी किस काम का कि कल खुद को ही दाने-दाने का मुँहताज बनना पड़े। आलस्य में पड़े रहना हानिकारक है पर सामर्थ्य से अधिक श्रम करते रह कर जीवनी शक्ति को समाप्त कर डालना भी लाभदायक नहीं। कुबेर बनने की तृष्णा में पागल बन जाना या कंगाली में दिन काटना दोनों ही स्थितियाँ अवांछनीय हैं।

नित्य मिठाई ही खाने को मिले तो उससे अरुचि के साथ-साथ दस्त भी शुरू हो जायेंगे। भोजन में मीठे की मात्रा बिल्कुल न हो तो चमड़ी पीली पड़ जायगी। बहुत घी खाने से मन्दाग्नि हो जाती है पर यदि बिल्कुल घी न मिले तो खून खराब हो जायेगा। बिल्कुल कपड़े न हों तो सर्दी में निमोनियां हो जाने का और गर्मी में लू लग जाने का खतरा है, पर जो कपड़ों के परतों से बेतरह लिपटे रहते हैं, उनका शरीर आम की तरह पीला पड़ जाता है। बिल्कुल न पढ़ने से मस्तिष्क का विकास नहीं होता पर दिन रात पढ़ने की धुन में व्यस्त रहने से दिमाग खराब हो जाता है, आँखें कमजोर पड़ जाती हैं।

घोर, कट्टर, असहिष्णु, सिद्धान्तवादी बनने से काम नहीं चलता। दूसरों की भावनाओं का भी आदर करके सहिष्णुता का परिचय देना पड़ता है। अन्ध भक्त बनना या अविश्वासी होना दोनों ही बातें बुरी हैं। विवेक पूर्वक हंस की भांति नीर-क्षीर का अन्वेषण करते हुए ग्राह्य और अग्राह्य को पृथक करना ही बुद्धिमानी है। देश काल और पात्र के भेद से नीति व्यवहार और क्रिया पद्धति में भेद करना पड़ता है। यदि न करें तो हम अतिवादी कहे जायेंगे। अतिवादी-आदर्श तो उपस्थित कर सकते हैं, पर नेतृत्व नहीं कर सकते।

आदर्शवाद हमारा लक्ष्य होना चाहिए, हमारी प्रगति उसी ओर होनी चाहिए, पर सावधान ! कहीं अपरिपक्व अवस्था में ऐसी बड़ी छलांग न लगाई जाय, जिसके परिणाम स्वरूप टांग टूटने की यातना सहनी पड़े। कड़े कार्यों को पूरा करने के लिए मजबूत व्यक्तित्व की आवश्यकता है। मजबूत व्यक्तित्व धैर्यवानों का होता है। उतावली करने वाले छछोरे या रेंगने वाले आलसी नहीं, महत्वपूर्ण सफलताएँ वे प्राप्त करते हैं जो धैर्यवान होते हैं, जो विवेक पूर्वक मजबूत कदम उठाते हैं और जो अतिवाद के आवेश से बचकर मध्यम मार्ग पर चलने की नीति को अपनाते हैं। नियमितता, दृढ़ता एवं स्थिरता के साथ समगति से कार्य करते रहने वाले व्यक्तियों के द्वारा ही उपयोगी संतुलित कार्यों का सम्पादन होता है।

एकांगी विकास की हानियाँ

मानसिक असन्तुलन से मनुष्य के व्यक्तित्व का एकांगी विकास होता है। हममें से प्रत्येक व्यक्ति मानसिक रूप से नई परिस्थितियों में फिट होने का प्रयत्न करता रहता है। यदि हम अपने घर, पेशे, वातावरण के अनुसार अपने मानसिक संस्थान को ढक लेते हैं तो हमें कार्य में प्रसन्नता और मन में शान्ति प्राप्त होती है। अन्यथा हमारा मन अतृप्त और हमारी आत्मा अशान्त रहती है।

उदाहरण स्वरूप कुछ ऐसे विचार और तथ्य होते हैं जिनके प्रति हम ईर्ष्यालु हो उठते हैं। हम इन विचारों से बच नहीं सकते। उनके बावजूद हमें इन्हीं विरोधी विचारों में कार्य करना है, उनसे मित्रता करनी है। तभी हमें मानसिक शान्ति प्राप्त हो उठेगी।

मन में आन्तरिक संघर्ष का क्या कारण है ? दो विरोधी विचार, दो विभिन्न दृष्टिकोण हमारे मानसिक क्षितिज पर उदित होते हैं। हमें इन दोनों के बावजूद कार्य करना है। सन्तुलन ही शान्ति का एक मात्र उपाय है।

चोरी करने वाला व्यक्ति वह है जो अपने विचार, भावना और अन्तरात्मा में पारस्परिक सन्तुलन नहीं कर पाता। उसकी लालच और मोह की प्रवृत्ति अन्तरात्मा को दबा देती है। वह मोह को लम्बा छोड़ देता है और स्वयं भी उसमें लिपट जाता है। सत्य और न्याय की पुकार दब जाती है। पापमयी वृत्ति की विजय होती है। शैतान बच्चे, झगड़ालू औरतें, सब इस मानसिक रोग के शिकार होते हैं। वे मानसिक जगत को ठीक तरीके से संचालित और सन्तुलित नहीं कर पाते हैं। कोई विकार इतना तीव्र हो जाता है, जो विवेक बुद्धि को दबाकर उनके स्वभाव का एक अंग बन जाता है।

मन की क्रियाओं को तीन भागों में विभाजित किया जाता है, १- भावना, २- विचार, ३- क्रियाएँ। ऐसे बहुत कम व्यक्ति हैं, जिनमें उपरोक्त तीनों क्रियाओं का पूर्ण सामन्जस्य या पूर्ण सन्तुलन हो। किसी में भावना का अंश अधिक है तो वह भावुकता से भरा है, आवेशों का विचार

रहता है। उसकी कमजोरी-अति संवेदन शीलता है। वह जरा सी भावना को तिल का ताड़ बनाकर देखता है ।

विचार प्रधान व्यक्ति दर्शन की गूढ़ गुत्थियों में ही डूबते-उतराते रहते हैं । नाना कल्पनाऐं उनके मानस क्षितिज पर उदित-अस्त होती रहती हैं । योजना बनाने का कार्य उनसे खूब करा लीजिए । पर असली काम के नाम वे शून्य हैं ।

तीसरे प्रकार के व्यक्ति सोचते कम हैं, भावना में नहीं बहते हैं पर काम खूब करते रहते हैं । इन कार्यों में ऐसे भी काम वे कर डालते है जिनकी आवश्यकता नहीं होती तथा जिनके बिना भी उनका काम चल सकता है।

पूर्ण सन्तुलित वही व्यक्ति हैं जिसमें भावना, विचार तथा कार्य, इन तीनों ही तत्वों का पूर्ण सामंजस्य या मेल हो । ऐसा व्यक्ति मानसिक दृष्टि से पूर्ण स्वस्थ है ।

हमें चाहिए कि हम 'अति' से अपनी रक्षा करें और इस प्रकार असन्तुलन से बचे रहें । कहने का तात्पर्य यह है कि अति भावुकता के चक्र में पड़ कर ऐसा न कर डालें, ऐसे वायदे न कर बैठें जिन्हें बाद में पूर्ण न कर सकें । इतने विचार-प्रधान न बन जायें कि सम्पूर्ण समय सोचते विचारते, चिन्तन करते-करते ही व्यतीत हो जाय । विचार करना उचित है किन्तु विचारों ही में निरन्तर डूबे रहना और कार्य न करना हमें मानसिक रूप से आलसी बना डालेगा ।

अच्छे व्यक्ति के निर्माण में क्रिया, भावना तथा विचार-शक्ति इन तीनों आवश्यक तत्वों का पूर्ण विकास होना चाहिए । जो व्यक्ति काम, क्रोध, आवेश, उद्वेग इत्यादि में निरत रहते हैं, उन्हें भावनाजन्य मानसिक व्याधियों का परित्याग करना चाहिए । जो केवल कागजी योजना से और व्योम-विहारिणी कल्पनाओं में लगे रहते हैं, इन्हें सांसारिक दृष्टिकोण से अपनी योजनाओं की सत्यता जांचनी चाहिए । इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों को अपने कार्यों को जीवन में प्रकट करना चाहिए । हम महान पुरुषों में देखते हैं कि उनकी बुद्धि पूर्ण विकास को पहुँच चुकी थी, विचार और इच्छा शक्ति बड़ी बलवती थी और कार्य शक्ति उच्चकोटि की थी । महात्मा गांधी ऐसे सन्तुलित व्यक्तित्व के उदाहरण थे ।

जीवन में सन्तुलन का महत्व

एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना कीजिए जो हवा के भयंकर तूफान में चला जा रहा है। धूल से उसके नेत्र क्षण भर के लिए बन्द हो जाते हैं । अधिमिचे नेत्रों से वह दूसरी ओर बहक जाता है। ठीक मार्ग पर आरूढ़ होना चाहता है किन्तु मार्ग नहीं सूझता ।

यही हाल मानव के अन्तर्जगत का है। वह अन्दर ही अन्दर अनेक विरुद्ध भावनाओं का शिकार रहता है। प्रलोभन का मायाजाल और वासना की आंधी उसे घेरे रहती है और वासना तृप्ति के लिए वह इधर-उधर भटकता रहता है। उसे पथ-भ्रष्ट होते देख उसकी शुभ शक्तियां उसे सचेत करती हैं । यदि उनकी शक्ति अधिक हो तो व्यक्ति बच जाता है, अन्यथा पतन के गर्त में विलीन हो जाता है ।

मानव जीवन में अनेक आन्तरिक एवं बाह्य शक्तियों का प्राधान्य है । भावना कहती है-

"अमुक व्यक्ति बड़ी दयनीय स्थिति में है । उसकी सहायता करें, अपने सुख सुविधा, साधनों को न देखें । कर्ण, शिवि, राजा हरिश्चन्द्र का उदाहरण लीजिए । इन महापुरुषों ने दया, करुणा, सहानुभूति और दान द्वारा महान पद प्राप्त किया । हमें भी यही करना चाहिए । अपने सुख सुविधा इत्यादि का कोई ध्यान न रखना चाहिए ।"

तर्क आपको रोकता है और कहता है- "क्या पागल हुए हो, सोचो-विचारो दिमाग से काम लो । यदि साधनों का ध्यान छोड़कर व्यय किया, दूसरों से बड़े बड़े वायदे किए तो आफत में फँस जाओगे । भावना में मत बहो । समाज रुपये का आदर करता है ।"

विलास भावनाऐं कहती हैं- "अरे मानव तूने बहुत श्रम कर लिया । अब कुछ आनन्द मना ले । जीवन का रस ले । बार-बार जीवन आने वाला नहीं है ।"

इस प्रकार मानव के आन्तरिक जीवन में भावना, तर्क, वासना, शरीर-बल, आत्म-बल, प्रेम, द्वेष, घृणा इत्यादि परस्पर विरुद्ध शक्तियों का अविराम ताण्डव चलता रहता है। जो इन शक्तियों का उचित समन्वय कर सकता है, वही सफल है।

जीवन में भावना की आवश्यकता है-बिना भावना का मनुष्य मिट्टी या पत्थर का पुतला मात्र बन जाता है। तर्क अर्थात् विवेक की आवश्यकता भी है । जो सोच समझ कर कार्य न करे, बुद्धि से काम न ले, वह तो निराट पशु ही है। इसी प्रकार वासना, घृणा, प्रेम इत्यादि सबका अपने-अपने स्थान पर महत्व है । पर सुख और सफलता मानव की विभिन्न शक्तियों के सन्तुलन में ही है । असन्तुलन में पराजय छिपी हुई है।

सिकन्दर महान, जूलियस सीजर और औरंगजेब की अत्यन्त बड़ी महत्वाकांक्षाओं का परिणाम हमारे सामने है। कर्ण के पतन का कारण अति भावुकता थी, रावण दर्प के कारण मृत्यु को प्राप्त हुआ ।

तर्कशील, भावनाशील, कर्मशील-तीनों ही प्रकार के मानव-जीवन में अमर्यादित सन्तुलन से असफल हो सकते हैं। इसलिए यह ध्यान रखें कि कहीं आपके व्यक्तित्व का एक ही पहलू विकसित न होता रहे। सभी सन्तुलित रूप में विकसित होते रहें । अतिरेक त्याज्य है । ध्येय और व्यवहार, कर्म और भावना, परिश्रम और विश्राम, तर्क और कार्य इन सभी द्वन्द्वों में उचित समन्वय का नाम ही जीवन है ।

उत्तेजना के दुष्परिणाम

कहते हैं आदिम जाति में एक बहुत बड़ी मानसिक कमजोरी रहती है, जिसे उत्तेजना कहा जाता है । आदिम जातियों में नृशंस हत्याओं और मारपीटों का विशेष कारण यही उत्तेजना होता है । लड़का यदि अपने पिता से क्रुद्ध और उत्तेजित हो उठा तो एक ही आवेश में वह पिता की हत्या कर बैठता है । यही स्थिति पिता अथवा अन्य कुटुम्बियों की है । क्रोध पर ये काबू कर नहीं पाते और क्षणिक आवेश में हत्या, मार पीट, खून खराबी हो जाती है । छोटी-छोटी बातों पर लड़ाई झगड़े चलते रहते हैं । पारस्परिक कटुता की अभिवृद्धि होती रहती है । एक दूसरे के प्रति बैर, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, घृणा इत्यादि विषैले मनोविकार पनपते रहते हैं ।

उत्तेजना क्या है ? इसका विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि यह उद्वेग का आधिक्य है। साधारणत: व्यक्ति दो प्रकार के होते हैं । एक तो वे जिन्हें 'मोटी चमड़ी' का कह सकते हैं । इन व्यक्तियों में भावनाएँ कम होती हैं । इन्हें कुछ कह दीजिए इनके मन में कोई प्रभाव न पड़ेगा। गाली गलौज या मान हानि से भी वे उत्तेजित न होंगे । ये भावना के आक्रोश में नहीं रहते । क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, क्षणिक आवेश का इन पर कोई शीघ्रव्यापी प्रभाव नहीं होता ।

दूसरे व्यक्ति भावुक और अति उद्विग्न होते हैं । मक्खन की तरह कोमल, छुई मुई के पौधे के समान सम्वेदनशील, भावना की अधिकता इनकी दुर्बलता है। भावना अर्थात् क्रोध, प्रेम, वात्सल्य, दया, ईर्ष्या इत्यादि मनोविकारों को अत्यधिक गहराई से अनुभव करना और उन्हीं के वश में इतना हो जाना कि स्वयं अपनी विवेक-बुद्धि को भी खो डालना । लाभ हानि या अन्तिम परिणाम का ख्याल न रखना इनकी कमजोरी है। जो गुण एक कवि में सौभाग्य का विषय है, वही मनोविकारों के ऊपर नियन्त्रण न कर सकने वाले व्यक्ति के लिए एक अभिशाप है। ये अपनी उत्तेजनाओं के ऊपर विवेक बुद्धि का नियन्त्रण नहीं कर पाते और स्वयं उनके वशीभूत हो जाते हैं ।

उत्तेजना एक क्षणिक पागलपन है । यह भावना का ताण्डव नृत्य है, उद्वेग एक आंधी है, ईर्ष्या, क्रोध, प्रतिशोध का एक भयंकर तूफान है, जिसे निर्बल इच्छा शक्ति वाला व्यक्ति संभाल नहीं पाता अपने आपे को खो देता है ।

उत्तेजना की आंधी में बुद्धि, विवेक शून्य तथा निश्चेष्ट हो जाती है, यह उत्तरोत्तर बढ़ कर शरीर पर पूरा अधिकार कर लेती है। भावना के उद्वेग में नीर-क्षीर, विवेक का ज्ञान लुप्त हो जाता है । उत्तेजक स्वभाव वाला व्यक्ति दूरदर्शिता को खो बैठता है । कभी-कभी उसे अपनी शक्तियों का ज्ञान तक नहीं रहता । कमजोर व्यक्ति भी उत्तेजना का शिकार होकर मजबूत व्यक्ति से लड़ बैठते हैं । बातों-बातों में उग्र हो जाते हैं । हाथा पाई की नौबत आ जाती है । जिससे व्यर्थ की हानि उठानी पड़ती है ।

सन्तुलित जीवन की विघातक प्रवृत्तियाँ

सन्तुलित जीवन के शत्रु हमारे आन्तरिक मनोविकार ही होते हैं । ये शत्रु हमारे मन के विभिन्न स्तरों में निवास करते हैं, और प्रत्येक व्यक्ति में थोड़ी बहुत मात्रा में विद्यमान रहते हैं । जो मनुष्य इनसे जितने अंशों में मुक्ति पा जाता है, वह उतना ही सभ्य और सुसंस्कृत समझा जा सकता है। इसलिए मनुष्य का कर्तव्य है कि इन शत्रुओ, मन की कुप्रवृत्तियों को जहाँ तक संभव हो नियंत्रण में रखें ।

ये शत्रु हैं काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, घृणा, द्वेष । इन दुर्गुणों को स्वच्छन्दता देने से मानसिक विष सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाता है, बुद्धि में तमोगुण का प्राचुर्य होता है और मनुष्य भ्रमवश सत्-असत् का विवेक नहीं कर पाता । इन शत्रुओं में कोई एक भी यदि बढ़ जाय तो सर्वनाश करने में पूर्ण समर्थ है । ये मानसिक विष यदि बहिर्गत न किये गये तो आयु पर्यन्त मनुष्य के साथ रहेंगे, सदा उसे आन्तरिक ज्वाला में दग्ध करते रहेंगे, और न जाने कितनी बार जन्म-मरण की मार्मिक पीड़ा देंगे । मनुष्य की नाना प्रवृत्तियों के नीचे ये विकार पाये जाते हैं । ये मानसिक विष प्राय: दुर्भावनाओं की जटिल मानसिक ग्रन्थियाँ बन

जाते हैं, मस्तिष्क में संघर्ष उत्पन्न कर देते हैं और अनेक जटिल व्याधियों के रूप में प्रगट होते हैं ।

प्राय: इन मानसिक शत्रुओं से ग्रसित व्यक्ति को यह ज्ञान नहीं रहता कि वह उनके पंजे में है या नहीं । क्रोधी स्वयं नहीं जानता कि वह ईर्ष्या की भट्टी में जल रहा है, कभी नहीं समझता कि वीर्य नाश द्वारा वह अपने स्वास्थ्य आयु और शरीर को जर्जर बना रहा है । कंजूस माया के मोह में फँस कर विवेक बुद्धि को शून्य बना लेता है। कभी-कभी तमोगुण के अधिकार में रहने के कारण मनुष्य इन दुर्गुणों में ही सुख और संतोष की भावना करने लगता है। मनुष्य भ्रम वश व्यक्ति से, समाज से, जाति और राष्ट्र से, असूया, घृणा करने में अपनी प्रतिष्ठा की गणना होते देखता है । कामनाओं के पोषण करने का नाम प्रगति रखता है । अन्दर बसी हुई क्रोध की वृत्ति को तेज मानने लगता है, मान का नाम आत्म सम्मान रखकर उसकी रक्षा करना कर्तव्य समझने लगता है । लोभ को अपनी उन्नति का साधन समझता है, मोह का नाम प्रेम रखकर जीवन को बर्बाद कर देना आदर्श मानता है, इसलिए ये दुर्गुण ऐसे मनुष्यों में बढ़ते चले जाते हैं ।

इन मानसिक शत्रुओं की पारस्परिक घनिष्ठता है, एक के आने पर दूसरा स्वयं आता है। एक दूसरे के लिए मैदान तैयार करता है । मोह से ईर्ष्या और डाह उत्पन्न होते हैं । द्वेष से बैर की सृष्टि होती है, क्रोध मद और अभिमान उत्पन्न करता है । घृणा से द्वेष का दुर्भाव पैदा होता है । इन मनोविकारों का द्वन्द नाना विषयों के अनुसार अनेक रूपों में प्रकट होता है। विचार की मूल अनुभूति ही विषय भेद के अनुसार क्रोध, भय, घृणा, मद, लोभ, मोह, मात्सर्य आदि मनोविकारों का जटिल रूप धारण करती है ।

क्रोध पतन की ओर ढकेलता है

क्रोध का सम्बन्ध मन के अन्य विकारों से घनिष्ठ है। क्रोध के वशीभूत होकर हमें उचित अनुचित का विवेक नहीं रहता और हम हाथापाई कर बैठते हैं । बातों-बातों ही में उखड़ पड़ना, लड़ाई झगड़ा करना साधारण सी बात है। यदि तुरन्त क्रोध का प्रकाशन हो जाय तब तो मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से ठीक है । पर यदि वह अन्त: प्रदेश में पहुँच कर एक भावना ग्रन्थि बन जाय तो बड़ी दु:खदाई होती है । बहुत दिनों तक टिका हुआ क्रोध, बैर कहलाता है। बैर एक ऐसी मानसिक बीमारी है जिसका कुफल मनुष्य को दैनिक जीवन में भुगतना पड़ता है। वह अपने आपको सन्तुलित नहीं रख पाता, जिससे उसे बैर है, उसके उत्तम गुण, भलाई, पुराना प्रेम, उच्च संस्कार आदि सब विस्मृत कर बैठता है । स्थाई रूप से एक भावना ग्रन्थि बन जाने से क्रोध का वेग तो धीमा पड़ जाता है, किन्तु दूसरे व्यक्ति को सजा देने, नुकसान पहुँचाने या पीड़ित करने की कुत्सित भावना निरन्तर मन को दग्ध किया करती है ।

बैर पुरानी जीर्ण मानसिक बीमारी है, क्रोध तात्कालिक और क्षणिक प्रमाद है । क्रोध में पागल होकर हम सोचने का समय नहीं देखते, बैर उसके लिए बहुत समय लेता है। क्रोध में अस्थिरता, क्षणिकता, तत्कालीनता, बुद्धि का कुण्ठित हो जाना, उद्विग्नता, आत्मरक्षा, अहंकार की पुष्टि, असहिष्णुता, दूसरे को दण्डित करने की भावनाऐं संयुक्त हैं । क्रोध मन को एक उत्तेजित और खिंची हुई स्थिति में रख देता है जिसके परिणाम स्वरूप मन दूषित विकारों से भर जाता है । क्रोध से प्रथम तो उद्वेग उत्पन्न होता है । मन एक गुप्त किन्तु तीव्र पीड़ा से दग्ध होने लगता है । रक्त में गर्मी आ जाती है और उसका प्रवाह बड़ा तेज हो जाता है। इस गर्मी में मनुष्य के शुभ भाव, दया, प्रेम, सत्य, न्याय, विवेक, बुद्धि जल जाते हैं ।

क्रोध एक प्रकार का भूत है, जिसके सवार होते ही मनुष्य आपे में नहीं रहता । उस पर किसी दूसरी सत्ता का प्रभाव हो जाता है । मन की निन्द्य वृत्तियाँ उस पर अपनी राक्षसी माया चढ़ा देती हैं, वह बेचारा इतना हतबुद्धि हो जाता है कि उसे यह ज्ञान नहीं रहता कि वह क्या कर रहा है ।

आधुनिक मनुष्य का आन्तरिक जीवन और मानसिक अवस्था अत्यन्त विक्षुब्ध है, दूसरों में वह अनिष्ट देखता है, उससे हानि होने की कुकल्पना में डूबा रहता है । जीवन पर्यन्त इधर-उधर लुढ़कता, ठुकराया जाता रहता है; शोक, दु:ख, चिन्ता, अविश्वास, उद्वेग, व्याकुलता आदि विकारों के वशीभूत होकर रहता है । ये क्रोध जन्य मनोविकार अपना विष फैला कर मनुष्य का जीवन विषैला बना रहे हैं । उसकी आध्यात्मिक शक्तियों का शोषण कर रहे हैं । साधना का सबसे बड़ा विघ्न क्रोध नाम का राक्षस ही है ।

क्रोध शान्ति भंग करने वाला मनोविकार है । एक बार क्रोध आते ही मन की अवस्था विचलित हो उठती है। श्वासोच्छवास तीव्र हो उठता है, हृदय विक्षुब्ध हो उठता है। यह अवस्था आत्मिक विकास के विपरीत है । आत्मिक

उन्नति के लिए शान्ति, प्रसन्नता, प्रेम और सद्भाव चाहिए ।

जो व्यक्ति क्रोध के वश में है, वह एक ऐसे दैत्य के वश में है, जो न जाने कब मनुष्य को पतन के मार्ग में धकेल दे । क्रोध तथा आवेश के विचार आत्मबल का ह्रास करते हैं ।

ईर्ष्या की आन्तरिक अग्नि

ईर्ष्या वह आन्तरिक अग्नि है जो अन्दर ही अन्दर दूसरे की उन्नति या बढ़ती प्रगति देखकर हमें भस्मीभूत किया करती है। दूसरे की भलाई या सुख देख कर मन में जो एक प्रकार की पीड़ा का प्रादुर्भाव होता है, उसे ईर्ष्या कहते हैं ।

ईर्ष्या एक संकर मनोविकार है जिसकी संप्राप्ति आलस्य अभिमान और नैराश्य के संयोग या जोड़ से होती है । अपने आपको दूसरे से ऊँचा मानने की भावना अर्थात् मनुष्य का 'अहं' इसके साथ संयुक्त होता है ।

ईर्ष्या मनुष्य की हीनत्व भावना से संयुक्त है । अपनी हीनत्व भावना ग्रन्थि के कारण हम किसी उद्देश्य या फल के लिए पूरा प्रयत्न तो कर नहीं पाते, उसकी उत्तेजित इच्छा करते रहते हैं । हम सोचते हैं- 'क्या करें हमारे पास अमुक वस्तु या चीज होती, हाय ! वह चीज तो उसके पास है, हमारे पास नहीं, वह वस्तु यदि हमारे पास नहीं है तो उसके पास भी न रहे ।'

ईर्ष्या व्यक्तिगत होती है । इसमें मनुष्य दूसरे की बुराई, अपकर्ष, पतन, त्रुटि की भावनाएँ मन में लाता है । स्पर्धा ईर्ष्या की पहली मानसिक अवस्था है । स्पर्धा की अवस्था में किसी सुख, ऐश्वर्य, गुण या मान से किसी व्यक्ति विशेष को सम्पन्न देख अपनी त्रुटि पर दुःख होता है, फिर उसकी प्राप्ति की एक प्रकार की उद्वेग पूर्ण इच्छा उत्पन्न होती है । स्पर्धा वह वेग पूर्ण इच्छा या उत्तेजना है जो दूसरे से अपने आप को बढ़ाने में हमें प्रेरणा देती है । स्पर्धा बुरी भावना नहीं, यह वस्तुगत है । इसमें हमें अपनी कमजोरियों पर दुःख होता है । हम आगे बढ़कर अपनी निर्बलता को दूर करना चाहते हैं ।

स्पर्धा व्यक्ति विशेष से होती है, ईर्ष्या उन्हीं से होती है जिनके विषय में यह धारणा होती है कि लोगों की दृष्टि उन पर अवश्य पड़ेगी या पड़ती होगी । ईर्ष्या के संचार के लिए पात्र के अतिरिक्त समाज की भी आवश्यकता है । समाज में उच्च स्थिति, दूसरों के सम्मुख अपनी नाक ऊँची रखने के लिए ईर्ष्या का जन्म होता है । हमारे पास वह वस्तु न देख कर भी मनोविकार का संचार हो जाता है ।

ईर्ष्या में क्रोध का भाव किसी न किसी प्रकार मिश्रित रहता है ईर्ष्या के लिए कहा भी जाता है कि "अमुक व्यक्ति ईर्ष्या से चल रहा है ।" साहित्य में ईर्ष्या को संचारी रूप में समय-समय पर व्यक्त किया जाता है, पर क्रोध बिल्कुल जड़ भाव है । जिसके प्रति हम क्रोध करते हैं, उसके मानसिक उद्देश्य पर ध्यान नहीं देते । असम्पन्न ईर्ष्या वाला केवल अपने को नीचा समझे जाने से बचने के लिए आकुल रहता है। धनी व्यक्ति दूसरे को नीचा देखना चाहता है ।

ईर्ष्या दूसरे की असम्पन्नता की इच्छा की आपूर्ति से उत्पन्न होती है। यह अभिमान को जन्म देगी, अहंकार की अभिवृद्धि करेगी और कुढ़न का ताना बाना बुनेगी । अहंकार से आहत होकर हम दूसरे की भलाई न देख सकेंगे। अभिमान में मनुष्य को अपनी कमजोरियाँ नहीं दीखतीं । अभिमान का कारण अपने विषय में बहुत ऊँची मान्यता धारण कर लेना है। ईर्ष्या उसी की सहगामिनी है ।

ईर्ष्या द्वारा हम मन ही मन दूसरे की उन्नति देखकर मानसिक दुख का अनुभव किया करते हैं । अमुक मनुष्य ऊंचा उठता चला जा रहा है। हम यों ही पड़े हैं, उन्नति नहीं कर पा रहे हैं । फिर वह भी क्यों इस प्रकार उन्नति करे । उसका कुछ बुरा होना चाहिए, उसे कोई दुःख, रोग, शोक, कठिनाई अवश्य पड़नी चाहिए । उसकी बुराई हमें करनी चाहिए । यह करने से उसे अमुक प्रकार से चोट लगेगी। इस प्रकार की विचार धारा से ईर्ष्या निरन्तर मन को क्षति पहुँचाती है। अशुभ विचार करने से सद्प्रवृत्तियों तथा प्राण शक्ति का क्रमशः ह्रास होने लगता है।

ईर्ष्या से उन्मत्त हो मनुष्य धर्म, नीति तथा विवेक का मार्ग त्याग देता है । उन्मादावस्था सी उसकी साधारण अवस्था हो जाती है और दूसरे लोगों की उन्माद और साधारण अवस्था उसे अपवाद के सदृश्य प्रतीत होती है। मस्तिष्क में नाना प्रकार की विकृत मानसिक अवस्थाओं की उत्पत्ति होती है। भय, घबराहट, भ्रम ये सब मनुष्य की ईर्ष्या और विवेक बुद्धि के अपकर्ष से उत्पन्न होते हैं ।

प्रत्येक क्रिया से प्रतिक्रिया की उत्पत्ति होती है । ईर्ष्या की क्रिया से मन के बाह्य वातावरण में जो प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं वे विषैली होती हैं । अपनी अपवित्र भावनायें इर्द-गिर्द के वातावरण को दूषित कर देती हैं ।

वातावरण विषैला होने से सबका अपकार होता है। जो ईर्ष्या की भावनाएँ आपने दूसरों के विषय में निर्धारित की हैं, संभव है दूसरे भी प्रतिक्रिया स्वरूप वैसी ही धारणाएँ आपके लिए मन में लाऐं।

निराशा हमारी महान शत्रु है

निराशावाद उस महा भयंकर राक्षस के समान है जो मुँह फाड़े हमारे इस परम आनन्दमय जीवन के सर्वनाश के चक्कर में रहता है, जो हमारी समस्त शक्तियों का ह्रास किया करता है। जो हमें आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर नहीं होने देता और जीवन के अन्धकारमय अंश हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया करता है। हमें पग-पग पर असफलता ही असफलता दिखाता है और विजय द्वार में प्रविष्ट नहीं होने देता।

इस बीमारी से ग्रस्त लोग उदास, खिन्न मुद्रा लिए घरों के कोने में पड़े दिन रात मक्खियाँ मारा करते हैं। ये व्यक्ति ऐसे चुम्बक हैं जो उदासी के विचारों को निरन्तर अपनी ओर आकर्षित करते हैं और दुर्भाग्य की कुत्सित डरपोक विचार धारा में निमग्न रहा करते हैं। उन्हें चारों ओर कष्ट ही कष्ट दीखते हैं। कभी यह, कभी वह, एक न एक भयंकर विपत्ति आती हुई दृष्टिगोचर होती है। वे जब बातें करते हैं तो अपनी यन्त्रणाओं, विपत्तियों और क्लेशपूर्ण अभद्र प्रसंग छोड़ा करते हैं। हर व्यक्ति से वह यही कहा करते हैं कि भाई हम क्या करें, हम बदनसीब हैं, हमारा भाग्य फूटा हुआ है, देव हमारे विपरीत हैं, हमारी किस्मत में विधि ने ठोकरों का ही विधान रखा है, तभी तो हमें थोड़ी-थोड़ी दूर पर लज्जित और परेशान होना पड़ता है।" उनकी चिन्तित मुद्रा देखने से यही विदित होता है, मानो उन्होंने उस पदार्थ से गहरा सम्बन्ध स्थिर कर लिया हो, जो जीवन की सब मधुरता नष्ट कर रहा हो, उनके सोने जैसे जीवन का समस्त आनन्द छीन रहा हो, उन्नति के मार्ग को कंटकाकीर्ण कर रहा हो मानो समस्त संसार की दुःख विपत्ति उन्हीं के सर पर आ पड़ी हो और उदासी की अन्धकारमय छाया ने उनके हृदय पटल को काला बना दिया हो।

इसके विपरीत आशावाद मनुष्य के लिए अमृत तुल्य है। जैसे तृषित को शीतल जल से, रोगी को औषधि से, अन्धकार को प्रकाश से, वनस्पति को सूर्य से लाभ होता है, उसी भांति आशावाद की संजीवनी बूटी से मृत प्राय मनुष्य में जीवन शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। आशावाद वह दिव्य प्रकाश है जो हमारे जीवन को उत्तरोत्तर परिपुष्ट, समृद्धशाली और प्रगतिशील बनाता है। सुख सौन्दर्य एवं अलौकिक छटा से उसे विभूषित कर उसका पूर्ण विकास करता है। उसमें माधुर्य का संचार कर विघ्न बाधा, दुख, कलेशों और कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने वाली गुप्त मन: शक्ति जाग्रत करता है। आत्मा की शक्ति से देदीप्यमान आशावादी उम्मीद का पल्ला पकड़े प्रलोभनों को रोंदता हुआ अग्रसर होता है। वह पग-पग पर विचलित नहीं होता, उसे कोई पराजित नहीं कर सकता, संसार की कोई शक्ति उसे नहीं दबा सकती, क्योंकि सब शक्तियों का विकास करने वाली 'आशा' की शक्ति सदैव उसकी आत्मा को तेजोमय करती है।

संसार के कितने ही व्यक्ति अपने जीवन को उचित, श्रेष्ठ और श्रेय के मार्ग पर नहीं लगाते। वे किसी एक उद्देश्य को स्थिर नहीं करते, न वे अपने-अपने मानसिक संकल्प को इतना दृढ़ ही बनाते हैं कि निज प्रयत्नों में सफल हो सकें। करते कुछ, सोचते कुछ और हैं। काम किसी एक पदार्थ के लिए करते हैं, आशा किसी दूसरे की ही करते हैं। करील के वृक्ष बो कर आम खाने की अभिलाषा रखते हैं। हाथ में लिए हुए कार्य के विपरीत मानसिक भाव रखने से हमें अपनी निर्दिष्ट वस्तु कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। बल्कि हम इच्छित वस्तु से और भी दूर जा पड़ते हैं। तभी तो नाकामयाबी, लाचारी, तंगी, क्षुद्रता प्राप्त होती है। अपने को भाग्यहीन समझ लेना, बेबसी की बातों को लेकर झींकना और दूसरों की इष्ट सिद्धि पर कुढ़ना हमें सफलता से दूर ले जाता है। विरोधी भाव रखने से मनुष्य उन्नत अवस्था में कदापि नहीं पहुँच सकता। संसार के साथ अविरोधी रहो, क्योंकि विरोध संसार की उत्कृष्ट वस्तुओं को अपने निकट नहीं आने देता और अविरोध उत्कृष्ट वस्तुओं का आकर्षक बिन्दु है।

चिड़चिड़ापन और रूखापन

मानव स्वभाव के दुर्गुणों में चिड़चिड़ापन आन्तरिक बल की दुर्बलता का सूचक है। सहिष्णुता के अभाव में मनुष्य बात-बात में बिगड़ने लगता है, नाक भी सिकोड़ता है। प्राय: गाली गलौज देता है। मानसिक दुर्बलता के कारण वह समझता है कि दूसरे उसे जान बूझकर परेशान करना चाहते हैं, उसके दुर्गुणों को देखते हैं, उसका मजाक उड़ाते हैं। किसी पुरानी अनुभूति के फलस्वरूप वह अधिक संवेदनशील हो उठता है और उसकी भावना

ग्रन्थियाँ उसकी गाली-गलौज या बेढंगे व्यापारों में प्रकट होती है।

चिड़चिड़ेपन के रोगों में चिन्ता तथा शक शुबे की आदत प्रधान है। कभी-कभी शारीरिक कमजोरी के कारण कब्ज, परिश्रम से थकान, सिर-दर्द, नपुंसकता के कारण आदमी तिनक उठता है। अपनी कठिनाइयों तथा समस्याओं से उद्दीप्त होकर दैखते-देखते उसे गहरी निराशा हो जाती है । चिड़चिड़ापन एक पेचीदा मानसिक रोग है अतः प्रारम्भ से ही इसके विषय में हमें सावधान रहना चाहिए ।

जिस व्यक्ति में चिड़चिड़ेपन की आदत है, वह सदा दूसरों के दोष ढूँढ़ता रहता है । वह व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की दृष्टि में तो बुरा होता ही है, स्वयं भी एक अव्यक्त मानसिक उद्वेग का शिकार रहता है। उसके मन में एक प्रकार का संघर्ष चला करता है । वह भ्रमित कल्पनाओं का शिकार रहता है । उसके संशय ज्ञान-तन्तुओं पर तनाव डालते हैं । भ्रम बढ़ता रहता है और वह मन में ईर्ष्या की अग्नि में दग्ध होता रहता है, वह क्रोधित, भ्रान्त, दुःखी सा नजर आता है तनिक सी बात में उद्विग्नता का पारावार नहीं रहता । गुप्त मन पर प्रारम्भ में जैसे संस्कार जम जाते हैं, उनके फलस्वरूप ऐसा ही होता है । यह आदत से बढ़ने वाला एक संस्कार है जो मनुष्य को सदैव असन्तुलित बनाता रहता है ।

रुखापन जीवन का सबसे बड़ा शत्रु है कई आदमियों का स्वभाव बड़ा नीरस, रूखा, शुष्क, निष्ठुर, कठोर और अनुदार होता है। उनका आत्मीयता का दायरा बहुत ही छोटा होता है । उस दायरे से बाहर के व्यक्तियों तथा पदार्थों में उन्हें कुछ दिलचस्पी नहीं होती, किसी के हानि, लाभ, उन्नति, अवनति, खुशी, रंज, अच्छाई बुराई से उन्हें कोई मतलब नहीं होता । अपने अत्यन्त ही छोटे दायरे में स्त्री, पुत्र, तिजोरी, मोटर, मकान आदि में उन्हें थोड़ा रस जरूर मिलता है शेष वस्तुओं के प्रति उनके मन में बहुत ही अनुदारता पूर्ण रुखाई होती है । कोई-कोई तो इतने कंजूस होते हैं कि अपने शरीर के अतिरिक्त अपनी छाया पर भी उदारता या कृपा नहीं दिखाना चाहते । ऐसे रूखे आदमी यह समझ ही नहीं सकते कि मनुष्य जीवन में कोई आनन्द भी है। अपने रूखे मन के प्रत्युत्तर में दुनियां उन्हें बड़ी रूखी, नीरस, कर्कश, खुदगर्ज कठोर और कुरूप मालूम पड़ती है ।

रुखापन जीवन की सबसे बड़ी कुरूपता है । रूखी रोटी में क्या मजा है, रूखे बाल कैसे भद्दे लगते हैं । रूखी मशीन में बड़ी आवाज होती है, पुर्जे जल्दी टूट जाते हैं रूखे रेगिस्तान में कौन रहना पसन्द करेगा । प्राणि मात्र सरसता के लिए तरस रहा है । सौभाग्य के लिए सरसता स्निग्धता की आवश्यकता है मनुष्य का अन्तःकरण रसिक है, कवि है, भावुक है, सौन्दर्य उपासक है, कलाप्रिय है, प्रेम मय है । मानव हृदय का यही गुण है । सहृदयता का अर्थ कोमलता, मधुरता, आदृता है । जिनमें यह गुण नहीं, उसे हृदयहीन कहा जाता है । हृदयहीन के अर्थ हैं 'जड़ पशुओं से भी नीचा ।' नीरस व्यक्तियों को पशुओं से भी नीचा माना गया है ।

जिसने अपनी विचारधारा और भावनाओं को शुष्क, नीरस और कठोर बना रखा है, वह मानव जीवन के वास्तविक रस का आस्वादन करने से वंचित ही रहेगा । उस बिचारे ने व्यर्थ ही जीवन धारण किया और व्यर्थ ही मनुष्य शरीर को कलंकित किया । आनन्द का श्रोत सरसता की अनुभूतियों में है । परमात्मा को आनन्दमय कहा गया है क्यों ? इसलिए कि वह सरस है, प्रेममय है श्रुति कहती है- 'रसो वै सः' अर्थात् परमात्मा रसमय है । उसे प्राप्त करने के लिए अपने अन्दर वैसी ही लचीली, कोमल, स्निग्ध भावनाएँ उत्पन्न करनी पड़ती हैं ।

आप अपने हृदय को कोमल, द्रवित, पसीजने वाला, दयालु प्रेमी और सरस बनाएँ । संसार के पदार्थों में जो सरसता का, सौन्दर्य का अपार भण्डार भरा हुआ है, उसे ढूँढ़ना और प्राप्त करना सीखिये । अपनी भावनाओं को जब आप कोमल बना लेते हैं तो आपको अपने चारों ओर अमृत झरता हुआ अनुभव होने लगता है ।

जीवन को सुखी बनाने का मार्ग

उपरोक्त विवेचन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि हमको संसार में सुख और शान्ति का जीवन व्यतीत करना है तो सदैव उन मनोविकारों को नियन्त्रण में रखना आवश्यक है जो हमारे मानसिक सन्तुलन को नष्ट करके, हमको एकांगी बनाकर, हमें पतन की ओर अग्रसर करते हैं । सुख और दुःख संसार में अवश्यम्भावी है । इसी प्रकार किसी न किसी दृष्टि से किञ्चित छोटा बड़ा होना भी प्रकृति में प्रायः देखा जाता है । पर इन बातों के कारण मन में क्रोध, ईर्ष्या, निराशा आदि का भाव उत्पन्न करना हमारा मानसिक दुर्गुण है। मनुष्य वही है जो सब प्रकार की

परिस्थितियों में शान्त रहकर अपने कर्तव्य का पालन करता चला जाता है । यदि आप इस नियम पर आचरण करेंगे तो दुःख के दिन, विपरीत घटनाएँ सहज ही निकल जायेंगे। ऐसे अवसर पर मानसिक सन्तुलन स्थिर रखना और शान्ति तथा दृढ़ता से विघ्न बाधाओं का प्रतिकार करना ही हमारे लिए सर्वाधिक हितकारी होता है ।

१०. सहयोग और सहिष्णुता

गायत्री मंत्र का दसवाँ अक्षर 'गो' अपने आस-पास वालों को सहयोग करने और सहिष्णु बनने की शिक्षा देता है ।

गोप्याः स्वयां मनोवृत्तीर्नासहिष्णुर्नरो भवेत् ।
स्थिति मज्यस्य वै वीक्ष्य तदनुरूपमाचरेत् ॥

अर्थात् - "अपने मनोभावों को छिपाना नहीं चाहिए, आत्मीयता का भाव रखना चाहिए । मनुष्य को असहिष्णु नहीं होना चाहिए । दूसरों की परिस्थिति का ध्यान रखना चाहिए ।"

अपने मनोभाव और मनोवृत्ति को छिपाना ही छल, कपट और पाप है । जैसा भाव भीतर है वैसा ही बाहर प्रकट कर दिया जाय तो वह पाप निवृत्ति का सबसे बड़ा राजमार्ग है । स्पष्ट और खरी कहने वाले, पेट में जैसा है वैसा ही मुँह से कह देने वाले लोग चाहे किसी को कितने ही बुरे लगें पर वे ईश्वर और आत्मा के आगे अपराधी नहीं ठहरते ।

जो आत्मा पर असत्य का आवरण चढ़ाते हैं, वे एक प्रकार के आत्म हत्यारे हैं । कोई व्यक्ति यदि अधिक रहस्यवादी हो, अधिक अपराधी कार्य करता हो, तो भी उसके अपने कुछ ऐसे विश्वासी मित्र अवश्य होने चाहिएँ जिनके आगे अपने रहस्य प्रकट करके मन को हल्का कर लिया करें और उनकी सलाह से अपनी बुराइयों का निवारण कर सके ।

प्रत्येक मनुष्य का दृष्टिकोण, विचार, अनुभव, अभ्यास, ज्ञान, स्वार्थ, रुचि एवं संस्कार अलग-अलग होते हैं । इसलिए सबका सोचना एक प्रकार से नहीं हो सकता । इस तथ्य को समझते हुए हर व्यक्ति को दूसरों के प्रति सहिष्णु एवं उदार होना चाहिए । अपने से किसी भी अंश में मतभेद रखने वाले को मूर्ख, अज्ञानी, दुराग्रही, दुष्ट या विरोधी मान लेना उचित नहीं । ऐसी असहिष्णुता ही बहुधा झगड़ों की जड़ होती है । एक-दूसरे के दृष्टिकोण के अन्तर को समझते हुए यथासम्भव समझौते का मार्ग निकालना चाहिए । फिर जो मतभेद रह जायँ उन्हें पीछे धीरे-धीरे सुलझाते रहने के लिए छोड़ देना चाहिए ।

संसार में सभी प्रकार के मनुष्य हैं । मूर्ख-विद्वान, रोगी-स्वस्थ, पापी-पुण्यात्मा, कायर-वीर, कटुवादी-नम्र, चोर-ईमानदार, निन्दनीय-आदरस्पद, स्वधर्मी-विधर्मी, दयापात्र-दण्डनीय, शुष्क-सरस, भोगी-त्यागी आदि परस्पर विरोधी स्थितियों के मनुष्य भरे पड़े हैं । उनकी स्थिति को देखकर तदनुसार उनसे भाषण, व्यवहार एवं सहयोग करे । उनकी स्थिति के आधार पर ही उनके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करे ।

कपट और असहिष्णुता यह दो बहुत बड़े पातक हैं। धोखा, विश्वासघात, छल, ढोंग, पाखण्ड यह मनुष्यता को कलंकित करने वाली सबसे निकृष्ट कोटि की कातरता एवं कमजोरी है । जिसको हम बुरा समझते हैं उससे लड़ाई रखें तो इतना हर्ज नहीं, परन्तु मित्र बनकर, मिले रहकर, मीठी-मीठी बातों से धोखे में रखकर उसका अनर्थ कर डालने में जो पाप है, वह निकृष्ट कोटि का है । अनेक व्यक्ति ऊपर से मिले रहते हैं, हितैषी बनते हैं, भीतर से शत्रु का काम करते हैं । विश्वास देते हैं कि हम तुम्हारे प्रति इस प्रकार का व्यवहार करेंगे परन्तु पीछे अपने वचन को भंग करके विपरीत कार्य कर डालते हैं ।

आजकल मनुष्य बड़ा कायर हो गया है । उसकी दुष्टता अब मैदानी लड़ाई में दृष्टिगोचर नहीं होती । प्राचीनकाल में लोग जिससे द्वेष करते थे, जिसका अहित करना चाहते थे, उसे पूर्व चेतावनी देकर मैदान में लड़ते निपटते थे, पर आज तो वीरता का दर्शन-दुर्लभ हो रहा है। विश्वास दिलाकर, मित्र बन कर, बहला-फुसलाकर, किसी को अपने चंगुल में फँसा लेना और अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए उसके प्राणों तक का ग्राहक बन जाना, आज का एक व्यापक रिवाज हो गया है। जिधर दृष्टि उठाकर देखिए उधर ही छल, कपट, धोखा, विश्वासघात का बोलवाला दीखता है । यह आत्मिक कायरता, मनुष्य के पतन का निकृष्टतम चिह्न है । इससे ऊपर उठे बिना कोई व्यक्ति "सच्चा मनुष्य" नहीं कहला सकता ।

किसी की धरोहर मार लेना, विष खिला देना, पहले से कोई वचन देकर समय पर उसे तोड़ देना, असली बताकर नकली चीज देना, मित्र बनकर शत्रुता के काम करना, यह बातें मनुष्यता के नाम पर कलंक हैं ।

विवाह के समय देवता और पञ्चों को साक्षी देकर लोग यह धर्म प्रतिज्ञा करते हैं कि हम नारी के जीवन का

सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेते हैं । जैसे बालक का सारा उत्तरदायित्व उसकी माता पर होता है, माता अपने बच्चे से काम लेती है, डाँटती-फटकारती भी है, परन्तु उससे भी पहले उसके हृदय में अनन्त करुणा, आत्मीयता, ममता और क्षमा का समुद्र लहराता होता है, जिस माता के हृदय में वात्सल्य, क्षमा, ममता और करुणा की भावना न हो, केवल बच्चे से अपना फायदा उठाने की, उसे गुलाम की तरह वशवर्ती रखने की वृत्ति हो, वह माता शब्द को कलंकित ही करेगी । इसी प्रकार जो लोग देवताओं और मंत्रों की साक्षी में अपनी धर्मपत्नी को माता-पिता, भाई-बहिन सबसे छुड़ाकर उनके स्नेह एवं उत्तरदायित्वों की पूर्ति अपने ऊपर लेते हैं, उन्हें उचित है कि जीवन भर उस विवाह की प्रतिज्ञा को निबाहें, परन्तु देखा जाता है कि स्त्री की थोड़ी-सी नासमझी का उसे इतना भारी दण्ड दिया जाता है जिसे देखकर न्याय की आत्मा ही काँप जाती है। पतियों द्वारा पत्नी की हत्या या परित्याग में प्राय: ऐसा ही कायर विश्वासघात भरा होता है ।

वासना और धन का लोभी मनुष्य न्याय मार्ग से जब अपनी लोलुपता को पूरा नहीं कर पाता तो अनेक अनैतिक, छल पूर्ण मार्ग अपनाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करता है । शास्त्र का आदेश है कि हम सदैव अपने धर्म, कर्तव्य और उत्तरदायित्व को निबाहें । सचाई के मार्ग पर चलने से यदि कुछ असुविधाएँ भी सहनी पड़ें तो उन्हें प्रसन्नतापूर्वक सहना चाहिए । इस प्रकार जो सत्य के मार्ग पर चलने में असुविधाओं का स्वागत करने को भी तैयार रहते हैं वे ही गायत्री माता के सच्चे प्रेमपात्र बन सकते हैं ।

दूसरी आवश्यकता यह है कि हम सहिष्णु बनें, किसी की जरा-सी गलती पर आग-बबूला हो जाना या किसी से थोड़ा-सा मतभेद होने पर उसे जानी दुश्मन जान लेना बहुत संकुचित विचार है । संसार में कोई पूर्णतया निर्दोष या निष्पाप नहीं है, हर मनुष्य अपूर्ण है, उसमें कुछ न कुछ दोष, बुराई या कमी अवश्य रहती है । थोड़ी-सी कमी के लिए उसे पूर्ण त्याज्य समझ लेना ठीक नहीं । दूसरों की इच्छाओं का समुचित उपयोग करना चाहिए, उन्हें बढ़ाना चाहिए, त्रुटियों को सुधारने या घटाने का प्रयत्न करना चाहिए, परन्तु इसके लिए अधीर नहीं होना चाहिए। सहिष्णुता और धैर्यपूर्वक काम चलाऊ सहयोग का मार्ग निकाल लेना चाहिए और आततायी रीति से नहीं, वरन् मधुर, सुव्यवस्थित एवं न्यायोचित मार्ग से प्रतिकूलता को अनुकूल बनाने का प्रयत्न करना चाहिए ।

यह आवश्यक नहीं कि हमारे सभी विचार ठीक ही हों । हमारी मान्यता, धारणा एवं आकांक्षा हमारे लिए ठीक हो सकती है, पर यह आवश्यक नहीं कि दूसरों को भी उन्हें मानने के लिए बाध्य किया जाय । अनेक दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक मतभेद प्राय: ऐसे होते हैं, जिनमें दोनों ही पथ भ्रान्त पाये जाते हैं । इनके सम्बन्ध में हमें अधिक सहिष्णुता की आवश्यकता नहीं है, परन्तु स्मरण रहे कि वह 'प्रबल विरोध' ऐसा न हो जो उल्टे हमें ही अपराधी बना दे । दण्ड देने योग्य विवेक हर एक में नहीं होता, खासतौर से जिसका अपराध किया है उसमें तो बिलकुल ही नहीं होता, इसलिए दण्ड के लिए उदार, विवेकवान् न्यायप्रिय एवं निष्पक्ष व्यक्ति को ही पंच चुनना चाहिए । न्यायालयों की स्थापना और न्यायाधीशों की नियुक्ति इसी आधार पर हुई है ।

संसार में कोई भी दो मनुष्य एक-सी आकृति के नहीं मिलते । प्रभु की रचना ऐसी ही है कि हर एक मनुष्य की आकृति में कुछ न कुछ अन्तर रखा गया है । आकृति की भांति विचारों, विश्वासों और स्वभावों में भी अन्तर होता है । जैसे विभिन्न आकृतियों के मनुष्य एक साथ प्रेमपूर्वक रह सकते हैं, वैसे ही विभिन्न मनोभूमियों के मनुष्यों को भी एक साथ रहने में, प्रेम पूर्वक सम्बन्ध बनाने में कोई अड़चन न होनी चाहिए । समाज की सुख शान्ति, एकता और उन्नति इसी सहिष्णुता पर निर्भर है । असहिष्णु लोगों का समाज, सदा कलह और संघर्षों से जर्जर होता रहता है, वह किसी भी दृष्टि से कोई उन्नति नहीं कर पाता ।

घृणा की हानिकारक मनोवृति

सहयोग का मूल प्रेम की भावना है । अगर हम अपने परिचितों, पड़ोसियों से प्रेमयुक्त व्यवहार करेंगे तो पारस्परिक सहयोग की वृद्धि होती जायगी । इसके विपरीत यदि हमारे हृदय में दूसरों के प्रति घृणा की भावना रहेगी, हम अन्य लोगों को तिरस्कार की दृष्टि से देखेंगे तो इसके परिणाम स्वरूप हमारे आस-पास वैमनस्य का वातावरण उत्पन्न होगा । इसलिए सहयोग के इच्छुकों को घृणा की भावना से सदैव दूर रहना चाहिए । यह दूसरों के लिए ही अहितकर नहीं होती, वरन् स्वयं हमारे लिए भी घातक सिद्ध होती है ।

घृणा की मनोवृत्ति किसी विशेष विचार को हमारे मस्तिष्क में बैठा देती है । संवेगों के उत्तेजित होने पर कभी-कभी यही बाह्य विचार का रूप धारण कर लेते हैं

और जितना ही अधिक हम उनको भूलना चाहते हैं, उतने ही वे हमारे मन को जकड़ते जाते हैं और अन्त में मानसिक रोग का रूप धारण कर लेते हैं। हमारा मन अचेतनावस्था में जिस किसी विचार को मस्तिष्क में स्थान देता है, वही विचार कुछ समय के पश्चात् हमारी विशेष प्रकार की मनोवृत्तियों में परिणत हो कार्यरूप में प्रदर्शित होने लगता है। मान लीजिए कोई आदमी एक कोढ़ी को देखता है और उससे उसके हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ता है, तो वह उसी के सम्बन्ध में विचार करने लगेगा। ये विचार धीरे-धीरे दृढ़तर होते जाते हैं और इन पर ध्यान केन्द्रित न करने की इच्छा रखते हुए भी वह व्यक्ति इनका आना रोकने में अपने आपको असमर्थ पाता है। अगर यही अवस्था काफी दिनों तक रही तो इस बीमारी के चिह्न उसमें भी प्रकट होने लगते हैं और अन्त में वह कोढ़ी बन जाता है। अतएव जब हम किसी ऐसे व्यक्ति को देखें, जिसके कारण हमारे मन में घृणा की भावना और तत्सम्बन्धी बाह्यविचारों से हम बहुत कुछ अंश में मुक्ति पाने में सफल हो सकेंगे। हमको बहुत-सी मानसिक और शारीरिक बीमारियाँ केवल इसी कारण से होती हैं कि हम उनसे स्वभावत: घृणा मानते हैं या उनसे डरते हैं। अगर कोई व्यक्ति किसी कुरूप व्यक्ति को सदा घृणा की दृष्टि से देखता है, तो वह प्रत्यक्ष में तो उससे बचने की चेष्टा करता है, किन्तु कभी-कभी जब घृणा की भावना बलवती होती है तो वह स्वप्न में ही उस व्यक्ति को देखने लगता है। यह सब इसलिए होता है कि घृणा का भाव एक प्रकार से आत्मनिर्देश से प्रभावित हो हम घृणित गुणों को अपने आप में ही चरितार्थ करने लग जाते हैं।

अगर हम चाहें तो दूसरे लोगों की शक्तियों को निर्लिप्त भाव से देख सकते हैं। इससे हमारे मन पर कोई भी बुरा प्रभाव नहीं पड़ने पाता, लेकिन जैसे ही हम किसी के दुर्गुणों पर संवेगात्मक रूप से विचार करने लग जाते हैं, हमारे विचार अपना बुरा प्रभाव हमारे मन पर डालना आरम्भ कर देते हैं। साधारणतया किसी व्यक्ति के दुर्गुणों के सम्बन्ध में बार-बार सोचने से हमारे विचार संवेगात्मक रूप धारण कर लेते हैं, अतएव इस प्रकार के विचार सदैव हानिकर होते हैं। इसी सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए संसार के सभी महापुरुषों ने अपराधी को क्षमा करने का उपदेश किया है। अपराधी को क्षमा प्रदान कर हम अपनी घृणा की भावना का सहानुभूति के द्वारा रेचन कर डालते हैं।

घृणा की मनोवृत्ति का मूल कारण हमारे मन में स्थित कोई ग्रन्थि होती है। हमें इस ग्रन्थि को पहचान कर सुलझाने की कोशिश करनी चाहिए। ग्रन्थि के सुलझाते ही हमारी घृणा की मनोवृत्ति भी अपने आप नष्ट हो जावेगी। साधारणत: हम अपनी बुराइयों को स्वीकार नहीं करना चाहते, किन्तु आध्यात्मिक नियम के अनुसार हमें एक न एक दिन अपनी बुराइयों को स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। हमारी प्रकृति धीरे-धीरे हमें आत्म स्वीकृति की ओर ले जाना आरम्भ करती है। पहले हम अपने इन दुर्गुणों को दूसरे में देखने लगते हैं और धीरे-धीरे उन्हीं पर विचार करते-करते स्वयं उनके शिकार बन जाते हैं। वास्तव में दुर्गुण कहीं बाहर से नहीं आते। वे तो पहले से ही हमारे भीतर मौजूद रहते हैं। हमीं उनकी उपस्थिति स्वीकार नहीं करते, अतएव प्रकृति टेढ़े-मेढ़े रास्ते से उनकी आत्म-स्वीकृति कराती है। अगर प्रारम्भ में ही हम उन दुर्गुणों को मान लें, तो उनसे छुटकारा पा जायें, किन्तु जब प्रकृति जबरदस्ती इन्हें स्वीकार कराती है, तो वे हमें पकड़ लेते हैं। फिर इनसे छुटकारा पाना उतना सरल नहीं होता।

हमारे विचारों का दूसरे पर उसी समय प्रभाव पड़ता है, जबकि उसकी मानसिक स्थिति इन विचारों को ग्रहण करने योग्य होती हैं। यही बात हमारे स्वयं के विचारों के सम्बन्ध में भी सत्य है। हमारे मन में अच्छे-बुरे जैसे भी विचार उठते हैं, सबकी पृष्ठभूमि हमारे ही अन्दर होती है। किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में बुरे विचारों का कारण भी हमारे ही अन्दर होता है। वास्तव में अज्ञात रूप से वे दुर्गुण हमीं में उपस्थित रहते हैं, किन्तु प्रकाशन का उचित मार्ग न पा उनका दमन होने लगता है और समय पाकर वे दूसरों की नुक्ता-चीनी की आदत के रूप में फूट पड़ते हैं। यही हाल दूसरों के प्रति हमारे श्रद्धा के भाव का भी है। वास्तव में हमारे मन में ही इन श्रद्धा के योग्य गुणों की पृष्ठभूमि रहती है। हमारा मन भी उन्हीं सद्गुणों को ग्रहण करने की योग्यता रखता है, इसलिए वह इन गुणों का सम्मान करने को हमको प्रेरित करता है। उदारचित्त मनुष्य के विचार सदा उदार हैं। इस प्रकार के मनुष्य दूसरों में सदा भलाई ही देखा करते हैं। उसकी नजर किसी भी बुराई पर नहीं पड़ती।

दूसरों की अच्छाइयाँ देखा कीजिए

घृणा की दूषित मनोवृत्ति को दबाने का सरल मार्ग यही है कि हम दूसरों की अच्छाइयों को देखने का स्वभाव डालें । हमको गुण-ग्राहक बनना चाहिए । दूसरों की कमजोरियाँ तथा त्रुटियाँ निकालना बड़ा आसान कार्य है। हममें से कौन ऐसा है, जिसमें निर्बलताएँ मौजूद नहीं हैं। श्रेष्ठ तो यह है कि हम दूसरों के गुणों को परखें, जानें समझें उनकी दाद दें और उन्हें निरन्तर प्रोत्साहित करते रहें । वह व्यक्ति किस अर्थ का है, जो ईर्ष्यावश दूसरों की बुराई करता रहता है । उनके चरित्र के दुर्गुण ही निकालता रहता है । बुराइयाँ देखने की प्रवृत्ति एक मानसिक रोग है । इससे वृत्तियाँ नीचे की ओर गिरती हैं । अच्छाइयाँ देखने से गुण-ग्राहकता का गुण विकसित होता है । जब आप दूसरों के गुण देखकर उन्हें व्यवहार में लाते हैं, तो दूसरे आपसे प्रसन्न रहते हैं । जिससे मित्रता और सहयोग की वृद्धि होती है ।

यदि आपने अपने मित्र, सम्बन्धी या घर के व्यक्ति के विषय में कोई निन्दनीय बात सुनी है, तो उसे सबके समक्ष मत कह बैठिए । कोई अपनी निन्दा पसन्द नहीं करता । चोर, डाकू, कातिल तक अपनी बुराई अपने कानों से श्रवण नहीं करना चाहता । सबको अपनी प्रतिष्ठा, आत्म सम्मान, इज्जत का ख्याल रहता है। इसीलिए जिस किसी के विषय में जो आप चाहते हैं उसे एकान्त में जाकर सहानुभूति पूर्ण शब्दों में व्यक्त कीजिए । यह जोड़ देना मत भूलिये कि आप उस निन्दा में कोई विश्वास नहीं करते हैं । वह आपकी राय में गलत बात है, जिसमें कोई तथ्य नहीं है ।

दूसरे का अपने प्रति विश्वास न तोड़ डालिए । आपके पास अपनी स्वयं की, मित्रों की, ऑफीसरों, व्यापारियों, स्त्री, घर-बाहर के पड़ौसियों की अनेक गुप्त बातें, चरित्र विषयक बातें संचित रहती हैं । ये गुप्त भेद आपके पास रखे रहते हैं तथा उनके प्रकाश में आपको सम्हल कर काम करना है । स्मरण रखिये ये गुप्त भेद दूसरों के समक्ष प्रकट करने में आप दूसरों के साथ बड़ी बेईमानी का व्यवहार करते हैं । अपने गुप्त भेद भी दूसरों से न कहिए ।

विश्वासी बनिए । बिना विश्वास के काम नहीं चलता। किन्तु जिस पर विश्वास करना है, उसे बुद्धि, प्रलोभन, दृढ़ता आदि से खूब परख लो ।

जीवन को प्यार करो, किन्तु मृत्यु का भय त्याग दो। जब मरने का समय आएगा, चल देंगे । अभी से क्यों उसकी चिन्ता करें । जीवन को यदि प्यार न करोगे, तो उससे हाथ धो बैठोगे । किन्तु जीवन को आवश्यकता से अधिक प्यार करने की आवश्यकता नहीं है ।

दैनिक व्यवहार में सहनशीलता ऐसा आवश्यक गुण है, जिसके असंख्य लाभ हैं । तुम्हारे अफसर, ग्राहक, घर वाले झगड़ बैठेंगे, माता-पिता लड़ेंगे, स्वयं तुम्हारे बाल-बच्चे तुम्हारे दृष्टिकोण से सहमत न होंगे, ऐसे अवसरों पर तुम्हें सहनशीलता से काम लेना है । भयंकर क्रोधी तूफान में भी तुम्हें शान्त, आत्म-निर्भर, दृढ़ रहना चाहिए ।

दुष्टों का नहीं, दुष्टता का नाश करो

यह निस्सन्देह सत्य है कि हमको सबसे प्रेम और सहनशीलता का व्यवहार करना चाहिए, पर इसका अर्थ यह नहीं कि हम दुष्ट प्रकृति के लोगों के जघन्य कृत्यों को बिना रोकटोक होने दें और उनसे प्रेम भी करते रहें । ऐसा करने से तो समाज की व्यवस्था बिगड़ जायगी और लोगों को अनाचार, अत्याचार करने में किसी प्रकार की शंका न रहेगी । इसलिए प्रेम के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी हमारा कर्तव्य है कि सदैव दुष्टता का विरोध करते रहें। सच्चे सहयोग का यही मार्ग है ।

एक तत्वज्ञानी का उपदेश है कि 'दुष्टों पर दया करो, किन्तु दुष्टता से लड़ मरो ।' दुष्ट और दुष्टता का अन्तर किए बिना हम न्याय नहीं कर सकते हैं । अक्सर यही होता है कि लोग दुष्टता और दुष्ट को एक ही वस्तु समझ लेते हैं और एक ही ढेले से दोनों को शिकार बना लेते हैं ।

बीमार और बीमारी एक ही वस्तु नहीं हैं । जो डॉक्टर बीमारी के साथ बीमार को मार डालने का इलाज करता है, उसकी बुद्धि को क्या कहें । एक बन्दर अपने मालिक को बहुत प्यार करता था, जब मालिक सो जाता तो बन्दर पंखा किया करता ताकि मक्खियाँ उसे न सतावें । जब तक वह पंखा झलता रहता, मक्खियाँ उड़ती रहतीं, जैसे ही वह पंखा बन्द करता कि मक्खियाँ फिर मालिक के ऊपर आकर बैठ जातीं । यह देखकर बन्दर को मक्खियों पर बड़ा क्रोध आया और उसने उनको सजा देने का निश्चय किया। वह दौड़ा हुआ गया और सामने की खूँटी पर टँगी हुई तलवार को उतार लाया । जैसे ही मक्खियाँ मालिक के मुँह पर बैठीं, वैसे ही बन्दर ने खींच कर तलवार का एक हाथ मारा । मक्खियाँ तो उड़ गईं, पर मालिक का मुँह बुरी तरह जख्मी हो गया । हम लोग दुष्टता को घटाने के लिए ऐसा

ही काम करते हैं, जैसे बन्दर ने मक्खियों को हटाने के लिए किया था।

आत्मा किसी का दुष्ट नहीं है, वह तो सत्य शिव, और सुन्दर है, सच्चिदानन्द स्वरूप है। दुष्टता तो अज्ञान के कारण उत्पन्न होती है, यह अज्ञान एक प्रकार की बीमारी ही तो है। अज्ञान रूपी बीमारी को हटाने के लिए हर उपाय काम में लाना चाहिए, परन्तु किसी से व्यक्तिगत द्वेष नहीं मानना चाहिए। व्यक्तिगत द्वेष भाव जब मन में घर कर लेता है तो हमारी निरीक्षण बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। वह नहीं पहचान सकती कि शत्रु में क्या बुराई है और क्या अच्छाई है। पीला चश्मा पहन लेने पर सभी वस्तुएँ पीली दिखाई पड़ने लगती हैं। इसी प्रकार स्वार्थपूर्ण द्वेष जिस मनुष्य के प्रति घर कर लेता है उसके भले काम भी बुरे प्रतीत होते हैं और अपनी आँखों के पीलिया रोग को न समझकर दूसरे के चेहरे पर पीलापन दिखाई पड़ने लगता है, उसे पाण्डु रोग समझकर उनका इलाज करने लगता है। इस प्रकार अपनी मूर्खता का दण्ड दूसरों पर लादता है, अपनी बीमारी की दवा दूसरों को खिलाता है। जालिम और दुष्ट, क्रोधी और पर-पीड़क, इसी अज्ञान में ग्रसित होते हैं, उसके मन में स्वार्थ एवं द्वेष समाया हुआ है, फलस्वरूप उन्हें दूसरों में बुराइयाँ ही बुराइयाँ नजर आती हैं। सन्निपात का रोगी दुनियाँ को सन्निपात ग्रसित समझता है।

आप दुष्ट और दुष्टता के बीच अन्तर करना सीखिये। हर व्यक्ति को अपनी ही तरह पवित्र आत्मा समझिए और उससे आन्तरिक प्रेम कीजिए। कोई भी प्राणी नीच, पतित या पापी नहीं है। तत्वत: वह पवित्र ही है। भ्रम, अज्ञान और बीमारी के कारण वह कुछ का कुछ समझने लगता है। इस बुद्धि भ्रम का ही इलाज करना है। बीमारी को मारना है और बीमार को बचाना है। इसलिए दुष्ट और दुष्टता के बीच फर्क करना सीखना चाहिए। मनुष्यों से द्वेष मत रखिए, चाहे उनमें कितनी ही बुराइयाँ क्यों न हों? आप तो दुष्टता से लड़ने को तैयार रहिए फिर वह चाहे दूसरों में हो, चाहे अपनों में हो या चाहे खुद अपने अन्दर हो।

पाप एक प्रकार का अंधेरा है, जो ज्ञान का प्रकाश होते ही मिट सकता है। पाप को मिटाने के लिए कडुए से कडुआ प्रयत्न करना पड़े, तो आप प्रसन्नतापूर्वक कीजिए, क्योंकि वह एक ईमानदार डॉक्टर की तरह विवेकपूर्वक इलाज होगा। इस इलाज में लोक-कल्याण के लिए मृत्यु दण्ड तक की गुञ्जायश है, किन्तु द्वेष भाव से किसी को बुरा समझ लेना या उसकी भलाइयों को भी बुराई कहना अनुचित है। जैसे एक विचारवान डॉक्टर रोगी की सच्चे हृदय से मंगलकामना करता है और निरोग बनाने के लिए स्वयं कष्ट सहता हुआ जी तोड़ परिश्रम करता है, वैसे ही आप पापी व्यक्तियों को निष्पाप करने के लिए साम, दाम, दण्ड, भेद चारों उपायों का प्रयोग कीजिए, पर उन पापियों से किसी प्रकार का निजी राग-द्वेष मत रखिए।

अपने **दोषों से भी संघर्ष कीजिए**

जैसे हम दूसरों के दोषों पर दृष्टि रखते हैं और उनका विरोध करते हैं, उसी प्रकार अपने दोषों पर भी हमको निगाह रखनी चाहिए। ताली दोनों हाथों से बजा करती है। सहयोग के लिए दोनों ही पक्षों में श्रेष्ठता का होना आवश्यक है। जब तक हम अपने दुर्गुणों को दूर नहीं करेंगे, हमारी सहयोग और सहिष्णुता की बातें कोरी दिखावटी ही समझी जायेंगी। क्योंकि जब तक हम दूसरों के गुणों को उचित महत्व प्रदान करके उनको स्वयं भी स्वीकार करने का प्रयत्न न करेंगे, तब तक वे हमारे प्रति आकृष्ट नहीं हो सकते।

गुणी बनना तो हम सब चाहते हैं पर संस्कार और सम्पर्क दोष से हममें दुर्गुण घुस जाते हैं, उन्हें हम दूर नहीं कर पाते और अपनी योग्यता का विकास किए बिना उसके द्वारा होने वाले फल को प्राप्त नहीं किया जा सकता। अत: हमारे मनीषियों ने स्वानुभव से गुणी बनने के लिए एक बहुत सरल, सीधा और सच्चा रास्ता बतलाया है जिसके द्वारा प्रत्येक मानव सहज ही में गुणी बन सकता है और उसके दोष क्रमश: कम एवं दूर किये जा सकते हैं। वह उपाय है-मनुष्य गुणी के प्रति अनुराग रखे, गुणीजनों के प्रति आदर-सत्कार व भक्ति रखे। जैसे-जैसे मनुष्य का गुणानुराग बढ़ेगा, वैसे-वैसे उसका खिंचाव गुणों के प्रति बढ़ कर वह गुणी बनता चला जायगा। यह क्रिया इतनी स्वाभाविक है कि इसमें विचार करने की ओर श्रम करने की तनिक भी आवश्यकता नहीं होती। गुणी से प्रेम और गुणों के प्रति आकर्षण हो तो बस गुणी बनने का मार्ग प्रस्तुत होता चला जायगा।

सत्संग का माहात्म्य और महापुरुषों के नाम स्मरण व गुण कीर्तन का जो बड़ा भारी फल हमारे शास्त्रों में वर्णित है, उसका एक मात्र कारण यही है कि जैसे व्यक्तियों के साथ हमारा सम्पर्क होता है, उनके गुण-दोष का प्रभाव हमारे पर भी पड़े बिना नहीं रहता। महापुरुषों में गुणों की प्रधानता होती है। अत: मनुष्य उनके गुणों को स्मरण करके

यही चाहता है कि वह भी वैसा ही गुणी बन जाय । मनुष्य की जैसी इच्छा होती है, उसी के अनुरूप उसकी प्रवृत्ति होती है और जिस चीज की इच्छा जितनी बलवती होगी, तो प्रयत्न भी वैसे ही सबल होंगे और उसकी पूर्णता भी उतनी ही शीघ्रता से हो सकेगी ।

वास्तव में देखा जाय तो जो परमात्म पुरुष सिद्ध व बुद्ध हो चुके हैं, वे किसी का भला-बुरा नहीं करते, पर उनके निमित्त से मनुष्य में अच्छी भावनाओं का उदय होता है, गुणों के प्रति आकर्षण बढ़ता है । अपने दोषों, दुर्गुणों व कमियों का उसे ज्ञान होता है तथा दूर करने की भावना होती है । इसी से मनुष्य पतन से बचकर उत्थान की ओर अग्रसर होता है । गुणों का आकर्षण जितना बढ़ेगा, दोषों का सम्पर्क स्वयं उतना ही घट जायगा ।

प्राणि मात्र गुणों एवं दोषों के पुञ्ज हैं । किसी में गुणों की अधिकता है तो किसी में दोषों की । दृष्टि भिन्नता से कभी-कभी किसी के गुण दूसरों को दोष रूप लगने लगते हैं और दोष गुण । जिसकी दोष-दर्शन की सृष्टि होती है, वह बड़े महापुरुषों में भी कोई न कोई दोष ढूँढ़ निकालता है, जबकि गुण ग्राहक व्यक्ति भयंकर पापी में से कोई न कोई गुण पा लेता है । थोड़े बहुत गुण और दोष सभी में भरे हैं । देखने वाला स्वयं जैसा होगा या जिस गुण या दोष को महत्व देगा, उसे दूसरे में वही दिखाई देगा । हमारे दोष की इतनी प्रचुरता क्यों ? एवं गुणों की इतनी कमी क्यों? इस प्रकार जब गम्भीर विचार करते हैं तो विदित होता है कि हमारी दृष्टि दूसरों के अवगुण को देखने में लगी रहती है। दोषों की ओर बहुत बार विशेष रूप से ध्यान जाने के कारण ही हम में दोषों की प्रबलता और अधिकता हो जाती है । यदि हम अपनी दृष्टि को गुण ग्रहण में लगादें, जहाँ कहीं भी जिस किसी में छोटा-मोटा जो भी गुण देखें, उसे ग्रहण करने का लक्ष्य रखें अर्थात् गुणग्राही बनें तो गुणवान बनने में देर नहीं लगेगी । केवल अपनी दृष्टि या वृत्ति में परिवर्तन करने भर की देर है । दोष दृष्टि की जगह गुण दृष्टि को महत्व देना है, फिर हमारा काम सरल और शीघ्र हो जायेगा । गुणग्राही व्यक्ति की दृष्टि बहुत उदार होती और विशाल हो जाती है। सामुदायिक अनुदार व संकुचित भावना नहीं होती । क्योंकि गुण प्रत्येक मनुष्य में पाये जाते हैं । यह किसी देश, जाति, सम्प्रदाय की ही बपौती नहीं। अत: गुणग्राही व्यक्ति को जहाँ भी थोड़ा बहुत गुण दिखाई देगा, उसके प्रति आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सकता । संकुचित दृष्टि वाला अपने देश, जाति, सम्प्रदाय वालों के तो गुणों का बखान करेगा, पर उस सीमा के बाहर के व्यक्तियों के गुणों का बखान करेगा, पर उस सीमा के बाहर के व्यक्तियों के गुणों की ओर उसका ध्यान नहीं जायगा और लक्ष्य में आ जाने पर भी वह उनके गुणों की स्तुति करने में हिचकिचाएगा । ऐसी संकुचित वृत्ति को दृष्टि राग की संज्ञा दी जाती है । यदि व्यक्ति संकुचितता का आश्रय लेता है तो उसका सम्प्रदाय या व्यक्ति विशेष के प्रति इतना अधिक मोह हो जाता है, कि उसे उसके दोष भी गुण रूप दिखाई देने लगते हैं और दूसरों के गुण भी दोष रूप । अतएव हमें सावधानी रखनी आवश्यक है कि हमारी गुण दृष्टि संकुचित व अनुदार न हो । जहाँ कहीं किसी में भी गुण दिखाई दें, बिना हिचकिचाहट के सराहना करें व गुणों को अपनाने का प्रयत्न करें ।

सहिष्णुता और समझौते की भावना

संसार में निर्दोष व्यक्तियों की संख्या बहुत कम है । अगर मनुष्य में दस गुणों के मुकाबले में दो-चार दोष हों तो उसे बहुत गनीमत समझना चाहिए अन्यथा आजकल का सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक वातावरण ही ऐसा अस्वाभाविक बन गया है कि उसके परिणाम स्वरूप लोगों में तरह-तरह के दोष तथा दुर्गुण सहज ही पैदा हो जाते हैं । ऐसी दुनियाँ में अगर सुधार का, सहयोग का इच्छुक सहिष्णुता और समझौते की भावना से काम लेना नहीं जानता, तो वह सफल कदापि नहीं हो सकता । अगर हमको समाज में अथवा अपने व्यक्तिगत क्षेत्र में सहयोग की भावना की वृद्धि करनी है, तो उसके लिए लोगों की निर्बलताओं, त्रुटियों को क्षमा करते हुए ही काम निकालना पड़ेगा । इससे सदैव सबके साथ सहृदयता का व्यवहार करना आवश्यक है, जिससे वे हमारे मित्र बने रह कर धीरे-धीरे हमारी बातों पर ध्यान देकर अपना सुधार करने में समर्थ हो सकें ।

सबकी बुद्धि एक समान नहीं है । आत्म निरीक्षण करने की, अपने आपको जाँचने की योग्यता हर किसी में नहीं होती । स्वर्गीय डॉन टॉमस कहा करते थे कि- ''इस दुनियाँ में नब्बे प्रतिशत आधे पागल रहते हैं ।'' आधे पागल न भी हों तो भी इतना तो निश्चय ही मानना पड़ेगा कि आत्म-परीक्षण करने और वस्तुस्थिति को समझने की योग्यता बहुत कम लोगों में होती है । वे भावावेश, कल्पना की उड़ान और स्वतंत्र धारणा के अनुसार अपने-अपने मत निर्धारित करते हैं, इस मत निर्धारण में विचारशीलता की

नहीं वरन् अंधविश्वास की प्रधानता होती है। जहाँ विचारशीलता की प्रधानता है वहाँ गलती समझने और स्वीकार करने की क्षमता होगी, किन्तु ऐसे सौभाग्यशाली पुरुष अभी इस भूतल में उँगलियों पर गिनने लायक हैं । अधिकांश तो असंस्कृत मस्तिष्क के ही पड़े हुए हैं, व्यवहार उन्हीं से पड़ता है । ऐसी नीति और कुशलता से काम न लिया जाय तो अच्छे परिणाम की आशा नहीं की जा सकती ।

जब आपको किसी की गलती बतानी है तो पहले उसके साथ सहानुभूति प्रकट करिए । जिस स्थिति में वह गलती हुई उस स्थिति की पेचीदगी के कारण वह वैसा करने को मजबूर हुआ ऐसा प्रकट करिए । क्योंकि यदि जानबूझ कर भी उसने गलती की है तो वैसा कहकर उसकी लोकलज्जा को नष्ट करना उचित नहीं, क्योंकि अपने को मूर्ख सिद्ध न होने के लिए वह दुराग्रह करेगा और गलती को गलती ही साबित न होने देगा, उल्टा दुराग्रह उसका समर्थन करेगा । लड़झगड़ कर आप अधिक से अधिक किसी को चुप कर सकते हैं, पर इससे वह इस बात को मानने के लिए मजबूर न हो जायगा, वरन् अपने अपमान का बदला लेने के लिए उसी पर अड़ बैठेगा ।

'उस समय की परिस्थिति से मजबूर होकर, दबाव से, अन्य कारणवश वैसा करना पड़ा होगा ।'- ऐसा कहने से गलती को स्वीकार करना सरल हो जाता है । 'गलती बताकर अपनी बुद्धिमानी साबित की जा रही है' ऐसी आशंका भी उसके मन में मत उपजने दीजिए । जिस प्रकार की भूल उस आदमी से हुई है वैसी अन्य लोग भी करते हैं या कर चुके हैं ऐसे उदाहरण बताने से गलती स्वीकार करने में उसे विशेष हिचकिचाहट नहीं होती । यदि आपसे स्वयं वैसे ही या उससे मिलती-जुलती कोई भूल हुई है तो उसका उदाहरण देकर सुनने वाले को निश्चित कर सकते हैं कि उसको नीचा साबित करने के लिए वह बात नहीं कही जा रही है । आम लोगों के सामने इस प्रकार के वार्तालाप करने की अपेक्षा एकान्त में करना अधिक उपयोगी है, क्योंकि वहाँ प्रतिष्ठा घटने की अधिक आशंका उसे नहीं रहती और सचाई की तह तक पहुँचने में किसी हद तक मार्ग सुगम हो जाता है ।

जिसने गलती की है उसे अपराधी या पापी कहा जा सकता है, पर ऐसा कहना हानिकर है, क्योंकि इससे उसके तामस स्वभाव को प्रोत्साहन मिलेगा । जब अपराधी, पापी, दुष्ट, मूर्ख, दुरात्मा नालायक उसे साबित किया जा सकता है, तो हो सकता है कि अपने सद्गुणों और सात्विक स्वभावों की सम्भावना पर अविश्वास करने लगे और निर्लज्जतापूर्वक दुर्बुद्धि लोगों की श्रेणी में खड़ा होकर अधिक नीचता पर उतर आवे । इसलिए गलती को भूल के नाम से ही पुकारिए, पाप और अपराध का कर्ण कटु नाम प्रयोग मत कीजिए । भूल को सुधारना आसान बनाइये, त्रुटि रहित जीवन की महत्ता बताइये और उसे फिर से सुधारने के लिए प्रोत्साहित कीजिए । जिसने गलती की है वह अपने को पवित्रता से रहित और सुधरने में असमर्थ समझने लगता है । इस धारणा को धैर्य बँधाकर, गलती को छोटी बताकर, प्रोत्साहन देकर, जैसे भी बन सके दूर करना चाहिए । कटु वचन कहकर किसी का दिल तोड़ देना आसान है, ऐसा तो एक बेवकूफ भी कर सकता है । आपका कार्यक्रम ऊँचा होना चाहिए, दिल बढ़ाने का, सही मार्ग पर लाने का प्रयास कठिन है । आपकी बुद्धि को यह चुनौती दी जाती है कि-वह कठिन प्रयास द्वारा उपयोगी कार्य सम्पादन करके अपनी महत्ता साबित करे ।

किसी को हुक्म मत दीजिए-तुम यह करो, तुम वह करो, हुक्म देने का तरीका सेना में अच्छा समझा जाता है, परन्तु सामाजिक जीवन को हम लोग, सैनिक की तरह नहीं वरन् सहयोग के साथ, भाईचारे के आधार पर व्यतीत करते हैं । इसमें हुक्म देने की पद्धति कारगर नहीं होती । वेतन भोगी नौकर भी यह चाहता है कि मुझे केवल मशीन का जड़ पुर्जा न माना जाय । जिस कार्य में अपना विचार समन्वित नहीं होता, जिस कार्य में अपनी दिलचस्पी नहीं जुड़ती, वह कार्य आधे मन से, बेगार की तरह किया जाता है । 'पराया-जराया' यह कहावत मशहूर है । दूसरे के काम को ऐसे किया जाता है मानो जराया हुआ हो-जला दिया गया हो । साधारणत: हुक्म बजाने में अपनी लघुता साबित होती है और लघुता, परवशता के विरुद्ध विद्रोह की इच्छा उठा करती है। आपने देखा होगा कि छोटे बालक-जिन्हें आज्ञापालन न करने से हानि का भय नहीं होता अक्सर हुकुमउदूली किया करते हैं, उन्हें यह पसन्द नहीं होता कि अपराधी की तरह आज्ञा पालन के लिए मजबूर होना पड़े। बड़ा होने पर मनुष्य लाभ या भय के कारण हुक्म बजाता है, पर आन्तरिक इच्छा उसकी वैसी नहीं होती । विश्व में आजकल स्वतंत्रता की तीव्र माँग है । स्वतंत्रता के लिए मानव जाति घोर संघर्ष कर रही है, बड़ी-बड़ी कुर्बानी कर रही है, अध्यात्मवादी भी मुक्ति चाहते हैं- मुक्ति या

स्वतंत्रता एक ही वस्तु के दो नाम हैं । सब कोई पराधीनता से छुटकारा पाना चाहते हैं, पराधीनता को कतई पसन्द नहीं करते ।

आप जिस कार्यक्रम की ओर दूसरों को खींचना चाहते हैं, उसकी तीव्र चाह उत्पन्न करिए । उसे यह बतलाइये कि नवीन कार्य पुराने कार्य की अपेक्षा अधिक लाभदायक है।'इन्द्रिय असंयम बुरा है' इतना कह देने मात्र से काम न चलेगा । यदि किसी को ब्रह्मचर्य के पथ पर अग्रसर करना चाहते हैं तो स्वस्थ और सुन्दर ब्रह्मचर्य का उदाहरण सामने उपस्थित करिए और स्पर्द्धा उत्पन्न कीजिए कि वह भी ऐसा ही भरे हुए गुलाब से चेहरे का सौन्दर्य प्राप्त करे, शरीर को सुडौल, बलवान और निरोग बनावे । इन लाभों की ओर जितना ही आकर्षित किया जा सकता है उतना ही वह ब्रह्मचर्य पर दृढ़तापूर्वक आरूढ़ हो जायगा। काम करना कोई पसन्द नहीं करता, सब चाहते हैं कि बैठे-ठाले बिना मेहनत किए चैन से गुजरती रहे । परिश्रम का अप्रिय काम करने के लिए जब प्रेरणा मिलती है, जब उससे कच्चा फल मिलने की आशा होती है। जोखिम से भरे हुए, खतरनाक और दुस्साध्य कामों का लाभ विशेष लाभ की आशा से उठाया जाता है। इसलिए आप जिस कार्य के लिए दूसरों को तैयार करना चाहते हैं, उसे समझाइये कि इसमें कौन-कौन लाभ मिल सकते हैं । निकृष्ट कोटि के चोरी, व्यभिचार, ठगी आदि कामों के लाभ बहुत ही निकृष्ट और प्रत्यक्ष होते हैं, इसलिए उनकी ओर लोग आसानी से ढुल जाते हैं । उच्च कोटि के, सात्विक, ईमानदारी, सचाई, प्रेम, न्याय युक्त कार्यों के लाभ उतने निकट या प्रत्यक्ष नहीं होते तथा उनमें श्रम भी अधिक पड़ता है। यदि दूसरों को इस प्रकार के कष्ट साध्य कार्यों में प्रवृत्त करना है तो उन कार्यों के द्वारा प्राप्त होने वाले सुखों, लाभों और उत्तम परिणामों का विस्तारपूर्वक वर्णन करिए । उदाहरण, अनुभव तर्क और परिणाम द्वारा इन लाभों को इस प्रकार उपस्थित करिए कि सिनेमा के चित्र की तरह वह सब बातें उसके नेत्रों में घूम जावें, हृदय के अन्तःपटल पर भली-भाँति अंकित हो जावें ।

तीव्र चाह उत्पन्न करना, किसी कार्य की ओर आकर्षित करने का सबसे प्रभावशाली तरीका है । अमुक कार्य भला है, अमुक बुरा है, अमुक पुण्य है, अमुक पाप है, इतना कह देने मात्र से कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। साधारण बुद्धि के मनुष्य को भय और लोभ इन दो ही तत्वों के कारण कार्य करने की प्रेरणा मिलती है । लाभ के लोभ से निवृत्ति होती है। जिस काम को करने से दूसरे को रोकना चाहते हैं उससे रोकने में जो भय, आपत्ति, हानि, अनिष्ट उत्पन्न होने की आशंका है, उसे भली प्रकार हृदयंगम कराइए । वेश्यागमन की ओर जिसकी प्रवृत्ति है उसे उपदंश होने की हानि से भलीभाँत भयभीत कर देने पर उस कुकर्म से रोका जा सकता है। उपदंशजनित कष्ट, बदनामी, क्रियाशीलता का अन्त, भोगों से बिल्कुल वंचित हो जाना, धन नाश आदि यह सब भय और आशंकाएं उस व्यक्ति के मन में बिठाई जा सकें तो निस्संदेह उसका कुमार्गा गमन रुक जायगा । दण्ड देकर, प्रतिबन्ध लगाकर या बलपूर्वक रोकने की अपेक्षा यह उत्तम है कि जिस-जिस मार्ग से किसी को रोकना चाहते हैं उसके मन में तत्सम्बन्धी हानि और आशंकाओं का मूर्तिमान चित्र खड़ा करें और उसे स्वयं ही वह कार्य बन्द करने का निर्णय करने दें । किसी को एक कार्य से हटाकर दूसरे कार्य पर लगाने का प्रश्न यदि कभी आपके सामने आवे तो नये काम के लाभों का विशद वर्णन करके उस ओर दिलचस्पी पैदा करें तथा पुराने कार्य की हानियों का मूर्तिमान चित्र बनाकर भयभीत करने का प्रयत्न किया कीजिए । जो लोग विवेक और नियम से नहीं समझते उनकी चेतना अभी निर्बल है उस पर लोभ एवं भय द्वारा प्रभाव डालना ही सम्भव है । पशु को घास दिखाकर या लाठी का भय दिखाकर ही कहीं ले जाया जा सकता है, अल्प विवेक वाले लोगों को आप भी इन्हीं साधनों से प्रभावित करके उत्तम और उचित मार्ग पर ले जाने का प्रयत्न कीजिए ।

मानव मनोवृति के एक सुयोग्य अन्वेषक ने एक बहुत ही उत्तम शिक्षा दी है कि "यदि आप मधु इकट्ठा करना चाहते हैं तो मक्खियों के छत्ते को ठोकर मत मारिए ।" जिन लोगों से सम्बन्ध जारी रखे बिना काम नहीं चल सकता, जिनके द्वारा आपकी आजीविका चलती है, ऐसे सम्बन्धी तथा ग्राहकों को अकारण क्रुद्ध मत कीजिए । एकान्त में अत्यन्त शान्तिपूर्वक, हानि-लाभ का दिग्दर्शन कराते हुए गलती करने वाले को आसानी से समझाया जा सकता है, इसमें सुधरने की बहुत सम्भावना रहती है। इसके विपरीत सबके सामने कटु आलोचना करने से बुराइयों में सुधार होना तो दूर उल्टे बैर-विरोध तथा दुराग्रह की जड़ जम जाती है ।

आप जो कार्य करने के लिए दूसरों से कहें उसे आसान बताइये । लोगों को यह विश्वास कराइए कि इसमें अधिक सरलता रहेगी और कठिनाई कम हो जायगी । अपने कार्यक्रम पर किसी को सहमत करने के लिए उसे यह

विश्वास कराना आवश्यक है कि यह असम्भव, दु:साध्य बिरले शूरवीरों के करने योग्य नहीं वरन् बहुत ही सरल, पूर्णतया सम्भव और साधारण मनुष्य से पूरा हो सकने योग्य है। अनेक व्यक्ति उस मार्ग पर चल चुके हैं और चल रहे हैं उन्हें कोई ऐसी कठिनाई नहीं उठानी पड़ी जो असाधारण हो। स्मरण रखिये, सरलता को टटोल कर लोग उधर ही झुकते हैं। आप अपने कार्य की आसानी प्रकट कीजिए और बतलाइये कि वह बिना किसी झंझट के स्वल्प श्रम स्वल्पकाल और स्वल्प साधनों से पूरा हो सकता है। यदि आप पहले कार्य को 'तलवार की धार पर चलना' बतावेंगे, उसमें आने वाली विघ्न-वाधाओं को दुस्तर बतावेंगे तो आरम्भ में ही हिम्मत टूट जाने के कारण उस पथ पर चलने के लिए कोई मनुष्य मुश्किल से ही तैयार होगा।

स्वयं कम बोलिए और दूसरों को अधिक बोलने दीजिए। आप एक घण्टे अपनी बात कहकर किसी का मन उतना अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकते जितना कि आध घण्टा उसे अपनी बात कहने देकर कर सकते हैं। अच्छा वक्ता होने का प्रधान लक्षण यह है कि अच्छा श्रोता बनना चाहिए।

आप अपने को प्रशंसित बना लीजिए। दूसरों में जिन सद्‌गुणों को देखें, जिन सद्‌वृत्तियों को विकसित होता हुआ पावें उन्हें और अधिक उन्नत करने के लिए प्रोत्साहित करें। मुरझा कर सूख जाने की तैयारी में खड़े हुए पौधे जल से सिंचित होते ही दूसरे ढंग के हो जाते हैं, उनकी गतिविधि तुरन्त ही बदल जाती है। कुम्हलाये हुए पत्ते भी सतेज दिखाई पड़ने लगते हैं। प्रशंसा का जल ऐसा ही जीवनदाता है। सूखे हुए अन्त:करणों में वह आशा और उत्साह का संचार करता है। वर्षा ऋतु में पौधे बल्लियों बढ़ जाते हैं। मेघों का स्नेह बूँद पीकर वनस्पति जगत का रोम-रोम तरंगित होने लगता है। वर्षा ऋतु में मखमल जैसी हरियाली छा जाती है, ऊसर भूमि भी सुशोभित दीखती है चट्टानों का मैल धुल जाने से उनकी स्वच्छता निखर जाती है। आप यदि प्रशंसा द्वारा दूसरों के मुरझाये हुए हृदयों को सींचना आरम्भ कर दें, कानों की राह आत्माओं को अमृत पिलावें तो ठीक वैसा ही कार्य करेंगे जैसा कि परोपकारी मेघ किया करते हैं। तबे के समान जलता हुआ भूतल, मेघमाला का स्नेह पीकर तृप्त होता है और वनस्पतियों का हरा-भरा आशीर्वाद उगलता है। परोपकार और आशीर्वाद के सम्मिश्रण से बड़ी ही शान्तिदायक हरियाली उपज पड़ती है और विश्व की असाधारण सौन्दर्य वृद्धि करती है। क्या आपको यह कार्य पद्धति पसन्द है ? यदि है तो अपने चारों ओर बिखरे पड़े हुए असंख्य अतृप्त और अविकसित हृदयों को अपनी प्रोत्साहनमयी मधुर वाणी से सींचना आरम्भ कर दीजिए, वे हरे-भरे स्वच्छ उत्फुल्ल हो जायें। उनके सद्‌गुण वर्षा की वनस्पति की तरह तीव्र गति से बढ़ने और फैलने फूटने लगें।

यह बहुत ही उच्चकोटि का पुनीत धर्म कार्य है, अन्त:करण की चिर तृषा इससे तृप्त होती है, उन्नति के रुद्ध स्रोत खुलते हैं, अविकसित सद्‌वृत्तियाँ प्रस्फुटित होती हैं, छिपी हुई योग्यतायें जागृत होती हैं और निराशा के अन्धकार में आशा का दीपक एक बार पुन: जगमगाने लगता है। निन्दा और भर्त्सना ने अनेक उन्नतमना लोगों को निराश, कायर, भयभीत और निकम्मा बना दिया। हम ऐसे लोगों को जानते हैं जो व्यक्तिगत रूप से उन्नतिशील थे, उनमें अच्छी योग्यताओं के अंकुर मौजूद थे, पर उनका सम्पर्क बड़े दुर्बुद्धि संरक्षकों के साथ में रहा। जरा-जरा सी बात पर झिड़कना, मूर्ख बताना, नालायकी साबित करना, अयोग्यता का फतवा देना, यह ऐसे कार्य हैं जिनके द्वारा माता-पिता अपने बालकों की, मालिक अपने नौकरों की, गुरुजन अपने शिष्यों की आशा-कली को बेदर्दी के साथ कुचल डालते हैं। निरन्तर भर्त्सना करते रहने से न तो कुछ सुधार होता है और न कोई उन्नति होती है। केवल इतना ही परिणाम निकलता है कि वह अपने बारे में निराशाजनक भावनाएँ धारण करता है, अपने को अयोग्य मान बैठता है, उसका दिल बैठ जाता है और धीरे-धीरे निर्लज्ज होकर उसी अवनति के ढाँचे में ढलता जाता है।

जिस व्यक्ति में निराश करने की, जरा-जरा से दोषों को कहने की, झिड़कने की, निन्दा करने की, निरुत्साह करने की आदत है, वह सचमुच बड़ा भयंकर है। व्याघ्र आदि हिंसक जन्तु जिस पर आक्रमण करते हैं, उसे क्षण भर में फाड़ कर खा जाते हैं, परन्तु गिराने वाले निन्दा सूचक शब्दों का प्रयोग करने का जिसे अभ्यास हो गया है उसकी भयंकरता व्याघ्र से अधिक है। सूखा मसान बालकों का कलेजा चूसकर उसे ठठरी बना देता है, इसी प्रकार निन्दा सूचक वाक्य प्रहारों से भीतर ही भीतर दूसरे का कलेजा खाली हो जाता है। यदि आप प्रशंसा करने और प्रोत्साहन देने की नीति को अपना लेते हैं तो इसके द्वारा अनेकों व्यक्तियों को ऊँचा उठाने में, आगे बढ़ाने में सहायक होते हैं। हो सकता है कि कोई क्रियाशील व्यक्ति

आपके द्वारा प्रोत्साहन पाकर उन्नति के प्रकाशपूर्ण पथ पर चल निकले और एक दिन ऊँची चोटी पर जा पहुँचे। क्या आपको उसका श्रेय न मिलेगा ? क्या उस महान कर्म साधना में आप पुण्य के भागी न होंगे ?

मैत्री-भाव की वृद्धि करते रहिए

सहयोग और मैत्री-भाव ये दोनों शब्द लगभग एक ही अर्थ के सूचक हैं। हमारे मित्र ही हमारे सबसे बड़े सहयोगी हो सकते हैं। अन्य मनुष्यों का सहयोग तो आवश्यकता पड़ने पर थोड़े समय के लिए होता है, पर मित्रों से तो निकट सम्बन्ध होने के कारण सदैव ही सहयोग चलता रहता है। इस बात को हम इस तरह भी कह सकते हैं कि जिन लोगों से हमारा अधिक सहयोग होता रहता है उन्हीं से मित्रता स्थापित हो जाती है। इसलिए सहयोग की आकांक्षा रखने वाले व्यक्तियों को सदैव अपना मित्र-मण्डल बढ़ाते रहना चाहिए और साथ ही मित्रों से ऐसा व्यवहार करना चाहिए जिससे निरन्तर मित्रता की वृद्धि हो तथा कभी मनोमालिन्य की नौबत न आवे।

गुणग्राही मित्र गुण का आदर करता है। मित्र के गुणों का आदर करना और उन गुणों की वृद्धि में उसे बढ़ावा देना मित्र का काम है। अपने मित्र के गुणों की कदर न करने वाले मनुष्य की मित्रता केवल नदी-नाव संयोग है। ऐसी मित्रता निभ नहीं सकती। सुख-दुख में, संपद-विपद में, अध्ययन और मनोरन्जन में, साथ रह सकने वाले मित्रों की मित्रता बढ़ती ही जाती है। कई मित्र प्रयोजनाभाव से परस्पर मिलना तक छोड़ देते हैं, पर यह बड़ी भूल है। मित्रों को एक-दूसरे से बराबर मिलते रहना चाहिए और बिना मिले कल ही न पड़नी चाहिए। मित्रों का एक-दूसरे से न मिलना भी मित्रता के शिथिल हो जाने का कारण होता है।

धनादि से मित्र की सहायता करने में कभी अपने मन में उसका थोड़ा भी तिरस्कार न करो। मित्र की सहायता कर सकना अहोभाग्य है। मित्र की सहायता करना जैसा मित्र धर्म है, वैसा ही मित्र-धर्म, मित्र को कष्ट न देना भी है। सरल और सहृदय देखकर किसी को बार-बार सहायता के लिए कष्ट देना अनुचित है, यही नहीं प्रत्युत मित्र का यह धर्म है कि वह जहाँ तक हो सके, ऐसा अवसर ही न आने दे कि मित्र को कष्ट हो।

किसी समय यदि मित्र सहायता न कर सके, तो उससे से रुष्ट हो जाना भी ठीक नहीं। मित्र से अनुचित आशा करना तो मैत्री का केवल दुरुपयोग है। हमें सदा अपने को अपने मित्र की स्थिति में मानकर विचारना चाहिए, अयुक्त परिस्थिति में हम अपने मित्रों के लिए क्या कर सकते हैं? जो काम हम न कर सकते हों, उसकी आशा अपने मित्र से कदापि न करनी चाहिए।

मित्र के निर्वाह के सम्बन्ध में यह सुभाषित प्रसिद्ध है-

इच्छेच्चेद्विपलां मैत्री त्रीणि तत्र न कारयेत्।
वाग्वादमर्थ सम्बन्धं परोक्षे दारभाषणम्॥

अर्थात्- "जो विपुल मैत्री चाहता हो, वह इन तीन बातों से अवश्य दूर रहे- वाग्वाद, अर्थ-सम्बन्ध और मित्र के परोक्ष में मित्र-पत्नी से बातचीत।"

"वादे-वादे जायते तत्वबोधः" यह सुभाषित सत्य है, पर तत्वबोध के लिए जहाँ वाद होता है, वहीं के लिए यह ठीक है, अन्यथा अपनी-अपनी बात रखने के लिए जो वाद-विवाद किया जाता है, वह केवल निरर्थक ही नहीं, अनेक बार हानिकारक भी होता है। कई बार शास्त्रार्थ होते-होते शस्त्रार्थ आरंभ हो जाता है। वाद-विवाद के जोश में कितनों को होश नहीं रहता और एक-दूसरे के दिलों पर वाग्वाण बरसाने लगते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि वाद करने वाले ऐसे मित्र का चित्त एक-'दूसरे से हट जाता है, कभी-कभी दिल फटने की भी नौबत आ जाती है। किसी विषय में मित्रों में मतभेद हो, तो उसके लिए वाद-विवाद न करके एक-दूसरे के मत का आदर करना चाहिए। ऐसी चर्चा ही न चलाना अच्छा, जिसमें मित्रों को अपने-अपने मत का आग्रह हो।'

'लेन-देन जितना थोड़ा, मित्र-प्रेम भी उतना गाढ़ा' होता है। इसलिए मित्रों को आपस में लेन-देन न करना चाहिए। अर्थ सम्बन्ध से मित्र जितना दूर रहेगा, उतना मैत्री निभाने के विषय में सुखी होगा।'

मित्र के परोक्ष में मित्र की पत्नी से बातचीत करना कई देशों के आचार में अशिष्ट नहीं समझा जाता। उन देशों का इस विषय में कोई भिन्न अनुभव हो सकता है, परन्तु हमारे देश में शिष्ट व्यवहार यही है कि पुरुष के परोक्ष में स्त्री से भाषण न करना चाहिए। जो लोग अपने मित्रों से मित्रता निभाना चाहते हैं, उन्हें मित्र की अनुपस्थिति में उसकी स्त्री से कभी बातचीत नहीं करनी चाहिए। मित्र की अनुपस्थिति में मित्र पत्नी से वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा लक्ष्मण का सीताजी के साथ था। लक्ष्मण ने सीताजी के चरणों के सिवाय और किसी और अंग का दर्शन नहीं

किया था। किसी भी परस्त्री से भाषण करते हुए अपनी दृष्टि को उसके पैरों पर ही रखना चाहिए ।

अनेक मित्रों की यह धारणा रहती है कि मित्र से किसी बात का परदा न रखना चाहिए- कोई बात उससे न छिपाना चाहिए । पर यह कोई नियम नहीं, यह आवश्यक भी नहीं है। जिसके योग्य जो बात हो वही उससे कहनी चाहिए, यही साधारण नियम है। यदि कोई मित्र ऐसा है, कि उसके पेट में बात पचती ही नहीं, तो उससे सब तरह के गुह्य भेद कह देना अपने आपको धोखा देना है । मित्रों से व्यर्थ बातचीत करके अपना और उसका समय नष्ट न करो । ऐसा करने से जो बात नहीं कहनी चाहिए, वह कभी न कही जायगी । व्यर्थ बात करने वाले लोग अनेक बार ऐसी बात कह डालते हैं, जिनके कहने से पीछे उन्हें पश्चात्ताप करना पड़ता है । मित्र से कोई छल न करना चाहिए, इसका मतलब यह नहीं है, कि उससे कोई बात नहीं छिपानी चाहिए ।

मित्रों को एक बात का ध्यान रखना चाहिए और वह यह कि अनेक मित्रों में परस्पर कलह करा देने वाले चुगलखोर नामक जीव पैदा हो जाते हैं । कभी सच्ची, कभी झूठी और कभी "राई का पर्वत" बनाकर एक की बातें दूसरे को सुनाया करते हैं । ऐसे मित्रों से बहुत सावधान रहना चाहिए । इनकी बातें सुनकर इन्हें मैत्री में विष फैलाने का अवसर ही न देना चाहिए ।

सन्मित्र से समृद्धि सौभाग्यशालिनी होती है और विपद संकट आदि अवस्थाओं में उससे उपकार होता है। इसलिए सन्मित्र का अभिनन्दन करो, सहायता करो, उसके लिए परिश्रम करो, संकट में उसकी रक्षा करो, उस पर कोई आक्रमण करे तो उसके कंधे से कंधा लगाकर खड़े हो, उसके सुख से सुखी और दुःख से दुःखी हुआ करो और जब वह विपदग्रस्त हो, तब उसे सान्त्वना दिया करो । ऐसा करो, तब समझा जायेगा कि तुम अपना कर्तव्य पालन करते हो ।

सहयोग और सामूहिकता की भावना

मनुष्य सामाजिक प्राणी है और आज तक संसार में उसने जो कुछ उन्नति की है, वह सहयोग और सामूहिकता की भावना के द्वारा ही की है । अकेला व्यक्ति किसी प्रकार की उन्नति कर सकने में असमर्थ होता है । यदि मनुष्य इन विशेषताओं का त्याग कर दे तो उसमें और जंगलों में फिरने वाले एक पशु में कुछ भी अन्तर न रह जायगा । इसलिए मनुष्य को अपने हित की दृष्टि से भी सदा सामूहिकता की भावना को बढ़ावा देना चाहिए और इस बात का प्रयत्न करते रहना चाहिए कि समाज में जहाँ तक सम्भव हो सहयोग की भावना निरन्तर बढ़ती रहे ।

सच्चा सामाजिक बनने के लिए आपको सहनशक्ति, धैर्य तथा सन्तोष की आवश्यकता है । आप में भी कमियाँ हैं, आप में भी अभाव दुर्गुण हैं, इसलिए दूसरों को इस बात का मौका न दीजिए कि जब आप उन्हें सही रास्ता दिखा रहे हों, तभी वे आपको पहले स्वयं सम्हालने का ताना देकर आपके काम में बाधा डालें । आपको धैर्य और नरमी से काम लेना है । आदमी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ सकता । उसमें कुछ संस्कार जमे होते हैं । कुछ वंशानुगत, जन्मभूमिगत, भावनाएँ होती हैं, कही-सुनी और लिखी-पढ़ी बातों का प्रभाव पड़ा होता है। माना कि उन्हें अपनी अच्छाइयों व बुराइयों का भार स्वयं सहन करना पड़ता है, किन्तु आप यदि किसी को गलत राह पकड़ते देख लें तो आगे बढ़कर उसे सचेत कर देना आपका काम है । आप उसे समझायें कि उसे उस प्रकार का बना देने की जिम्मेदारी किस पर है ? यदि समझाने के बजाय आप रुष्ट होकर बैठे रहे और आपका पारा चढ़ा रहा तो उससे आपकी ही क्षति है । इससे दिल और दिमाग दोनों ही थक जायेंगे । यदि आपने उत्तेजनापूर्ण शब्दों से काम लिया तो किया हुआ काम फिर से दुहराया जा सकता है, उससे भी भयंकर कृत्य किया जा सकता है। उत्तेजित व्यक्ति समझता है कि वह अपराधी को अपशब्दों और ताड़ना द्वारा सुधार रहा है, किन्तु वह नहीं जानता कि ऐसा करके वह स्वयं अपने प्रति अन्याय कर रहा है। अपराधी स्वयं आपकी बात मानने में, आपका मत स्वीकार करने में हिचकिचाएगा, लड़ने-झगड़ने पर आमादा हो जाएगा और ऐसे समय यदि आप भी उसी की तरह उन्मत्त हो गये तो आप में और उसमें अन्तर ही क्या रह जायेगा ? इस अनर्थकारी प्रकृति के कारण दलों में फूट पड़ जाती है, प्रान्त-प्रान्त और राष्ट्र-राष्ट्र एक-दूसरे को धिक्कारता और पछाड़ने की कोशिश करता है ।

यह भी आवश्यक है कि आप ईर्ष्या एवं अपनी अहमन्यता त्यागकर दूसरों की योग्यता का भी मूल्यांकन करें । केवल इसी से काम न चलेगा कि आपने अपने प्रतिद्वन्दियों से ईर्ष्या या द्वेष करना छोड़ दिया है और अब भविष्य में इस रोग से बचे रहेंगे । दूसरों की सफलता पर उन्हें साधुवाद दीजिए । उनकी अच्छाइयों की प्रशंसा करके

उन्हें और उत्साहित कीजिए। समाज-सुधार की राह में ईर्ष्या एक बड़ी दीवार है। प्रसिद्ध कवि मोलियर ने कहा है, "ईर्ष्यालु व्यक्ति मर जाते हैं, किन्तु ईर्ष्या नहीं मरती।" उदाहरणार्थ यदि आप किसी अपने से बुद्धिमान व्यक्ति से मिलें तो समझ लें कि उसकी बुद्धि समाज की बुद्धि है और केवल उसी की बुद्धि नहीं है, मानवता के बुनियादी ऐक्य के नाते यह आपकी भी है। प्रकृति द्वारा सभी को यथायोग्य गुण-अवगुण मिलते हैं। कुछ गुण आप में हैं, कुछ दूसरों में। इससे स्पष्ट है कि कोई किसी से छोटा नहीं, हीन नहीं। वास्तव में ईर्ष्या तो ऐसा निकृष्ट अभिशाप है- जो बदले में हानि के सिवा और कुछ नहीं देता।

व्यवहार में आपको विनीत, मितभाषी और आदर-सूचक शब्दों का प्रयोग करना है। चाहिए तो यह कि जो जिस योग्य है, उसे वैसा ही आदर, सम्मान और स्नेह अर्पण किया जाय। किसी की प्रतिष्ठा में कमी करने के असफल प्रयत्न से आपको अपयश के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलने का। आज के दूषित वातावरण में कोई अपनी योग्यता या अज्ञानता के दम्भपूर्ण स्तर से नीचे उतर कर समझौता नहीं करना चाहता, किन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि सहयोग की पहली सीढ़ी समझौता है। संसार में एक ही व्यक्ति होता तो कोई बात नहीं थी।

यदि हम समाज में सहयोग के भाव की स्थापना और वृद्धि करना चाहते हैं तो हमको उन विशेषताओं को ग्रहण करना चाहिए जिनसे अन्य मनुष्यों को लाभ पहुँचता है और जिन्हें वे पसन्द करते हैं। यह भली प्रकार स्मरण रखना चाहिए कि आज हम सभ्यता और संस्कृति की जितनी उन्नति देख रहे हैं और जिसके कारण हमारा जीवन भी सुख और शान्ति से व्यतीत हो रहा है, उसके निर्माण में समस्त समाज का हाथ रहा है। इसलिए हमको आचरण ऐसा ही रखना चाहिए जिससे समाज में एक्य, प्रेम और सहयोग के भावों की वृद्धि हो और हम दिन पर दिन उन्नति की ओर अग्रसर हो सकें।

११. इन्द्रिय संयम का महत्व

गायत्री का ग्यारहवां अक्षर 'दे' हमको इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखने की शिक्षा देता है-

देयानि स्ववशे पुंसां स्वेन्द्रियाण्याखिलानि वै।
असंयतानि खादन्तीन्द्रियाण्येतानि स्वामिनम्॥

अर्थात्- "अपनी इन्द्रियों को वश में रखना चाहिए। असंयत इन्द्रियां स्वामी का नाश कर देती हैं।"

इन्द्रियाँ आत्मा के औजार हैं, सेवक हैं, परमात्मा ने इन्हें इसलिए प्रदान किया है कि इनकी सहायता से आत्मा की आवश्यकताऐं पूरी हों और सुख मिले। सभी इन्द्रियाँ बड़ी उपयोगी हैं। सभी का कार्य जीव को उत्कर्ष और आनन्द प्राप्त कराना है। यदि उनका सदुपयोग किया जाय तो मनुष्य निरन्तर जीवन का मधुर रस चखता हुआ जन्म को सफल बना सकता है।

किसी भी इन्द्रिय का उपयोग पाप नहीं है। सच तो यह है कि अन्तःकरण की विविध क्षुधाओं को, तृषाओं को तृप्त करने का इन्द्रियाँ एक उत्तम माध्यम हैं, जैसे पेट की भूख-प्यास को न बुझाने से शरीर का स्वास्थ्य और सन्तुलन बिगड़ जाता है, वैसे ही सूक्ष्म शरीर की ज्ञानेन्द्रियों की क्षुधा उचित रीति से तृप्त नहीं की जाती तो आन्तरिक क्षेत्र का सन्तुलन बिगड़ जाता है और अनेक प्रकार की मानसिक गड़बड़ी पैदा होने लगती है।

इन्द्रिय भोगों की बहुधा निन्दा की जाती है। उसका वास्तविक तात्पर्य यह है कि अनियन्त्रित इन्द्रियाँ स्वाभाविक एवं आवश्यक मर्यादा का उल्लंघन करके इतनी स्वेच्छाचारी एवं चटोरी हो जाती हैं कि वे स्वास्थ्य और धर्म के लिए संकट उत्पन्न कर देती हैं। आजकल अधिकांश मनुष्य इसी प्रकार इन्द्रियों के गुलाम हैं। वे अपनी वासनाओं पर काबू नहीं रखते। बेकाबू हुई वासना अपने स्वामी को खा जाती है।

इसलिए यह परम आवश्यक है कि इन्द्रियाँ हमारे काबू में रहें, वे अपनी मनमानी करके चाहे जब, चाहे जिधर न घसीट सकें, बल्कि जब हम स्वयं आवश्यकता अनुभव करें, जब हमारा विवेक निर्णय करें, तब उचित आन्तरिक भूख को बुझाने के लिए उनका उपयोग करें। यही इन्द्रिय-निग्रह है। निग्रहीत इन्द्रियों से बढ़कर मनुष्य का सच्चा मित्र तथा अनियन्त्रित इन्द्रियों से बढ़कर शत्रु और कोई नहीं है।

इन्द्रिय-नियन्त्रण का मूलमन्त्र- 'आत्मसंयम'

आत्म नियन्त्रण ही स्वर्ग द्वार है। यह प्रकाश तथा शान्ति की ओर ले जाता है। उसके बिना मनुष्य नर्कवासी है। वह अशान्ति और अंधकार में विलीन है। आत्म संयमी न होने से मनुष्य अपने माथे पर घोर दुःखों को मढ़ता है। उसके दुःख और संताप उसे तब तक हैरान करते रहेंगे जब तक वह आत्म नियन्त्रण का कार्य आरम्भ नहीं कर देता। इसकी प्रतिस्पर्धा करने वाली कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो इसकी स्थान-पूर्ति कर सके। आत्म-संयम आरम्भ करके

कोई आदमी जितना अपना उपकार कर सकता है, उससे अधिक हित करने वाली संसार की कोई शक्ति नहीं है ।

आत्म नियन्त्रण से मनुष्य अपने दैवी गुणों को प्रकाशित करके दैवी ज्ञान तथा शान्ति का भागी होता है। उसका अभ्यास प्रत्येक मनुष्य कर सकता है। निर्बल मनुष्य भी इसी समय से इसका अभ्यास आरम्भ कर सकता है । जब तक वह इस कार्य में प्रवृत्त नहीं होता, वह निर्बल बना रहेगा, अथवा सम्भावना है कि उसकी निर्बलता बढ़ती जाय। जो आत्मा को अपने वश में नहीं करते, अपने हृदय को शुद्ध नहीं बनाते, ईश्वर के प्रति उनकी सब प्रार्थनाऐं व्यर्थ हैं । जो कलह मूलक अज्ञानता तथा कुप्रवृत्तियों में लिपटे रहेंगे, उनका ईश्वर की सर्वज्ञता में विश्वास करना न करना बराबर है ।

जो मनुष्य पर दोषरत-जिह्वा को ठीक नहीं करना चाहता, क्रुद्ध स्वभाव का दास बना रहना चाहता है और अपवित्र विचारों का उत्सर्ग नहीं कर सकता, उसे न तो कोई बाह्य शक्ति सन्मार्ग पर ला सकती है और न उसके किसी धार्मिक बात के समर्थन तथा विरोध ही से उसकी भलाई हो सकती है। मनुष्य अपने अन्तर्निहित अंधकार पर विजय पाकर ही सत्य के प्रकाश का दर्शन पा सकता है।

खेद है कि मनुष्य आत्मसंयम के परम गौरव का अनुभव नहीं करता। वह इसकी निःसीम आवश्यकता को नहीं समझता और फलतः आध्यात्मिक स्वतंत्रता तथा वैभव जिनकी तरफ यह मनुष्य को प्रेरित करता है, मनुष्य की दृष्टि-पथ से छिपे रहते हैं । इसी कारण मनुष्य कुवासनाओं का दास बना रहता है। पृथ्वी मण्डल पर फैले हुए बलात्कार, अपवित्रता, रोग तथा दुःखों पर दृष्टि दौड़ाइये और देखिये कि कहाँ तक आत्म संयम की कमी इन सबका कारण है । तब आप इसका पूर्ण अनुभव करेंगे कि आत्म नियंत्रण की कितनी अधिक आवश्यकता है, आत्म संयम पुण्य की प्रथम सीढ़ी है। इससे सद्गुणों की प्राप्ति होती है । सुव्यवस्थित तथा सच्चे धार्मिक जीवन की यह सर्वप्रथम आवश्यकता है ।

प्रलोभनों से सदैव सावधान रहिए

इन्द्रियों के कुमार्गगामी होने का सबसे प्रधान कारण भाँति-भाँति के प्रलोभन होते हैं । प्रलोभन एक ऐसा आकर्षक मोह चक्र है, जिसका कोई स्वरूप, आकार, स्थिति, अवस्था नियत नहीं है, किन्तु फिर भी वह नाना रूपों में मानव मात्र को ठगने, पदच्युत कर पथभ्रष्ट कर देने के लिए आता है । जीवन में आने वाले बहुत से मायावी प्रलोभन इतने मन मोहक, लुभावने और मादक होते हैं कि क्षण भर के लिए विवेक शून्य हो अदूरदर्शी बन हम विक्षिप्त हो उठते हैं, हमारी चिन्तनशील सत्प्रवृत्तियाँ पंगु हो उठती हैं तथा हम विषय-वासना, आर्थिक-लोभ, स्वार्थ, संकुचिततावश प्रलोभन के शिकार बन जाते हैं । अन्ततः उनसे उत्पन्न होने वाली हानियों, कष्टों, त्रुटियों, अपमान तथा प्रतिष्ठा से दग्ध होते रहते हैं । प्रलोभन जीवन की मृग तृष्णा है, तो बुद्धि का भ्रम मोह का मधुर रूप !

लालच के रूप अनेक हैं कभी-कभी आप सोचते हैं, मैं धनवान बनूँ, ऊँचा रहूँ, मेरे ऊपर लक्ष्मी की कृपा रहे। इस उद्देश्य सिद्धि के हेतु आप रिश्वत, काला बाजार, झूठ, फरेब, कपट, हिंसा आदि करके रुपये हड़पते हैं । ठेकेदार, ओवरसियर, इंजीनियर तक रिश्वत में हिस्सा लेते हैं । रेल्वे, पुलिस, चुंगी इत्यादि विभागों में भ्रष्टाचार इसी स्वार्थ और संकुचितता के कारण फैले हुए हैं । डॉक्टर और वकील रोगी और मुवक्किलों से अधिकाधिक ऐंठना चाहते हैं । बाजार में खराब माल देकर अथवा निम्न कोटि की वस्तुओं का सम्मिश्रण कर व्यापारी खूब लाभ कमाना चाहते हैं । सिक्के ने जैसे मानवीयता का शोषण कर लिया हो ऐसा जान पड़ रहा है, प्रलोभन के अनेक रूप हैं-

'अमुक व्यक्ति की पत्नी मेरी पत्नी की अपेक्षा अधिक सुन्दर है, मुझे भी सुन्दर पत्नी प्राप्त होनी चाहिए । मैं तो अमुक अभिनेत्री जैसी स्त्री से विवाह करूँगा ।'

'अमुक व्यक्ति का मकान सुन्दर है । अमुक के पास आलीशान कोठी, मोटर, नौकर-चाकर, सुन्दर वस्त्र, फर्नीचर इत्यादि हैं । मैं भी किसी प्रकार उचित अनुचित कैसे ही उपायों से वस्तुऐं, सुविधाएँ प्राप्त करूँ । अमुक मुझसे ऊँचे पद पर आसीन हो गया, मैं भी छल बल कौशल से रुपया दे दिलाकर यही पद प्राप्त करूँ ।

अमुक व्यक्ति बड़ा सुस्वादु भोजन खाता है, मिठाई, पूड़ी, पकवान, मेवे, दूध, रबड़ी आदि बढ़िया से बढ़िया वस्तुएं नित्य चखता है । मैं भी किसी अच्छे बुरे उपाय से ये चीजें प्राप्त करूँ। ऐसा सोचते-सोचते जैसे ही कोई तनिक सा प्रलोभन आपको देता है कि आप बिना सोचे समझे उसके समक्ष घुटने टेक देते हैं । रुपया, कमीशन, डाली, फल, मुफ्त सेवा, नाना उपहार ले लेना सब प्रलोभन के ही स्वरूप हैं इनका कोई आदि अन्त नहीं । समुद्रों की तरंगों की भाँति वे आते ही रहते हैं ।

नैतिक दृष्टि से कमजोर चरित्र वाले व्यक्ति आसानी से प्रलोभन के शिकार बनते हैं । जिनकी आवश्यकताऐं,

विलासी इच्छायें, चटोरापन, अनुचित माँगें, नशे बढ़े हुए हैं, वे प्राय: प्रलोभनों के सामने झुकते हुए देखे गये हैं। जिन्हें दान दहेज, यात्राऐं, भौतिकता, टीपटाप का शौक है, वे लालच में फँसते हैं। कभी-कभी सहज सात्विक बुद्धि वाले भी दूषित वातावरण के प्रभाव से प्रलोभनों के चक्कर में आ जाते हैं।

विषयों में रमणीयता का भास बुद्धि के विपर्यय से होता है। बुद्धि के विपर्यय में अज्ञान-सम्भूत अविद्या प्रधान कारण है। इस क्षणिक भावावेश, अदूरदर्शिता के ही कारण हमें प्रलोभन में रमणीयता का मिथ्या बोध होता है। प्रलोभन से तृप्ति एक प्रकार की मृग तृष्णा मात्र है।

प्रलोभन में मुख्यत: दो तत्व कार्य करते हैं- उत्सुकता एवं दूरी। ईसाइयों के मतानुसार आदिपुरुष एडम (आदम) का स्वर्ग से पतन ज्ञान-वृक्ष के फल को चखने की उत्सुकता के ही कारण हुआ था। उन्हें आदेश मिला था कि वे अन्य सब वृक्षों के फलों को चख सकते हैं, केवल उसी वृक्ष से बचते रहें। जिस बात के लिए हमें रोका जाता है, अप्रत्यक्ष रूप से उसके प्रति हम अधिकाधिक आकृष्ट होते हैं। अत: आदम को वर्जित फल के प्रति उत्सुकता उत्पन्न हो गयी। औत्सुक्य से प्रभावित होने के कारण उस फल में रमणीयता का भास हुआ। उन्होंने चुपचाप प्रलोभन के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया। पर ईश्वर ने उन्हें इसकी बड़ी सजा दी थी।

इन्द्रियों को तृप्त करने के नाना साधन या पदार्थ हमसे दूर रहते हैं, जिन्हें हम दैनिक जीवन में नहीं पाते, जिनका स्वाद हमने नहीं उठाया है, वे ही दूरी के कारण हमें आकर्षक प्रतीत होते हैं। वास्तव में रमणीयता किसी बाह्य जगत की वस्तु में नहीं है। वह हमारी कल्पना तथा उत्सुकता की भावनाओं की प्रतिच्छाया मात्र है वस्तु को आकर्षक बनाने वाला हमारा मन है जो क्षण-क्षण नाना वस्तुओं पर मचल-मचल जाता है, नयी वस्तुओं की ओर हमें बरबस खींच ले जाता है। कभी वह जिह्वा को उत्तेजित कर हमें सुस्वादु वस्तुओं की ओर आकृष्ट करता है, कहीं कानों को मधुर संगीत सुनने के लिए खींचता है। कहीं हमारी वासना को उद्दीप्त कर मादक वृत्तियों को उत्तेजित कर देता है। मनकी कोई भी गुप्त अतृप्त इच्छा प्रलोभन का रूप धारण कर लेती है। विवेक का नियन्त्रण ढीला पड़ते ही मन हमें स्थान-स्थान पर बहकाता फिरता है। अथवा विवेक पर आवरण (पर्दा, तमो वृत्ति, इन्द्रिय, दोष, बीमारी, प्रमाद) पड़ा रहने से बुद्धि तिरोहित हो जाती है। फलत: हम पतन की ओर जाते हैं, हमारा वातावरण गंदा हो जाता है, हम दूसरों को धोखा देते हैं, झूठ बोलते, ठगते हैं, विवेक पर पर्दा रहने से ही दुष्ट पुरुष विद्या को विवाद में, धन को अहंकार और विलास में, बल को पर पीड़ा में लगाते हैं, निर्बलों को सताते हैं। अत: मन पर सतर्कता से अन्तर दृष्टि रखनी चाहिए।

जैसे युद्ध करते समय जागरूक सन्तरी को यह ध्यान रखना पड़ता है कि न जाने शत्रु का कब आक्रमण हो जाय, कब किस रूप में शत्रु प्रकट हो जाय, उसी प्रकार मन रूपी चञ्चल शत्रु पर तीव्र दृष्टि और विवेक को जागरुक रखने की अति आवश्यकता है। जहाँ मन आपको किसी इन्द्रिय सम्बन्धी प्रलोभन की ओर खींचे वहीं उसके विपरीत कार्य कर उसकी दुष्टता को रोक देना चाहिए।

मन बड़ा बलवान शत्रु है। वासना और कुविचारों का जादू इस पर बड़ी शीघ्रता से होता है। बड़े-बड़े संयमी व्यक्ति वासना के चक्कर में आकर मन को न रोक सकने के कारण पथ भ्रष्ट हो जाते हैं। मन को शुद्ध करना अत्यन्त दुष्कर कृत्य है। इससे युद्ध करने में एक विचित्रता है। यदि युद्ध करने वाला दृढ़ता से युद्ध में संलग्न रहे, निज इच्छा शक्ति को मन के व्यापारों में लगाये रहे, तो युद्ध में संलग्न सैनिक की शक्ति अधिकाधिक बढ़ती है और एक दिन वह इस पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेता है। यदि तनिक भी इसकी चंचलता में बहक गये तो यह मनुष्य के चरित्र, आदर्श, संयम, नैतिक दृढ़ता, धर्म को तोड़-फोड़ कर, सब कुछ नष्ट भ्रष्ट कर डालता है।

मन को दृढ़ निश्चय पर स्थिर रखने और उसी पर एकाग्र ध्यान रखने से मुमुक्षु की इच्छा शक्ति प्रबल बनती है। मन का स्वभाव मनुष्य की इच्छा के अनुकूल बन जाने का है। इसे जिन विषयों की ओर दृढ़ता से एकाग्र कीजिए, वही कार्य करने लगेगा। वह व्यर्थ निश्चेष्ट निष्क्रिय नहीं बैठना चाहता। अच्छाई या बुराई-वह किसी न किसी ओर निश्चय आकृष्ट होगा। यदि आप शुभ रचनात्मक सम्मुनत कार्यों में उसे न लगायेंगे तो वह बुराई की ओर चलेगा। यदि आप उसे पुष्प-पुष्प विचरण करने वाली मधुलोभी तितली बना देंगे, जो रूप, रस और गंध पर मडराये, तो वह आपको अवश्य किसी भयंकर स्थिति में डाल देगा। यदि आप उसे उद्दण्ड रखेंगे तो वह दिन रात असंख्य स्थानों पर भ्रान्तमति रहेगा। यदि आप शुभ इष्ट पदार्थों के सुविचारों में उसे स्थिर रखेंगे, तो वह आपका सबसे बड़ा मित्र बन जायेगा।

जब-जब अपने अन्त:करण में विषय वासना का प्रबल संघर्ष उत्पन्न होता हो, तब-तब नीर क्षीर विवेकी निश्चयात्मिका बुद्धि को जाग्रत कीजिए। मन से थोड़ी देर पृथक रहकर इसके कार्य व्यापारों पर तीव्र दृष्टि रखिये, वह कुविचार, कुत्सित चिन्तन, वासना का ताण्डव कुकल्पना चक्र टूट जायगा और आप मन के साथ चलायमान न होंगे। मन के व्यापार के साथ निज आत्मा की समस्वरता न होने दें। इसी अभ्यास द्वारा वह आज्ञा देने वाला न रहकर सीधा सादा आज्ञाकारी अनुचर बन जायगा -

मन लोभी, मन लालची, मन चंचल, मन चोर।
मन के मत चलिए नहीं, पलक पलक मन और ॥

प्रमाद में फँसी इन्द्रियों के सुख में स्थिरता नहीं है। इन्द्रिय के सुख, दु:ख रूप हैं। यह अस्थिर और क्षणिक हैं। यह आनन्द आवरण मात्र है। इन्द्रिय सुख के लिए मनुष्य को अनेक कुचक्रों, कुटिल नीतियों का अवलम्ब लेना पड़ता है। एक सुख की लालसा में मनुष्य अधिकाधिक उलझता ही जाता है। एक इन्द्रिय को तृप्त करते-करते मनुष्य दूसरी तीसरी, अधिकाधिक संसारिकता में लिप्त होता ही जाता है। अन्तत: पाप योनि को प्राप्त होता है। जब तक मन और इन्द्रियों पर पूरा नियन्त्रण नहीं होता, तब तक सुख की आशा रखना व्यर्थ है। मन पर निरन्तर कड़ी दृष्टि रखिये स्वयं भगवान श्री कृष्ण ने गीता में हमें मन पर तीखी निगाह रखने की ओर निर्देश किया है-

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मति:।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायत: ॥ (६/३६)

'मन को संयमित न करने वाले पुरुष के द्वारा योग दुष्प्राप्य है। स्वाधीन मन वाले प्रयत्नशील पुरुष के द्वारा ही योग प्राप्त होता है। इष्ट सिद्धि प्राप्त होती है।'

अभ्यास और वैराग्य से मन को वश में करने में बहुत सहायता मिलती है। गीता में मन को भगवान में एकाग्र करने का अमूल्य उपदेश है -

यतो-यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदाएत्ममन्येव वशं नयेत् ॥

(६/२६)

'यह स्थिर और चंचल मन जिस-जिस कारण से संसार में जाय, उससे हटाकर इसे आत्मा में लगावें।'

सुखरूप भासने वाले विषय वासना के प्रलोभन में कदापि न फँसिए मन के विपरीत चलिए। परमात्मा का जो रूप आपको विशेष आकर्षक प्रतीत होता हो, उसी में मन बुद्धि को एकाग्र करने का सतत् अभ्यास करते रहिए। वैराग्य और शुभ चिन्तन के अभ्यास से ही प्रलोभन से मुक्ति मिल सकती है।

वासनाओं को जीतने के लिए आध्यात्मिक चिन्तन

जिन लोगों के मन पर वासनाओं ने अधिकार जमा लिया है और जो इसके फल स्वरूप इन्द्रियों के दास बन चुके हैं, उनका छुटकारा सहज में नहीं होता। वे विषयों की बुराइयाँ जानकर भी निर्बलता अथवा मोह वश उनके फन्दे से नहीं निकल पाते। ऐसे लोगों को निरन्तर सत्संगति और आध्यात्मिक चिन्तन की आवश्यकता पड़ती है। इन वासनाओं में प्राय: काम वासना ही सर्व प्रधान होती है और सबसे पहले उसी के निग्रह की चेष्टा की जानी चाहिए।

स्त्री की प्रतिमूर्ति अथवा स्मरण मन को क्षुब्ध करता है। काम वासना शक्तिशाली होती है। यह एक कुसुम धनुष साथ लेकर चलती है, जिसमें मोहन, स्तम्भन, उन्मादन, शोषण और तपन रूपी पाँच वाण सजे होते हैं। विवेक, विचार, भक्ति और ध्यान इस घोर राग का मूलोच्छेद करते हैं। यदि काम पर विजय प्राप्त हुई तो क्रोध, लोभ आदि जो उसके शस्त्र हैं, आप ही कुण्ठित हो जायेंगे। राग का प्रथम अस्त्र रमणी है। यदि इसे मन से नष्ट किया गया तो इसके अनुवर्ती और परिजन बड़ी आसानी से जीते जायेंगे। यदि सेनापति मारा गया तो सैनिकों को मार डालना आसान हो जायगा। वासना पर विजय प्राप्त करो। फिर क्रोध को जीत लेना आसान हो जायगा, केवल क्रोध ही वासना का अनुवर्ती है।

सैनिक जैसे ही दुर्ग से बाहर निकलें, उन्हें एक-एक करके मार डालो। अन्त में तुम्हारा दुर्ग पर आधिपत्य हो जायगा। इसी प्रकार प्रत्येक संकल्प को जो मन में उठे एक-एक करके नष्ट कर दो। अन्त में तुम्हारा मन पर अधिकार हो जायगा।

विचार, शान्ति, ध्यान और क्षमा के द्वारा क्रोध पर विजय प्राप्त करो। जो मनुष्य तुम्हारी हानि करता हो, उसके ऊपर दया करो और उसे क्षमा कर दो। उलाहने को प्रसाद समझो, उसे आभूषण जानो तथा अमृत तुल्य मानो। भर्त्सना को सह लो। सेवा, दया और ब्रह्मभावना के द्वारा विश्व प्रेम का विकास करो। जब क्रोध पर विजय प्राप्त हो जायगी तो धृष्टता, अहंकार और द्वेष स्वयं ही नष्ट हो जायेंगे। प्रार्थना और भजन से भी क्रोध दूर हो जाता है।

सन्तोष, अभेद, विराग तथा दान के द्वारा लोभ का शमन करो । अभिलाषाओं को मत बढ़ाओ । तुम्हें कभी निराश न होना पड़ेगा । सन्तोष के राज्य के चार सन्तरियों की सहायता से तुम ब्रह्म ज्ञान, जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हो ।

अनुराग के पीछे-पीछे शोक और दु:ख भी लगे रहते हैं । अनुराग शोक से मिश्रित होता है। सुख के पीछे दु:ख चलता है, जहाँ सुख है वहाँ दु:ख भी है । अनुराग के नाम पर मनुष्य दु:ख का विषमय बीज वपन करता है, जिससे शीघ्र ही स्नेह के अंकुर निकल आते हैं, जिसमें बिजली के समान भयानक दाहकता होती है और इन अंकुरों से अनेक शाखाओं से युक्त दु:ख का वृक्ष उत्पन्न होता है, जो ढके हुए घास के ढेर के समान जलते हुए, धीरे-धीरे शरीर को दग्ध कर डालता है । बराबर इस संसार की असारता पर विचार करो । राग से मोह उत्पन्न होता है । यह सभी जानते हैं कि जब किसी मनुष्य की पालतू चिड़िया को बिल्ली खा जाती है तो उसे दु:ख होता है, परन्तु यदि बिल्ली किसी दूसरी गौरैया या चूहे को खाती है, जिससे उसका कुछ सम्बन्ध नहीं होता, तो वह कुछ भी दु:ख प्रकट नहीं करता । अत: तुमको उस अनुराग का मूलोच्छेद करना चाहिए जो व्यर्थ की आसक्ति का कारण होता है । शरीर असंख्यों कीटाणुओं को उत्पन्न करता है, जिसे दूर करने के लिये लोग आतुर होते हैं परन्तु एक को वह बच्चे के नाम से पुकारते हैं जिसके लिए उनका जीवन क्षीण होता है । सांसारिक मोह इसी प्रकार का होता है। अनुराग की गाँठ उस महा मोह से दृढ़ होती है जो मनुष्य के हृदय को चारों ओर से सूत्र के समान ग्रंथित किये हुए हैं । अनुराग से छुटकारा पाने का प्रधान उपाय है यह चिन्तन करना कि यह संसार एक असार वस्तु है । इस महान जगत् में से असंख्य पिता, माता, पति, स्त्री, बच्चे तथा पितामह चले गये । तुम्हें अपनी मित्र मंडली को विद्युत की क्षणिक छटा के समान समझना चाहिए, और इसका अपने मन में पुन:-पुन: चिन्तन करते हुए शान्ति करनी चाहिए ।

मन को शून्य कर दो । शोक के महान आघातों से बचने का एक मात्र यही उपाय है। संकल्प को दबा देना कठिन है और जब वह एक बार दबा दिया जाता है तो संकल्पों की एक नवीन श्रृंखला उत्पन्न होती है जो मन को आक्रान्त कर देती है किसी स्थिर वस्तु के ऊपर चित्त जमाओ । तुम मन को रोकने में सफल होगे । आत्मा में संकल्पों को एकत्र करो, जिस प्रकार ग्रीष्म में मनुष्य पोखर के शीतल जल में जाकर अपने शरीर को ठण्डा करता है। हरि का सतत् ध्यान करो, जो श्याम रंग के हैं तथा जो गले में बहुमूल्य हार धारण करते हैं, एवं भुजाओं, कानों और सिर को आभूषणों से अलंकृत किये हुए हैं ।

जब विषय तुम्हें व्यथित करे, सम्मोहित करे तब विचार विवेक और सात्विक बुद्धि का सदा प्रयोग करो । इन्द्रियों का भान्त करने वाला अहंकार जो मन को आच्छादित करता है, जब विवेक द्वारा नष्ट हो जाता है तो मृगमरीचिका के जल के समान वह अन्य भ्रान्तिजनक पदार्थों में आ जाता है। बार-बार विवेक का आश्रय लो जब तक ज्ञान में तुम्हारी स्थिति न हो जाय । वस्तुत: विवेक की शक्ति महान है ।

जब तुम्हारे संकल्प जो बिखरे हुए हैं, एकत्रित किए जायेंगे और तुम शान्त अवस्था में आओगे तो शाश्वत आत्मा चमक उठेगी, जैसे सूर्य स्वच्छ जल के ऊपर चमकता दीख पड़ता है। शान्ति धन, दारा या भोग में नहीं रहती । जब मन संकल्प हीन हो जाता है तो आत्मा चमक उठती है और शाश्वत आनन्द और शान्ति की वर्षा करती है । फिर तुम बाहरी विषयों में व्यर्थ ही सुख के लिए क्यों भटकते हो ? अन्दर खोजो अपने आनन्द के लिए अपने भीतर सत्‌चित् आनन्द का अमृत आत्मा में ढूँढो ।

आवेशों से बचना आवश्यक है

इन्द्रिय निग्रह का मूल मन्त्र अपने को आवेशों से बचाये रहना है, जिस व्यक्ति के भीतर तरह-तरह के मनोवेगों का तूफान उठता रहता है तो उसका मानसिक सन्तुलन स्थिर नहीं रह सकता और इससे वह इन्द्रियों को वशीभूत रखने में भी असमर्थ हो जाता है । इसीलिए जो लोग इन्द्रियों को संयत रखना चाहें उनको अपने मनोवेगों पर भी सदैव दृष्टि रखना आवश्यक है ।

भूतकाल की बीती हुई दु:खदाई घटनाओं को स्मरण करके कितने ही मनुष्य अपने आप को बेचैन बनाये रहते हैं । किसी प्रिय जन की मृत्यु, पैसे की हानि, अपमान, विछोह आदि की कटु स्मृतियों को वे भुला नहीं पाते और सदा कुढ़ते एवं जलते रहते हैं । इसी प्रकार कितने ही मनुष्य भविष्य की कठिनाइयों को हल करने की चिन्ता में जला करते हैं । लड़की के विवाह के लिए इतना रुपया कहाँ से आवेगा ? बुढ़ापे में क्या खायेंगे ? लड़के कुपात्र निकले तो प्रतिष्ठा कैसे कायम रहेगी ? गरीबी आ गयी तो कैसे बीतेगी ? इतना धन इकट्ठा न हो पाया तो अमुक कार्य कैसे

पूरा होगा ? अमुक ने सहारा न दिया तो कैसी दुर्दशा होगी? अमुक आपत्ति आ गयी तो भविष्य अंधकारमय हो जायगा आदि अनेकों प्रकार के भावी संकटों की चिन्ता में रक्त मांस को सुखाते रहते हैं । भूत का शोक और भविष्य का भय इतना त्रास दायक होता है कि मस्तिष्क का अधिकांश भाग उसी में उलझा रहता है । वर्तमान समय की गुत्थियों को सुलझाने और सामने पड़े हुए कार्य को पूरा करने के लिए शक्तियों का बहुत थोड़ा भाग बचता है । उस बचे खुचे आंशिक मनोबल से जो थोड़ा सा काम हो पाता है, उतने मात्र से व्यवस्था क्रम यथावत नहीं चल सकता। फलस्वरूप गति अवरोध उत्पन्न होकर जीवन की वधिया बैठ जाती है । इस उलझन भरी दशा में किंकर्तव्यविमूढ़ होकर कितने ही मनुष्य आत्म हत्या कर लेते हैं, पागल हो जाते हैं, घरबार छोड़कर भाग जाते हैं या दुःखदायी कार्य कर बैठते हैं, कितने ही घोर निराशावादी या सनकी हो जाते हैं, कितने ही इस अशान्ति के भार से कुछ देर के लिए छूट जाने का सत्यानाशी प्रयत्न करते हैं । आवेशों से मानसिक तन्तुओं को सदा उत्तेजित रखना, अपने आपको जलती मशाल से झुलसाते रहने के समान है । आवेश जीवन की अस्वाभाविक दशा है, उनसे शक्तियों के भयंकर रूप का नाश होता है । डॉक्टरों ने पता लगाया है कि यदि मनुष्य साढ़े चार घंटे लगातार क्रोध से भरा रहे तो लगभग आठ औन्स खून जल जायगा और इतना विष उत्पन्न हो जायगा जितना कि एक तोला कुचला से उत्पन्न होता है । चिन्ता की अधिकता से हड्डियों के भीतर रहने वाली मज्जा सूख जाती है फलस्वरूप निमोनियाँ, इन्फ्लुऐंजा सरीखे रोगों के आक्रमण का अंदेशा बढ़ जाता है । ऐसे लोगों की हड्डियाँ टेढ़ी पड़ जाती हैं और नियत स्थान से ऊपर आ जाती हैं। कनपटी की, गले की, कन्धे की, कान के पीछे की हड्डियाँ यदि ऊपर उभर आयीं हो तो कहा जा सकता है कि वह व्यक्ति चिन्ता में घुला जा रहा है । लोभी और कंजूस को कब्ज की शिकायत बनी रहती है और आये दिन जुकाम बना रहता है । भय और आशंका से जिनका कलेजा कांपता है उनके शरीर में लोहू और क्षार की मात्रा कम हो जाती है । बाल झड़ने लगते हैं और सफेद होने लगते हैं । शोक के कारण नेत्रों की ज्योति क्षीणता, गठिया, स्मरण शक्ति की कमी, स्नायविक दुर्बलता, बहु-मूत्र, पथरी, सरीखे रोग हो जाते हैं । ईर्ष्या द्वेष एवं प्रतिहिंसा की जलन के कारण तपैदिक, दमा, कुष्ठ सरीखी व्याधियाँ उत्पन्न होती देखी गयी हैं । कारण स्पष्ट है, इन मानसिक आवेशों के कारण एक प्रकार का अन्तर्दाह उत्पन्न होता है । अग्नि जहाँ रहती है वहाँ जलाती है। अन्तर्दाह की अग्नि में जीवन के उपयोगी तत्व ईधन की भाँति जलते रहते हैं, जिससे देह भीतर खोखली हो जाती है। जहाँ अग्नि जलती है, वहाँ ऑक्सीजन खर्च होती है, और कार्बन गैस उत्पन्न होती है। अन्तर्दाह की प्रक्रिया से भी अनेकों विष उत्पन्न हो जाते हैं, जिनके कारण शरीर तरह-तरह के रोगों का घर बन जाता है और कुछ ही समय में इतना सड़ गल जाता है कि जीवात्मा को असमय में ही उसे छोड़कर भागने के लिए विवश होना पड़ता है।

आवेशों का तूफान न शारीरिक स्वास्थ्य को कायम रहने देता है और न मानसिक स्वास्थ्य को । वैद्य को नाड़ी पकड़ने से चाहे कोई रोग भले ही न मालूम पड़े, पर वस्तुतः आवेश की अवस्था में जीवन की उतनी ही क्षति होती रहती है, जितनी कि बड़े-बड़े भयंकर रोगों के समय होती है। यह सर्वविदित है कि रोगी मनुष्य शारीरिक दृष्टि से एक प्रकार का अपाहिज बन जाता है । वह चाहता है कि काम करूँ लेकिन होता कुछ नहीं । जरा देर काम करने पर थक कर चूर हो जाता है, मन वहाँ जमता ही नहीं, काम को छोड़ कर लेट जाने या कहीं चले जाने की तबियत करती है, करता कुछ है किन्तु हो कुछ जाता है, जरा देर के काम में काफी समय खर्च हो जाता है, सो भी ठीक तरह होता नहीं, जब निरीक्षण किया जाता है तो भूल पर भूल निकलती है । आवेश में भरा हुआ मनुष्य आधा पागल बन जाता है, वह कभी सर्प की तरह फुसकारता है, कभी व्याघ्र की तरह मुँह फाड़ कर खाने को दौड़ता है, कभी ऐसा दीन और कातर हो जाता है कि विलाप करने, रोने, विरक्त बनने, आत्महत्या करने के अतिरिक्त और कुछ सूझ ही नहीं पड़ता । मेरे इस आचरण का भविष्य में क्या परिणाम होगा यह सोचने में उसकी बुद्धि बिल्कुल असमर्थ हो जाती है ।

जीवन को समुन्नत दिशा की ओर ले जाने के लिए यह आवश्यक है कि विवेक बुद्धि ठीक प्रकार काम करे, विवेक बुद्धि की स्थिरता के लिए निराकुलता आवश्यक है । दर्पण या पानी में प्रतिविम्ब तभी दिखाई पड़ सकता है जब वह स्थिर हो । यदि दर्पण या पानी हिल रहा हो तो उसमें प्रतिबिम्ब भी ठहर न सकेगा । मस्तिष्क में जब उफान आ रहे हों तो विवेक स्थिर नहीं रह सकता । ठीक पथ प्रदर्शन कराने वाली बुद्धि तभी उद्भूत होगी जब मन शान्त हो, स्थिर हो, निराकुल हो । किसी काम की अच्छाई

बुराई, हानि, लाभ, सुविधा, कठिनाई आदि की ठीक-ठीक कल्पना करने और अनेक दृष्टियों से विचार करके किसी अन्तिम निर्णय पर पहुँचने की क्षमता रखने वाला विवेक तभी मस्तिष्क में रह सकता है जब आवेशों में उद्विग्नता न हो। जो कार्य भले प्रकार आगा पीछा सोच कर आरम्भ किये जाते हैं जोश और उतावली में बिना बिचारे जिन कार्यों को आरम्भ किया जाता है, प्रायः उन्हें बीच में ही छोड़ने को विवश होना पड़ता है ।

अध्यात्म विद्या के प्रायः सभी ग्रन्थों में मन को रोकने, चित्त वृत्तियों को एकाग्र करने, मन को वश में करने का पग-पग पर आदेश किया है । अनेकों साधनाऐं मन को वश में करने की बताई गयी हैं । यह मन को वश में करना और कुछ नहीं 'निराकुलता' ही है । दुःख-सुख, हानि-लाभ जय-अजय के कारण उत्पन्न होने वाले आवेशों से बचना ही योग की सफलता है । गीता कहती है-

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
सम दुःखं सुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ २-१५ ॥
सुखे दुःखे समे कृत्वा लाभा लाभौ जयाजयौ ॥ ३-३८ ॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनः सुखेषु बिगतस्पृहः ।
वीतराग भय क्रोधस्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ २-५६
न प्रहष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्यचाप्रियम् ।
स्थिर बुद्धिरसं मूढो ब्रह्मविद ब्रह्मणि स्थितः ॥ ५-२० ॥

आदि अनेक स्थलों पर निराकुलता को योग की सफलता बताया गया है । आवेश सुख प्रधान और दुःख प्रधान दोनों प्रकार के हैं । शोक, हानि, विछोह, रोग, दंड, भय, विपत्ति, मृत्यु, क्रोध, अपमान, कायरता आदि हानि प्रधान आवेश है कुछ आवेश लाभ प्रधान भी होते हैं। लाभ, सम्पत्ति, मिलन, कुटुम्ब, बल, सत्ता, पद, धन, मैत्री, विद्या, बुद्धि, कला, विशेषता आदि के कारण एक प्रकार का नशा चढ़ आता है । इस प्रकार की कोई सम्पत्ति जब बड़ी मात्रा में यकायक मिल जाती है तब तो मनुष्य हर्षोन्मत हो जाता है । उसकी दशा अर्ध विक्षिप्त जैसी हो जाती है। सुख के मारे लोग फूले नहीं समाते, वे कस्तूरी हिरन की तरह इधर-उधर दौड़े फिरते हैं, चित्त बल्लियों उछलने लगता है । जब कोई सम्पत्ति स्थाई रूप से मिल जाती है तो उसका अहंकार चढ़ आता है, उसे ऐसा मालूम पड़ता है मानो मैं साधारण मनुष्यों की अपेक्षा सैकड़ों गुना भारी हूँ । वैभव के मद में वह इतराता है दूसरों का अपमान करके अपनी महत्ता का प्रदर्शन करता है ।

ऐसे अहंकार के नशे में मदहोश पड़े हुए लोगों को अपनी ग्रेस्टिज-पोजीशन-मान-बड़ाई-बड़प्पन-खातिर की बड़ी चिन्ता रहती है। इसके लिए हर काम में बहुत अधिक फिजूल खर्ची की सामग्री को जुटाने के लिए अनुचित साधन जुटाने पड़ते हैं, अनेकों प्रकार की बुराई ओढ़नी पड़ती है। इस प्रकार एक तो अहंकार के नशे की जलन, दूसरे उस नशे को बनाये रहने के साधनों की चिन्ता, दोनों प्रकार की आकुलतायें मन में कुहराम मचाये रहती हैं । दुःख प्रधान आवेशों से अन्तःकरण में जैसी अशान्ति रहती है वैसी ही सुख प्रधान आवेशों में भी उत्पन्न हो जाती है। इन दोनों से ही बचना आवश्यक है । दोनों से ही स्वास्थ्य एवं विवेक की क्षति होती है गीता आदि शास्त्रों में इसीलिए दोनों प्रकार के आवेशों-द्वन्दों से दूर रहने का जोरों से प्रतिपादन किया गया है ।

जीवन को सम्मुनत देखने की इच्छा करने वालों के लिए आवश्यक है कि अपने स्वभाव को गम्भीर बनावें । उथलेपन, लड़कपन, छिछोरेपन की जिन्हें आदत पड़ जाती है वे गहराई के साथ किसी विषय में विचार नहीं कर सकते । किसी समय मन को गुदगुदाने के लिए बाल क्रीड़ा की जा सकती है, पर वैसा स्वभाव न बना लेना चाहिए, आवेशों से बचे रहने की आदत बनानी चाहिए, जैसे समुद्र तट पर रहने वाले पर्वत नित्य टकराते रहने वाली समुद्र की लहरों की परवाह नहीं करते । इसी प्रकार अपने को भी उद्वेगों की उपेक्षा करनी चाहिए । खिलाड़ी खेलते हैं, कई बार हारते हैं, कई बार जीतते हैं, कई बार हारते हारते जीत जाते हैं, कई बार जीतते जीतते हार जाते हैं । कभी कभी बहुत देर हार जीत के झूले में यों ही झूलते रहते हैं । परन्तु कोई खिलाड़ी उसका अत्यधिक असर मन पर नहीं पड़ने देता । हारने का कोई सिर धुन कर क्रन्दन नहीं करता और जीतने पर न कोई अपने को बादशाह मान लेता है । हारने वालों के होंठों पर झेंप भरी मुस्कुराहट रहती है और जीतने वाले के होठों पर जो मुस्कुराहट रहती है उसमें सफलता की प्रसन्नता मिली होती है । इस थोड़े से स्वाभाविक भेद के अतिरिक्त और कोई विशेष अन्तर जीते हुए तथा हारे हुए खिलाड़ी में नहीं देख पड़ता, विश्व के रंगमंच पर हम सब खिलाड़ी हैं । खेलने में रस है, वह रस दोनों दलों को समान रूप से मिलता है। हार जीत तो उस रस की तुलना में नगण्य चीज है।

मनोवृत्तियों का सदुपयोग

इस प्रकार के हानिकारक आवेशों से मुक्त रहकर यदि मनोवृत्तियों का उपयोग किया जाय तो वे हानि पहुँचाने की बजाय हितकर ही सिद्ध होंगी। सर्वथा संसार त्यागियों की तो बात छोड़ दीजिए पर अधिकांश मनुष्यों को जो संसार में रहते हैं और जिनको भली बुरी सभी परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है, सभी मनोवृत्तियों से काम लेना आवश्यक होता है। इसलिए हमारा कर्तव्य यही है कि अपनी मनोवृत्तियों और इन्द्रियों को ऐसी ही सधी हुई अवस्था में रखें।

मनुष्य की जो मनोवृत्तियाँ जन्म से ही दी गयी हैं, वे सब उपयोगी एवं महत्वपूर्ण हैं। यदि उनको ठीक प्रकार से प्रयोग में लाया जाय तो प्रत्येक व्यक्ति अत्यन्त सुख शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत कर सकता है। हम देखते हैं कि दुर्भाग्यवश लोग उनका सदुपयोग करना नहीं जानते और उन्हें बुरे मार्ग से खर्च करके अपने लिए तथा दूसरों के लिए दुःखों की सृष्टि करते हैं।

हम देखते हैं कि कई मनोवृत्तियों की संसार में निन्दा होती है। कहा जाता है कि यह बातें पाप और दुःख की जड़ हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि को जी भर कोसा जाता है और कहा जाता है कि इन्हीं के कारण संसार में अनर्थ हो रहे हैं। इस प्रकार के कथन किस हद तक सही हैं इसका विचारवान पाठक स्वयं निर्णय कर सकते हैं।

यदि काम बुरी वस्तु है, त्याज्य है, पापमूलक है तो उसका उपयोग न तो सत्पुरुषों को ग्राह्य हो सकता था और न बुरी बात का अच्छा परिणाम निकल सकता था। परन्तु इतिहास दूसरी ही बात सिद्ध करता है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश विवाहित जीवन व्यतीत करते हैं, व्यास, अत्रि, गौतम, वशिष्ठ, विश्वामित्र, याज्ञवल्क्य, भारद्वाज, च्यवन आदि प्रायः सभी प्रधान ऋषि सपत्नीक रहते थे और संतानोत्पादन करते थे। दुनियाँ में असंख्य पैगम्बर, ऋषि, अवतार, महात्मा, तपस्वी, विद्वान, महापुरुष हुए हैं, यह सब किसी न किसी माता पिता के संयोग से ही उत्पन्न हुए थे, यदि काम सेवन बुरी बात है तो उसके द्वारा उत्पन्न हुए बालक भी बुरे ही होने चाहिए। बुरे से अच्छे की सृष्टि कैसे हो सकती है ? कालोंच से सफेदी कैसे निकल सकती है? इन बातों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि 'काम' स्वयं कोई बुरी वस्तु नहीं है। परमात्मा ने अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति 'मनुष्य' में कोई बुरी बात नहीं रखी, काम भी बुरी बात नहीं है, बुरा केवल काम का दुरुपयोग है। दुरुपयोग करने से तो अमृत भी विष बन सकता है। पेट की सामर्थ्य से अधिक अमृत पीने वाले को भी दुःख ही भोगना पड़ेगा।

क्रोध के ऊपर विचार कीजिए। क्रोध एक प्रकार की उत्तेजना है जो आक्रमण करने से पूर्व, छलांग मारने से पूर्व, आनी अत्यन्त आवश्यक है। लम्बी छलांग कूदने वाले को पहले कुछ दूर से दौड़कर आना होता है, तब वह लम्बा कूद सकता है। यदि यों ही शान्त खड़ा हुआ व्यक्ति अचानक छलांग मारना चाहे तो उसे बहुत कम सफलता मिलेगी। अपने भीतर घुसी हुई तथा फैली हुई बुराइयों से लड़ने के लिए एक विशेष उत्साह की आवश्यकता होती है और वह उत्साह क्रोध द्वारा आता है। यदि क्रोध तत्व मानव वृत्ति में से हटा दिया जाय तो बुराइयों का प्रतिकार नहीं हो सकता। रावण, कंस, दुर्योधन, हिरण्यकशिपु, महिषासुर जैसों के प्रति यदि क्रोध की भावनायें न उत्पन्न होतीं तो उनका वध कैसे होता ? भारत में यदि अंग्रेजों के विरुद्ध व्यापक क्रोध न उभरता तो भारत माता आज स्वाधीन कैसे हुई होती ? अत्याचारियों के विरुद्ध क्रोध न आता तो परशुराम कैसे अपना फरसा संभालते ? महारानी लक्ष्मीबाई, महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी जैसे आदर्श नर रत्नों की सृष्टि होती ? अधर्म की बढ़ोत्तरी से कुपित होकर ही भगवान पापों का संहार करते हैं। इससे प्रकट है कि क्रोध बुरा नहीं है।

लोभ को लीजिए ! उन्नति की इच्छा का नाम ही लोभ है। स्वास्थ्य, विद्या, धन, प्रतिष्ठा, पुण्य, स्वर्ग, मुक्ति आदि का लोभ ही मनुष्य को क्रियाशील बनाता है। यदि लोभ न हो तो न किसी प्रकार की इच्छा ही उत्पन्न होगी और इच्छा के अभाव में उन्नति के लिए प्रयास करना भी न हो सकेगा। फलस्वरूप मनुष्य भी कीट पतंगों की तरह भूख और निद्रा को पूर्ण करते हुए जीवन समाप्त कर ले। लोभ उन्नति का मूल है। पहलवान, विद्यार्थी, व्यापारी, किसान, मजदूर, लोकसेवी, पुण्यात्मा, ब्रह्मचारी, तपस्वी, दानी, सत्संगी, योगी आदि सभी अपने दृष्टिकोण के अनुसार लोभी हैं, जिसे जिस वस्तु की आवश्यकता है, जो जिस वस्तु का संचय करने में लगा हुआ है उसे उस विषय का लोभी कहा जा सकता है। अन्य लोभों की भाँति धन का लोभ भी बुरा नहीं है। यदि बुरा है तो भामाशाह का जमना लाल बजाज का धन संचय भी बुरा कहा जाना चाहिए, परन्तु हम देखते हैं कि इनके धन संचय के द्वारा संसार का

बड़ा उपकार हुआ। और भी अनेकों ऐसे उदार पुरुष हुए हैं जिन्होंने अपने धन को सत्कार्य में लगाकर अपनी कमाई को सार्थक बनाया ऐसे लोभ में और निर्लोभता में कोई अन्तर नहीं है। निन्दा तो उस लोभ की जाती है जिसके कारण अनीति पूर्वक अनुचित धन संचय करके उसकी कुवासनाओं की पूर्ति में व्यय किया जाता है जोड़ जोड़ कर अनुपयुक्त अधिकारी के लिए छोड़ा जाता है। लोभ का दुरुपयोग ही बुरा है, वस्तुतः लोभ वृत्ति की मूल भूत रूप में निन्दा नहीं की जा सकती।

मोह का प्रकरण भी ऐसा ही है। यदि प्राणी निर्मोही हो जाय तो माताएँ अपने बच्चे को कूड़े करकट के ढेर में फेंक आया करें, क्योंकि इन बालकों से उनको लाभ तो कुछ नहीं, उल्टी हैरानी ही होती है। फिर मनुष्य तो यह भी सोचले कि बड़ी होने पर हमारी सन्तान हमें कुछ लाभ देगी, पर बेचारे पशु पक्षी तो यह भी नहीं सोचते, उनकी सन्तान तो बड़ी होने पर उन्हें पहिचानती तक नहीं फिर सेवा का तो प्रश्न ही नहीं उठता। रक्षा की सभी क्रियायें मोह के कारण होती हैं। शरीर का मोह, यश का मोह, प्रतिष्ठा का मोह, कर्तव्य का मोह, स्वर्ग का मोह, साधन सामग्री का मोह, यदि न हो तो निर्माण उत्पादन न हो और रक्षा की व्यवस्था भी न की जा सके। ममता का भाव न रहे तो "मेरा कर्तव्य" भी न सोचा जा सकेगा "मेरी मुक्ति-मेरा कल्याण" भी कौन सोच सकेगा ? अपनी संस्कृति, अपनी देश भक्ति को भी लोग भुला देंगे। एक दूसरे के प्रति प्रेम का बन्धन कायम न रह सकेगा और सब लोग आपस में उदासीन की तरह रहा करेंगे। क्या ऐसा नीरस जीवन जीना कोई मनुष्य पसन्द कर सकता है? कदापि नहीं। मोह एक पवित्र श्रंखला है जो व्यष्टि को समष्टि के साथ, व्यक्ति को समाज के साथ, मजबूती से बाँधे हुए है। यदि यह कड़ी टूट जाय तो विश्व मानव की सुरम्य माला के सभी मोती इधर-उधर बिखर कर नष्ट हो जायेंगे। मोह का अज्ञान जनित रूप ही त्याज्य है उसके दुरुपयोग की ही भर्त्सना की जाती है।

इसी प्रकार मद मत्सर अहंकार आदि निंदित वृतियों के बारे में समझना चाहिये। परमात्मा के प्रेम में झूम जाना सात्विक मद है, क्षमा करना, भूल जाना अनावश्यक बातों की ओर से उपेक्षा करना एक प्रकार का मत्सर है। आत्म ज्ञान को, आत्मानुभूति को, आत्म गौरव को अहंकार कहा जा सकता है। इस रूप में यह वृतियाँ निन्दित नहीं है। इनकी निन्दा तब की जाती है जब यह संकीर्णता पूर्वक तुच्छ स्वार्थों के लिए स्थूल रूप में प्रयुक्त होती हैं।

मानव प्राणी प्रभु की अद्भुत कृति है, इसमें विशेषता ही विशेषता भरी है, निन्दनीय एक भी वस्तु नहीं है। इन्द्रियाँ अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग हैं उनकी सहायता से हमारे आनन्द में वृद्धि होती है तथा उन्नति में सहायता मिलती है, पुण्य परमार्थ का लाभ होता है। पर यदि इन इन्द्रियों को उचित रीति से प्रयुक्त न करके उनकी सारी शक्ति अत्यधिक, अमर्यादित भोग भोगने में खर्च कर डाली जाय तो इससे नाश ही होगा, विपत्तियों की उत्पत्ति ही होगी। इस प्रकार काम, क्रोध, मोह आदि की मनोवृत्तियाँ परमात्मा ने आत्मोन्नति तथा जीवन की सुव्यवस्था के लिए बनाई हैं, इनके सदुपयोग से हम विकास पथ पर अग्रसर होते हैं। इनका त्याग, पूर्ण रूप से नहीं हो सकता, जो इनको नष्ट करने या पूर्णतया त्याग करने की सोचते हैं, वे ऐसा ही सोचते हैं जैसे कि आँख, कान, हाथ, पांव आदि काट देने से पाप न होंगे या सिर काट देने से बुरी बातें न सोची जायेंगी। ऐसे प्रयत्नों को बाल बुद्धि का उपहासास्पद कृत्य ही कहा जा सकेगा। प्रभु ने जो हमें शारीरिक और मानसिक साधन दिये हैं वे उसके श्रेष्ठ वरदान हैं, उनके द्वारा हमारा कल्याण ही होता है। विपत्ति का कारण तो हमारा दुरुपयोग है। हमें चाहिए कि अपने प्रत्येक शारीरिक और मानसिक औजार के ऊपर, अपना पूर्ण नियन्त्रण रखें, उनसे उचित काम लें, उनका सदुपयोग करें। ऐसा करने से जिन्हें आज निन्दित कहा जाता है, शत्रु समझा जाता है, कल वे ही हमारे मित्र बन जाते हैं। स्मरण रखिये, कि प्रभु ने हमें श्रेष्ठ तत्वों से बनाया है, यदि उनका दुरुपयोग न किया जाय तो जो कुछ हमें मिला हुआ है हमारे लिए सब प्रकार श्रेयस्कर ही है। रसायन शास्त्री जब विष का शोधन-मारण करके उससे अमृतोपम ओषधि बना लेते हैं तो कोई कारण नहीं कि विवेक द्वारा वह अमूल्य वृत्तियाँ जो आमतौर से निंदित समझी जाती हैं, सत्परिणाम उत्पन्न करने वाली न बन जायें।

इन्द्रिय-संयम और अस्वाद व्रत

अस्वाद का अर्थ है स्वाद का गुलाम न होना। अस्वाद का यह अर्थ नहीं है कि हम संसार के भोग्य पदार्थों का सेवन न करें, या षट रसों का पान न करें या जिह्वा की रस-ज्ञान की शक्ति को खो दें। अस्वाद व्रत ऐसा नहीं कहता, वह तो कहता है कि शरीर के पोषण, स्वास्थ्य तथा रक्षा के लिए जिन-जिन पदार्थों की आवश्यकता हो उनका

अवश्य सेवन करो परन्तु कभी जीभ के चोचले पूरा करने के लिए किसी वस्तु का सेवन न करो। दूसरे स्पष्ट शब्दों में जिह्वा के गुलाम न बनो, उसके ऊपर सदैव अपना स्वामित्व कायम रखो। ऐसे रहो कि वह तुम्हारे आदेश पर चले। ऐसा न हो कि तुम ही उसके संकेतों पर नाचने लगो। विनोबा जी के सुन्दर शब्दों में जीभ की स्थिति चम्मच जैसी हो जानी चाहिए ''चम्मच से चाहे हलुआ परोसो, चाहे दाल-भात, उसे उसका कोई सुख-दुःख नहीं।''

हनुमान जी के भक्तों ने बहुत बार कथा सुनी होगी कि एक दफा विभीषण भगवान राम के पास आये और कहने लगे कि ''प्रभु ! लौकिक तथा पार लौकिक सफलता का साधन क्या है ?'' भगवान ने कहा कि ''यह तो बड़ा सरल प्रश्न है, इसको तो तुमको हनुमानजी से ही पूछ लेना चाहिए था'' और यह कहकर उन्हें हनुमान जी के पास भेज दिया। विभीषण ने जब हनुमान जी के पास जाकर पूछा तो उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया पर अपने हाथ से अपनी जीभ को पकड़ कर बैठ गये। विभीषण के कई बार कहने पर भी जब हनुमान कुछ न बोले तो विभीषण नाराज होकर भगवान के पास फिर वापस गये और बोले ''भगवान आपने मुझे कहाँ भेज दिया ?'' भगवान ने कहा कि ''क्या हनुमान जी ने तुम्हारे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया ?'' विभीषण बोले प्रभु ! वह क्या उत्तर देंगे ? मैंने उनसे कई बार पूछा पर उन्होंने कोई उत्तर तो दिया नहीं बल्कि अपने हाथ से अपनी जीभ को पकड़ कर बैठ गये, भगवान बोले- विभीषण हनुमान जी ने सब कुछ तो बतला दिया और क्या कहते ? तुम्हारे प्रश्न का केवल यही उत्तर है कि अपनी जीभ को अपने वश में रखो। यही लौकिक और पार लौकिक सफलता का सबसे सुन्दर साधन है।

श्री महादेव गोविन्द रानाडे के जीवन की एक घटना इस अस्वाद व्रत के सही रूप को समझने में हमें बड़ी मदद देगी। कहते हैं कि एक दिन किसी मित्र ने उनके यहाँ कुछ बहुत स्वादिष्ट आम भेंट में भेजे। उनकी चतुर पत्नी ने उनमें से एक आम को धोकर, ठण्डा करके, बनाकर एक तश्तरी में उनके सामने रखा। रानाडे ने उसमें से एक दो टुकड़े खाकर आम की प्रशंसा करते हुए वह तश्तरी अपनी पत्नी को वापिस कर दी और कहा कि अब यह तुम खाना और बच्चों को देना। पत्नी ने उत्तर दिया कि उसके और बच्चों के लिए तो और आम हैं तो रानाडे बोले कि फिर नौकरों को दे देना। पत्नी बोली- नौकरों के लिए भी और आम हैं, आप सब खा लीजिए, जब इस पर भी रानाडे आम खाने को तैयार न हुए तो पत्नी ने कहा कि क्या आम अच्छे नहीं हैं ? रानाडे बोले कि आम तो इतने मीठे और स्वादिष्ट हैं कि मैंने अपने जीवन में इससे पहले इतने स्वादिष्ट आम कभी खाये नहीं। फिर पत्नी ने पूछा ''आपका स्वास्थ्य तो ठीक है ? रानाडे बोले मेरा स्वास्थ्य आज इतना अच्छा है कि कभी नहीं रहा। तब पत्नी ने कहा कि आप भी अजीब बात करते हैं, आम को भी स्वादिष्ट बताते हैं और फिर भी कहते हैं कि अब और न खाऊँगा। रानाडे हँसे और बोले कि आम बहुत सुन्दर और स्वादिष्ट हैं इसलिए अब और न खाऊँगा। ऐसा मैं क्यों कर रहा हूँ, उसका कारण सुनो- बात यह है कि बचपन में जब मैं बम्बई में पढ़ता था, तब मेरे पड़ौस में एक महिला रहती थी। वह पहले एक धनी घराने की सदस्य रह चुकी थी। परन्तु भाग्य के फेर से अब उसके पास वह धन नहीं था, पर इतनी आय थी कि वह और उसका लड़का दोनों भली प्रकार भोजन कर सकें और अपना निर्वाह कर सकें। वह महिला बड़ी दुखी रहती और प्रायः रोया करती थी। एक दिन जब मैंने जाकर उससे उसके दुःख का कारण पूछा तो उसने अपना पहिला वैभव बतलाते हुए कहा कि मेरे दुख का कारण मेरी जीभ का चटोरापन है, बहुत समझाती हूँ फिर भी दुखी रहती हूँ। जिस जमाने में मैं स्वादिष्ट पदार्थ खाती थी, प्रायः रोगी रहा करती थी, ओषधियों की दासी बनी हुई थी। अब जब से वह पदार्थ नहीं मिलते बिल्कुल स्वस्थ्य रहती हूँ किसी भी ओषधि की शरण नहीं लेनी पड़ती। मन को बहुत समझाती हूँ कि अब नाना प्रकार के साग, अचार, मुरब्बे, सोंठ, चटनी, रायते, मिठाइयों और पकवानों के दिन गये। अब उनका स्मरण करने से कोई फायदा नहीं फिर भी जीभ मानती नहीं है। मेरा बेटा रूखी सूखी खाकर पेट भर लेता है और आनन्दित रहता है। क्योंकि उसने वह दिन देखे नहीं। वह जिह्वा का गुलाम नहीं हुआ है, परन्तु मेरा दो तीन साग बनाये बिना पेट नहीं भरता। रानाडे ने कहा जब से मैंने उस महिला की बात सुनी और उसकी वह दशा देखी तभी से मैंने यह नियम बना लिया कि जीभ जिस पदार्थ को पसन्द करे उसे बहुत थोड़ा खाना, जीभ के वश में न होना, क्योंकि यह आम जीभ को बहुत अच्छा लगा इसलिए मैं अब और नहीं खाऊँगा।

किसी वस्तु के खाने से पहले अपने आपसे प्रश्न कीजिए कि उस समय उस वस्तु का खाना आपके लिए आवश्यक है या नहीं, अथवा उस वस्तु के खाये बिना आप

रह सकते हैं या नहीं। यदि उत्तर मिले कि नहीं रह सकते, तो उस वस्तु को अवश्य खाइये अन्यथा नहीं।

इस साधन को अपनाने में आपको शारीरिक, आर्थिक या सामाजिक किसी प्रकार की भी हानि नहीं होगी। इसके विपरीत इन तीनों दशाओं में भी आपको लाभ ही लाभ होगा। ''भोग और स्वाद का आनन्द तो पशु भी लेते हैं और आपको भी इसका आनन्द लेते न जाने कितना समय बीत गया, अब त्याग और अस्वाद का आनन्द भी देख लीजिये।

यदि किसी समय आपको इस कल्याण मार्ग को अपनाने की प्रेरणा मिले तो आप सबसे प्रथम भोजन में से खोआ, मैदा, बेसन से बनी हुई चीजों का त्याग कर दीजिए। यदि आपको परमार्थिक या धार्मिक जीवन की ओर रुचि न भी हो तब भी इस साधन को अपनाने में आपके स्वास्थ्य को बड़ा लाभ पहुँचेगा। पढ़े लिखे व्यक्तियों में आजकल जितने रोग हैं उन सबके पीछे उपरोक्त वस्तुओं की भोजन में प्रधानता होना ही मुख्य कारण है।''

अस्वाद व्रत द्वारा यदि आपने प्रयास किया और निरन्तर अभ्यास करते रहे तो आप अवश्य बुद्धि योग के द्वारा ज्ञान, भक्ति या कर्म किसी भी योग को करके सच्चा सुख और शान्ति प्राप्त करते हुए अपने वास्तविक, सत्यं, शिवं, सुन्दरम् स्वरूप को प्राप्त हो जायेंगे।

इन्द्रिय-संयम और ब्रह्मचर्य व्रत

ब्रह्मचर्य व्रत की महिमा सर्व विदित है। इसकी शक्ति अमोघ मानी गयी है, और आज संसार में जितने व्यक्तियों ने महान और उपयोगी काम कर दिखाये हैं वे किसी न किसी रूप में ब्रह्मचर्य के अनुगामी थे। जैसा अनेक बार बतलाया जा चुका है, ब्रह्मचर्य का मतलब यह नहीं कि काम वृत्ति का सर्वथा परित्याग ही कर दिया जाय। उचित अवस्था प्राप्त होने पर शास्त्रों की मर्यादा के अनुसार उसको प्रयोग करना किसी ने बुरा नहीं बतलाया। इतना ही नहीं शास्त्रकारों ने तो उस गृहस्थ को भी ब्रह्मचारी ही बतलाया है जो केवल अपनी स्त्री तक सीमित रह कर नियमानुकूल आचरण करता है।

ब्रह्मचर्य का विश्लेषण करने पर तीन तत्व मिलते हैं-

(१) आत्मसंयम-ब्रह्मचर्य यथार्थ में शक्ति संयम ही है।

(२) सादगी-भोजन, वेश तथा जीवन के प्रत्येक अंग में, दैनिक जीवन की हर एक बात में सादगी रखना, इसी की युवकों को जरूरत है। जो लोग जरूरतों के बढ़ाने ही को सभ्यता का अर्थ समझते हैं, उनसे मैं सहमत नहीं, सच्ची सभ्यता सादगी में है, न कि संग्रह में।

(३) विचार शक्ति-ब्रह्मचर्य एक आन्तरिक शक्ति है। विचार शक्ति का विकास किस प्रकार हो सकता है, सादगी का जीवन किस प्रकार आचरण में लाया जा सकता है, तथा आत्मसंयम या आत्मशक्ति किस प्रकार बढ़ सकती है। इन बातों का विवेचन पर्याप्त किया जा चुका है, तो भी कुछ ऐसे साधन और अभ्यास है, जिन्हें ब्रह्मचर्य भाव की वृद्धि के लिये पालन करना आवश्यक है।

प्राचीन और आधुनिक में जो बड़ा भारी भेद है, वह है ब्रह्मचर्य और भोग का। वर्तमान आदर्शों के आन्तरिक महत्व को मैं नहीं भुलाता। आजकल के वैज्ञानिक विवेचन आलोचनात्मक भाव तथा राजनीतिक स्वतंत्रता की भावनाओं का मैं अनादर नहीं करता। किन्तु आधुनिक सभ्यता की इन आन्तरिक और गूढ़तर भावनाओं पर हमारी शालाओं में आजकल जोर नहीं दिया जाता। वहाँ तो आधुनिक सभ्यता के ऊपरी पहलू और गलत भावनाओं और दुर्गुणों ही पर दृष्टि रखी जाती है। नवयुवक भोग के पीछे दौड़ रहे हैं। वे भूल जाते हैं कि सभ्यता का अर्थ जरूरतों की बढ़ोत्तरी या कामनाओं का संग्रह नहीं, किन्तु उनकी सादगी है। वे नहीं समझते कि मनुष्यता का नियम आत्म भोग नहीं, किन्तु आत्म संयम है। प्राचीन भारत ने यह अनुभव किया था कि मनुष्य भोग विलासी जानवर नहीं, किन्तु वह एक दिव्य पुरुष है, जो कि आत्म संयम और आत्म तपस्या के द्वारा अपनी दिव्य मनुष्यता का अनुभव प्राप्त करना चाहता है। प्राचीन आदर्श ब्रह्मचर्य था, वर्तमान आदर्श बहुतों की दृष्टि में भोग चर्या जान पड़ता है। वे आराम तलबी और विलासिता चाहते हैं, पर हिन्दू शास्त्रों के अनुसार तपस्या ही सभ्यता और सृष्टि की आधार शिला है।

संयम और सदाचार की महिमा

अपने जीवन को शुद्ध और समृद्ध बनाने की साधना जिन्होंने की है, वे अनुभव से कहते आये हैं कि 'अहारशुद्धो सत्वशुद्धिः'। इस सूत्र के दो अर्थ हो सकते हैं, क्योंकि सत्य के दो माने हैं-शरीर का संगठन और चारित्र्य। अगर आहार शुद्ध है, याने स्वच्छ है, ताजा है,

परिपक्व है, सुपाच्य है, प्रमाणयुक्त है और उसके घटक परम्परानुकूल हैं तो उसके सेवन से शरीर के रक्त, मज्जा, शुक्र आदि सब घटक शुद्ध होते हैं। वात, पित्त, कफ आदि की साम्यावस्था रहती है और सप्तधातु परिपुष्ट होकर शरीर सुदृढ़, कार्यक्षम तथा सब तरह के आघात सहन करने के योग्य बनता है और इस आरोग्य का मन पर भी अच्छा असर होता है।'आहारशुद्धिः'का दूसरा और व्यापक अर्थ यह है कि आहार यदि प्रामाणिक है, हिंसाशून्य है, और यज्ञ, दान, तप का फर्ज अदा करने के बाद प्राप्त किया गया है तो उससे चारित्र्य शुद्धि में पूरी-पूरी मदद मिलती है। चारित्र्य शुद्धि का आधार इस प्रकार की आहार शुद्धि पर ही निर्भर है।

अगर यह बात सही है, आहार का चरित्र पर इतना असर है तो बिहार का याने लैंगिक शुद्धि का चरित्र पर कितना प्रभाव हो सकता है, इसका अनुमान करना कठिन नहीं होना चाहिए।

जिसे हम काम विकार कहते हैं अथवा लैंगिक आकर्षण कहते हैं वह केवल शारीरिक भावना नहीं है, मनुष्य के सारे के सारे पहलू उसमें उत्तेजित हो जाते हैं, और अपना काम करते हैं। इसलिये जिसमें शरीर, मन, हृदय की भावनायें और आत्मिक निष्ठा सब का सहयोग अपरिहार्य है, ऐसी प्रवृत्ति का विचार एकांगी दृष्टि से नहीं होना चाहिए। जीवन के सार्वभौम और सर्वोत्तम मूल्य से ही उसका विचार करना चाहिए। इस आचरण में शारीरिक प्रेरणा के वश होकर बाकी के सब तत्वों का अपमान किया जाता है, वह आचरण समाज द्रोह तो करता ही है लेकिन उससे भी अधिक अपने व्यक्तित्व के प्रति महान द्रोह करता है।

लोग जिसे वैवाहिक प्रेम कहते हैं, उसके तीन पहलू हैं। एक भोग से सम्बन्ध रखता है, दूसरा प्रजा तन्तु से और तीसरा भावना की उत्कटता से। पहली प्रधानता शारीरिक है, दूसरी मुख्यतः सामाजिक और व्यापक अर्थ में आध्यात्मिक। यह तीसरा तत्व सबसे महत्व का सार्वभौम है और उसी का असर जब पहले दोनों के ऊपर पूरा-पूरा पड़ता है, तभी वे दोनों उत्कट, तृप्तिदायक और पवित्र बनते हैं।

इन तीन तत्वों में से पहला तत्व बिल्कुल पार्थिव होने से उसकी स्वाभाविक मर्यादाएँ भी होती हैं, भोग से शरीर क्षीण होता है। अति सेवन से भोग शक्ति भी क्षीण होती है और भोग भी नीरस हो जाते हैं। भोग से संयम का प्रमाण जितना अधिक होगा उतनी ही अधिक उसकी उत्कृष्टता होगी। भोग में संयम का तत्व आने से ही उसमें आध्यात्मिकता आ सकती है। संयम पूर्ण भोग में ही निष्ठा और आध्यात्मिकता आकर टिक सकते हैं, और संयम और निष्ठा के बिना वैवाहिक जीवन का सामाजिक पहलू कृतार्थ हो ही नहीं सकता। केवल लाभ हानि की दृष्टि से देखा जाय तो वैवाहिक जीवन का परमोत्कर्ष संयम और अनन्यनिष्ठा में ही है। भोग तत्व हार्दिक और आत्मिक होने से उसके विकास की कोई मर्यादा ही नहीं है।

आजकल के लोग जब कभी लैंगिक नीति की स्वच्छन्दता का प्रचार करते हैं, तब वे केवल भोग प्रधान पार्थिव अंश को ही ध्यान में लेते हैं। जीवन की इतनी क्षुद्र कल्पना वे ले बैठे हैं कि थोड़े ही दिनों में उन्हें अनुभव हो जाता है कि ऐसी स्वतंत्रता में किसी किस्म की सिद्धि नहीं है और न सच्ची तृप्ति। ऐसे लोगों ने अगर उच्च आदर्श ही छोड़ दिया तो फिर उनमें तारक असन्तोष भी नहीं बच पाता। विवाह सम्बन्ध में केवल भोग के सम्बन्ध का विचार करने वाले लोगों ने भी अपना अनुभव जाहिर किया है-

एतत्कामफल लोके यत् द्वयोः एकचित्तता।
अन्य चित्तकृते कामे शवयो इव संगमः॥

यह एक चित्तता यानि हृदय की एकता अथवा स्नेहग्रन्थि अन्योन्य निष्ठा और अपत्य निष्ठा के बिना टिक ही नहीं सकती। बढ़ने की बात दूर रही।

संयम और निष्ठा ही सामाजिकता की सच्ची बुनियाद है। संयम से जो शक्ति पैदा होती है, वही चरित्र का आधार है। जो आदमी कहता है मैं संयम नहीं कर सकता, वह चरित्र की छोटी मोटी एक भी परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सकेगा। इसलिए संयम ही चरित्र का मुख्य आधार है।

चरित्र का दूसरा आधार है निष्ठा। व्यक्ति का जीवन तभी कृतार्थ हो सकता है, जब वह स्वतन्त्रता पूर्वक समष्टि में विलीन हो जाता है। व्यक्ति स्वातन्त्र्य को सम्हालते हुए अगर समाज परायणता सिद्ध करनी हो तो वह अन्य निष्ठा के बिना हो नहीं सकती और अखिल समाज के प्रति एक सी अनन्यनिष्ठा तभी सिद्ध होतीहै, जब ब्रह्मचर्य का पालन करता है, अर्थात् कम से कम वैवाहिक जीवन को परस्पर दृढ़निष्ठा से प्रारम्भ करता है। अनन्यनिष्ठा जब आदर्श कोटि तक पहुँचती है तब वहीं से सच्ची समाज सेवा शुरू होती है।

अन्त में हम यही कहना चाहते हैं कि 'मन के जीते जीत है, मन के हारे हार।' अगर आपने अपने मनको वश

में कर लिया है और आप उस पर विवेक का अंकुश रखते हैं तो आपको संसार के व्यवहार करते हुए भी कोई कठिनाई प्रतीत न होगी। वैराग्य, त्याग, विरक्ति, इन महा तत्वों का सीधा सम्बन्ध अपने मनोभावों से है। यदि भावनाऐं संकीर्ण हों, कलुषित हों, स्वार्थमयी हों तो चाहे कैसी भी उत्तम सात्विक स्थिति में मनुष्य क्यों न रहे मन का विकार वहाँ भी पाप की सृष्टि करेगा। यदि भावनाऐं उदार एवं उत्तम हैं तो अनमिल और अनिष्ट कारक स्थिति में भी मनुष्य पुण्य एवं पवित्रता उत्पन्न करेगा। महात्मा इमर्सन कहा करते थे- ''मुझे नरक में भेज दिया जाय तो भी मैं वहाँ अपने लिए स्वर्ग बना लूँगा।'' वास्तविक बात यही है कि बुराई-भलाई हमारे ही मन में उत्पन्न होती हैं। हमारी इन्द्रियाँ अगर बुरे मार्ग पर जाती हैं तो उसकी जिम्मेदारी किसी दूसरे पर नहीं वरन् स्वयम् मन पर ही है। अगर हमारा मन सुमार्गगामी रहकर इन्द्रियों को संयम में रखे तो समस्त सांसारिक कार्यों को करते हुए भी हम सादगी के अधिकारी बन सकते हैं।

१२. पवित्र जीवन

गायत्री मंत्र का बारहवाँ अक्षर 'व' मनुष्य को पवित्र जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देता है-

वसतां ना पवित्रः सन् बाह्यतोऽभ्यन्तरस्तथा।
यतः पवित्रताया हि रिजतेऽति प्रसन्नता॥

अर्थात्- ''मनुष्य को बाहर और भीतर से पवित्र रहना चाहिए क्योंकि पवित्रता में ही प्रसन्नता रहती है।''

पवित्रता में ही चित्त की प्रसन्नता, शीतलता, शान्ति, निश्चिन्तता, प्रतिष्ठा और सचाई छिपी रहती है। कूड़ा-करकट, मैल-विकार, पाप, गन्दगी, दुर्गन्ध, सड़न, अव्यवस्था और घिचपिच से मनुष्य की आन्तरिक निकृष्टता प्रकट होती है।

आलस्य और दरिद्र, पाप और पतन जहाँ रहते हैं वहीं मलिनता या गन्दगी का निवास रहता है। जो ऐसी प्रकृति के हैं उनके वस्त्र, घर, सामान, शरीर, मन, व्यवहार, वचन, लेन-देन सबमें गन्दगी और अव्यवस्था भरी रहती है। इसके विपरीत जहाँ चैतन्यता, जागरूकता, सुरुचि, सात्विकता होगी वहाँ सबसे पहले स्वच्छता की ओर ध्यान जायगा। सफाई, सादगी और सुव्यवस्था में ही सौन्दर्य है, इसी को पवित्रता कहते हैं।

गन्दे खाद से गुलाब के सुन्दर फूल पैदा होते हैं, जिसे मलिनता को साफ करने में हिचक न होगी वही सौन्दर्य का सच्चा उपासक कहा जायगा। मलिनता से घृणा होनी चाहिए, पर उसे हटाने या दूर करने में तत्परता होनी चाहिए। आलसी अथवा गन्दगी की आदत वाले प्रायः फुरसत न मिलने का बहाना करके अपनी कुरुचि पर पर्दा डाला करते हैं।

पवित्रता एक आध्यात्मिक गुण है। आत्मा स्वभावतः पवित्र और सुन्दर है, इसलिए आत्म परायण व्यक्ति के विचार, व्यवहार तथा वस्तुएँ भी सदा स्वच्छ एवं सुन्दर रहते हैं। गन्दगी उसे किसी भी रूप में नहीं सुहाती, गन्दे वातावरण में उसकी साँस घुटती है, इसलिए वह सफाई के लिए, दूसरों का आसरा नहीं टटोलता, अपनी समस्त वस्तुओं को स्वच्छ बनाने के लिए वह सबसे पहले अवकाश निकालता है।

पवित्रता के कई भेद हैं। सबसे पहले शारीरिक स्वच्छता का नम्बर आता है, जिसमें वस्त्रों और निवास स्थान की सफाई भी आवश्यक होती है। दूसरी स्वच्छता मानसिक विचारों और भावों की होती है। आर्थिक मामलों में भी, जैसे आजीविका, लेन-देन आदि में शुद्ध व्यवहार करना श्रेष्ठ गुण समझा जाता है। चौथी पवित्रता व्यावहारिक विषयों की है, जिसका आशय बातचीत और कार्यों के औचित्य से है। अन्तिम नम्बर आध्यात्मिक विषयों की पवित्रता का है, जिसके बिना हमारा धर्म-कर्म निरर्थक हो जाता है। इन सबमें शारीरिक और मानसिक पवित्रता से लोगों का विशेष काम पड़ा करता है क्योंकि इनके होने से अन्य विषयों में स्वयं ही पवित्र भावों का उदय होता है।

स्वच्छता दैवी गुण है

स्वच्छता या सफाई वास्तव में एक दैवी गुण है। अंग्रेजी में एक कहावत है जिसका तात्पर्य है कि सफाई से रहना देवत्व के समीप रहना है। जो साफ रहता है, अपने रहन-सहन द्वारा देवत्व प्रकट करता है। सफाई से सौन्दर्य की वृद्धि होती है। वस्तुओं का जीवन बढ़ जाता है। मशीनों की सफाई करने या समय-समय पर कराते रहने का तात्पर्य उसकी कार्य शक्तियों को बढ़ा लेना है।

जब किसी मशीन को ओवरहाल (आमूल नए ढंग से फिटिंग) किया जाता है, तो न केवल सफाई हो जाती है, प्रत्युत सब पुर्जों को साफ कर नए सिरे से रखने के कारण उनमें नई स्फूर्ति का संचार होता है। जो पुर्जे चूँ-चूँ, चर्र-

चर्र करते थे, वह थोड़े से तेल से सहज स्निग्ध होकर मजे में चलने लगते हैं । उनकी कार्य शक्ति बढ़ जाती है।

इसी प्रकार मानव शरीर रूपी मशीन का हाल है । हमारे शरीर में अनेक छोटे-बड़े सूक्ष्म पुर्जे हैं । हमारा शरीर, मस्तिष्क, हृदय, फेफड़े, उदर अनेक ग्रन्थियों से मिलकर बना है । इन पुर्जों में निरन्तर भोजन को पचाकर रक्त बनाने की क्रिया के कारण मैल एकत्र हो जाता है । जीवन में पैसे के लिए, हम शरीर को अधिक घिस डालते हैं । प्राय: नेत्रों की ज्योति क्षीण पड़ जाती है, गाल पिचक जाते हैं, दाँत गिर जाते हैं, पाचन विकार उत्पन्न हो जाते हैं । ये सब रोग शरीर की अधिक घिसावट के दुष्परिणाम हैं । यदि हम शरीर की आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार की सफाई का ध्यान रखें, तो शरीर, मन, प्राण में नई स्फूर्ति, नई शक्ति और प्रेरणा का संचार हो सकता है ।

भारत में जिस तत्व की बड़ी कमी मिलती है, वह सफाई है । सुव्यवस्था और सौन्दर्य इसके पुत्र-पुत्री हैं । लोगों के पास मान, प्रतिष्ठा, उत्साह है, पर स्वच्छता और सुव्यवस्था का बड़ा अभाव है । दुकानें, गलियाँ, सार्वजनिक स्थान, भोजन तथा मिठाई के बाजारों में आप पत्तों के ढेर, जूठन, मैल, मक्खियों, नालियों में भरा हुआ कीचड़, मैला देखकर हमें हिन्दुस्तानियों की गन्दी आदतों पर लज्जा आती है । लोग बड़ी धर्मशालाएँ बनाते हैं, पर उनमें सफाई का ध्यान नहीं देते । टट्टियों तथा नालियों की सफाई पर व्यय नहीं करते । सार्वजनिक टट्टियों में सभ्य व्यक्ति को जाते हुए शर्म आती है । मेहतर अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करते । अधिकारी वर्ग देख-रेख के मामले में शिथिलता दिखलाता है । टट्टी के घिनौने स्वरूप रेल के डिब्बों और रेल के स्टेशनों पर पाई जाने वाली टट्टियों में भी देखे जाते हैं । जितना बड़ा शहर, उसकी गलियों में उतना ही अन्धेरा, बदबू और गन्दगी पाई जाती है । जहाँ मवेशी बाँधे जाते हैं, वहाँ का तो कहना ही क्या ?

सफाई एक सार्वजनिक आदत है । हम भारतीयों को अपनी सार्वजनिक गन्दगी पर लाज आनी चाहिए । जहाँ दूसरे राष्ट्रों में सफाई की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है, सरकार पर्याप्त व्यय करती है, म्यूनिसिपैलिटी बहुत ध्यान देती है, प्रत्येक नागरिक सार्वजनिक सफाई की ओर ध्यान देता है, वहाँ हमारे यहाँ कोई भी इस ओर ध्यान नहीं देता। नागरिक विशेषत: ग्रामीण व्यक्ति और नारी समाज, इतने पिछड़े हुए हैं कि जहाँ कहीं जाते हैं, सार्वजनिक स्थानों को गन्दा छोड़ जाते हैं और कितने ही व्यक्ति, उनसे फिसल कर घायल होते हैं । सिनेमा हालों में मूँगफली के ढेर सारे छिलके, बीड़ी-सिगरेट के टुकड़े, पान की पीक यत्र-तत्र फैले हुए मिलते हैं । स्टेशनों को हर आध घण्टे पश्चात् साफ किया जाता है, पर वह गन्दा होता जाता है । ये बातें हमारी गन्दी आदतों की सूचक हैं । हमें अपनी इन आदतों पर लज्जित होना चाहिए ।

शारीरिक स्वच्छता के दो अंग हैं-बाह्य तथा आन्तरिक सफाई । नित्य प्रति मालिश और व्यायाम के पश्चात् स्नान करने से और खुरदरे तौलिए से पोंछने से शरीर स्वच्छ होता है । प्राय: लोग बार-बार स्नान करने का क्रम करते हैं, जल में पड़े रहते हैं, असंख्य गोते लगाते हैं, बाल्टी पर बाल्टी पानी डालते हैं लेकिन सच्चे अर्थों में यह स्नान नहीं है । जब तक शरीर के रोमकूप स्वच्छ नहीं होते और त्वचा का संचित मल दूर नहीं होता, तब तक शरीर की स्वच्छता नहीं हो सकती । खुरदरे तौलिए को पानी में भिगोकर त्वचा के पोंछने से त्वचा साफ होती है । नाखूनों को काटना, नासिका द्वार को स्वच्छ रखना, जिह्वा की स्वच्छता से हमारे बहुसंख्यक भाई, प्राय: उपेक्षित रहते हैं । इन पर बड़ा ध्यान देने की आवश्यकता है ।

आन्तरिक स्वच्छता का साधन उपवास है । पन्द्रह दिन पश्चात् उपवास करने से संचित भोजन पच जाता है, मल पदार्थ निकल जाते हैं और पेट की बीमारियाँ दूर होती हैं। हमारे देश में उपवास धर्म के अन्तर्गत इसीलिए रखा गया है कि सब इससे लाभ उठा सकें । यथासाध्य ठण्डे जल से स्नान करें । मूत्र-त्याग और मल त्याग के पश्चात् इन्द्रियों को शीतल जल से धो डालें ।

आपका घर वह स्थान है, जिसके वातावरण में आप पलते, वायु पाते, संसर्ग से प्रभावित होते हैं । प्रतिदिन हमारा १४-१५ घण्टे का जीवन घर में ही व्यतीत होता है। घर की चहारदीवारी, कमरों, फर्नीचर, वस्त्रों तथा विभिन्न स्थानों पर जो समय हम व्यतीत करते हैं, उनसे हमारी आदतों और स्वास्थ्य का निर्माण होता है । घर जितना ही स्वच्छ और सुव्यवस्थित होगा, उससे उतनी ही स्वच्छ वायु तथा आनन्द प्राप्त हो सकेगा । यदि आप दुकानदार हैं या आफिस में आठ घण्टे व्यतीत करते हैं, तो दुकान और आफिस के वातावरण का प्रभाव गुप्त रूप से पड़ता रहता है । मान लीजिए आप तम्बाकू, शराब, गांजा, भांग, चरस अथवा जूते की दुकान करते हैं । इन वस्तुओं की बदबू निरन्तर आपके स्वास्थ्य पर प्रभाव डालती रहती है। अत:

हमें चाहिए कि हम अपने घर, दुकान या आफिसों को खिलौनों की तरह साफ-स्वच्छ रखें ।

स्वच्छ घर में रहने वाले की आत्मा प्रसन्न रहती है । आप स्वच्छ धुले हुए वस्त्र पहन कर देखें, मन कितना खिला रहता है । उसी प्रकार सफेद पुता हुआ कमरा, स्वच्छ फर्नीचर, स्वच्छ वस्त्र, स्नान से स्वच्छ शरीर आत्मा को प्रसन्न करने वाले हैं ।

स्वच्छ रख कर हम अपने घर के सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं और चीजों के जीवन को बढ़ा लेते हैं । हमें आन्तरिक शान्ति प्राप्त होती है । सफाई प्रकृति का अंग बन जाने से सर्वत्र सौन्दर्य की सृष्टि करती है।

आफिस, घर और दुकान में छोटी-बड़ी असंख्य वस्तुएँ होती हैं । इनमें कुछ ऐसी होती हैं, जिनका नित्य प्रयोग होता है, तो कुछ ऐसी होती हैं जो देर से निकलती हैं और काम में आती हैं । कुशल व्यक्ति अपने घर, दुकान या आफिस की वस्तुओं की व्यवस्था इस प्रकार करते हैं कि आवश्यकता पड़ते ही, तुरन्त जरूरत की चीज मिल जाती है। ग्राहक आकर जिस छोटी वस्तु की माँग करता है, चतुर दुकानदार एक क्षण में उसे प्रस्तुत कर देता है । घर में दवाई से लेकर सुई, डोरा, आलपिन तक एक क्षण में मिल जानी चाहिए । आफिस की फाइल का कोई भी कागज जरा-सी देर में अफसर के सन्मुख आना चाहिए। पुस्तकालय में जो पुस्तक माँगी जाय, तुरन्त पाठक को प्राप्त होनी चाहिए ।

अव्यवस्थित दुकानदार, अफसर या परिवार का मुखिया उस व्यक्ति की तरह है जो उर्द, मूँग, मसूर, गेहूँ, जौ इत्यादि भिन्न-भिन्न अनाजों को एक साथ मिश्रित कर लेता है और आवश्यकता के साथ उनको पृथक-पृथक करने में व्यर्थ शक्ति का क्षय करता है। वह न गेहूँ निकाल सकता है, न उर्द, न मूँग और यदि निकालता भी है तो उस समय जब उसके हाथ से अवसर निकल जाता है । यदि प्रारम्भ से ही वह व्यवस्था से इन अनाजों को अलग-अलग रखता तो क्यों इतना श्रम और समय नष्ट होता ।

प्रायः अफसर लोग चिल्लाया करते हैं और क्लर्क फाइलों को, भिन्न-भिन्न पत्रों को, रेफरेन्सों को तलाश करते हुए थक जाते हैं । दुकानदार, वस्तुओं को गलत स्थान पर रखकर झींकते रहते हैं । घर में दियासलाई, चाकू, साबुन, तौलिया, रूमाल, हाथ का थैला, पेन्सिल, कलम इत्यादि प्रायः अव्यवस्थित होने से बड़ा हल्ला मचता रहता है । जो डाक्टर अपने यहाँ विभिन्न दवाइयों को क्रम व्यवस्था से नहीं रखते, वे पछताते रहते हैं । सर्वत्र व्यवस्था की आवश्यकता है ।

आह चाहें जिस स्थिति, वर्ग या स्तर के व्यक्ति हो, क्रम व्यवस्था की आपको सबसे अधिक आवश्यकता है। व्यवस्था से आपका कार्य सरल होगा, समय की बचत होगी और आप जल्दी काम कर सकेंगे । मन में किसी प्रकार की उलझन उपस्थित न होगी । काम करने को तबियत करेगी ।

जिस व्यक्ति में अपनी वस्तुओं को एक निश्चित क्रम और व्यवस्था से रखने की आदत होती है, वह उनको उचित स्थान पर रखकर सौन्दर्य की सृष्टि करता है । पं. जवाहरलाल नेहरू जब जेल में थे, तो उनके पास कुछ गिनी-चुनी वस्तुएं थीं-हजामत का सामान, कंघा, कलम, दवात, कागज इत्यादि । लेकिन वे अपनी आत्मकथा में लिखते हैं कि उन्होंने उन्हीं को क्रम और व्यवस्था से रखकर सौन्दर्य की सृष्टि की और अपनी आत्मा को आनन्दित किया था । आपके पास जो भी वस्तुएँ हों, उन्हीं को किसी निश्चित क्रम-व्यवस्था से रखकर सौन्दर्य और उपयोगिता में वृद्धि कर सकते हैं ।

अपने घर में पृथक-पृथक कमरों को लेकर यह निश्चित कीजिए कि आप उस कमरे को किस कार्य के लिए रखना चाहते हैं- बैठक, स्टोर, प्राइवेट कमरा, औरतों के बैठने-उठने का कमरा, भोजन करने का कमरा इत्यादि। प्रत्येक कमरे को उसी कार्य के लिए क्रमवार सुव्यवस्थित कीजिए ।

मान लीजिए बाहर वाले एक कमरे को आप बैठक बनाना चाहते हैं । इसमें एक मेज, एक कुर्सी, सोफासैट या फर्श तकिया इत्यादि रखिए, पाँव पोंछने के लिए पायदान, दीवारों पर कुछ कलेण्डर और एक-दो अच्छे चित्र, खूँटी और जूता रखने का स्थान । इस कमरे में व्यर्थ की चीजें, खूँटियों पर कपड़े या फालतू वस्तुएँ नहीं रहनी चाहिए । मेटलपीस पर कलात्मक रूप से सजे हुए फूलदान और एक दो फोटो । अधिक सजावट भी असभ्यता की निशानी है ।

आपके स्टोर में अनाज, दालें, महीने भर के कुटे हुए मसाले, तेल, घी, गुड़, चीनी, एक ओर वस्त्रों के सन्दूक तथा अन्य घर की वस्तुएँ रहनी चाहिए । यदि मकान छोटा हो तो क्रम से रखी हुई लकड़ियाँ और उपले भी रख सकते हैं । मिट्टी का तेल और लालटेन भी रखी जा सकती हैं । सोने के कमरे में भी वस्तुएँ कम ही रहें क्योंकि फालतू

वस्तुओं से मच्छर होते हैं । रसोई में भी भिन्न-भिन्न बर्तन क्रम से सजे रहें । सीने, काढ़ने, बुनने और कातने का सब सामान एक स्थान पर सजा रहे । मशीन हो तो स्वच्छ तेल लगी हुई रहे । पुस्तकालय हो तो उसकी सब पुस्तकें विषयवार सजी रहें, जिससे जिस समय आवश्यकता हो निकाली जा सकें । संक्षेप में आपके पास जो भी स्थान हो, जो-जो वस्तुएँ हों, वे स्वच्छ से स्वच्छ और सबसे आकर्षक रूप में मौजूद रहे, जिन्हें देखकर आपको भी प्रसन्नता हो और देखने वाले भी प्रसन्न रहें ।

हमारे घरों में वस्त्रों की जो दुरावस्था है, उसे देखकर क्षोभ होता है । प्राय: स्त्रियाँ मँहगे से मँहगे रेशमी वस्त्र खरीदती हैं, पर उनके साथ अकथनीय अत्याचार होता है। इधर-उधर फेंका जाता है, आले या कौने में मैले पड़े रहते हैं, धोबी २०-२० दिन में धोकर वापस नहीं लाता । यदि हम वस्त्रों की उचित व्यवस्था रखें, मैला होने पर स्वयं उसे धो लिया करें, तो हम आधे वस्त्रों में मजे से काम चला सकते हैं, रुपया बचा सकते हैं और स्वच्छ भी रह सकते हैं । मँहगे कपड़े बना लेना आसान है, पर उनकी सेवा करना, उनसे अधिकतम लाभ उठाना कुशलता और चतुराई का काम है ।

वस्त्रों के सन्दूक या आलमारी में वस्त्रों को करीने से रखना चाहिए । इससे वस्त्रों के कौने सिकुड़ने या मुड़ने नहीं पाते और इस्तरी नहीं टूटती । रेशमी साड़ियों को कागज में लपेट कर पृथक रखना चाहिए । फिनायल की गोलियाँ रखने से वस्त्र, विशेषत: साड़ियाँ कीड़ों से बची रहती हैं ।

वस्तुओं की सम्हाल और व्यवस्था और भी आवश्यक है । सम्हाल रखने से मशीन का जीवन कई गुना बढ़ जाता है, जबकि तनिक-सी लापरवाही से कीमती चीजें भी जल्दी ही नष्ट हो जाती हैं । यदि प्रत्येक वस्तु को उचित देख-रेख से रखा जाय, तो वह कई गुना अधिक काम देती है । क्या आप जानते हैं कि आपका फाउण्टेन पेन घिस कर नहीं खोकर नष्ट होता है । पेन्सिलें कभी पूरी, कभी पूरी तरह काम में नहीं आतीं, कोई माँग लेता है अथवा खो जाती हैं । चाकू और रूमाल भी प्राय: खोते हैं । कीमती साड़ियाँ पहनी नहीं जाती, सन्दूकों में रखी रहती हैं और कीड़ों का भोजन बनकर नष्ट होती हैं । जिस साड़ी पर सबसे अधिक व्यय होता है, वह उतनी ही कम पहनी जाती है । आभूषणों पर औरतें प्राण देती हैं, किन्तु वे खोकर नष्ट होते हैं, इनके कारण चोरियाँ होती हैं, औरतें तक चुरा ली जाती हैं और अपमानित होती हैं ।

यदि आप अपनी थोड़ी-सी वस्तुओं को क्रम व्यवस्था से सजाके रखें, तो इन्हीं की सहायता से हम घर की शोभा में वृद्धि कर सकते हैं । सौन्दर्य के लिए अधिक वस्तुओं की आवश्यकता नहीं है । जो थोड़ी-सी चीज हैं, उन्हीं की सहायता से आप सौन्दर्य की उत्पत्ति कर सकते हैं । बस आपकी दृष्टि में कलात्मकता अपेक्षित है । कलात्मक दृष्टि से हर वस्तु का एक नियत स्थान है, जहाँ वह सुन्दरतम लग सकती हैं । घर की शोभा इस बात में है कि आप उस स्थान को खोज निकालें । प्रत्येक वस्तु को उठा कर नियत स्थान पर रखें । आपके कमरे में एक चित्र हो या कलैण्डर लेकिन यदि वही स्वच्छ हो, मैल का निशान न हो तो वही आकर्षक प्रतीत होता है।

सौन्दर्य व्यवस्था पर निर्भर है । जूते कैसे नगण्य हैं, किन्तु यदि आप उन्हीं को पालिश कर सजाकर क्रमानुसार रखें, अपने सन्दूकों को स्वच्छ कर, उन पर स्वच्छ वस्त्र बिछा लिया करें, चारपाइयों की चादरों को गन्दा न होने दें, कुर्सियों, मेजों, पुस्तकों की धूल झाड़ते रहें, तो निश्चय जानिए कि घर की चीजों में ही सौन्दर्य प्रस्फुटित होगा और आपको अपने साधारण घर में ही आनन्द प्राप्त होगा । आत्मा प्रसन्न रहेगी और मन में यह साहस्र रहेगा कि आप अच्छे तरीके से रहते हैं ।

जीवन में अधिक वस्तुओं की आवश्यकता नहीं है, बल्कि जो थोड़ा-सी वस्तुएँ हों उन्हीं से सबसे अधिक, सबसे सुन्दर क्रम-व्यवस्था से काम लेने में आनन्द है । जिनके पास अधिक वस्तुएँ पड़ी रहती हैं, उनमें से आधी ही काम में आती हैं, बेकार पड़ी रहती हैं । आप अधिक वस्तुओं के संचय के मोह में न पड़ें वरन् अपनी-अपनी थोड़ी-सी वस्तुओं को सम्हाल कर प्रयोग में लायें ।

सार्वजनिक स्थानों की सफाई, सुव्यवस्था एवं सौन्दर्य का उत्तरदायित्व आप पर हैं । आप एक श्रेष्ठ नागरिक हैं। समाज की उन्नति में आपका महत्वपूर्ण स्थान है । आपकी आदतों से समाज बनता, बिगड़ता, समुन्नत अवनत होता है । अत: आप सार्वजनिक स्थानों को कार्य में लेते समय उनकी सफाई और सुव्यवस्था के सम्बन्ध में बड़े सावधान रहें ।

यदि आप धर्मशाला में टिके हैं, तो उसके कमरे या इर्द-गिर्द की सफाई का ध्यान रखें, कमरे को वैसा ही सुन्दर छोड़कर जायें, जैसा वह आपको मिला था । पब्लिक पाखानों का ठीक इस्तेमाल करें । पेशाबघरों में सर्वत्र ध्यान रखें । पब्लिक पार्क, मन्दिर, सार्वजनिक बिल्डिंगों को बिगडने न दें । रेल के डिब्बे हम सबके काम आते हैं, किन्तु

हम सफर के पश्चात् उन्हें छिलकों, पत्तों, पानी, धूल-मिट्टी से सना हुआ, जूठन से परिपूर्ण छोड़कर उठते हैं । यह हमारी गन्दी आदतों की परिचायक, गन्दी वृत्ति की द्योतक है । हर सार्वजनिक स्थान, सबके बैठने-उठने के कार्य के लिए बना होता है। यदि हममें से प्रत्येक, उसे अच्छी तरह प्रयोग में लाये तो वह अधिक दिन चल सकता है और सबको आकर्षक लग सकता है। सार्वजनिक स्थान हमारे हैं । जैसे हम अपनी वस्तु की सफाई और सुरक्षा का ध्यान रखते हैं, उसी प्रकार हमें सार्वजनिक वस्तुओं तथा स्थानों का ध्यान रखना चाहिए ।

जो समर्थ हैं, अपनी शक्ति या रुपये का दान दे सकते हैं, उन्हें सार्वजनिक स्थानों, पार्कों, पुल, धर्मशालाओं, पब्लिक स्कूलों, टहलने के स्थानों, मन्दिरों, स्नान के घाटों, रेल के डिब्बों, टट्टियों, प्लेटफार्मों की स्वच्छता और व्यवस्था का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए । अपने रुपये से मरम्मत या नई वस्तुएँ बनवाने में पीछे नहीं रहना चाहिए। रुपया दान देने के स्थान पर मरम्मत या पुताई करा देना अधिक श्रेयस्कर है ।

शरीर के भीतरी अंगों की सफाई

जिस प्रकार हम स्नान करके साबुन लगाकर, तौलिए से घिस कर शरीर के बाहरी भाग की सफाई कर डालते हैं, उसी प्रकार भीतरी अंगों की सफाई रहना भी परमावश्यक है । सच पूछा जाय तो गन्दगी हमारे शरीर के भीतर ही इकट्ठी रहती है और उसी का एक अंश पसीने तथा मैल के रूप में बाहर निकलता है, पर भीतर की सफाई कैसे हो यह सब लोग नहीं जानते । यों तो कहने के लिए हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों ने उद्देश्य की पूर्ति के लिए नेति, द्योति, वस्ति आदि हठयोग के षट्कर्मों का आविष्कार किया, जिससे प्रत्येक भीतरी अंश को धोकर उसी प्रकार स्वच्छ कर लिया जाता है, जैसे हम शरीर के ऊपरी भाग को धोते हैं । पर ये विधियाँ योगियों द्वारा की जाती हैं, साधारण मनुष्यों के लिए सुविधाजनक नहीं मानी जातीं । यह भी संभव है कि अधिकांश व्यक्ति, उनको ठीक ढंग से न कर सकें और लाभ के स्थान पर कुछ हानि उठा लें ।

इसलिए साधारण मनुष्यों के लिए भीतरी अंगों की सफाई का दूसरा तरीका निकाला गया है और वह है- उपवास । वास्तव में हमारे शारीरिक यंत्र का निर्माण परमात्मा ने ऐसे ढंग से किया है कि अगर उसे स्वाभाविक ढंग से रखा जाय और प्रकृति के अनुकूल आचरण करने दिया जाय तो वह स्वयं अपनी भीतरी अंगों की सफाई कर सकता है। पर वर्तमान समय में मनुष्य ने प्रकृति के आदेश को मानना छोड़कर कृत्रिम ढंगों से रहना आरम्भ कर दिया है । उसका आहार-विहार अधिकांश में अस्वाभाविक हो गया है । इसलिए शरीरों में दूषित विकारों का अंश बढ़ जाता है। हमारी प्राण शक्ति, इस विकार को हानिकारक समझकर, बाहर निकालना चाहती है, पर हम नित्य प्रति दो-दो चार-चार बार भोजन करके उस पर बोझा पर बोझा लादते चले जाते हैं । इससे विवश होकर वह निष्क्रिय हो जाती है । उपवास करने से जब पेट खाली हो जाता है और पचाने के लिए शक्ति की आवश्यकता नहीं होती, तब वही शक्ति शारीरिक विकारों को बाहर निकाल कर भीतरी अंगों की सफाई का कार्य करने लगती है । इसीलिए शरीर शास्त्र वेत्ताओं ने कहा है कि यदि आप स्वास्थ्य, यौवन, जीवन का आनन्द, स्वतंत्रता या शक्ति चाहते हैं तो उपवास कीजिए । आपको सौन्दर्य, विश्वास, हिम्मत, गौरव सरीखी निधियाँ प्राप्त करने के लिए भी उपवास करना चाहिए । उपवास से मनुष्य की नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति होती है, उसकी नैसर्गिक बुद्धि जगती है और वह प्रेम की विशालता का अनुभव कर पाता है ।

आन्तरिक विकारों के दुष्परिणाम

प्राय: जिस बात से शरीर में विकार तथा विविध व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं, उनका प्रधान कारण शरीर का संचित मल है । हम अनाप-शनाप खाते हैं, अप्राकृतिक भोजन प्रयोग में लाते हैं, घर और कल-कारखानों या ऑफिसों में बन्द पड़े रहते हैं । अत: शरीर और अंतड़ियों में दूषित द्रव्य या मल जमा हो जाता है। यह संचित-मल कुछ दिनों तक तो पड़ा रहता है किन्तु बाद में रक्त को दूषित बना देता है, पाचन प्रणाली दोषयुक्त हो जाती है, मल विर्सजन का कार्य करने वाले अवयव शिथिल हो जाते हैं, तब शरीर, अन्तर्बाह्य रोगी व दुर्बल बन जाता है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि उदर को कुछ काल के लिए विश्रांति दी जाय ।

भोजन बन्द कर देने से, रक्त स्वच्छ और विषाक्त नहीं होने पाता और अनेक रोग उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं रहती । हमारे शरीर के ज्ञान तन्तुओं पर बहुत जोर नहीं पड़ता । अत: शरीर का बल बढ़ता है और ओज क्षीण नहीं होने पाता । बिना पचा हुआ जो भी अंश पेट में फालतू पड़ा रहता है, वह धीरे-धीरे पचता है, पेट की तोंद नहीं निकल पाती । डॉ. लिंडहार लिखते हैं- ''उपवास में शरीर को,

अन्दर एकत्र भोजन का उपयोग शुरू करना होता, किन्तु इसके पूर्व शरीर की बहुत-सी गन्दगी और विष निकल जाते हैं । जब हम यह जान लेते हैं कि हमारी सारी की सारी पाचन प्रणाली, जो २६ फुट लम्बी होती है और जिसका आरम्भ मुख और अन्त गुदा द्वार है, ऐसी सेलों और ग्रन्थियों से सुसज्जित है, जिनका काम गन्दगी निकालना है, तब लम्बे उपवास का शोधक प्रभाव अच्छी तरह समझ में आ जाता है ।''

वास्तव में उपवास हमारे वर्षों के संचित मल को बाहर फेंक कर नई जीवन शक्ति फूँक देता है, शरीर की गन्दगी और विष उपवास काल में पिये गये जल द्वारा आसानी से निकलते रहते हैं । अनेक रोगियों को उपवास इसी कारण कराया जाता है, जिससे आँतों की श्लैष्मिका कला को, संचित मल की सफाई का अवसर प्राप्त हो सके । जो पूरी सफाई चाहते हैं, वे किसी प्राकृतिक चिकित्सक की देखरेख में लम्बा उपवास करते हैं । यह संचित मल धीरे-धीरे निकलता है, पर सफाई होने के पश्चात् कब्ज पूरी तरह चला जाता है ।

उपवास से मानसिक पवित्रता

स्वास्थ्य, आरोग्यता, दीर्घायु के अतिरिक्त आध्यात्मिक दृष्टि से उपवास का विशेष महत्व है । शरीर की शुद्धि होने से मन पर भी प्रभाव पड़ता है । शरीर तथा मन दोनों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है । जब हमारा पेट भरा होता है, तो दृष्टि भी मैली हो जाती है, मन में कुविचार आते हैं, दुर्बल वासनाएं उदीप्त हो उठती हैं, मानसिक विकारों में अभि-वृद्धि होती हैं । राजसी भोजन से श्रृंगार रस की उत्पत्ति होती है और काम क्रोध, रोगादि रिपु प्रबल हो उठते हैं। सम्पूर्ण पाप की जड़ अधिक भोजन, विशेष राजसी कामोत्तेजक भोजन करना है । पेट को विवेक, शान्ति, धर्मबुद्धि इस तत्व को, ध्यान में रख हमारे पुरुष अतीत काल से उपवास को, मानसिक एवं आत्मिक स्वास्थ्य के लिए अपनाते रहे हैं । इस प्रकार के उपवासों में ईसा, मुहम्मद, महावीर के लम्बे उपवास सर्वविदित हैं । महात्मा गाँधी के उपवास इसी कोटि में आते हैं । महात्माजी ने जितने भी उपवास किए, सभी लगभग नैतिक ध्येय से किए ।

जब हमें भोजन, खान-पान से छुट्टी मिलती है और ये झंझट दूर हो जाते हैं, तब चित्त-वृत्ति अच्छी तरह उच्च विषयों पर एकाग्र हो पाती है। हमारी आन्तरिक वृत्ति पवित्र एवं निर्दोष होती है। ब्रह्म में वृत्ति लीन करने के लिए उपवास सर्वोत्तम उपाय है। ऐसा प्रतीत होता है कि जिन व्यक्तियों ने ब्रह्मानन्द का वर्णन किया है, वे अवश्य ही उपवास परायण रहे होंगे । उपवास के समय चिन्तन तथा एकाग्रता बड़ी उत्तमता से कार्य करते हैं । उपवास काल का ज्ञान अधिक स्थाई और स्पष्ट होता है । ज्ञान प्राय: भोजन के बोझ से दब जाता है किन्तु भोजन से मुक्ति मिलने पर स्पष्ट, निर्विकार और स्थायी बनता है । गीता में कहा है-

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रस वर्ज रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

उपवास में बहुत-सी नीच प्रवृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं, अन्तर्दृष्टि पवित्र बनती है, वृत्तियाँ वश में रहती हैं, धर्म बुद्धि प्रबल बनती हैं, काम, क्रोध, लोभ आदि षट्रिपु क्षीण पड़ जाते हैं, प्राणशक्ति का प्रबल प्रवाह हमारे हृदय में बहने लगता है और शान्त रस उत्पन्न होता है । उपवास से इन्द्रियों का नर्तन, वृत्तियों का व्यर्थ इधर-उधर बहक जाना और एकाग्रता का अभाव दूर हो जाता है । ईश्वर पूजन, साधना तथा योग के चमत्कारों के लिए उपवास अमोध ओषधि है।

महात्मा गाँधी जी ने उपवास के आध्यात्मिक पहलू पर बड़ा जोर दिया है । वे कहते हैं, ''मैं तो सदा ही इसका पक्षपाती रहा हूँ, क्योंकि ब्रह्म परायण के लिए उपवास सदा सहायक है। ईश्वर और उपवास का गठजोड़-सा जान पड़ता है । खाऊपन (ठूँस-ठूँस कर भोजन करना) और ईश्वर का परस्पर बैर है ।'' सत्याग्रही के लिए उपवास अन्तिम उपाय है, उसका न चूकने वाला शस्त्र है । गाँधी जी इसे आग्नेय अस्त्र कहते हैं और उनका दावा है कि उन्होंने उसे वैज्ञानिक रूप दिया है । उपवास से, मनुष्य की दैवी सम्पदाएँ विकसित हो उठती हैं, उसके मन में दैवी शक्ति आ जाती है, अत: इस आध्यात्मिक साधन के प्रयोग के बड़े चमत्कार प्रतीत होते हैं ।

उपवास का प्रयोग आत्म-विकास के लिए भी होता है। यदि हम से जान बूझकर कोई गलती हो जाय और बाद में मन में ग्लानि का अनुभव हो तो हमें अपने आप को सजा देनी चाहिए । अपने प्रत्येक दोष पर कमजोरी को दूर करने के लिए उपवास का प्रयोग हो सकता है । अपने दोषों को देखकर उनका निवारण करना आत्मोद्धार का अचूक उपाय है । महापुरुषों का वचन है- ''जैसे पुरुष पर-दोषों का निरूपण करने में अति कुशल है, यदि वैसे ही अपने दोषों को देखने में हो, तो ऐसा कौन है, जो संसार के कठोर बन्धन से मुक्त न हो जाय ?'' प्रत्येक दोष पर उपवास कीजिए ।

''जब कभी आपके सन्मुख कोई उलझन उपस्थित होती है तो आप उपवास क्यों कर बैठते हैं ।'' यह प्रश्न महात्मा गाँधी जी से पूछा गया तो उन्होंने उपवास के आध्यात्मिक पहलू पर प्रकाश डालते हुए कहा था-

''इस प्रकार के प्रश्न मुझसे पहले भी किए गए हैं, किन्तु कदाचित् इन्हीं शब्दों में नहीं । इसका उत्तर सीधा और स्पष्ट है । अहिंसा के पुजारी के पास यही अन्तिम हथियार है । जब मानवी बुद्धि अपना कार्य न कर निरुपाय हो जाती है, तो अहिंसा का पथिक उपवास करता है । उपवास द्वारा शोधित शरीर से प्रार्थना की ओर चित्त-वृत्ति अधिक सूक्ष्मता और सत्यता से उन्मुख होती है अर्थात् उपवास एक आध्यात्मिक वस्तु है और उसकी मूल प्रवृत्ति ईश्वर की ओर होती है। मनुष्य को यदि यह यकीन हो जावे कि वह उचित और न्यायोचित है तो उसे उस कार्य को पूर्ण करने से कदापि नहीं रुकना चाहिए । इस प्रकार का आध्यात्मिक उपवास अन्तरात्मा की अन्तर्ध्वनि के उत्तर में किया जाता है, अतः उसमें जल्दबाजी का भय कम होता है।''

धार्मिक उपवास और आत्मा की पवित्रता

उपवास द्वारा मनुष्य की नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति होती है, उसकी बुद्धि और विवेक जागृत होता है- यह देखकर ही हमारेप्राचीन ऋषि-मुनियों ने धर्म के अन्तर्गत उपवास को विशेष स्थान प्रदान किया है । इससे मनुष्य के मानसिक और वासनाजन्य विकार शान्त हो जाते हैं और विवेक तीव्र हो उठता है ।

हिन्दू धर्म में प्रत्येक १५ दिन पश्चात् व्रत का विधान रखा गया है । एकादशी के अतिरिक्त प्रदोष और रविवार, भिन्न-भिन्न पुण्य तिथियों तथा पर्वों पर व्रत किया जाता है। हिन्दू धर्म में आन्तरिक शुद्धि के लिए व्रत प्रधान तत्व माना गया है । इसी कारण उसमें व्रतों की संख्या संसार के अन्य सब धर्मों से अधिक है । हमारे यहाँ निर्जल और चान्द्रायण आदि अनेक प्रकार के दूसरे उपवास भी हैं, किसी की मृत्यु पर लंघन करना, शोक मनाने का चिन्ह है । क्या प्रसन्नता, क्या क्लेश सभी में उपवास को प्रधानता दी गई है । जैन धर्म में लम्बे उपवासों पर आस्था है । जैन धर्म के ग्रन्थों में केवल नाना प्रकार के उपवासों का ही विधान नहीं, प्रत्युत बहुकाल व्यापी उपवासों का विधान है । जैनियों के उपवास सप्ताहों और महीनों तक चलते हैं ।।मिस्र में प्राचीन काल में कई धार्मिक पर्वों पर उपवास किया जाता था, किन्तु वह जन-साधारण के लिए अनिवार्य नहीं था। यहूदी अपने सातवें महीने के, दसवें दिन उपवास रखते हैं। उनके धर्म में जो इस उपवास का उल्लंघन करता है, वह दण्डनीय है । इसके अन्तर्गत प्रातः से सायंकाल तक, निराहार रहना पड़ता है। ईसाई धर्म में तथा ईसा की पाँचवी शताब्दी से पूर्व, महात्मा सुकरात ने उन दिनों यूनान में प्रचलित कितने ही उपवासों का जिक्र किया है । रोमन जाति के व्यक्ति ईस्टर से पूर्व तीन सप्ताहों में शनिवार और रविवार के अतिरिक्त अन्य दिनों में उपवास किया करते थे । महात्मा ईसा ने स्वयं एक बार चालीस दिन और चालीस रात्रियों का उपवास किया था । योरोप में जब पापों का प्रभाव बढ़ा तो उपवासों को विशेष महत्व प्रदान किया गया । मुसलमान, रमजान के महीने में अपने धर्म ग्रन्थों के अनुसार तीस दिन तक रोजे रखते हैं । प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में, कुछ खाकर सूर्यास्त के पश्चात् रोजा टूटता है। तात्पर्य यह है कि सभी प्रधान धर्मों में उपवास को विशेष महत्व प्रदान किया गया है। सभी ने एक स्वर से उसकी उपयोगिता स्वीकार की है । उपवास से शरीर, मन तथा आत्मा पर लाभदायक प्रभाव को देखकर ही उसे धर्म के अन्तर्गत स्थान दिया गया है ।

भारत के प्राचीन ऋषियों की तपस्या का उपवास, एक प्रधान अंग था । बड़े-बड़े धर्माचार्य स्वयं, बहुत दिनों तक उपवास करके, अपने अनुयायियों और भक्तों को उसका लाभ बतलाते थे और उनका स्वयं आदर्श बनते थे, पर आजकल जो लोग धार्मिक दृष्टि से उपवास करते हैं, प्रायः सभी देशों में उन्हें धर्मांध बतलाया जाता है और उनकी हँसी उड़ाई जाती है । इसका कारण यही है कि आजकल लोग प्राकृतिक नियमों से एकदम अनभिज्ञ हो गये हैं । जो लोग अन्न को ही प्राण समझते हैं, उन्हीं की आँखें खोलने के लिए, उपवास के सिद्धान्तों का फिर से प्रचार होने लगा है ।

तात्पर्य यह है कि उपवास के दो प्रधान उद्देश्य हैं- (१) शारीरिक स्वच्छता, आन्तरिक विकारों, विजातीय द्रव्यों, संचित विषों का निराकरण तथा (२) आध्यात्मिक उपयोग, नैतिक बुद्धि की जागृति, आत्मिक और मानसिक शुद्धि । उपवास न केवल शरीर शोधक है, प्रत्युत साथ-साथ आत्म-परिपोषक भी है ।

पवित्रता और मनोविकारों का सम्बन्ध

वैसे पवित्रता और स्वच्छता प्रधानतः एक शारीरिक कार्य माना जाता है, पर हमारे मनोविकारों से भी उसका बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। देखने में तो सभी सांसारिक कार्य हमारी बाह्य इन्द्रियों, हाथ-पैरों द्वारा किए जाते हैं, पर जैसा हम सभी जानते हैं, इन्द्रियों का संचालन मन द्वारा ही होता है। हमारा मन ही भली-बुरी इच्छाएँ और अभिलाषाएँ किया करता है और उसका प्रभाव हमारे शरीर पर पूर्ण रूप से पड़ता है।

कितने ही लोग यह ख्याल करते हैं कि काम, क्रोध, लोभ आदि मनोविकार केवल आध्यात्मिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं, भौतिक बातों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता, पर यह विचार ठीक नहीं। परमात्मा ने मनुष्य की जिस प्रकार रचना की है, उसमें भौतिक और आध्यात्मिक पहलुओं में, अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। भौतिक विभाग में खराबी आने से, उसका प्रभाव आध्यात्मिक जीवन पर अवश्य पड़ेगा और आध्यात्मिक दोषों के उत्पन्न होने से भौतिक जीवन में भी अव्यवस्था और बुराइयों का उत्पन्न हो जाना अनिवार्य है। हमारे काम, क्रोधादि एक प्रकार के वास्तविक विष हैं, जो मन में प्रवेश करके वहाँ अपना अड्डा जमा लेते हैं और हमारे भीतरी शारीरिक अंगों को गन्दा बना डालते हैं। ये विष अपने काले धुँए से शरीर की धातुओं को विषैला बनाकर उन्हें रोगों का केन्द्र बना देते हैं। यदि इन विकारों को हटाकर जीवन को प्रसन्नता, प्रेम, सौन्दर्य और पवित्रता के भावों से भर लिया जाय तो मनुष्य बहुत ही अल्प समय में पूर्ण स्वस्थ बन सकता है और यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं कि स्वास्थ्य ही सौन्दर्य है, एक ही वस्तु के यह दो पहलू हैं।

काम वासना विकार

नर और मादा में लौह-चुम्बक जैसा स्वाभाविक आकर्षण होने के कारण दोनों जोड़े से रहना पसन्द करते हैं। जो पशु-पक्षी जितने ही विकसित होते जाते हैं, वे यौन-आकर्षण को अनुभव करते हैं और साथ-साथ रहते हैं। चकवा, सारस, कबूतर, तीतर, बत्तक, राजहंस आदि पक्षी और सिंह, हिरण, भेड़िया आदि पशु एवं साँप, मगर जैसे जीवजन्तु जोड़े से रहते हैं। जो नियमित जोड़ा चुनना नहीं जानते, वे भी समय-समय पर यौन आकर्षण के अनुसार आकर्षित होते रहते हैं और विपरीत योनि के साथ रहना पसन्द करते हैं। प्रजा की उत्पत्ति के कार्य को प्राणी भूल न जाय, इसलिए प्रकृति ने उसमें एक विशेष आनन्द का भी समावेश कर दिया है। इस प्रकार विकसित जीव-जन्तु, जोड़े से रहना चाहते हैं, तदनुसार मनुष्य भी चाहता है। इस आकर्षण को प्रेम के नाम से पुकारा जाता है। यही रस्सी नर मादा को साथ-साथ रहने के लिए आपस में बाँधे रहती है। तरुण पुरुष विवाह की इच्छा करे तो यह उसका शारीरिक धर्म है, इसमें हानि कुछ नहीं, लाभ ही है।

जोड़े से रहना बुरा नहीं है परन्तु प्रेम की स्वाभाविक शक्ति और गर्भाधान क्रिया के तात्कालिक आनन्द, इन दोनों सात्विक वस्तुओं को जब हम काम वासना के बुरे रूप में परिणति कर देते हैं तो वह शरीर के लिए बहुत ही खरतनाक वस्तु बन जाती है। जैसे भूख स्वाभाविक है और मधुर भोजन करना भी स्वाभाविक है, किन्तु इन प्राकृतिक क्रियाओं को विकृत करके, जो मनुष्य चटोरा बन जाता है, दिन भर तरह-तरह के भोजन का ही चिन्तन करता है, थोड़ी-थोड़ी देर पर चाट पकौड़ी, मिठाई, खटाई चाटता रहता है उसकी यह विकृत आदत ही उसके सर्वनाश का कारण बन जाती है। पेट खराब होने से वह बीमार पड़ता है और शक्तिहीन होकर बहुत जल्द मर जाता है। इसी प्रकार यौन आकर्षण की स्वाभाविक क्रिया को जब कामाग्नि के रूप में परिणत कर दिया जाता है, तो यह शरीर को जलाकर भस्म कर देती है। दिन भर पंखा चलाने वाली, रात भर रोशनी करने वाली, आपको सब प्रकार का सुख देने वाली बिजली भी जब अनुचित रीति से छू ली जाती है तो वह एक झटके में ही प्राण ले लेती है।

काम शक्ति, जीवन शक्ति का एक चिन्ह है, किन्तु उसका निर्धारित अवसर पर ही प्रयोग करना चाहिए। प्राकृतिक नियम यह है, जब मादा को गर्भ धारण करने की तीव्र इच्छा हो तो, नर के पास गमन करे। यही काम तृप्ति की मर्यादा है। किन्तु आजकल तो जिह्वा के चटोरपन और इन्द्रियों की लिप्सा को तृप्त करना, मनुष्यों का जीवनोद्देश्य बन गया है। अमर्यादित कामोत्तेजना एक प्रकार की प्रत्यक्ष अग्नि है। कामुकता के भाव उदय होते ही, शरीर की गर्मी बढ़ जाती है। श्वाँस गरम आने लगती है। त्वचा का तापमान बढ़ जाता है। रक्त का वेग तीव्र हो जाता है। इस गर्मी के दाह से कुछ धातुएँ पिघलने और कुछ जलने लगती हैं। शरीर के कुछ सत्व पिघल कर, मूत्र के साथ द्रवित होने लगते हैं। देखा जाता है कि कामुक व्यक्तियों के पेशाब का रंग पीला होता है क्योंकि उनमें

पित्त, क्षार, शर्करा आदि शरीरोपयोगी वस्तुएं मिल जाती हैं, कभी-कभी उनका पेशाब अधिक चिकना, गाढ़ा, सफेदी लिए और लसदार होता है, इसमें चर्बी, एल्ब्यूमिन, हड्डियों का सार भाग आदि मिल जाता है । जब अधिक गरम पेशाब आता है, तो उसमें कई फॉस्फोरस और लोह-सत्व जैसी अमूल्य वस्तुएँ मिली रहती हैं । इस तरह कामाग्नि से शरीर के रस पिघल-पिघल कर नीचे बहते रहते हैं और देह खोखली होती जाती है। त्वचा, स्नायु तन्तु, पेशियाँ और अस्थि पिंजर उस अग्नि से जलने लगते हैं और वे मामूली रोगों से बचने की भी शक्ति को खो बैठते हैं ।

उष्णता के कारण पकी हुई चमड़ी खुरदरी, काली और सूखी, निस्तेज हो जाती है। निकट से देखने पर उसका शरीर बिल्कुल रूखा और मुर्दापन लिए हुए देखा जा सकता है। लकवा, गठिया, कम्प आदि वात सम्बन्धी रोग अक्सर अति मैथुन से होते हैं, यह अग्नि मस्तिष्क के लिए तो सबसे अधिक घातक है। स्मरण शक्ति और निश्चयात्मक शक्ति का भी लोप होने लगता है। ऐसे खण्डहर मस्तिष्क में हीन विचारों के चमगादड़ आकर इकट्ठे होने लगते हैं। यह हीन विचार उसे उद्विग्न कर देते हैं और कभी-कभी तो घर से भागकर भिखारी बन जाना, पागलपन, मद्य सेवन एवं आत्महत्या जैसी प्रवृत्तियों तक ले पहुँचते हैं । कामुकता का निश्चित परिणाम आसक्ति है । निर्बलता या कमजोरी साथ में अपना एक बड़ा कुटुम्ब लेकर आती है। उसके यह बाल बच्चे शरीर के जिस कोने में जगह पाते हैं उसी में डेरा डाल लेते हैं । सिर में दर्द, रीढ़ में दर्द, पैरों में भड़कन, आँखों तले अन्धेरा, भूख न लगना, उदासीनता, निराशा, मुँह कड़ुवा रहना, दस्त साफ न होना, कफ गिरना, दाँतों का दर्द, खुश्की, जलन, निद्रा की कमी, यह सब रोग कमजोरी के बाल-बच्चे हैं । यह अपनी माता के साथ रहते हैं । कोई दवा-दारू इन्हें हटा नहीं सकती । दूषित काम वासना केवल शारीरिक निर्बलता ही उत्पन्न नहीं करती वरन् ऐसे गन्दे रोगों को भी पैदा करती है जो शारीरिक पवित्रता को पूर्ण रूप से नष्ट कर देते हैं ।

क्रोध के भयंकर परिणाम

डॉक्टर अरोली और केनन ने अनेक परीक्षणों के बाद यह घोषित कर दिया है कि क्रोध के कारण अनिवार्यतः उत्पन्न होने वाली रक्त की विषैली शर्करा, हाजमा बिगाड़ने के लिए सबसे अधिक भयानक है। आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी के स्वास्थ्य निरीक्षक डा. हेमन वर्ग ने अपनी रिपोर्ट में उल्लेख किया है- 'एक बार परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने वाले छात्रों में अधिकांश चिड़चिड़े मिजाज के थे । पागलखानों की रिपोर्ट बताती है कि 'क्रोध को लेकर सोना अपनी बगल में जहरीले साँप को लेकर सोना है ।' सचमुच क्रोध की भयंकरता सब दृष्टियों से बहुत अधिक है ।

इस महाव्याधि का शरीर और मन पर जो दूषित असर होता है, वह जीवन को पूरी तरह असफल बना देता है, अशान्ति, आशंका, आवेश उसे घेरे रहते हैं । पास पड़ौसियों की दृष्टि में वह घृणा का पात्र बन जाता है । गृह-कलह छिड़ा रहता है। प्रसिद्ध दार्शनिक सोना कहते हैं- ''क्रोध शराब की तरह मनुष्य को विचार शून्य, दुर्बल एवं लकवे की तरह शक्तिहीन बना देता है। दुर्भाग्य की तरह यह जिसके पीछे पड़ जाता है, उसका सर्वनाश करके ही छोड़ता है । डॉक्टर पूनमचन्द खत्री का कथन है कि- ''क्रोध का मानसिक रोग किसी शारीरिक रोग से कम नहीं है । दमा, यकृति-वृद्धि, गठिया, आम रोग जिस प्रकार आदमी को घुला-घुला कर मार डालते हैं, उसी प्रकार क्रोध का कार्य होता है। कुछ ही दिनों में क्रोधी के शरीर में कई प्रकार के विष उत्पन्न हो जाते हैं, जिनकी तीक्ष्णता से भीतरी अवयव गलने लगते हैं ।''

न्यूयार्क के वैज्ञानिकों ने परीक्षा करने के लिए गुस्से में भरे हुए मनुष्य का कुछ बूँद खून लेकर पिचकारी द्वारा खरगोश के शरीर में पहुँचाया । नतीजा यह हुआ कि बाईस मिनट बाद खरगोश आदमियों को काटने दौड़ने लगा । पैंतीसवें मिनट पर उसने अपने आप को काटना शुरू कर दिया और एक घण्टे के अन्दर पैर पटक-पटक कर मर गया । क्रोध के कारण उत्पन्न होने वाली विषैली शक्कर खून को बहुत अशुद्ध कर देती है। अशुद्धता के कारण चेहरा और सारा शरीर पीला पड़ जाता है । पाचन शक्ति बिगड़ जाती है । नसें खिंचती हैं एवं गर्मी, खुश्की का प्रकोप रहने लगता है। सिर का भारीपन, आँखों तले अन्धेरा, कमर में दर्द, पेशाब का पीलापन, क्रोध जन्य उपद्रव हैं । अन्य अनेक प्रकार की व्याधियाँ उसके पीछे पड़ जाती हैं । एक अच्छी होती है तो दूसरी उठ खड़ी होती हैं और रात-दिन क्षीण होकर मनुष्य अल्पकाल में ही काल के गाल में चला जाता है ।

क्रोध एक भयंकर विषधर है । जिसने अपने आस्तीन में इस साँप को पाल रखा है, उसका ईश्वर ही रक्षक है।

एक प्राचीन नीतिकार का कथन है कि "जिसने क्रोध की अग्नि अपने हृदय में प्रज्ज्वलित कर रखी है, उसे चिता से क्या प्रयोजन ?" अर्थात् वह तो बिना चिता के ही जल जायगा। ऐसी महाव्याधि से दूर रहना ही कल्याणकारी है, जिन्हें क्रोध की बीमारी नहीं है, उन्हें पहले से ही सावधान होकर इससे दूर रहना चाहिए और जो इसके चंगुल में फँस चुके हैं, उन्हें पीछा छुड़ाने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

क्रोध का कारण प्राय: हमारा झूँठा अहंकार या अज्ञान होता है। "प्रत्येक व्यक्ति को हमारी आज्ञा या बात माननी चाहिए।" इस दूषित भावना के कारण, प्राय: क्रोध भड़का करता है। इसके लिए हमको सदैव अपनी वास्तविक स्थिति पर विचार करके, चित्त को शान्त करने का अभ्यास करना चाहिए। प्रतिज्ञा कर लीजिए कि 'अपने दुश्मन क्रोध को पास न फटकने दूँगा। जब आवेगा तभी उसका प्रतिकार करूँगा।' हो सके तो इन शब्दों को लिख कर किसी ऐसे स्थान पर टाँग लीजिए, जहाँ दिन भर निगाह पड़ती रहे। जब क्रोध आवे, तभी अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण करना चाहिए एवं कुछ देर के लिए चुप्पी साध लेनी चाहिए। क्रोध के समय ठण्डे पानी का एक गिलास पानी आयुर्वेदीय चिकित्सा है। इससे मस्तिष्क और शरीर की बढ़ी हुई गर्मी शान्त हो जाती है। एक विद्वान का मत है कि जिस स्थान पर क्रोध आवे, वहाँ से उठकर कहीं चले जाना या किसी और काम में लग जाना अच्छा है। इससे मन की दशा बदल जाती है और चित्त का झुकाव दूसरी ओर हो जाता है। एक योगाभ्यासी सज्जन बताते हैं कि क्रोध आते ही गायत्री मन्त्र का जप करने लगना अनुभूत और परीक्षित प्रयोग है। इन उपायों से आप क्रोध को भगाकर, अपने मन को पवित्र बना सकेंगे।

लोभ से जीवन नष्ट होता है

निरन्तर कृपणता, कंजूसी और जमा करने के विचार जब मस्तिष्क में आते रहते हैं तो वे कुछ समय बाद आदत का रूप धारण कर लेते हैं। बहुत जमा करने और खर्च के समय अनावश्यक कंजूसी को लोभ कहा जा सकता है। लोभ की विचारधारा जब सुप्त मन पर असर करती है, तो उसका स्वास्थ्य पर अनिष्टकर प्रभाव पड़ता है। रुपया-पैसा यथार्थ में एक भोग-वस्तु है। ज्ञानवान मनुष्य इसे हाथ का मैल बताते हैं। धन का वास्तविक काम उसको सदुपयोग में लाना है। जैसे पानी पीने की वस्तु है, उसके पीने या प्रयोग करने में ही आनन्द है। पानी को जो अनावश्यक मात्रा में जोड़-जोड़ कर जमा करता है, वह अयोग्य कार्य करता है। जमा किया हुआ पानी कुछ दिन बाद सड़ने लगेगा और चारों ओर दुर्गन्ध पैदा करेगा। शरीर और मन का स्वाभाविक धर्म है कि वह जिसे लेता है, उसे त्यागता भी है। मन में विचारों का आवागमन लगा रहता है। एक प्रकार के विचार आते हैं तो दूसरी प्रकार के जाते हैं। मन में विभिन्न प्रकार के विचार हर घड़ी उठते रहने का विधान परमात्मा ने बहुत सोच-समझकर बनाया है, इससे बढ़ती हुई नदी के जल की तरह मस्तिष्क निर्मल होता रहता है, इससे बढ़ती हुई नदी के जल की तरह मस्तिष्क निर्मल होता रहता है, यदि एक ही प्रकार के विचार किए जायें और ये निम्न श्रेणी के हों तो मनुष्य भयंकर विपत्ति में पड़ सकता है। आकर्षण के विश्वव्यापी नियम के अनुसार उसी प्रकार के विचार उस आदमी के पास इतनी अधिक मात्रा में इकट्ठे हो जायेंकि कि वह डर जायगा और बीमार हो जायेगा या मर जायेगा। लोभी मनुष्य निरन्तर धन का ही चिन्तन करता रहता है। उसे पैसा अधिक जोड़ने की ही चिन्ता बनी रहती है, इस प्रकार वह हाथ के मैल को छुड़ाने की अपेक्षा उसे जमा करने का प्रकृति विरुद्ध प्रयत्न करता है। इसका असर गुप्त मन पर होता है। पाठक यह तो जानते ही होंगे कि शरीर की श्वाँस-प्रश्वाँस क्रिया, खून का दौरा, रसों का पचना, मल-मूत्र का परित्याग आदि दैनिक जीवन की क्रियायें सुप्त मन के द्वारा होती रहती हैं। हमारा चेतन मन इन क्रियाओं में दखल नहीं देता, किन्तु सुप्त मन की स्थिति के अनुसार क्षण भर में बड़ा भारी परिवर्तन हो सकता है। मनोविज्ञान वेत्ताओं ने शरीर की क्रियाओं पर सुप्त मन का पूरा-पूरा अधिकार देखते हुए उस मन पर प्रभाव डालकर समस्त बीमारियों को दूर करने में सफलता प्राप्त की है। हमारे स्वभाव के दोष और अन्य बुरी आदतें भी इस प्रकार के मानसिक उपचार से सुधर सकती हैं।

आध्यात्मिक पवित्रता का मार्ग

शारीरिक और मानसिक पवित्रता के साथ ही आध्यात्मिक पवित्रता भी आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना आत्मोन्नति, जो कि मनुष्य का प्रधान लक्ष्य है, सम्भव नहीं होती। आध्यात्मिक पवित्रता द्वारा ही मनुष्य में सच्चे प्रेम, भक्ति, दया, उदारता, परोपकार आदि की उत्पत्ति हो सकती है और देवत्व का विकास हो सकता है।

५.१३७ गायत्री साधना का गुह्य विवेचन

यह सृष्टि त्रिगुणमयी है। सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण इन तीन गुणों से संसार के समस्त जड़-चेतन ओत-प्रोत हो रहे हैं। तमोगुण में आलस्य (अशान्ति युक्त मूढ़ता) रजोगुण में क्रियाशीलता (चंचलता) सतोगुण में शान्ति युक्त क्रिया (पवित्रता और अनासक्त व्यवहार) होता है।

प्राय: तमोगुण और रजोगुण की ही लोगों में प्रधानता होती है। सतोगुण आजकल बहुत कम मात्रा में पाया जाता है। क्योंकि उच्च आध्यात्मिक साधना के फलस्वरूप ही सतोगुण का विकास होता है। सतोगुण की वृद्धि ही पवित्रता और कल्याण का हेतु है। सात्विकता जितनी बढ़ती जायगी उतना ही प्राणी अपने लक्ष्य के निकट होता जायगा। इसके विपरीत रजोगुण की अधिकता से मनुष्य भोग और लोभ के कुचक्र में फँस जाता है और तमोगुणी तो तीव्र गति से पतन के गर्त में गिरने लगता है।

तमोगुण प्रधान मनुष्य आलसी, अकर्मण्य, निराश और परमुखापेक्षी होता है। वह हर बात में दूसरों का सहारा टटोलता है। अपने ऊपर, अपनी शक्तियों के ऊपर उसे विश्वास नहीं होता। दूसरे लोग किसी कुपात्र को सहायता क्यों दें? जब उसे किसी ओर से समुचित सहयोग नहीं मिलता तो खिन्न और क्रुद्ध होकर दूसरों पर दोषारोपण करता है और लड़ता-झगड़ता है। लकवा मार जाने वाले रोगी की तरह, उसकी शक्तियाँ कुण्ठित हो जाती हैं और जड़ता एवं मूढ़ता में मनोभूमि जकड़ जाती हैं। शरीर में स्थूल बल थोड़ा बहुत भले ही रहे, पर प्राण-शक्ति, आत्मबल, शौर्य एवं तेज का नितान्त अभाव ही रहता है। ऐसे व्यक्ति बहुधा कायर, कुकर्मी, क्रूर, आलसी और अहंकारी होते हैं। उनके आचरण, विचार, आहार, कार्य और उद्देश्य सभी मलीन होते हैं।

तमोगुण पशुता का चिह्न है। चौरासी लाख योनियों में तमोगुण ही प्रधान रहता है। तमोगुणी संस्कार जिस मनुष्य के जीवन में प्रबल हैं उसे नर-पशु कहा जाता है। इस पशुता से जब जीव की कुछ प्रगति होती है, तब उसका रजोगुण बढ़ता है। तम की अपेक्षा उसके विचार और कार्यों में राजसिकता अधिक रहती है।

रजोगुणी में उत्साह अधिक रहता है, फुर्ती, चतुराई, चालाकी, होशियारी, खुदगर्जी, दूसरों को उल्लू बनाकर अपना मतलब गाँठ लेने की योग्यता खूब होती है। ऐसे लोग बातून, प्रभावशाली, क्रियाशील, परिश्रमी, उद्योगी, साहसी, आशावादी और विलासी होते हैं। उनकी इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल होती हैं। स्वादिष्ट भोजन, बढ़िया ठाठ-बाट, विषय वासना की इच्छा सदैव मन में लगी रहती है। कई बात तो वे भोग और परिश्रम में इतने निमग्न हो जाते हैं कि अपना स्वास्थ्य तक गँवा बैठते हैं।

यारबासी, गप-शप, खेल-तमाशे, नृत्य-गायन, भोग-विलास, शान-शौकत, रौब-दाँव, ऐश, आराम, शाबासी, वाहवाही, बड़प्पन और धन-दौलत में रजोगुणी लोगों का मन खूब लगता है। सत्य और शिव की ओर उनका ध्यान नहीं जाता, पर 'सुन्दरम्' को देखते ही लट्टू हो जाते हैं। ऐसे लोग बहिर्मुखी होते हैं, बाहर की बातें तो बहुत सोचते हैं पर अपनी आन्तरिक दुर्बलता पर विचार नहीं करते, अपनी बहुमूल्य योग्यताओं परिस्थितियों और शक्तियों पर अनावश्यक रूप से हलकी, छछोरी और बेकार की बातों में बर्बाद करते रहतेहैं।

सतोगुण की वृद्धि जब किसी मनुष्य में होती है तो अन्तरात्मा में धर्म, कर्तव्य और पवित्रता की इच्छा उत्पन्न होती है। न्याय और अन्याय का, सत्और असत् का, कर्तव्य और अकर्तव्य का, ग्राह्य और त्याज्य का भेद स्पष्ट रूप से परिलक्षित होने लगता है। तत्वज्ञान, धर्मविवेक, दूरदर्शिता, सरलता, नम्रता और सज्जनता से उसकी दृष्टि भरी रहती है। दूसरों के साथ करुणा, दया, मैत्री, उदारता, स्नेह, आत्मीयता और सद्भावना का व्यवहार करता है, कुच-कांचन की तुच्छता को समझकर वह तप, साधना, स्वाध्याय, सत्संग, सेवा दान और प्रभु शरणागति की ओर अग्रसर होता है।

सात्विकता की अभिवृद्धि होने से आत्मा में असाधारण शान्ति, सन्तोष, प्रसन्नता, प्रफुल्लता एवं आनन्द रहता है। उसका प्रत्येक विचार और कार्य पुण्यमय होता है, जिससे निकटवर्ती लोगों को भी ज्ञात और अज्ञात रूप से बड़ी शान्ति एवं प्रेरणा प्राप्त होती है।

तमोगुण सबसे निकृष्ट अवस्था है। रजोगुण उससे कुछ ऊँचा तो है, पर मनुष्यता से नीचा है। मनुष्य का वास्तविक परिधान सतोगुण है। मनुष्यता का निवास सात्विकता में है। आत्मा को तब तक शान्ति नहीं मिलती, जब तक कि उसे सात्विकता की परिस्थिति प्राप्त न हो। जो मनुष्य जितना सतोगुणी है, वह परमात्मा के उतना ही समीप है। इस दैवी तत्व को प्राप्त करके जीव धन्य होता है, क्योंकि जीवन लक्ष्य की प्राप्ति का एक मात्र साधन सतोगुण ही है। प्रत्येक पवित्र-जीवन के प्रेमी को अपनी सात्विकता की अभिवृद्धि के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए।

वास्तव में सतोगुणी जीवन सब प्रकार की पवित्रता की जड़ है। इससे मनुष्य में श्रेष्ठ गुणों का प्रादुर्भाव होता है और वह हर तरह के मलिन आचरणों से दूर रहकर शुद्ध और पवित्र बन सकता है। सतोगुणी मनुष्य दैनिक रहन-सहन, खान-पान, आहार-विहार सब बातों में शुद्धता का विचार रखता है और इसके परिणाम स्वरूप उसके मन, वचन और कर्म में अशुचि भावनाओं का प्रवेश नहीं हो पाता। वह सबके लिए हितकारी विचार करता है, दूसरों को अच्छी लगने वाली बातें मुँह से निकालता है और दूसरों-सबकी भलाई के काम करता है। ऐसा व्यक्ति, केवल आत्मिक और मानसिक पवित्रता का ही विचार नहीं रखता, वरन् उसके चारों ओर का वातावरण पवित्र रहता है, प्रत्येक वस्तु में शुद्धता का विचार रखा जाता है और कोई भी गन्दा काम नहीं किया जा सकता। जैसा हम अन्यत्र लिख चुके हैं कि शरीर का राजा मन है और मन पर आत्मा द्वारा शासन किया जा सकता है। इसलिए पवित्र जीवन का वास्तविक उद्गम स्थान आत्मा ही है। अगर हम आत्मा की शुद्धता और पवित्रता का ध्यान रखेंगे, तो हमारा शेष समस्त जीवन स्वयं ही पवित्रता की ओर प्रेरित होगा और आत्मा उसी अवस्था में जागृत और उच्च भाव सम्पन्न होती है, जब उसकी प्रवृत्ति सतोगुण की ओर हो। गीता में भी कहा है-

सर्व द्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवर्द्धं सत्त्वमित्युत॥

अर्थात्- "जिस काल में देह में तथा अन्त:करण और इन्द्रियों में चेतनता और बोध शक्ति उत्पन्न होती है उस काल में ऐसा जानना चाहिए कि सत्वगुण बढ़ा है।" और भी कहा है-

सत्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमाद मोहौ तमसो भवतोऽज्ञान मेव च॥

अर्थात्- सत्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है और रजोगुण से निस्सन्देह लोभ उत्पन्न होता है तथा तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान की उत्पत्ति होती है।

पवित्रता में ही जीवन की सार्थकता है

पवित्रता मानव-जीवन की सार्थकता के लिए अनिवार्य है। मनुष्य का विकास और उत्थान केवल ज्ञान अथवा भक्ति की बातों से ही नहीं हो सकता, उसे व्यावहारिक रूप से भी अपनी उच्चता और श्रेष्ठता का प्रमाण देना आवश्यक है और इसका प्रधान साधन पवित्रता ही है। जो व्यक्ति गन्दे वातावरण में रहता है अथवा गन्दे विचार प्रकट करता है, उसके पास जाने या ठहरने की किसी को रुचि ही नहीं होती। ऐसे व्यक्ति से सभी घृणा करते हैं और किसी अनिवार्य कारणवश उसके निकट जाना भी पड़े तो जल्दी से जल्दी वहाँ से हट जाना चाहते हैं।

मनुष्य के लिए शरीर, मन, चरित्र, आचार-विचार आदि सब प्रकार की पवित्रता आवश्यक है। यदि शारीरिक पवित्रता का ध्यान न रखा जायगा तो स्वास्थ्य कभी अच्छा नहीं रह सकता और अस्वस्थ व्यक्ति कोई अच्छा काम नहीं कर सकता। इसी प्रकार मानसिक पवित्रता के बिना मनुष्य में सज्जनता, प्रेम, सद्व्यवहार के भाव उत्पन्न नहीं हो सकते और वह संसार में किसी की भलाई नहीं कर सकता। जिस व्यक्ति में चरित्र की पवित्रता नहीं है, वह कभी संसार में प्रतिष्ठा और सम्मान प्राप्त नहीं कर सकता। यदि मुँह पर नहीं तो परोक्ष में सब लोग उसकी निन्दा और बुराई ही करेंगे। आचार-विचार की पवित्रता ने यद्यपि आजकल ढोंग का रूप धारण कर लिया है और इस कारण अनेक आधुनिक विचारों के व्यक्ति उसे अनावश्यक समझने लगे हैं, पर वास्तव में मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति का सम्बन्ध आचार-विचार की पवित्रता से है। खान-पान में शुद्धता और पवित्रता का ध्यान न रखने से केवल हमारा स्वास्थ्य ही खराब नहीं होता वरन् हमारा मानसिक संयम भी नष्ट हो जाता है और हमको चटोरपन की हानिकारक आदत लग जाती है। इसी प्रकार विचारों में शुद्धता का ख्याल न रखने से काम, क्रोध, लोभ आदि की हानिकारक भावनाएं बढ़ती हैं।

इसलिए यदि आप वास्तव में अपने कल्याण की अभिलाषा रखते हैं तो अपने भोजन, वस्त्र, निवास स्थान, देह, मन, आत्मा आदि सबकी स्वच्छता और पवित्रता का ध्यान रखना आवश्यक है। इन सबकी सम्मिलित पवित्रता से ही जीवन में उस निर्मलता और प्रकाश के भाव का विकास हो सकेगा जिसके द्वारा आप वास्तविक मनुष्य कहलाने के अधिकारी बन सकते हैं। आपको केवल अपनी व्यक्तिगत स्वच्छता का ध्यान रखना ही पर्याप्त नहीं है वरन् आपके आस-पास भी कहीं गन्दगी, अस्वच्छता दिखलाई नहीं पड़नी चाहिए, क्योंकि मनुष्य सामाजिक जीव है और उसके जीवन का एक क्षण भी बिना दूसरों के सहयोग के व्यतीत नहीं हो सकता। इसलिए उसकी पवित्रता तभी कायम रह सकती है, जबकि समस्त समाज में पवित्र-जीवन की भावना समाविष्ट हो जाय।

१३. परमार्थ और स्वार्थ का समन्वय

गायत्री मंत्र का तेरहवाँ अक्षर 'स्य' हमको स्वार्थ और परमार्थ के वास्तविक स्वरूप की शिक्षा देता है ।

स्यंदनं परमार्थस्य परार्थो बुधैर्मतः ।
योऽन्यान सुखयते विद्वान् तस्य दुखं विनश्यति ॥

अर्थात्- "लोक हित में ही अपना परम स्वार्थ निहित है । जो दूसरों के सुखों का आयोजन करता है, उसके दुःख स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं ।"

संसार में हम अधिकांश मनुष्यों को तीन प्रकार से व्यवहार करते देखते हैं । (१) अनर्थ-दूसरों को हानि पहुँचाकर भी अपना मतलब सिद्ध करना, (२) स्वार्थ-व्यापारिक दृष्टि से दोनों ओर के स्वार्थ का सम्मिलन, (३) परमार्थ- अपनी कुछ हानि सहकर भी दूसरे लोगों का, साधारण जनता का हित साधन करना । इनमें से परमार्थ को यद्यपि लोग स्वार्थ से भिन्न समझा करते हैं, पर गूढ़ दृष्टि से विचार करने पर परमार्थ में ही अपना परम स्वार्थ समाया जान पड़ता है ।

जो व्यक्ति अनर्थ मूलक स्वार्थ में प्रवृत्त हैं अर्थात् दूसरों का अनिष्ट करके लाभ करते हैं, वे असुर कहलाते हैं । जो लोग दूसरों को बिना हानि पहुँचाये केवल अपने स्वार्थ पर दृष्टि रखते हैं, वे पशुत्व की प्रवृत्ति वाले समझे जा सकते हैं और जो मनुष्य दूसरों के हित का ध्यान रखते हैं और आवश्यकता पड़ने पर, इसके लिए न्यूनाधिक अंशों में, अपने स्वार्थ का त्याग भी कर देते हैं, वे ही मनुष्य कहलाने के अधिकारी हैं । ऐसे व्यक्तियों को हम देवता भी कह सकते हैं ।

देव उसको कहते हैं, जो दूसरों को अपने सहयोग और सेवा से सुखी बनावे । देव स्वभाव का अवलम्बन करने वाला व्यक्ति अपने जीवन में स्वर्गीय सुख-शान्ति का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है। दूसरों को अभाव ग्रस्त, दुखी, निर्बल, आपत्तियों में ग्रस्त देखकर जिनकी अन्तरात्मा व्यथित हो उठती है, जो दूसरों को सुखी और समुन्नत देखकर प्रसन्न होते हैं, ऐसे देव स्वभाव के मनुष्यों को परमार्थी कहते हैं। वे अपनी शक्ति और योग्यता को अपने शौक, मौज में न लगाकर दूसरों की सहायता में व्यय करते हैं । ऐसा करने के कारण यद्यपि वे भौतिक सम्पत्ति से न्यूनाधिक अंशों में वंचित रह सकते हैं, पर मानसिक क्षेत्र में सदैव असीम आनन्द प्राप्त करते रहते हैं ।

स्वार्थ के दो स्वरूप

साधारण रीति से 'स्वार्थ' शब्द का अर्थ अच्छा नहीं समझा जाता । 'स्वार्थी' कहना एक प्रकार की गाली या निन्दा की बात समझी जाती है, पर कुछ विचार करने से लोगों की यह धारणा गलत जान पड़ती है । स्वार्थ की प्रवृत्ति जीव मात्र में और मनुष्य में भी स्वाभाविक रूप से पाई जाती है और उसे किसी तरह भी बुरा नहीं कह सकते। इस प्रवृत्ति के बिना आत्मरक्षा ही संभव नहीं । अगर मनुष्य आरम्भ से ही स्वार्थ पर दृष्टि न रखे और अपने शरीर की रक्षा के लिए यथोचित प्रयत्न न करे, तो इस सृष्टि का स्थिर रह सकना ही असम्भव है । छोटे से छोटा बालक भी जब भूख लगने पर रोता है और दूध पीने की चेष्टा करता है, तो वह स्वार्थ की प्रवृत्ति का ही मूल रूप है । इसके पश्चात् उसे निरन्तर अपने हानि-लाभ का विचार करना पड़ता है। सच तो यह है 'स्वार्थ' की एक ऐसी बहुमूल्य कसौटी परमात्मा ने हमें दी है जिस पर कसकर हम जान लेते हैं कि कौन काम खरा है और कौन खोटा है ? किसे करना चाहिए और किसे न करना चाहिए ? स्वार्थ जीवन की सर्वोपरि आवश्यकता है और उसका सदैव उचित रूप में ध्यान रखना चाहिए ।

पाठकों को यहाँ सन्देह उत्पन्न हो सकता है, यदि स्वार्थ इतनी ही उत्तम वस्तु है तो उसे बुरा क्यों कहा जाता है, स्वार्थी से घृणा क्यों की जाती है, स्वार्थ परायणता को धिक्कारा क्यों जाता है ? हमें जानना चाहिए कि लोक और वेद में जिस स्वार्थ की निन्दा की गई है उसका नाम यथार्थ में 'अनर्थ' होना चाहिए । पूर्व आचार्यों ने विशुद्ध स्वार्थ को, परमार्थ के नाम से पुकारा है । यह परमार्थ ही, सच्चा स्वार्थ है । अनर्थ को स्वार्थ कहना भूल है क्योंकि वास्तविक अर्थों में परमार्थ से ही स्वार्थ की पूर्ति होती है। अनर्थ को अपनाना तो आत्मघातक है, इसे किसी दृष्टि से स्वार्थ नहीं कहा जा सकता है ।

स्वार्थ के दो भेद किए जा सकते हैं । एक अनर्थ दूसरा परमार्थ । एक किसान खेत को बड़े परिश्रम से जोतता है, रुपया खर्च करके गेहूँ लाता है और उस गेहूँ को मिट्टी में मिला देता है । इसके बाद महीनों उस खेत को सींचता रहता है और रखवाली करता है । करीब एक वर्ष तक उसे निरन्तर उस खेत में कुछ न कुछ लगाना पड़ता है, कभी हल खरीदना पड़ा, कभी फावड़ा, कभी बैल लिए, कभी चरस लिया, निराई निकाई आदि में परिश्रम लगा और चिन्ता

करनी पड़ी, उसका ध्यान रखना पड़ा सो अलग । यह किसान परमार्थी है, वह जानता है कि इस समय जो त्याग कर रहा हूँ । उसका बदला कई गुना होकर मुझे मिलेगा। सचमुच उसकी मेहनत अकारथ नहीं जाती । खेत में एक दाने के बदले हजार दाने पैदा होते हैं, किसान प्रसन्न होता है और अपनी परमार्थ बुद्धि की प्रशंसा करता है । एक दूसरा किसान परमार्थ पसन्द नहीं करता, वह सोचता है कि कल किसने देखा है ? आज का फल आज न मिले तो परिश्रम क्यों किया जाय ? वह अपने अनाज को खेत में डालने से झिझकता है, कल पर उसका विश्वास नहीं, आज के अनाज की आज ही रोटी बनाकर खा लेता है, खेत खाली पड़ा रहता है, फसल नहीं उगती, कटौती के समय जब परमार्थी किसान के कोठे अन्न से भर रहे हैं, यह बैठा-बैठा सिर धुनता है, वह अपने बीज को बोने से पहले ही खा चुका, अब उसे कुछ भी नहीं मिलने वाला है । आप समझे होंगे कि परमार्थ का मतलब कल की बात सोच कर आज का काम करना है और अनर्थ का मतलब कल की भलाई-बुराई का विचार छोड़कर आज के लिए आज का काम करना है ।

वर्तमान के लिए भविष्य को भुला देने की नीति अनर्थ मूलक है। एक चटोरा व्यक्ति वर्तमान समय के स्वाद में लिप्त होकर जरूरत से ज्यादा खा जाता है, कुछ समय बाद पेट में दर्द होता है, डाक्टर आता है, जितना लोभ किया था उससे अधिक खर्च हो जाता है । एक कामी पुरुष किसी तरुणी पर मुग्ध होकर, अमर्यादित भोग करता है, कुछ ही समय उपरान्त, वीर्य रोगों से ग्रसित हो जाता है । इसके विपरीत एक व्यक्ति जिह्वा पर संयम रखता है, कल की बात सोचकर आज के चटोरेपन को हटा देता है, उसका मर्यादित भोजन स्वस्थ रहने और दीर्घ जीवन जीने के लिए सहायता करता है। इसी प्रकार एक ब्रह्मचारी गृहस्थ नियत मर्यादा में रति संयोग करता है, वह निरोग रहता है, बलवान सन्तान प्राप्त करता है और पुरुषत्व को सुरक्षित रखता है। पहले दो असंयमी व्यक्ति दु:खी होंगे, क्योंकि वे आज के लोभ में कल की बात भुला देते हैं । इसके विपरीत पिछले दो व्यक्ति आनन्द करते हैं, क्योंकि वे कल के लिए आज काम करते हैं ।

''हमें तो अपने मतलब'' की नीति को अपनाने वाले लोगों को स्वार्थी कह कर घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। वास्तव में वे स्वार्थी नहीं अनर्थी हैं, क्योंकि वे वास्तविक स्वार्थ को भूल गए हैं और सत्यानाशी अनर्थ को अपनाए हुए हैं । जो व्यक्ति पड़ौस में हैजा फैल जाने पर उसे रोकने का प्रयत्न नहीं करता, जो व्यक्ति समाज में दुष्टता उत्पन्न करने पर उसे रोकने के लिए नहीं उठता, जो व्यक्ति गाँव में लगी हुई आग को बुझाने की कोशिश नहीं करता वह केवल अनर्थ करता है, क्योंकि मुहल्ले का हैजा, उसके घर में घुस कर, उसके बेटे की जान ले लेगा, फैली हुई दुष्टता उसकी खुद की छाती पर चढ़कर, एक दिन खून पीने के लिए तैयार हो जायगी, गाँव में लगी हुई आग, कुछ घण्टों बाद अपने छप्पर में आ पहुँचेगी, असहायों का रोष एक दिन राक्षस रूप धर कर अपनी आँतों से हमारी शान्ति पीसने लगेगा । इस प्रकार 'अपने मतलब से मतलब' रखने की 'लाला शाही' नीति यथार्थ में स्वार्थ की नहीं, अनर्थ की नीति है । यह अनर्थ एक दिन उन्हें ले बैठता है। सिर्फ आटे की गोली को ही देखने वाली मछली अपनी जान से भी हाथ धो बैठती है ।

पाप, दुष्कर्म, लालच, लोभ आदि में तुरन्त ही कुछ आकर्षण और लाभ दिखाई पड़ता है, इसलिए लोग कबूतर की तरह दाने प्राप्त करने के लिए उनकी ओर दौड़ पड़ते हैं और जाल में फँस कर दु:सह दु:ख सहते और रोते चिल्लाते हैं, किन्तु धैर्यवान पुरुष शुभ कर्मों में प्रवृत्त होते हैं और किसान की तरह आज कष्ट सहकर कल के लिए फसल तैयार करते हैं । वास्तव में पूरा पक्का स्वार्थी वह व्यक्ति है, जो हर काम को भविष्य के परिणाम के अनुसार तोलता है और धैर्य एवं गम्भीरता के साथ उत्तरोत्तर कर्म करता हुआ अपने लोक और परलोक को उज्ज्वल बनाता है, इसे परमार्थी कहा जाता है । अविवेकी और मूर्ख वह है जो क्षणिक सुख की मृग-तृष्णा में भटकता हुआ इस लोक में निन्दा और परलोक में यातना प्राप्त करता है । यह स्वार्थ नहीं अनर्थ है । हममें से हर एक को यह बात भलीभाँति हृदयंगम कर लेनी चाहिए कि सच्चा स्वार्थ परमार्थ में है । अनर्थ का तात्पर्य तो आत्महत्या ही हो सकता है । कुत्ता सूखी हड्डी को चबाता है, उसकी रगड़ से अपने मसूड़े में से जो खून निकलता है उसको पीकर समझता है कि मुझे इस हड्डी में से रक्त प्राप्त हो रहा है। अनर्थ की नीति को अपनाने वाले, अपने मुँह में से खुद खून निकाल कर पीते हैं और उसमें प्रसन्नता का अनुभव करते हैं ।

परमार्थ द्वारा आत्मोन्नति

वास्तव में जिस स्वार्थ की बुद्धिमान पुरुषों ने निन्दा की है वह ऐसा ही हीन कोटि का स्वार्थ होता है। उच्चकोटि का स्वार्थ वह है जिससे हमारे शरीर, मन और आत्मा तीनों की उन्नति होती है। ऐसे ही स्वार्थ को परमार्थ भी कहा जाता है।

आत्मा को समुन्नत एवं सुविकसित बनाना मानव जीवन का महत्वपूर्ण उद्देश्य है। कारण यह है कि निरन्तर सताये जाने वाले विविध प्रकार के अभाव, दुःख, शोक, पाप, ताप आत्मोन्नति के बिना मिट नहीं सकते। यदि सांसारिक और मानसिक क्षेत्र में सुख शान्ति प्राप्त करनी है तो एक मात्र उपाय यही है कि आत्म-ज्ञान तथा आत्मबल की अभिवृद्धि की जाय। महान बनाने का, आनन्द के चरम लक्ष्य तक पहुँचने का और कोई मार्ग नहीं है।

आत्मोन्नति एकांगी नहीं होती, केवल एक उपाय से ही वह पूरी नहीं हो सकती, वरन् तत्सम्बन्धी सभी उपकरण जुटाने पड़ते हैं। पहलवान बनने का इच्छुक व्यक्ति केवल मात्र व्यायाम पर ही जुटा रहे और पौष्टिक भोजन, तेल, मालिश, ब्रह्मचर्य, विश्राम आदि की उपेक्षा करे तो उसका सफल होना कठिन है। यदि दीवार ही चिनते जायँ और पटाव, किबाड़, छत, फर्श आदि बनाने की ओर ध्यान न दिया जाय तो मकान बनकर तैयार नहीं हो सकता। डाक्टर बनने का इच्छुक व्यक्ति यदि दवाएँ बनाने में दिन-रात लगा रहे तो उसका सफल डाक्टर बनना असंभव है। आत्मोन्नति के सुविख्यात साधनों के सम्बन्ध में आध्यात्म विद्या के तत्वदर्शी आचार्य सदा से सावधान रहे हैं। उन्होंने अपने शिष्यों की सर्वांगीण उन्नति पर सदा से ही पूरा-पूरा ध्यान रखा है और इस सम्बन्ध में बड़े नियम, प्रतिबन्धों एवं उत्तरदायित्वों का शास्त्रों में अनेक प्रकार से वर्णन किया है। व्यवहारिक जीवन में उदारता, कृतज्ञता, प्रत्युपकार, लोक सेवा एवं स्वार्थ त्याग से ओत-प्रोत आचरणों का अधिकाधिक अवसर आना उन अवसरों पर अपना उत्तरदायित्व सफलतापूर्वक पूरा किया जाना प्रत्येक साधक के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार के आचरणों को 'भूमि निर्माण' कहते हैं। अच्छी उपजाऊ, नरम, भली प्रकार जोती हुई जमीन में ही बीज बोने पर अच्छी फसल पैदा होती है। उपरोक्त प्रकार के आचरणों के अधिकाधिक अवसरों को बुलाना और उनके सम्बन्ध में अपना उत्तरदायित्व अधिक से अधिक तत्परता से पूरा करना यही आत्मिक भूमिका का निर्माण है। ऐसी भूमि में ही साधना के बीज जमते हैं और जीवन-मुक्ति एवं परमानन्द की कल्याणकारी फसल उपजती है।

मनुष्य में दैवी-तत्वों की अपेक्षा साधारणतः पाशविक तत्वों की ही अधिकता होती है। इसलिए वह स्वयं दूसरों से अधिक लाभ उठाने और स्वयं दूसरों के लिए कुछ न कुछ करने की इच्छा रखता है। उसके अधिकांश कार्य इसी दृष्टिकोण से होते हैं। अपनी कठिनाइयाँ दूर करने और समृद्धियों को बढ़ाने में वह दैवी तत्वों की सहायता चाहता है, पर उन तत्वों के पोषण के लिए कुछ नहीं करना चाहता। इस पशुवृत्ति को गीता में भगवान कृष्ण ने बड़ी कड़ाई और शक्ति के साथ आड़े हाथों लिया है। 'पहले दो, तब मिलेगा' के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए गीता में कहा है-

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञ भाविताः।
तैर्दत्तान प्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥

- गीता ३/१०/११/१२

अर्थात्- "भगवान ने मनुष्य के साथ-साथ दैवी तत्वों को भी उत्पन्न किया और घोषणा की कि इसके द्वारा तुम लोग उन्नति करोगे एवं अपनी सब मनोकामनाओं को पूर्ण करोगे। परन्तु स्मरण रखो इस दैवी तत्व की उन्नति तुम्हें भी करनी है। तभी वह तुम्हारी सहायता करेगा। प्रत्युपकार के आधार पर ही कल्याण हो सकता है। जब मनुष्य देवत्व का पोषण करेंगे तब वे बदले में इष्ट भोग प्रदान करेंगे। जो प्रत्युत्कार से बचना चाहता है और दैवी साधना की याचना करता है वह पक्का चोर है।"

इससे आगे के श्लोकों में भी भगवान ने इस सम्बन्ध में और अधिक स्पष्टीकरण किया है। वे कहते हैं, जैसे यज्ञ से वर्षा, वर्षा से अन्न उत्पन्न होता है। अन्न से प्राणियों का जीवन स्थिर होता है। वैसेही दैवी तत्व (यज्ञ) के फलस्वरूप ही आत्म-कल्याण हो सकता है। अपनी शक्तियाँ दैवत्व के पोषण में खर्च करो, बदले में जो मिले उसमें सन्तोष करो तो तुम सब पापों से छूट जाओगे। यदि अपने ही मतलब की फिराक में फिरोगे तो पाप खाओगे।

भगवान के उपरोक्त अभिवचनों में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि पहल, किस ओर से होनी चाहिए। न तो मुफ्त

में लेने की व्यवस्था है और न अमुक लाभ मिलने के उपरान्त अमुक बदला चुका देने की शर्त ही है। सिद्ध बाबा को चरणस्पर्श मात्र से प्रसन्न करके अष्ट सिद्धि नव निद्धि प्राप्त कर लेने की इच्छा करने वाले मुफ्तखोरों और बेटा हो जाय तो नारियल चढ़ाने की शर्त बदने वाले मुनाफाखोरों को गीता ने बुरी तरह लताड़ दिया है। ऐसे लोगों को आध्यात्मिक भाषा में 'अनाधिकारी' कहते हैं। अनाधिकारी का तात्पर्य है- स्वार्थी, अनुदार, अविश्वासी, अश्रद्धालु। ऐसे लोगों के हाथ में यदि दैवी शक्ति चली जाय, तो वे उसके द्वारा संसार में केवल अनर्थ ही उत्पन्न कर सकते हैं। इसलिए सृष्टि के आदि से ही यह सावधानी बरती जाती रही है कि अनाधिकारी लोगों के हाथ में ब्रह्मशक्ति न जाने पावे।

आत्मोन्नति की शिक्षा देने के साथ-साथ ऋषियों ने यह बराबर ध्यान रखा है कि वे अधिकारी बनते जावें, उनकी पात्रता में अभिवृद्धि होती जावे। पात्रता और साधना इन दोनों पहियों को साथ-साथ बराबर रखने में धैर्य और सावधानी से काम लेते रहे हैं। जितनी पात्रता बढ़े उतना ही साधना का स्तर ऊँचा उठता जाता है। कुपात्रों को अति ऊँचे स्तर की साधना बताकर आध्यात्मिक असन्तुलन उत्पन्न कर देने का परिणाम किसी के लिए भी अच्छा नहीं हो सकता।

प्राचीन इतिहास पर दृष्टिपात करने से ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मज्ञान के शिक्षकों ने अपने छात्रों को परम उपयोगी अमृतमयी शिक्षा देने के साथ-साथ उनके सद्गुणों का विकास करने वाले कष्ट साध्य अवसर उत्पन्न करने में कभी भी झिझक नहीं की है। क्योंकि देवत्व का पोषण करके तब दिव्य लाभ प्राप्त करने की सनातन नीति का अवलम्बन किए बिना वे सफल हो नहीं सकते थे। इसलिए वे कष्ट उनके लिए आवश्यक थे। उद्दालक, धौम्य, आरुणि, उपमन्यु, कच, श्लीमुख, जरुत्कार, नचकेता, शैण, विरोचन, जावालि, सुमनस, अम्बरीष आदि अनेक शिष्यों की कथाएँ सर्वविदित हैं। उन्होंने अपने गुरुओं के आदेशानुसार बड़े-बड़े कष्ट सहे और बताये हुए कार्यों को पूरा किया। दशरथ का अपने प्राणप्रिय बच्चों का दे देना, हरिश्चन्द्र का असाधारण कष्ट सहना, मोरध्वज का अनौखा आदर्श उपस्थित करना, गुरुओं के आदेशानुसार ही हुआ था। स्थूल दृष्टि से यह कार्य, उनके गुरुओं की हृदयहीनता के परिचायक कहे जा सकते हैं, पर सच्ची बात यह है, कि उन कष्ट साध्य परीक्षाओं ने ही काल के चबेना, तुच्छ मानव प्राणियों को इतना महान बनाया था। इन कष्टों से वे एक अवज्ञा मात्र से ही आसानी से बच सकते थे, पर तब वे ऐश-आराम से दिन काटते हुए मर जाने वाले असंख्य कीट-पतंगों की तरह विस्मृति के अन्धकार में लुप्त हो जाते और चौरासी के चक्र में घूमते रहते। उन गुरुओं की हृदय हीनता में कितनी अपार दया भरी थी, उसका अनुमान लगाना कठिन है।

राजा दिलीप संतान रहित थे। गुरु के आश्रम में गये कि प्रभो! हमारा वंश डूबने से बचाया जाना चाहिए। वशिष्ठजी ने आज्ञा दी, दैवी सहायता प्राप्त करने के लिए दैवत्व का पोषण आवश्यक है। रानी सहित यहाँ आकर रहो और हमारी गौएँ चराने के लिए ग्वाले का काम करो। दिलीप जानते थे कि स्वार्थपरता की बनी हुई सूक्ष्म मानसिक ग्रन्थियाँ ही जीवन में अभाव और दु:ख उत्पन्न करती हैं। उन ग्रन्थियों का शमन त्याग उदारता और परमार्थ का आचरण करने से ही हो सकता है। उन्होंने ऋषि की आज्ञा में अपना कल्याण समझा और राजपाट छोड़कर गौएँ चराने लगे, एक दिन तो सिंह से गौ बचाने के लिए उन्हें अपना प्राण तक अर्पण करने का साहस दिखाना पड़ा। ऐसे ही साहसों से वे मनोग्रन्थियाँ, संस्कार पिण्डकाएं फूटती हैं, जो सन्तान न होने जैसे अभावों का मूल कारण होती हैं।

दिलीप ने यथासमय सन्तान पाई। कोई आज का आध्यात्मिक साधक होता तो वशिष्ठ जी की चापलूसी करने में सारी चालाकी खर्च कर देता, पर त्याग के नाम पर घण्टे भर का समय या कानी कौड़ी का नुकसान उठाने को भी तैयार न होता। वह सीधी उँगली घी न निकलने पर डराता, धमकाता, यजमान न रहने की धौंस बताता, निन्दा करता या फिर यह शर्त पेश करता कि मेरे बेटा हो जायगा तो उसके ब्याह में आपको कुछ न कुछ दक्षिणा अवश्य दूँगा। इस प्रकार के व्यक्ति दैवी सहायताओं द्वारा कितने लाभान्वित हो सकते हैं, इस सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जा सकता।

मनुष्य में पशुता, स्वार्थपरता अधिक होने के कारण सद्गुरु इस बात के लिए प्रयत्नशील रहते हैं कि शिष्य को परमार्थ के लिए प्रेरित करने में अपने व्यक्तिगत प्रभाव का उपयोग किया जाय। जो त्याग और उदारता का छोटा-सा बोझा भी नहीं उठाना चाहता है, धीरे-धीरे करके उसे कुछ न कुछ करने को अवश्य तत्पर किया जाय। सभी जानते हैं कि अपरिग्रही ब्रह्मपरायण एवं अपनी आत्मशक्ति

से संसार पर शासन करने वाले ऋषि कल्प ब्रह्मवेत्ता का भोजन उसकी झोंपड़ी पर पहुँच सकता है, पर वे इसे पसन्द नहीं करते वरन् लोगों के घरों पर जाकर भिक्षा माँगते थे, ताकि लोगों को अपनी दान वृत्ति चरितार्थ करने का अवसर मिले। गुरु दक्षिणा के नाम पर भी लोग अधिक से अधिक त्याग करते थे। निर्लोभ ऋषियों को स्वर्ण और मिट्टी बराबर था, वे प्राप्त धन को चिकित्सा, यज्ञ, विद्याध्ययन आदि लोकहित के कार्यों में ही खर्च करते थे। उनकी व्यक्तिगत आवश्यकताएँ इतनी स्वल्प थी कि उसके लिए किसी धन या दान की आवश्यकता नहीं पड़ती, दान का धन तो अमानत है, जिसे सत्पुरुष एक हाथ से लेकर दूसरे हाथ खर्च कर देते हैं। आज भिक्षा की पुण्य-परम्परा अत्यन्त ही दूषित हो गई है। कुपात्र एवं हरामखाऊ लोगों ने इसे अपना व्यवसाय बना लिया है। ऐसे लोगों को दान देते समय बहुत सोच-विचार करने की आवश्यकता है, परन्तु वस्तुतः भिक्षा का भूल उद्देश्य अत्यन्त पवित्र था। जो स्वेच्छा से नहीं देना चाहता उसे कोई अवसर उपस्थित करके, देने के लिए तत्पर करना यह भी तो आत्मोन्नति की एक साधना कराने का ही प्रयत्न है।

राम-लक्ष्मण की ही भाँति दान-पुण्य की जोड़ी है। हिन्दू धर्म में कोई भी शुभ कर्म, धार्मिक कृत्य ऐसा नहीं है, जिसके साथ-साथ परमार्थ का प्रत्यक्ष उदाहरण उपस्थित न करना पड़ता हो। ब्राह्मण भोजन, गौ, अन्न, वस्त्र, पुस्तक आदि का दान, प्रसाद वितरण आदि किसी न किसी अंश में त्याग करना अनिवार्य माना गया है। कहा गया है कि बिना दक्षिणा का यज्ञ निष्फल होता है। कारण यही है कि साधनाओं का आध्यात्मिक व्यायाम करने के साथ, साधक अपनी मनोभूमि को उपजाऊ बनाने के लिए, देवत्व के पोषण के लिए, उदारता एवं परमार्थ का अभ्यास डालने के लिए, कुछ क्रियात्मक कार्य भी करता चले। इस कार्य प्रणाली को अपनाने से साधना में प्रगति द्विगुणित वेग से होती है, पात्रता तेजी से बढ़ती है, फलस्वरूप आत्मकल्याण के आनन्दमय लक्ष्य को प्राप्त करना सुलभ हो जाता है। हमारी साधना उभयपक्षीय चलनी चाहिए। जप, व्रत, उपवास, ध्यान, पूजा, अर्चना, वन्दना, हम नित्य श्रद्धा और भक्तिपूर्वक करें, साथ ही अपनी उदारता, कृतज्ञता, प्रत्युपकार, त्याग, परमार्थ एवं देवत्व के पोषण की भावना को समुन्नत करने के लिए भी कुछ न कुछ अवश्य करते रहें।

परमार्थ और सेवा-साधना

वैसे परमार्थ के अनेक रूप हैं, पर एक सामान्य मनुष्य के लिए उसका सुलभ रूप पर-सेवा ही है। कष्ट या अभावों में ग्रस्त व्यक्ति की किसी रूप में सहायता करने से उनका संकट-निवारण होने के साथ ही हमको आत्म-सन्तोष भी प्राप्त होता है। इससे आत्मिक बल की वृद्धि होती है और मनुष्य अधिक महत्वपूर्ण कार्यों के करने में समर्थ होता है।

लोक सेवा के तीन प्रकार हैं, (१) परोक्ष सेवा, (२) प्रत्यक्ष सेवा, (३) सह सेवा। परोक्ष सेवा का तात्पर्य है अपना कार्यक्रम निर्दोष, निष्पाप, लोक हितकारी रखते हुए जीवन यापन किया जाय। प्रत्यक्ष सेवा उसको कहते हैं- जिसमें जीवन का प्रधान कार्य, सार्वजनिक कार्यों में लगे रहना होता है। सह सेवा वह है, जिसमें मनुष्य अपना बचा हुआ समय दूसरों की सहायता में लगाता है या आवश्यकता पड़ने पर अपने दैनिक कार्यों में से परहित के लिए समय निकाल देता है।

जो व्यापारी अभक्ष, मिलावटी, नकली, खराब, कमजोर चीजें नहीं बेचता वरन् उपयोगी वस्तुएं बेचकर जनता की अभाव पूर्ति करता है, तौल, नाप, प्रामाणिकता और भाव में ईमानदारी बरतता है, वह व्यापारी परोक्ष लोक सेवक है। यद्यपि वह अपने व्यापार को व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से चलाता है, पर उसमें यह ध्यान रखता है कि कार्य दूसरों के लिए भी उपयोगी हो। ऐसे व्यवसाय से व्यापारी अपना उतना लाभ नहीं कर पाता जितना कि बेईमान दुकानदार कर लेते हैं, फिर भी, निश्चित रूप से उसकी ईमानदारी, एक प्रकार की लोकसेवा है। इसी प्रकार कोई भी किसान, मजदूर, वकील, वैद्य, सरकारी कर्मचारी, कारीगर, अध्यापक, वैज्ञानिक, ईमानदारी से अपने कर्तव्य का पालन करता हुआ अनीति के द्वारा धन संचय का लाभ त्याग कर परोक्ष लोक सेवा के पुण्य का भागीदार हो सकता है।

प्रत्यक्ष सेवा की वर्तमान समाज में अत्यधिक आवश्यकता है। कारण यह है कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में ऊँच-नीच, धनी-निर्धन, शासक-शासित, शिक्षित-अशिक्षित, किसान-जमींदार, सेठ-मजदूर की बड़ी भारी विषमता फैली हुई है। सरकारी ढाँचा भी ऐसा बोदा है कि वह निर्बलों, गिरे हुए लोगों एवं आपत्ति ग्रस्तों की अधिक सहायता नहीं कर सकता। ऐसी दशा में

कमजोरों की हिमायत करने उनकी, तकलीफें दूर करने और ऊँचा उठाने के लिए सार्वजनिक कार्यकर्त्ता न हों तो पीड़ितों के कष्टों का ठिकाना न रहेगा । कितने ही उदार हृदय, दयालु भावना वाले, स्वार्थ-त्यागी, मनुष्य अपने आराम और लोभ को त्यागकर सार्वजनिक आन्दोलनों, संस्थाओं, सेवा केन्द्रों का संचालन करते हैं और गुजारे के लिए अनायास जो प्राप्त हो जाता है, उसमें जीवन यात्रा चलाते रहते हैं । इस वर्ग को लोक-सेवक न कह कर लोक सैनिक कहना उपयुक्त होगा । सैनिक अपना सारा समय राष्ट्र-रक्षा में लगाता है और प्राण देने तक का त्याग करने के लिए हर घड़ी तैयार रहता है। यही स्थिति लोक-सैनिकों की होती है।

तीसरे सह-सेवक हैं जो अपना कार्य ईमानदारी और समाज हित का ध्यान रखते हुए करते हैं, साथ ही सार्वजनिक कार्यों के लिए यथाशक्ति कुछ न कुछ समय निकालते रहते हैं । उपयोगी संस्थाओं के कार्य में हाथ बँटाना, सद्गुणों की वृद्धि में सहायता करना एवं सत्कार्यों में प्रोत्साहन देने के लिए प्रयत्नशील रहना सद्सेवकों को बड़ा रुचिकर होता है। अपनी जीवनचर्या चलाने के लिए वे कमाते हैं, साथ-साथ सेवा सामने आ जाय तो अपना काम हर्ज करके भी उसे पूरा करते हैं ।

परोक्ष सेवक होने की प्रत्येक नागरिक से आशा की जाती है । जो बेईमानी, बदमाशी और अनीति का आश्रय लेकर कमाता है वह कानूनी पकड़ एवं जनता की घृणा से बचा रहते हुए भी पापी एवं लोकघाती है । उसका वैभव कितना ही बढ़ जाय, चाटुकार उसे कितना ही घेरे रहें पर वह आत्म-हत्यारा धर्म-द्रोही होने के कारण ईश्वर के दरबार में अपराधी ठहराया जायगा । धर्म की, आत्मा की हर व्यक्ति से यह पुकार है कि वह पुण्य-पथ पर अधिक अग्रसर न हो सके तो कम से कम ईमानदार नागरिक, चरित्रवान मनुष्य एवं परोक्ष लोक-सेवक तो अवश्य ही बने। इस मर्यादा से नीचे गिरने वाला तो अपनी मनुष्यता के उत्तरदायित्व से भी गिर जाता है ।

लोक सैनिकों को अपने पारिवारिक भारों को कम से कम रखना चाहिए । ऐसे व्यक्ति विवाहित हों तो आगे के लिए सन्तान पैदा करना बन्द कर दें । आश्रितों के लिए कोई ऐसा आधार बन सके कि वे उसकी सहायता की अपेक्षा न रखें तो सबसे अच्छा है । आश्रितों के आर्थिक उत्तरदायित्वों से लदा हुआ मनुष्य प्रायः ईमानदारी से, पूरी दिलचस्पी और शक्ति के साथ सार्वजनिक सेवा नहीं कर पाता । प्राचीनकाल में वानप्रस्थ और संन्यास की व्यवस्था इसीलिए थी कि उस समय तक पर्याप्त मात्रा में अनुभव और ज्ञान इकट्ठा होकर शेष समय सार्वजनिक सेवा में लगाया जा सके, पर अब तो वह शृंखला भी टूट गई है। इसलिए गृहस्थों को ही लोक सैनिक, सार्वजनिक कार्यकर्त्ता बनना पड़ता है । ऐसी दशा में वे कामचलाऊ वेतन लें तो इसमें कुछ अनुचित बात नहीं है ।

सह-सेवकों के लिए आकस्मिक या स्वल्पकालीन सेवाओं का वेतन या मुआवजा लेना निषिद्ध है । यदि लोग ऐसी छोटी-छोटी सेवाओं का भी प्रतिफल माँगने लगे, लेने-देने का कायदा प्रचलित हो गया तो सेवा की प्रथा और पवित्रता पूर्णतया नष्ट हो जायगी ।

किसी के यहाँ मृत्यु हो जाने पर पास पड़ौस के लोग बिना कुछ मुआवजा लिए उस मृतक की अन्त्येष्टि करने के लिए श्मशान को ले जाते हैं । यदि मुआवजा लेकर मुर्दा उठाने का रिवाज चल पड़े तो आज अन्त्येष्टि में जाना जैसा धर्म कार्य माना जाता है, फिर वैसा न रहेगा । लोग मुर्दाफरोसी का पेशा करने लगेंगे । इससे तो निर्धन दुःखी जो अपने स्वजन की मृत्यु से दुःखी हैं और भी अधिक कष्ट में पड़ जायेंगे । विवाह, शादी, रंज, गमी, बीमारी, मुसीबत में लोग एक-दूसरे की सहायता, बिना कुछ लिए करते हैं। पर्व, उत्सवों, मेलों पर आने वाले यात्रियों के लिए लोग सेवा समितियों द्वारा जल आदि की व्यवस्था करते हैं । बाढ़, अग्निकाण्ड, भूकम्प, अकाल, मेला प्रबन्ध आदि में स्वयंसेवक सेवा कार्य करके दुःखियों की सेवा करते हैं। धार्मिक कथा, कीर्तन, यज्ञ, प्रचार जुलूस आदि में लोग श्रद्धापूर्वक अपना समय देते हैं । यदि इन सब बातों के लिए वेतन, मुआवजा या मजदूरी लेने की प्रथा चल पड़े तो एक ऐसी सत्यानाशी परम्परा कायम हो जायगी जिसके कारण सेवा नाम के पवित्र तत्व के लिए मानव जीवन में कोई स्थान ही न रह जायगा ।

आत्मिक समृद्धियों में, दैवी सम्पदाओं में, सेवा सबसे बड़ी सम्पदा है । लोग भौतिक धन ऐश्वर्य को इकट्ठा करने के लिए दिन-रात चिन्ता और परिश्रम करते हैं, पर खेद की बात है कि आत्मा के साथ रहने वाली, जन्म-जन्मान्तरों तक सुख देने वाली आत्मिक सम्पत्ति, सेवा की ओर ध्यान नहीं दिया जाता । जब तक सेवा भावना का जीवन में पर्याप्त सम्मिश्रण नहीं किया जाता तब तक कोई व्यक्ति आत्मिक शक्ति नहीं पा सकता, चाहे वह कितना ही धनी या पदाधिकारी क्यों न हो ?

परमार्थ ही सच्चा वैराग्य है

हमारे यहाँ वैराग्य की बड़ी महिमा है। जब तक मनुष्य संसार और सांसारिक पदार्थों के राग-मोह में फँसा रहता है तब तक आत्मोत्कर्ष की संभावना नहीं होती। इसीलिए प्राचीनकाल के महापुरुष सम्पदा की आकांक्षा और ममता को पतनकारी बतला गये हैं, पर अनेक लोग इसका गलत आशय समझकर केवल लँगोटी लगाकर जंगल या पहाड़ में जा बैठने को वैराग्य मानने लगे हैं। इस प्रकार के अज्ञान मूलक त्याग से कोई विशेष लाभ नहीं होता। त्याग और वैराग्य का तत्व केवल पदार्थों के छोड़ देने से नहीं है, वरन् उनका सदुपयोग करके दूसरों को लाभ पहुँचाना ही उसका मुख्य उद्देश्य है।

संसार की वस्तुओं में मालिकी के विचार रखने से उनका दुरुपयोग होता है और संसार के समस्त पदार्थों को ईश्वर की वस्तु समझकर उनका खजानची रहते हुए कार्य करने में सामग्री का उपयोग धर्म, न्याय और सुख के कार्यों में होता है। सांसारिक वस्तुओं से वैराग्य करना, उनका ठीक प्रकार उपयोग करने की कला सीखना है। लेकिन आज तो कर्तव्य-त्यागी को ही वैरागी कहने की प्रथा उठ खड़ी हुई है।

वैराग्य का सारा रहस्य निष्काम कर्मयोग में छिपा हुआ है। मानव जाति के सबसे महान् दर्शन शास्त्र गीता में निष्काम कर्मयोग पर ही सबसे अधिक बल दिया है। संसार में हमें किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें गीताकार का भावार्थ भली प्रकार समझने की चेष्टा करनी चाहिए। निष्काम कर्म और कर्मयोग यह दो शब्द हैं। निष्काम से तात्पर्य अलग रहने, न मिल जाने, निर्लिप्त रहने से है। कर्मयोग का तात्पर्य कर्तव्य-धर्म पालन करने से है। जीव का धर्म यह है कि वह विकास के निमित्त अहं भाव का प्रसार करे। अपनी आत्मीयता को दूसरों तक बढ़ावे, अपने स्वार्थों को दूसरों के स्वार्थ से जोड़ने के दायरे को बढ़ाता जाय। यह आध्यात्मिक उन्नति यदि वास्तविक हो तो वह आदमी अपनी शक्तियों का अधिक से अधिक भाग दूसरों की सेवा में लगाता है और कम से कम भाग अपने लिए रखता है। अर्थात् वह सेवा धर्म अपना लेता है और परोपकार में रत रहता है। उसका दृष्टिकोण संकुचित स्वार्थ पूरा करने का नहीं होता वरन् उदारता सहित परमार्थ को लिए हुए होता है। जो जितना ही परमार्थ चिन्तक है वह उतना ही बड़ा महात्मा कहा जायगा।

हमारे पूर्वज ऋषि-मुनियों को ठीक तौर से पहचानने में लोग बड़ी भूल करते हैं। उनकी दृष्टि इतनी ही पहुँचती है कि ऋषि-मुनि नगरों से दूर जंगलों में रहते थे और फल-फूल खाकर तथा बल्कल वसन पहन कर जीवन यापन करते थे। आजकल के साधु नामधारी तथा कथित वैरागी अपना वैराग्य उसी की नकल का बनाते हैं। जीवन की आवश्यकताएँ तो घटाते हैं, पर बची हुई शक्ति को परमार्थ में नहीं लगाते, वरन् दम्भ, आलस्य, प्रमाद और धूर्तता पर उतर आते हैं, इसलिए उनका जीवन साधारण गृहस्थ से भी नीचे दर्जे का बन जाता है। यही कारण है कि साधु वेशधारी भिखमंगों को गली-कूचों में हम कुत्तों की तरह दुरदुराता हुआ देखते हैं। ऋषि-मुनियों के जीवन पर गम्भीरतापूर्वक दृष्टिपात किया जाय तो उनकी सच्ची आत्मोन्नति के प्रमाण प्रत्यक्ष हो जाते हैं। जंगलों में जाकर, रूखा-सूखा खाकर, नंगे उघाड़े अजगरों की तरह वे नहीं पड़े रहते थे, वरन् वहाँ जाकर जनसाधारण की सेवा के लिए अधिक से अधिक काम करते थे। योगी द्रोणाचार्य ने शस्त्र विद्या में स्वयं पूर्णता प्राप्त की और अनेकों अधिकारियों को उस विद्या में पारंगत बनाया। योगी चरक ने चिकित्सा शास्त्र की अन्यतम शोध की। योगी सुश्रुत ने शल्य क्रिया सर्जरी का आविष्कार किया। पाणिनी ने व्याकरण शास्त्र निर्माण किया। आर्य भट्ट ने खगोल विद्या के मर्मों की खोज करके ज्योतिष शास्त्र बनाया। योगी वशिष्ठ ने अपने उपदेशों से राम जैसे राजकुमारों को मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम बना दिया। योगी परशुराम ने अपने प्रचण्ड बाहुबल से पृथ्वी को अत्याचारियों के रक्त से रंग दिया। योगी नारद का प्रचार कार्य इतना प्रबल था कि वे एक घड़ी से अधिक एक स्थान पर नहीं ठहरते थे और इस युग में जो कार्य अनेक अखबार और पब्लिसिटी आफीसर मिलकर नहीं कर पाते उतना काम उस समय अकेले नारद कर लेते थे। योगी विश्वामित्र ने अलग ही सृष्टि रच दी। योगी व्यास ने अष्टादश महापुराण रचे जिनमें गीता जैसे अनेक रत्न छिपे पड़े हैं। योगिराज कृष्ण ने महाभारत जैसे संग्राम को कराया। योगी चाणक्य ने अर्थशास्त्र और कूटनीति शास्त्र के अपूर्व विज्ञान की रचना की। एक भी योगी का जीवन ऐसा नहीं पाया जा सकता जिसमें लोकसेवा के महान कार्य समन्वित न हों। आत्मशक्ति की उन्नति के लिए वे योगाभ्यास भी करते थे, पर वह होता इसी प्रकार था जैसे प्रातःकाल अधिक काम करने शक्ति प्राप्त करने के लिए हम निद्रा लेते हैं, या कुश्ती लड़ने का

बल बढ़ाने के लिए दूध पीते हैं । रहन-सहन को कम खर्चीला वे इसलिए बनाते थे कि अपने निजी झंझटों को पूरा करने के लिए कम परिश्रम करना पड़े और अपनी अधिकांश शक्ति का उपयोग लोक सेवा अथवा परमार्थ के निमित्त हो सके । यह मानना भी गलत है कि हमारे ऋषि महात्मा स्त्री पुत्रों को त्याग देते थे । सच तो यह है कि शायद ही कोई ऋषि रहा हो जिसने अविवाहित जीवन बिताया हो अन्यथा पुराण साक्षी है कि सभी ऋषियों के स्त्रियाँ और सन्तानें मौजूद थीं । शंकर जैसे योगेश्वर के दो विवाह हुए और उनके बाल-बच्चे भी मौजूद थे ।

ऋषियों के जीवन पर थोड़ा-सा प्रकाश इसलिए डाला गया है कि नकलची लोग पूरी बात को समझें और तब उसका अनुकरण करें । बाल-बच्चों को भटकता हुआ छोड़, कायरता के साथ कर्तव्य धर्म की अवहेलना करते हुए, घर त्याग कर भाग जाना और भगवान का भजन करने की झूँठी आत्म वंचना के बहाने, भीख के टूक खाकर अकर्मण्यतापूर्वक जीना, न तो योग है, न संन्यास, न स्वार्थ है, न परमार्थ । यह एक प्रकार की आत्महत्या है जिसे अल्प शिक्षित या अशिक्षित व्यक्ति, स्वार्थी 'कनफूका' गुरुओं के बहकावे में आकर स्वीकार कर लेते हैं और अपने बहुमूल्य जीवन की आलस्य और प्रमाद की छुरियों से निर्दयता पूर्वक हत्या कर डालते हैं । वैसे तो आज भी थोड़े बहुत सच्चे महात्मा इन साधु वेशधारियों के बीच मिल सकते हैं जो स्वार्थ की अपेक्षा परमार्थ को महत्व देते हैं और अहंकार के नशे में ऐंठे फिरने की बजाय परमार्थ को महत्व देते हैं और अहंकार के नशे में ऐंठें फिरने की बजाय नम्रता और सेवा का परिचय देते हैं । ऐसे महापुरुष उसी प्रकार पूजनीय हैं जैसे कपिल-कणाद । हमारा विरोध तो उन भिखमंगों से है जो वैराग्य के पवित्र नाम को कलंकित करके प्रमाद की उपासना करते हैं और जनसाधारण के मन में यह झूँठी धारणा पैदा करते हैं कि वैरागी वही है जो घरबार छोड़कर निरुद्देश्य मारा-मारा फिरे और भजन की झूठी आत्मवंचना करता हुआ स्वार्थी जीवन बितावे ।

जीवन विकास के लिए अहंभाव का प्रसार आवश्यक है । परमार्थ में स्वार्थ को घोलते जाना, अपने लिए कम, दूसरों के लिए ज्यादा की उदार वृत्ति को अपनाते जाना ही, बस एक मात्र जीव का धर्म है । धर्म के सारे अंग-उपांग इसी परिभाषा के अन्तर्गत आ जाते हैं । त्याग, सहानुभूति, प्रेम, दया, उदारता आदि सत्प्रवृत्तियाँ विकास धर्म की किरणें हैं । सम्पूर्ण धर्मशास्त्र इसी एक बिन्दु के आस-पास उसी प्रकार घूम रहे हैं जैसे ध्रुव के चारों ओर अन्य नक्षत्र घूमते हैं । आप संसार से विरक्त रहिए पर प्राणियों को आत्म तुल्य समझकर उनकी अधिकाधिक सेवा के मार्ग पर बढ़ते चलिए । स्त्री के, पुत्र के, कुटुम्बियों के, शरीरों को नाशवान् समझिए, पर उनके जीव की उन्नति में भरपूर सहायता कीजिए । उनकी आवश्यक सुविधाओं का उसी प्रकार ध्यान रखिए जैसे अपनी सुविधा का रखते हैं । इस आत्म प्रसार के दायरे को क्रमशः बढ़ाते चलिए । जिन सुखों को प्राप्त करने की इच्छा अपने लिए करते हैं उन्हीं की दूसरों के लिए इच्छा करिए । सहृदय माता घर में बने हुए खीर खाँड़ के भोजन पहले अपने बालकों को कराती है, तब बचा-खुचा आप खाती है। आप जब विकास धर्म का पालन करेंगे तो ऐसी ही उदार एवं सहृदय माता बन जावेंगे। विश्व के अन्य प्राणी आपके बालक होंगे । आपका सारा वैभव अल्प बुद्धि वाले, अल्प शक्ति वाले, अल्प वैभव वाले, प्राणियों के काम आवेगा तब कहीं बचा-खुचा भौतिक सुख आप अपने लिए चाहेंगे । खीर-खाँड़ खाकर प्रसन्न हुए बच्चों का प्रफुल्ल मुख देखकर माता का हृदय आनन्द से भर जाता है, अशक्त प्राणियों की सेवा में अपना वैभव उत्सर्ग कर देने के पश्चात् आपके अन्तःकरण में भी आनन्द की लहरें उठने लगेंगी ।

नश्वर संसार का उपदेश है कि वैरागी बनिए । वैरागी का अर्थ है-संसार के पदार्थों की नश्वरता को समझते हुए उनका उपयोग विकास धर्म पूर्ति के लिए परमार्थ में करना। स्वार्थ को, लोभ को, तृष्णा को कम करके परमार्थ के विचार और कार्यों में निरन्तर लगे रहना ही सच्चा वैराग्य है ।

परमार्थ सबसे प्रेम भाव रखता है

जिस प्रकार परमार्थ का अर्थ यह नहीं है कि हम सांसारिक पदार्थों को सर्वथा त्यागकर नंग-धड़ंग घूमने लगें, इसी प्रकार परमार्थ यह भी नहीं कहता कि हम अन्य व्यक्तियों से प्रेम करना छोड़कर उदासीन वृत्ति से जीवन व्यतीत करें । इसके विपरीत परमार्थी व्यक्ति के प्रेम का दायरा तो इतना विस्तृत हो जाता है कि केवल अपने स्त्री-बच्चे, भाई-बन्धु, सखा परिवार ही नहीं, सर्वथा अनजान और दूरवर्ती व्यक्ति भी उसमें आ जाते हैं ।

जिस वस्तु को 'प्रेम' कहा जाता है उसके अनेकानेक स्वरूप इस संसार में दृष्टिगोचर होते हैं । स्त्री प्रेम, पुत्र-प्रेम, धन-प्रेम, कीर्ति-प्रेम, व्यसन-प्रेम में व्यस्त व्यक्ति अपने को प्रेमी सिद्ध करते हैं । यह प्रेम का भौतिक स्वरूप है । भौतिक-प्रेम में तत्कालीन आकर्षण खूब होता है और उसकी प्रतिक्रिया में आनन्ददायक अनुभूतियाँ भी परिलक्षित हैं । उपरोक्त स्त्री, धन, कीर्ति आदि के प्रेम में मनुष्य को इतना आनन्द आता है, कि इन्हें भव बन्धन-कारक और अन्त में दुःखदायक समझते हुए भी छोड़ता नहीं और सारी आयु उन्हीं के पीछे व्यतीत कर देता है ।

भौतिक प्रेम, आध्यात्मिक प्रेम की एक छाया है। उसकी छोटी-सी तस्वीर या प्रतिमा इन विषय भोगों में देखी जा सकती है । भौतिक प्रेम का अस्तित्व इसलिए है कि हम इस तस्वीर के आधार पर असली वस्तु को पहचानने और प्राप्त करने में सफल हो सकें । प्रकृति की दुकान में यह नमूने की पुड़िया बँट रही हैं और बताया जा रहा है कि देखो इस एक जरा से टुकड़े में जितना मजा है, ऐसे ही मजे का अक्षय भण्डार तुम्हें पसन्द है, तो उस असली वस्तु को आध्यात्मिक प्रेम को प्राप्त करो । हमारे पथ-प्रदर्शक सोने का टुकड़ा दिखाते हुए बता रहे हैं कि ऐसे ही सोने की अगर तुम्हें आवश्यकता हो तो, जाओ, उसे सामने वाली खान में से मनमानी तादाद में खोद लाओ। परन्तु हाय हम कैसे मन्द बुद्धि हैं, जो उन नमूने की पुड़ियों को चाटने में इतनी उछल-कूद कर रहे हैं और खजाने की ओर दृष्टि उठाकर भी नहीं देखते ।

प्रेम का गुण है-आनन्द । प्रेम करने पर आनन्द प्राप्त होता है । स्त्री, धन, कीर्ति आदि से प्रेम करने में आनन्द आता है या आनन्द के कारण प्रेम करते हैं । हम पत्थर, राख, कूड़ा या कौआ, चील, गीदड़ आदि से प्रेम नहीं करते, क्योंकि उनमें आनन्द का अनुभव नहीं होता या आनन्द अनुभव नहीं करते इसलिए प्रेम नहीं होता । पड़ौसी के खजाने में लाखों रुपये भरे पड़े हों, पर उनसे हमारी कोई ममता नहीं, यदि वे सब रुपये आज ही नष्ट हो जाँय, तो हमें कोई वेदना न होगी । इसी प्रकार अन्य व्यक्ति के स्त्री, पुत्र, परिजन मर जायें या किसी की कीर्ति को आघात पहुँचे तो दूसरा कौन परवाह करेगा ?

पड़ौसी का रुपया भी उसी चाँदी का बना हुआ है, जिसका कि अपना, पड़ौसी के स्त्री-पुत्रों के शरीर भी वैसे ही हैं, जैसे कि अपनों के, किन्तु अपने रुपये से प्रेम है, अपने स्त्री-पुत्रों से प्रेम है, यही वस्तुएँ पड़ौसी की भी हैं, पर उनसे प्रेम नहीं । यहाँ प्रेम का असली कारण स्पष्ट हो जाता है। जिस वस्तु पर हम आत्मीयता आरोपित करते हैं जिससे ममत्व जोड़ते हैं, वही प्रिय लगने लगती है और प्रेम के साथ ही आनन्द का उदय होता है । निश्चय ही किसी भी जड़ वस्तु में आकर्षण नहीं है, संसार की जिन भौतिक वस्तुओं को हम प्रेम करते हैं, वे न तो हमारे प्रेम को समझती हैं और न बदले में प्रेम करती हैं । रुपये को हम प्यार करते हैं, पर रुपया हमारे प्रेम और द्वेष से जरा भी प्रभावित नहीं होता । पैसा खर्च हो जाने पर हमें उस पैसे की बहुत याद आती है, पर उस पैसे की रत्ती भर भी परवाह नहीं कि जो व्यक्ति हम से इतना प्रेम करता था, वह जिन्दा है या मर गया । बात यह है कि संसार के किसी पदार्थ में जरा भी आकर्षण या आनन्द नहीं है, जिस पर आत्मा की किरणें पड़ती है वही वस्तु चमकीली प्रतीत होने लगती है, जिस पर आत्मीयता आरोपित होती है, वही आनन्ददायक, आकर्षक एवं प्रियपात्र बन जाती है । प्रेम और आनन्द आत्मा का गुण है। बाहरी पदार्थों में तो उसकी छाया देखी जा सकती है ।

जीव को आनन्द की प्यास है, वह उसी की तलाश में संसार में इधर-उधर ओस चाटता हुआ मारा-मारा फिरता है, किन्तु तृप्ति नहीं होती । कुत्ता सूखी हड्डी को चबाता है और हड्डी द्वारा मसूड़े छिलने से रक्त निकलता है, उसे पीकर आनन्द मानता है । हम लोग भौतिक वस्तुओं के प्रेम में आनन्द का अनुभव करते हैं, इसका मूल कारण असली आत्मीय प्रेम है । यदि आत्मीयता हटा ली जाय तो वही कल की प्यारी वस्तुएँ आज घृणित या अप्रिय प्रतीत होने लगेंगी । स्त्री का दुराचार प्रकट होने पर वह प्राणप्रिय नहीं रहती, वरन् शत्रु-सी दृष्टिगोचर होने लगती है । पिता-पुत्र में, भाई-भाई में, जब कलह होता है और आत्मीयता नहीं रहती तो कई बार एक-दूसरे की जान के ग्राहक होते हुए देखे गये हैं । मकान, जायदाद, गाड़ी, सवारी जब अपने हाथ से बिक कर दूसरे मालिक के हाथ में पहुँच जाते हैं तो उनकी रक्षा व्यवस्था की परवाह नहीं रहती, क्योंकि अब उनमें से आत्मीयता छुड़ा ली गई । सुस्वाद, भोजन, नाच रंग, विषय-भोगों का आनन्द भी अपने भीतर ही है। यदि पेट में अजीर्ण हो, तो मधुर भोजन कड़ुआ प्रतीत होता है । गुप्त रोगों की व्यथा हो, तो स्त्री-भोग पीड़ा कारक बन जायगा, नेत्र दुःख रहे हों तो किसी नाच-रंग में रुचि न होगी । इन्द्रिय भोग जो इतने मधुर प्रतीत होते हैं, वे वास्तव में उनके अन्तर्गत प्रकाशित होने वाली अखण्ड ज्योति के

ही स्फुल्लिंग हैं अन्यथा बेचारी इन्द्रियाँ क्या आनन्ददायक हो सकती हैं ।

निश्चय ही प्रेम और आनन्द का उद्गम आत्मा के अन्दर है। उसे परमात्मा के साथ जोड़ने से ही अपरिमित और स्थाई आनन्द प्राप्त हो सकता है । सांसारिक नाशवान् वस्तुओं के कन्धे पर यदि आत्मीयता का बोझ रखा जाय, तो उन नाशवान वस्तुओं में परिवर्तन होने पर या नाश होने पर सहारा टूट जाता है और उसके कंधे पर जो बोझ रखा था, वह सहसा नीचे गिर पड़ता है, फलस्वरूप बड़ी चोट लगती है और हम बहुत समय तक तिलमिलाते रहते हैं। धन नाश पर, प्रियजन की मृत्यु पर, अपयश होने पर कितने ही व्यक्ति धाड़ मारकर रोते-बिलबिलाते और जीवन को नष्ट करते हुए देखे जाते हैं । बालू पर महल बनाकर उसे अजर-अमर रहने का स्वप्न देखने वालों की जो दुर्दशा होती है, वही इन हाहाकार करते हुए प्रेमियों की होती है। भौतिक पदार्थ नाशवान हैं, इसलिए उनसे प्रेम जोड़ना एक बड़ा अधूरा और लँगड़ा-लूला सहारा है, जो कभी भी टूट कर गिर सकता है और गिरने पर प्रेमी को हृदयविदारक आघात पहुँचा सकता है। प्रेम का गुण तो आनन्दमय है, जो दुःखदायी परिणाम उपस्थित करे वह प्रेम कैसा ? इसीलिए तो अध्यात्म तत्व के आचार्यों ने भौतिक प्रेम को 'मोह' आदि घृणास्पद नामों से संबोधित किया है ।

प्रेम का आध्यात्मिक स्वरूप है कि आत्मा का आधार परमात्मा को बताया जाय। चैतन्य और अजर-अमर आत्मा का अवलम्बन सच्चिदानन्द परमात्मा ही हो सकता है । इसलिए जड़ पदार्थों से भौतिक माया वंचित वस्तुओं से, चित्त हटाकर परमात्मा में लगाया जाय। आत्मा के प्रेम का परमात्मा उत्तर देता है और आपस में इन दोनों प्रवाहों के मिलने पर एक ऐसे आनन्द का उद्‌भव होता है, जिसका वर्णन नहीं हो सकता ।

आत्मा का विशुद्ध रूप ही परमात्मा है । मानव की उच्चतम परमसात्विक, परम ऐश्वर्य आनन्दमयी अवस्था ही ब्राह्मी स्थिति है । ब्रह्म और ब्राह्मी स्थिति एक ही बात है । इसी परमतत्व की-इसी केन्द्र की चर्चा, कीर्तन, जप, स्तुति, अनुनय, विनय, पूजा, अर्चा करना भक्ति का वास्तविक उद्देश्य है । ईश्वर से प्रेम करना चाहिए, ब्रह्मानन्द में मग्न रहना चाहिए, आत्मा के विशुद्ध स्वरूप परमात्मा की भक्ति करनी चाहिए, इसका सीधे शब्दों में तात्पर्य यह है कि परम सात्विक निर्दोष, शुद्ध अवस्था में पहुँचने के लिए हर घड़ी व्याकुल रहना चाहिए, एक क्षण के लिए भी उस आकांक्षा को भुलाना न चाहिए । हमें सच्ची भक्ति की, सच्चे प्रेम की उपासना करनी चाहिए । आत्मा से, परमात्मा से प्रेम करना चाहिए । अपने को मनुष्यता की आदर्श प्रतिमा बनाने के लिए निरन्तर विचार और कार्य करना चाहिए । यही स्वार्थ और यही परमार्थ है। प्रेम का सच्चा आध्यात्मिक स्वरूप भी यही है ।

आत्मा प्रेम का केन्द्र है। विश्वव्यापी आत्मा, परमात्मा समस्त प्राणी समाज हमारे प्रेम का केन्द्र होना चाहिए । घट-घट वासी परमात्मा से हम प्रेम करें । प्रत्येक प्राणी की आत्मा को ऊँचा उठाने, विकसित करने और सुखी बनाने में हम अधिक से अधिक ईमानदारी, मेहनत और दिलचस्पी के साथ काम करें, यही परमात्मा के साथ प्रेम करने और मुक्ति दिलाने वाले परमार्थ का सच्चा तरीका है ।

स्वार्थ-त्याग में अनन्त आनन्द

संसार में सबसे बड़ी चीज आनन्द माना गया है। दुनियाँ में सब जगह जितनी भाग-दौड़ दिखलाई पड़ती है जितने भी प्रयत्न किए जाते हैं उन सबका अन्तिम उद्देश्य आनन्द की प्राप्ति ही होता है, पर अधिकांश लोग यह नहीं समझते कि आनन्द भौतिक पदार्थों से कदापि नहीं मिल सकता । वह तो आत्मा का गुण है और इसलिए उसकी प्राप्ति आध्यात्मिक प्रयत्नों द्वारा ही संभव है ।

यदि मनुष्य वास्तव में आत्मिक सुख को खरीदना चाहे तो उसे इसके बदले में उसी के समकक्ष चीज देनी होगी। यदि वास्तव में हम संयम, सहिष्णुता, धैर्य, सहानुभूति और प्रेम को अपने हृदय में उत्पन्न करना चाहें तो हमें इनके बदले में अपनी मनोवृत्तियों की उच्छृंखलता, स्वार्थ, लम्पटता और मानसिक चपलता से विदा लेनी होगी । लोभी मनुष्य का द्रव्य से चाहे कितना ही प्रेम क्यों न हो, यदि वह अपने शारीरिक आराम को चाहता है, तो उसे अपना द्रव्य अवश्य खर्च करना पड़ेगा । इसी भाँति स्वार्थ का त्याग करने में हमें कितना ही कष्ट क्यों न हो, बिना उससे छुटकारा पाये हम आत्मिक उन्नति प्राप्त नहीं कर सकते । धन का सच्चा उपयोग यही है कि उसके द्वारा मनुष्य जाति को अपनी सुख-सुविधा जुटाने में सुविधा हो। वह कृपण, जो लक्ष-लक्ष मुद्राओं के रहते भी द्रव्य-प्रेम के कारण आवश्यक सामग्रियों को नहीं जुटाता, निस्संदेह दया का पात्र है । इसी भाँति चैतन्य जगत में जो व्यक्ति अपनी मानसिक वृत्तियों के बदले में सच्चे सुख और शान्ति

को प्राप्त करने में हिचकिचाता है वह मूढ़ बुद्धि है। प्रकृति ने मनुष्य के हृदय में क्रोध की सृष्टि इसीलिए की है कि उस पर विजय प्राप्त करके क्षमा कर दी जाय। स्वार्थ के वशीभूत होकर मनुष्य दूसरों की सुख-सामग्री को छीन-छीन कर अपने सुख के लिए एकत्र करता है। दूसरों की उसे जरा भी चिन्ता नहीं रहती। अतएव वह कृपण मनुष्य के सदृश्य अपना द्रव्य अपने ही पास रखना चाहता है, परन्तु धर्म का सिद्धान्त इसके विपरीत है। धर्म चाहता है कि मनुष्य अपने सुख का उपभोग स्वतः भी करे और दूसरे मनुष्यों को सुख देने के लिए भी तत्पर रहे।

वे आत्मिक शक्तियाँ कौन-कौन सी हैं-जिनकी वृद्धि के लिए हमें प्रयत्न करना चाहिए। दयालुता, मैत्रीभाव, समवेदना, संयम, धैर्य, सत्य, शान्ति और विश्वव्यापी प्रेम। ये सारे भाव जिस समय मनुष्य के हृदय में पूर्ण रूप से विकसित हो जाते हैं उसी समय उसकी आत्मा विस्तीर्ण होते-होते सारे विश्व में फैल जाती है। यदि इन भावों की प्राप्ति करना चाहते हो तो अधीरता, क्रोध, निर्दयता, घृणा और स्वार्थ तथा अपनी वृत्तियों को दमन करने का प्रण कर लो। ज्यों-ज्यों इनकी मात्रा हृदय से घटती जायगी, त्यों-त्यों ही सुख और शान्ति की मात्रा बढ़ती चलेगी।

परमार्थ का मार्ग और उसके सहायक

परमार्थ का मार्ग परोपकार, दीन और निर्बलों की सेवा तथा आध्यात्मिक विषयों की उन्नति में है। इनकी वृद्धि के लिए हमको सत्संग, आत्म-निरीक्षण, नियम पालन और दृढ़ विश्वास की प्रवृत्तियों को बढ़ावा देना चाहिए।

सत्संग मानसिक उन्नति का सर्वप्रथम साधन है। सत्संग से ही मनुष्य को भले और बुरे, लाभदायक और हानिकारक, उत्कृष्ट और निकृष्ट की पहिचान होती है। इसलिए सत्संग का नियम कभी भंग नहीं करना चाहिए। अमर विद्वान और त्यागी पुरुषों का समागम नित्यप्रति न हो सके तो ऐसे महापुरुष के विचारों को उनके रचे हुए ग्रंथों में अवलोकन करना चाहिए। जहाँ तक संभव हो इसका एक विशेष समय निर्धारित कर लेना चाहिए और उस समय विशेष रूप से पवित्र होकर किसी उपदेश पूर्ण धर्म-ग्रन्थ का ध्यानपूर्वक अध्ययन करना चाहिए। इस प्रकार स्वाध्याय करने से मन पर दृढ़ प्रभाव पड़ता है।

आत्म-निरीक्षण के लिए अन्य लोगों के गुणों पर ध्यान देने की विशेष आवश्यकता है। सत्संग और स्वाध्याय से हमको अपनी त्रुटियों का पता लग जाता है। हम जान सकते हैं कि हममें कैसे और कितने दोष भरे पड़े हैं। दूसरों के गुणों को देखकर हम भी उनका अनुकरण कर सकते हैं। हमको इस बात पर भी विचार करते रहना चाहिए कि हमारे दोषों के कारण किसी की हानि तो नहीं हो रही है, किसी के हृदय को आघात तो नहीं लग रहा है। इस प्रकार की भावना से हमारा कल्याण होने के साथ-साथ अन्य लोगों का भी हित होगा और हम परमार्थ के मार्ग पर अग्रसर हो सकेंगे। गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं-

खल अघ अगुन साधु गुनगाहा।
उभय अपार उदधि अवगाहा॥
तेहि ते गुण और दोष बखाने।
संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने॥

मनुष्य का कर्तव्य है कि सत्संग करके गुण और दोषों की पहिचान करे और समझ-बूझकर गुणों को ग्रहण करे तथा अवगुणों को दूर फेंक दे। प्राचीन और नवीन सभी युगों के महान पुरुष इसी नीति से विश्ववंद्य पदवी को प्राप्त कर सके थे। जिन पाठकों ने महात्मा गांधी की आत्म कथा पढ़ी है, वे जानते हैं कि महात्मा जी अपने आरम्भिक जीवन से ही दोषों और पापों के प्रति कितने सतर्क और जागरूक रहते थे और कैसे प्रयत्न से उन्होंने अपनी त्रुटियों को दूर किया था। इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास जी की रचनाओं से प्रकट होता है कि अहंकार और मोह से बचने के लिए वे सदैव आत्म निरीक्षण किया करते थे और अपने दोषों की बड़ी तीव्रता के साथ आलोचना करते थे।

अपने नियम पर दृढ़ रहना प्रत्येक कार्य की पूर्णता के लिए परम आवश्यक है। इससे शरीर और मन नियन्त्रण में रहते हैं और सहनशक्ति की वृद्धि होती है। मनुष्य का मन बड़ा चंचल है। सत्संग और आत्म निरीक्षण के प्रभाव से उतने समय के लिए संयत हो जाने पर भी वह सदैव कुमार्ग पर चलेगा, इसकी कोई गारण्टी नहीं। जैसे ही अनुकूल वातावरण मिल जाता है कि वह उछलकूद मचाने लगता है। इसीलिए उस पर नियम पालन का प्रतिबन्ध रखना आवश्यक है। जब कभी परिस्थितिवश कोई नियम भंग हो जाय तो उसके बदले में कुछ प्रायश्चित कर लेना भी जरूरी है। इस तरह निरन्तर अभ्यास से मन वश में होकर परमार्थ-पथ पर आरूढ़ रह सकता है। जो लोग थोड़ा-सा साधन करते ही अपने को पूर्ण समझ लेते हैं वे कभी सफल नहीं हो सकते। गीता में कहा गया है-

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकऽस्ति न परो सुखं संशयात्मनः॥ ४/३९

"जो लोग निश्चल, दृढ़, भावना से साधना करते हैं वे ही सफल मनोरथ हो सकते हैं। जिनका मन संशय में पड़ा रहता है वे कभी पार नहीं पहुँच सकते, बीच में ही बह जाते हैं।"

परमार्थ के उद्देश्य में पूर्ण विश्वास ही साधक को आगे बढ़ाता है। विश्वास में कमी रहने से भी सफलता प्राप्त होना असम्भव होता है। विश्वास की दृढ़ता से मन और आत्मा का बल बढ़ता है और मनुष्य विघ्न बाधाओं का मुकाबला करता हुआ आगे बढ़ता जाता है। वह संकटों से कभी भयभीत नहीं होता और जब तक लक्ष्य को प्राप्त न कर ले अपनी गति को कभी मन्द नहीं पड़ने देता।

परमार्थ और स्वार्थ की एकता

सम्भव है अब तक के विवेचन से अनेक पाठक इस उलझन में पड़ गये होंगे कि वे किसको स्वार्थ समझें और किसको परमार्थ ? यदि मनुष्य में स्वार्थ की भावना प्राकृतिक और स्वाभाविक है तो क्या 'परमार्थ' का शब्द कोरी कल्पना है ? हम पहले ही बता चुके हैं कि मनुष्य प्रधानत: स्वार्थी ही है और ऐसा होना आवश्यक भी है। यदि मनुष्य में स्वार्थ आत्म-रक्षा और आत्म-विकास की भावना न हो तो उसका अस्तित्व रह सकना कठिन है। परन्तु साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि उच्च सभ्यता और संस्कृति की गोद में पले मनुष्य में परमार्थ और परार्थ की भावना भी न्यूनाधिक अंशों में अवश्य पाई जाती है। पुत्र-प्रेम, पति-प्रेम, देश-प्रेम शब्द केवल कल्पना मात्र नहीं है। किसी अनजान दीन व्यक्ति के कष्ट देखकर अनेक मनुष्य द्रवीभूत हो जाते हैं, तो वह कोई दिखावटी बात नहीं होती, हम नि:स्वार्थ उसकी सेवा करते हैं।

हमारे देश के हजारों व्यक्ति परोपकार के लिए सर्वस्व त्याग कर चुके हैं। गरीबों और अनाथोंकी सेवा के लिए अनेक लोग अति प्राचीन कथाओं को छोड़ भी दें तो अब भी ऐसे व्यक्ति हुए हैं, जिन्होंने करोड़ों की सम्पत्ति अपनी खुशी से देशोद्धार के लिए अर्पण कर दी। हम यही बताना चाहते हैं कि ऐसा स्वार्थ जो अपनी प्रत्यक्ष हानि करके दूसरों के लाभार्थ किया जाय परमार्थ कहलाता है। ऐसा स्वार्थ जिससे बहुसंख्यक लोगों का हित साधन होता है, दूसरों को भी श्रेष्ठ कार्य करने का प्रोत्साहन मिलता है और स्वयं करने वाले को आत्मोन्नति का लाभ मिलता है, वास्तव में परमार्थ है।

१४. सर्वतोमुखी उन्नति

गायत्री मंत्र का चौदहवां अक्षर 'धी' जीवन की सर्वतोमुखी उन्नति की शिक्षा देता है-

धीरस्तुष्टो भवेन्नैव ह्येकस्यां हि समुन्नतौ।
कृयतामुन्नति स्तेन सर्वास्वाशस्तु जीवने॥

अर्थात्- "विज्ञ मनुष्य को एक ही प्रकार की उन्नति में संतुष्ट नहीं रहना चाहिए वरन् सभी दिशाओं में उन्नति करनी चाहिए।"

जैसे शरीर के सभी अंगों का पुष्ट होना आवश्यक होता है, वैसे ही जीवन के सभी विभागों में विकास होना वास्तविक उन्नति का लक्षण है। यदि हाथ खूब मजबूत हो जायें और पैर बिल्कुल दुबले-पतले बने रहें, तो यह विषमता बहुत बुरी जान पड़ेगी। इसी प्रकार कोई आदमी केवल धनी, केवल विद्वान्, केवल पहलवान बन जाय तो यह उन्नति विशेष हितकारी नहीं समझी जा सकती। वह पहलवान किस काम का जो दाने-दाने को मुँहताज हो, वह विद्वान किस काम का जो रोगों से ग्रस्त हो, वह धनी किस काम का जिसके पास न विद्या है न स्वास्थ्य। वही मनुष्य सफल कहा जा सकता है जो अपने स्वास्थ्य को उत्तम बनावे, सुशिक्षा द्वारा बुद्धि का विकास करे, जीवन-निर्वाह के लिए आजीविका का उचित प्रबन्ध करे और समाज में प्रतिष्ठा तथा विश्वास का पात्र समझा जाय।

उन्नति करना ही जीवन का मूल मंत्र है

आगे बढ़ना, निरन्तर ऊपर उठने की चेष्टा करते रहना एक नैसर्गिक नियम है। प्रकृति का हर एक परमाणु आगे बढ़ने के लिए हलचलें कर रहा है। सूर्य को देखिए, चन्द्रमा को देखिए, नक्षत्रों को देखिए, सभी अग्रसर हो रहे हैं। नदियाँ दौड़ रही हैं, वायु वह रही है, पौधे ऊपर उठ रहे हैं। प्रकृति के परमाणुओं का अन्वेषण करने वाले वैज्ञानिकों का कहना है कि प्रत्येक पदार्थ का सबसे छोटा विद्युत घटक (इलैक्ट्रोन) भी प्रति सैकिण्ड सैकड़ों मील की चाल से घूमता हुआ आगे बढ़ रहा है।

जब प्रकृति के जड़ दिखाई पड़ने वाले पदार्थ दिन-रात अग्रसर होने में तल्लीन हैं, तो चैतन्य जीव का क्या कहना ? प्रत्येक जन्म में बढ़ता जाता है। निरन्तर उन्नति करते रहना उसका ईश्वर प्रदत्त नियम है। उन्नति से सन्तुष्ट होने का, आगे बढ़ने की गति को रोक देने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। मनुष्य को तो अपनी सम्पूर्ण अपूर्णताओं

से उठ कर इतना उन्नत बनना है जितना उसका पिता-ईश्वर है। जब तक जीव ब्राह्मी-स्थिति को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक उसकी यात्रा समाप्त नहीं हो सकती। मामूली-सी उन्नति कर लेने पर लोग कहने लगते हैं कि अब इतना मिल गया, सन्तोष करना चाहिए। ऐसे मनुष्य मानव-जीवन के वास्तविक महत्व से अनजान हैं। हमारी उन्नति का सर्वतोमुखी क्षेत्र इतना विशाल है कि उसमें एक जीवन क्या, अनेक जीवनों तक भी निरन्तर अग्रसर होते रहने की गुञ्जायश है।

बराबर आगे बढ़ते रहने के लिए, बराबर नई शक्ति प्राप्त करते रहना आवश्यक है। आपकी उन्नति का क्रम कभी भी रुकना न चाहिए। निरन्तर कदम आगे बढ़ाये चलना है और महानता को बूँद-बूँद इकट्ठी करके अपनी लघुता का खाली घड़ा पूर्ण करना है। उस कर्महीन मनुष्य का अनुकरण करने से आपका काम न चलेगा जो पेट भरते ही हाथ-पैर फैलाकर सो जाता है और जब भूख बेचैन करती है, तब करवट बदलता और कुड़कुड़ाता है। छोटी चींटी को देखिए, वह भविष्य की चिन्ता करती है, आगे के लिए अपने बिल में दाने जमा करती है जिससे जीवन संघर्ष में अधिक दृढ़तापूर्वक खड़ी रहे, दस दिन बाद पानी बरसने के कारण बिल से बाहर निकलने का अवसर न मिले तो भी जीवित रह सके। छोटी मधुमक्खी भविष्य की चिन्ता में आज का कार्यक्रम निर्धारित करती है। आज की जरूरत पूरी करके चुप बैठ रहना उचित नहीं। इस जन्म और अगले जन्म में आपको निरन्तर उन्नति पथ पर चलना है, तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि यात्रा में बल देते रहने योग्य भोजन की व्यवस्था का ध्यान रखा जाय। इस समय आप जितना बल संचय कर रहे हैं तो वह आगे चलकर बहुत लाभदायक सिद्ध होगा। उसकी क्षमता से भविष्य का यात्रा-क्रम अधिक तेजी और सरलता से चलता रहेगा।

योग-साधना के फलस्वरूप सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। अष्ट-सिद्धि, नव-निद्धि के लिए लालायित होकर अनेक साधक कठोर साधनाएँ करते हैं, विजयी बनने के लिए मृत्यु की छाया में रणक्षेत्र की ओर कदम बढ़ाते हैं, स्वर्ग लाभ के लिए दुर्गम वन-पर्वतों की यात्रा करते हैं, धनी बनने के लिए एड़ी से चोटी तक पसीना बहाते हैं, बलवान बनने के लिए थककर चूर-चूर करने वाले व्यायाम में प्रवृत्त होते हैं, विद्वान बनने के लिए रात-रात भर जागकर अध्ययन करते हैं। यह उदाहरण बताते हैं कि उन्नत बनने की आवश्यकता को हमारी अन्त:चेतना विशेष महत्व देती है और उस आवश्यकता को पूरा करने के लिए हम बड़ी से बड़ी जोखिम उठाने को, कठिन से कठिन प्रयत्न करने को तत्पर हो जाते हैं। नकली आवश्यकता और असली आवश्यकता की पहचान यह है कि नकल के लिए, संदिग्ध बात के लिए त्याग करने की तत्परता नहीं होती, असली आवश्यकता के लिए मनुष्य कष्ट सहने और कुर्बानी करने को तैयार रहता है। एक आदमी सिनेमा का शौकीन है उससे कहा जाय कि एक खेल के बदले में तुम्हें अपनी उँगली कटवानी पड़ेगी तो वह ऐसा खेल देखने से मना कर देगा क्योंकि खेल देखने की आवश्यकता नकली है, उसके लिए इतना कष्ट सहन नहीं किया जा सकता। परन्तु यदि स्त्री, पुत्र आदि कोई प्रियजन अग्नि काण्ड में फँस गये हों तो उन्हें बचाने के लिए जलती हुई अग्नि शिखाओं में कूदा जा सकता है। फिर चाहे भले ही उसमें झुलस कर अपना भी शरीर चला जावे। सिनेमा का खेल देखने की आवश्यकता और प्रियजनों की जीवन रक्षा की आवश्यकता में कौन असली है और कौन नकली ? इसकी पहचान उसके लिए त्याग करने की मात्रा के अनुसार जानी जा सकती है। हम देखते हैं कि उन्नति करने की लालसा मानव स्वभाव में इतनी तीव्र है कि वह उसके लिए कष्ट सहता है और जोखिम उठाता है। यह भूख असली है। असली आवश्यकता में इतना आकर्षण होता है कि उसके लिए तीव्र शक्ति से प्रयत्न करने को बाध्य होना पड़ता है। मौज में पड़े रहना किसी को बुरा नहीं लगता, पर उन्नति की ईश्वर-दत्त आकांक्षा इतनी तीव्र है कि उसके लिए मौज छोड़कर लोग कष्ट सहने को तत्पर हो जाते हैं।

देखा जाता है कि लोग उन्नतिशील स्वभाव के होते हैं, उन्हें कहीं न कहीं से आगे बढ़ाने वाली सहायताएँ प्राप्त होती रहती हैं। कभी-कभी तो अचानक ऐसी मदद मिल जाती है जिसकी पहले कुछ भी आशा नहीं थी। छोटे-छोटे आदमी बड़े-बड़े काम कर डालते हैं, उन्हें अनायास ऐसे अवसर मिल जाते हैं, जिससे बहुत बड़ी उन्नति का रास्ता खुल जाता है। साधारण बुद्धि के लोग उन्हें देखकर ऐसा कहा करते हैं कि अमुक व्यक्ति का भाग्योदय हुआ, उसके भाग्य ने अचानक ऐसे कारण उपस्थित कर दिये जिससे वह तरक्की की ओर बढ़ गया। हम इसे ईश्वर की कृपा कहते हैं। जो व्यक्ति आगे बढ़ने की तीव्र इच्छा करते हैं, उन्नति के लिए जो जांफिसानी के साथ प्रयत्नशील हैं, उसके प्रशंसनीय उद्योग को देखकर ईश्वर प्रसन्न होता है, अपना सच्चा आज्ञापालक समझता है और उसे प्यार करता

है। जिस पर उस परमपिता का विशेष स्नेह है उसे यदि वह कुछ विशेष सहायता दे देता है तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। एक प्रसिद्ध कहावत है- "ईश्वर उसकी मदद करता है, जो अपनी मदद आप करता है।" उन्नतिशील स्वभाव के लोगों को, उनकी उचित प्रवृत्ति में सहायता करने के लिए, परमपिता परमात्मा ऐसे साधन उपस्थित कर देता है जिससे उसकी यात्रा सरल हो जाती है। अचानक, अनिश्चित एवं अज्ञात सहायताओं का मिल जाना इसी प्रकार संभव होता है।

आप 'उन्नति करना' अपने जीवन का मूल-मंत्र बना लीजिए, ज्ञान को अधिक बढ़ाइए, शरीर को स्वस्थ बलवान और सुन्दर बनाने की दिशा में अधिक प्रगति करते जाइए, प्रतिष्ठावान हूजिए, ऊँचे पद पर चढ़ने का उद्योग कीजिए, मित्र और स्नेहियों की संख्या बढ़ाइए, पुण्य संचय करिए, सद्गुणों से परिपूर्ण बनिए, आत्म-बल बढ़ाइए, बुद्धि को तीव्र करिए, अनुभव बढ़ाइए, विवेक को जागृत होने दीजिए। बढ़ना, आगे बढ़ना और आगे बढ़ना यात्री का यही कार्यक्रम होना चाहिए।

अपने को असमर्थ, अशक्त एवं असहाय मत समझिए, ऐसे विचारों का परित्याग कर दीजिए कि साधनों के अभाव में हम किस प्रकार आगे बढ़ सकेंगे। स्मरण रखिये, शक्ति का स्रोत साधनों में नहीं, भावना में है। यदि आपकी आकांक्षाएँ आगे बढ़ने के लिए व्यग्र हो रही हैं, उन्नति करने की तीव्र इच्छाएँ बलवती हो रही हैं, तो विश्वास रखिए साधन आपको प्राप्त होकर रहेंगे। ईश्वर उन लोगों की पीठ पर अपना वरद हस्त रखते हैं जो हिम्मत के साथ आगे कदम बढ़ाते हैं।

उन्नति के लिए आकांक्षा कीजिए

परमात्मा ने सभी को एक से शारीरिक अंग-प्रत्यंग और इन्द्रियाँ दी हैं। यदि मनुष्य इनका उचित रूप से प्रयोग करे तो कोई कारण नहीं कि जीवन क्षेत्र में अभीष्ट सफलता प्राप्त न हो सके। मनुष्य जिस प्रकार की इच्छा और आकांक्षा करता है वैसी ही परिस्थितियाँ उसके निकट एकत्रित होने लगती हैं। आकांक्षा एक प्रकार की चुम्बक शक्ति है जिसके आकर्षण से अनुकूल परिस्थितियाँ खिंची चली आती हैं। जहाँ गड्ढा होता है, वहाँ चारों ओर से वर्षा का पानी सिमट आता है और वह गड्ढा भर जाता है, किन्तु जहाँ ऊँचा टीला होता है वहाँ भारी वर्षा होने पर भी पानी नहीं ठहरता। आकांक्षा एक प्रकार का गड्ढा है जहाँ सब ओर से अनुकूल स्थितियाँ खिंच-खिंच कर एकत्रित होने लगती है, जहाँ इच्छा नहीं वहाँ कितने ही अनुकूल साधन मौजूद हों पर कोई महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त नहीं होती।

देखा गया है कि अमीरों के लड़के अक्सर नालायक निकलते हैं और गरीबों के लड़के बड़ी-बड़ी उन्नतियाँ कर जाते हैं। संसार के इतिहास को उलट जाइए अधिकांश महापुरुष गरीबों के घर में पैदा हुए व्यक्ति ही मिलेंगे। कारण यह है कि ऐश-आराम की काफी सामग्री सुगमतापूर्वक मिल जाने के कारण उनकी रुचि सुखोपभोग में लग जाती है। किसी दिशा में महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त करने की तीव्र अभिलाषा उनमें नहीं होती। अभिलाषा के बिना पौरुष जागृत नहीं होता और पुरुषार्थ के बिना महत्वपूर्ण सफलता कठिन है। गरीबों के लड़के अभावग्रस्त स्थिति में पैदा होते हैं, अपनी हीनता और दूसरों की उन्नति देखकर अन्त:करण में एक आघात लगता है, इस आघात के कारण उनमें एक हलचल, बेचैनी, उत्पन्न होती है, उस बेचैनी को शान्त करने के लिए वे उन्नत अवस्था में पहुँचने की आकांक्षा करते हैं। यह आकांक्षा ही उस मार्ग पर ले दौड़ती है जिस पर चलते हुए महत्वपूर्ण सफलताएँ प्राप्त हुआ करती हैं।

उपरोक्त पंक्तियों में हमारा अभिप्राय गरीबी या अमीरी के साथ उन्नति या जीवन की असफलता या सम्बन्ध जोड़ने का नहीं है। हमारा अभिप्राय केवल यह बताने का है कि जहाँ जिस वातावरण में इच्छा की, आकांक्षा की कमी रहेगी वहाँ विभूतियाँ प्राप्त न हो सकेंगी। जहाँ इच्छा होगी, अभिरुचि होगी, वहाँ पैसे का, साधनों का, सहयोग का अभाव भले ही हो पर धीरे-धीरे अनुकूल वातावरण उत्पन्न हो जायगा और गौरवास्पद सिद्धि मिलकर रहेगी। यदि सम्पन्न घर के व्यक्ति को किसी बात की उत्कट अभिलाषा हो तब तो सोना और सुगन्ध का संयोग ही समझिए। गरीबों को उन्नति के लिए जिन साधनों को जुटाने में पर्याप्त परिश्रम करना पड़ता है वे तो उन्हें अनायास ही प्राप्त हुए होते हैं। इसलिए उनके लिए वो आगे बढ़ने में और भी अधिक आसानी होनी चाहिए।

मन में जो इच्छा प्रधान रूप से काम करती है, उसे पूरा करने के लिए शरीर की समस्त शक्तियाँ काम करने लगती हैं। निर्णय-शक्ति, निरीक्षण-शक्ति, अन्वेषण-शक्ति, आकर्षण-शक्ति, चिन्तन-शक्ति, कल्पना-शक्ति आदि मस्तिष्क की अनेकों शक्तियाँ उसी दिशा में अपना प्रयत्न आरम्भ कर देती हैं। यह शक्तियाँ जब सुप्त अवस्था में पड़ी होती हैं या विभिन्न दिशाओं में बिखरी रहती हैं तब मनुष्य की स्थिति अस्त-व्यस्त एवं नगण्य होती हैं परन्तु जब

शक्तियाँ एक ही दिशा में कार्य करना आरम्भ कर देती हैं तो एक जीवित चुम्बकत्व तैयार हो जाता है। जैसे चुम्बक पत्थर को कूड़े-कचरे में भी फिराया जाय तो धातुओं के जो टुकड़े इधर-उधर बिखर रहे होंगे वे सब उससे चिपक जावेंगे। इस प्रकार विशिष्ट आकांक्षाएँ मन में धारण किए हुए व्यक्ति अपनी आकर्षण शक्ति से उन सब तत्वों को ढूँढ़ता और प्राप्त करता रहता है, जो लघु कणों के रूप में जहाँ-तहाँ बिखरे पड़े होते हैं।

जब किसी बात की तीव्र इच्छा होती है तो उसे पूर्ण करने के लिए साधनों की तलाश आरम्भ होती है, निदान कोई न कोई उपाय निकल ही आते हैं। आवश्यकता आविष्कार की जननी है। जहाँ चाह होती है, वहाँ राह निकल आती है। अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए लोग आकाश में से राह बना लेते हैं, अथाह समुद्र में डुबकी लगाकर उसकी तली में रखे हुए मोती ढूँढ़ लाते हैं, रेत के जर्रों को ढूँढ़ कर सोने-चाँदी की खानें मालूम करते हैं, कोयले के पर्वतों को तोड़कर हीरों का पता लगाते हैं। तलाश वास्तव में बड़ी प्रेरक-शक्ति है, मनुष्य ने एवरेस्ट की चोटी, समुद्र की तली, ध्रुव प्रदेशों की भूमि और आकाश की दुर्गमता पार कर ली है। प्रकृति के गर्भ में छिपे हुए अनेकों रहस्यों को ढूँढ़ कर, एक से एक अद्भुत सिद्धि के पथ पर दृढ़तापूर्वक अग्रसर होता है, तब वह एक शक्तिशाली भीमकाय युद्ध टैंक का रूप धारण कर लेता है। खाई-खन्दकों को पार करता हुआ, रास्ते के पेड़-पौधों की बाधाओं को तोड़ता-मरोड़ता हुआ अभीष्ट लक्ष की ओर द्रुतगति से बढ़ता जाता है।

जीवन को ऊँचा उठाने के इच्छुकों के लिए सबसे प्रथम मार्ग यह है कि अपनी आकांक्षा को जागृत करें। अन्य मनस्कता, उदासीनता और मुर्दादिली को छोड़कर अपने मनःक्षेत्र को सतेज करें। आप विचार कीजिए कि (१) आपके जीवन में किन वस्तुओं का अभाव है? (२) उस अभाव के कारण आपको क्या-क्या कष्ट सहने पड़ते हैं? (३) आपको किन वस्तुओं की आवश्यकता है? (४) उन वस्तुओं के उपलब्ध हो जाने पर आप कितने सन्तोष, सुख और आनन्द का रसास्वादन कर सकते हैं? इन चारों प्रश्नों पर बार-बार विचार कीजिए और जिन पदार्थों की आवश्यकता अनुभव करें उन्हें प्राप्त करने के लिए तीव्र इच्छा कीजिए।

आपकी इच्छा, प्रेरक इच्छा होनी चाहिए। उसकी भूख भीतर से उठनी चाहिए। उसके पीछे प्राण और जीवन होना चाहिए। 'इस वस्तु को प्राप्त करके रहूँगा, चाहे कितनी ही बाधा मार्ग में क्यों न आवें? अपने प्रयत्न निरन्तर जारी रखूँगा चाहे कितने ही निराश करने वाले अवसर क्यों न आवें।' इस प्रकार के संकल्प की मन में गहरी सुदृढ़ स्थापना होनी चाहिए।

जिस वस्तु को आप प्राप्त करना चाहते हैं पहले उसके सम्बन्ध में गम्भीर विचार कर लीजिए, उसे प्राप्त करना किस प्रकार कैसे सम्भव है, उसकी सम्भावनाओं पर तर्क-वितर्क कीजिए, कल्पना की स्वप्निल उड़ान से नीचे उतर कर व्यावहारिक क्षेत्र में दृष्टिपात कीजिए कि कहीं आप कोई 'चन्द्र खिलौना' तो नहीं चाह रहे हैं। आरम्भ में छोटी-छोटी सफलताएं प्राप्त करने को छोटे-छोटे कार्य हाथ में लीजिए। बहुत बड़ी मुद्दतों में पूरे होने वाले कार्यों को आरम्भिक लक्ष्य बना लेना ठीक नहीं है। अन्तिम लक्ष्य बहुत बड़ा हो सकता है, पर आरम्भिक सफलता के लिए छोटे-छोटे विराम रखने चाहिए। जैसे आप धुरन्धर विद्वान बनना चाहते हैं तो पहले अमुक छोटी परीक्षा पास करने का लक्ष्य स्थिर कीजिए। उसमें सफल होने के बाद आगे की मंजिलें नियत करते चलिए और उन्हें तय करते जाइए। इस प्रकार एक-एक करके छोटी मंजिलों को पार करते चलने से मनुष्य का साहस, बल, आत्म-विश्वास और अनुभव बढ़ता चलता है और वह धीरे-धीरे अन्तिम लक्ष तक पहुँच जाता है।

उन्नति के मार्ग में कठिनाइयाँ

सफलता का मार्ग सुगम नहीं होता। उसमें पग-पग पर विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ता है। ऐसा कोई भी महत्वपूर्ण कार्य नहीं जिसमें कष्ट और कठिनाइयाँ न उठानी पड़ें। ऐसी एक भी सफलता नहीं है जो कठिनाइयों से संघर्ष किए बिना ही प्राप्त हो जाती हों। जीवन के महत्वपूर्ण मार्ग विघ्न-बाधाओं से सदा ही भरे रहते हैं। यदि परमात्मा ने सफलता का कठिनाई के साथ गठबन्धन न किया होता, उसे सर्व सुलभ बना दिया होता तो मनुष्य जाति का वह सबसे बड़ा दुर्भाग्य होता। तब सरलता से मिली हुई सफलता बिल्कुल नीरस एवं उपेक्षणीय हो जाती। जो वस्तु जितनी कठिनता से, जितना खर्च करके मिलती है, वह उतनी ही आनन्ददायक होती है। कोई शाक या फल जिन दिनों सस्ता और काफी संख्या में मिलता है उन दिनों उसकी कोई पूछ नहीं होती, पर जिन दिनों वह दुर्लभ होता है उन दिनों अमीर लोग उसकी खोज कराके मँहगे दाम पर खरीदते हैं। स्वर्ण की महत्ता इसलिए है कि यह कम मिलता है कि यदि कोयले की तरह सोने की

खानें निकल पड़ें तो उसे भी लोग वैसी ही लापरवाही से देखेंगे जैसे आज लोहे आदि सस्ती वस्तुओं को देखा जाता है ।

दुर्लभता और दुष्प्राप्यता से आनन्द का घनिष्ठ संबन्ध है । जब प्रेमी और प्रेमिका दूर-दूर रहते हैं तो एक-दूसरे को चन्द्र-चकोर की भाँति याद किया करते हैं, परन्तु जब सदा ही एक जगह रहना होता है तो दाल में नमक कम पड़ने या सिन्दूर की बिन्दी लाने में भूल हो जाने जैसी छोटी -छोटी बातों पर कलह होने लगती है । जो वस्तुएँ दुर्लभ हैं, सर्व साधारण को आसानी से नहीं मिलतीं उन्हें पा लेना ही सफलता कहते हैं । जिन कार्यों की सफलता सर्व सुलभ है, वैसे कार्य तो सब लोग सदा करते ही रहते हैं । उनके लिए न कोई पुस्तक पढ़ने की आवश्यकता पड़ती है और न लेखक को लिखने की । यदि महत्वपूर्ण सफलताओं को प्राप्त करने में कुछ बाधा न होती तो वे महत्वपूर्ण न रहतीं और न उनमें कुछ रस आता । कोई रस और कोई विशेषता, न रहने पर यह संसार बड़ा ही नीरस एवं कुरूप हो जाता, लोगों को जीवन काटना एक भार की भाँति अप्रिय कार्य प्रतीत होने लगता ।

कठिनाइयों के न रहने पर एक और हानि होती है कि मनुष्य की क्रियाशीलता, कुशलता एवं चैतन्यता नष्ट हो जाती । ठोकरें खा-खाकर अनुभव एकत्र किया जाता है। घिसने और पिसने से योग्यता बढ़ती है । कष्ट की चोट सहकर मनुष्य दृढ़, बलवान और साहसी बनता है । मुसीबत की अग्नि में तपाये जाने पर बहुत-सी कमजोरियाँ जल जाती हैं और मनुष्य खरे सोने की तरह चमकने लगता है । हथियार की धार पत्थर पर रगड़ने से तेज होती है । खराद पर चढ़ाने से हीरे में चमक आती है । घात-प्रतिघातों की ठोकर खाकर रबड़ की गेंद की तरह अन्तःचेतना में उछाल आता है , वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचने की गतिविधि आरम्भ कर देती है। मनुष्य भी ऐसे ही तत्वों से बना हुआ है कि यदि उसे ठोकर न लगे, कठिनाई से संघर्ष न करना पड़े तो उसकी सुप्त शक्तियाँ जागृत न हो सकेंगी और वह जहाँ का तहाँ पड़ा दिन काटता रहेगा ।

सफलता में आनन्द कायम रखने और शक्तियों के चैतन्य होकर विकास के मार्ग पर प्रवृत्त होने के लिए, जीवन में कष्ट और कठिनाइयों का रहना बड़ा ही आवश्यक है। इतिहास में जिन महापुरुषों का वर्णन है, उनमें से हर एक के पीछे कष्टों, दुर्दम कठिनाइयों में पड़ने का, विस्तृत वृत्तान्त है । उसी के कारण वे महापुरुष बने हैं । यदि ईसामसीह के जीवन में से उनकी तपश्चर्या और क्रूस पर चढ़ना, इन दो बातों को निकाल दिया जाये तो वह एक साधारण धर्मोपदेशक मात्र रह जायेंगे । राणा प्रताप, शिवाजी, बन्दा वैरागी, हकीकत राय, शिव, दधीचि, हरिश्चन्द्र, प्रहलाद, लेनिन, गान्धी, जवाहर आदि को परम आदरणीय महापुरुष बनाने का महत्व उनकी कष्ट सहिष्णुता को है, यदि उन्होंने पग-पग पर कष्ट सहना स्वीकार न किया होता, यदि उन्होंने दुःखों और कठिनाइयों को न अपनाया होता तो वे साधारण श्रेणी के भले मनुष्य मात्र रह जाते, महापुरुष का पद उन्हें प्राप्त न हुआ होता ।

आकांक्षा, जागरूकता और परिश्रमशीलता से बड़े-बड़े कष्ट साध्य कार्य पूरे हो जाते हैं, तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि वे शीघ्र ही स्वल्पकाल में और बिना कोई खतरा उठाये सफल हो जाते हैं । परमेश्वर बार-बार परीक्षा लेकर मनुष्य के अधिकारी होने न होने की जाँच किया करता है । सफलता के लिए भी मनुष्य को अनेकों खतरों, कष्टों और निराशाजनक अवसरों की परीक्षाएँ देनी होती हैं । जो उत्तीर्ण होते हैं वे ही आगे बढ़ते हैं, मनोवांछित सफलता का रसास्वादन करते हैं । जो इन परीक्षाओं से डर जाते हैं, उन्हें पार करने का प्रयत्न नहीं करते वे उन्नति के शिखर पर नहीं पहुँच सकते, अभीष्ट सिद्धि की महत्ता को प्राप्त नहीं कर सकते ।

सफलता की मंजिल क्रमशः और धीरे-धीरे पार की जाती है, कठिनाइयों से लड़ता, मरता, चोटें और ठोकरें खाता हुआ ही कोई मनुष्य सफल मनोरथ होता है । अनेक बार दूसरे के द्वारा विघ्न डाले जाते हैं, कई बार दैवी प्रकोप के कारण अनायास ही कुछ अड़चनें आ जाती हैं, कई बार मनुष्य स्वयं भूल कर बैठता है । अपनी असावधानी या भूल के कारण असफल होना पड़ता है । अपनी भूलों को सुधारने के लिए प्रयत्न किया जाता है, पर पुराने अभ्यास के कारण वे दोष फिर उमड़ पड़ते हैं और बना बनाया काम बिगाड़ देते हैं । कई बार प्रयत्न करते हुए भी जब अपने-अपने स्वभाव या अभ्यास को सुधारने में सफलता नहीं मिलती तो बड़ी निराशा होती है और खिन्न होकर मनुष्य अपने प्रयास को ही बन्द कर देता है ।

अपने स्वभाव के लिए बदलने का पूरी शक्ति से प्रयत्न तो करना चाहिए, पर यह आशा न करनी चाहिए कि इस दिशा में दो-चार दिन में ही पूर्ण सुधार हो जायगा । स्वभाव का अभ्यास धीरे-धीरे बहुत दिन में पड़ता है, किसी दोष से पूर्णतया छुटकारा पाने या किसी अच्छी आदत को डालने में बहुत समय तक प्रयत्न करने की आवश्यकता होती है। यह प्रयत्न धैर्य एवं दृढ़ता के साथ, उत्साहित एवं

आशान्वित होकर करना चाहिए और जब भूलें हों तो अपने को अधिक सावधान एवं जागरूक करते हुए आगे से अधिक सावधानी बरतने का निश्चय करना चाहिए। रस्सी की जड़ से जब पत्थर जैसा कठोर पदार्थ घिस जाता है तो कोई कारण नहीं कि हम अपने दोषों और त्रुटियों को परिवर्तित या नष्ट न कर सकें।

उन्नति के मार्ग में कई बार आकस्मिक परिस्थितियाँ आगे आ जाती हैं और बने काम को बिगाड़ देती हैं। सफलता की मंजिल पूरी होने के नजदीक होती है कि यकायक कोई ऐसा वज्र प्रहार हो जाता है कि सारे मनसूबे धूल में मिल जाते हैं। पूरा प्रयत्न करने, पूरी सावधानी बरतने पर भी इस प्रकार के संकट सामने आ जाते हैं, जो बिल्कुल ही आकस्मिक होते हैं। पहिले से उनकी कल्पना भी नहीं रहती। मृत्यु, विछोह, चोरी, अग्निकाण्ड, रोग, युद्ध, तूफान, वर्षा, शत्रु का प्रहार, षड़यन्त्र, राजदण्ड, घाटा, वस्तुओं की टूट-फूट, विश्वासघात, अपमान, ठगा जाना, दुर्घटना, भूल आदि कारणों से ऐसी भयंकर परिस्थितियाँ सामने आ खड़ी होती हैं, जिनकी पहले से कोई संभावना ही न थी। ऐसी विषम स्थिति में होकर गुजरने का जिन्हें साहस, अनुभव या अभ्यास नहीं होता, वे यकायक घबरा जाते हैं, किंकर्तव्य विमूढ़ हो जाते हैं, उन्हें सूझ नहीं पड़ता कि क्या करें क्या न करें।

यह स्थिति मनुष्य जैसे विवेकशील प्राणी के गौरव को गिराने वाली है। विपरीत परिस्थितियाँ, मनसूबों को धूल में मिला देने की क्षमता रखती हैं, यह ठीक है, पर यह भी ठीक है कि सदा ही हर बार किन्हीं प्रयत्नों को कोई भी प्रकृति का प्रकोप नहीं रोक सकता। हरी घास को ग्रीष्म की चिलचिलाती धूप जला डालती है, उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि घास को धूप ने सर्वथा परास्त कर दिया, परन्तु यह स्थिति सदा नहीं रहती, क्योंकि विध्वंसक तत्वों की सत्ता बहुत ही क्षणिक एवं स्वल्पजीवी हुआ करती है। ग्रीष्म समाप्त होते ही वर्षा आती है और जली-भुनी घास फिर सजीव एवं हरी-भरी हो जाती है। ग्रीष्म चला गया, घास को एक बार उसने परास्त कर दिया, परन्तु इतने मात्र से ही यह नहीं समझ लेना चाहिए कि धूप में घास को नष्ट कर डालने की, उसके सुरम्य जीवन को नष्ट कर डालने की शक्ति है। ईश्वर ने जिसे जीवन दिया है, ईश्वर ने जिसे आनन्दमय बनाया है, उसके जीवन और आनन्द को कोई भी विक्षेप छीन नहीं सकता, नष्ट नहीं कर सकता।

प्रकृति के नियमों में एक रहस्य बड़ा ही विचित्र और अद्‌भुत है। वह यह है, कि हर एक विपत्ति के बाद उसकी विरोधी सुविधा प्राप्त होती है। जब मनुष्य बीमारी से उठता है तो बड़े जोरों की भूख लगती है, निरोगिता-शक्ति बड़ी तीव्रता से जागृत होती है और जितनी थकान बीमारी के दिनों में आई थी वह थोड़े दिनों में बड़ी तेजी के साथ पूरी हो जाती है। ग्रीष्म की जलन को चुनौती देती हुई वर्षा की मेघ मालाएँ आती है और धरती को शीतल, शान्तिमय हरियाली से ढँक देती हैं। हाथ-पैरों को अकड़ा देने वाली ठण्ड जब उग्र रूप से अपना जौहर दिखा चुकी होती हैं, तो उसकी प्रतिक्रिया से एक ऐसा मौसम आता है जिसके द्वारा शीत सर्वथा नष्ट हो जाता है। रात्रि के बाद दिन का आना सुनिश्चित है। अन्धकार के बाद प्रकाश का दर्शन भी अवश्य ही होता है। मृत्यु के बाद जन्म भी होता ही है। रोग, घाटा, शोक आदि की विपत्तियाँ चिरस्थाई नहीं हैं, वे आँधी की तरह आती हैं और तूफान की तरह चली जाती हैं। उनके चले जाने के पश्चात् एक दैवी प्रतिक्रिया होती है जिसके द्वारा उस क्षति की पूर्ति के लिए कोई ऐसा विचित्र मार्ग निकल आता है, जिससे बड़ी तेजी से उस क्षति की किसी न किसी प्रकार पूर्ति हो जाती है, जो आपत्ति के कारण हुई थी।

आकस्मिक विपत्ति का सिर पर आ पड़ना, मनुष्य के लिए सचमुच बड़ा दु:खदायी है। इससे उसकी बड़ी हानि होती है किन्तु उस विपत्ति की हानि से अनेकों गुनी हानि करने वाला एक और कारण है वह है "विपत्ति की घबराहट"। विपत्ति कही जाने वाली मूल घटना, चाहे वह कैसी ही बड़ी क्यों न हो किसी का अत्यधिक अनिष्ट नहीं कर सकती, वह अधिक समय ठहरती भी नहीं, अपना एक प्रहार करके चली जाती है। परन्तु 'विपत्ति की घबराहट' ऐसी दुष्टा, पिशाचिनी है कि वह जिसके पीछे पड़ती है उसके गले से खून की प्यासी जोंक की तरह चिपक जाती है और जब तक उस मनुष्य को पूर्णतया नि:सत्व नहीं कर देती तब तक उसका पीछा नहीं छोड़ती। विपत्ति के पश्चात् आने वाले अनेकानेक जंजाल इस घबराहट के कारण ही आते हैं। शारीरिक, मानसिक और सामाजिक सुस्थिति का सत्यानाश करके वह मनुष्य की जीवनी शक्ति को चूस जाती हैं।

आकस्मिक विपत्तियों से मनुष्य नहीं बच सकता। राम, कृष्ण, हरिश्चन्द्र, नल, पाण्डव, प्रताप, शिवाजी, गुरु गोविन्दसिंह जैसी आत्माओं को विपत्ति ने नहीं छोड़ा तो अन्य कोई उसकी चपेटों से बच जायगा ऐसी आशा नहीं करनी चाहिए। इस सृष्टि का विधि-विधान कुछ ऐसा ही

है कि सम्पत्ति और विपत्ति का, लाभ और हानि का चक्र हर एक के ऊपर चलता रहता है। प्रारब्ध कर्मों का भोग भुगतने के लिए, ठोकर देकर चेताने के लिए, क्रिया शक्ति, मजबूती, दृढ़ता और अनुभवशीलता की वृद्धि के लिए या किसी अन्य प्रयोजन के लिए विपत्तियाँ आती हैं । इसका ठीक-ठीक कारण तो परमात्मा ही जानता है पर इतना सुनिश्चित है कि विपत्तियों का प्रकोप विभिन्न मार्गों से समय-समय पर हर एक के ऊपर होता रहता है । अप्रिय, अरुचिकर एवं असन्तुष्ट करने वाली परिस्थितियाँ न्यूनाधिक मात्रा में हर किसी के सामने आती हैं । इनसे कोई भी पूर्णतया सुरक्षित नहीं रह सकता, पूरी तरह नहीं बच सकता ।

परन्तु यह बात अवश्य है कि यदि हम चाहें तो उन विपत्तियों के पीछे आने वाले बड़े भयंकर और सत्यानाशी आपत्ति जंजालों से आसानी के साथ बचे रह सकते हैं और आसानी से उस आकस्मिक विपत्ति की थोड़े ही समय में क्षति-पूर्ति कर सकते हैं । कठिनाई से लड़ने और उसे परास्त करके अपने पुरुषार्थ का परिचय देना, यह मनोवृत्ति ही सच्चे वीर पुरुषों को शोभा देती है । योद्धा पुरुष उस तलवार को चुनौती देते रहते हैं, जिससे एक ही झटके में सिर धड़ से अलग हो सकता है। बहादुरों को किसी प्रकार का डर नहीं होता, उन्हें अपना भविष्य सदा ही सुनहरा दिखाई देता है ।'हतो वा प्राप्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्' की भावना उनके मन में सदा ही उत्साह एवं आशा की ज्योति प्रदीप्त रखती है । बुरे समय के तीन सच्चे साथी होते हैं- धैर्य, साहस और प्रयत्न । जो इन तीनों को साथ रखता है, उसका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता । जिसने कठिन समय में अपने मानसिक सन्तुलन को कायम रखने का महत्व समझ लिया है, जो बुरी घड़ी में भी दृढ़ रहता है, अन्धकार में रहकर भी जो प्रकाश पूर्ण प्रभात की आशा लगाये रहता है, वह वीर पुरुष सहज में ही दुर्गमता को पार कर जाता है। मानसिक सन्तुलन के कायम रहने से न तो शारीरिक स्वास्थ्य नष्ट होता है और न मानसिक गड़बड़ी पड़ती है, न तो उसके मित्र उदासीन होते हैं और न शत्रु उबलते हैं इस प्रकार स्वनिर्मित दुर्घटनाओं से वह बच जाता है । अब केवल आकस्मिक विपत्ति की क्षति पूर्ति का प्रश्न रह जाता है । अत्यधिक उग्र आकांक्षा और पूर्व अनुभव के आधार पर वह अपनी विवेक बुद्धि से ऐसे साधन जुटा लेता है, ऐसे मार्ग तलाश कर लेता है कि पहली जैसी या उसके समतुल्य अन्य किसी प्रकार की सुखदायक परिस्थिति प्राप्त कर ले । जो बुरे समय में अपने साहस और धैर्य को कायम रखता है, वह भाग्यशाली वीर योद्धा जीवन भर कभी दुर्भाग्य की शिकायत नहीं कर सकता । कष्ट की घड़ी उसे ईश्वरीय कोप नहीं वरन् धैर्य, साहस और पुरुषार्थ की परीक्षा करने वाली चुनौती दिखाई पड़ती है वह इस चुनौती को स्वीकार करने का गौरव लेने का सदा तैयार रहता है ।

दार्शनिक चुर्निंग हांग तो कहा करते थे कि 'कठिनाई एक विशालकाय, भयंकर आकृति के, किन्तु कागज के बने हुए सिंह के समान है, जिसे दूर से देखने पर बड़ा डर लगता है, पर एक बार जो साहस करके उसके पास पहुँच जाता है उसे प्रतीत होता है कि वह केवल एक कागज का खिलौना मात्र था । बहुत से लोग चूहों को लड़ते देखकर डर जाते हैं, पर ऐसे भी लाखों योद्धा हैं जो दिन-रात आग उगलने वाली तोपों की छाया में सोते हैं । एक व्यक्ति को एक घटना वज्रपात के समान असह्य मालूम होती है, परन्तु दूसरे आदमी पर जब वही घटना घटित होती है, तो वह लापरवाही से कहता है 'ऊँह ! क्या चिन्ता है, जो होगा देखा जायगा ।' ऐसे लोगों के लिए वह दुर्घटना स्वाद परिवर्तन की एक सामान्य बात होती है। विपत्ति अपना काम करती रहती है, वे अपना काम करते रहते हैं । बादलों की छाया की भाँति बुरी घड़ी आती है और समयानुसार टल जाती है । बहादुर आदमी हर नई परिस्थिति के लिए तैयार रहता है। पिछले दिनों ऐश-आराम के साधनों का उपभोग भी वहीं करता था और अब मुश्किल से भरे, अभाव ग्रस्त दिन बिताने पड़ेंगे तो इसके लिए भी वह तैयार है । इस प्रकार का साहस रखने वाले वीर, पुरुष ही, इस संसार में सुखी जीवन का उपयोग करने के अधिकारी हैं। जो भविष्य के अन्धकार की दुखद कल्पनाएं कर-कर के अभी से सिर फोड़ रहे हैं, वे एक प्रकार के नास्तिक हैं, ऐसे लोगों के लिए यह संसार दुःखमय, नरक रूप रहा है और आगे भी वैसा ही बना रहेगा ।

किसी निश्चित कार्यक्रम पर चलते हुए उस योजना को विफल कर देने वाले कारण कभी-कभी उपस्थित हो जाते हैं । किसी प्रमुख सम्बन्धी की मृत्यु, रोग, लड़ाई-झगड़े, आर्थिक हानि, विश्वासघात, दुर्घटना, बने हुए कार्य का बिगड़ जाना आदि जैसे किसी कारण से, निश्चित कार्यक्रम बदलना पड़ सकता है, भविष्य में अधिक परिश्रम करने और अभावग्रस्त दशा में रहने के लिए विवश होना पड़ सकता है, विछोह और वियोग की पीड़ा में

जलना पड़ सकता है। ऐसी गिरी हुई स्थिति आने पर घबराना नहीं चाहिए बल्कि अपने आपको बदल लेना चाहिए । पहले जैसी स्थिति थी तब वैसी स्थिति के अनुकूल अपने कार्य होते थे, अब दूसरी स्थिति है तो उसी अनुपात से दूसरे ढंग से काम होना चाहिए ।

पहले सम्पन्न अवस्था में रहकर पीछे जो विपन्न अवस्था में पहुँचते हैं वे सोचते हैं कि लोग हमारा उपहास करेंगे । इस उपहास की शर्म से लोग बड़े दुःखी रहते हैं। वास्तव में यह अपने मन की कमजोरी मात्र है। दुनियाँ में सब लोग अपने-अपने काम में लगे हुए हैं, किसी को इतनी फुरसत नहीं है कि बहुत गम्भीरता से दूसरों का उपहास या प्रशंसा करे । लोगों को इतनी मात्र आलोचना या उपहास के भय से, अपने आपको ऐसी लज्जा में डुबाये रहना, मानो कोई अपराध किया हो, मनुष्य की भारी भूल है ।

चोरी करने में, बुराई, दुष्टता, नीच कर्म, पाप या अधर्म करने में लज्जा आनी चाहिए । यह कोई लज्जा की बात नहीं कि कल दस पैसे थे आज दो रह गये, कल सम्पन्न अवस्था थी आज विपन्न हो गई । पाण्डव एक दिन राजगद्दी पर भी शोभित थे, एक दिन उन्हें मेहनत मजूरी करके अज्ञातवास में पेट भरने और दिन काटने के लिए विवश होना पड़ा । राणा प्रताप और महाराज नल का चरित्र जिन्होंने पढ़ा है, वे जानते हैं कि ये प्रतापी महापुरुष समय के कुचक्र से एक बार बड़ी दीन-हीन दशा में भी रह चुके हैं । पर इसके लिए कोई विज्ञ पुरुष उनका उपहास नहीं करता । मूर्ख और बुद्धिहीनों के लिए उपहास का कोई मूल्य नहीं, उनका मुँह तो कोई बन्द नहीं कर सकता वे तो हर हालत में उपहास करते हैं । इसलिए हँसी होने के झूठे भय को कल्पना में से निकाल देना चाहिए और जब विपन्न अवस्था में रहने की स्थिति आ जाय तो हँसते हुए, बिना किसी भय, संकोच झिझक एवं ग्लानि के उसे स्वीकार लेना चाहिए ।

कोई योजना निर्धारित करने के साथ-साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि निश्चय कार्यक्रम में विघ्न भी पड़ सकते हैं, बाधा भी आ सकती है, कठिनाई का सामना करना पड़ सकता है। उन्नति का मार्ग खतरों का मार्ग है । जिसमें खतरों से लड़ने का साहस और संघर्ष में पड़ने की क्षमता हो उसे ही सिद्धि के पथ पर कदम बढ़ाना चाहिए। जो खतरों से डरते हैं, जिन्हें कष्ट सहने से भय लगता है, कठोर परिश्रम करना जिन्हें नहीं आता उन्हें अपने जीवन को उन्नतिशील बनाने की कल्पना नहीं करनी चाहिए । अदम्य उत्साह, अटूट साहस, अविचल धैर्य, निरन्तर परिश्रम और खतरों से लड़ने वाला पुरुषार्थी ही किसी का जीवन सफल बना सकता है। इन्हीं तत्वों की सहायता से लोग उन्नति के उच्च शिखर पर चढ़ते हैं और महापुरुष कहलाते हैं ।

उन्नति के लिए प्रयत्न और परिश्रम की आवश्यकता

उन्नति का सबसे बड़ा आधार परिश्रम अथवा पुरुषार्थ है । संसार में असंख्यों प्रकार की विभूतियाँ भरी पड़ी हैं । सुखी और समृद्ध बनाने वाले साधन हर जगह मौजूद हैं । पारस्परिक सहयोग, ज्ञान-प्राप्ति, अध्यवसाय, सद्व्यवहार, आत्मिक-शक्तियों के विकास के द्वारा मनुष्य इनको प्राप्त करके मनचाही उन्नति कर सकता है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि हम इनके लिए अपनी हार्दिक आकांक्षा और योग्यता का प्रमाण दे सकें। इन बातों को हम परिश्रम शीलता द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं ।

कहते हैं कि सिंहनी का दूध स्वर्ण के पात्र में दुहा जाता है । उद्योगी पुरुष सिंहों के यहाँ लक्ष्मी का निवास होता है । पुरुषार्थियों के गले में विजय की वरमाला पहनाई जाती है । प्रतियोगिता में जो जीतते हैं, वे पुरस्कार पाते हैं । परीक्षा में उत्तीर्ण हुए छात्र ही प्रमाण-पत्र प्राप्त करते हैं । प्राचीन समय में स्वयंवरों की प्रथा थी, युवतियाँ उन्हीं वरों को चुनती थीं जो उनकी दृष्टि में अधिकारी ठहरते थे । उन्नति की देवी भी स्वयंवर प्रथा की अनुगामिनी है, अधिक पुरुषार्थी ही उसके चुनाव में आते हैं । पात्रता का दूसरा नाम परिश्रम है । कहते हैं "पैसा हाथ का मैल है ।" अर्थात् हाथ को घिसने से पैसा होता है । पसीना की कमाई यह शब्द नित्य की बोलचाल में प्रयुक्त होता है । इसका भावार्थ है कि कोई भी कमाई पसीना बहाने से हुआ करती है ।

परिश्रम एक उत्पादक शक्ति है, जिससे वस्तुएँ पैदा होती है । संघर्ष में से जीवन की उत्पत्ति होती है। नाड़ियों में खून दौड़ रहा हो और फेंफड़ों में वायु का आवागमन जारी हो तो समझना चाहिए कि जीवन मौजूद है । अगर खून ने दौड़ना बन्द कर दिया हो या सांस का चलना रुक गया हो तो कहा जा सकता है कि इसकी मृत्यु हो गई । यदि यह जीवन कायम रखने वाली गति मन्द या शिथिल दिखाई पड़ रही हो तो चतुर वैद्य कह देते हैं कि अब इसका जीवन दीप बुझा ही चाहता है । जो लोग परिश्रमी हैं सदा

काम में जुटे रहते हैं, वे जीवित हैं, उनका जीवन जागृत है, पर जिनको काम देख कर डर लगता है, परिश्रम देखकर जिनका हंस रोता है वे मरे हुए हैं, उनकी उन्नति की आशा नहीं की जा सकती। वे जीवित मृतकों की भाँति केवल प्राण धारण किए रह सकते हैं।

कुएँ के मुँह पर पड़े हुए पत्थरों पर रस्सी की रगड़ से निशान पड़ जाता है और परिश्रम की रगड़ से कठिन से कठिन काम पूरे हो जाते हैं, निरन्तर यदि थोड़ा-थोड़ा भी परिश्रम होता रहे तो कुछ ही समय में भारी उन्नति हो सकती है। कन-कन जोड़ने से मन इकट्ठा हो जाता है।

महात्मा गांधी का समय बहुत ही व्यस्त रहता था। वे सदा ही कामों में डूबे रहते थे। उन्हें जरा भी फुरसत नहीं मिलती थी, तो भी उन्होंने एक-एक घण्टा नित्य का समय निकाल कर कुछ ही दिनों में भारत की करीब एक दर्जन प्रान्तीय भाषाएँ वृद्धावस्था में भली प्रकार सीख ली थीं। फुरसत न मिलने का बहाना बहुत ही झूठा बहाना है। जिस विषय में मनुष्य की दिलचस्पी हो उसके लिए वह जरूर ही थोड़ा-बहुत समय निकाल सकता है। चौबीस घण्टों में से आराम के आठ घण्टे छोड़कर सोलह घण्टे समय बचता है। इसमें से इच्छित विषय का अभ्यास करने के लिए थोड़ा-सा समय निकाला जा सकता है। जो लोग फुरसत का बहाना करते हैं उनका भावार्थ वास्तव में परिश्रम से जी चुराना होता है। जो श्रम नहीं करना चाहता उसके लिए कभी फुरसत नहीं, जरा-जरा से काम जो हँसते-खेलते, चलते-फिरते हो सकते हैं, वे भी उसे पहाड़ की तरह भारी मालूम होते हैं और एक ऐसा ही छोटा काम कर लेने पर वह इतनी थकान महसूस करता है मानो कोई बड़ा भारी किला फतह करके चुका हो। ऐसे लोग थोड़ा-सा काम करने के बाद झुँझला जाते हैं, कराहते हैं, लम्बे उसाँस भरते हैं, बेचैनी अनुभव करते हैं और बुड्ढों की तरह उल्टा मुँह करके पड़े रहते हैं।

कभी शारीरिक कमजोरी के कारण, मनुष्य की क्रिया शक्ति कुण्ठित हो जाती है और थोड़े से परिश्रम से थकान आ जाती है। उसकी चिकित्सा करनी उचित है परन्तु अधिकांश व्यक्ति शारीरिक निर्बलता से नहीं, वरन् मानसिक निर्बलता से ग्रसित होते हैं। शारीरिक कमजोरी की अपेक्षा मन की कमजोरी के कारण शक्तियाँ अधिक कुण्ठित होती हैं। जिनका मन परिश्रम से रस लेता है, उन्हें फुरसत न मिलने की शिकायत नहीं करनी पड़ती। वे अनेक झंझटों और कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी अपने प्रिय विषय की साधना करने के लिए कोई न कोई समय निकाल ही लेते हैं और थोड़ा-सा भी समय नियमित रूप से कार्य के लिए दिया जाता रहे तो स्वल्पकाल में ही आश्चर्यजनक प्रगति दिखाई पड़ने लगती है। यदि एक घण्टा नित्य व्यायाम या तेल मालिश के लिए नियत कर लिया जाय तो एक वर्ष में शरीर की दशा कुछ से कुछ हो सकती है। यदि एक घण्टा रोज किसी दूसरी भाषा का अभ्यास किया जाय तो एक वर्ष में उस भाषा का काम चलाऊ ज्ञान भली प्रकार हो सकता है। ज्योतिष, स्वास्थ्य, गणित, समाज शास्त्र, मनोविज्ञान, धर्म आदि किसी विषय का ठीक साहित्य एक घण्टा रोज एक वर्ष तक पढ़ा जाय तो उस विषय में पाण्डित्य प्राप्त किया जा सकता है। एक घण्टे जितना तुच्छ समय साधारणत: जीवन में कुछ विशेष महत्व नहीं रखता। इससे दूना-चौगुना यों ही आलस्य में या निरर्थक बातों में नष्ट हो जाता है। ध्यान देने पर, सतर्क दृष्टि से परीक्षण करने पर बहुत-सा समय ऐसा निकल सकता है जिसका यदि सदुपयोग किया जा सके तो बहुत अधिक काम हो सकता है। जहाँ परिश्रम में रुचि होती है, वहाँ बहुत-सा समय निकल आता है, जहाँ मेहनत को देखते ही कलेजा काँपता है वहाँ फुरसत ढूँढ़े नहीं मिलती। निठल्ले या जरा-सा हलका काम करने वाले भी अपने को जब 'बहुत व्यस्त' समझें तो उसे 'कामजोरी' का एक बहाना ही कहा जा सकता है।

चाहे कोई आदमी कितना ही बड़ा या अमीर क्यों न हो पर उसको भी परिश्रम करना आवश्यक है। बड़े-बड़े करोड़पति धन-कुबेर निठल्ले नहीं पड़े रहते, वरन् साधारण मजूरों की अपेक्षा अधिक काम करते हैं। यदि वे इतना काम न करें तो उनकी सम्पत्ति का दिन-दिन बढ़ते जाना रुक ही न जाय वरन् उल्टी घटोत्तरी होने लगे। लक्ष्मी उनके यहाँ निवास करती है जो उद्योगी पुरुष सिंह हैं। जो पुरुष अपनी उद्योग परायणता और परिश्रमशीलता को खो बैठता है, वह लक्ष्मी का प्रिय पात्र नहीं बन सकता, संपदाएँ उसके यहाँ ठहर नहीं सकतीं। अकर्मण्यता दरिद्रता की सहेली है। जहाँ अकर्मण्यता रहेगी वहाँ किसी न किसी प्रकार दरिद्रता जरूर पहुँच जायेगी।

प्राचीन समय में हमारे पूजनीय पूर्वज श्रम परायणता का महत्व भली प्रकार समझते थे, इसलिए उन्होंने इसे पुनीत धार्मिक कृत्यों में बहुत ऊँचा स्थान दिया है। आध्यात्मिक साधना में उसकी प्रमुख स्थापना की है। 'तपश्चर्या' यह शब्द धार्मिक जगत में बड़े आदर के साथ

उच्चारण किया जाता है । 'तपस्या' शब्द हमारे हृदय में आदर एवं श्रद्धा का संचार करता है । तपस्वी व्यक्ति के लिए हमारा मस्तक सहज ही श्रद्धा से नत हो जाता है । यह तपस्या क्या है ? श्रेष्ठ, उचित एवं उन्नतिशील कार्यों के लिए परिश्रम करना और उस मार्ग में जो कष्ट आते हों उन्हें सहन करना, यही तपस्या की परिभाषा है । ऋषि-मुनियों का जीवन तपस्यामय होता था, वे तपश्चर्या की साधना में पर्याप्त समय लगाते थे । विद्या से भी अधिक, ज्ञान से भी अधिक, तपस्या को महत्व दिया जाता था क्योंकि विद्या और ज्ञान से मस्तिष्क का विकास तो होता है, पर वह चेतना उत्पन्न नहीं होती, जिसके द्वारा उस मस्तिष्क के विकास को कार्य रूप में परिणत किया जा सके, जीवन व्यवहार में लाया जा सके । जिसे कठोर परिश्रम का अभ्यास है वह ही अपने उन्नतिशील विचारों के अनुसार आचरण कर सकता है ।

स्वभावत: ऊपर चढ़ने में अधिक परिश्रम पड़ता है। सीढ़ियों पर चढ़ कर ऊपर की मंजिल पर पहुँचने वाले एवं पर्वतों के शिखर की ऊँची यात्रा करने वाले जानते हैं कि उनके पैरों को समतल भूमि पर चढ़ने की अपेक्षा अधिक कार्य करना पड़ता है । जिनके पैर इस 'अधिक कार्य' का बोझ उठाने को तैयार न हों वे ऊँचे स्थान पर पहुँचने का आनन्द नहीं लूट सकते । ऊपर से नीचे फिसल पड़ना सरल है, दो सौ फीट ऊँची दीवाल पर से कोई व्यक्ति गिरे तो दो चार सैकिण्ड में ही बिना हाथ-पैर हिलाये उस रास्ते को पार करके जमीन पर आ गिरेगा परन्तु उतनी ऊँचाई तक चढ़ने के लिए काफी मेहनत करनी पड़ेगी । जीवन को अवनति के गड्ढे में पटक देने वाले कुविचार आसानी से क्रिया रूप में आ जाते हैं, पर ऊँचे उठाने वाले, उन्नति की ओर ले जाने वाले, मार्ग पर चलने में काफी प्रयत्न और परिश्रम करना पड़ता है, बाधाओं से काफी संघर्ष लेना पड़ता है, तब कहीं जाकर सफलता मिलती है । इसलिए ऊँचा चढ़ने की साधना का तपश्चर्या से अनन्य सम्बन्ध है। जिसमें तप करने की वृत्ति नहीं उसके लिए आत्मिक या भौतिक, भीतरी या बाहरी किसी प्रकार की उन्नति करना कठिन है ।

पुराने समय में आज की तरह बालकों को अनावश्यक लाड़-दुलार में रखकर बर्बाद नहीं किया जाता था वरन् थोड़ा-सा वयस्क होते ही गुरुओं की संरक्षता में तपस्या का कठोर जीवन बिताने के लिए, विद्याध्ययन करने के लिए भेज दिया जाता था । आज तो थोड़ा पैसा जिसकी अण्टी में है, वह अपने लड़कों को स्कूल पहुँचाने और वहाँ से वापस लाने के लिए घोड़ा गाड़ी भेजता है, किताबों का बस्ता लाने और पहुँचाने के लिए नौकर भेजा जाता है। इस प्रकार अपने धनीपन की पूर्ति करने के लिए बालकों को आरम्भ से ही काहिल, परिश्रम से जी चुराने वाला बनाया जाता है, अन्त में वे लड़के बाप-दादों की कमाई को फूँकते हुए काहिली की जिन्दगी बिताते रहते हैं, परन्तु पहले ऐसा नहीं होता था । महाराज दशरथ के पास घोड़ा, गाड़ी जरूर रही होंगी, न रही हों तो भी बनवाने लायक पैसा जरूर रहा होगा, तो भी उन्होंने अपने राजकुमारों को विश्वामित्र के आश्रम में तपस्वियों की तरह जीवन बिताते हुए शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा । करोड़ों रुपयों की सम्पत्ति रखने वाले नन्दजी ने अपने बालक श्रीकृष्ण को चार सौ मील दूर उज्जैन में संदीपन ऋषि के आश्रम में विद्याध्ययन के लिए भेजा । उस समय की यह आम रिवाज थी, गरीबों से लेकर महाराजाओं तक के बालक तपस्वी जीवन की आदत डालने के लिए गुरुकुलों में जाते थे । फलस्वरूप हनुमान, जामवन्त, भीम, अर्जुन, धृतराष्ट्र, भीष्म, कर्ण जैसे योद्धाओं से भारत भूमि पटी पड़ी थी । आज घोड़ा गाड़ी में बैठकर स्कूल को जाने वाले बबुए, जिनको माँ-बाप सत्यानाशी दुलार की अति दिखाकर, लुञ्ज-पुञ्ज बना देते हैं, बड़े होकर जुल्फें काढ़ने, फैशन बनाने या सिनेमा-थियेटरों के चक्कर काटने के अतिरिक्त कोई पुरुषार्थ पूर्ण प्रगति नहीं कर पाते । प्राचीन समय में ट्यूटर नौकर रख कर बच्चों को, घर पर पढ़वाने लायक पैसे वाले लोग भी थे, परन्तु वे जानते थे कि वह विद्या जो इतने नाजुकपन से सीखी गई हो, सिवाय क्लर्की की नौकरी दिलाने के और किसी काम नहीं आ सकती । इसलिए बालकों को भावी जीवन में कठोर, कर्मठ, पुरुषार्थी बनाने के लिए आरम्भ से ही विद्याध्ययन की भाँति तपश्चर्या भी सिखाई जाती थी । जिन बालकों का तपस्यामय वातावरण में विकास होता है, वे ही बड़े होकर महापुरुषों के रूप में, सर्वतोमुखी उन्नति करके नर-रत्नों के रूप में संसार के समक्ष आकर जगमगाते हैं ।

विश्व का कोई कार्य ऐसा नहीं जिसे तपश्चर्या द्वारा प्राप्त न किया जा सकता हो । प्रचण्ड भक्ति द्वारा भक्त लोग तीन लोक के नाथ नारायण को अपने वश में कर लेते हैं, देवता और भूत-पिशाचों पर काबू कर लेते हैं, अदृश्य अन्तरिक्ष में अनोखे तत्वों को आकर्षित कर ऋद्धि-सिद्धियों के स्वामी बन जाते हैं । तप में, मूक को वाचाल,

बना देने की और पंगु को गिरिवर पर चढ़ा देने की शक्ति है । निर्जीव वस्तुओं के संघर्षण से अग्नि की चिनगारी उत्पन्न होती है जो अवसर पाकर जाज्वल्यमान दावानल का रूप धारण कर लेती है। चैतन्य आत्मा का सजीव पिण्ड शरीर, जब घिसा जाता है, परिश्रम के पाषाण पर रगड़ा जाता है तो उसमें से निर्जीव विद्युत से असंख्य गुनी शक्ति वाली प्राण-विद्युत उत्पन्न होती है, जिसके द्वारा कठिन से कठिन कार्य पूरे हो जाते हैं । भौतिक विज्ञान के जानकारों को मालूम है कि प्रकृति का एक क्षुद्र परमाणु जब फटता है तो वह अपनी गर्मी से इस्पात की भारी गुम्बदों को गला कर पानी कर सकता है। इसी प्रकार अध्यात्म विज्ञान के वेत्ता जानते हैं कि चैतन्य आत्मा का सतेज परमाणु मनुष्य जब अपने पूरे साहस के साथ प्रस्फुटित होता है तो वज्र-सी दुर्भेद्य कठिनाइयों को पीस कर चूर-चूर कर देता है।

परिश्रम यदि विवेक और व्यवस्था के साथ उचित दिशा में किया जाय तो उसका परिणाम आश्चर्यजनक होता है । संसार में जो भी महानतम कार्य हुए हैं वे मनुष्य के परिश्रम की अद्‌भुत शक्ति की गवाही दे रहे हैं । शारीरिक और बौद्धिक परिश्रम दोनों ही अपने-अपने स्थान पर महत्वपूर्ण हैं । दोनों के सम्मिलन से एक पूर्ण परिश्रम का निर्माण होता है । जैसे दो पहियों के बिना रथ अपूर्ण है, जैसे स्त्री-पुरुष बिना गृहस्थ अपूर्ण है, वैसे ही अकेला शारीरिक या अकेला मानसिक श्रम अपूर्ण है । दोनों हाथों के सहयोग से काम करने की क्रियाएँ होती हैं, दोनों पैरों से चलने का कार्य ठीक प्रकार होता है उसी प्रकार शारीरिक श्रम और मानसिक श्रम दोनों प्रकार के श्रमों की क्षमता ही जीवन विकास में समुचित सहायता प्रदान करती है । जिन्हें केवल मानसिक श्रम में रुचि है और शारीरिक श्रम को तुच्छता की दृष्टि से देखते हैं, वे भूल करते हैं । इसी प्रकार जो शरीर की मेहनत से ही सन्तुष्ट हैं मानसिक श्रम पर ध्यान नहीं देते, वे भी गलत रास्ते पर हैं । दिमागी काम तक ही अपनी रुचि सीमित रखने वाले स्वास्थ्य को खो बैठते हैं, देह में कमजोरी और बीमारी का प्रवेश हो जाने पर संसार की सुखानुभूतियों से हाथ धोना पड़ता है । इसी प्रकार जिनका क्षेत्र देह की मेहनत मजूरी तक ही सीमित है, वे बौद्धिक विकास से वंचित रह जाते हैं । उन्हें अज्ञान का, मूर्खता का, अविवेक का दुःख उठाना पड़ता है जो शारीरिक कमजोरी या बीमार से कम दुःखदायी नहीं हैं ।

श्रम करने में वैसी ही रुचि होनी चाहिए जैसी खेल खेलने में होती है । मेहनत को मार समझना, थकान का प्रमुख कारण है । विवाह-शादी की खुशी के दिनों में लोग दिन-रात काम में लगे रहते हैं, पर ऐसा कुछ नहीं मालूम पड़ता कि उनके सिर पर पहाड़ रखा हुआ हो । गेंद खेलने में खिलाड़ियों को काफी भाग-दौड़ करनी पड़ती है, पर उनको थकान नहीं आती । कारण यह है कि खेलने में, शादी-ब्याह की धूम-धाम में मन एक प्रकार का रस लेता रहता है। इसी प्रकार अन्य कामों में भी यदि अपनी रुचि का ऐसा ही समावेश का दिया जाय तो थकान न आवेगी और न जी ऊबेगा । काम को कर्तव्य समझकर करना चाहिए । काम करना स्वयं एक आनन्द है, उस आनन्द के रसास्वादन की अपनी आदत डालनी चाहिए । इच्छित परिणाम की आशा-निराशा में जो लोग उत्साहित-अनुत्साहित होते रहते हैं उनकी क्रिया पद्धति बिगड़ जाती है । कई बार वे निराशा के कारण नियत काम को छोड़ बैठते हैं और कई बार सफलता की खुशी के मारे हाथ-पाँव फूल जाते हैं । अध्यात्म शास्त्र के गीता आदि ग्रन्थों में आसक्ति छोड़ कर कर्तव्य भाव से कार्य करने के लिए जिस कर्म योग का उपदेश दिया है, वह 'कर्म' को कर्तव्य समझकर परिश्रम में ही रस लेने की ही शिक्षा है । इस पद्धति से काम करने वाले का आनन्द और उत्साह कभी मन्द नहीं पड़ता । न कभी थकान आती है और न जी ऊबता है। काम को खेल समझते हुए उसे अपना अभ्यास बढ़ाने की एक शिक्षा, एक माध्यम मानते हुए करने की आदत बहुत उपयोगी है। जैसे चित्रकला का विद्यार्थी अपनी सुरुचि को एकत्र करके, अपने चित्र को अधिकाधिक सुन्दर बनाने के लिए एकाग्रतापूर्वक प्रयत्न करता है और अच्छा चित्र न बनने पर भी अपने प्रयत्न काल के 'अभ्यास-रस' से बहुत आनन्द उपलब्ध करता है और बार-बार नए-नए चित्र बनाते-बनाते अपनी योग्यता बढ़ाता हुआ एक दिन कुशल चित्रकार बन जाता है, उसी प्रकार हमें हर काम को एक चित्र समझ कर अपने आत्मानन्द के लिए उसे अधिक से अधिक सुन्दर बनाने का रुचिपूर्वक प्रयत्न करना चाहिए । जब ये साधना आदत के रूप में आ जाती है तो मनुष्य सच्चा कर्मयोगी बन जाता है और प्रति क्षण उस आनन्द में सरावोर होता रहता है जो कर्मयोगी को प्राप्त हुआ करता है । परिश्रमी व्यक्ति हर घड़ी सफलता और उन्नति के आनन्द से ऊँचे दर्जे के रस का आस्वादन करता रहता है ।

परिश्रम में अनेकों लाभों का भण्डार भरा हुआ है। निरोगता, बलिष्ठता, दीर्घजीवन, प्रफुल्लता, प्रगाढ़-निद्रा, चैतन्यता, स्फूर्ति, उत्साह, साहस, उत्पादन, बुद्धि-वृद्धि, आत्म-विश्वास आदि अनेक आनन्ददायक तत्वों की बढ़ोत्तरी होती है। कठिनाइयाँ सरल हो जाती हैं और दुर्लभता सुलभ बन जाती हैं। परिश्रम की सीढ़ियों पर पैर धरने वाला मनुष्य लगातार आगे बढ़ता जाता है और एक दिन वह अभिवृद्धि इतनी अधिक हो जाती हैं कि उसमें और उसके निठल्ले साथियों में जमीन आसमान का अन्तर पड़ जाता है। बड़ों का बड़प्पन महान पुरुषों की महानता, विद्वानों की विद्वत्ता एवं संपत्तिशालियों की सम्पदा और कुछ नहीं केवल उनके परिश्रम का ही दूसरा रूप है। श्रम स्वर्ण का एक ढेला है उसे जिस साँचे में ढाल दीजिए, वैसा ही आभूषण बन जायगा। जिस भी दिशा में मनुष्य मेहनत करता है उसी दिशा में वह उन्नति कर सकता है।

आप किसी भी प्रकार की उन्नति के इच्छुक हों आकांक्षा, कष्ट सहन, परिश्रमशीलता के बिना सफलता के दर्शन नहीं कर सकते। ये तीनों गुण स्वभावतः तो थोड़े ही लोगों में पाये जाते हैं, पर अभ्यास द्वारा सभी उनको प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए यदि आप अपने जीवन को वास्तव में सफल और सार्थक बनाना चाहते हैं, उन्नति के इस मूल-मंत्र का ध्यान रखिए। इनके द्वारा आप प्रत्येक विषय में उन्नति कर सकने में समर्थ हो सकेंगे।

१५. ईश्वरीय न्याय

गायत्री का पन्द्रहवाँ अक्षर 'म' हमको ईश्वरीय आदेशों के अनुकूल चलने की शिक्षा देता है-

महेश्वरस्य विज्ञाय नियमां न्यायः संयुतान्।
तस्य सत्तां च स्वीकुर्वन् कर्मणा तमुपासते॥

अर्थात्- "परमात्मा की सत्ता और उसके न्याय पूर्ण नियमों को समझ कर ईश्वर की उपासना करनी चाहिए।"

ईश्वर सर्वव्यापक, दयालु, सच्चिदानंद, जगतपिता, न्यायकारी आदि अनेकों महिमाओं से युक्त हैं। उनका ध्यान रखने से मनुष्य का बुराइयों से बचना और दूसरों के साथ सद्व्यवहार करना अधिक संभव है। इसलिए ईश्वर में और उसके न्याय में विश्वास रखना मनुष्य और समाज के लिए परम कल्याणकारी है। ईश्वर की उपासना से मनुष्य का आत्मिक बल बढ़ता है और आत्मिक बल द्वारा नाना प्रकार के भौतिक सुख और आनन्द प्राप्त होते हैं।

पर साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि ईश्वरीय नियम अटल, अचल होते हैं और जो उनका उल्लंघन करता है उसे घोर दुष्परिणाम भोगना पड़ता है। संसार में अधिकांश लोग मुख से इस बात को कहते हुए भी, दिल से इस बात पर दृढ़ विश्वास नहीं रखते और तरह-तरह के पाप कर्मों में लीन हो जाते हैं। इसीलिए अनगिनती लोग कष्ट भोगते दिखाई पड़ते हैं। परमात्मा और आत्मा का सम्बन्ध ठीक एक तराजू की तरह है। इसका एक पलड़ा न्याय का है और दूसरा नियम का। जीव जितना ही ईश्वर नियमों पर चलता है अथवा उन्हें तोड़ता है, उतनी ही तोल के अनुसार उसे अच्छा या बुरा कर्मफल मिलता है। जो लोग इस तत्व पर ध्यान न देकर संसार में अंधेर का बोलवाला समझते हैं और तदनुसार मनमाना आचरण करते हैं, वे ही घोर दुःखों में फँस कर अपने जीवन को नष्ट कर डालते हैं।

कर्म-फल कैसे मिलता है

शास्त्रकारों ने बतलाया है कि हनन की हुई आत्मा नरक को ले जाती है और सन्तुष्ट हुई आत्मा दिव्य लोक प्रदान करती है। इस कथन ने इस गुत्थी को सुलझा दिया है कि स्वर्ग-नरक किस प्रकार मिलते हैं? गरुड़ पुराण में इस सम्बन्ध में एक अलंकारिक विवरण दिया गया है, जिसमें कहा गया है कि यमलोक में 'चित्रगुप्त' नामक देवता हर एक जीव के भले-बुरे कर्मों का विवरण प्रत्येक समय लिखते रहते हैं। जब प्राणी मर कर यमलोक में जाता है तो वह लेखा पेश किया जाता है और उसी के आधार पर शुभ कर्मों के लिए स्वर्ग और दुष्कर्मों के लिए नरक प्रदान किया जाता है। साधारण दृष्टि से चित्रगुप्त का अस्तित्व काल्पनिक प्रतीत होता है, क्योंकि असंख्य प्राणियों द्वारा पल-पल पर किए जाने वाले कार्यों का लेखा दिन-रात बिना विश्राम के कल्प-कल्पान्तों तक लिखते रहना एक देवता के लिए कठिन है।

पर आधुनिक शोधों ने उपरोक्त अलंकारिक कथानक में से बड़ी ही महत्वपूर्ण सचाई को खोज निकाला है, डाक्टर फ्राइड ने मनुष्य की मानसिक रचना का वर्णन करते हुए बताया है कि जो भी भले या बुरे काम ज्ञानवान् प्राणियों द्वारा किए जाते हैं, उनका सूक्ष्म चित्रण अन्तःचेतना में होता रहता है, ग्रामोफोन के रिकार्डों में रेखा रूप में गाने भर दिये जाते हैं। संगीतशाला में नाच, गान हो रहा है और साथ ही अनेक बाजे बज रहे हैं, इन अनेक प्रकार की ध्वनियों

का विद्युत शक्ति का एक प्रकार का संक्षिप्त एवं सूक्ष्म एकीकरण होता है और वह रिकार्ड में जरा-सी जगह में रेखाओं की तरह अंकित होता जाता है। तैयार किया हुआ रिकार्ड रखा रहता है, वह तुरन्त ही अपने आप या चाहे जब नहीं बजने लगता, वरन् तभी उन संग्रहीत ध्वनियों को प्रकट करता है, जब ग्रामोफोन की मशीन पर उसे घुमाया जाता है और सुई की रगड़ उन रेखाओं से होती है। ठीक इसी प्रकार भले और बुरे जो भी काम किए जाते हैं, उनकी सूक्ष्म रेखाएँ अन्तः चेतना के ऊपर अंकित होती रहती हैं और मन के भीतरी कोने में जमा हो जाती हैं। जब रिकार्ड पर सुई का आघात लगता है, तो उसमें भरे हुए गाने प्रकट होते हैं, इसी प्रकार संचित कर्म के रूप में जमा हुई रेखाएँ किसी उपयुक्त अवसर का आघात लगने पर ही प्रकट होती है। भारतीय विद्वान् 'कर्मरेखा' के बारे में बहुत प्राचीन काल से जानकारी रखते आ रहे हैं। 'कर्म रेख नहीं मिटे, करो कोई लाखों चतुराई, आदि ऐसी अनेक सूक्तियाँ हिन्दी और संस्कृत साहित्य में मौजूद हैं, जिनसे प्रकट होता है कि कर्मों की कोई रेखाएँ होती हैं, जो अपना फल दिये बिना मिटती नहीं। भाग्य के बारे में मोटे तौर पर ऐसा समझा जाता है कि सिर की अगली मस्तक वाली हड्डी पर कुछ रेखाएँ ब्रह्मा लिख देता है 'विधि का लिखा को मेंटन हारा' उन्हें मिटाने वाला कोई नहीं है। डाक्टर बीबेन्स ने मस्तिष्क में भरे हुए ग्रे मैटर (भूरा चर्बी जैसा पदार्थ) की सूक्ष्म दर्शक यंत्रों की सहायता से खोज करने पर वहाँ के एक-एक परमाणु में अगणित रेखाएँ पाई हैं। यह रेखाएँ किस प्रकार बनती हैं इसका कोई शारीरिक प्रत्यक्ष कारण उन्हें नहीं मिला। तब उन्होंने अनेक मस्तिष्कों के परमाणुओं का मुकाबला करके यह निष्कर्ष निकाला कि निष्क्रिय, आलसी एवं विचार शून्य प्राणियों में यह रेखाएँ बहुत कम बनती हैं, किन्तु कर्मनिष्ठ एवं विचारवानों में इनकी संख्या बहुत बड़ी होती है। अतएव यह रेखाएँ शारीरिक और मानसिक कार्यों को संक्षिप्त और सूक्ष्म रूप से लिपिबद्ध करने वाली प्रामाणित हुई।

भले-बुरे कार्यों का 'ग्रे मैटर' के परमाणुओं पर यह रेखांकन (जिसे शास्त्र शब्दों में अन्तःचेतना का संस्कार कहा जा सकता है) पौराणिक चित्रगुप्त की वास्तविकता को सिद्ध कर देता है। चित्र गुप्त शब्द के अर्थों से भी इसी प्रकार की ध्वनि निकलती है। गुप्त चित्र, गुप्त मन अन्तःचेतना, सूक्ष्म मन, पिछला दिमाग, भीतर चित्र, इन शब्दों के भावार्थ को ही 'चित्र गुप्त' शब्द प्रकट करता हुआ दीखता है।

यह चित्र गुप्त, निस्सन्देह हर प्राणी के हर कार्य, को हर समय बिना विश्राम किए, अपनी बही में लिखता रहता है। सबका अलग-अलग चित्र-गुप्त है, जितने प्राणी हैं, उतने ही चित्र गुप्त हैं। इसलिए यह सन्देह नहीं रह जाता कि इतना लेखन कार्य किस प्रकार पूरा हो पाता होगा। स्थूल शरीर के कार्यों की सुव्यवस्थित जानकारी सूक्ष्म चेतना में अंकित होती रहे तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। 'पौराणिक चित्र गुप्त एक है और यहाँ अनेक हुए' यह शंका भी कुछ गहरी नहीं है। दिव्य शक्तियाँ व्यापक होती हैं। पाठक जानते हैं कि प्राण तत्व एक है, उसके अंश विभिन्न व्यक्तियों में दृष्टिगोचर होते हैं। आत्मा और परमात्मा में व्यष्टि और समष्टि का भी भेद है, बाकी दोनों पदार्थ एक ही हैं। जैसे बगीचे की वायु, गन्दे नाले की वायु आदि स्थान भेद से अनेक नाम वाली होते हुए भी मूलतः विश्व व्यापक वायुतत्व एक ही है, वैसे ही अलग-अलग शरीरों में रहकर अलग-अलग काम करने वाला चित्र गुप्त देवता भी एक ही तत्व है।

पिछली पंक्तियों में पाठक पढ़ चुके हैं कि हमारा गुप्त चित्र-अन्तर्मन ही निरन्तर चित्रगुप्त देवता का काम करता है। जो कुछ भले या बुरे काम हम करते हैं उनका सूक्ष्म चित्र उतार-उतार कर अपने भीतर जमा करता रहता है। सिनेमा के पर्दे पर मनुष्य की बराबर लम्बी-चौड़ी तस्वीर दिखाई देती है। पर उसका फिल्म केवल एक इन्च चौड़ा ही होता है। इसी प्रकार पाप-पुण्य का घटनाक्रम तो विस्तृत होता है पर उसका सूक्ष्म चित्र एक पतली रेखा मात्र के भीतर खिंच जाता है और वह रेखा गुप्त मन के किसी परमाणु पर अदृश्य रूप से जमकर बैठ जाती है। शार्ट हैण्ड लिखने वाले बड़ी बात को थोड़ी-सी उल्टी-सीधी लकीरों के इशारे से जरा से कागज पर लिख देते हैं। कर्म रेखा को भी ऐसी ही दैवी शार्ट हैण्ड समझा जा सकता है।

पाठकों को इतनी जानकारी तो बहुत पहले हो चुकी होगी कि मन के दो भाग हैं- एक बहिर्मन, दूसरा अन्तर्मन। बाहरी मन तो तर्क-वितर्क करता है, सोचता है, काट-छांट करता है और अपने इरादों को बदलता रहता है, पर अन्तर्मन भोले-भाले किन्तु दृढ़ निश्चयी बालक के समान है। वह काट-छांट नहीं करता वरन् श्रद्धा और विश्वास के आधार पर काम करता है। बाहरी मन तो यह सोच सकता है कि पाप कर्मों की रेखाएँ अपने ऊपर अंकित न होने दूँ और पुण्य कर्मों को बढ़ा-चढ़ाकर अंकित करूँ,

जिससे पाप-फल न भोगना पड़े और और पुण्य फल का भरपूर आनन्द प्राप्त हो । परन्तु भीतरी मन ऐसा नहीं है । वह सत्यनिष्ठ जज की तरह फैसला करता है, कोई लोभ, लालच, भय, स्वार्थ उसे प्रभावित नहीं करता । कहा जाता है कि मनुष्य के अन्दर एक ईश्वरीय शक्ति रहती है, दूसरी शैतानी । आप गुप्त मन को ईश्वरीय शक्ति और तर्क, छल, कपट, स्वार्थ, लोभ में रत रहने वाले बाह्य मन को शैतानी शक्ति कह सकते हैं । बाहरी मन धोखेबाजी कर सकता है, परन्तु भीतरी मन तो सत्य रूपी आत्मा का तेज है । वह न तो मायावी आचरण करता है, न छल-कपट । निष्पक्ष रहना उसका स्वभाव है । इसलिए ईश्वर ने उसे इतना महत्वपूर्ण कार्य सौंपा है । दुनियाँ उसे चित्र गुप्त देवता कहती है । यदि यह भी पक्षपात करता तो भला इतनी ऊँची पदवी कैसे पा सकता था ? हमारा चित्रगुप्त मन खुफिया जासूस की तरह हर घड़ी साथ-साथ रहता है और जो-जो भले-बुरे काम किये जाते हैं उनका ऐमालनामा अपनी खुफिया डायरी में दर्ज करता रहता है ।

भीतरी दुनियाँ में गुप्त-चित्र या चित्रगुप्त पुलिस और अदालत दोनों महकमों का काम स्वयं ही करता है । बाहरी दुनियाँ में तो यदि पुलिस झूँठा सबूत दे दे तो अदालत का फैसला भी अनुचित हो सकता है, परन्तु भीतरी दुनियाँ में ऐसी गड़बड़ी की सम्भावना नहीं । अन्तःकरण सब कुछ जानता है कि यह कर्म किस विचार से, किस इच्छा से, किस परिस्थिति में, क्यों कर लिया गया था । वहाँ बाहरी मन को सफाई या बयान देने की आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि गुप्त मन उस बात के सम्बन्ध में स्वयं ही पूरी-पूरी जानकारी रखता है । हम जिस इच्छा से, जिस भावना से, जो काम करते हैं, उस इच्छा या भावना से ही पाप-पुण्य का नाप होता है । भौतिक वस्तुओं की तौल-नाप बाहरी दुनियाँ में होती है । एक गरीब आदमी दो पैसा दान करता है और एक धनी आदमी दस हजार रुपया दान करता है। बाहरी दुनियाँ तो पुण्य की तौल रुपये-पैसों की गिनती के अनुसार करेगी । दो पैसा दान करने वाले की ओर कोई आँख उठाकर भी नहीं देखेगा, पर दस हजार रुपया देने वाले की प्रशंसा चारों ओर फैल जायेगी । भीतरी दुनियाँ में यह तौल-नाप नहीं चलती । बाहर की दुनियाँ में रुपयों की गिनती से, काम के बाहरी फैलाव से, कथा-वार्ता से, तीर्थयात्रा आदि भौतिक चीजों से यश खरीदा जाता है, पर चित्र गुप्त देवता के देश में यह सिक्का ही नहीं चलता, वहाँ तो इच्छा और भावना की नाप-तौल है । उसी के मुताबिक पाप-पुण्य का जमा खर्च किया जाता है । भगवान कृष्ण ने अर्जुन को उकसा कर लाखों आदमियों को महाभारत के युद्ध में मरवा डाला । लाशों से भूमि पट गई, खून की नदियाँ बह गईं फिर भी अर्जुन को कोई पाप नहीं लगा । अर्जुन का उद्देश्य पवित्र था, वह पाप को नष्ट करके धर्म की स्थापना करना चाहता था । बस वही इच्छा खुफिया रजिस्टर में दर्ज हो गई आदमियों के मरने जीने की संख्या का कोई हिसाब नहीं लिखा गया । दुनियाँ में करोड़पति की बड़ी प्रतिष्ठा है, पर यदि उसका दिल खोटा है तो चित्रगुप्त के दरबार में भिखमंगा शुमार किया जायगा । दुनियाँ का भिखमंगा यदि दिल का धनी है तो उसे बादशाह गिना जायगा । इस प्रकार मनुष्य जो भी काम कर रहा है वह किस नीयत से कर रहा है, वह नीयत, भलाई या बुराई, जिस दर्जे में जाती होगी उसी में दर्ज कर ली जायगी। सद्भाव से फाँसी लगाने वाला एक जल्लाद भी पुण्यात्मा गिना जा सकता है और एक धर्मध्वजी तिलकधारी पण्डित भी गुप्त रूप से दुराचार करने पर पापी माना जा सकता है। बाहरी आडम्बर का कुछ मूल्य नहीं है, कीमत भीतरी चीज की है। सीप की कुछ कीमत नहीं, मोल-तोल तो मोती का है । बाहर से कोई काम भला या बुरा दिखाई दे, तो उससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं । असली तत्व तो उस इच्छा और भावना में है, जिससे प्रेरित होकर वह काम किया गया है। पाप-पुण्य की जड़ कार्य और प्रदर्शन में नहीं, वरन् निश्चित रूप से इच्छा और भावना में ही है ।

उपरोक्त पंक्तियों में बताया गया है कि हमारे प्राणों के साथ घुलमिल कर रहने वाला चित्रगुप्त देवता किसी पक्षपात के बुरे-भले कर्मों का लेखा अन्तःचेतना के परमाणुओं पर लिखा करता है, उस अदृश्य लिपि को बोलचाल की भाषा में कर्म रेखा कहते हैं । साथ ही यह भी बताया जा चुका है कि पाप-पुण्य का निर्णय काम के बाहरी रूप से नहीं वरन् कर्त्ता की इच्छा और भावना के अनुरूप होता है । यह इच्छा जितनी तीव्र होगी उतना ही पाप-पुण्य भी अधिक एवं बलवान होगा । जैसे एक व्यक्ति उदास मन से किसी रोगी की सेवा करता है और दूसरा व्यक्ति दूसरे रोगी की सेवा अत्यन्त दया, सहानुभूति, उदारता एवं प्रेमपूर्वक करता है, तो बाहर से देखने में दोनों के काम एक समान भले ही हों, पर उस पुण्य का परिणाम भावना की उदासीनता एवं प्रेम तत्परता के अनुसार न्यूनाधिक होगा । इसी प्रकार एक भूखा व्यक्ति लाचार होकर चोरी करता है, दूसरा व्यक्ति मद्यपान के लिए चोरी

करता है तो दोनों के पाप में निस्सन्देह न्यूनाधिकता होगी। चोरी दोनों ने की है पर दुष्टता में न्यूनाधिकता के कारण पाप भी उसी अनुपात से होगा ।

इस सम्बन्ध में एक और भी महत्वपूर्ण बात जान लेने की है कि हर व्यक्ति के लिए अलग-अलग कानून व्यवस्था है । रिश्वत के मामले में एक चपरासी, एक क्लर्क, एक मजिस्ट्रेट तीन आदमी पकड़े जायें, तो तीनों को अलग-अलग प्रकार की सजा मिलेगी । सम्भव है चपरासी को डाट-डपट सुना कर ही छुटकारा मिल जाय पर मजिस्ट्रेट बर्खास्त हुए बिना नहीं रह सकता, क्योंकि उसकी बड़ी जिम्मेदारी है । एक असभ्य भील, शिकार मारकर पेट पालता है, अपराध उसका भी है, परन्तु अहिंसा का उपदेश करने वाला पण्डित यदि चुपचाप बूचर की दुकान में जाता है, तो पण्डित को उस भील की अपेक्षा अनेक गुना पाप लगेगा । कारण यह है कि ज्ञान वृद्धि करता हुआ जीव जैसे-जैसे आगे बढ़ता चलता है वैसे-वैसे ही उसकी अन्तःचेतना अधिक स्वच्छ हो जाती है । मैले कपड़े पर थोड़ी-सी धूल पड़ जाय तो उसका कोई खास प्रभाव नहीं पड़ता परन्तु दूध के समान स्वच्छ धुले हुए कपड़े पर जरा-सा धब्बा लग जाय, तो वह दूर से ही चमकता है और बहुत बुरा मालूम पड़ता है ।

इसी प्रकार अशिक्षित, अज्ञानी, असभ्य व्यक्तियों को कम पाप लगता है । ज्ञान वृद्धि के साथ-साथ भला-बुरा समझने की योग्यता बढ़ती जाती है, सत् असत् का, कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक प्रबल होता जाता है, अन्तःकरण की पुकार जोरदार बनती है, इस प्रकार आत्मोन्नति के साथ-साथ सदाचरण की जिम्मेदारी बनती है, इस प्रकार आत्मोन्नति के साथ-साथ सदाचरण की जिम्मेदारी भी बढ़ती जाती है । हुकुमउदूली करने पर मामूली चपरासी को दो रुपया जुर्माना हो जाता है, परन्तु फौजी अफसर हुकमउदूली करे तो कोर्ट मार्शल द्वारा गोली से उड़ा दिया जायगा । ज्ञानवान, विचारवान और भावनाशील हृदय वाले व्यक्ति जब दुष्कर्म करते हैं तो उनका चित्रगुप्त उस करतूत को बहुत भारी पाप की श्रेणी में दर्ज कर देता है । अज्ञानी व्यक्ति अपराध करे तो यह उतना महत्व नहीं रखता, किन्तु कर्तव्यच्युत ब्राह्मण तो घोर दण्ड का भागी बनता है । राजा बनना सब दृष्टियों में अच्छा है, पर राजा की जुम्मेदारी भी सबसे ऊँची है । ज्ञानवानों का यह कठोर उत्तरदायित्व है कि सदाचार पर दृढ़ रहें, अन्यथा सात मञ्जिल ऊंची छत पर से गिरने वाले को जो कष्ट होता है, उन्हें भी वही दुःख होगा ।

सुख-दुःख का उत्तरदायित्व

संसार में अनेक बार ऐसी घटनाएँ दिखलाई पड़ती हैं, जो ईश्वरीय न्याय के बिल्कुल विपरीत जान पड़ती है । एक सज्जन व्यक्ति दरिद्रता का जीवन बिता रहा है और दूसरा प्रसिद्ध कुकर्मी मौज कर रहा है । परिश्रम करने वाला सीधा-सादा किसान, टोकरी ढोने वाला मजदूर ठोकरें खाता फिरता है और दिन भर गद्दी पर लेटे-लेटे दूसरों की सम्पत्ति को अपहरण करने की तरकीब सोचने वाले तिकड़मी व्यक्ति स्वामी बने रौब दिखा रहे हैं । इस तरह की बातें वर्तमान समय में बहुत बढ़ गई हैं और इनके कारण लोगों के हृदय में यह भावना उत्पन्न हो जाती है कि ये आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक, पाप-पुण्य की बातें बिल्कुल निरर्थक हैं और मनुष्य को एक मात्र स्वार्थ साधन पर ही दृष्टि रखनी चाहिए । इसी प्रकार भावना के कारण मनुष्य और भी अनेक प्रकार के भ्रमों में पड़कर अनुचित कार्य करने लग जाता है, अपने दोष को न समझकर उसकी जिम्मेदारी दूसरों के सिर मढ़ने लगता है ।

इस हानिकर परिस्थिति से बचने के लिए हमको कर्म-रहस्य का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए कि किस प्रकार हमारे शुभाशुभ कार्यों का प्रभाव, हमारी अन्तरात्मा अथवा अन्तर्मन पर पड़ता रहता है और वह कभी तो तुरन्त और कभी बहुत समय बाद फल रूप में प्रकट होता है । जब हम सुख-दुख देने वाले कर्मों की विवेचना करते हैं तो वे तीन प्रकार के सिद्ध होते हैं- संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। सुख तो मनुष्य की स्वाभाविक स्थिति है। सुकर्म करना स्वभाव है इसलिए सुख प्राप्त होना भी स्वाभाविक ही है । कष्ट दुःख में होता है । दुःख से ही लोग डरते, घबराते हैं, उसी से छुटकारा पाना चाहते हैं । इसलिए दुःखों का ही विवेचन यहाँ होना उचित है । आरोग्यवर्द्धक शास्त्र और चिकित्सा शास्त्र दो अलग-अलग शास्त्र हैं । इसी प्रकार सुख-दुःख के भी दो अलग-अलग शास्त्र हैं । सुख वृद्धि के लिए धर्माचरण करना चाहिए, जैसे कि स्वास्थ्य वृद्धि के लिए पौष्टिक पदार्थों का सेवन किया जाता है । दुःख निवृत्ति के लिए, रोग का निवारण करने के लिए उसका निदान और चिकित्सा जानने की आवश्यकता है। कर्म की गहन गति की जानकारी प्राप्त करने से दुःखों का मर्म समझ में आ जाता है । दुःखों के कारण को छोड़ देने से, सहज ही दुःखों की निवृत्ति हो जाती है ।

दुःख तीन प्रकार के होते हैं । (१) दैविक (२) दैहिक (३) भौतिक । दैविक दुःख वे कहे जाते हैं जो मन

को होते हैं । जैसे-चिन्ता, आशंका, क्रोध, अपमान, शत्रुता, विछोह, भय, शोक आदि । दैहिक दु:ख वे होते हैं जो शरीर को होते हैं । जैसे-रोग, चोट, आघात, विष आदि के प्रभाव से होने वाले कष्ट । भौतिक दु:ख वे हैं जो अचानक अदृश्य प्रकार से आते हैं । जैसे- भूकम्प, दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, महामारी, युद्ध आदि । इन्हीं तीन प्रकार के दु:खों की वेदना से मनुष्यों को तड़पता हुआ देखा जाता है । यह तीनों दु:ख हमारे शारीरिक, मानसिक और सामाजिक कर्मों के फल हैं । मानसिक पापों के परिणाम से दैविक दु:ख आते हैं, शारीरिक पापों के फलस्वरूप दैहिक और सामाजिक पापों के कारण भौतिक दु:ख उत्पन्न होते हैं ।

दैविक दु:ख- मानसिक कष्ट उत्पन्न होने का कारण वे मानसिक पाप हैं जो स्वेच्छा पूर्वक तीव्र भावनाओं से प्रेरित होकर किये जाते हैं । जैसे ईर्ष्या, कृतघ्नता, छल, दम्भ, घमण्ड, क्रूरता, स्वार्थपरता आदि इन कुविचारों के कारण जो वातावरण मस्तिष्क में घुटता रहता है उससे अन्त:चेतना पर उसी प्रकार का प्रभाव पड़ता है, जिस प्रकार धुएँ के कारण दीवाल काली पड़ जाती है या तेल से भीगने पर कपड़ा गन्दा हो जाता है । आत्मा स्वभावत: पवित्र है वह अपने ऊपर इन पाप मूलक कुविचारों प्रभावों को जमा हुआ नहीं रहने देना चाहती, वह इस फिक्र में रहती है कि किस प्रकार गन्दगी को साफ करूँ ? पेट में हानिकारक वस्तुओं के जमा हो जाने पर, उसे कै या दस्त के रूप में निकाल बाहर करता है । इसी प्रकार तीव्र इच्छा से, जानबूझ कर किए गये पापों को निकाल बाहर करने के लिए आत्मा, आतुर हो उठती है । हम उसे जरा भी जान नहीं पाते किन्तु आत्मा भीतर ही भीतर उस पाप भार को हटाने के लिए अत्यन्त व्याकुल हो जाती है। बाहरी मन स्थूल बुद्धि को उस अदृश्य प्रक्रिया का कुछ भी पता नहीं लगता, पर अन्तर्मन चुपके ही चुपके ऐसे अवसर एकत्रित करने में लगा रहता है जिससे वह भार हट जाय । अपमान, असफलता, विछोह, शोक, दु:ख आदि होने के अवसरों को वह कहीं से एक न एक दिन, किसी प्रकार खींच ही लाता है ताकि उन दुर्भावनाओं का, पाप संस्कारों का इन अप्रिय परिस्थितियों में समाधान हो जाय ।

शरीर द्वारा किये हुए चोरी, डकैती, व्यभिचार, अपहरण, हिंसा आदि में मन ही प्रमुख है । हत्या करने में हाथ का कोई स्वार्थ नहीं है, वरन् मन के आदेश की पूर्ति है । इसलिए, इस प्रकार के कार्य, जिनके करते समय इन्द्रियों को सुख न पहुँचता हो, मानसिक पाप कहलाते हैं । ऐसे पापों का फल मानसिक दु:ख होता है । स्त्री-पुत्र आदि प्रियजनों की मृत्यु, धन नाश, लोक निन्दा, अपमान, पराजय, असफलता, दरिद्रता आदि मानसिक दु:ख हैं, उनसे मनुष्य की मानसिक वेदना उखड़ पड़ती है, शोक-सन्ताप उत्पन्न होता है, दु:खी होकर रोता-चिल्लाता है, आँसू बहाता है, सिर धुनता है । इससे वैराग्य के भाव उत्पन्न होते हैं और भविष्य में अधर्म न करने एवं धर्म में प्रवृत्त रहने की प्रवृत्ति बढ़ती है । देखा गया है कि मरघट में स्वजनों की चिता रचते हुए ऐसे भाव उत्पन्न होते हैं कि जीवन का सदुपयोग करना चाहिए । धन नाश होने पर मनुष्य भगवान को पुकारता है । पराजित और असफल व्यक्ति का घमण्ड चूर हो जाता है । नशा उतर जाने पर वह होश की बात करता है, मानसिक दु:खों का एक मात्र उद्देश्य मन में जमे हुए ईर्ष्या, कृतघ्नता, स्वार्थपरता, क्रूरता, निर्दयता, छल, दम्भ, घमण्ड आदि की सफाई करना होता है । दु:ख इसलिए आते हैं कि आत्मा के ऊपर जमा हुआ प्रारब्ध कर्मों का पाप संस्कार निकल जाय । पीड़ा और वेदना की धारा उन पूर्वकृत प्रारब्ध कर्मों के निकृष्ट संस्कारों को बोने के लिए प्रकट होती है।

दैविक-मानसिक कष्टों का कारण समझ लेने के उपरान्त अब दैहिक-शारीरिक कष्टों का कारण समझना चाहिए । जन्मजात अपूर्णता एवं पैतृक रोगों का कारण, पूर्व जन्म में उन अंगों का दुरुपयोग करना है । मरने के बाद सूक्ष्म शरीर रह जाता है। नवीन शरीर की रचना इस सूक्ष्म शरीर द्वारा होती है । इस जन्म में जिस अंग का दुरुपयोग किया जा रहा है, वह अंग सूक्ष्म शरीर में बहुत दुर्बल हो जाता है । जैसे कोई व्यक्ति अति मैथुन करता हो तो सूक्ष्म शरीर का वह अंग निर्बल होने लगेगा, फलस्वरूप सम्भव है कि वह अगले जन्म में नपुंसक हो जाय । यह केवल कठोर दण्ड ही नहीं वरन् सुधार का एक उत्तम तरीका भी है । कुछ समय तक उस अंग को विश्राम मिलने से आगे के लिए वह सचेत और सूक्ष्म हो जायेगा । शरीर के अन्य अंगों के शारीरिक लाभ के लिए पापपूर्ण, अमर्यादित, अपव्यय करने पर आगे के जन्म में वे अंग जन्म से ही निर्बल या नष्ट प्राय: होते हैं । शरीर और मन के सम्मिलित पापों के शोधन के लिए जन्मजात रोग मिलते हैं या बालक अंग-भंग उत्पन्न होते हैं । अंग-भंग या निर्बल उत्पन्न होने से उस अंग को अधिक काम नहीं करना पड़ता इसलिए सूक्ष्म शरीर का वह अंग विश्राम पाकर अगले जन्म के लिए फिर तरोताजा हो जाता है साथ ही मानसिक दु:ख मिलने से वह मन का पाप भार भी धुल जाता है ।

मानसिक पाप भी जिस शारीरिक पाप के साथ घुला मिला होता है, वह यदि राजदण्ड, समाज दण्ड या प्रायश्चित द्वारा इस जन्म में शोधित न हुआ हो तो उसका शोधन शीघ्र ही शारीरिक प्रकृति द्वारा हो जाता है। जैसे नशा पिया, उन्माद आया। विष खाया, मृत्यु हुई। आहार-विहार में गड़बड़ी की, बीमार पड़े। इस तरह शरीर अपने साधारण दोषों की सफाई जल्दी-जल्दी कर लेता है और इस जन्म का भुगतान इसी जन्म में कर जाता है। परन्तु गम्भीर शारीरिक दुर्गुण, जिनमें मानसिक जुड़ाव भी होता है, अगले जन्म में फल प्राप्त करने के लिए सूक्ष्म शरीर के साथ जाते हैं।

भौतिक कष्टों का कारण हमारे सामाजिक पाप हैं। सम्पूर्ण मनुष्य जाति एक ही सूत्र में बँधी हुई है। विश्व व्यापी जीव तत्व एक है। आत्मा सर्वव्यापी है। जैसे एक स्थान पर यज्ञ करने से अन्य स्थानों का भी वायुमण्डल शुद्ध होता है और एक स्थान पर दुर्गन्ध फैलने से उसका प्रभाव अन्य स्थानों पर भी पड़ता है। इसी प्रकार एक मनुष्य के कुत्सित कर्मों के लिए दूसरा भी जिम्मेदार है। एक दुष्ट व्यक्ति अपने माता-पिता को भी लज्जित करता है, अपने घर और कुटुम्ब को शर्मिन्दा करता है। वे इसलिए शर्मिन्दा होते हैं कि उस व्यक्ति के कामों से उनका कर्तव्य भी बँधा हुआ है। अपने पुत्र, कुटुम्बी या घर वाले को सुशिक्षित, सदाचारी न बना कर दुष्ट क्यों हो जाने दिया ? इसकी आध्यात्मिक जिम्मेदारी कुटुम्बियों की भी है। कानून द्वारा अपराधी को ही सजा मिलेगी, परन्तु कुटुम्बियों की आत्मा स्वयमेव शर्मिन्दा होगी, क्योंकि उनकी गुप्त मनः शक्ति यह स्वीकार करती है कि हम भी किसी हद तक इस मामले में अपराधी हैं। सारा समाज एक सूत्र में बँधा होने के कारण आपस में एक-दूसरे की हीनता के लिए जिम्मेदार हैं। पड़ौसी का घर जलता रहे और दूसरा पड़ौसी खड़ा-खड़ा तमाशा देखे, तो कुछ देर बाद उसका भी घर जल सकता है। मुहल्ले के एक घर में हैजा फैले तो दूसरे लोग उसे रोकने की चिन्ता न करें तो उन्हें भी हैजे का शिकार होना पड़ेगा। कोई व्यक्ति किसी की चोरी, बलात्कार, हत्या, लूट आदि होती हुई देखता रहे और सामर्थ्य होते हुए भी उसे रोकने का प्रयत्न न करे, तो समाज उससे घृणा करेगा एवं कानून के अनुसार वह भी दण्डनीय समझा जायगा।

ईश्वरीय नियम है कि हर मनुष्य स्वयं सदाचारी जीवन बिताये और दूसरों को अनीति पर न चलने देने के लिए भरसक प्रयत्न करे। यदि कोई देश या जाति अपने तुच्छ स्वार्थों में संलग्न होकर, दूसरों के कुकर्मों को रोकने और सदाचार बढ़ाने का प्रयत्न नहीं करती तो उसे भी दूसरों का पाप लगता है। उसी सामूहिकता के सामूहिक पाप से सामूहिक दण्ड मिलता है। भूकम्प, अति वृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष, महामारी, महायुद्ध के कारण ऐसे ही सामूहिक दुष्कर्म होते हैं, जिनमें स्वार्थपरता को प्रधानता दी जाती है और परोपकार की उपेक्षा की जाती है।

देखा जाता है कि अन्याय करने वाले अमीरों की अपेक्षा मूक पशु की तरह जीवन बिताने वाले भोले-भाले लोगों पर दैवी प्रकोप अधिक होते हैं। अतिवृष्टि, अनावृष्टि का कष्ट गरीब किसानों को ही अधिक सहन करना पड़ता है। इसका कारण यह है कि अन्याय करने वाले से अन्याय सहन करने वाला कम पापी नहीं होता। कहते हैं कि "बुजदिल जालिम का बाप होता है।" कायरता में यह गुण है कि वह अपने ऊपर जुल्म करने के लिए किसी न किसी को न्यौत बुलाती है। भेड़ की ऊन एक गड़रिया छोड़ देगा तो दूसरा कोई न कोई उसे काट लेगा। कायरता, कमजोरी, अविद्या स्वयं बड़े भारी पातक हैं। ऐसे पातकियों पर यदि भौतिक कोप अधिक हों तो कुछ आश्चर्य नहीं। सम्भव है कि उनकी कायरता को दूर करने एवं स्वाभाविक सतेजता जगाकर निष्पाप बना देने के लिए अदृश्य सत्ता द्वारा यह घटनाएँ उपस्थित होती हों। यह भौतिक दुर्घटनाएँ सृष्टि के दोष नहीं है वरन् अपने ही दोष हैं। अग्नि में तपाकर सोने की तरह हमें शुद्ध करने के लिए यह कष्ट बार-बार कृपापूर्वक आया करते हैं और संसार को जोरदार चेतावनियाँ देकर सामाजिक निष्पापता बढ़ाने का आदेश दिया करते हैं।

कर्म और उनसे होने वाले परिणाम

यदि हम अपने दिन भर के कामों का निरीक्षण करें तो उन्हें तीन श्रेणियों में बाँट देना पड़ेगा। कुछ तो ऐसे होते हैं जो बिना जानकारी में होते हैं जैसे बुरे लोगों के मुहल्ले में या सत्संग में रहने से उनका प्रभाव किसी अंश में गुप्त रूप से अपने ऊपर पड़ जाता है। यह प्रभाव पड़ा तो परन्तु हमने उसे इच्छा पूर्वक स्वीकार नहीं किया इसलिए वह हल्का, निर्बल एवं कम प्रभाव वाला होकर हमारी भीतरी चेतना के एक कोने में पड़ा रहा। ऐसे हीन वीर्य संस्कार बनाने वाले संचित कर्म कहे जाते हैं। जो कार्य विवशता में, दबाये जाने पर करने पड़ें, पर मन की आन्तरिक इच्छा यही रही कि विवशता न होती तो इस काम को मैं कदापि

न करता। इस तरह लाचारी से जो काम करने पड़ें और मन जिनके विरुद्ध विद्रोह करता रहे एवं उस कार्य को स्वभाव बनाकर अपना नहीं लिया हो तो, उस कार्य का संस्कार भी हल्का, अल्प वीर्य और कम प्रभाव वाला होता है। ऐसे काम भी संचित कर्म की ही श्रेणी में आते हैं। इन संचित कर्मों के संस्कार बहुत कमजोर एवं हल्के होते हैं इसलिए वे मनोभूमि के किसी अज्ञात कोने में सिमटे हुए हजारों वर्ष तक पड़े रहते हैं। यदि उन्हें प्रकट होने का कोई अच्छा अवसर न मिले तो यों ही दबे-दबाये पड़े रहते हैं। किन्तु यदि उसी प्रकार के बुरे कर्म कभी जानबूझकर स्वेच्छा से, विशेष मनोयोग के साथ किये गये तो वे सड़े-गले संचित संस्कार भी कुलबुलाने लगते हैं। जिस प्रकार घुना हुआ बीज भी अच्छी भूमि और अच्छी वर्षा पाकर उग आता है वैसे ही संचित संस्कार भी अपनी जाति के बलवान कर्मों की सहायता पाकर उग आते हैं। परन्तु यदि उन संचित संस्कारों को लगातार विपरीत स्वभाव के बलवान कर्म संस्कारों के साथ रहना पड़े तो वे नष्ट भी हो जाते हैं। गर्म जगह में रखा हुआ एक घड़ा पानी, गर्मी के प्रभाव से आखिर एक महीने में सूख ही जाता है, इसी प्रकार उत्तम कर्मों के संस्कार जमा हो रहे हों तो वे बेचारे बुरे संस्कार उनकी गर्मी में जल कर नष्ट हो जाते हैं। धर्म ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि तीर्थयात्रा आदि अमुक शुभ धर्म कार्य करने से पूर्व जन्म के पाप नष्ट हो जाते हैं। असल में वह संकेत इन अल्पवीर्य वाले संचित संस्कारों के सम्बन्ध में ही है। भले और बुरे दोनों ही प्रकार के संचित कर्म संस्कार, अनुकूल परिस्थिति पाकर फलदायक होते हैं एवं प्रतिकूल परिस्थितियों में नष्ट भी हो जाते हैं।

प्रारब्ध- वे मानसिक कर्म होते हैं जो स्वेच्छापूर्वक, जानबूझकर तीव्र भावनाओं से प्रेरित होकर किये जाते हैं। इन कार्यों को विशेष मनोयोग के साथ किया जाता है, इसलिए उनका संस्कार भी बहुत बलवान होता है। हत्या, खून, डकैती, विश्वासघात, चोरी, व्यभिचार जैसे प्रचण्ड क्रूर कर्मों की प्रतिक्रिया अन्तःकरण में बहुत ही तीव्र होती है। उस विजातीय द्रव्य को बाहर निकाल देने के लिए आध्यात्मिक पवित्रता निरन्तर व्यग्र बनी रहती है और एक न एक दिन उसे निकाल कर बाहर कर ही देती है।

हम बता चुके हैं कि हमारी अन्तःचेतना निष्पक्ष न्यायाधीश की तरह हमारे हर काम को देखती रहती है और उसकी न्यूनता-अधिकता के परिणाम के अनुसार दण्ड की व्यवस्था करती रहती है। चूँकि मानसिक दण्ड अपने आप, अन्दर ही अन्दर पूरा नहीं हो सकता, इसके लिए दूसरे साधनों की भी आवश्यकता होती है, दण्ड कार्य को पूरा करने के लिए सूक्ष्म लोक में से उसी प्रकार का घटना-क्रम उपस्थित करने के लिए हमारी अन्तःचेतना एक वातावरण तैयार करती है। इस तैयारी में कभी-कभी बहुत समय लग जाता है। जैसे छल स्वभाव के निवारण के लिए शोक रूपी दण्ड की आवश्यकता है। अब यह देखा जायगा कि छल किस दर्जे का है, उसकी शुद्धि किस दर्जे के शोक से पूरा हो सकती है। अन्तःचेतना वैसी ही परिस्थितियाँ पैदा करने में भीतर ही भीतर लगी रहेगी। वह शरीर में ऐसे तत्व पैदा करेगी जिससे पुत्र उत्पन्न हो, उस पुत्र शरीर में ऐसी आत्मा का मेल मिलावेगी जिसे उसे कर्मों के अनुसार दस वर्ष ही जीना पर्याप्त हो, दस वर्ष का पुत्र हो जाने पर वही हमारी गुप्त प्रेरणा, गुप्त रूप से पुत्र पर पिल पड़ेगी और उसे रोगी करके मार डालेगी एवं शोक का इच्छित अवसर पैदा कर देगी। ऐसे अवसर तैयार करने में केवल अपना ही कार्य अकेला नहीं होता वरन् दूसरे पक्ष का भी कार्य होता है। दोनों ओर की चेतनाएं अपने-अपने लिए अवसर तलाश करती फिरती हैं और फिर जब उन्हें इच्छित जोड़ मिल जाता है तो एक घटना की भूमिका बँध जाती है। ऐसे कार्यों में कई बार एक, दो या कई जन्मों का समय लग जाता है।

पाठक समझ गये होंगे कि मानसिक पापों का फल किस प्रकार मिलता है और उसमें विलम्ब हो जाने का क्या कारण है ? दैनिक आपत्तियाँ, क्रमपूर्वक, व्यवस्था के साथ आती हैं, पर लोग उन्हें दैव का प्रकोप, ईश्वर की इच्छा, संसार दुःखमय है आदि कहकर अपने मन का सन्तोष करते हैं। यथार्थ में ईश्वर किसी के लिए भी दुःख, शोक, उपस्थित नहीं करता, न उसकी किसी को कष्ट में डालने की इच्छा है और न यह संसार ही दुःखमय है। मकड़ी अपने आप अपना जाला बुनती है और उसमें खुद ही फँसती, उलझती, लटकती रहती है। मन को अशुभ, अधर्मी, पापी बनकर हम अपने लिए दुःख, द्वन्दों के काँटे खुद ही बोते हैं और जब वे चुभते हैं तो रोते-चिल्लाते हैं तथा दूसरों को दोष देते फिरते हैं। यहाँ एक बात और भी स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि प्रारब्ध-फल आकस्मिक तरीके से मिलेगा जैसे रोग से मृत्यु, मकान गिर पड़ना, धन खो जाना, गिर पड़ने से चोट लगना, अंग-भंग हो जाना आदि। दूसरे व्यक्तियों द्वारा जानबूझ कर ऐसे कर्म नहीं किये जाते क्योंकि उसमें दो बुराइयाँ हैं-एक तो

अपकार करने वाले व्यक्ति के लिए क्षोभ उत्पन्न होने से वे दुर्गुण और बढ़ेंगे जिससे मन की उद्विग्नता और अधिक बढ़ जायगी, दूसरे अपकार करने वाले व्यक्ति को भी उसी चक्र में फँसना पड़ेगा। जान बूझकर व्यक्तियों द्वारा जो काम किए जा रहे हैं वे नवीन कर्म हैं और अनायास, आकस्मिक ढंग से जो कष्ट आ पड़ते हैं वे प्रारब्ध के भोग हैं ।

क्रियमाण कर्म शारीरिक हैं, जिनका फल प्राय: साथ का साथ ही मिलता रहता है। नशा पिया कि उन्माद आया। विष खाया कि मृत्यु हुई । शरीर जड़ तत्वों का बना हुआ है । भौतिक तत्व स्थूलता प्रधान होते हैं । उनमें तुरन्त ही बदला मिलता है । अग्नि के छूते ही हाथ जल जाता है । नियम विरुद्ध आहार-विहार करने पर रोगी पर पीड़ा का, निर्बलता का, अविलम्ब आक्रमण हो जाता है और उसकी शुद्धि भी शीघ्र हो जाती है । मजदूर परिश्रम करता है बदले में उसे पैसे मिल जाते हैं । जिन शारीरिक कर्मों के पीछे कोई मानसिक गुत्थी नहीं होती केवल शरीर के लिए ही किए जाते हैं वे क्रियमाण कहलाते हैं । पाठक समझ गये होंगे कि संचित कर्मों का फल मिलना संदिग्ध है, यदि अवसर मिलता है तो वे फलवान होते हैं नहीं तो विरोधी परिस्थितियों से टकरा कर नष्ट हो जाते हैं । प्रारब्ध कर्मों का फल मिलना निश्चित है परन्तु उसके अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होने में कुछ समय लग जाता है । यह समय कितने दिन का होता है, इस सम्बन्ध में कुछ नियत मर्यादा नहीं है, वह आज का आज भी हो सकता है और कुछ जन्मों के अन्तर से भी हो सकता है। किन्तु प्रारब्ध फल होते वही हैं जो अचानक घटित हों और जिसमें मनुष्य का कुछ वश न चले । पुरुषार्थ की अवहेलना से जो असफलता मिलती है उसे कदापि प्रारब्ध फल नहीं कहा जा सकता। क्रियमाण तो प्रत्यक्ष हैं ही, उनके बारे में ऊपर बता ही दिया गया है कि निश्चित फल वाले, शारीरिक फल वाले शारीरिक कर्म क्रियमाण हुआ करते हैं । इनका फल मिलने में अधिक समय नहीं लगता ।

कष्टों का स्वरूप अप्रिय है । उनका तात्कालिक अनुभव कड़वा होता है । अन्ततः वे जीव के लिए कल्याणकारी और आनन्ददायक ही सिद्ध होते हैं । उनसे दुर्गुणों के शोधन और सद्गुणों की वृद्धि में असाधारण सहायता मिलती है। आनन्द स्वरूप, आत्म प्रकाश मय जीवन और सुखमय संसार के कष्टों का थोड़ा स्वाद परिवर्तन इसलिए लगाया गया है कि प्रगति में बाधा न पड़ने पावे । थोड़ा-सा कष्ट भी जीवन की सुख वृद्धि के लिए आवश्यक है । संसार में जो-जो कष्ट हैं वे स्वाभाविक ही हैं । किन्तु स्मरण रखिये जितना भी थोड़ा-बहुत दु:ख है वह हमारे अन्याय का, अधर्म का, अनर्थ का फल है । आत्मा दु:ख रूप नहीं है, जीवन दु:खमय नहीं है और न इस संसार में ही दु:ख है ।

आप दु:खों से डरिये मत । घबराइये मत, काँपिये मत, उन्हें देखकर चिन्तित या व्याकुल मत होइए, वरन् उन्हें सहन करने को तैयार रहिए । कटुभाषी किन्तु सच्चे सहृदय मित्र की तरह भुजा पसार कर मिलिए । वह कटु शब्द बोलता है, अप्रिय समालोचना करता है, तो भी जब जाता है तो बहुत-सा माल-खजाना उपहार स्वरूप दे जाता है। बहादुर सिपाही की तरह सीना खोलकर खड़े हो जाइये और कहिए कि 'ऐ आने वाले दु:खो ! आओ !! ऐ मेरे बालको चले आओ !! मैंने ही तुम्हें उत्पन्न किया है । मैं ही तुम्हें अपनी छाती से लगाऊँगा । दुराचारिणी वेश्या की तरह तुम्हें जार पुत्र समझकर छिपाना या भगाना नहीं चाहता वरन् सती साध्वी के धर्म पुत्र की तरह तुम मेरे अंचल में सहर्ष क्रीड़ा करो । मैं कायर नहीं हूँ, जो तुम्हें देखकर रोऊँ, मैं नपुंसक नहीं हूँ, जो तुम्हारा भार उठाने में गिड़गिड़ाऊँ, मैं मिथ्याचारी नहीं हूँ, जो अपने लिए हुए कर्मों का फल भोगने से मुँह छिपाता फिरूँ । मैं सत्य हूँ, शिव हूँ, सुन्दर हूँ । आओ मेरे अज्ञान के कुरूप मानस पुत्रो ! चले आओ ! मेरी कुटी में तुम्हारे लिए स्थान है । मैं शूरवीर हूँ, इसलिए हे कष्टो ! तुम्हें स्वीकार करने से मुँह नहीं छिपाता और न तुमसे बचने के लिए किसी की सहायता चाहता हूँ । तुम मेरे साहस की परीक्षा लेने आये हो, मैं तैयार हूँ देखो गिड़गिड़ाता नहीं हूँ, साहस पूर्वक तुम्हें स्वीकार करने के लिए छाती खोले खड़ा हूँ ।'

खबरदार ! ऐसा मत कहना कि 'कि यह संसार बुरा है, दुष्ट है, पापी है, दु:खमय है ।' ईश्वर की पुण्य-कृति जिसके कण-कण में उसने कारीगरी भर दी है, कदापि बुरी नहीं हो सकती । सृष्टि पर दोषारोपण करना तो उसके कर्त्ता पर आक्षेप करना होगा । "यह घड़ा बहुत बुरा बना है ।" इसका अर्थ है कुम्हार को नालायक बताना । आपका पिता इतना नालायक नहीं है जितना कि आप, "दुनियाँ दु:खमय है, यह शब्द कह कर उसकी प्रतिष्ठा पर लांछन लगाते हैं।" ईश्वर की पुण्य भूमि में दु:ख का एक अणु भी नहीं है । हमारा अज्ञान ही हमारे दु:ख है ।

मनुष्य अपना निर्माता स्वयं है

शास्त्र का मत है कि संसार तो एक निष्प्राण वस्तु है। इसे हम जैसा बनाना चाहते हैं वैसा ही यह बन जाता है।

जीव चैतन्य और कर्त्ता है, संसार पदार्थ है और जड़ है । चैतन्य कर्त्ता में यह योग्यता होनी चाहिए कि वह जड़ पदार्थ का अपनी इच्छा और आवश्यकतानुसार उपयोग कर सके । कुम्हार के सामने मिट्टी रखी हुई है, वह उससे घड़ा भी बना सकता है और दीपक भी । त्रिगुणमयी प्रकृति में दोनों पहलू मौजूद हैं- एक भला, दूसरा-बुरा । एक काला, दूसरा सफेद । एक धर्म, दूसरा अधर्म । इनमें से चुनाव करने की पूरी आजादी आपकी है । दुनियाँ का असली रूप तो पहले ही बताया जा चुका है, पर वह तो शास्त्रीय व्याख्या है । व्यावहारिक दृष्टि से हर एक व्यक्ति की अपनी एक अलग दुनियाँ है । एक व्यक्ति चोर है तो उसे सर्वत्र चोरी की ही चर्चा करने को मिलेगी । इसी प्रकार व्यभिचारी व्यक्ति को सभी स्त्रियाँ व्यभिचारिणी, कुमार्ग गामिनी दिखलाई पड़ेंगी । एक ही व्यक्ति कई लोगों को कई प्रकार का दिखाई पड़ता है । माता उसे स्नेह भाजन मानती है, पिता आज्ञाकारी पुत्र मानता है, स्त्री प्राणवल्लभ मानती है, पुत्र उसे पिता समझता है । इस प्रकार आप देखेंगे कि उस एक ही व्यक्ति के सम्बन्ध में यह सब सम्बन्धी कैसी-कैसी विचित्र कल्पना किये हुए हैं, जो एक-दूसरे से बिल्कुल नहीं मिलतीं । जिसे उससे जितना एवं जैसा काम पड़ता है वह उसके सम्बन्ध में वैसी ही कल्पना कर लेता है । तमाशा तो यह है कि वह मनुष्य स्वयं भी अपने बारे में एक ऐसी ही कल्पना किए हुए है । मैं वैश्य हूँ, लखपति हूँ, वृद्ध हूँ, पुत्र रहित हूँ, कुरूप हूँ, गण्यमान्य हूँ, दुःखी हूँ, बुरे लोगों से घिरा हुआ हूँ आदि नाना प्रकार की कल्पनायें कर लेता है और उस कल्पना लोक में जीवन भर विचरण करता रहता है । जैसे दूसरे लोग उसके बारे में अपने मतलब की कल्पना कर लेते हैं, वैसे ही मन भी अपने बारे में इन्द्रियों की अनुभूति के आधार पर अपने सम्बन्ध में एक लँगड़ी-लूली कल्पना कर लेता है और उसी कल्पना में लोग नशेबाज की तरह उड़ते रहते हैं ।''मैं क्या हूँ ? इस मर्म को यदि वह किसी दिन समझ पावे तो मालूम हो कि मैंने अपने बारे में कितनी गलत धारणा बना रखी थी ।''

मनुष्यों को नाना प्रकार के दुःखों में रोते हुए और नाना सुखों में इतराते हुए हम देखते हैं ।''दुनियाँ बहुत बुरी है, जमाना बड़ा खराब है, ईमानदारी का युग चला गया, चारों ओर बेईमानी छाई हुई है, सब लोग धोखेबाज हैं, धर्म-धरती पर से उठ गया'' ऐसी उक्तियाँ जो आदमी बार-बार दुहराता है समझ लीजिए कि यह खुद धोखेबाज और बेईमान है । इसकी इच्छित वस्तुएँ इसके चारों ओर इकट्ठी हो गई हैं और उनकी सहायता से सुव्यवस्थित कल्पना चित्र इसके मन पर अंकित हो गया है । जो व्यक्ति यह कहा करता है कि दुनियाँ में कुछ काम नहीं, बेकारी का बाजार गर्म है, उद्योग-धन्धे उठ गये, अच्छे काम मिलते ही नहीं, समझ लीजिए कि इसकी अयोग्यता इसके चेहरे पर छाई हुई है और जहाँ जाता है वहाँ के दर्पण में अपना मुख देख आता है । जिसे दुनियाँ स्वार्थी, कपटी, दंभी, दुःखमय, कलुषित, दुर्गुणी, असभ्य दिखाई पड़ती है, समझ लीजिए कि इसके अन्तर में इन्हीं अवगुणों का बाहुल्य है । दुनियाँ एक लम्बा-चौड़ा बहुत बढ़िया बिल्लौरी काँच का चमकदार दर्पण है, इसमें अपना मुँह हूबहू दिखाई पड़ता है । जो व्यक्ति जैसा है इसके लिए त्रिगुणमयी सृष्टि में से वैसे ही तत्व निकल कर आगे आ जाते हैं ।

क्रोधी मनुष्य जहाँ जायगा, कोई न कोई लड़ने वाला उसे मिल ही जायगा, घृणा करने वाले को कोई न कोई घृणित वस्तु मिल ही जायगी । अन्यायी मनुष्य को सब लोग बड़े बेहूदे, असभ्य और दण्ड देने योग्य दिखाई पड़ते हैं। होता यह है कि अपनी मनोभावनाओं को मनुष्य अपने सामने वालों पर थोप देता है और उन्हें वैसा ही समझता है जैसा कि वह स्वयं है । साधुओं को असाध्वी स्त्रियों से पाला नहीं पड़ता, विद्याभ्यासियों को सद्ज्ञान मिल ही जाता है, जिज्ञासुओं की ज्ञान पिपासा पूरी होती है, सतयुगी आत्माएँ हर युग में रहती हैं और उनके आस-पास सदैव सतयुग बरसता रहता है ।

हमारा यह कहने का तात्पर्य कभी नहीं है कि दुनियाँ दूध से धुली हुई है और आप अपने दृष्टि-दोष से ही उसे बुरा समझ बैठे हैं । यह बार-बार कहा जा चुका है कि दुनियाँ त्रिगुणमयी है । हर वस्तु तीन गुणों से बनी हुई है। उसमें आपसे छोटे दर्जे के बच्चे भी पढ़ते हैं, आपकी समकक्षा में पढ़ने वाले भी हैं और वे भी हैं जो आपसे बहुत आगे हैं, तीनों ही किस्म के लोग यहाँ हैं । सतोगुणी वे विद्यार्थी हैं, जो आपसे ऊँची कक्षा में हैं, रजोगुणी वे हैं जो समकक्षा में पढ़ रहे हैं और तमोगुणी पिछली कक्षा वाले को कह सकते हैं । तात्पर्य यह है कि परम पद पाने से पूर्व हर एक प्राणी अपूर्ण है, उसमें नीच स्वभाव कुछ न कुछ रहेगा ही ।

हमारे अनुभव में ऐसे अनेकों प्रसंग आये हैं, जब हमें दो विरोधियों में समझौता कराना पड़ा है। दो शत्रुओं को मित्र बनाना पड़ा है । दोनों में विरोध किस प्रकार आरम्भ

हुआ इसका गम्भीर अनुसन्धान करने पर पता चला कि वास्तविक कारण बहुत ही स्वल्प था, पीछे दोनों पक्ष अपनी-अपनी कल्पनाएँ बढ़ाते गये और बात का बतंगड़ बन गया। यदि एक-दूसरे को समझने की कोशिश करें, दोनों अपने-अपने भाव एक-दूसरे पर प्रकट कर दें और एक-दूसरे की इच्छा, स्वभाव, मनोभूमि का उदारता से अध्ययन करें तो जितने आपसी तनाव और झगड़े दिखाई पड़ते हैं उनका निन्यानवे प्रतिशत भाग कम हो जाय और सौ भाग में से एक भाग ही रह जावे। क्लेश-कलह के वास्तविक कारण इतने कम हैं कि उनका स्थान आटे में नमक के बराबर स्वाद परिवर्तन जितना ही रह जाता है। मिर्च बहुत कड़ुई है और उसका खाना सहन नहीं होता पर स्वल्प मात्रा में तो रुचिकर होती है।

हर उन्नत आत्मा का कर्तव्य है कि आत्म विकास के लिए दूसरों की उन्नति का भी प्रयत्न करे। गिरे हुओं को बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करे। समाज में तमोगुण उबलते रहेंगे उनसे डरने या घबराने की जरूरत नहीं है। आत्मोन्नति चाहने वाली आत्मा का कर्तव्य है कि उन उत्पातों में सुधार करते हुए अपनी भुजाएँ मजबूत बनायें। दुष्टता को बढ़ने न देना, पाशविक तत्वों को मनुष्य तत्व में न घुलने देने का प्रयत्न करते रहना आवश्यक है। चतुर हलवाई दूध को मक्खियों से बचाता रहता है ताकि दूध अशुद्ध न हो जाय। कर्मकौशल यह कहता है कि समाज में पाप वृत्तियों को बढ़ने से रोकना चाहिए। इस विरोध कर्म में बड़ी होशियारी की जरूरत है। यही तलवार की धार है, इस पर चलना सचमुच योग कहा जायगा।

बुराइयों से भरे हुए इस विश्व में आपका कार्य क्या होना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर भगवान सूर्यनारायण हमें देते हैं। वे प्रकाश फैलाते हैं, अन्धेरा अपने आप भाग जाता है। बादल मेह बरसाते हैं, ग्रीष्म का ताप अपने आप ठण्डा हो जाता है। हम भोजन खाते हैं, भूख अपने आप बुझ जाती है। स्वास्थ्य के नियमों की साधना करते हैं तो दुर्बलता अपने आप दूर हो जाती है। ज्ञान प्राप्त करते हैं, अज्ञान अपने आप दूर हो जाता है। सीधा रास्ता यह है कि संसार में से बुराइयों को हटाने के लिए अच्छाइयों का प्रसार करना चाहिए। अधर्म को मिटाने के लिए धर्म का प्रचार करना चाहिए।

आप सरल मार्ग को अपनाइए, लड़ने, बड़बड़ाने और कुढ़ने की नीति छोड़कर दान, सुधार, स्नेह के मार्ग का अवलम्बन लीजिए। एक आचार्य का कहना है कि "प्रेम भरी बात कठोर लात से बढ़कर है।" हर एक मनुष्य अपने अन्दर कम या अधिक अंशों में सात्विकता को धारण किए रहता है। आप उसकी सात्विकता को स्पर्श करिए और उसकी सुप्तता में जागरण उत्पन्न कीजिए। जिस व्यक्ति में जितने सात्विक अंश हैं उन्हें समझिए और उसी के अनुसार उन्हें बढ़ाने का प्रयत्न कीजिए। अन्धेरे में मत लड़िए वरन् प्रकाश फैलाइये। अधर्म बढ़ता हुआ दीखता हो तो निराश मत होइए वरन् धर्म प्रचार का प्रयत्न कीजिए। बुराई के मिटाने का यही एक तरीका है कि अच्छाई को बढ़ाया जाय।

हो सकता है कि लोग आपको दुःख दें, आपका तिरस्कार करें, आपके महत्व को न समझें, आपको मूर्ख गिनें और विरोधी बनकर मार्ग में अकारण कठिनाइयाँ उपस्थित करें, पर इसकी तनिक भी चिन्ता मत कीजिए और जरा भी विचलित मत होइए। क्योंकि इनकी संख्या बिल्कुल नगण्य होगी। सौ-आदमी आपके प्रयत्न का लाभ उठायेंगे तो दो-चार विरोधी भी होंगे। यह विरोध आपके लिए ईश्वरीय प्रसाद की तरह होगा ताकि आत्मनिरीक्षण का, भूल सुधार का अवसर मिले और संघर्ष से जो शक्ति आती है उसे प्राप्त करते हुए तेजी से आगे बढ़ते रहें।

आप समझ गये होंगे कि संसार असार है, इसलिए वैराग्य के योग्य है, पर आत्मोन्नति के लिए कर्तव्य धर्म पालन करने में यह वैराग्य बाधक नहीं होता। सच तो यह है कि वैराग्य को अपनाकर ही हम विकास के पथ पर तीव्र गति से बढ़ सकते हैं। संसार को दुःखमय मानना एक भारी भूल है। यह सुखमय है। यदि संसार में सुख न होता तो स्वतंत्र, शुद्ध, बुद्ध और आनन्दी आत्मा इसमें आने के लिए कदापि तैयार न होती। दुःख और कुछ नहीं, सुख के अभाव का नाम है। राजमार्ग पर चलना छोड़कर कँटीली झाड़ियों में भटकना दुःख है। दुःख, विरोध, बैर, क्लेश, कलह का अधिकांश भाग काल्पनिक होता है, दूसरे लोग सचमुच उतने बुरे नहीं होते, जितने कि हम समझते हैं। यदि हम अपने मस्तिष्क को शुद्ध कर डालें, आँखों पर से रंगीन चश्मा उतार फेंके तो संसार का सच्चा स्वरूप दिखाई देने लगेगा। यह दर्पण के समान है। भले के लिए भला और बुरे के लिए बुरा। जैसे ही हमारी दृष्टि भलाई देखने और स्नेह पूर्ण सुधार करने की हो जाती है वैसे ही सारा संसार अपना प्रेम हमारे ऊपर उड़ेल देता है। अन्तरिक्ष लोक से मुक्त आत्माओं का अविरल प्रेम-रस फुहारे की तरह झरने लगता है। जैसे ठण्डा चश्मा लगा

लेने पर ज्येष्ठ की जलती दोपहरी शीतल हो जाती है वैसे ही सुख की भावना करते ही विश्व का एक-एक कण अपनी सुख शान्ति का भाग हमारे ऊपर छोड़ता चला जाता है । गुबरीले कीड़े के लिए विष्ठा के और हंस के लिए मोतियों के खजाने इस संसार में भली प्रकार भरे हुए हैं। आपके लिए वही वस्तुएँ तैयार हैं जिन्हें आप चाहते हैं । संसार को दु:खमय, पापी, अन्यायी मानते हैं तो वह 'मनसा भूत' की तरह उसी रूप में सामने आता है । जब सुखमय मान लेते हैं तो मस्त फकीर की तरह रूखी रोटी खाकर बादशाही आनन्द लूटते हैं । सचमुच दु:ख और पाप का कुछ अंश दुनियाँ में है पर वह दु:ख सहन करने योग्य है, सुख की महत्ता बढ़ाने वाला है, जो पाप है वह आत्मोन्नति की प्रधान साधना है । यदि परीक्षा की व्यवस्था न हो तो विद्वान और मूर्ख में कुछ अन्तर ही न रहे ।

पाठकों को उपरोक्त पंक्तियों से यह जानने में सहायता हुई होगी कि सृष्टि जड़ होने के कारण हमारे लिए सुख-दु:ख का कारण नहीं कही जा सकती । यह दर्पण के समान है जिससे हर व्यक्ति अपना कुरूप या सुन्दर मुख जैसे का तैसा देख सकता है । 'संसार कल्पित है' दर्शनशास्त्र की इस उक्ति के अन्तर्गत यही मर्म छिपा हुआ है कि हर व्यक्ति अपनी कल्पना के अनुसार संसार को समझता है । कई अन्धों ने एक हाथी को छुआ । जिसने पूँछ छुई थी वह हाथी को साँप-सा बताने लगा, पैर पकड़ा उसे खम्भे जैसा जँचा, जिसने पेट पकड़ा उसे पर्वत के समान प्रतीत हुआ । संसार भी ऐसा ही है । इसका रूप अपने निकटवर्ती स्थान को देखकर निर्धारित किया जाता है। आप अपने आस-पास पवित्रता, प्रेम, भ्रातृभाव, उदारता, स्नेह, दया, गुण/दर्शन का वातावरण तैयार कर लें, अपनी दृष्टि को गुणग्राही बना लें तो हम शपथपूर्वक कह सकते हैं कि आपको यही संसार नन्दन वन की तरह, स्वर्ग के उच्च सोपान की तरह आनन्ददायक बन जायगा । भले ही पड़ौसी लोग अपनी बुरी और दु:खदायी कल्पना के अनुसार इसे बुरा और कष्टप्रद समझते रहें ।

दु:ख का कारण पाप ही नहीं है

आमतौर से दु:ख को नापसन्द किया जाता है । लोग समझते हैं कि पाप के फलस्वरूप अथवा ईश्वरीय कोप के कारण दु:ख आते हैं, परन्तु यह बात पूर्ण रूप से सत्य नहीं है । दु:खों का एक कारण पाप भी है, यह तो ठीक है परन्तु यह ठीक नहीं कि समस्त दु:ख पापों के कारण ही आते हैं ।

बहुत बार ऐसा होता है कि ईश्वर की कृपा के कारण, पूर्व संचित पुण्यों के कारण और पुण्य संचय की तपश्चर्या के कारण भी दु:ख आते हैं । भगवान को किसी प्राणी पर दया करके उसे अपनी शरण लेना होता है, कल्याण के पथ की ओर ले जाना होता है तो उसे भवबन्धन से, कुप्रवृत्तियों से छुड़ाने के लिए ऐसे दु:खदायक अवसर उत्पन्न करते हैं जिनकी ठोकर खाकर मनुष्य अपनी भूल को समझ जाय, निद्रा को छोड़कर सावधान हो जाय ।

सांसारिक मोह, ममता और विषय वासना का चस्का ऐसा लुभावना होता है कि उन्हें साधारण इच्छा होने से छोड़ा नहीं जा सकता । एक हल्का-सा विचार आता है कि जीवन जैसी अमूल्य वस्तु का उपयोग किसी श्रेष्ठ काम में करना चाहिए, परन्तु दूसरे ही क्षण ऐसी लुभावनी परिस्थितियाँ सामने आ जाती हैं, जिनके कारण वह हलका विचार उड़ जाता है और मनुष्य जहाँ का तहाँ उसी तुच्छ परिस्थिति में पड़ा रहता है। इस प्रकार की कीचड़ में से निकालने के लिए भगवान अपने भक्त में झटका मारते हैं, सोते हुए को जगाने के लिए बड़े जोर से झकझोरते हैं । यह झटका और झकझोरा हमें दु:ख जैसा प्रतीत होता है।

मृत्यु के समीप तक ले जाने वाली बीमारी, परमप्रिय स्वजनों की मृत्यु, असाधारण घाटा, दुर्घटना, विश्वसनीय मित्रों द्वारा अपमान या विश्वासघात जैसी दिल को चोट पहुँचाने वाली घटनाएँ इसलिए भी आती हैं कि उनके जबरदस्त झटके के आघात से मनुष्य तिलमिला जाय और सजग होकर अपनी भूल सुधार लें । गलत रास्ते को छोड़कर सही मार्ग पर आ जायें ।

धर्म-कर्म करने में, कर्तव्य धर्म का पालन करने में असाधारण कष्ट सहना पड़ता है। अभावों का सामना करना होता है। इसके अतिरिक्त दुष्टात्मा लोग अपने पाप पूर्ण स्वार्थों पर आघात होता देखकर उस धर्म सेवा के विरुद्ध हो जाते हैं और नाना प्रकार की यातनाएँ देते हैं, इस प्रकार के कष्ट सत्पुरुषों को पग-पग पर झेलने पड़ते हैं । यह पुण्य संचय की तपश्चर्या के अपनी सत्यता की परीक्षा देकर स्वर्ण समान चमकाने वाले दु:ख हैं ।

निस्सन्देह कुछ दु:ख पापों के परिणाम स्वरूप भी होते हैं परन्तु यह भी निश्चित है कि भगवान की कृपा से, पूर्व संचित शुभ संस्कारों से और धर्म सेवा की तपश्चर्या से भी वे आते हैं । इसी प्रकार जब अपने ऊपर कोई विपत्ति आवे तो केवल यह ही न सोचना चाहिए कि हम पापी हैं, अभागे हैं, ईश्वर के कोप भाजन हैं । संभव है वह कष्ट हमारे लिए

किसी हित के लिए ही आया हो, उस कष्ट की तह में शायद कोई ऐसा लाभ छिपा हो जिसे हमारा अल्पज्ञ मस्तिष्क आज ठीक-ठीक रूप से न पहचान सके ।

दूसरे लोग अनीति और अत्याचार करके किसी निर्दोष व्यक्ति को सता सकते हैं । शोषण, उत्पीड़न और अन्याय का शिकार होकर कोई व्यक्ति दु:ख पा सकता है। अत्याचारी को भविष्य में उसका दण्ड मिलेगा पर इस समय तो निर्दोष को ही कष्ट सहना पड़ा । ऐसी घटनाओं में उस दु:ख पाने वाले व्यक्ति के कष्टों को, कर्मों का फल नहीं कहा जा सकता ।

हर मौज मारने वाले को पूर्व जन्म का धर्मात्मा और हर कठिनाई में पड़े हुए व्यक्ति को पूर्व जन्म का पापी कह देना उचित नहीं । ऐसी मान्यता अनुचित एवं भ्रमपूर्ण है । इस भ्रम के आधार पर कोई व्यक्ति अपने को बुरा समझे, आत्म-ग्लानि करे, अपने को नीच या निन्दित समझे इसकी कोई आवश्यकता नहीं है । कर्म की गति गहन है उसे हम ठीक प्रकार नहीं जानते केवल परमात्मा ही जानता है ।

मनुष्य का कर्तव्य है कि सुख-दु:ख का ध्यान किए बिना सदैव अपने उत्तरदायित्व का पालन करे और सद्मार्ग पर चलता रहे । कार्य में सफलता मिलती है या असफलता, प्रशंसा होती है या तिरस्कार प्राप्त होता है, लाभ में रहते हैं या घाटे में, इन सब बातों के कारण अपने कर्तव्य का त्याग करना किसी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता है क्योंकि जगत में ईश्वरीय न्याय सर्वत्र काम कर रहा है। हम अपने छोटी बुद्धि से उसे समझें चाहें न समझें, वह जल्दी प्रकट हो या देर से आये, पर हमारे कर्मों का सच्चा फल हमको अवश्य प्राप्त होगा । इसलिए हमको किसी भी अवस्था में ईश्वरीय नियमों का उल्लंघन करना उचित नहीं ।

१६. विवेक की कसौटी

गायत्री मंत्र का सोलहवाँ अक्षर 'हि' अन्धानुकरण को त्याग कर विवेक द्वारा प्रत्येक विषय का निर्णय करने की शिक्षा देता है-

हितमत्वाज्ञान केन्द्र स्वातंत्र्येत विचारयेत् ।
नान्धानुसरणं कुर्यात् कदाचित कोऽपि कस्यचित् ॥

अर्थात्- "विवेक को ही कल्याण कारक समझकर हर बात पर स्वतंत्र रूप से विचार करे । अन्धानुकरण कभी, किसी दशा में न करें ।"

देश, काल, पात्र, अधिकार और परिस्थिति के अनुरूप मानव समाज के हित और सुविधा के लिए विविध प्रकार के शास्त्र, नियम, कानून और प्रथाओं का निर्माण और प्रचलन होता है । स्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ इन मान्यताओं एवं प्रथाओं में परिवर्तन होता रहता है। पिछले कुछ हजार वर्षों में ही अनेक प्रकार के धार्मिक, विधान, रीति-रिवाज, प्रथा-परम्पराएं तथा शासन पद्धतियाँ बदल चुकी हैं ।

शास्त्रों में अनेक स्थानों पर परस्पर विरोध दिखाई पड़ते हैं, इसका कारण यही है कि विभिन्न समयों में, विभिन्न कारणों से जो लोग परिवर्तन रीति-नीति में होते रहे हैं, उनका शास्त्रों में उल्लेख है । लोग समझते हैं कि ये सब शास्त्र और सब नियम एक ही समय में प्रचलित हुए, पर बात इसके विपरीत है । भारतीय शास्त्र सदा प्रगतिशील रहे हैं और देश, काल परिस्थिति के अनुसार व्यवस्थाओं में परिवर्तन करते रहे हैं ।

कोई प्रथा, मान्यता या विचारधारा समय से पिछड़ गई हो तो परम्परा के मोह से उसका अन्धानुकरण नहीं करना चाहिए । वर्तमान स्थिति का ध्यान रखते हुए प्रथाओं में परिवर्तन अवश्य करना चाहिए । आज हमारे समाज में ऐसी अगणित प्रथाएँ हैं जिनको बदलने की बड़ी आवश्यकता है ।

हमको परमात्मा ने जो विवेक बुद्धि प्रदान की है उसका यही उद्देश्य है कि किसी भी पुस्तक, व्यक्ति या परम्परा की हम परीक्षा कर सकें । जो बात बुद्धि, विवेक, व्यवहार एवं औचित्य में खरी उतरे उसे ही ग्रहण करना चाहिए ।

बुद्धि के न्यायशील, निष्पक्ष, सतोगुणी, सहृदय, उदार एवं लोक हितैषी भाग को विवेक कहते हैं । इसी विवेक के आधार पर किया हुआ निर्णय कल्याणकारी होता है। इस आधार का अवलम्बन करने से यदि कोई भूलें भी होंगी तो उनका निवारण शीघ्र हो जायगा, क्योंकि विवेक में दुराग्रह नहीं होता ।

विवेक हमें हंस की तरह नीर-क्षीर को अलग करने की शिक्षा देता है । जहाँ बुराई और भलाई मिल रही हो, वहाँ बुराई को पृथक करके अच्छाई को ही ग्रहण करना चाहिए । बुरे व्यक्तियों की भी अच्छाई का आदर करना चाहिए और अच्छों की भी बुराई को छोड़ देना चाहिए ।

शास्त्रों का आदेश और विवेक

अनेक व्यक्ति प्रत्येक बात में शास्त्र का नाम ले देना ही बहुत बड़ी बात समझ बैठे हैं । कोई भी छोटी या बड़ी

बात क्यों न हो वे उसके लिए शास्त्र का प्रमाण खोजते रहते हैं । यह प्रवृत्ति प्रशंसनीय नहीं है । न तो आजकल की प्रत्येक बात का प्रमाण शास्त्रों में मिल सकता है और न वह उपयोगी हो सकता है । हमारे अधिकांश काम तो विवेक द्वारा निर्णय किए जाने से ही चल सकते हैं ।

सिद्धान्तों का परीक्षण करना आवश्यक है। क्योंकि परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का सर्वत्र अस्तित्व प्राप्त होता है। एक ओर जहाँ हिंसा को, बलिदान या कुर्बानी को धर्मों में समर्थन प्राप्त है, वहाँ ऐसे भी धर्म हैं जो जीवों की हत्या तो दूर उन्हें कष्ट पहुँचाना भी पाप समझते हैं । इसी प्रकार ईश्वर, परलोक, पुनर्जन्म, अहिंसा, पवित्र पुस्तक, अवतार, पूजा-विधि, कर्मकाण्ड, देवता आदि विषयों के मतभेदों से धार्मिक क्षेत्र पटे पड़े हैं । सामाजिक क्षेत्र में वर्णभेद, स्त्री अधिकार, शिक्षा, रोटी, बेटी आदि प्रश्नों के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी विचारों की प्रबलता है। राजनीति में प्रजातंत्र, साम्राज्यवाद, पूँजीवाद, अधिनायकवाद, समाजवाद आदि अनेकों प्रकार की परस्पर विरोधी विचारधाराएं काम कर रही हैं । उपरोक्त सभी प्रकार की विचारधाराएँ आपस में खूब टकराती भी हैं । उनके समर्थक और विरोधी व्यक्तियों की संख्या भी कम नहीं है ।

जब सिद्धान्तों में इस प्रकार के घोर मतभेद विद्यमान हैं तो एक निष्पक्ष जिज्ञासु के लिए, सत्य शोधक के लिए उनका परीक्षण आवश्यक है । जब तक यह परख न लिया जाय कि किस पक्ष की बात सही है, किसकी गलत ? किसका कथन उचित है किसका अनुचित ? तब तक सत्य के समीप तक नहीं पहुँचा जा सकता । यदि परीक्षा और समीक्षा को आधार न बनाया जाय तो किसी प्रकार उपयोगी और अनुपयोगी की परख नहीं हो सकती ।

'महाजनो ये न गतः स पन्था' के अनुसार महाजनों का, बड़े आदमियों का, अनुसरण करने की प्रणाली प्रचलित है । साधारणतः लोग सैद्धान्तिक बातों के सम्बन्ध में अधिक माथा-पच्ची करना पसन्द नहीं करते । दूसरे की नकल करना सुगम पड़ता है, निकटवर्ती बड़े आदमी जो कह दें उसे मान लेने में दिमाग पर जोर नहीं डालना पड़ता, अधिकांश जनता की मनोवृत्ति ऐसी ही होती है, परन्तु इस प्रणाली से सत्य-असत्य की समस्या सुलझती नहीं । क्योंकि जिन्हें हम महापुरुष महाजन समझते हैं, संभव है वे भ्रान्त रहे हों और दूसरे लोग जिन्हें महापुरुष समझते हैं सम्भव है उन्हीं की बात ठीक हो । जबकि अनेक व्यक्ति एक प्रकार के विचार वाले महाजन की बात ठीक मानते हैं और उसी प्रकार अनेक व्यक्ति दूसरे 'महाजन' की बातों को महत्व देते हैं और दूसरे प्रकार के विचारों को मान्यता देते हैं, तब यह निर्णय कठिन हो जाता है कि इन दोनों के कथनों में किसका कथन उचित है और किसका अनुचित?

महापुरुष दो प्रकार से अपने विचारों को व्यक्त करते हैं । (१) लेखनी द्वारा (२) वाणी द्वारा । वाणी द्वारा प्रकट किए हुए विचार क्षणस्थाई होते हैं इसलिए उन्हें चिरस्थाई करने के लिए लेखनीबद्ध किया जाता है । विचारों के व्यवस्थित रूप को लेखन-बही, ग्रन्थ या पुस्तक कहते हैं। जिन ग्रन्थों में धार्मिक या आध्यात्मिक विचार लिपिबद्ध होते हैं, उन्हें शास्त्र कहते हैं । शास्त्रों को लोग एक स्वतंत्र सत्ता का रूप देने लगे हैं । जैसे देवता की अपनी एक स्वतंत्र सत्ता समझी जाती है, वैसे ही शास्त्र भी स्वतंत्र सत्ता बनने लगे हैं । परन्तु बात ऐसी नहीं है । वे महाजनों के विचार ही तो हैं । जैसे 'महाजन भ्रान्त हो सकते हैं, होते हैं, वैसे ही शास्त्र भी हो सकते हैं । एक शास्त्र द्वारा दूसरे शास्त्र के अभिमत का खण्डन करना यही प्रकट करता है कि एक समान श्रेणी के 'महाजनों' में प्राचीन काल में भी इसी प्रकार मतभेद रहता था जैसा कि आजकल अनेक समस्याओं के सम्बन्ध में हमारे नेता आपसी मतभेद रखते हैं ।

आज नेताओं के मतभेद में से छानकर हम वही बात ग्रहण करते हैं जो हमारी बुद्धि को अधिक उचित और आवश्यक जँचती है। किसी नेता के मत से सम्मति न रखते हुए भी उसके प्रति आदर भाव रहता है। इसी प्रकार स्वर्गीय महाजनों, महापुरुषों की लेखबद्ध विचार प्रणाली के सम्बन्ध में भी होना चाहिए । शास्त्र का अन्धानुकरण नहीं होना चाहिए वरन् उनके प्रकाश में सत्य को खोजना चाहिए । अन्धानुकरण कोई किया भी नहीं जा सकता । क्योंकि कभी-कभी एक ही शास्त्र में दो विरोधी आदर्श मिलते हैं । हमारे शास्त्रों में जीवित प्राणियों को मारकर अग्नि में होम देने का भी विधान है और जीवात्मा पर दया करने का भी । दोनों ही आदेश पवित्र धर्मग्रन्थों में मौजूद हैं । वे शास्त्र हमारे परम आदरणीय और मान्य हैं तो भी इनके आदेशों में से हम वही बात आचरण में लाते हैं जो बुद्धि, संगत, उचित और समयानुकूल दिखाई पड़ती है।

हिन्दू धर्म किसी व्यक्ति या उसके लेखबद्ध विचारों को अत्यधिक महत्व नहीं देता । चाहे वह व्यक्ति कितना ही बड़ा महापुरुष, ऋषि, महात्मा या ईश्वर ही क्यों न रहा हो । हिन्दू धर्म में सिद्धान्तों की समीक्षा और उसके बुद्धि

संगत अंश को ही ग्रहण करने की परिपाटी का समर्थन किया गया है। किसी बड़े से बड़े व्यक्ति या ग्रन्थ से मतभेद रखने और उसके मन्तव्यों को स्वीकार करने न करने की उसमें पूर्ण सुविधा है । हाँ किसी की महानता को कम करने की आज्ञा नहीं है। महापुरुषों और पवित्र ग्रन्थों का समुचित आदर करते हुए भी उनकी सम्मति में बुद्धि संगत अंश को ही ग्रहण करने का आदेश है। इसी आदेश के आधार पर प्राचीन समय में सच्चे जिज्ञासुओं ने सत्य की शोध की है और अब भी वही मार्ग अपनाना होता है।

हिन्दू धर्म में भगवान बुद्ध को ईश्वर का अवतार माना गया है। दश अवतारों में उनकी गणना है। इससे अधिक ऊँचा, आदर, श्रद्धा, महत्व और क्या हो सकता है? भगवान बुद्ध भी हिन्दुओं के लिए वैसेही पूज्य हैं जैसे अन्य अवतार। उनके महान् व्यक्तित्व, त्याग, तप, संयम, ज्ञान एवं साधन के आगे सहज ही हर व्यक्ति का मस्तक नत हो जाता है। उनके चरणों पर हृदय के अन्तःस्थल से निकली हुई गहरी श्रद्धा के फूल चढ़ा कर हम लोग अपने को धन्य मानते हैं। इतने पर भी भगवान् बुद्ध के विचारों का हिन्दू धर्म में प्रबल विरोध है। श्रीशंकराचार्य ने उनके मत का खण्डन करने का प्राण-प्रण से प्रयत्न किया है। बौद्ध विचारों को, उनके सम्प्रदाय को स्वीकार करने के लिए कोई हिन्दू तैयार नहीं है, तो भी उनके व्यक्तित्व में भगवान का दर्शन करता है।

बात यह है कि व्यक्तित्व और सिद्धान्त दो भिन्न वस्तुएँ हैं। कोई सिद्धान्त इसलिए मान्य नहीं हो सकता कि उसे अमुक महापुरुष ने या अमुक ग्रन्थ ने प्रकाशित किया है। इसी प्रकार किसी घृणित व्यक्ति द्वारा कहे जाने या प्रतिपादन किए जाने से कोई सिद्धान्त अमान्य नहीं ठहरता। यदि कोई चोर यह कहे कि 'सत्य बोलना उचित है।' तो उसे इसलिए अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि यह बात चोर ने कही है। चोर का घृणित व्यक्तित्व भिन्न बात है और 'सत्य बोलने' का सिद्धान्त अलग चीज है। दोनों को मिला देने से तो बड़ा अनर्थ हो जायगा। चूँकि चोर ने सत्य बोलने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है इसलिए यह सिद्धान्त अमान्य नहीं ठहराया जा सकता। इसी प्रकार कोई बड़ा महात्मा किसी अनुपयोगी बात का उपदेश करे तो उसे मान्य भी नहीं ठहराया जा सकता। कई अघोरी साधु अभक्ष्य-भक्षण करते हैं, यद्यपि उनकी तपश्चर्या ऊँची होती है तो भी उनके आचरण का कोई अनुकरण नहीं करता। निश्चय ही व्यक्तित्व अलग चीज है और सिद्धान्त अलग चीज है। महात्मा कार्लमार्क्स, ऐंजिल, लेनिन आदि का चरित्र बड़ा ऊँचा था, वे अपने विषय के उत्कट विद्वान भी थे। उनके उज्ज्वल व्यक्तित्व के लिए दुनियाँ सिर नवाती है, पर उनका अनीश्वरवादी मत मान्य नहीं किया जाता।

प्राचीन समय में आज की भाँति ही परस्पर विरोधी मत प्रचलित थे। जैसे आज अनेकानेक विचारधाराओं के मदभेदों पर बारीक दृष्टि डाल कर उनमें से उपयोगी तत्व ग्रहण करने को विवश होना पड़ता है वही बात प्राचीन समय के सम्बन्ध में लागू होती है। आधुनिक महापुरुषों के विचारों से जीवन निर्माण कार्य में हमें मदद मिलती है, उसी प्रकार प्राचीन काल के स्वर्गीय महापुरुषों के लेखबद्ध विचारों से-धर्मग्रन्थों से लाभ उठाना चाहिए। परन्तु अन्ध भक्त किसी का भी नहीं होना चाहिए। यह हो सकता है कि प्राचीन काल की और आज की स्थिति में अन्तर पड़ गया हो जिससे सबके सब विचार आज के लिए उपयोगी न रहे हों, यह भी हो सकता है कि आज उसे किसी अन्य दृष्टि से देखा जा रहा हो। एक समय समझा जाता था कि चातक स्वांति नक्षत्र का ही पानी पीता है, पर अब प्राणिशास्त्र के अन्वेषकों ने देखा है कि चातक रोज पानी पीता है। हंसों का मोती चुगना, या दूध पानी को अलग कर देना भी अब अविश्वस्त ठहरा दिया गया है। इसी प्रकार अन्य अनेक बातों में भी प्राचीन काल के सिद्धांतों में हमें परीक्षक बुद्धि से कोई मत निर्धारित करना पड़ता है। आधुनिक या प्राचीन होने से ही कोई सिद्धान्त मान्य या अमान्य नहीं ठहरता। शास्त्रकारों का भी यही मत है कि- "बालक के भी युक्तियुक्त वचनों को मान लें, परन्तु यदि युक्ति विरुद्ध हो तो ब्रह्मा की बात को तृण के समान त्याग दे।"

विवेक का निर्णय सर्वोपरि है

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारे प्रधान शास्त्र आप्त-पुरुषों ने रचे थे और इसलिए उनके उपदेश और नियम अभी तक अधिकांश में उपयोगी और लाभदायक बने हुए हैं, पर एक तो समय के परिवर्तनों के कारण और दूसरे शास्त्रकारों में अनेक विषयों पर मतभेद होने के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि हम शास्त्रों का आदेश समझने के साथ ही उनकी जाँच अपने विवेक से भी कर लें। ऐसा किए बिना अनेक बार धोखा हो जाने की सम्भावना रहती है।

बड़े-बड़े धर्म वक्ता आपने देखे होंगे और उनके व्याख्यान सुने होंगे। सोचना चाहिए कि उनके शब्दों का

अनुकरण उनका हृदय कहाँ तक करता है ? वे अपने अन्तःकरण के भावों को यदि स्पष्टतया प्रकट करने लगें तो आप निश्चय समझिए कि उनमें से अधिकांश लोगों को 'नास्तिक' कहना पड़ेगा। वे अपनी बुद्धि को चाहे जितनी भगतिन बनावें, वह उनसे यही कहेगी कि "किसी पुस्तक में लिखा है या किसी महापुरुष ने कहा है इसलिए मैं उस पर बिना विचार किए विश्वास क्यों कर करूँ ? दूसरे भले ही अन्धश्रद्धा के अधीन हो जायें, मै कभी फँसने वाली नहीं।" इधर जाते हैं तो खाई और उधर जाते हैं तो अथाह समुद्र है। यदि धर्मोपदेशक या धर्मग्रन्थों का कहना मानें तो विवेचक बुद्धि बाधा डालती है और न मानो तो लोग उपहास करते हैं, ऐसी अवस्था में लोग उदासीनता की शरण लेते हैं। जिन्हें आप धार्मिक कहते हैं, उनमें से अधिकांश लोग उदासीन अथवा तटस्थ हैं और इसका कारण धर्म पर यथार्थ विचार न करना ही है। धर्म की उदासीनता यदि ऐसी बढ़ती ही जायगी और धर्माचरण के लाभों से लोग अनभिज्ञ ही बने रहेंगे तो धर्म की पुरानी इमारत भौतिक-शास्त्रों के एक ही आघात से हवाई किले की तरह नष्ट भ्रष्ट हो जायगी। भौतिक शास्त्र जिस प्रकार विवेक बुद्धि की भट्टी से निकल कर अपनी सत्यता सिद्ध करते हैं। उसी प्रकार धर्मशास्त्रों को भी अपनी सत्यता सप्रमाण सिद्ध कर देनी चाहिए, ऐसा करने पर बुद्धि के तीव्र ताप से यदि धर्म तत्व गल-पच भी जाएँगे तो भी हमारी कोई हानि नहीं है। जिसे आज तक हम रत्न समझे हुए थे, वह पत्थर निकला। उसके नष्ट होने पर हमें दुःख क्या? अन्ध परम्परा से उसे सिर पर लादे रहना ही मूर्खता है। ऐसे सन्दिग्ध पत्थरों की जहाँ तक हो सके शीघ्र ही, परीक्षा कर व्यवस्था से लगा देना ही अच्छा है। यदि धर्मतत्व सत्य होंगे तो वे भट्टी में कभी न जलेंगे, उल्टे वे ही असत्य पदार्थ भस्म हो जायेंगे, जिनके मिश्रण से सत्य धर्म में सन्देह होने लगा है। आग में तपाने से सोना मलीन नहीं किन्तु अधिक उज्ज्वल हो जाता है। विवेक बुद्धि की भट्टी में सत्य धर्म को डालने से उसके नष्ट होने का कोई भय नहीं है किन्तु ऐसा करने से उसकी योग्यता और भी बढ़ जायगी तथा उसका उच्च-स्थान सर्वदा बना रहेगा। पदार्थ विज्ञान और रसायन शास्त्रों की तरह धर्मशास्त्र भी प्रत्यक्ष प्रमाणों से सिद्ध करना चाहिए। यदि कर्मेन्द्रियों की अपेक्षा ज्ञानेन्द्रियों की योग्यता अधिक है तो जड़ (भौतिक) शास्त्र पर ज्ञान-प्रधान धर्मशास्त्र की विजय क्यों कर न होगी ? भौतिक शास्त्रों की सिद्धि तो इन्द्रियों के भरोसे है और धर्मशास्त्रों की सिद्धि अन्तरात्मा से सम्बन्ध रखती है, फिर क्या हमारा कर्तव्य नहीं है कि हम इसी आवश्यक और प्रधान शास्त्र की सिद्धि का पहले यत्न करें ?

जो यह कहते हैं कि धर्म को विवेक बुद्धि की तराजू पर तोलना मूर्खता है, वे निश्चय अदूरदर्शी हैं। मान लीजिए, एक ईसाई किसी मुसलमान से इस प्रकार झगड़ रहा है- "मेरा धर्म प्रत्यक्ष ईश्वर ने ईसा से कहा है।" मुसलमान कहता है- "मेरा भी धर्म ईश्वर-प्रणीत है।" इस पर ईसाई जोर देकर बोला- 'तेरी धर्म पुस्तक में बहुत-सी झूँठी बात लिखी हैं, तेरा धर्म कहता है कि हर एक मनुष्य को सीधे से नहीं तो जबरदस्ती मुसलमान बनाओ। यदि ऐसा करने में किसी की हत्या भी करनी पड़े तो पाप नहीं है। मुहम्मद के धर्म प्रचारक को स्वर्ग मिलेगा।' मुसलमान ने कहा- 'मेरे धर्म में जो कुछ लिखा है सो सब ठीक लिखा है।' ईसाई ने उत्तर दिया- 'ऐसी बातें मेरी धर्म पुस्तक में नहीं लिखी हैं, इससे वे झूँठी हैं।' इस प्रकार के प्रश्नोत्तर से दोनों को लाभ नहीं पहुँचता। एक-दूसरे की धर्म-पुस्तक को बुरी दृष्टि से देखते हैं। इससे वे निर्णय नहीं कर सकते कि किस पुस्तक के नीति तत्व श्रेष्ठ हैं। यदि विवेचक बुद्धि को दोनों काम में लाएँ तो सत्य वस्तु का निर्णय करना कठिन न होगा। किसी धर्म पुस्तक पर विश्वास न होने पर भी उसमें लिखी हुई किसी खास बात को यदि विवेचक बुद्धि स्वीकार कर ले तो तुरन्त समाधान हो जाता है। हम जिसे विश्वास कहते हैं वह भी विवेचक बुद्धि से ही उत्पन्न हुआ है। परन्तु यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि दो महात्माओं के कहे हुए जुदे-जुदे या परस्पर विरुद्ध विधानों की परीक्षा करने की शक्ति हमारी विवेक बुद्धि में है या नहीं ? यदि धर्मशास्त्र इन्द्रियातीत हो और उसकी मीमांसा करना हमारी शक्ति के बाहर का काम हो तो समझ लेना चाहिए कि पागलों की व्यर्थ बकबक या झूँठी किस्सा कहानियों की पुस्तकों से धर्मशास्त्र का अधिक महत्व नहीं है। धर्म ही मानवी अन्तःकरण के विकास का फल है। अन्तःकरण के विकास के साथ-साथ धर्म मार्ग चल निकले हैं। धर्म का अस्तित्व पुस्तकों पर नहीं किन्तु मानवी अन्तःकरण पर अवलम्बित है। पुस्तकें तो मनुष्यों की मनोवृत्ति के दृश्यरूप मात्र हैं। पुस्तकों से मनुष्यों के अन्तःकरण नहीं बने हैं किन्तु मनुष्यों के अन्तःकरणों से पुस्तकों का आविर्भाव हुआ है। मानवी अन्तःकरणों का विकास 'कारण' है और ग्रन्थ रचना उसका 'कार्य' है। विवेचन बुद्धि की कसौटी पर रख कर

यदि हम किसी कार्य को करेंगे तो उसमें धोखा नहीं उठाना पड़ेगा । धर्म को भी उस कसौटी पर परख लें तो उसमें हमारी हानि ही क्या है ?

विवेक की सच्ची शक्ति है

मनुष्य जीवन को सफल बनाने और निर्वाह करने के लिए अनेक प्रकार की शक्तियों की आवश्यकता पड़ती है। शारीरिक बल, बुद्धि-बल, अर्थ-बल, समुदाय बल आदि अनेक साधनों से मिलकर मानव-जीवन की समस्याओं का समाधान हो पाता है । इन्हीं बलों के द्वारा शासन, उत्पादन और निर्माण कार्य होता है और सब प्रकार की सम्पत्तियाँ और सुविधाएँ प्राप्त होती हैं । विवेक द्वारा इन सब बलोंका उचित रीति से संचालन होता है, जिससे ये हमारे लिए हितकारी सिद्ध हों ।

मस्तिष्क-बल और विचार बल में थोड़ा अन्तर है, उसे भी हमें समझ लेना चाहिए । मस्तिष्क बल का शरीर बल से सम्बन्ध है । विद्याध्ययन, व्यापारिक कुशलता, किसी कार्य व्यवस्था को निर्धारित प्रणाली के अनुसार चलाना, यह सब मस्तिष्क बल का काम है । वकील, डॉक्टर, व्यापारी, कारीगर, कलाकार आदि का काम इसी आधार पर चलता है । यह बल शरीर की आवश्यकता और इच्छा की पूर्ति के कारण उत्पन्न होता और बढ़ता है । परन्तु विवेक बल आत्मा से सम्बन्धित है, आध्यात्मिक आवश्यकता, इच्छा और प्रेरणा के अनुसार विवेक जागृत होता है। उचित और अनुचित का भेदभाव यह विवेक ही करता है ।

मस्तिष्क बल शरीर जन्य होने के कारण उसकी नीति शारीरिक हित साधन की होती है । इन्द्रिय सुखों को प्रधानता देता हुआ वह शरीर को समृद्ध एवं ऐश्वर्यवान बनाने का प्रयत्न करता है । अपने इस दृष्टिकोण के आगे वह उचित-अनुचित का भेदभाव करने में बहुत दूर तक नहीं जाता । जैसे भी हो वैसे भोग ऐश्वर्य इकट्ठा करने की धुन में प्रायः लोग कर्तव्य अकर्तव्य का ध्यान भूल जाते हैं, अनुचित रीति से भी स्वार्थ साधन करते हैं ।

विवेक इससे सर्वथा भिन्न है । देखने में 'विवेक' भी मस्तिष्क बल की ही श्रेणी का प्रतीत होता है, पर वस्तुतः वह उससे सर्वथा भिन्न है । विवेक आत्मा की पुकार है, आत्मिक स्वार्थ का वह पोषक है । अन्तःकरण में से सत्य, प्रेम, न्याय, त्याग, उदारता, सेवा एवं परमार्थ की जो भावनाएँ उठती हैं उनका वह पोषण करता है। सत् तत्वों के रमण में उसे आनन्द आता है । जैसे शरीर की भूख बुझाना मस्तिष्क बल का प्रयोजन होता है। वैसे ही आत्मा की भूख बुझाने में 'विवेक' प्रवृत्त रहता है । काम और अहंकार की पूर्ति में बलशाली लोग सुख अनुभव करते हैं पर उससे अनेकों गुना आनन्द-परमानन्द-विवेकवान् को प्राप्त होता है ।

बल द्वारा सम्पत्ति और भोग सामग्री उपार्जित होती है, परन्तु इस उपार्जन का तरीका इतना संकुचित और स्वार्थमय होता है कि उसकी धुन में मनुष्य धर्म-अधर्म की परवाह नहीं करता । इसलिए केवल बल द्वारा उत्पन्न की हुई सम्पत्ति कलह और क्लेश उत्पन्न करने वाली, दुःखदायक एवं परिणाम में विष के समान होती है । ऐसी सम्पत्ति का उपार्जन संसार में अशान्ति, युद्ध, शोषण, उत्पीड़न एवं प्रतिहिंसा की नारकीय अग्नि को प्रज्ज्वलित करने में घृत का काम करता है । ऐसी स्थिति से बचने के लिए विवेक बल से शरीर बल और मस्तिष्क बल पर नियंत्रण कायम करना पड़ता है ।

बल के ऊपर विवेक का नियंत्रण कायम रहना अत्यन्त आवश्यक है, बिना इसके संसार में सुख-शान्ति कायम नहीं रह सकती । बल अन्धा है और विवेक पंगा है । केवल बल की प्रधानत रहे तो उससे अनर्थ, अत्याचार एवं पाप की उत्पत्ति होगी, बल के अभिमान में मनुष्य अन्धा हो जाता है । विवेक नेत्र स्वरूप है, वह सत्पथ का प्रदर्शन करता है, किन्तु अकेला विवेक क्रिया रहित हो जाता है। अनेकों एकान्तवासी विवेकशील विद्वान् एक कोने में पड़े अपनी निरुपयोगिता सिद्ध करते रहते हैं । जब विवेक और बल दोनों का सामञ्जस्य हो जाता है, तो उसी प्रकार सब व्यवस्था ठीक हो जाती है जैसे एक बार अन्धे की पीठ पर पंगा आदमी बैठ गया था और वे आपसी सहयोग के कारण जलते हुए गाँव में से बचकर भाग गये थे । यदि दोनों सहयोग न करते तो दोनों का ही जल मरना निश्चित था।

धर्मशास्त्रों ने बल के ऊपर विवेक का शासन स्थापित किया है। भौतिक जगत में भी यही प्रथा और परिपाटी कायम की गई है। कला-कौशल-बल, धन और शरीर बल इन तीनों बलों के प्रतिनिधि स्वरूप शूद्र, वैश्य एवं क्षत्रिय पर विवेक के प्रतिनिधि ब्राह्मण का शासन कायम किया गया है। हम प्राचीन इतिहास में देखते हैं कि हर एक राजा की शासन प्रणाली राजगुरु के आदेशानुसार चलती थी । तीनों वर्णों का पथ-प्रदर्शन ब्राह्मण करते थे ।

ऐतररेय ब्राह्मण ७-४-८ में एक श्रुति आती है- 'अर्धात्मोहक एथ क्षत्रियस्य यत्पुरोहित:।' अर्थात्- क्षत्रिय की आधी आत्मा पुरोहित है। पुरोहित के अभाव में क्षत्रिय आधा आत्मा मात्र है। हम देखते हैं कि जनता के आन्दोलनों का समुचित लाभ प्राप्त होना नेताओं की सुयोग्यताओं पर निर्भर है। विवेकशील सुयोग्य नेताओं के नेतृत्व में अल्प जन बल से भी महत्वपूर्ण सफलता मिल जाती है। नेपोलियन के पास थोड़े से सिपाही थे, पर वह अपने बुद्धि कौशल द्वारा इस थोड़ी-सी शक्ति से ही महान सफलताएँ प्राप्त करने में समर्थ हुआ।

जो विवेकवान व्यक्ति पथ प्रदर्शन एवं नेतृत्व कर सकने योग्य क्षमता रखते हैं उन पुरोहितों का उत्तरदायित्व महान है। एतरेय ब्राह्मण के ८-५-२ में ऐसे पुरोहितों को 'राष्ट्र गोप' अर्थात् राष्ट्र की रक्षा करने वाला कहा है। यदि देश समाज एवं व्यक्तियों का बल अनुचित दिशा में प्रवृत्त होता था तो उसका दोष पुरोहितों पर पड़ता था। ताण्ड्य ब्राह्मण के १३-३-१३ में एक कथा आती है- कि इक्ष्वाकुवंशीय अरुण नामक एक राजा की अहंकारिता और उद्दण्डता सीमा से बाहर बढ़ गई। एक बार उस राजा की लापरवाही से रथ चलाने के कारण एक व्यक्ति को चोट लग गई। वह व्यक्ति अरुण के पुरोहित 'वृक्ष' के पास गया और उनकी भर्त्सना करते हुए कहा- आपने राजा को उचित शिक्षा नहीं दी है। आपने अपने गौरवास्पद पुरोहित पद के कर्तव्य का भली-भाँति पालन नहीं किया है। यदि किया होता तो राजा इस प्रकार का आचरण न करता। उस व्यक्ति के यह वचन सुनकर 'वृक्ष' बहुत लज्जित हुए। उनसे कुछ कहते न बन पड़ा, उन्होंने उस व्यक्ति को अपने आश्रम में रखा और जब तक उसकी चोट अच्छी न हो गई तब तक उसकी चिकित्सा की।

उपरोक्त कथा इस सत्य को प्रदर्शित करती है कि राज्य के प्रति पुरोहित का कितना उत्तरदायित्व है। बल को उचित दिशा में प्रयोजित करने की 'विवेक' की कितनी बड़ी जिम्मेदारी है। आज पुरोहित-तत्व और राज्य-तत्व दो प्रथक दिशाओं में चल रहे हैं, एक ने दूसरे का सहयोग कम कर दिया है। फलस्वरूप हमारी राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और शारीरिक सुव्यवस्था नष्ट भ्रष्ट हो रही है। जब तक पुरोहित तत्व अपने उचित स्थान को ग्रहण न करेगा तब तक हमारे बाह्य और भीतरी जीवन में शान्ति भी स्थापित न होगी। विवेक का शरीर, समाज और राष्ट्र के ऊपर समुचित शासन होना चाहिए।

जनता को अज्ञानान्धकार से छुड़ा कर ज्ञान के मार्ग पर अग्रसर करना पुरोहित का कार्य है। जो व्यक्ति ज्ञानवान हैं, जागृत हैं, पथ-प्रदर्शन करने की क्षमता रखते हैं उन पुरोहितों का कर्तव्य है कि जनता को जागृत करते रहें। सामाजिक, राष्ट्रीय, शारीरिक एवं आर्थिक खतरों से सजग रखना और कठिनाइयों को हल करने का मार्ग प्रदर्शित करना पुरोहित का प्रधान कर्तव्य है। अन्त:करण में रहने वाले पुरोहित का कर्तव्य है कि वह विवेक द्वारा शक्तियों पर नियंत्रण करे और उन्हें कुमार्ग से बचा कर सन्मार्ग पर लगावें।

हे पुरोहित ! जाग ! राष्ट्र के बारे में जागरूक रह। वेद पुरुष कहता है- 'वयं राष्ट्रे जागृयाम: पुरोहिता:।' पुरोहित राष्ट्र के सम्बन्ध में जागते रहें, सोवें नहीं। हमारे अन्त:करण में बैठे हुए हे विवेक पुरोहित ! जागता रह ! ताकि हमारा बल 'क्षत्रिय' अनुचित दिशा में प्रवृत्त न हो। हमारे देश और जाति का नेतृत्व कर सकने की क्षमता रखने वाले सामाजिक शक्तियों का अनुचित आधार पर अपव्यय न हो। हे पुरोहित ! जाग, हमारे बल पर शासन कर, ताकि हम पुन: अपने अतीत गौरव की झाँकी कर सकें।

विवेक और स्वतंत्र-चिन्तन

आधुनिक संसार में स्वतंत्र चिन्तन का बड़ा महत्व है। प्राय: अन्य देशीय लोग भारतीयों पर अन्ध विश्वास का दोष लगाया करते हैं, पर यह त्रुटि हमारे देश में पिछले कुछ सौ वर्षों के अन्धकार-काल में ही बढ़ी है अन्यथा वैदिक साहित्य तो स्पष्ट रूप से स्वतंत्र चिन्तन का समर्थन करता है। क्योंकि बिना स्वतंत्र चिन्तन के विवेक जागृत नहीं होता और इसके बिना अनेक मार्गों में से अपने अनुकूल श्रेष्ठ मार्ग का बोध हो सकना संभव नहीं है। दूसरों का अनुगमन करते रहने में कुछ सुविधा अवश्य जान पड़ती है, पर उससे सच्ची उन्नति का मार्ग अवरुद्ध रहता है।

जिस भाँति आलसी, काहिल और विलासी वृत्ति के लोग अपने शरीर से पुरुषार्थ नहीं करना चाहते हैं- उससे कतराते हैं, उसी भाँति अनेक लोग विचार और मन के जगत में सदा परोपजीवी स्वभाव के होते हैं। वे चाहते हैं कि दूसरे हमें चिन्तन और मनन करके विचार-दिशा प्रदान करें और मैं चुपचाप हाँके जाने वाले पशु की तरह केवल उस पथ का अनुसरण करता रहूँ। उस पथ के अच्छे और बुरे होने का उत्तरदायित्व मेरे ऊपर नहीं हो, कोई इसे बुरा होने का दोष मेरे सिर नहीं डाल सकता, पर ऐसा करते समय उसे यह पता नहीं होता कि आखिर अनेकों पंथों में

से किसी एक राह को अपने चलने के लिए चयन कर लेने में भी उसका एकमात्र उत्तरदायित्व हो जाता है । इसीलिए वे सभी भाँति अपने को निर्दोष सिद्ध करने में सफल नहीं हो सकते । फिर भी ऐसे जनों का मानसिक और बौद्धिक आलस्य दूर नहीं हो पाता । ऐसे मनुष्यों की, उन भेड़ों से बहुत कुछ समता की जा सकती है, जो एक भेड़ के पीछे चलने की वृत्ति रखकर कुएँ में गिर सकती हैं । इस वृत्ति के मनुष्यों का व्यक्तित्व कभी निखर नहीं सकता । वह अपने जीवन में महान कार्य करने के लिए प्रायः अयोग्य ही सिद्ध होते हैं ।

अध्ययन तो अनेकों व्यक्ति करते हैं, पर सभी विद्वान नहीं हो पाते, इसका कारण क्या है ? कितने व्यक्ति हजारों पुस्तक पढ़ डालते हैं, कितनी रट भी लेते हैं, फिर भी यदि उनका कुछ निश्चित विचार नहीं है, स्वतंत्र चिन्तन नहीं है तो वह उतना बड़ा विशाल पठन-अध्ययन भी उसके व्यक्तित्व को, उसकी सत्ता के महत्व को स्थापित करने में असमर्थ ही रहता है, जबकि एक स्वतंत्र चिन्तक और मननशील व्यक्ति अपने थोड़े से अध्ययन के सहारे समाज और राष्ट्र में अपना एक विशिष्ट व्यक्तित्व निर्मित कर लेता है ।

जिस भाँति शरीर से उत्पन्न शिशुओं को मनुष्य अपनी सन्तान मान कर उसे स्नेह और प्यार देते हैं, उसके जीवन को विकसित, उत्कर्ष भरा बनाने के लिए यथासम्भव प्रयत्न करते हैं, उसी भाँति यदि हम अपने स्वतंत्र विचारों को सम्मान और स्नेह दे सकें, तो वे साधारण जैसे प्रतीत होने वाले विचार ही हमारे व्यक्तित्व को एक ऐसे विशेष रूप में गढ़ डालते हैं, जिस भाँति हम अपनी सन्तान को अपना रंग-रूप प्रदान करते हैं ।

ऐसा नहीं करके यदि हमने केवल दूसरों के विचारों से अपने स्मृति भण्डार को भर कर उसे सदा दूसरों का ही बनाये रखा, अन्न की भाँति खा और पचा कर उसे रक्त की भाँति अपने विचार का अंग नहीं बना लिया, उसका उपयोग नहीं किया, व्यवहार में चरितार्थ नहीं किया तो हमारे वे सारे अध्ययन, हमारे लिए केवल बोझ ही बनते हैं, हमारी शक्ति को नष्ट ही करते हैं, पुष्ट नहीं करते । इसलिए यदि हमें केवल भारवाही पशु न बनकर मानव बनने की अभिलाषा है, तो जिस वस्तु की हमें जिज्ञासा हो, उसे दूसरों से सुनकर, जानकर एवं अध्ययन करके ही निश्चिन्त न हो जायँ, वरन् वह ज्ञान यदि हमारे अन्तरात्मा को स्वीकार है, तो उसे अपने अंग-अंग मे उतर जाने दें, अपने मन, वाणी और व्यवहार को उससे ओत-प्रोत हो जाने दें । इसी का नाम स्वतंत्र चिन्तन और मनन है अन्यथा वह सत्वहीन है-कागज का फूल मात्र है ।

जिस भाँति माँ का दूध पीकर, शस्य-श्यामला भूमि का अन्न खाकर, जल पीकर, प्रकृति देवी से अन्य खाद्य ग्रहण कर हमारे शरीर परिपुष्ट होते और बढ़ते हैं, उसी भाँति प्रत्येक व्यक्ति के मूलगत विचारों की भी दशा है। वह अपने परिपोषण के लिए सभी दिशाओं से पोषकतत्व ग्रहण कर बढ़ता जाता है, पर उन तत्वों में ही अपने को खो नहीं देता। जिसने अपने को उसी में खोया, वह फिर कोई वृक्ष या व्यक्ति नहीं बनता, वरन् स्वयं भी खाद्य-खाद बन जाता है और उसे चूसकर-अनुयायी बनाकर दूसरे बढ़ते और विकास करते हैं ।

अपने विचारों को निश्चित और विशिष्ट स्वरूप देने के लिए उसे वाणी और लेखन के द्वारा प्रकट करते रहना चाहिए । पुनः अभिव्यक्ति वाणी और लेखन का अनुशीलन कर उसे परिमार्जित और परिष्कृत बनाते जाना चाहिए । ऐसा अभ्यास करते-करते वह विचार हमारे आचरण में संक्रमित होने लगते हैं और एक दिन हम स्वयं उस विचार के मूर्तिमान स्वरूप बन जाते हैं । यह है सही शुद्ध, चिन्तन-मनन का परिणाम ।

यह सृष्टि विविधात्मक रूप में ही अनन्त है । इसीलिए यहाँ की कोई भी रचना, सृष्टि, रूप और आकृति सम्पूर्णतया एक जैसी नहीं होती । इसलिए विवेकयुक्त व्यक्तित्व निर्माण करने के पहले हमें स्वयं अपना ही चिन्तन और मनन करना चाहिए । हम कैसा बनना चाहते हैं, यह भी गम्भीर चिन्तन और मनन के फलस्वरूप अपने अन्तर से ही उत्पन्न होता है, दूसरा इसे नहीं दे सकता ।

विवेक से ही धर्म का निर्णय हो सकता है

'धर्म' शब्द बड़ा विस्तृत है। अन्य देशीय विद्वानों की बात छोड़ भी दें तो हमारे ही देश के प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों ने धर्म की बहु संख्यक व्याख्यायें की हैं, पर अविद्या के कारण आजकल हमारे देश की सामान्य जनता में यह भ्रम फैल गया है कि 'शास्त्र' नाम की जितनी भी पुस्तकें हैं, उनमें जो कुछ भी कहा गया है, लिखा गया है अथवा वर्तमान समय में छाप दिया गया है, वह सब कुछ धर्म है, पर जैसा हम पहले बता चुके हैं, शास्त्रों की रचना भिन्न-भिन्न कालों में परिस्थिति के अनुसार होती रहती है, इसलिए उनमें स्वभावतः अनेक प्रकार की परस्पर विरोधी जान पड़ने वाली बातें पाई जाती हैं । इसके सिवा अनेक

विदेशी लोगों ने पिछले डेढ़-दो हजार वर्षों के भीतर गुप्त रूप से अपने मतलब की बातें प्राचीन शास्त्रों में मिला दी हैं। मनुष्यो ! इस प्रवृत्ति को समझकर हमारे पूर्वजों ने स्पष्ट कह दिया था कि धर्माधर्म का निर्णय करने के लिए शास्त्रों के प्रमाणों के साथ ही अपनी विवेक बुद्धि से भी काम लेना अनिवार्य है और जहाँ शास्त्र की बातें विवेक बुद्धि से स्पष्ट असंगत जान पड़ें वहाँ उन्हें अस्वीकार कर देना चाहिए। मनुष्य की आत्मा, परमात्मा का अंश है और वही सर्वत्र सब पदार्थों और कार्यों में समाया हुआ है। इसलिए मनुष्य यदि आत्मा को निर्मल बनाकर उसकी शक्ति अर्थात् विवेक द्वारा विचार करे तो कोई कारण नहीं कि वह सत्य धर्म का निर्णय न कर सके। उपनिषदों में कहा गया है-

ब्रह्म .... सर्वमावृत्तय तिष्ठति।
ब्रह्मेव सर्वाणि नामानि सर्वाणि
रूपाणि सर्वाणि कर्माणि बिभर्त्ति।
सोऽयमात्मा सर्वानुभूः।

अर्थात्- "सब पदार्थों को घेर कर, लपेटकर, ब्रह्म बैठा है। सब नाम, सब काम, सब रूप उसी एक ब्रह्म के ही "मैं" हैं। वही आत्मा "मैं" सब अनुभवों का अनुभव करने वाला है।"

पुराणों में भी कहा है-

स सर्वधीवृत्तयनुभूतसर्वः।
श्रद्धत्स्वाननुभूतोऽर्थो न मनः स्प्रष्टमर्हति।

- भागवत

यस्मिन् देशे काले निमित्ते च यो धर्मोऽनुष्ठीयते।
स एव देशकालनिमितांतरेष्वधर्मो भवति॥

- शांकर-शारीरिक भाष्य ३, १, २५

अर्थात्- "अधिकारी के भेद से धर्म में भेद होता है। देश, काल, निमित्त के भेद से धर्म में भेद होता है। जिस स्थान पर खड़े होकर देखते हैं, उस स्थान के बदलने से दर्शन अर्थात् दृश्य का रूप बदल जाता है।" जो ही एक देश, काल, पात्र, निमित्त और कर्म के विशेष से एक आदमी के लिए धर्म है, वही दूसरे आदमी के लिए दूसरे देश, काल, पात्रता, निमित्त और कर्म के विशेष से अधर्म होता है। केवल एक दो ग्रन्थ पढ़ लेने से धर्म का पता नहीं लगता, अच्छी अवस्था का धर्म दूसरा और विषम अवस्था का धर्म दूसरा होता है।

बच्चों को मिट्टी का खिलौना ही अच्छा लगेगा, उनको रेखा गणित और बीजगणित पढ़ाने का यत्न करना व्यर्थ है।

यही दशा मतों की, सम्प्रदायों की, पन्थों की है।

'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना।
भिन्नरुचिर्हि लोकः।' इत्यादि

अब बचपन बीत जायगा, तब मिट्टी के खिलौने आप ही छूट जायेंगे और दूसरे प्रकार के खिलौनों में मन लग जायगा।

अप्सु देवा मनुष्याणां दिवि देवा मनीषिणाम्।
बालानां काष्ठ लोष्ठेषु बुधस्यात्मनि देवता।
उत्तमा सहजाऽवस्था, द्वितीया ध्यान धारणा,
तृतीया प्रतिमा पूजा, होमयात्रा चतुर्थिका।

अर्थात्- "बालकों के देवता काठ पत्थर में, साधारण मनुष्यों के जल में, मनीषी विद्वानों के आकाश में है, बुध का-बोध वाले का, ज्ञानवान का देव आत्मा ही है। सहज अवस्था, अर्थात् सब दृश्य संसार को ही परमात्मा का स्वरूप जानना, यह उत्तम कोटि है, विशेष ध्यान-धारणा करना, यह उससे नीची दूसरी कोटि है, प्रतिमाओं की पूजा तीसरी कोटि है, होम और यात्रा चौथी कोटि है।

बाल-बुद्धि जीव, जिनकी बुद्धि सर्वथा बर्हिमुख है, जो इन्द्रियग्राह्य आकार ही का ग्रहण कर सकते हैं, वे अपने मन का सन्तोष काष्ठ-लोष्ठ की प्रतिमा से ही करें। यह बर्हिमुख माया रोग मनुष्य का ऐसा बढ़ा हुआ है कि मुसलमान धर्म में भी, यद्यपि वह अपने को बढ़ा भारी बुतशिकन यानी मूर्ति तोड़ने वाला कहता है, लोग देवालयों को तोड़कर मकबरे और कब्र बनाते और पूजते हैं। किसी उर्दू शायर ने ही कहा है-

जिन्दगाहें तोड़ करके मुर्दगाहें भर दिया।

इसी बहिर्मुख माया का वर्णन उपनिषदों ने किया है।

परांचि खानि व्यतृणत् स्वययंभूः
तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

- कठोपनिषद्

अर्थात्- स्वयंभू ने ब्रह्मा (श्रृष्टयुन्मुख, रजः प्रधान महत्त्व, बुद्धितत्त्व) ने सब इन्द्रियों को, छिद्रों को, बाहर की ओर खोला, छेद करके निकाला। इसलिए जीव बाहर की वस्तु देखता है, भीतर अपने को नहीं देखता। कोई-कोई धीर, विरक्त, जीव, संसार की दौड़ धूप, आवागमन और मृत्यु से थककर विश्राम और अमरत्व को चाहकर, आँख भीतर फेरता है और प्रत्यगात्मा को देखता है।

पर हाँ, उन बालकों के जो रखवारे वृद्ध बुजुर्ग हैं, उनको यह फिक्र रखनी चाहिए कि बीच-बीच में मिट्टी

के खिलौनों के खेल के साथ-साथ कुछ अक्षर ज्ञान भी दिखाते जाएँ, कुछ पुस्तकों का शौक पैदा कराने का यत्न भी करते रहें। यह न चाहें कि लड़के सदा खिलौनों में ही खुश रहें, मूर्ख बने रहें, पोथी-पत्रा कभी न छुएँ और हम उनको हमेशा बेवकूफ रखकर अपना गुलाम बनाये रहे।

और भी यदि ये वृद्ध, सात्विक बुद्धि वाले और लोक हितेषी हों तो इस खिलौना पूजा को भी बहुत शिक्षाप्रद, उत्तम, सात्विक भाववर्द्धक, कला वर्द्धक, शिल्प वर्द्धक, शास्त्र प्रवर्तक बना सकते हैं। सुन्दर मन्दिरों से ग्राम की, नगर की, शोभा सौन्दर्य बढ़ा सकते हैं और उनसे पाठशाला, चिकित्सालय, पुष्पवाटिका, उद्यान, चित्रशाला, संगीतादि विविध-कलागृह, सार्वजनिक सभामण्डप, सम्मेलन-स्थान, व्याख्यानशाला, आदि का काम ले सकते हैं। योग साधनादि में भी ये मन्दिर सीढ़ी का काम दे सकते हैं। क्योंकि

तच्छयतामनाधारा धारणा नोपपद्यते।

अर्थात्- ध्यान धारणा प्राय: किसी मूर्त्त विषय के बिना नहीं सधती।

और भी तरह-तरह के उत्तम वैधानिक शास्त्रानुकूल, आधिदैविक शास्त्र सम्मत, आधिभौतिक शास्त्र सम्मत, काम लिए जा सकते हैं। यह याद रखते हुए और यह समझते हुए कि सारा साकार जगत् ही उस जगदात्मा का रूप है, जनता को क्रमश: इस मूर्त-रूप की ओर ले जाना उचित ही है और इस दृष्टि से मूर्ति-पूजा की निन्दा करना अनुचित ही है।

दूसरे दर्जे की बुद्धि के लिए जलमय, तीर्थ, सरिता, सरोवर आदि की अनुज्ञा दी गई है। अदृष्ट फल वे हैं, जिनसे सूक्ष्म शरीर मनोमय अथवा विज्ञानमय कोष, अर्थात् अन्त:करण मन, बुद्धि, अहंकार का संस्कार हो। दुष्ट फल वे हैं, जिनका प्रभाव स्थूल-शरीर पर पड़ता है। इन तीर्थों में भ्रमण करने से, देशाटन के जो शिक्षाप्रद, बुद्धि की उदारता बढ़ाने वाले, संकोच हटाने वाले, फल हो सकते हैं वे होने चाहिए। यदि तीर्थ-रक्षक और पुजारी और भिखमंगे लोग 'कौआरोड़' करके यात्रियों की जान आपत्ति में न डाल दें और तीर्थों के जलों में फल, फूल, पत्ता, कच्चा और पक्का अन्न डलवा-डलवाकर पानी को सड़ाकर हानिकर न कर डालें। स्वयं पुराणों ने कहा है।

न ह्यम्मयानि तीर्थानि, न देवा मृच्छिलामया:।
ते पुनंत्युरुकालेन, दर्शनादेव साधवा:।
तेषामेव निवासेन, देशास्तीर्थोभवन्ति वै ॥

- भागवत

अर्थात्- ''जल में तीर्थ नहीं बनते, न देवता मिट्टी और पत्थर से बनते हैं। उनकी उपासना करने से बहुत काल में मन की शुद्धि होती है, पर सच्चे साधुओं के तो दर्शन और सत्संग से ही चित्त सद्य: शुद्ध हो जाता है।'' तीर्थ-स्थानों में जो सच्चे साधु तपस्वी विद्वान बसते हैं, वे ही तीर्थ के तीर्थंकर हैं, तीर्थों को तीर्थ बनाने वाले हैं। जो शोक के पार तारे वह तीर्थ (तरति शोकं येन सहायेन स तीर्थ:) सप्त पवित्र पुरी आदि तीर्थ इसी हेतु से तीर्थ थीं, कि वे उत्तम विद्यापीठ का काम देती थीं। वहाँ की हवा में भक्ति, विरक्ति, ज्ञान भरा रहता था, क्योंकि इनके बताने और जगाने वाले साधु, तपस्वी, विद्वान्, पण्डित, बहुतायत से वहाँ वास करते थे। जैसे आजकल की यूनिवर्सिटियों में किसी एक में एक ही शास्त्र की, किसी दूसरे में दूसरे शास्त्र की विद्या पढ़ाई, चर्चा, हवा अधिक रहती है। किसी शहर में किसी विशेष व्यापार की, किसी में कल-कारखानों की बहुतायतें रहती हैं और वहाँ जाने से उसके सम्बन्ध की विद्या सहज ही में आ जाती है। इसी तरह 'काश्यां मरणान् मुक्ति:' काशी में मरने से मुक्ति होती है, क्योंकि वहाँ आत्मज्ञान सहज में साधुओं से मिलना चाहिए, चारों ओर उसकी चर्चा होने से मानो हवा में भर रहा है और 'ऋते ज्ञानान् न मुक्ति:' बिना ज्ञान के छुटकारा नहीं, किसी प्रकार की भी गुलामी और बन्धन से, सामाजिक से, अथवा राजनीतिक से अथवा सांसारिक से, पर आजकल इन पवित्र पुरियों की जो दुर्गति है, वह प्रत्यक्ष है। जो मनुष्य 'काश्यां मरणान् मुक्ति:' के अक्षरों को ही पकड़े रहते हैं और उसके हेतु को नहीं पकड़ते और आत्म-ज्ञान का संचय नहीं करते, उनके लिए मुक्ति की आशा नहीं है।

तीसरे दर्जे की बुद्धि के लिए, ''दिवि देवा:'' सूर्य, चन्द्र, बृहस्पति आदि प्रत्यक्ष देवता हैं। इनकी उपासना गणित-फलितात्मक, अद्‌भुत ज्योतिष-शास्त्र की उपासना, मिटियोरोलोजी आस्ट्रोनोमी आदि हैं। इससे जो कुछ काल-ज्ञान में, कृषि में, समुद्र यात्रादि में, सहायता मिल सके वह सब इनकी उपासना का दुष्ट-फल है, पर सहायता के स्थान में जो विघ्न ज्योतिष-शास्त्र के कुप्रयोग से हो रहे हैं, वह सबको विदित है।

चौथी और अन्तिम कोटि ''बुधस्य आत्मनि देवता'' जिसको यह विचार उत्पन्न हो गया है कि यह देवता है या नहीं है, यह पुस्तक मानने योग्य है या नहीं है, यह ऋषिवत् या अवतारवत् या रसूल पैगम्बरवत् या मसीहवत् गुरुवर मानने योग्य हैं या नहीं है, यह धर्म मानने योग्य हैं या नहीं

है, यह छोड़ने योग्य हैं या ओढ़ने योग्य है, यह शास्त्र हैं या अशास्त्र हैं, वह वेद है या अवेद है, इसका अर्थ यह है या दूसरा है, अन्ततोगत्वा कोई ईश्वर है या नहीं है और है तो क्या है? उसका स्वरूप क्या है- इस सबका अन्तिम निर्णेता मैं ही हूँ, "मैं" ही है, आत्मा ही है-जिसको यह विचार दृढ़ हो जाता है, उसके लिए 'बुधस्य आत्मनि देवता', अर्थात् बुधका, बुद्धिमानी का, देव स्वयं आत्मा ही है। परम ईश्वर, ईश्वरों का ईश्वर, मैं ही है। इस काष्ठा को जो पहुँचा है उसके लिए सुरेश्वराचार्य ने वृहदारण्यक वार्तिक में कहा है- "एतां काष्ठामवष्टभ्य सर्वा ब्राह्मण उच्यते।" जो ही जीव इस काष्ठा को पहुँचा है वह ब्राह्मण है, और वही ब्राह्मण है, अथवा ब्रह्मस्वरूप है।

उसके लिए "काश्यां मरणान् मुक्ति" की आवश्यकता नहीं, किन्तु,

भावना यदि भवेत् फलदात्री मामकं नगरमेव हि काशी।
व्यापकोऽपि यदि वा परमात्मा तारकं निमिह नोपदिशेन नः॥

अर्थात् भावना ही यदि फल देने वाली है, तो जिस स्थान पर मैं हूँ, वही काशी है। यदि परमात्मा व्यापक है, तो यहीं पर तारक यन्त्र मन्त्र का उपदेश कर सकता है। ऐसे ही मनुष्य के लिए याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा है कि वह स्वयं नयी आवश्यकता पड़ने पर नया धर्म बना सकता है।

चत्वारो वेदधर्मज्ञः पर्षत, त्रैविद्य मेव वा।
सा ब्रूते य स धर्मः स्यादेको वाऽध्यात्मवित्तमः॥

अर्थात्- "वेद पर, ज्ञान-समूह पर, प्रतिष्ठापित जो धर्म है, उसके जानने वाले चार मनुष्यों की मण्डली अथवा अंगोपांग सहित तीन वेदों को अच्छी तरह जानने वालों की समिति अथवा एक अध्यात्म-वित्तम, ब्रह्मविद्वरिष्ठ, तत्त्वतः ब्रह्मज्ञान के हृदय में प्रविष्ट, यानी मनुष्य जो निर्णय कर दे, कि यह धर्म होना चाहिए, वही धर्म माना जाय।"

विवेक और मानसिक दासता

विवेक की हीनता के कारण मनुष्य परमुखापेक्षी और पराश्रित हो जाता है। वह अपने को सब प्रकार से गया बीता समझ लेता है। उसके हृदय में प्रायः यही विचार आया करता है कि "जो कुछ हमारे पूर्वज कर चुके हैं, जो कुछ हमारे समाज के बड़े आदमी कर रहे हैं, उससे ज्यादा हम क्या कर सकते हैं। हमको तो यथाशक्ति उनका ही अनुकरण अनुकरण करना चाहिए।" ऐसी मनोवृत्ति से हद दर्जे की मानसिक निर्बलता उत्पन्न होती है और उन्नति का मार्ग रुक जाता है।

मानसिक दासता सब प्रकार की दासताओं की जननी है। जब शरीर का चालक मन अशक्त है तो शरीर का अणु-अणु अपाहिज हैं। उसकी शक्ति को प्रकाशित होने का कोई विशिष्ट मार्ग नहीं, उसका कोई निश्चित उद्देश्य नहीं। वह एक ऐसी नौका है जो जिधर चाहे बहक सकती हैं।

समस्त मानव जीवन की प्रवर्तक भावनाएँ होती हैं। इन भावों का अनुसरण हमारी मूल प्रवृत्तियाँ किया करती हैं। भावनाएँ मन में विनिर्मित होती हैं। उनका उच्चाशय या निंद्य स्वरूप मन की प्रेरक शक्तियों पर अधिष्ठित है।

मन के अपाहिज हो जाने पर आत्मा जड़ से गया बीता हो जाता है। उसकी महत्वाकांक्षा का निरन्तर क्षय होता रहता है। आशाओं पर तुषारापात होता है। ऐसा व्यक्ति नहीं जानता कि वह क्या है? इसका वास्तविक स्वरूप क्या है? उसे किस दिशा की ओर अग्रसर होना है? दासता की कुलिश-कठोर बेड़ियों में जकड़ा हुआ मन स्वयं अपना ही नहीं, अपने स्वामी का भी सर्वनाश कर देता है।

हम दूसरों को डरपोक देखते हैं तो समझ लेते हैं कि ऐसे ही हमें भी होना चाहिए। ऐसा ही मनुष्य का वास्तविक स्वरूप है। हम अपने चारों ओर ऐसा ही कुत्सित वातावरण देखते हैं। हम विगत कटु अनुभवों को अपेक्षाकृत अधिक महत्व देते हैं। हम स्वयं विचार शक्ति का उपयोग न कर विचार की गति को पंगु कर डालते हैं। हम स्वयं निज मानसिक शक्ति का उपयोग न कर दूसरे के उदाहरण, प्रणाली पर निज जीवन को अधिष्ठित कर देते हैं। हम सोचते हैं कि जो हमारे पूर्वज कर गये हैं, जो हमारे नेतागण चरितार्थ कर रहे हैं जो कुछ हमारे पूर्वज कर गये हैं, जो हमारे नेतागण चरितार्थ कर रहे हैं जो कुछ हमारे अन्य भ्राताओं ने अर्जन किया है, वही हमारा भी साध्य है। उसी को हमें प्राप्त करना चाहिए। हम अपने वातावरण से दासता ही दासता एकत्रित करते हैं। मन में कूड़ा कर्कट एकत्रित करते रहते हैं, कालान्तर में मन का वातावरण कलुषित हो जाता है। हमारा समाज, कभी हमारा गृह, कभी हमारा वातावरण या जीविका उपार्जन का कार्य मानसिक दासता का सहायक बन जाता है तथा हमें दीन दुनियाँ कहीं का भी नहीं छोड़ता। कृत्रिम साधनों द्वारा मन का विकास रुक जाना ही मानसिक दासता है।

हम मानसिक दासत्व को एक मनोवैज्ञानिक रोग मान सकते हैं। अनेक प्रकार के भ्रम, अभद्र-कल्पनाएँ,

निराशा, निरुत्साह इत्यादि मनःक्षेत्र में आत्महीनता की जटिल ग्रन्थि उत्पन्न कर देते हैं । कालान्तर में ये ग्रन्थियाँ अत्यन्त शक्तिशाली हो उठती हैं । फिर दिन प्रतिदिन के विविध कार्यों में इन्हीं की प्रतिक्रिया चलती रहती है । हमारे डरपोकपन के कार्य प्रायः इसी ग्रन्थि के परिणाम स्वरूप होते हैं । अनेक मन गढ़न्त विरुद्ध संस्कार स्मृति पटल पर अंकित रहते हैं । पुरानी असफलताएँ, अप्रिय अनुभव, अव्यक्त मन से चेतन मन में प्रवेश करती हैं तथा प्रत्येक अवसर पर अपनी रोशनी फेंका करती हैं । जैसे एक बारीक कपड़े से प्रकाश की किरणें हलकी-हलकी छन कर बाहर आती हैं उसी प्रकार आत्महीनता तथा दासत्व की ग्रन्थियों की झलक प्रायः प्रत्येक कार्य में प्रकट होकर उसे अपूर्ण बनाया करती है । कभी-कभी मनुष्य की शारीरिक निर्बलता, कमजोरियाँ, व्याधियाँ, अंग-प्रत्यंगों की छोटाई-मोटाई, सामाजिक परिस्थितियाँ, निर्धनता, देश की कमजोरियाँ सब मानसिक दासत्व की अभिवृद्धि किया करते हैं । भारत में मानसिक दासत्व का कारण अन्धकार मय वातावरण तथा पाशविक वृत्तियों का अनाचार है । समय-समय पर देश में होने वाले आन्दोलनों से मानसिक दासत्व में भी न्यूनता या अभिवृद्धि का क्रम चला करता है ।

वर्तमान रूप में व्यवहृत हमारा धर्म मानसिक दासता का मित्र बना हुआ है । मनुष्य को मन, प्रत्येक तत्व में समझने, मनन करने के लिए प्रदान किया गया है । वह सोच-समझ कर प्रत्येक वस्तु ग्रहण करे, यों ही प्रत्येक तत्व को अन्धों की तरह ग्रहण न करे, यही इष्ट है । धर्म के आधुनिक रूप ने मानव मन को अत्यन्त संकुचित, डरपोक बना दिया है । किताब, कलमा, जादू, टोना, तीर्थ न जाने कितनी आफतें मानव मन पर सवार हैं । वह धार्मिक शृंखलाओं के कारण इधर से उधर, टस से मस नहीं हो पाता । हजार आदमी उसके ऊपर उँगलियाँ उठाने को प्रस्तुत हैं । अतः बेचारे को अन्य व्यक्तियों का अनुकरण करना होता है । अनुकरण अबोध के लिए उपयुक्त हो सकता है किन्तु विवेकशील को उस जंजीर में बाँधने से उसके मनःक्षेत्र में प्रबल उत्तेजना उत्पन्न होती है । इस प्रकार मन की गुलामी उत्पन्न होती है ।

जब मन उत्तम तथा निकृष्ट में विवेक न कर सके तो उसे "दास" कहेंगे, उसे तो स्वच्छन्दतापूर्वक निज कर्म करना चाहिए । यदि मनुष्य का मन स्वतंत्र रूप से विवेक की शक्ति नहीं रखता, तो वह किसी अन्य शक्ति के वश में अवश्य रहेगा । स्वयं जब मन का इच्छा शक्ति पर प्रभुत्व नहीं तो उस पर किसी विजातीय शक्ति का प्रभुत्व अवश्य रहेगा ।

यदि एक छोटे पौधे को एक शीशी में बन्द कर दें और केवल 'ऊपर से खुला रहे, तो वह क्रमशः ऊपर ही को बढ़ेगा । उसे इधर-उधर फैलने की गुञ्जायश नहीं है क्योंकि उसे संकीर्ण वातावरण में रख दिया है । इसी प्रकार यदि आप कूपमण्डूक बने रहेंगे, तो मन विकसित न हो सकेगा । वह एकांगी रहेगा तथा उसमें सहृदयता, दयालुता, सत्यवादिता, निर्भीकता या निर्णय शक्ति का विकास न हो सकेगा । मन को छोटे दायरे में बन्द रखने से मनुष्य सब वैभव होते हुए भी अन्तर्वेदना से पीड़ित रहता है । उसमें आत्म सम्मान का प्रादुर्भाव नहीं होता ।'

मन को स्वाधीनता दीजिए । उसे चारों ओर फैलने का अवसर दीजिए । मानसिक स्वतंत्रता से ही मनुष्य में दैवी गुणों का प्रादुर्भाव होता है । मन को स्वच्छन्दतापूर्वक विचारने की, मनन करने की स्वतंत्रता दीजिए तो वह आपका सच्चा मित्र, सलाहकार बन जायगा । वह निकृष्ट भोगेच्छाओं में परितृप्त न होगा । वह अन्य व्यक्तियों की कृपा पर आश्रित न रहेगा । मानसिक स्वतंत्रता प्राप्त करते ही मनुष्य का संसार के प्रति दृष्टिकोण बदल जाता है । मानसिक स्वच्छंदता के बिना मनुष्य प्रसन्नचित्त नहीं रह सकता ।

कल्पना कीजिए कि आपको बात-बात पर अन्य व्यक्तियों के इशारों पर नर्तन करना पड़ता है, जहाँ आप तनिक-सी मौलिकता प्रकट करने का प्रयत्न करते हैं कि आपको तीखी डाँट पड़ती है । ऐसी स्थिति में मन परिपक्व नहीं होता । उसकी समस्त मौलिकता नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है । वह मन मनुष्य का शत्रु तथा उन्नति में बाधक बन जाता है ।

मानसिक परिपुष्टि का मुख्य साधन है-शिक्षा । जिस मस्तिष्क को शिक्षा नहीं मिलती वह थोड़ा-बहुत अनुभव से बढ़कर रुक जाता है । शिक्षा ऐसी हो जिससे मन की सभी शक्तियों-तर्क शक्ति, तुलना शक्ति, स्मरण शक्ति, लेखन शक्ति, कल्पना शक्ति का थोड़ा-बहुत विकास हो सके । इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि हम अपनी इच्छानुसार इन सभी शक्तियों को बढ़ा सकते हैं । आवश्यकता है केवल ठीक प्रकार की शिक्षा की । शिक्षा ऐसी मिले कि मनुष्य का विकास उत्तरोत्तर होता रहे, वह रूढ़ियों का गुलाम न बन जावे, अन्यथा मानसिक दासता का फल भयंकर होगा ।

दूसरा साधन है अनुकूल संगति तथा परिस्थितियाँ। जिन परिस्थितियों में मनुष्य निवास करता है प्राय: वे ही मानसिक शक्तियाँ उसमें जाग्रत होती हैं। जिस मनुष्य के परिवार में कवि अधिक मात्रा में होते हैं, वह प्राय: कवि होता है। हरे पत्तों में निवास करने वाला कीड़ा हरित वर्ण का ही हो जाता है। अत: पुस्तकों की संगत में रहिए, विद्वानों से तर्क कीजिए, शंकाओं का समाधान कीजिए।

तीसरा साधन है उपयुक्त मानसिक व्यायाम। जिस प्रकार नियमित व्यायाम से हमारा शरीर विकसित होता है, उसी प्रकार मानसिक व्यायाम (अभ्यास) द्वारा मन में भिन्न-भिन्न शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है। एकाग्रता का अभ्यास अपूर्व शक्ति प्रदान करता है। खेद है कि अनेक व्यक्ति निज जीवन में एकाग्रता को वह महत्व प्रदान नहीं करते जो वास्तव में उन्हें करना चाहिए। एकाग्रता से काय शक्ति बहुत बढ़ जाती है। यदि दृढ़ एकाग्रता रखने वाले व्यक्ति से तुम्हारा साक्षात्कार हो तो तुम्हें अनुभव होगा कि वह पर्वत सदृश्य अचल होकर कार्य करता है। तुम उसे छोड़ो चाहे कुछ करो किन्तु वह विचलित न हो सकेगा। इसी का नाम दृढ़ एकाग्रता है। इसी से मन वश में आ सकता है। मन अभ्यास का दास है। जैसे-जैसे आपका अभ्यास बढ़ेगा, वैसे-वैसे एकाग्रता की वृद्धि होगी। चौथा साधन है- अन्तर्दृष्टि। तुम समाज की रूढ़ियों तथा बिरादरी के गुलाम न बनो। धर्म की रूढ़ि और धर्माचार्यों की लकीरों से पस्त हिम्मत न हो जाओ वरन् अपनी मौलिकता की वृद्धि करो। न कोई मुल्ला, न कोई पण्डित, न राज्य का फैलाया हुआ कुसंस्कारों का जाल, तुम्हें दैवी उच्च भूमिका से हटा सकता है। यदि तुम मन की उच्च भूमिका में निवास करते रहोगे, तो तुम में यथार्थ बल प्रकट होगा।

विश्व में सबसे अधिक महान कार्य मन की शक्तियों को बढ़ाना है। तुम्हारा अभ्यन्तर प्रदेश अनन्त और अपार है। अभ्यास तथा मनन द्वारा तुम अपनी नैसर्गिक शक्ति को प्राप्त कर सकते हो।

स्मरण रहे, तुम्हें अपना विकास करना है। अल्पज्ञ, नि:सत्व नहीं बने रहना है। तुम्हें उचित है कि निज सामर्थ्यों में विश्वास एवं श्रद्धा रखना सीखो। सदा-सर्वदा आन्तरिक मन की भावनाओं के प्रति लक्ष्य दिये रहो। यह मत सोचो कि हमें तो इतना ही विकसित होना है, वरन् यह सोचो कि अब अभिवृद्धि का वास्तविक समय आया है। अपनी विशालता, अतुल सामर्थ्य का चिन्तन करो। मानसिक दासता से छुटकारा पाओ और विवेक से काम लेकर संसार में विजयी योद्धा की तरह जीवन व्यतीत करो।

विवेक हीनता का दुष्परिणाम

जब हमारे सामने अनेक समस्याएँ, विभिन्न प्रकार के विचार होते हैं, तब यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि इनमें कौन हितकारी है और कौन हित के विपरीत, कौन सही है और कौन गलत है। ऐसी अवस्था में विवेक ही हमारा मार्ग-दर्शन कर सकता है। जिसमें विवेक की कमी होती है, वे नाजुक क्षणों में अपना सही मार्ग निश्चित नहीं कर पाते और गलत रास्ते पर चल पड़ते हैं, जिसके कारण उन्हें पतन और असफलता के गर्त में गिरकर लांछित और अपमानित होना पड़ता है। जिनमें विवेक शक्ति का प्राधान्य होता है वे दूरदर्शी होते हैं और इसीलिए उपयुक्त मार्ग को अपनाते हैं। यही शक्ति साधारण व्यक्ति को नेता, महात्मा और युग पुरुष बनाती है।

विवेक प्रत्येक व्यक्ति में जन्मजात रूप से वर्तमान रहता है। इस पर हमारे संचित और क्रियमाण कर्मों की छाया का प्रभाव पड़ता है, जिसके कारण वह किसी में कम और किसी में अधिक दिखाई देता है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि हम अपने संचित एवं क्रियमाण कर्मों से इतने अधिक प्रभावित रहते हैं कि विवेक की पुकार हमें ठीक से सुनाई नहीं पड़ती। यही विवेक हमारी वास्तविक मानवता का प्रतीक और सद्बुद्धि का द्योतक है। इसके अभाव में मनुष्य पशु या उससे भी गया बीता बन जाता है और स्वयं के लिए, समाज के लिए, राष्ट्र के लिए और अन्तत: सृष्टि के लिए एक भार एवं अभिशाप हो जाता है।

मानव होने के नाते हमारा यह प्राथमिक कर्तव्य है कि हम इस विवेक को जाग्रत करें और उसकी आवाज को सुनना सीखें। संसार में छोटे से छोटे और बड़े से बड़े सभी मनुष्य इसकी कृपा के लिये लालायित रहते हैं।

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मनुष्य के लिए अपने विवेक की सदैव रक्षा करना परमावश्यक है। किसी स्वार्थ के लिए भी विवेक की हत्या करने से उसका कुफल भोगना पड़ता है। चाहे वैयक्तिक विषय हो और चाहे सामाजिक, चाहे राजनीतिक समस्या हो अथवा धार्मिक, हमको विवेक युक्त निर्णय का सदैव ध्यान रखना चाहिए। लकीर के फकीर बन जाने या "बाबा वाक्यं प्रमाणं" मान लेने से मनुष्य की बुद्धि कुण्ठित हो जाती है और वह गलत मार्ग पर चलने लग जाता है। इसलिए प्राचीन या नवीन कोई भी विषय हो हमको उसका निर्णय उचित-अनुचित, सत्य-असत्य का पूर्ण विचार करके ही करना चाहिए।

१७. जीवन और मृत्यु

गायत्री का सत्रहवाँ अक्षर 'धि' हमको जीवन और मृत्यु के तत्व को जानने की शिक्षा देता है ।

धियामृत्युं स्मरेन्मर्म जानीयं जीवनस्य च ।
तदालक्षं समालक्ष्य पादौ संततमाक्षिपेत ॥

अर्थात्- "मृत्यु को ध्यान में रखें और जीवन के मर्म को समझ कर अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर अग्रसर हों ।"

मृत्यु से डरने की कोई बात नहीं, क्योंकि कपड़ा बदलने के समान यह एक स्वाभाविक एवं साधारण बात है । परन्तु मृत्यु को ध्यान में रखना आवश्यक है । मार्ग के विश्रामगृह में ठहरे हुए यात्री को जैसे रात भर ठहर कर कूच की तैयारी करनी पड़ती है और फिर दूसरी रात किसी अन्य विश्रामगृह में ठहरना पड़ता है, उसी प्रकार जीव भी एक जीवन को छोड़ कर दूसरे जीवनों में प्रवेश करता रहता है ।

क्षणिक जीवन में कोई ऐसा कार्य न करना चाहिए जिससे आगे की प्रगति में बाधा पड़े । विश्रामगृह के अनावश्यक झगड़ों में उलझ कर जैसे कोई मूर्ख यात्री मुकदमा, जेल में फँस जाता है और अपनी यात्रा का उद्देश्य बिगाड़ लेता है, वैसे ही जो लोग वर्तमान जीवन के तुच्छ लाभों के लिए अपना परम् लक्ष्य नष्ट कर लेते हैं वे निश्चय ही अज्ञानी हैं ।

जीवन एक नाटक की तरह है । इस अभिनय को हमें इस प्रकार खेलना चाहिए कि दूसरों को प्रसन्नता हो और अपनी प्रशंसा हो । नाटक खेलते समय सुख और दुःख के अनेक प्रसंग आते हैं, पर अभिनय करने वाला पात्र उस अवसर पर वस्तुतः सुखी या दुखी नहीं होता । इसी प्रकार हमको जीवन रूपी खेल में बिना किसी उद्वेग के अभिनय का कौशल प्रदर्शित करना चाहिए । पर साथ ही अपने लक्ष्य को भूलना न चाहिए ।

मृत्यु इस जीवन नाटक का अन्तिम पटाक्षेप है। इसके बाद अभिनय कर्ता को विश्राम मिलता है। मृत्यु का दूत जीवन का अन्तिम अतिथि है, उसके स्वागत के लिये सदा तैयार रहना चाहिए । अपनी कार्य प्रणाली ऐसी रखनी चाहिए कि किसी भी समय मृत्यु सामने आ खड़ी हो तो किसी प्रकार का पश्चात्ताप न करना पड़े ।

जीवन का लक्ष्य स्थिर करो

जीवन को सफल बनाने के लिये सर्वप्रथम आवश्यकता यह है कि हम अपने जीवन का एक लक्ष्य सोच समझ कर स्थिर कर लें और तदनुकूल मार्ग में अग्रसर हों । बिना लक्ष्य का कोई भी काम अधिक फल-दायक अथवा प्रभावशाली नहीं हो सकता । इस प्रकार कार्य करने से परिश्रम और शक्ति का अपव्यय होता है, जिसके लिये बाद में पछताना पड़ता है । इसलिए बुद्धिमान मनुष्य को जीवन के आरम्भ में ही अपना एक ऐसा लक्ष्य निर्धारित कर लेना चाहिये जिससे सांसारिक और पारलौकिक कार्य सिद्ध हो सकें । स्वयं वेद ने भी ऐसा ही आदेश दिया है-

जातो जायते सुदिनत्वे अन्हां समये आ विदथे वर्धमानः ।
पुनन्ति धीरा अपसो मनीषा देवया विप्र उदयति वाचम् ॥

(जातः) जीव (अन्हाम्) दिनों को (सुदिनत्वे) सुदिन करने के निमित्त (जायते) उत्पन्न होता है । वह (समर्ये) जीवन संग्राम के निमित्त (विदथे) लक्ष्यप्राप्ति के निमित्त (आ) सब प्रकार से (वर्धमानः) बढ़ता है (धीरः) धीर पुरुष (मनीषा) बुद्धि से (आपसः) कर्मों को (पुनन्ति) पवित्र करते हैं । और (विप्रः) सुधी ब्राह्मण (देवया) दिव्य कामना से (वाचम्) वाणी को (उत इर्यति) उच्चारण करता है ।

जिन्दगी के दिन तो पशु पक्षी भी काटते हैं । मौत के दिन तो कीट पतंगे भी पूरे करते हैं । मनुष्य इस प्रकार दिन काटने के लिए यहाँ नहीं आया है । उसके जीवन का एक-एक दिन अमूल्य है । इन दिनों को सुदिन, उत्तम दिन, महान दिन, महत्वपूर्ण दिन बनाने के लिए वह उत्पन्न होता है । जीवन धारण की सफलता दिनों को सुदिन बनाने में है । जो दिन महान कार्य करने में, आत्मोन्नति में, धर्माचरण में, परमार्थ में, कर्तव्य पालन में, लोक सेवा में व्यतीत हो जाते हैं, वही सुदिन है । जैसे वायु सुगन्धित और दुर्गन्धित पदार्थों के संसर्ग से बुरी भली कहलाती है, उसी प्रकार दिन भी सुन्दर उत्तम कार्यों के द्वारा सुदिन और बुरे कर्मों के कारण दुर्दिन बन जाते हैं । मनुष्य अपने जीवन दिनों को सुदिन बनाने के उद्देश्य से उत्पन्न होता है ।

सुदिन किस प्रकार बने ? इसका उत्तर वेद ने 'समर्ये' और 'विदथे' शब्दों में दिया है, लक्ष्य स्थिर करके और उसके लिए संघर्ष करके जीवन को सफल बनाया जा सकता है । बिनालक्ष्यका जीवन वैसे ही है जैसे बिना सवार का छुट्टल घोड़ा, बिना पतवार की नाव, बिना डोरी की

पतंग, परिस्थितियों के झोंके इन्हें चाहे जिधर उड़ा ले जाते हैं । जिस पथिक का लक्ष्य स्थिर नहीं, कभी पूरब को चलता है तो कभी पच्छिम को लौट पड़ता है, ऐसा रास्तागीर भला किसी स्थान पर किस प्रकार पहुँच सकेगा? उसकी यात्रा का क्या परिणाम निकलेगा ? हर बुद्धिमान चलना प्रारम्भ करने से पूर्व यह निश्चय कर लेता है कि मेरा लक्ष्य किस स्थान पर पहुँचना है । इस निश्चय से ही वह दिशा नियत करता है, रास्ता मालूम करता है और बिना इधर-उधर भटके निश्चित गति से उस राह पर चला जाता है और नियत स्थान तक पहुँच जाता है, मनुष्य को भी पहले अपना लक्ष्य निर्धारित करना आवश्यक है । मुझे अमुक तत्व प्राप्त करना है, यह निश्चय जब भली भाँति हो जाता है तभी यह निश्चित कार्यक्रम बनता है, अन्यथा कभी यह, कभी वह पाने के लिए उछल कूद होती रहती है । बन्दर एक डाली से दूसरी पर उचकता फिरता है उसी प्रकार लक्ष्यहीन मनुष्य कभी यह, कभी वह चाहता है, इसे छोड़ता है उसे पकड़ता है। पर जिसने लक्ष्य स्थिर कर लिया है वह बन्दूक की गोली की तरह सनसनाता हुआ अपने निशाने पर जा पहुँचता है। उछलने कूदने वाले का जीवन दुर्दिनों में, निष्फलता में व्यतीत होता है । पर लक्ष्य वाला अपने जीवन को सुदिन बना लेता है ।

लक्ष्य स्थिर करने में मनुष्य स्वतन्त्र है अज्ञानी मनुष्य मन की, इन्द्रियों की भूख बुझाने में प्रसन्न रहते हैं और ज्ञानी आत्मोन्नति के लिये, आत्मा की क्षुधा पूर्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं । अज्ञानी दृष्टिकोण के द्वारा चिन्ता, शोक, क्लेश, अशान्ति एवं पाप के दुर्दिन सामने खड़े रहते हैं और ज्ञानी दृष्टिकोण के द्वारा निर्भयता, प्रसन्नता, शान्ति। यह दो ही मार्ग हैं- एक प्रेय दूसरा श्रेय । एक प्रिय लगने वाला है दूसरा कल्याण देने वाला है, हिरण्यकशिपु, रावण, कंस, दुर्योधन सरीखे प्रेय को लक्ष्य बनाते हैं । हरिश्चन्द्र, शिवि, दधीचि, मोरध्वज, प्रहलाद, ध्रुव, ईसा, गांधी जैसे महापुरुष श्रेय को अपना लक्ष्य बनाते हैं । दोनों में से एक जो पसंद हो उसे मनुष्य चुन सकता है । पर वेद भगवान उसी लक्ष्य को स्थिर करने की सलाह देते हैं, जिससे दिनों को सुदिन बनाया जा सके । ऐसा लक्ष्य श्रेय ही हो सकता है । श्रेय को अपनाने में ही कल्याण है, बुद्धिमानी है ।

किसी भी वस्तु प्राप्ति के लिये श्रम करना पड़ता है, संघर्ष करना पड़ता है । यदि नवजात बालक रोना, चिल्लाना और हाथ पांव फेंकना छोड़ दे तो वह अपाहिज हो जाता है उसका विकास रुक जाता है और शक्तियाँ विदा हो जाती हैं । पथिक दिनभर मार्ग से लड़ता है एक के बाद दूसरा कदम लगातार उठाता धरता रहता है, तब कहीं आगे बढ़ पाता है। विद्यार्थी, बलार्थी, यशार्थी, स्वार्थी सभी को प्रयत्न परिश्रम एवं संघर्ष करना पड़ता है । धरती का पेट चीर कर किसान अन्न उपजाता है गहरा गड्ढा खोदने से पानी निकलता है धातु को तपा और कूटकर बर्तन आदि बनाते हैं । जीवन भी संघर्ष से गढ़ता है, जीवन विकास के लिए प्रयत्न और परिश्रम आवश्यक है । आत्म कल्याण के लक्ष्य को पूरा करने के लिए श्रम करना पड़ता है, कठिनाइयों से लड़ना पड़ता है समुद्र मंथन से जैसे चौदह रत्न मिले थे, श्रम द्वारा जीवन मंथन करने से भी भौतिक सम्पत्तियाँ एवं दैवी संपदायें उपलब्ध होती हैं । इन सम्पन्नताओं के द्वारा मनुष्य बहुत आगे बढ़ जाता है, सफलता का मार्ग बहुत आसान हो जाता है ।

लक्ष्य प्राप्ति के लिए यह संघर्ष किस प्रकार किया जाय? इस प्रश्न के उत्तर में श्रुति कहती है 'पुनन्ति धीरा अपसो मनीषा' धीर पुरुष विवेक पूर्वक कर्मों को पूरा कर लेते हैं । साधारण कर्मों को पवित्र कर्म बना लेना, यह धीर पुरुषों के विवेक का कौशल है ।

कोई भी काम न तो अपने आप में अच्छा है न बुरा। उसे जिस भावना से किया जाता है, उसी के अनुसार वह भला बुरा बन जाता है । पानी रंग रहित है उसमें जैसा भी रंग डाल दिया जाय वह वैसे ही रंग का बन जाता है। इसी प्रकार समस्त कर्म भावना के अनुसार भले बुरे बनते हैं । कई बार सदुद्देश्य के लिए विवेक पूर्वक, सद्भावना के साथ हिंसा, चोरी, असत्य, छल, व्यभिचार तक बुरे नहीं ठहरते । भगवान कृष्ण के तथा अन्य महापुरुषों के जीवन में इस प्रकार की घटनाएँ मिल सकती हैं, जबकि अनुचित कहे जाने वाले कर्मों को अपनाया गया हो । इसी प्रकार अविवेक पूर्वक या बुरे उद्देश्य से किये गये सत्कर्म भी बुरे हो जाते हैं । आततायी पर दया करना, हिंसक बधिक के पूछने पर पशु पक्षियों का पता बताने का सत्य बोलना, कुपात्रों को दान देना आदि कार्यों से उल्टा पाप लगता है। इसलिए कर्म के स्थूल रूप पर अधिक ध्यान न देकर उसकी सूक्ष्म गति पर विचार करना चाहिए ।

दैनिक काज जिन्हें आमतौर से सब लोग किया करते हैं, यदि उन्हें ही सद्भावना से, उच्च विचार से किया जाय तो वे ही यज्ञ रूप हो सकते हैं । परिवार का भरण-पोषण

यदि इस भावना के साथ किया जाय कि "भगवान ने इतने प्राणियों की सुरक्षा, उन्नति एवं व्यवस्था का भार मेरे ऊपर सौंपा है, इस ड्यूटी को सच्चे वफादार भक्त की तरह पूरी ईमानदारी से पूरा करूँगा, परिवार के किसी व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति न समझूँगा, बदले की कोई आशा न रखूँगा।" तो इसी उच्च भावना के कारण वह कुटुम्ब पालन उतना ही पुण्य फलदायक बन जाता है, जितना कि उतने ब्राह्मणों को नित्य भोजन कराना, उतने अनाथों का पालन पोषण करना, उतने निराश्रितों की सेवा करना, उतने अशिक्षितों को शिक्षित बनाना। चूँकि प्राणि भगवान की चलती फिरती प्रतिमा है इसलिए इतने प्राणियों की सेवा व्यवस्था, देव मन्दिर में भगवान की पूजा करने से किसी प्रकार कम महत्व की नहीं होती।"

यही कुटुम्ब पालन यदि स्वार्थ की, मालिक की, खुदगर्जी की, बदला प्राप्त होने की, अहंकार पोषण की भावना से होती है तो स्वार्थ साधन कहा जायेगा और भावना की तुच्छता के कारण उसका फल भी वैसा ही होता है। व्यापार, कृषि, शिल्प, युद्ध, उपदेश आदि व्यसनों को यदि यह सोच कर किया जाय कि 'इन कार्यों से संसार की सुख शान्ति में वृद्धि हो, सात्विकता बढ़े, मेरे कार्य नर नारायण को प्रसन्न करने वाले और सन्तोष देने वाले हों' तो इन भावनाओं के कारण ही वह साधारण कार्य पुण्यमय, यज्ञ रूप बन जाते हैं।

केवल कल्पना करने या झूठ-मूठ मन समझा लेने या किन्हीं शब्दों को मन ही मन दुहरा लेने को भावना नहीं कहते। सच्चा संकल्प, पक्का दृष्टिकोण और अटूट विश्वास मिल कर भाव बनता है। उस भाव से किये हुए कार्य उच्च, अच्छे, लाभदायक, सुदृढ़ एवं सात्विक होते हैं। उच्च भावना के साथ जिस कुटुम्ब का पालन किया गया है, उसमें राजा हरिश्चन्द्र के से स्त्री पुत्र निकलेंगे। व्यभिचारिणी स्त्री और अवज्ञाकारी पुत्र वहाँ मिलेंगे जहाँ कुटुम्ब पोषण तुच्छ विचारधाराओं के साथ किया जाता है। उच्च दृष्टिकोण वाला ब्राह्मण यजमान को ठगने के लिए मीन मेख लड़ाने की हिम्मत नहीं करता। उच्च दृष्टिकोण वाला क्षत्रिय किसी निर्बल या निरपराध की तरफ त्यौरी नहीं चढ़ा सकता। उच्च भावना वाला वैश्य घी में वैजीटेबिल नहीं मिला सकता और न तम्बाकू की, गंदी पुस्तकों की, मांस-मदिरा की दुकान खोल सकता है। जाल साजी से भरी हुई कमजोर, नकली, मिलावटी, हानिकारक चीजें वह कितने ही बड़े प्रलोभन के बदले नहीं बेच सकता। अपने लाभ को वह ग्राहक के लाभ से अधिक महत्व नहीं दे सकता। शूद्र श्रम में चोरी नहीं कर सकता, हराम का पैसा उसे विष के समान कड़ुआ लगता है। खरी मजदूरी देने में दूसरे लोग ढील करें इसे तो वह किसी प्रकार सहन कर सकता है पर काम में ढील देकर वह अपनी आत्मा को कलंकित नहीं कर सकता। इस प्रकार उच्च दृष्टिकोण से किये हुए काम संसार के लिए बड़े लाभदायक होते हैं, उससे लोक में सुख शान्ति की वृद्धि होती है, जिसका पुण्य फल उच्च दृष्टिकोण वालों को ही मिलता है।

विचारों को उच्च बनाकर, भावनाओं को परमार्थमयी रख कर धीर पुरुष, विवेक द्वारा कर्मों को पवित्र कर लेते हैं। ऐसे पुरुषों के विचार और कार्य तो महान होते ही हैं, साथ ही वे सुधी, उत्तम बुद्धि वाले, ब्रह्मपरायण व्यक्ति वाणी को भी दिव्य कामना से ही उच्चारण करते हैं, वाणी से कड़ुआ वचन, असत्य वचन, घमण्ड भरा वचन वे कदापि नहीं बोलते। जिस बात से विरोध, द्वेष, कलह-क्लेश, क्षोभ होता हो, पाप करने को उत्तेजना मिलती हो, निराशा उत्पन्न होती हो, भय, श्रम या लोभ बढ़ता हो ऐसा वचन वे नहीं बोलते। किसी को ऐसी सलाह वे नहीं देते जिससे उसे तुरन्त तो कुछ क्षणिक लाभ हो जाय पर अन्त में दुःख उठाना पड़े। सुधी लोग अपनी वाणी पर संयम रखते हैं। बेकार कतरनी सी जीभ चलाकर निष्प्रयोजन वकवास नहीं करते, भावना में जैसी शक्ति है वैसी ही शक्ति शब्द में भी है। इसलिए वे सोच समझ कर मुँह खोलते हैं। निन्दा, चुगली से दूर रहते हैं, उनकी वाणी में प्रेम, प्रोत्साहन, विनय, नम्रता, मधुरता, सरलता, सच्चाई एवं हित कामना भरी रहती है।

जीवन के तेरह रूप

मानव जीवन की विभिन्नता प्रसिद्ध है आपको जिस प्रकार का जीवन पसन्द है दूसरा उसी को निम्न दृष्टि से देखता है, तीसरा उसी का मजाक उड़ाता है, चौथा उसी से प्रभावित होता है।

यहाँ हम तेरह प्रकार के जीवन का अध्ययन प्रस्तुत कर रहे हैं। पाठक स्वयं ही देखें कि वे कौन सी श्रेणी में आते हैं? किस प्रकार के जीवन को कितने अंशों में पसन्द करते हैं?

प्रथम रूप :-

इस दृष्टिकोण के अनुसार व्यक्ति सामाजिक जीवन तथा अपने इर्द-गिर्द के वातावरण में सक्रियता से भाग लेता

है। अपने समुदाय तथा जाति के कार्यों में दिलचस्पी लेता है। उसके वातावरण को परिवर्तित तो करना नहीं चाहता वरन् उसे समझना, पसन्द करना और मानव समुदाय ने जो सर्वोत्तम किया है उस तक पहुँचना चाहता है। अनियंत्रित इच्छाओं का दमन तथा नियंत्रण को पसन्द करता है। जीवन की सभी अभिनन्दनीय वस्तुओं का सुख क्रमानुसार प्राप्त करना चाहता है। वह जीवन में स्पष्टता, सन्तुलन, परिष्कार और संयम की आकांक्षा रखता है। बेहूदगी, अत्यधिक जोश, थोथी शान, अविवेकी व्यवहार, अशान्ति, वासना पूर्ति या जिह्वा तृप्ति से दूर रहता है। सबके साथ मित्रता का व्यवहार रखता है किन्तु अनेक व्यक्तियों से गहरी दोस्ती स्थापित नहीं करता। जीवन में संयम, स्पष्ट उद्देश्य, उत्तम व्यवहार तथा निश्चित क्रम अनिवार्य है। सामाजिक जीवन में जो परिवर्तन आये, वे बड़ी सावधानी से धीरे-धीरे होने चाहिए जिससे मानव संस्कृति को बड़ा धक्का न लगे। व्यक्ति सामाजिक और शारीरिक दृष्टि से सक्रिय बना रहे। सक्रिय जीवन में अनुशासन और बुद्धि तत्व की प्रधानता रहे।

द्वितीय रूप :-

व्यक्ति को अपना मार्ग निर्धारित करना चाहिए। मानव समाज से अपना सम्बन्ध गुप्त रखना, अपने पर ही अधिक समय देना, अपने जीवन को संयमित करना चाहिए। व्यक्ति को आत्म तुष्ट, चिन्तन, मनन और आत्म ज्ञान में लिप्त रहना चाहिए। ऐसा व्यक्ति सामाजिक झुण्डों से दूर, भौतिक वस्तुओं से विरक्त, अपने आपको संयमित करने में ही अधिक समय देता है। सोचता है- अपना बाहरी जीवन सरल बनाने का प्रयत्न करना चाहिए, और भौतिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं को घटाने का प्रयत्न करना चाहिए। शरीर के कार्य, आत्मा के विकास, परिष्कार और प्रतीति के लिए होने चाहिए। बाह्य जीवन अर्थात् बाहरी आडम्बरों तथा झंझटों में लिप्त जीवन से कुछ नहीं हो सकता। व्यक्तियों तथा वाह्य वस्तुओं पर अत्यधिक आश्रित रहना कम करना चाहिए। जीवन का मूल केन्द्र आन्तरिक जीवन में ही प्राप्त हो सकता है।

तृतीय रूप :-

सोचता है- सहानुभूति पूर्ण व्यवहार तथा दूसरों में दिलचस्पी ही जीवन का मूल अभिप्राय होना चाहिए। जीवन के प्रेम, वह प्रेम जो दूसरों पर दबाव या अनुचित रीति से अपने स्वार्थ के लिए उनकी सेवाओं का उपयोग करना नहीं सिखलाता। यह प्रेम स्वार्थ सिद्धि से मुक्त है। बहुत ही वस्तुओं पर अधिकार, कामोत्तेजक सुखों तथा वस्तुओं व मनुष्यों पर शासन करने की आदत छोड़नी चाहिए। क्योंकि इससे दूसरों के साथ पूर्ण प्रेम, विस्तृत सार्वभौमिक प्रेम की सिद्धि नहीं हो सकती। और बिना इस प्रेम प्रतीति के जीवन नीरस बालू के समान है। यदि हम हिंसक हैं, या हिंसा जन्य मानवीय दुर्बलताओं के शिकार हैं तो हम इस सहानुभूति के हृदय-द्वार बन्द कर रहे हैं। अत: हमें अपनी संकुचितता त्याग कर दूसरों के लिए प्रेम, आदर, प्रशंसापूर्ण सहायता से परिपूर्ण व्यवहार करना चाहिए।

चौथे प्रकार का जीवन :-

जीवन आनन्द के, मजेदारी के लिए दिया गया है। इन्द्रियों के सुख लूटने चाहिए, आमोद प्रमोद का आनन्द उठाना चाहिए। जीवन का अभिप्राय संसार या जीवन के क्रम को रोकना नहीं। प्रत्युत जीवन को सब प्रकार के आनन्दों के लिए उन्मुक्त करना है। जीवन एक आनन्दोत्सव है, नैतिकता तथा नियंत्रण का स्कूल या धर्मालय नहीं। जैसे जीवन प्रवाह बहता है वैसे ही उसे चलने देना, वस्तुऐं या व्यक्ति जैसा चलना चाहते हैं उन्हें वैसा ही विकसित होने देना, शिव तत्व या शुभ कार्य करने से अधिक महत्वपूर्ण है। इस प्रकार के ऐंद्रिक आनन्द के लिये दूसरों पर निर्भर नहीं रहना चाहिए।

पाँचवें प्रकार का जीवन :-

मनुष्य को केवल अपने आप ही में डूबे नहीं रहना चाहिए। न दूसरों से बचना, दूर रहना या अपने ऊपर ही केन्द्रित रहना चाहिए। इसके विपरीत उसे अपने समाज में विलीन कर देना चाहिए। अपने साथियों का सहयोग प्राप्त करना चाहिए। मित्रता द्वारा सामान्य तथा सार्वभौमिक हितों की प्राप्ति में प्रयत्नशील होना चाहिए। व्यक्ति को सामाजिक होना चाहिए और क्रियाशील जीवन व्यतीत करना चाहिए। आलस्य में नहीं, जीवन को शक्ति के वेग में लय करना चाहिए और सामूहिक आनन्द लाभ करना चाहिए। चिन्तन, संयम, आत्म नियंत्रण, इत्यादि मनुष्य को सीमित बनाकर जीवन का आनन्द ही नष्ट कर डालते हैं। हमें बड़े शान से जीवन के सभी वाह्य और एन्द्रिक सुखों का उपभोग करते हुए दूसरों की सहायता तथा उनके सुख में सुखी होते हुए जीवन व्यतीत करना चाहिए। मानव जीवन अधिक गम्भीर चीज नहीं है।

जीवन का छटा रूप :-

जीवन की गति धीरे-धीरे स्थिरता और रुकावट की ओर है, आराम तलब बनकर जीवन में जंग लग जाता है,

इस निश्चेष्टता तथा स्थिरता के विरुद्ध हमें निरन्तर उद्योग करना चाहिए और निरन्तर कुछ न कुछ करना, शारीरिक श्रम, समस्याओं का 'यथार्थवादी' स्पष्टीकरण समाज तथा विश्व को नियन्त्रित करने के लिए क्रियात्मक योजनाऐं बनाते रहना चाहिए। मनुष्य का भविष्य मूल रूप से इस बात पर निर्भर रहता है कि वह क्या करता है ? कैसे करता है ? कितना प्रयत्न और उद्योग करता है ? न कि वह क्या सोचता है। सोचने से करना अधिक महत्वपूर्ण है। यदि विकास की आकांक्षा है तो परिष्कृत कार्य होने आवश्यक हैं। हम केवल प्राचीन काल के स्वरूप मात्र नहीं देख सकते न भविष्य के विषय में रंगीन कल्पनायें ही निर्मित कर सकते हैं । हमें तो दृढ़ता और नियमितता से कार्य करना है।

जीवन का सातवाँ रूप :-

भिन्न-भिन्न काल और समयों में जीवन के क्रम, उद्देश्य एवं नीति को परिस्थिति एवं काल के अनुसार परिवर्तित करना है, किसी एक को पकड़ कर नहीं चलना है। कभी एक उद्देश्य तो कभी दूसरी नीति काम करती है। जीवन में आनन्द चिन्तन एवं कार्य सभी आवश्यक तत्व हैं। जब इनमें से कुछ भी कम या अधिक हो जाता है तो हम कुछ न कुछ महत्व पूर्ण चीज खो देते हैं अतः हमें परिस्थिति के अनुसार मुड़ना या लचक जाना सीख जाना चाहिए, और साथ ही साथ आनन्द और कार्य में से कुछ समय पृथक चिन्तन के लिए भी निकालना चाहिए। जीवन का अधिकतम लाभ कार्य, चिन्तन, आनन्द के क्रियाशील सामंजस्य में निहित है, अतः इन सभी का उचित उपयोग जीवन में होना चाहिए।

आठवीं प्रकार का जीवन :-

आनन्द ही जीवन का मूल तत्व होना चाहिए। तीव्र और उद्वेगजन्य आनन्द नहीं, सरल और सहज रूप में प्राप्त हो जाने वाला आनन्द ही सर्वोत्कृष्ट है। इन आनन्दों में सीधा-सादा सात्विक-आहार, आराम देने वाली परि-स्थितियाँ, इष्ट मित्रों की सुखद वार्ता, विश्राम, और मानसिक तनाव को कम करना है। प्रेम और सौहार्द से युक्त घर सम्माननीय सामाजिक स्थिति पौष्टिक भोजन से भरी हुई रसोई, ये घर को रहने योग्य बनाती हैं। शरीर विश्राम ले सके, मानसिक तन्तु तने न रहें, मस्तिष्क से धीरे-धीरे काम लिया जाता रहे, अनावश्यक तेजी, चिन्ता, जल्दबाजी न रहे। सायंकाल दिन भर के कठिन परिश्रम के पश्चात् विश्राम कर सकें, संसार को कृतज्ञता से आशीर्वाद दे सकें। यही जीवन सार है। आगे ढकेलने वाली महत्वाकांक्षा और योगियों जैसा कठोर संयम अतृप्त व्यक्तियों का प्रतीक है। इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों में सरल निर्द्वन्द और निश्चिन्त आनन्द के प्रवाह में तैरने की शक्ति नहीं होती।

नवीं प्रकार का जीवन :-

हमें अपने आप को शिक्षण के लिए खुला रखना चाहिए। यदि हम मन को संकीर्ण न बनावें और प्रत्येक प्रकार की शिक्षा तथा सद्ज्ञान को ग्रहण करने के लिए तैयार रहें, तो हमारा जीवन स्वयं उत्तम प्रकार के रूप में आ जायगा। जीवन में उत्तमोत्तम वस्तुऐं स्वयं उत्पन्न होने लगती हैं, क्योंकि हमारे जीवन का आदि श्रोत परमेश्वर है। आनन्द हमें शारीरिक इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य पाँचों प्रकार के आनन्दों से मिलने वाला नहीं है। सामाजिक जीवन की गूढ़ गुत्थियों में जकड़े रहने से सर्वोत्कृष्ट लाभ नहीं मिल सकता। न इसे दूसरे को दिया जा सकता है इन्हें गूढ़ चिन्तन द्वारा भी नहीं प्राप्त किया जा सकता। ये तो भली प्रकार का जीवन व्यतीत करते रहने से स्वयं आते हैं। हमारा जीवन धीमी गति से उन गुणों को प्रकट कर रहा है जो आत्मा में विद्यमान हैं। जब हमारा शरीर आवश्यकताओं और फरमाइशों को बन्द कर दे और शान्त होकर सद्ज्ञान ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हो जाय तो वह उच्च मत दैवी नियमों के द्वारा परिचालित होने के लिए तैयार हो जाता है। इन दैवी विभूतियों से परिचालित होकर उसे वास्तविक आनन्द और शान्ति मिलती है। दैवीय संदेश को ग्रहण करने के लिए प्रकृति के आंगन में शान्त बैठना और अन्तरात्मा के अनुसार जीवन पथ निर्धारित करना मूल चीज है। तब बाहर से मन के अन्दर ज्ञान का पूर्ण प्रकाश होता है।

जीवन का दसवाँ स्वरूप :-

आत्म-संयम मानव जीवन का मूल होना चाहिए। वह सरल आत्म संयम नहीं जिसके कारण मनुष्य संसार से विरक्त होकर दूर चला जाता है, प्रत्युत सदैव सचेत, दृढ़, पुरुषोचित आत्म संयम जो जीवन में रहता है और मानव जीवन की कमजोरियों को समझता है। उत्तम जीवन का निर्देशन समझदारी से होता है और उच्च आदर्शों पर मजबूती से दृढ़ रहता है। आनन्द और इच्छा मात्र से वे आदर्श नहीं झुकते। वे सामाजिक प्रतिष्ठा के भूखे नहीं होते, अन्तिम पूर्ण सफलता में भी उनका पूर्ण विश्वास नहीं होता, अधिक लाभ की आकांक्षा नहीं की जा सकती।

सावधानी से चलने पर मनुष्य व्यक्तित्व पर अंकुश रख सकता है, कार्यों पर नियन्त्रण रख सकता है, और स्वतन्त्र अस्तित्व स्थिर रख सकता है । यही जीवन का मर्म है । यद्यपि इस मार्ग पर चलने से मनुष्य नष्ट हो जाता है, तथापि इसमें उसका पुरुषोचित गौरव कायम रह सकता है ।

जीवन का ग्यारहवाँ स्वरूप :-

चिन्तन प्रधान जीवन उत्तम जीवन है। बाह्य सामाजिक जीवन मनुष्य के लिए उपयुक्त नहीं है। यह अत्यन्त विस्तृत है, नीरस और स्वार्थमय है। आन्तरिक जीवन की महानता ही जीवन को जीने योग्य बनाती है। आदर्शों का आन्तरिक जीवन, कोमल भावनाओं, भावी उन्नति के सुखद स्वप्न, आत्म जिज्ञासा की तृप्ति मनुष्य की वास्तविक सम्पत्ति है। आन्तरिक विकास के द्वारा ही मनुष्य मानवीय विभूतियों से परिपूर्ण होता है। आन्तरिक गम्भीर चिन्तन प्रधान जीवन से ही मनुष्य को स्थायी आनन्द की उपलब्धि होती है ।

जीवन का बारहवाँ स्वरूप :-

शरीर की शक्ति का अधिकतम उपयोग जीवन का पुरस्कार है । हाथों को कुछ ऐसी चीज की आवश्यकता है जिससे वे कुछ निर्माण कर सकें। लकड़ी और ईंट मकान के लिए, काटने के लिए सफल आरी, सांचे में ढालने के लिए मिट्टी, करने के लिये कुछ काम । उसके पुट्ठे और मांसपेशियाँ, विभिन्न अवयव कुछ न कुछ करने के लिए आतुर रहते हैं। जीवन का उत्साह, मार्ग की अड़चनों को विजय करने में, विजयी जीवन व्यतीत करने में, राज्य करने में है । क्रियात्मक स्फूर्ति दायक, चलने फिरने से युक्त जीवन, जो जल की भांति सदैव चलता-फिरता-हिलता-डुलता रहे, अग्रगामी, सचेष्ट हो वही वास्तविक जीवन का स्वरूप है ।

जीवन का तेरहवाँ स्वरूप :-

हमें अपने आप को दूसरे के द्वारा काम में लाये जाने देना चाहिए। दूसरे व्यक्ति अपने विकास के लिए हमें काम में लें और हम चुपचाप बिना किसी दिखावे के उनकी सहायता करते रहें, उन्हें कुछ देकर उन्नत होने में सहायक हों, जिससे वे वह कार्य पूर्ण कर सकें, जिसके लिये उनका निर्माण हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति में ईश्वर का अंश विद्यमान है और उन पर विश्वास किया जा सकता है। हमें विनम्र, निरन्तर उद्योगशील, सत्यनिष्ठ होना चाहिए। जो प्रेम करे उसके प्रति कृतज्ञ, जो सहायता करे उनके लिए सहायक सिद्ध होना चाहिए, किन्तु किसी प्रकार की माँग पेश करना अनुचित है । जनता के समीप आइये । प्रकृति के समीप आइये और क्योंकि आप समीप हैं, आप प्रत्येक भांति सुरक्षित भी हैं । एक ऐसा गम्भीर, शान्त, विशाल पात्र बनिये जिसके द्वारा सबकी इच्छा तृप्त होती रहे ।

अपने जीवन को दिव्य बनाइये

संसार में आकर यह चेष्टा करना कि सब लोग एकसा ही जीवन-जैसे किसी सबसे बड़े विद्वान या ऋषि मुनि ने सर्वश्रेष्ठ बतलाया है, व्यतीत कर सकें, एक निरर्थक सी बात है। ऊपर जीवन के जो तेरह रूप बतलाये हैं, वे महत्व की दृष्टि से भले ही न्यूनाधिक हों, पर समाज में सभी तरह के व्यक्तियों के लिये स्थान होता है। न सबके भोगी बन जाने से काम चल सकता है, न त्यागी बन जाने से। पर मनुष्य किसी भी लौकिक प्रवृत्ति को ग्रहण करे, उसे आत्मोन्नति का ध्यान अवश्य करना चाहिए । जो लोग जीवन का उद्देश्य केवल खाना, पीना, सांस लेना ही समझ लेते हैं, वे भूल करते हैं ।

जीवन दो प्रकार का होता है, एक तो भौतिक, दूसरा आध्यात्मिक । वैज्ञानिकों का कथन है कि विचारना, जानना, इच्छा करना, भोजन करना, सांस लेना इत्यादि जो कार्य है वही जीवन है। परन्तु यह जीवन अमर नहीं होता। ऐसा जीवन दुःख, सुख, चिन्ता, आपत्ति, विपत्ति, पाप, बुढ़ापा रोग इत्यादि का आखेट बना रहता है। अतएव प्राचीन महर्षियों, योगियों और तपस्वियों ने अपने चित्त और इन्द्रियों को अपने वश में करके त्याग और तप, वैराग्य और अभ्यास आदि के बल से आत्म निरीक्षण किया है । निश्चय पूर्वक कहा है कि जो आत्मा में रत है केवल मात्र वही स्थायी और असीम आनन्द एवं अमरत्व प्राप्त कर सकता है। उन्होंने मनुष्य के भिन्न-भिन्न स्वभाव योग्यता और रुचि के अनुसार आत्म साक्षात्कार के लिए विभिन्न निश्चित मार्ग बतलाये हैं। जिन लोगों को ऐसे महात्माओं में, वेदों में, और गुरु के वचनों में अटूट श्रद्धा है वे आध्यात्मिक और सत्य के मार्ग पर निर्भीक विचरते हैं और स्वतन्त्रता पूर्णता या मोक्ष प्राप्त करते हैं। वे लौट कर फिर मर्त्यलोक में नहीं आते। वे सच्चिदानन्द ब्रह्म में या अपने ही स्वरूप में स्थिर रहते हैं । यही मानव-जीवन का ध्येय एवं उद्देश्य है, यही अन्तिम लक्ष्य है, जिसके अनेक नाम यथा-निर्वाण, परमगति, परमधाम और ब्राह्मी स्थिति है । आत्म साक्षात्कार के लिए प्रयत्न करना मनुष्य का परम कर्तव्य है ।

परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि हम भौतिक जीवन की उपेक्षा करें, भौतिक जगत भी परमेश्वर या ब्रह्म का ही

स्वरूप है जिसको कि उसने अपनी लीला के लिये बनाया है। अग्नि और उष्णता, बर्फ और शीत, पुष्प और सुगन्धि की भांति जड़ और चेतन अभिन्न हैं। शक्ति और शक्त एक ही हैं। ब्रह्म और माया अभिन्न और एक हैं। ब्रह्म-मय और शाश्वत जीवन प्राप्त करने के लिए भौतिक जीवन एक निश्चित साधन है। संसार आपका एक सर्वश्रेष्ठ शिक्षक है, पञ्च-तत्व आपके गुरु हैं। प्रकृति आपकी माता है और पथ प्रदर्शिका है, यही आपकी मूक शिक्षिका है। यह संसार दया, क्षमा, सहिष्णुता, विश्वप्रेम, उदारता, साहस, धैर्य, महत्वाकांक्षा इत्यादि दिव्य गुणों के विकास के लिए एक सर्वश्रेष्ठ शिक्षालय है। यह संसार आसुरी स्वभाव से युद्ध करने के लिए एक अखाड़ा है और अपने भीतर की दैवी शक्ति को प्रकाश में लाने के लिए एक दिव्य क्षेत्र है। गीता और योग वशिष्ठ की मुख्य शिक्षा यही है कि मनुष्य को संसार में रहते हुए आत्म साक्षात्कार करना चाहिए। जल में कमल पात्र की नाई संसार में रहते हुए भी उसके बाहर रहिए स्वार्थ, काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष आदि नीच आसुरी स्वभाव को त्याग कर मानसिक त्याग और आत्म बलिदान का दिव्य स्वभाव धारण करिये।

क्या जीवन में खाने पीने और सोने से अधिक उत्तम और कोई कार्य (उद्देश्य) है ही नहीं? मानव योनि प्राप्त करना दुष्कर है, अतएव इसी जीवन में आत्मा को प्राप्त करने की भरपूर चेष्टा करिये। राजा-महाराजाओं को भी काल कवलित कर लेता है। आज युधिष्ठिर, अशोक, बाल्मीकि, शेक्सपियर, नेपोलियन आदि कहाँ हैं? इसलिये आत्मिक साधना में लग जाइए, तभी आप परमानन्द की प्राप्ति कर सकेंगे। ताश, सिनेमा और धूम्रपान में व्यर्थ समय बिताने से क्या आपको असली शान्ति मिल सकती है? इस सांसारिक जीवन में इन्द्रिय लोलुपता और विषय-वासना के क्षणिक सुख में भटकते रहने से क्या आपको सच्चे सुख का अनुभव हो सकता है? आपके झगड़े में या व्यर्थ के बकवास में क्या आपको सच्चा आनन्द मिल सकता है?

अपने आदर्श और लक्ष्य तक पहुँचने के लिये संग्राम करते रहना ही जिन्दगी है। इस संग्राम में विजय प्राप्त करना ही जीवन है। अनेक प्रकार की जाग्रतियों को ही जीवन कहते हैं। मन और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करिये। ये ही आपके असली शत्रु हैं। अपनी वाह्य और आन्तरिक प्रकृति पर विजय प्राप्त करिये। अपनी पुरानी बुरी आदतों तथा कुविचारों को, कुसंस्कारों और कुवासनाओं को अवश्य जीतना होगा इन पैशाचिक शक्तियों से युद्ध करना होगा और विजय प्राप्त करनी होगी। अध:पतन की ओर ले जाने वाली वासनाओं पर पूर्ण नियन्त्रण रखना होगा।

आपका जन्म ही आत्म साक्षात्कार करने के लिये हुआ है। नियमित रूप से भजन करिये और आत्मिक सुख का अनुभव करिये। निष्काम कर्म के द्वारा अपने मन और बुद्धि को शुद्ध करिये। इन्द्रिय-निग्रह से अपने ही स्वरूप में स्थिर होइये। जीवन-संग्राम में जब आप पर प्रतिदिन चोटें पड़ती हैं, जब आप धक्के खाते हैं, तभी मन आध्यात्मिक पथ की ओर झुकता है और तब सांसारिक विषयों से अन्यमनस्कता उत्पन्न होती है, अरुचि होती है और इस प्रपंच से उद्धार पाने की उत्कण्ठा जाग्रत होती है, विवेक और वैराग्य होता है।

आध्यात्मिक जीवन निरा काल्पनिक नहीं है, केवल आवेश मात्र नहीं है। यही सच्चा आत्म स्वरूप जीवन है, यह विशुद्ध आनन्द और सुख का अनुपम अनुभव है। इसी को पूर्णता प्राप्त जीवन कहते हैं। एक स्थिति ऐसी होती है जहां सदा शाश्वत शान्ति और केवल अनन्त आनन्द ही आनन्द है, परमानन्द है। वहां न तो मृत्यु है और न वासना ही, वहां न दु:ख है न दर्द, न भ्रम है न शंका।

इस शरीर को ही आत्मा समझ लेना बड़ा पाप है, इस भ्रमात्मक भाव को त्याग दीजिये। सांसारिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए उपाय करना, तरकीबों को सोचना, विचारना, झूठे मनसूबे बांधना, ख्याली पुलाव छोड़िये, चिर पालित मायाविनी आशाओं को तिलांजली दीजिये, वासनाओं और इच्छाओं का दमन कर ऊपर उठिये बुद्धि से काम लीजिए। उपनिषदों का मनन पूर्वक अध्ययन करिये। नियमित निदिध्यासन करिए, अविद्या और अज्ञान के गहन अंधकूप से बाहर निकलिए और ज्ञान रूपी सूर्य की जगमगाती ज्योति में स्नान करिए। इस ज्ञान में दूसरों को भी साथी बनाइये। अपवित्र इच्छायें और अविद्या आपको बहका लेती हैं। अत: इसे भी कभी न भूलिए कि मानव-जीवन का मुख्य उद्देश्य और अन्तिम लक्ष्य आत्म साक्षात्कार करना ही है। झूठे बाह्य आडम्बरों और माया के मिथ्या प्रपंचों में मत फँसिये। कल्पना के मिथ्या स्वप्नों से जागिये और थोथे, सारहीन प्रलोभनों के जाल में न फँसकर ठोस और जीती जागती असलियत को ही पढ़िये अपनी आत्मा से प्रेम करिये, क्योंकि आत्मा ही परमात्मा या ब्रह्म है। यही सजीव मूर्तिमान सत्य है।

कर्मयोग का अभ्यास जिज्ञासु के मन को आत्म ज्ञान ग्रहण करने योग्य बनाता है और उसे वेदान्त के अध्ययन

का योग्य अधिकारी बना देता है । कर्मयोग की प्रारम्भिक शिक्षा प्रारम्भ करने से पूर्व ही मूढ़ मानव ज्ञानयोग अभ्यास में असमय ही कूद पड़ते हैं । यही कारण है कि ऐसे लोग सत्य की प्राप्ति में बुरी तरह फेल होते हैं । उनका मन अपवित्र रह जाता है तथा अनुकूल और प्रतिकूल भावनाओं से भरा रहता है । वे ब्रह्म की कोरी बात ही बात करते हैं तथा व्यर्थ वकवाद, शुष्क वाद विवाद और तत्वहीन तर्क वितर्क में फँसे रहते हैं । उनका दार्शनिक ज्ञान उनकी जिह्वा तक ही सीमित रहता है या यों कहिए कि वे लोग केवल मौखिक वेदान्ती हैं । आवश्यकता तो ऐसे वेदान्त की है जिसके द्वारा सबमें आत्म भाव रखते हुए देव और मानव समाज की अनवरत निःस्वार्थ सेवा क्रियात्मक रूप से हो सके ।

अपने हृदय में प्रेम की ज्योति जगाइए, सबको प्यार करिये, अपनी प्रगाढ़ प्रेम की बाहुओं से प्राणिमात्र को आलिंगन करिए । प्रेम एक ऐसा रहस्यमय सूत्र है जो सबके हृदयौ को "वसुधैव कुटुम्बकम्" समझ कर एक में बांध लेता है । प्रेम ऐसी पीड़ा नाशक स्वर्गीय महा ओषधि है जिसमें जादू की सी सामर्थ्य है । अपने प्रत्येक काम को विशुद्ध प्रेम मय बनाइए । लोभ, धूर्तता, छल, कपट और स्वार्थपरता का हनन कीजिये । अनवरत दयालुता के कार्यों से ही लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है । प्रेम में सने हुए हृदय से सतत् सेवा करने से क्रोध, द्रोह, ईर्ष्या आदि दूर होते हैं । दयालुता से भरे हुए कार्य करने से आपको अधिक बल, अधिक आनन्द, और अधिक सन्तोष की प्राप्ति होगी, सब आपसे प्रेम करेंगे । दया, दान और सेवा से हृदय पवित्र और कोमल हो जाता है और साधक का जीवन प्रस्फुटित और ऊर्ध्वमुखी होकर ईश्वरीय प्रकाश को ग्रहण करने के योग्य बन जाता है ।

सिद्धान्तों पर आचरण करना आवश्यक है

संसार में आचरण की महिमा सबसे अधिक है । जिस मनुष्य के कहने और करने में अन्तर रहता है उसकी बात का प्रभाव न तो दूसरों पर पड़ता है और न वह स्वयं कोई स्थाई सफलता प्राप्त कर सकता है । जीवन में यह जानना सबसे आवश्यक बात है कि सबसे प्रमुख क्या है तथा सर्वप्रथम क्या किया जाना चाहिए । मध्य से किसी कार्य को प्रारम्भ करना असफलता का सूचक है। वह व्यापारी जो अपना व्यापार छोटी मात्रा से प्रारम्भ करता है और क्रमशः उसे बढ़ाता है, अन्त में समृद्धि प्राप्त करता है । तत्व ज्ञानियों को भी यही अध्ययन प्रायः जीवन की साधारण घटनाओं और गुत्थियों से होता है । उन्नति की परम चोटी पर एक बारगी उछाल द्वारा नहीं चढ़ा जा सकता, उस पर पहुँचने के लिए कर्म और साधना की सीढ़ी आवश्यक है।

जब हम मानव जीवन के मूल सिद्धान्तों पर दृष्टिपात करते हैं तो 'कर्तव्य' इसमें सर्वप्रथम आता है । कर्तव्य की सबसे स्पष्ट व्याख्या है, अपने कार्य में तल्लीनता और दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप न करने की भावना । वह व्यक्ति जो सदैव दूसरों को मार्ग बताने का दावा करता है, स्वयं अपने ही मार्ग को नहीं जानता । भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के कर्तव्य भिन्न-भिन्न होते हैं और दूसरे के कर्तव्य की अपेक्षा अपने कर्तव्य का ज्ञान अधिक होना चाहिए । आवश्यकता और स्थिति के अनुसार हम कर्तव्य की मीमांसा में थोड़ा बहुत परिवर्तन कर सकते हैं ।

ईमानदारी जीवन का दूसरा सिद्धान्त है, 'वही करो जो कहो', इसका मूल मन्त्र है। इसका कार्य जीवन को अनेकानेक चालाकियों और चालबाजियों और छल कपटों से दूर करना है । ईमानदारी से मनुष्य के प्रति विश्वास उत्पन्न होता है और यह विश्वास ही सम्पूर्ण सुख और समृद्धि का जनक है ।

मितव्ययता जीवन का दूसरा सिद्धान्त है । धन के उचित उपयोग को ही मितव्ययता कहते हैं । ज्यों-ज्यों धन बढ़ता जाता है मितव्ययता की आवश्यकता पड़ती जाती है । अपनी आय की सीमा में ही अपनी आवश्यकताओं को सीमित रखो, यही इसकी सर्वप्रथम सीख है। धन के अतिरिक्त यह हमें मानसिक और शारीरिक दुरुपयोग से भी रोकती है । हमारी आय और शक्तियाँ सीमित हैं । उनका अपव्यय शीघ्र ही हमें उनसे वंचित कर देगा । इसलिए उनका उपयोग क्रमशः एवं आवश्यकता के अनुसार किया जाना चाहिए ।

उदारता अप्रत्यक्ष रूप से मितव्ययता से सम्बन्धित है। जो मितव्ययी न होगा वह उदार भी नहीं हो सकता । जो अपनी सम्पूर्ण शक्तियों का अपव्यय स्वयं ही कर लेगा, उसके पास इतनी शक्ति ही कहाँ रहेगी कि वह दूसरों पर उसका उपयोग करे । धन की सहायता तो उदारता की सबसे साधारण व्यवस्था है । विचारों, भावनाओं, सद्कामनाओं द्वारा प्रदत्त सहायता उदारता की सीमा में आती है । उदारता का प्रभाव व्यापक और बहुत काल तक रहने वाला होता है । उदारता अपने बदले में किसी से किसी प्रकार की कामना नहीं करती । प्रतिफल की इच्छा रखने वाली उदारता सिद्धान्त न होकर व्यापार मात्र रह जाती है।

आत्म संयम जीवन का पाँचवां और अन्तिम सिद्धान्त है। वह व्यवसायी अथवा अन्य कोई व्यक्ति जो शीघ्र नाराज हो जाता है और असंयत भाषा और भाव प्रदर्शित करने लगता है, जीवन में कभी सफल नहीं हो सकता। अपने मन की दुर्बलताओं का अधिकार करना, समय और परिस्थिति के अनुकूल विवेक द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलना ही आत्म संयम है। ऐसा व्यक्ति सदैव कर्तव्यनिष्ठ चरित्रवान और मानव सुलभ सम्पूर्ण गुणों से सुशोभित होगा। आत्म संयमी व्यक्ति के लिए संसार में न तो कोई कार्य कठिन है और न उसके पथ पर कोई बाधा ही है।

उपयुक्त पाँच सिद्धान्त सफलता के पाँच मार्ग हैं, जीवन के पथ पर प्रकाश की पाँच किरणें हैं। सम्भव है कि प्रारम्भ में इनका व्यवहारिक निरूपण कठिन हो, किन्तु अभ्यास हमें इन सिद्धान्तों से अभिन्न रूप से जोड़ देगा। यदि हम इनकी उपयोगिता और महत्व को अच्छी तरह समझ लें, तो हमें इन्हें अपनाने में तनिक भी कठिनाई न होगी।

यदि हम संसार के महानुभावों के जीवन का भली भांति विश्लेषण करें तो हमें ज्ञात होगा कि उनमें से प्रत्येक के ही जीवन में यह पाँचों सिद्धान्त किसी न किसी रूप में भली भांति विद्यमान हैं। इसमें मानो किसी भी महापुरुष के व्यक्तित्व का निचोड़ आ जाता है।

महाप्रभु कोटिल्य ने ठीक ही कहा है "तू सूर्य और चन्द्र को अपने पास नहीं उतार सका, इसका कारण उनकी दूरी नहीं, तेरी दूरी की भावना है। तू संसार को बदल नहीं पाया इसका कारण संसार की अपरिवर्तनशीलता नहीं, तेरे प्रयासों की शिथिलता है। जब तू यह कहता है कि मैं अपने में परिवर्तन नहीं कर सकता तो इसे स्थिति और विधाता कहकर न टालो, वरन साफ-साफ अपनी कायरता और अकर्मण्यता कहो क्योंकि इच्छा की प्रबलता ही कार्य की सिद्धि है।"

मृत्यु का भय त्याग दीजिए

जो व्यक्ति जीवन के सच्चे सिद्धान्तों को समझ कर तदनुसार आचरण करता है और प्रपंचों से बचकर कर्तव्य पालन में दत्तचित्त रहता है, वह संसार में किसी बात से भयभीत नहीं होता। मृत्यु भी उसे डरा नहीं सकती। बल्कि ऐसे सत्यमार्ग पर चलने वाले के लिये तो वह एक समुचित विश्राम की तरह ही जान पड़ती है।

मरने से डरने का कारण हमारा अज्ञान है। परमात्मा के इस सुन्दर उपवन में एक से एक मनोरम वस्तु है। यहाँ यात्रियों के मनोरंजन की सुव्यवस्था है, पर वह यात्री जो इन दर्शनीय वस्तुओं को अपनी मान बैठता है, उन पर स्वामित्व प्रगट करता है, उन्हें छोड़ना नहीं चाहता, अपनी मूर्खता के कारण दुःख का ही अधिकारी होगा। इस संसार का हर पदार्थ, हर परमाणु तेजी के साथ बदल रहा है। इस गतिशीलता का नाम ही जीवन है। यदि हमें आगे चलते रहना है तो निश्चय ही उत्पादन, विकास और विनाश का क्रम टूट जाय तो यह संसार एक निर्जीव जड़ पदार्थ बन कर रह जायगा। यदि इसे आगे चलते रहना है तो निश्चय ही उत्पादन, परिवर्तन और नाश का क्रम अनिवार्यतः जारी रहेगा। शरीर चाहे हमारा अपना हो अपने प्रियजन का हो, उदासीन का हो, या शत्रु का हो निश्चय ही मृत्यु को प्राप्त होगा। जब जिस समय हम चाहें तभी वे शरीर नष्ट हों ऐसा नहीं हो सकता। प्रकृति के परिवर्तन, कर्म-बन्धन, ईश्वरीय इच्छा-ये प्रधान हैं, इनके आगे हमारी इच्छा चल नहीं सकती। जिसे जब मरना है वह तब मर ही जायगा, हम उसे रोक नहीं सकते। इस जीवन मृत्यु के अटल नियम को जानने के कारण ही मृत्यु जैसी साधारण घटना के लिये हम रोते चिल्लाते, छाती कूटते भयभीत होते और दुःख मनाते हैं।

जिसे जीवन का वास्तविक स्वरूप मालूम हो गया है, उसे न अपनी मृत्यु में कोई दुःख की बात प्रतीत होती है और न दूसरों की मृत्यु का कष्ट होता है। किसी विशाल नगर के प्रमुख चौराहे पर खड़ा हुआ व्यक्ति देखता है कि प्रतिक्षण असंख्यों व्यक्ति अपने कार्यक्रम के अनुसार इधर से उधर आते जाते हैं। वह स्वयं भी कहीं से आया है और कहीं जा रहा है केवल कुछ क्षण के लिये चौराहे का कौतूहल देख रहा है। इस अपने या दूसरों के आवागमन पर यदि वह व्यक्ति दुःख माने, रुदन या विलाप करे तो उसे अविवेकी ही कहा जायगा। संसार के विशाल चौरस्ते पर ऐसे ही आवागमन की भीड़ लग रही है। एक की मृत्यु ही दूसरे का जन्म है, एक का जन्म दूसरे की मृत्यु है। एक का सुख दूसरे का दुःख है और दूसरे का दुःख एक का हर्ष। यह आंख मिचौली, भूल भुलैयाँ, विवेकवानों के लिए एक चित्ताकर्षक, विनोदमयी क्रीड़ा है, पर बाल बुद्धि के व्यक्ति इसमें उलझ जाते हैं और इस कौतूहल को कोई आपत्ति मानकर सिर धुनते, रोते चिल्लाते और पश्चात्ताप करते हैं।

मृत्यु के दुःख में शरीरों का नष्ट होना कारण नहीं वरन् जीवन के वास्तविक स्वरूप की जानकारी न होना ही

कारण है। ऐसे कितने वीर बलिदानी हुए हैं जो फांसी की कोठरी में रहते हुए दिन-दिन अधिक मोटे होते गये, बजन बढ़ता गया और फाँसी के फंदे को अपने हाथों गले से लगाया और खुशी के गीत गाते हुए मृत्यु के तख्ते पर झूल गये। कवि 'गंग' को जब मृत्यु दण्ड दिया गया और उन्हें पैरों तले कुचल डालने को खूनी हाथी छोड़ा गया तो वे प्रसन्नता से फूल उठे, उन्होंने कल्पना की कि देवताओं की सभा में किसी छन्द बनाने वाले की आवश्यकता हुई है इसलिये मुझ कवि गंग को लेने हाथी रूपी गणेश आये हैं। कितने ही महात्मा समाधि लेकर अपना शरीर त्याग देते हैं उन्हें मरने में कोई अनौखी बात दिखाई नहीं देती।

कई व्यक्ति सोचते हैं कि मरते समय भारी कष्ट होता है, इसलिये उस कष्ट की पीड़ा से डरते हैं। यह भी मृत्यु समय की वस्तु स्थिति की जानकारी न होने के कारण है। आमतौर से लोग मृत्यु से कुछ समय पूर्व बीमार रहते हैं। बीमारी में जीवनी शक्ति घटती जाती है और इन्द्रियों की चेतना शिथिल पड़ती जाती है, इस शिथिलता के साथ-साथ ज्ञान तन्तु संज्ञाशून्य होते जाते हैं, फलस्वरूप दुःख की अनुभूति भी पूरी तरह नहीं हो पाती। प्रसूता स्त्रियाँ या लंघन के रोगी गर्मी की ऋतु में, रात को भी अक्सर बन्द घरों में सोते हैं पर उन्हें गर्मी का वैसा कष्ट नहीं होता जैसे स्वस्थ मनुष्य को होता है। स्वस्थ मनुष्य रात को बंद कमरे में नहीं सो सकता पर रोगी सो जाता है। कारण यह है कि रोगी के ज्ञान तन्तु शिथिल हो जाने के कारण गर्मी अनुभव करने की शक्ति मंद पड़ जाती है, रोगियों को स्वाद का भी ठीक अनुभव नहीं होता, स्वादिष्ट चीजें भी कडुबी लगती हैं क्योंकि जिह्वा के ज्ञान तन्तु निर्बल पड़ जाते हैं। रोगजन्य निर्बलता धीरे-धीरे इतनी बढ़ जाती है कि मृत्यु से कुछ समय पूर्व मनुष्य संज्ञा शून्य हो जाता है और बिना किसी कष्ट के उसके प्राण निकल जाते हैं। जो कुछ कष्ट मिलना होता है रोग काल में ही मिल जाता है। डाक्टर लोग जब कोई बड़ा आपरेशन करते हैं तो रोगी को क्लोरोफार्म सुंघाकर बेहोश कर देते हैं ताकि उसे कष्ट न हो। दयालु परमात्मा भी आत्मा से शरीर को अलग करने का आपरेशन करते समय संज्ञा शून्यता का क्लोरोफार्म सुंघा देता है ताकि हमें मृत्यु का कष्ट न हो।

यह सभी जानते हैं कि कोई रोगी जब मरने को होता है तो मृत्यु से कुछ समय पूर्व उसकी बीमारी मंद हो जाती है। कष्ट घट जाता है। तब अनुभवी चिकित्सक समझ जाते हैं कि अब रोगी का अन्तिम समय आ गया। कारण यह है कि बीमारी के कारण रोगी की जीवनी शक्ति चुक जाती है और ज्ञान तन्तु रोग को प्रकट करने एवं कष्ट अनुभव करने में असमर्थ हो जाते हैं। यह मान्यता भ्रम पूर्ण है कि गर्भकाल में माता के उदर में, मृत्यु के समय प्राणी को अधिक कष्ट होता है। दोनों ही दिशाओं में मस्तिष्क अचेतन अवस्था में और ज्ञानतन्तु संज्ञाशून्य अवस्था में रहने के कारण प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। ऐसी दशा में मृत्यु के कष्ट से डरने का कोई कारण नहीं रह जाता।

अनावश्यक मोह ममता ही मृत्यु भय का प्रधान कारण है। हम कर्तव्य से प्रेम करने की अपेक्षा वस्तुओं से मोह करने लगते हैं। हमारा प्रेम कर्तव्य भावना में संलग्न न रहकर शरीर सम्पत्ति आदि में लग जाता है। प्रिय वस्तु के हाथ से जाने में कष्ट होता ही है, इसलिये मरने का भी दुःख होता है। यदि आरम्भ से ही यह मान कर चला जाय कि हमारे अधिकार या सम्बन्ध में जो भी शरीर या पदार्थ हैं वे प्रकृति के धर्म परिवर्तन के कारण किसी भी समय बन, बिगड़ या नष्ट हो सकते हैं तो उनसे अनावश्यक मोह ममता जोड़ने की भूल न हो। तब मनुष्य यह सोचेगा कि संसार में सबसे अधिक प्रिय, सबसे अधिक आत्मीय, सबसे अधिक लाभदायक अपना "कर्तव्य" है। उसी से पूरा-पूरा प्रेम किया जाय। इस प्रेम को जितना अधिक बढ़ाया जा सके बढ़ाया जाय, इस प्रेम से जहाँ रत्ती भर भी बिछोह हो वहां दुःख माना जाय तो यह प्रेम अनन्त सुख शान्ति देने वाला बन जायगा। जो कर्तव्य पालन को अपना लाभ समझेगा उसे हानि का दुःख न उठाना पड़ेगा। कारण यह है कि अपना प्रेमी "कर्तव्य" सदा अपने साथ है, उसे कोई भी शक्ति हमारी इच्छा के विपरीत हमसे नहीं छीन सकती। इसी प्रकार हमारे लाभ का केन्द्र बिन्दु हमारा "कर्तव्य" है तो उसमें घाटा पहुँचाने वाला हमारे अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता। हमारे प्रेम और लाभ जब पूर्णतया हमारे हाथ में हैं तब बिछोह या हानिजन्य दुःखों के सामने आने का कोई कारण नहीं रह जाता। दूसरों की मृत्यु-प्रेमियों और पदार्थों की मृत्यु का दुःख हमसे तभी दूर रह सकता है जब हम मिथ्या मोह ममता को छोड़कर कर्तव्य से प्रेम करना और उसी को अपनी सम्पत्ति समझने का विवेक हृदयंगम करलें।

अपनी मृत्यु में दुःख भी इस बात का होता है कि जीवन जैसे बहुमूल्य पदार्थ का सदुपयोग नहीं किया गया। आलस्यवश, जब देर में स्टेशन पहुंचने पर रेल निकल जाती है तो उस दिन नियत स्थान पर न पहुँच सकने के कारण जो भारी क्षति हुई उसका विचार कर करके यह आलसी मनुष्य स्टेशन पर खड़ा हुआ पछताता है और

अपने आप को कोसता है । मृत्यु के समय भी ऐसा पश्चाताप होता है जबकि मनुष्य देखता है कि मानव जीवन जैसी बहुमूल्य वस्तु को मैंने व्यर्थ की बातों में गँवा दिया उसका सदुपयोग नहीं किया, उससे जितना लाभ उठाना चाहिए था वह नहीं उठाया, यदि हम जीवन के क्षणों का सदुपयोग करें, उसकी एक-एक घड़ी को केवल आत्म लाभ के, सच्चे स्वार्थ के लिए लगावें तो चाहे आज-चाहे कल जब भी मृत्यु सामने आवेगी तो किसी प्रकार का पश्चाताप या दुःख न करना पड़ेगा ।

मृत्यु के समय दुःख या भय से मुक्ति

जिन लोगों का आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास है, पुनर्जन्म मानते हैं, वे यह समझते हैं कि मृत्यु भी आत्मा की एक अवस्था विशेष है । जिस प्रकार स्थूल शरीर को आत्मा धारण करती है और उस स्थूल शरीर को नित्य बदलती रहती है, कभी बचपन उसमें दिखाई देता है, कभी किशोर अवस्था, कभी जवानी दिखाई देती है तो कभी बुढ़ापा । शरीर के रहने पर जिस प्रकार अनेक-अनेक रूपान्तर होते हैं उसी प्रकार इस देह द्वारा संस्कारों का भोग प्राप्त होने पर इस देह को छोड़ कर दूसरे भोगोपयुक्त शरीर की रचना होती है। पहले शरीर को छोड़ना मृत्यु कहलाता है और शरीर को धारण करना जन्म । इसी प्रकार जन्म एवं मृत्यु का चक्कर चला करता है ।

पर ऐसे लोग भी इस दुनियाँ में हैं जो आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते और इसलिये पूर्वजन्म पर भी उनका विश्वास नहीं है । उनके लिये यही जन्म सब कुछ होता है । इसलिये इस जन्म के प्रति, इस शरीर के प्रति उनमें अधिक मोह-अधिक ममत्व रहता है और सत्ता नाश का डर तो बना ही रहता है । 'हम काहू के मारे न मरें' कहने वाले अनेक व्यक्तियों की कथायें पुराण इतिहास में मिल जाती हैं ।

जन्म और मृत्यु का सम्बन्ध संस्कारों के साथ है । संस्कार कर्म के द्वारा पड़ते हैं, कर्म दो तरह के होते हैं- एक मानसिक दूसरे शारीरिक । दोनों प्रकार के कर्मों का संस्कार आत्मा के ऊपर पड़ता है । संस्कारों का संग्राहक मन है । इसलिये विविध ग्रंथों में संस्कारों को जन्म मरण का कारण न बतला कर मन को ही उसका कारण ठहराया है ।

मृत्यु की अवस्था तक संस्कार ग्रहण न करने योग्य मन यदि बन जाता है तो जिस समय आत्मा इस शरीर को छोड़ती है उस समय उसे न किसी प्रकार की वेदना होती है और न किसी प्रकार का दुःख । परन्तु जितने अंश में मन में संस्कार ग्रहण करने की शक्ति रहती है, उतने समय में मृत्यु के समय वेदना या दुःख का अनुभव होता है । प्राण का निर्गमन उतने ही कष्टबोध कराते हुए होता है । बोध सूचक लक्षण शरीर पर स्वप्न प्रतीत होते हैं ।

शरीर में प्राण वाहक तन्तु सर्वत्र फैले हुए हैं । जैसे-जैसे प्राणोत्क्रमण होता है- वैसे-वैसे वे अपने स्थानों को छोड़ते हैं । इन सबमें मनुष्य खिंचाव का अनुभव करता है। फिर ये प्राण कण्ठ और शिरोभाग से इन्द्रिय मार्ग द्वारा उत्क्रमण करते हैं । मन शरीर के समस्त ज्ञान तन्तुओं द्वारा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है इसलिये उसके खिंचाव को अनुभव करता है । आसक्ति रहने के कारण यह खिंचाव शरीर से व्याप्त होने के फल को देख कर भयभीत होता है । यहां तक देखा गया है कि प्राणोत्क्रमण के अनन्तर मुखाकृति भयानकता धारण कर लेती है । मुँह फटा रह जाता है, आंख निकली सी पड़ती हैं एवं अन्य कई लक्षण प्रकट हो जाते हैं ।

इसके विपरीत अनेकों के मुख पर सौम्यता और मृदुहास्य भी देखने को मिलता है जिससे प्रकट होता है कि मृत्यु के समय न उन्हें किसी प्रकार की वेदना हुई है और न वियोग जनित दुःख । किसी भी अटूट संस्कार ने, वासना ने अपना अधिकार उस समय नहीं किया जिस समय प्राणों का उत्क्रमण हुआ था ।

अन्त समय की वेदना और दुःख प्राणी के वियोग जनित अनुभूति का परिणाम है कभी-कभी स्वास्थ्य हीन शरीर के कारण भी ये विकृतियाँ उत्पन्न होती हुई देखी गयी हैं । परिमित आहार-विहार से जिन्होंने अपने शरीर को स्वस्थ बना लिया है और स्वाध्याय आदि द्वारा जिन्होंने अपने आत्म ज्ञान को बढ़ाकर अपने चरित्र में उतार लिया है वे किसी भी प्रकार असद् संस्कारों से बद्ध नहीं रहते। तब उन्हें भय और शोक क्यों होगा ? दुःख और वेदनाओं की पीड़ा को क्यों सहन करना पड़ेगा ?

अन्त की पीड़ा से मुक्ति पाने की साधना तुरन्त ही कारगर नहीं होती उसके लिए तो जन्म से ही श्रम करना होता है । मन को वासना शून्य बनाना पड़ता है । तब कहीं सिद्धि के दर्शन होते हैं । इसी से तो बाल्यावस्था से ही स्वाध्यायशील एवं सदाचार परायण बनने का आदेश दिया है ।

इस दृष्टि से विचार करने से मनुष्य के मृत्यु काल की अवस्था उसके समस्त जीवन का परिचय देने वाली होती

है। शारीरिक कष्ट तो अनेक आकस्मिक कारणों से भी उत्पन्न हो जाते हैं, पर जिस मनुष्य का जीवन कर्तव्य पालन में व्यतीत हुआ और जिसने स्वार्थभावना को त्याग परमात्मा की भक्ति की है उसे जीवन और मृत्यु दोनों अवस्था में शान्ति प्राप्त होती है।

१८. धर्म की सुदृढ़ धारणा

गायत्री का अठारहवाँ अक्षर 'यो' धर्म-मार्ग पर स्थिर रहने का आदेश देता है-

यो धर्मा जगदाधारः स्वाचरणो तमानय,
मा विडम्वय तं स ते ह्येकामार्गे सहायकः ॥

अर्थात्-"जो धर्म संसार का आधार है, उस मार्ग पर आचरण करो। उसकी विडम्बना मत करो। धर्म ही तुम्हारा एक मात्र सहायक है।"

धर्म ही संसार का आधार है। उसके ऊपर विश्व का समस्त भार रखा है। यदि धर्माचरण उठ जाय तो सबको अपने प्राण बचाने और दूसरों को कुचलने की चिन्ता में निश-दिन डूबा रहना पड़ेगा और कोई भी चैन से न बैठ सकेगा।

दुष्ट लोग भी धर्म की आड़ में लाभ उठाने, ठगी का जाल फैलाने की चेष्टा करते हैं। इससे मालूम होता है कि धर्म ही ऐसी मजबूत चीज है, जिसका आश्रय लेकर बुरे मनुष्य भी अपना काम चलाना चाहते हैं। मनुष्य को ऐसे सुदृढ़ आधार पर ही जीवन की इमारत का निर्माण करना चाहिए।

दान-पुण्य, धार्मिक कर्मकाण्ड, पूजा-पाठ आदि तो धर्म का एक साधन मात्र है। वास्तविक धर्म तो कर्तव्य पालन, दूसरों की सेवा, परोपकार, सच्चाई और संयम में है। इन्हें विचार और कार्यों में भली प्रकार स्थान देने वाला ही वास्तव में धर्मात्मा माना जा सकता है।

धर्म का आडम्बर करने से, अपने को धर्मध्वजी घोषित करने से कोई लाभ नहीं। धर्म को अपने रक्त में घुला डालो, अपने रोम-रोम में भर लो, जो कुछ सोचो, जो कुछ करो वह सब धर्मानुकूल होना चाहिए।

दूसरों को धर्माचरण से लाभ उठाते देखकर उनकी नकल करने को मत ललचाओ। काँटे में लिपटा हुआ मांस का टुकड़ा खाकर मछली की जो दशा होती है, जाल के नीचे फैलाए हुए अन्न के दानों को खाकर चिड़िया की जो गति होती है, वही दशा अनीति द्वारा लाभ उठाने वालों की होती है। इस प्रकार के मार्ग का अनुसरण करने की कोई बुद्धिमान और दूरदर्शी मनुष्य आकांक्षा नहीं कर सकता।

धर्म का मूल तत्व

धर्म के सम्बन्ध में बड़ी मत विभिन्नता देखने में आती हैं। संसार के विभिन्न दूरवर्ती देशों की बात तो जाने दीजिये, अपने ही देश और अपनी ही जाति के लोगों के धार्मिक विचारों और आचरण में जमीन आसमान का अन्तर दिखलाई पड़ता है। अधिकांश लोगों ने तो धर्म को जीवन से अलग एक बाहरी क्रियाकाण्ड की चीज समझ लिया है। अनेक लोग धर्माचरण करना इसलिये जरूरी समझते हैं कि उसने एक सामाजिक रीति रिवाज का सा रूप ग्रहण कर लिया है। पर ऐसे लोगों की संख्या बहुत ही कम है जिन्होंने अपनी बुद्धि से धर्म के वास्तविक मर्म पर ध्यान दिया है और जो सोच समझ कर उस पर आचरण कर रहे हैं।

सृष्टि का निर्माण होने पर जीवों में जब चेतना शक्ति उत्पन्न हुई और वे कुछ कर्तव्य अकर्तव्य के सम्बन्ध में सोचने विचारने लगे तो उनके सामने धर्म अधर्म का प्रश्न उपस्थित हुआ। उस समय भाषा और लिपि का सुव्यवस्थित प्रचलन नहीं था और न कोई धर्म पुस्तक ही मौजूद थी। शिक्षा देने वाले धर्म गुरु भी दृष्टि गोचर न होते थे। ऐसी दशा में अपने अन्दर से पथ प्रदर्शन करने वाली जो आध्यात्मिक प्रेरणा जागृत होती थी मनुष्य उसी के अनुसार आचरण करते थे। 'वेद अनादि ईश्वर कृत है।' इसका अर्थ यह है कि धर्म का आदि स्रोत मनुष्यों द्वारा निर्मित नहीं है वरन् सृष्टि के साथ ही अन्तरात्मा द्वारा ईश्वर ने उसे मानव जाति के निमित्त भेजा था। वेद की भाषा या मन्त्र रचना ईश्वर द्वारा निर्मित है यह मान्यता ठीक नहीं, वास्तविकता यह है कि प्रबुद्ध आत्माओं वाले ऋषियों के अन्तःकरण में ईश्वरीय संदेश आये और उन्होंने उन संदेशों को मन्त्रों की तरह रच दिया। प्रायः सभी धर्मों की मान्यता यही है कि "उनका धर्म अनादि है, पैगम्बरों और अवतारों ने तो उनका पुनरुद्धार मात्र किया है।"

तत्वतः सभी धर्म अनादि हैं अर्थात् एक ही अनादि धर्म की शाखायें हैं। उनका पोषण जिस वस्तु से होता है, वह 'सत्' तत्व है। वही धर्म सच्चे ठहर सकते हैं जो सत् पर अवलम्बित हैं। असत् तो वंचना मात्र है। वह अल्प स्थायी होता है और बहुत शीघ्र नष्ट हो जाता है। कोई भी सम्प्रदाय यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि हमारा

धर्म 'सत्' पर अवलम्बित नहीं है। इसलिये यह स्वीकार करना ही होगा कि एक ही अनादि सत्य का आश्रय लेकर धर्म सम्प्रदाय उत्पन्न हुए हैं। यह आदि सत्य हमारी अन्तरात्मा में ईश्वर द्वारा भली प्रकार पुरो दिया गया है। न्याय बुद्धि का आश्रय लेकर जब हम कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय करना चाहते हैं तो अन्तरात्मा उसका सही-सही निर्णय कर देती है। विभिन्न सम्प्रदायों के अपने-अपने स्वतन्त्र धर्म ग्रंथ हैं। वेद, कुरान, बाइविल, जिन्दावस्ता, धम्मपद आदि असंख्य धर्म शास्त्रों में उसी महान 'सत्' की व्याख्या की गयी है। अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार इन महान शास्त्रों ने सत् की व्याख्या की है। फिर भी उन्हें संतोष नहीं हुआ और अपने कथन की अपूर्णता को स्वीकार करते हुए 'नेति' 'नेति' ही कहते रहे। सभी धर्मों में नये सुधारक होते रहे और उन्होंने पुरानी व्याख्या को दोष पूर्ण बता कर अपनी रुचि के अनुसार सुधार किये। इन सुधारकों का कथन था कि उन्हें ईश्वर ने ऐसे ही सुधार करने के निमित्त भेजा है। इन सुधारकों में भी सुधार करने वाले होते आये हैं और वे सब भी धर्माचार्य ही थे। सत्य एक है तो भी उसका प्रयोग करने की विधियाँ बदलती रहती हैं। 'शरीर की ऋतु प्रभावों से रक्षा करनी चाहिए' यह एक सच्चाई है पर इसका व्यवहारिक रूप समय-समय पर बदलता रहता है। जाड़े के दिन में जिन कपड़ों की आवश्यकता थी उनका गर्मी के दिनों में कोई उपयोग नहीं है। इसलिये पोशाक में परिवर्तन करना जरूरी है। यह आक्षेप करना उचित न होगा कि पैगम्बरों ने अपनी बात को ईश्वर की वाणी क्यों कहा? यदि उनके संदेश ही ईश्वर की वाणी थे तो अनेक धर्मों के पैगम्बर मतभेद क्यों रखते हैं? इनमें से एक को सच्चा माना जाय तो वाकी सब झूठे ठहरते हैं। तथ्य बात यह है कि सभी पैगम्बरों की वाणी में ईश्वरीय संदेश था। उन्होंने जो कुछ कहा अन्तरात्मा की पुकार के आधार पर, ईश्वर की आकाशवाणी के संकेत पर कहा। समयानुसार प्रथायें बदलती हैं जैसे कि ऋतुओं के अनुसार पोशाक बदलती हैं। एक व्यक्ति दिसम्बर के महीने में यह शिक्षा देता है कि ऊनी कोट और स्वेटर पहनो तो उसकी शिक्षा सत्य से, धर्म तत्व से परिपूर्ण है, किन्तु यदि दूसरा व्यक्ति जून के महीने में यह कहता है कि अब ऊनी कोट की या रुई के लिहाफ की कोई जरूरत नहीं है, बल्कि पतले कपड़े पहनने चाहिए, तो वह भी झूठा नहीं है।

कई बार साम्प्रदायिक और सामाजिक रीति रिवाजों और मान्यताओं के सम्बन्ध में आपके सामने बड़ी पेचीदा गुत्थी उपस्थित हो सकती है। विभिन्न धर्मों के पूजयनीय अवतार और धर्मग्रंथ एक दूसरे से विपरीत उपदेश देते हैं। ऐसी दशा में बड़ा मतिभ्रम होता है कि किसे मानें और किसे न मानें। इस गुत्थी को सुलझाने के लिये आपको यह बात हृदयंगम कर लेनी चाहिए कि अवतारों का आगमन और धर्मग्रंथों का निर्माण समय की आवश्यकता को पूरी करने के लिये होता रहा है। कोई पुराने नियम जब समय से पीछे के हो जाने के कारण अनुपयोगी हो जाते हैं, तो उनमें सुधार करने के लिये नये-नये सुधारक, नये अवतार प्रकट होते हैं। देशकाल और व्यक्तियों की विभिन्नता के कारण उनके उपदेश भी अलग-अलग होते हैं। देश, काल और पात्र के अनुसार वेद एक से चार हुए, कुरान में संशोधन हुआ, बाइविल तो अनेक अवतारों की उक्तियों का संग्रह है। जब वैदिक ब्रह्मोपासना आवश्यकता से अधिक बढ़ी तो भौतिकवादी वाम मार्ग की आवश्यकता हुई। जब वाम मार्गी हिंसा की अति हुई तो भगवान बुद्ध ने अहिंसा का मार्ग चलाया। जब अहिंसा का रोड़ा मानव जीवन के मार्ग में बाधा देने लगा तो शंकराचार्य ने उसका खण्डन करके वेदान्त का प्रतिपादन किया। इसी प्रकार समस्त विश्व में धार्मिक और सामाजिक अन्तर होते रहते हैं। साम्प्रदायिक नियम और व्यवस्थाओं का अस्तित्व समयानुसार परिवर्तन की धुरी पर घूम रहा है। देश, काल और पात्र के भेद से इनमें परिवर्तन होता है और होना चाहिए। एक नियम एक समय के लिये उत्तम है तो वही कालान्तर में हानिप्रद हो सकता है। गर्मी की रातों में लोग नंगे बदन सोते हैं पर वही नियम सर्दी की रातों में लागू किया जायगा तो उसका बड़ा घातक प्रभाव होगा।

संसार के अनेक धर्मों के आदेशों को सामने रखें, उनके सिद्धान्त और आदेशों पर दृष्टिपात करें तो वे बहुत बातों में एक दूसरे से विपरीत जाते हुए प्रतीत होते हैं, उनमें विरोधाभास भी दिखाई देता है, परन्तु वास्तव में भ्रम में पड़ने की कोई बात नहीं है। अन्धों ने एक बार एक हाथी को छूकर देखा और वे उसका वर्णन करने लगे। जिसने पैर छुआ था उसने हाथी को खम्भा जैसा, जिसने पूंछ छुई थी उसने बांस जैसा, जिसने कान छुआ था उसने पंखे जैसा, जिसने पेट छुआ था उसने चबूतरे जैसा बताया। वास्तव में वे सभी सत्य वक्ता हैं क्योकि अपने ज्ञान के अनुसार सभी ठीक कह रहे हैं। उनका कहना उनकी परिस्थिति के

अनुसार ठीक ही है । परन्तु उसे पूरा नहीं माना जा सकता। देश, काल और पात्र की उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए अवतारी आत्माओं ने विभिन्न समयों पर विभिन्न धर्मों का उपदेश दिया है । भगवान महावीर को एक मांस भोजी निशाद मिला । उन्होंने उसे मांस भोजन त्याग देने के लिये बहुत समझाया पर कुछ भी असर न हुआ । तब उन्होंने सोचा कि इसकी मनोभूमि इतनी निर्मल नहीं है जो अपने चिरकाल के संस्कारों को एक दम त्याग दे । इसलिये उन्होंने धीरे-धीरे बढ़ने का उपदेश देना उचित समझा । सोच विचार के बाद भगवान महावीर ने उस निषाद से कहा-अच्छा भाई ? कौए का मांस खाना तो छोड़ दोगे यह भी बड़ा धर्म है । निषाद इसके लिये तैयार हो गया क्योंकि कौए का मांस खाने का उसे अवसर ही न आता था । जब त्याग का संकल्प कर लिया तो उसके मन में धर्म भावना जाग्रत हुई और धीरे-धीरे अन्य त्यागों को अपनाता हुआ कुछ दिन बाद बड़ा भारी धर्मात्मा, अहिंसा का पुजारी और महावीर का प्रधान शिष्य बन गया । अवतारी महापुरुष जिस जमाने में हुए हैं उन्होंने उस समय की परिस्थितियों का, देश-काल, पात्र का बहुत ध्यान रखा है । अरब में जिस समय हजरत मुहम्मत साहब हुए थे उस समय वहाँ के निवासी अनेक स्त्रियाँ रखते थे, उन्हें चाहे जब रखते चाहे जब निकाल देते थे, जब सन्तान बढ़ती और उसका पालन पोषण न कर पाते तो निर्दयता पूर्वक बच्चों को मार-मार कर फेंक देते, उपयोगी और अनुपयोगी पशुओं की अंधाधुंध हत्या कर देते थे । उन्हें धीरे-धीरे सुधारने के लिये हजरत ने चार स्त्रियाँ रखने की, बालकों को न मारने की, जीव हत्या एक नियत संख्या में करने की शिक्षा दी। समय बीत जाने पर अब एक व्यक्ति को चार स्त्रियाँ रखने की आवश्यकता नहीं । देखने में वह शिक्षा अनावश्यक हो गयी पर उसके मूल में छुपा हुआ सत्य ज्यों का त्यों आवश्यक है । 'अपनी आवश्यकताओं को घटाओ, भोगों को कम करो ।' '' यह सन्देश उस शिक्षा के मूल में था, वह उद्देश्य करोड़ों वर्षों में भी परिवर्तित न होगा ।

आप गंभीरतापूर्वक धर्मतत्व पर दृष्टिपात कीजिए और धर्म की उन नियम व्यवस्थाओं में कौनसी पवित्र और शाश्वत भावना काम कर रही है उसे ढूंढ निकालिए । सत्य शाश्वत है और कायदे, कानून, विचार, व्यवस्था परिवर्तनशील है । इस ध्रुव सत्य को हृदयंगम करते ही धर्मो का आपसी विरोध-वैमनस्य दूर हो जाता है और सभी धर्म सत्य हैं एवं एक ही नींव पर रखे हुए हैं, यह दृष्टिगोचर होने लगता है ।

आप जिस सम्प्रदाय से निकट सम्पर्क रखते हैं, उसका सूक्ष्म दृष्टि से, निष्पक्ष दृष्टि से, निष्पक्ष परीक्षक की भांति, खरे आलोचक की भांति निरीक्षण कीजिये । निस्सन्देह उसमें बहुत-सी बातें बहुत ही उत्तम होंगी क्योंकि हर सम्प्रदाय धर्म का सहारा लेकर खड़ा हुआ है । उसमें कुछ अच्छाई अवश्य ही होनी चाहिए । किन्तु यह भी निश्चय है कि समय की प्रगति के साथ उसमें कुछ न कुछ निरुपयोगिता भी अवश्य आई होगी । यदि उस निरुपयोगिता को मोह वश छाती से लगाये फिरेंगे तो आप अपना बहुत बड़ा अहित करेंगे । दो दिन पूर्व जो भोजन तैयार किया था वह बहुत ही पवित्र, उत्तम, स्वास्थ्य कारक था, पर दो दिन पुराना हो जाने के कारण आज वह वासी हो गया । उसमें बदबू आने लगी, स्वाद रहित एवं हानिकर हो गया। उस वासी भोजन को मोह वश यदि ग्रहण करेंगे तो अपने को रोगी बना लेंगे । साम्प्रदायिक अनुपयोगी रीति रिवाजों की परीक्षा कीजिये और उनका वैसे ही परित्याग कर दीजिये जैसे मरे हुए कुत्ते की लाश को घर से विदा कर देते हैं । पिछला कल बीत गया । अपनी बहुत सी आवश्यकता, अनावश्यकताओं को वह अपने साथ समेट ले गया । आज तो आज की समस्याओं पर विचार करना है । आज के लिये उपयोगी नयी व्यवस्था का निर्माण करना है । एक समय में एक रिवाज उत्तम थी, केवल इसीलिये वह सदा उत्तम रहेगी, यह कोई तर्क नहीं है । हो सकता है कि एक समय ''नरमेध यज्ञ'' होते हों, परन्तु आज उनकी पुनरावृत्ति कौन करेगा ? आदिम युग में मनुष्य के पूर्वज दिगम्बर रहते थे पर आज तो सभी को कपड़ों की आवश्यकता होती है । पहले लोहे और पत्थर से आग पैदा की जाती थी, इसीलिये कोई दियासलाई का बहिष्कार नहीं कर देता । अमुक नगर से अमुक नगर को, पहिले पक्की सड़क न थी, पर आज बन गयी है तो उस पर चलना पाप थोड़े ही कहा जायगा । आप बुद्धि बेचकर पिछले कल की हर बात के अन्ध विश्वासी मत बन जाइए, अन्यथा अपने जीवन को दारुण दुःखों में फँसा लेंगे । बन्द गड्ढे का पानी सड़ जाता है । कहीं ऐसा न हो कि रुढ़ियों के पोंगा पन्थी के गड्ढे में बन्द पड़ी हुई आपकी बुद्धि सड़ जाय और उसकी दुर्गन्ध से पास-पड़ौसियों का सिर फटने लगे । सदैव अपनी चेतना को स्वच्छ रखिये । घर के कूड़े को जैसे रोज-रोज साफ किया जाता है वैसे ही धर्म-साधना के लिये अनुपयोगी रीति रिवाजों की सदैव सफाई करते रहा कीजिये । उनके स्थान पर वर्तमान समय के लिए जिन

प्रथाओं की आवश्यकता है उनकी आधार शिला आरोपित करने के लिये साहस पूर्वक आगे कदम बढ़ाया कीजिये।

आपको नाना जंजालों से भरे हुए मत-मतान्तरों की ओर मुड़कर देखने की जरूरत नहीं है, क्योंकि उनमें से बहुत सी वस्तुऐं समय से पीछे हो जाने के कारण निरुपयोगी हो गई हैं, उनसे चिपके रहने का अर्थ यह होगा कि अपने हाथ-पाँव बाँध कर अपने को अन्धेरी कोठरी में पटक लिया जाय। आप किसी भी धर्म-ग्रंथ, सम्प्रदाय या अवतार का अनादर मत करिए, भले ही आज उनके कई अंश निरुपयोगी हो गये हैं, पर एक समय उन्होंने सामाजिक सन्तुलन ठीक रखने के लिये सराहनीय कार्य किये थे। आप सभी धर्म ग्रंथों, संप्रदायों और अवतारों का आदर करिये और उनमें जो बातें ऐसी प्रतीत हों जिनकी उपयोगिता अब भी बनी हुई है उन्हें ग्रहण करके शेष को अस्वीकार कीजिए। हंस की वृत्ति ग्रहण करके दूध को ले लेना और पानी को छोड़ देना चाहिए।

सत् धर्म का सन्देश है, कि हे ईश्वर के प्राण-प्रिय राज कुमारो ! हे सच्चिदानन्द आत्माओं ! हे नवीन युग के निष्कलंक अग्रदूतों ! अपने अन्तः करण में ज्योति पैदा करो, अपने हृदयों के कषाय-कल्मषों को मथ कर निरन्तर धोते रहो। अपने अन्दर पवित्रता, निर्मलता और स्वच्छन्दता को प्रतिक्षण स्थान देते रहो, इससे तुम्हारे अन्दर ब्रह्मत्व जाग्रत होगा, ऋषित्व उदय होगा, ईश्वर की वाणी तुम्हारी अन्तरात्मा का स्वयं पथ प्रदर्शन करेगी और बतावेगी कि इस युग का क्या धर्म है ? जब आप अनादि सत् धर्म को स्वीकार करते हैं तो इन नाना प्रकार के जंजालों से भरी हुई पुस्तकों की ओर क्यों ताकें ? सृष्टि के आदि में जब सत् धर्म का उदय हुआ था तो जीवों का पथ-प्रदर्शन उनकी अन्तरात्मा में बैठे हुए परमात्मा ने किया था। इसी को 'वेद' या आकाशवाणी कहा जाता है। आप पुस्तकों की गुलामी छोड़िये और आकाशवाणी की ओर दृष्टिपात कीजिये। आपकी अन्तरात्मा स्वतन्त्र है, ज्ञानवान है और प्रकाश स्वरूप है। वह आपको आपकी स्थिति के अनुकूल ठीक-ठीक मार्ग बता सकती है। यह मत सोचिये कि आप तुच्छ, अल्प और असहाय प्राणी हैं और आपको अन्धे की तरह किसी की उंगली पकड़ कर ले चलने वाले की जरूरत है। ऐसा विचार करना आत्मा के ईश्वरीय अंश का तिरस्कार करना होगा।

धर्म अधर्म का निर्णय करने के लिये सद्बुद्धि आपको प्राप्त है। उसका निष्पक्ष होकर निर्भय उपयोग किया कीजिये। मत कहिए कि हमारी बुद्धि अल्प है, हमारा ज्ञान थोड़ा है। हो सकता है कि अक्षर ज्ञान की दृष्टि से आप पीछे हों, परन्तु सद्बुद्धि तो ईश्वर ने सबको दी है। वह आपके पास भी कम नहीं है। दीनता की भावना को आश्रय देकर आत्मा का तिरस्कार मत कीजिये। अपनी सद्बुद्धि पर विश्वास करिये और उसी की सहायता से आज के लिये उपयोगी रीति रिवाजों को स्वीकार कीजिये, यही सच्चा धर्म है।

धर्म और सामूहिकता की भावना

धर्म का एक मुख्य अंग सामूहिकता की भावना है। हमारे देश में अनेक लोगों ने इस भ्रमपूर्ण धारणा को अपना रखा है कि धर्म तो एक निजी चीज है। इसके लिये अन्य लोगों से जितना पृथक रहा जाय उतना ही अच्छा है। इस विचार धारा को लोगों ने यहाँ तक आगे बढ़ाया है कि वे उन्हीं लोगों को सबसे बड़े महात्मा और साधु मानते हैं जो जन समूह को त्याग कर किसी पहाड़ की गुफा या अगम्य वन में जा बैठते हैं और संसार का ध्यान छोड़कर मोक्ष साधन के उद्देश्य से तपस्या में लीन हो जाते हैं। यद्यपि हम नहीं कह सकते कि इस प्रकार एकांत में रहकर तपस्या करने वाले महात्माओं का वास्तविक लक्ष्य क्या होता है, पर कम से कम साधारण लोगों पर तो ऐसी बातों का प्रभाव हानिकारक ही पड़ता है और वे समाज के प्रति अपने कर्तव्य पालन से उदासीन हो जाते हैं।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसने अन्य जीवों की अपेक्षा जो उन्नति की है उसका प्रधान कारण उसकी सामाजिक सामूहिक मनोवृत्ति है। मिल जुल कर काम करने और एक दूसरे की सहायता करने के स्वभाव ने ही शिक्षाएँ, स्वास्थ्य, संस्कृति, विज्ञान, शिल्प आदि अनेक दिशाओं में मनुष्य को बढ़ाया है। विवाह, कुटुम्ब, जाति, सम्प्रदाय, राष्ट्र, सभा, सम्मेलन, संगठन आदि इसी मनोवृत्ति के आधार पर बने हैं।

मनुष्य ने यह भली प्रकार जान लिया है कि वह एक दूसरे से अलग-अलग होकर नहीं, मिलजुल कर एक दूसरे को सहयोग देकर ही आगे बढ़ सकता है। अपनी कठिनाइयों, कमियों को दूर कर सकता है क्योंकि इस भावना को बढ़ाने में त्याग, संयम, सेवा, प्रेम, उपकार आदि गुणों की आवश्यकता पड़ती है। इसके विपरीत एक और मनोवृत्ति मनुष्य में काम करती है जिसे 'स्वार्थपरता' कहना चाहिए। इनकी प्रेरणा से दूसरों से अपने लिये अधिकाधिक लाभ लेना, और बदले में कम से कम देने की इच्छा प्रबल

होती है। फलस्वरूप बेईमानी, छल, शोषण, अन्याय, संग्रह, विलासिता आदि की वृद्धि होती है। इस मनोवृत्ति को 'असुर' तत्व कहते हैं। यह दोनों ही देव, असुर, मनोवृत्तियाँ परस्पर निरन्तर संघर्ष करती रहती हैं। गीताकार ने तत्वतः इसी देवासुर संग्राम का वर्णन किया है और अर्जुन को निमित्त बनाकर जन साधारण को, असुरता, स्वार्थपरता को पराजित करने और केवल लोक हित को विजयी बनाने के लिये आन्तरिक संघर्ष करते रहने का निर्देश किया है।

इन दोनों प्रकार की भावनाओं में संघर्ष चलता रहता है। परिस्थितियों के कारण कभी देवत्व प्रबल हो जाता है तो कभी असुरता की चढ़ बनती है। व्यक्तिगत जीवन की भाँति, सामूहिक जीवन में भी यह उतार चढ़ाव आते रहते हैं। कोई काल सज्जनों की अधिकता का होता है तो किसी में दुर्जनों की भरमार रहती है। सतयुग, कलियुग आदि का यही आधार है। बात यह है कि मनुष्य के अन्दर असुरता, पाशविकता, स्वार्थपरता की मात्रा अधिक रहती है। निम्नगामी मनोवृत्तियाँ सरल और प्रबल होती हैं, उन्हें बढ़ते देर नहीं लगती। ऊर्ध्वगामी, देवत्व प्रधान प्रवृत्तियाँ कठिन और परिणाम में मन्द सौम्य एवं साधारण होती हैं। जिनके कारण भौतिक दृष्टि से अधिक लाभ मिलते नहीं दीखते, इसलिये उनमें उतना आकर्षण नहीं होता जितना असुरता के सिद्धान्तों में। इसलिये बहुधा मन की प्रवृत्ति व्यक्तिगत स्वार्थ साधन की ओर ही अधिक रहती है। पानी को फैलाया जाय तो वह नीचे की ओर बिना किसी प्रयत्न के बह निकलेगा, किन्तु यदि पानी को ऊपर चढ़ाना हो तो उसके लिये अनेक प्रकार के साधन जुटाने पड़ते हैं तब कहीं धीरे-धीरे थोड़ी सफलता मिलती है।

आसुरी तत्वों की प्रबलता और देवत्व में सौम्यता के कारण बार-बार ऐसे अवसर आ जाते हैं कि व्यक्तियों में तथा समाज में सामूहिकता की प्रवृत्ति घट जाती है और स्वार्थपरता बढ़ जाती है। उस असन्तुलन की स्थिति को सँभाल कर सन्तुलन कायम करने के लिये कोई महापुरुष, देवदूत अवतार आते हैं और बुराइयों को घटाने, अच्छाइयों को बढ़ाने के अपने उद्देश्य को पूरा करके चले जाते हैं। यह तो हुई विशेष परिस्थितियों को, विशेष रूप से समाधान करने वाले विशेष महापुरुषों की बात पर साधारण समय में भी असुरता को, असामाजिकता को नियन्त्रित करने और देवत्व को प्रोत्साहन देने के लिये कुछ आत्माओं को प्रयत्न करते रहना होता है। यदि प्रयत्न न हो तो भ्रष्टाचार अत्यन्त तीव्र गति से फैलता है और जन मन की स्थिति असुरता से आछन्न हो जाती है।

हर वस्तु से मैल निकलता है। समय-समय पर उसकी सफाई करते रहना पड़ता है। यदि वह सफाई न की जावे तो गन्दगी और बीमारी फैलती है। बर्तन, कपड़ा, मकान शरीर आदि किसी भी वस्तु को ले लें-उन पर मैल जमने की प्रक्रिया होती रहती है। मिट्टी, साबुन, बुहारी, जल आदि वस्तुओं से उनकी जल्दी-जल्दी सफाई करनी पड़ती हैं। यदि सफाई की यह क्रिया बन्द कर दी जावे तो ये वस्तुऐं मलीनता से भर जाती हैं। मानवीय मन तथा समाज की भी यही स्थिति है। मन में भी एक प्रकार की गंदगी और मलीनता उत्पन्न होती रहती है जिसे स्वार्थपरता, वासना, तृष्णा आदि नाम दिये जाते हैं। इसकी सफाई जल्दी-जल्दी न की जाती रहे तो मन की यह गंदगी बहुत बढ़ जाती है और कुछ ही दिनों में वह बढ़ी हुई मानसिक मलीनता वाला व्यक्ति एक प्रकार से विषाक्त रक्त वाले छूत के रोगी की तरह-अपने लिये ही नहीं, निकटवर्ती अन्य लोगों के लिये भी हानिकारक बन जाता है। उसकी बुरी नीयत, बुरी आदत, बुरी भावना, बुरी विचार धारा उससे इस प्रकार के कार्य बलात् कराती रहती है जो दूसरों के लिये, समस्त समाज के लिये कष्टकारक होते हैं। अपने भौतिक लाभ की बात सोचते रहने से, मनुष्य के स्वभाव में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष, असत्य, दंभ, आलस्य, चोरी, अनीति, निष्ठुरता आदि अनेकों बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं और वे बुराइयाँ जब मनः क्षेत्र से बाहर निकल कर वाणी तथा क्रिया में प्रकट होती हैं तो वे कलह एवं कुकर्म के रूप में ही सामने आती हैं।

यह प्रवृत्ति एवं प्रक्रिया जब अधिक लोगों में, अधिक मात्रा में बढ़ जाती हैं तब प्लेग, हैजा, चेचक आदि महामारियों की तरह "सामाजिक अनाचार" का रोग फैल जाता है और उसकी कष्ट कारक परिणति से सभी लोग नाना प्रकार के दुःख पाते हैं। चोरी, बेईमानी, अनीति, हत्या, लूट, व्यभिचार, उद्दंडता, आलस्य, शोषण, विलासिता, संघर्ष, द्वेष आदि की अनेकों दुष्प्रवृत्तियाँ अनेक रूपों में फूट पड़ती हैं। जिससे व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में सर्वत्र अशान्ति दीख पड़ती हैं। घर, परिवार, मुहल्ले, ग्राम, देश, राष्ट्र, समाज अनेक छोटी-मोटी घटनाओं एवं परिस्थितियों को लेकर आपस में टकराते, घायल होते, दुःख पाते और बर्वाद होते हैं।

यों नदी नालों में होकर असीम मात्रा में पानी बहकर व्यर्थ जाता रहता है। पर यदि उसका सदुपयोग करना होता

है तो उस जल को काम में लाने के लिए अनेक व्यवस्थायें बनानी पड़ती है । घाट, बाँध, नहर, पम्प, नीव, जहाज आदि साधनों की सहायता से वह भयंकर जल धारा जिससे हानि की ही आशा की जाती थी, बदल कर बड़ी उपयोगी एवं लाभदायक बन जाती है । यदि यह उपाय न किये जायें तो नदी, नालों से लाभ मिलना तो दूर उलटे वे अनेक प्रकार से बाधक बनेंगे । यही बात मनुष्य की प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में भी है । उसके भीतर से जो असुरता स्वार्थ परता हर घड़ी फूटती रहती है उसे नियन्त्रित करने के लिए घाट, बाँध, नहर आदि की तरह नैतिक दैवी भावनाओं के नियंत्रण स्थापित करने पड़ते हैं । यह तंत्र जब तक मजबूत रहता है- लोग दूसरे के प्रति अधिक उत्तम व्यवहार करते हैं, एक दूसरे के लिये त्याग और प्रेम का परिचय देते हैं । फलस्वरूप सबके मन प्रसन्न रहते हैं, सामाजिक सुव्यवस्था कायम रहती है और साथ ही भौतिक उन्नति के साधन भी बनते हैं । पर जब यह धर्मतंत्र शिथिल होने लगता है तब असुरता की प्रवृत्ति अन्तरात्मा के भीतर सौम्य गति से काम करने वाली दैवी वृत्ति को परास्त करके अपनी प्रभुता स्थापित कर लेती है और इस पृथ्वी पर नरक के दृश्य उपस्थित हो जाते हैं । नर तन धारी व्याध्र हाट बाजारों में, घर द्वारों में, खेत खलिहानों में, सभा संस्थाओं, मन्दिर, मस्जिदों में, दफ्तर, राजद्वारों में घूमते दिखाई पड़ते हैं । अपनी कुटिलता को छुपाने के लिये बातें बढ़-चढ़ कर बनाते हैं, पर उनके कार्यों पर बारीक निगाह डालते ही, नाक को सड़ा देने वाली गन्दगी उड़ती दिखाई पड़ती है।

जब धर्म तंत्र अधिक अस्त-व्यस्त हो जाता है तब उसकी मरम्मत करने के लिये बड़े देवदूतों, अवतारों, पैगम्बरों, महापुरुषों के रूप में अत्यन्त प्रभावशाली आत्माऐं आती हैं और अपने महान व्यक्तित्व, प्रबल पुरुषार्थ एवं सत्पुरुषों के सहयोग से उस अव्यवस्था को रोक कर, पुनः उस देवत्व की, सामूहिकता की भावना को जन-मन में प्रवाहित कर देने में सफलता प्राप्त करती हैं । पर यह तो उस समय की बात है जब दुर्घटना की घोर विपन्न स्थिति आ जाय । साधारण समय में अवतारों की नहीं, ऋषियों की आवश्यकता रहती है। उन्हें ही ब्राह्मण भी कहते हैं । इस श्रेणी के व्यक्ति तप, त्याग, संयम, ज्ञान, उदारता एवं लोक हित जैसी प्रवृत्तियों को कूट-कूटकर अपने अन्दर भरते हैं और एक मजबूत बाँध की तरह सुदृढ़ आधार पर खड़े होते हैं । फिर वे एक वज्र शिला की भाँति जन मानस की धारा को उचित दिशा में मोड़ने के लिये दृढ़ता पूर्वक अड़ जाते हैं । अपनी सीमित सामर्थ्य के अनुसार वे सीमित क्षेत्र चुनते हैं पर उसी क्षेत्र में अपने श्रेष्ठ व्यक्तित्व, उच्च आदर्श एवं प्रचण्ड पुरुषार्थ द्वारा सहस्रों मनुष्यों के भीतर असुरता, स्वार्थपरता को घटाने एवं देवत्व, सामूहिकता को बढ़ाने में सफलता प्राप्त करते हैं । यह ब्राह्मण एवं ऋषि ही किसी जाति की सच्ची सम्पत्ति होते हैं । इनका मूल्य सोने की खानों और रत्न राशियों से असंख्य गुना अधिक होता है, जिस देश में, जिस समाज में, सच्चे ब्राह्मण पैदा करते रहने की प्रसव शक्ति होती है उसकी विजय वैजयन्ती सदा दशों दिशाओं में फहराती रहती है ।

धर्म तन्त्र का कलेवर अत्यन्त विस्तृत है । वेद, शास्त्र, दर्शन, स्मृति, पुराण आदि के सहस्रों ग्रन्थ मौजूद हैं । जप, तप, संयम, ध्यान, साधन आदि के अनेक विधान हैं । तीर्थ यात्रा, ब्रह्मभोज, दान-पुण्य, कथा, कीर्तन, व्रत, उपवास, त्यौहार, संस्कार आदि अनेक कर्मकाण्ड हैं । इन सबका एक मात्र उद्देश्य यह है कि व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा में ऐसे विचार, विश्वास भाव एवं संस्कार धारण करे जिनके द्वारा उसकी व्यक्तिगत स्वार्थपरता घटे और लघुता को महत्ता में-आत्मा को महान आत्मा-परमात्मा में विकसित करने की प्रेरणा मिले । सबके अन्तःकरण में निवास करने वाली-प्राणिमात्र की एकता की, सबके साथ आत्म भाव स्थापित करने की-विश्व मानव की उपासना ही ईश्वराराधन का तत्व ज्ञान है । इस दार्शनिक तथ्य को स्वाध्याय, सत्संग, साधन, कर्मकाण्ड, दान-पुण्य आदि अनेक प्रकारों के माध्यम से हृदयंगम करने का प्रयत्न किया जाता है । परम्पराओं के अनुसार धर्म-तन्त्र के यह विधि-विधान तो चलते रहते हैं, पर कालान्तर में उनके भीतर छिपे हुए सिद्धान्तों, आदर्शों और तथ्यों को लोग भूलने लगते हैं । ब्राह्मणों-ऋषियों का प्रधान कार्य इन उपचारों की सहायता से जन साधारण की अन्तरात्मा में देवत्व की मनोवृत्ति को प्रदीप्त करना होता है । साधारण जनता के उथले मानसिक स्तर को देखते हुए वे अनेक आयोजनों की व्यवस्था करते हैं, पर मूल लक्ष्य एक ही रहता है कि मनुष्य अपनी शक्तियों से केवल अपना ही लाभ न सोचे, उसी अपनी क्षमता द्वारा दूसरों का हित करते रहने के महान तथ्य का भी ध्यान रहे- कम से कम दूसरों के अधिकारों का अनीति पूर्वक हनन तो न करे । मनुष्यों की यह मनोवृत्ति जितनी ही प्रबल होती जाती है उतनी ही सुख शान्ति की सम्भावना संसार में बढ़ती जाती है ।

हमें स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्य की व्यक्तिगत और संसार की सामूहिक सुख शान्ति उनकी अन्तरात्मा में

निवास करने वाली–सामूहिकता पर, एक दूसरे के लिये त्याग और सहयोग करने की भावना पर ही निर्भर है। पाशविक वृत्ति–स्वार्थपरता पर नियंत्रण स्थापित करना ही असंख्य प्रकार के कष्टों पर विजय प्राप्त करना है । चूँकि यह कार्य भौतिक नहीं आन्तरिक है इसलिये इसे राजदण्ड आदि किसी वाह्य उपाय से पूरा नहीं किया जा सकता । इसके लिये तो धर्म तन्त्र ही सर्वश्रेष्ठ प्रक्रिया है। इसकी रक्षा के लिए सत्पुरुष अपना जीवन बलिदान करते हैं और इसी के लिये भगवान तक दौड़े आते हैं । हमें इस धर्म तन्त्र पर विचार करना होगा और उसे सुव्यवस्थित करने के लिये मजबूत कदम उठाना होगा । तभी संसार की सुख शान्ति को स्थिर रखने वाली मनुष्य की एक मात्र दैवी प्रवृत्ति–सामाजिकता एवं सामूहिकता को सुव्यवस्थित रखा जा सकेगा ।

धर्मात्मा के लक्षण

जिस प्रकार सूर्य उदय हुआ है या नहीं– यह बात किसी को बतानी नहीं पड़ती, उससे उत्पन्न होने वाली गर्मी और प्रकाश स्वयं इस बात का परिचय दे देते हैं कि सूर्योदय हो गया है । इसी तरह किसी धर्मात्मा मनुष्य का परिचय यह कहकर नहीं दिया जाता कि वह मनुष्य धर्मात्मा है–क्योंकि उसने सौ मालायें राम नाम की जपी हैं, या वह नित्य वेद, पुराण का पाठ करता है । कोई मनुष्य धर्मात्मा है या नहीं इसका पता उसके आस पास रहने वालों के प्रति उसके व्यवहार से अपने आप लग जाता है । अगर उसका प्रभाव अपने चारों ओर रहने वाले व्यक्तियों पर सुखदायक पड़ता है और उसके कारण उनके दुःखों का मोचन होता है तो उसका धर्मात्मा होना स्वयं ही सिद्ध हो जाता है । किसी भी व्यक्ति का धर्मात्मा होना जप–तप और पूजा–पाठ से नहीं नापा जा सकता । लैम्प में प्रकाश है या नहीं इसकी परीक्षा हम इस बात से नहीं कर सकते हैं कि उसमें तेल है या नहीं । लैम्प के प्रकाश का माप केवल इस बात से हो सकता है कि उसके चारों ओर का अन्धकार दूर हुआ या नहीं । सूर्य बिना तेल बत्ती के भी प्रकाशवान है, और बुझा हुआ दीपक तेल बत्ती के होते हुए भी प्रकाशहीन है। इसी तरह कुछ मनुष्य पूजा पाठ के बिना भी धर्मात्मा हैं, वे सूर्यवत् हैं और अन्य कितने ही मनुष्य पूजा पाठ करते रहने पर भी धर्महीन हैं, वे पाखण्डी हैं ।

परन्तु साधारण मनुष्यों को लैम्प के समान प्रकाश उत्पन्न करने के लिये पूजा पाठ रूपी तेल बत्ती की आवश्यकता रहती है। जो मनुष्य साधारण होते हुए भी पूजा पाठ तथा सत्संग से हीन हैं उनका दिया भी बुझा रहता है। जिस मुहल्ले में तुम रहते हो यदि उसकी नालियाँ दुर्गन्ध युक्त हैं और चारों ओर कीचड़ सड़ रहा है, मच्छरों के झुण्ड उड़ते रहते हैं, लोग मैले–कुचैले, अनपढ़, रोगों के मारे और निर्धनता के सताये हुए हैं, और तुम इन अवस्थाओं के सुधार के लिये कुछ नहीं कर रहे हो, तो तुमको धर्मात्मा कहलाने का कोई अधिकार नहीं है । फिर चाहे तुम कितनी ही लम्बी समाधि लगाते हो, कितना भी भजन कीर्तन करते हो कितने ही घण्टे घड़ियाल बजाते हो और कितनी भी सामग्री हवन में फूँक देते हो, तो भी तुम धर्मात्मा नहीं हो । संसार में आज तक जितने भी महात्मा प्रचार करने आयें वह इसी सम्वेदना–भाई चारे की भावना का प्रकाश तुम्हारे दिये बत्ती में जलाने आये थे ।

पादरी लोग जब ईसामसीह के सम्बन्ध में कहते हैं कि उसने अन्धों को आँखें दी, बहरों को कान दिये, लूले लँगड़ों को हाथ–पैर दिये तो वह उस महात्मा के कारनामों का ठीक रूप में वर्णन नहीं करते । हम कहते हैं कि संसार के सभी महात्माओं ने अन्धों को आँखें दी, बहरों को कान दिये, लूले लँगड़ों को हाथ–पैर दिये । पर इस अभागे संसार ने काम, क्रोध, लोभ, मोह, आलस्य, प्रमाद आदि के घोर विष से अपने आपको अन्धा, बहरा, लूला, लँगड़ा बना डाला । जिस समय हम इन महात्मा लोगों की प्रेरणा से अपने चारों ओर बसे मनुष्यों के प्रति सम्वेदना अनुभव करते हैं, और उनकी बिगड़ी हुई हालत को सुधारने के लिये भरसक चेष्टा करते हैं, उस समय हमारी खोई हुई आँखें वापिस मिल जाती हैं, हमारे बहरे कान सुनने लग जाते हैं और हमारे कटे हुए हाथ पैर फिर से हरे हो जाते हैं । बस जहाँ अपने चारों ओर की शोचनीय अवस्था को सुखमय दशा में परिवर्तन करने की भावना मौजूद है, वहीं धर्म का सच्चा स्वरूप है ।

धर्म के दो स्वरूप

धर्म की आवश्यकता तो सभी समझदार लोग स्वीकार करते हैं, पर धार्मिक सिद्धान्तों के विषय में प्रायः मनुष्यों में मतभेद पाया जाता है । विभिन्न मजहबों में पाये जाने वाले अन्तर को तो छोड़ दीजिये, एक ही मजहब के पृथक–पृथक सम्प्रदायों के सिद्धान्तों में घोर वैषम्य दिखाई देता है । हिन्दू धर्म इस दृष्टि से सबसे अधिक मतभेद रखने वाला है और उसमें अपनी–अपनी स्वतंत्र सत्ता रखने वाले

सम्प्रदायों की संख्या सैकड़ों से भी अधिक है। इनमें कितने ही सिद्धान्त तो एक दूसरे के सर्वथा विपरीत मिलते हैं। पर इस प्रकार के मत भेदों में धर्म का ठोस अंश बहुत कम होता है। अधिकांश अवस्थाओं में तो मतभेदों का कारण ऊपरी रस्म रिवाज या स्थानीय विशेषतायें ही होती हैं।

यथार्थ में धर्म के दो अंग होते हैं। एक तो नित्य अथवा अपरिवर्तनशील और दूसरा अनित्य अथवा परिवर्तनशील। सदाचार या सद्‌गुण तो नित्य या अपरिवर्तनशील धर्म हैं। उन सद्‌गुणों के अनुसार वर्ताव करने, इन गुणों को बढ़ाने का प्रयत्न करने, और आपस में व्यवहार करने की विधियाँ समय-समय पर बदलती रहती हैं। जैसे-जैसे मनुष्य का मानसिक विकास होता है ये विधियाँ पहले से अच्छी निकल आती हैं। नये-नये धर्म प्रवर्तकों का कार्य पहले से अधिक श्रेयस्कर अथवा बदली हुई परिस्थिति के अनुकूल विधियाँ बनाने का होता है।

उदाहरण के लिये देखिये कि सत्य, दया, न्यायप्रियता, उदारता आदि सद्‌गुण अपरिवर्तनशील हैं। कोई धर्म इनको कभी बुरा न कहेगा। ये प्रायः सभी धर्मों में पाये जायेंगे। कोई धर्म-प्रवर्तक इनका निषेध न करेगा। इसलिये ये नित्यधर्म हैं। लेकिन सत्य, दया, उदारता आदि के सूक्ष्म रूप, जैसे-जैसे मनुष्य की बुद्धि तीव्र होती जायेगी वैसे-वैसे प्रकट होंगे। जैसे कोई तो झूँठ बोलने को ही सत्य का उल्लंघन समझे। दूसरा ऐसे सभी कार्यों को झूँठ समझे जिनको उसे छिपाना पड़े, या मन में किसी अनुचित इच्छा को लाना भी सत्य का उल्लंघन समझे। यह उस मनुष्य के विचारों की सूक्ष्मता पर निर्भर है। इस प्रकार सत्य-धर्म में तो कोई परिवर्तन नहीं हुआ, पर उसके प्रयोग में विकास अथवा उन्नति अवश्य हुई।

सद्‌गुणों की वृद्धि करने वाली क्रियाऐं जैसे-उपासना, सद्‌ग्रन्थों का अध्ययन, दान, तीर्थाटन आदि भिन्न-भिन्न जातियों, देशों व समयों में भिन्न-भिन्न होती हैं। यह सब धर्म का अंग होते हुए भी परिवर्तनशील हैं। उनका उद्देश्य सदैव एक ही होता है, परन्तु एक ही उद्देश्य से कार्य करने वाले मनुष्यों की कार्य प्रणाली पृथक-पृथक होती है। इसी प्रकार जन समुदायों अथवा सम्प्रदायों की धार्मिक शैलियाँ भिन्न हो सकती हैं और एक ही जाति के महापुरुष नई-नई शैलियों का आविष्कार कर सकते हैं। इसी प्रकार धार्मिक संस्कार पृथक-पृथक और परिवर्तनशील होते हैं तो सभी जातियों, सभी देशों, सभी समयों में। मनुष्य जब प्राकृतिक शक्तियों को अपने से बहुत अधिक प्रबल देख कर उनमें देवताओं की कल्पना करता है, तो उन शक्तियों को प्रसन्न करने के लिए पूजा करना, उनको भेंट चढ़ाना, बलिदान करना, आवाहन करना स्वाभाविक ही है, जिससे वे प्रसन्न होकर मनुष्यों का अनहित न करें, और उसके लिये सुखकारी सिद्ध हों। यही धार्मिक संस्कारों का मूल है। पर देश काल के अनुसार हमारी प्रणाली बदल रही है और आगे भी बदलती रहेगी। उदाहरणार्थ किसी विधि में किसी ठण्डे देश में ऊनी वस्त्र पहिने जाते हैं और फिर यदि वे ही लोग किसी गर्म देश में आ बसें तो ऊनी वस्त्रों के स्थान में सूती वस्त्र पहिनने लगेंगे। अथवा यदि किसी समय किसी पूजा में मिट्टी की साधारण सी मूर्ति बना कर रखने की प्रथा हो और फिर वे मूर्तियाँ सुन्दर पत्थर की बनने लगें तो मिट्टी की मूर्ति की जगह पत्थर की मूर्तियों का प्रचलन हो जायगा। लगभग पचास-साठ वर्ष पहले ही महाराष्ट्र में गणपति पूजन के अवसर पर शास्त्रानुकूल वेषभूसा की मूर्तियाँ बनती थीं, पर अब दिन पर दिन वे मूर्तियाँ सरकारी फौजी अफसरों के भेष में, राष्ट्रीय नेता के भेष में, फैशनेविल जैंटिलमैनों के भेष में बनाई जाने लगी हैं।

धार्मिक संस्कारों का मूल चाहे कुछ हो परन्तु उनका प्रभाव विशेष रूप से पड़ता ही है। उस अवसर का महत्व, संस्कार करने वाले के मन पर अंकित हो जाता है। संस्कार के साथ जिस क्रिया को मनुष्य करता है उसे बिना सोचे समझे, हँसी खेल के समान नहीं करता वरन् उसकी महानता उसके हृदय पर जम जाती है। इस प्रकार अनेक धार्मिक संस्कार, धार्मिक भावों अथवा सद्‌गुणों की बढ़ती करने वाले होते हैं।

पर जैसे-जैसे समय बीतता जाता है परिवर्तित परिस्थितियों के प्रभाव से धार्मिक संस्कारों तथा अन्य धार्मिक क्रिया काण्डों की विधि कोरा दिखावा या आडम्बर मात्र रह जाती है। जिन सद्‌गुणों को उनके द्वारा बढ़ाना अभीष्ट होता है उसके विपरीत उसके कारण दुर्गुण की वृद्धि होने लगती है। लोग उसके सार को भूल कर बाहरी स्वरूप पर ही जोर देने लगते हैं। कभी-कभी वह विधि इतनी पेचीदा और लम्बी चौड़ी होती है कि साधारण मनुष्य न तो उसे समझ सकता है, न याद रख सकता है। ऐसी अवस्था में पंडितों या पुजारियों की एक श्रेणी बन जाती है जो उसे कराने के अधिकारी समझे जाते हैं। ये पुजारी जब अपने-अपने अधिकार की दृढ़ता के साथ स्थापित देखते हैं तो वे भी उस विधि के पूर्ण अध्ययन की

चिन्ता नहीं करते, वरन् उसके द्वारा अधिक से अधिक धन प्राप्त करने को ही अपना लक्ष्य बना लेते हैं। परिणाम यह होता है कि जो धार्मिक कृत्य मानव कल्याण के लिये प्रचलित किये गये थे वे ही फिर स्वार्थसाधन, अभिमान, द्वेष आदि की उत्पत्ति करने वाले बन जाते हैं। संसार में धर्म के नाम पर जो अनर्थ हुये हैं, उनका मूल कारण यही है।

ऐसी अवस्था देखकर किसी महापुरुष का हृदय सहानुभूति और करुणा से द्रवित हो जाता है। वह ऐसे पुजारियों और ऐसे आडम्बर का विरोध करने लगता है। जब किसी धार्मिक कृत्य से सद्गुणों के बदले दुर्गुण बढ़ने लगें तो वह त्याज्य हो जाता है। इसलिये फिर से सार धर्म के उपदेश और नवीन धार्मिक विधियों के प्रचार की आवश्यकता होती है। कभी-कभी पुजारियों का गुरुडम मिटाने को धार्मिक कृत्यों की पेचीदा विधियों को दूर करके, साधारण व्यक्तियों के समझने और आचरण कर सकने योग्य रास्ता बताना आवश्यक होता है। इस प्रकार धार्मिक अवस्था में महान परिवर्तन हो जाता है। परन्तु धर्म का सार रूप, सद्गुणों का आचरण अब भी वैसा ही महत्वपूर्ण रहता है जैसा कि पहले था। अथवा यह कहना चाहिए कि वह पहले से भी अधिक आवश्यक हो जाता है, क्योंकि उसकी रक्षा के लिए बाहरी विधियों और क्रियाओं में परिवर्तन किया जाता है। इस प्रकार नित्य धर्म की रक्षा के लिये ही महापुरुषों द्वारा धर्म के ऊपरी रूप में परिवर्तन किया जाता है जिसे सामान्य व्यक्ति नवीन धर्म अथवा साम्प्रदाय की स्थापना का रूप दे देते हैं।

धर्म का व्यापक स्वरूप

नित्य व्यवहार में धर्म शब्द का उपयोग केवल "पारलौकिक सुख का मार्ग" इसी में अर्थ किया जाता है। जब हम किसी से प्रश्न करते हैं कि 'तेरा कौन सा धर्म है ?' तब उससे हमारे पूछने का यही हेतु होता है कि तू अपने पारलौकिक कल्याण के लिये किस मार्ग-वैदिक, बौद्ध, जैन, ईसाई, मुहम्मदी या पारसी से चलता है और हमारे प्रश्न के अनुसार ही वह उत्तर देता है। उसी तरह स्वर्ग प्राप्ति के लिए साधनभूत यज्ञ, योग आदि वैदिक विषयों की मीमांसा करते समय 'अथातो धर्म जिज्ञासा' आदि धर्म सूत्रों में भी धर्म शब्द का यही अर्थ लिया गया है, परन्तु धर्म शब्द का इतना ही संकुचित अर्थ नहीं है। इसके सिवा राजधर्म, प्रजाधर्म, देशधर्म, जातिधर्म, कुलधर्म, मित्रधर्म इत्यादि सांसारिक नीति बोधकों को भी धर्म कहते हैं। धर्म शब्द के इन दो अर्थों को यदि पृथक करके दिखलाना हो तो पारलौकिक धर्म को 'मोक्षधर्म' अथवा सिर्फ मोक्ष और व्यवहारिक धर्म अथत्रा केवल नीति को केवल धर्म कहा करते हैं। उदाहरणार्थ-चतुर्विधि पुरुषार्थों की गणना करते समय हम लोग धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष कहा करते हैं।

महाभारत में धर्म शब्द अनेक स्थानों पर आया है और जिस स्थान में कहा गया है कि 'किसी का कोई काम करना धर्म-संगत है' उस स्थान में धर्म शब्द से कर्तव्य शास्त्र अथवा तत्कालीन समाज व्यवस्था शास्त्र ही का अर्थ पाया जाता है, तथा जिस स्थान में पारलौकिक कल्याण के मार्ग बतलाने का प्रसंग आया है उस स्थान पर मोक्ष धर्म के आशय से इसका प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार मनु आदि स्मृति ग्रन्थों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के विशिष्ट कर्मों अर्थात् चारों वर्णों के कर्मों का वर्णन करते समय केवल धर्म अर्थ का ही अनेक स्थानों पर कई बार उपयोग किया गया है। गीता में भी 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य (गीता २-३१) 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' (३-३५) आदि कई स्थानों पर धर्म शब्द इस लोक के चातुर्वर्ण्य के धर्म के अर्थ में ही प्रयोग किया गया है।

पुराने जमाने के ऋषियों ने श्रम विभाग रूप चातुर्वर्ण्य संस्था इसलिये चलाई थी कि समाज के सब व्यवहार सरलता से होते जावें। किसी एक विशिष्ट व्यक्ति या वर्ग पर ही सारा बोझ न पड़ने पावे और समाज का सभी दशाओं से संरक्षण और पोषण भली भांति होता रहे। यह बात भिन्न है कि कुछ समय के बाद चारों वर्णों के लोग केवल जातिमात्रोपजीवी हो गये, अर्थात् सच्चे स्वधर्म को भूल कर वे केवल नामधारी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र हो गये।

ऊर्ध्व बाहुर्विरौम्येषः न च कश्चिच्छ्रणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्म किं न सेव्यते॥

"अरे भुजा उठाकर मैं चिल्ला रहा हूँ, परन्तु कोई भी नहीं सुनता, धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है, इसलिये इस प्रकार के धर्म का आचरण तुम क्यों नहीं करते हो।"

क्या संस्कृत, क्या अन्य कोई भाषा, सभी में धर्म शब्द का प्रयोग उन सब नीति नियमों के बारे में किया गया है जो समाज धारा के लिये शिष्ट जनों के द्वारा अध्यात्म दृष्टि से बनाये गये हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर नीति के

उन नियमों अथवा शिष्टाचार को धर्म की बुनियाद कह सकते हैं जो समाज धारा के लिये शिष्ट जनों के द्वारा प्रचलित किये गये हों। और इसलिये महाभारत (अनु. १४०-१५७) में एवं स्मृति ग्रंथों में "आचार प्रभवो धर्मः" अथवा आचारः परमोधर्मः (मनु. १-१०८) अथवा धर्म को मूल बतलाते समय "वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य प्रियमात्मनः" (मनु. १२-२) इत्यादि बचन कहे हैं।

धर्म शब्द की दूसरी एक और व्याख्या प्राचीन ग्रंथों में दी गयी है, यह व्याख्या मीमांसकों की है। "चोदना लक्षणाऽर्थो धर्मः" (जै. सू. १-१-२) किसी अधिकारी पुरुष का यह कहना अथवा आज्ञा करना कि 'तू अमुक कर' अथवा 'मत कर' "चोदना' यानि प्रेरणा है। जब तक इस प्रकार का कोई प्रबन्ध नहीं कर दिया जाता तब तक कोई भी काम किसी को भी करने की स्वतंत्रता होती है। इसका आशय यही है कि पहले-पहल निर्बन्ध या प्रबन्ध के कारण धर्म निर्माण हुआ। धर्म की यह व्याख्या कुछ अंश में प्रसिद्ध अंग्रेज ग्रन्थकार हाव्स के मत से मिलती है। असभ्य तथा जंगली अवस्था में प्रत्येक मनुष्य का आचरण समय समय पर उत्पन्न होने वाली मनोवृत्तियों की प्रबलता के कारण हुआ करता है। परन्तु धीरे-धीरे कुछ समय के बाद यह मालूम होने लगता है कि इस प्रकार का मनमाना वर्ताव श्रेयस्कर नहीं है और यह विश्वास होने लगता है कि इन्द्रियों के स्वाभाविक व्यापारों की कुछ मर्यादा निश्चित करके उसके अनुसार कार्य करने में ही सब लोगों का कल्याण है, तब प्रत्येक मनुष्य ऐसी मर्यादाओं का पालन कायदे के तौर पर करने लगता है, जो शिष्टाचार या अन्य रीति से सुदृढ़ हो जाया करती हैं। जब इस प्रकार की मर्यादाओं की संख्या बहुत बढ़ जाती है, तब उन्हीं का एक शास्त्र बन जाता है। पूर्व समय में विवाह व्यवस्था का प्रचार नहीं था, पहले-पहल उसे श्वेतकेतु ने चलाया। इसी प्रकार शुक्राचार्य ने मदिरा पान को निषिद्ध ठहराया। यह न देख कर कि इन मर्यादाओं को बनाने में श्वेतकेतु अथवा शुक्राचार्य का क्या हेतु था, केवल किसी एक बात पर ध्यान देकर कि इन मर्यादाओं के निश्चित करने का काम या कर्तव्य इन लोगों को करना पड़ा, धर्म शब्द की 'चोदना लक्षणोऽर्थो: धर्मः' व्याख्या बनाई गई है।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वश मागच्छेत्तौ नौ हस्य परि पन्थिनौ॥ *गीता ३/३४*

प्रत्येक इन्द्रिय में अपने-अपने उपयोग अथवा त्याज्य पदार्थ के विषय में जो प्रीति अथवा द्वेष होता है वह स्वभाव सिद्ध है। इनके वश में हमें नहीं पड़ना चाहिए क्योंकि राग और द्वेष दोनों हमारे शत्रु हैं। तब भगवान भी धर्म का वही लक्षण स्वीकार करते हैं जो स्वाभाविक मनोवृत्तियों को मर्यादित करने के विषय में ऊपर कहा गया है। मनुष्य की इन्द्रियाँ उसे पशु के समान आचरण करने के लिये कहा करती हैं और उसकी बुद्धि उसके विरुद्ध दिशा में खींचा करती है। इस कलहाग्नि में जो लोग अपने शरीर में संचार करने वाले पशुत्व का यज्ञ करके, कृत-कृत्य सफल होते हैं, उन्हें ही सच्चा याज्ञिक कहना चाहिए।

'धर्मो रक्षति रक्षतः'

धर्म वह वस्तु है जिसकी रक्षा करने से हमारी रक्षा होती है। मनुष्य बड़ा स्वार्थी जीव है, उसने हर दिशा में पहले यह देखा है कि इस कार्य को करने में मेरा कितना हित होगा, तत्पश्चात् उस कार्य को आरम्भ किया है। गाय, भैंस, घोड़े, बकरी आदि की वह रक्षा करता है क्योंकि बदले में वह भी मनुष्य की सम्पत्ति तथा तन्दुरुस्ती की रक्षा करते हैं, बढ़ाते हैं। सियार, भेड़िया, हिरन, लोमड़ी, चीता, कछुआ आदि को आमतौर से नहीं पाला जाता क्योंकि इनसे लाभ नहीं होता। यही बात हर दिशा में है- व्यापार, विवाह, मित्रता, कुटुम्ब पालन, विद्या, व्यायाम आदि को इसलिये उचित ठहराया गया है कि इनके द्वारा मनुष्य का हित साधन होता है, रक्षा होती है सुख मिलता है। जिस कार्य से किसी अच्छे प्रतिफल की आशा नहीं होती उसमें मनुष्य दिलचस्पी नहीं लेता।

धर्म को मनुष्य ने बहुत ही बड़ी वस्तु माना है। छोटे-मोटे सुखों को त्याग कर और कष्टों को अपना कर भी वह धर्म के लिये प्रयत्नशील रहता है क्योंकि लाखों वर्षों का अनुभव यह सिखाता है कि धर्म की रक्षा करने से अपनी रक्षा होती है। रक्षक, पहरेदार, चौकीदार, सैनिक आदि रक्षा करने वाले व्यक्तियों को पैसा खर्च करके भी अपने पास रखा करते हैं क्योंकि यह बात अनुभव में आ चुकी है कि इनके द्वारा आने वाली आपत्तियों और हानियों से बचाव होता है। यदि यह बात न होती तो कोई भी पहरेदारों को न रखता। इसी प्रकार धर्म को भली-भाँति परख लिया है कि वह हमारी रक्षा करता है, इसलिये लोग धर्म की रक्षा करना उचित समझते हैं। यदि उसमें यह गुण न होता तो कोई उसे स्वीकार नहीं करता।

गौ पालन, तुलसी स्थापना, गंगा स्नान, तीर्थ यात्रा, एकादशी व्रत, ब्रह्मचर्य आदि कार्यों को धर्म माना गया है।

इस मान्यता से पहिले परीक्षा कर ली गयी है कि यह कार्य लाभदायक है । गाय पालने से दूध, गोबर और बछड़े मिलते हैं, तुलसी अनेक रोगों को दूर करने वाली एक अमोघ ओषधि है, गंगा के जल में ऐसे रासायनिक तत्व पाये जाते हैं जो स्वास्थ्य सुधार के लिये उपयोगी है । तीर्थ यात्रा में देशाटन के अनुभव, सत्पुरुषों का सत्संग और वायु परिवर्तन होता है । एकादशी व्रत रखने से पन्द्रह दिन का कब्ज पच जाता है। ब्रह्मचर्य से शरीर बलवान रहता है । इन प्रत्यक्ष लाभों की आकर्षण शक्ति ने ही मनुष्य को धर्म के साथ बाँध रखा है अन्यथा यह स्वार्थी जीव कब का धर्म को धता बता चुका होता ।

जहाँ श्रेष्ठता होती है वहाँ कुछ बुराई भी घुस जाती हैं धर्म पालन को लोग बहुत ही महत्वपूर्ण समझते हैं और उसके लिये त्याग भी करते हैं । यह देखकर स्वार्थपरता जो कि हर एक क्षेत्र में पाई जाती है- जाग्रत हुई और अनुचित रूप से व्यक्तिगत लाभ उठाने के आडम्बर रचे गये । धर्म गुरुओं में जहाँ अधिकांश श्रेष्ठ पुरुष थे और रक्षा करने वाले धर्म का उपदेश दिया करते थे, वहाँ कुछ ऐसी ओछी मनोवृत्ति के लोग भी, गुरुओं में मिल गये जिन्होंने व्यक्तिगत लाभ की प्रेरणा से नकली बातों को धर्म में जोड़ दिया । कालान्तर में वह असली और नकली बातें एक दूसरे के साथ मिलकर ऐसी शक्ल में आ गयीं कि आज यह पहचानने में कठिनाई होती है कि हमारे सामने धर्म का जो स्वरूप उपस्थित है, उसमें कितनी बातें असली और कितनी नकली हैं ?

इस असली नकली के सम्मिश्रण के कारण परिस्थिति ऐसी बन गयी है कि धर्म के नाम पर जो कार्य किये जाते हैं, उनमें से बहुत से पुण्य और बहुत से पाप होते हैं । आज नकली की मात्रा असली से अधिक हो गई है इसलिये धर्म के नाम पर जो कुछ किया जाता है, उसमें पुण्य का भाग कम और पाप का भाग अधिक होता है। धर्म के निमित्त जो कुछ जमा करते हैं वह फूटे पैंदे के घड़े में होकर नीचे बह जाता है । फलतः अपनी सम्पूर्ण शक्ति का पाँचवां हिस्सा धर्म के लिए खर्च करते हुए भी कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, लाभ के बदले उलटी हानि दिखाई पड़ती है।

धर्म के नाम पर पलने वाले व्यक्ति और धर्म के नाम पर चलने वाली संस्थाओं के कार्यों पर जब हम गम्भीर दृष्टिपात करते हैं तो उनके द्वारा उन्नति की बजाय अवनति के तत्व अधिक दिखाई पड़ते हैं । धर्म जिनकी घर गृहस्थी का पूरा-पूरा खर्च चलाता है उनसे यह भी आशा करता है कि बदले में वे लोक हित की साधना करें । जनता जिन लोगों का पेट पालती है, जिनके जीवन की रक्षा करती है, उन्हें भी उचित है कि बदले में जनता की रक्षा का कार्य करें, यही तो धर्म है । नौकरी और दान में यह अन्तर है कि नौकर तो जितने पैसे लेता है उतना ही काम करके छुट्टी पा जाता है परन्तु दान देने वाले की जिम्मेदारी अनेक गुनी है क्योंकि उसने पैसे के अतिरिक्त श्रद्धा को भी प्राप्त किया है, इसलिये उसे नौकरी की अपेक्षा कई गुना काम करके धर्म की मर्यादा की रक्षा करनी है । इसी प्रकार धर्म के नाम पर चलने वाली संस्थाओं का कर्तव्य है कि यजमानों के हित साधन के लिये प्राप्त पैसे की अपेक्षा अनेक गुना काम करके दिखावें परन्तु हम देखते हैं कि धर्म के नाम पर चलने वाले व्यक्ति और संस्थान दोनों ही इस कसौटी पर कसे जाने के उपरान्त खरे नहीं उतरते । नकली कामों का फल भी नकली होगा ।

इस युग की शिकायत है कि "हमारी पञ्चमांश शक्ति को धर्म खा जाता है परन्तु बदले में झूठी कल्पनाओं के अतिरिक्त कुछ नहीं देता ।" इस शिकायत के उत्तर में हमारा कथन है, वह धर्म नहीं है । क्योंकि धर्म एक प्रकार की उर्वरा भूमि है जिसमें बोया हुआ बीज कई गुना होकर लौटता है । धर्म में 'नकद' होने की विशेषता है । इस हाथ लेकर उस हाथ देने का उसमें स्वाभाविक गुण है । जो धर्म की रक्षा करता है धर्म उसकी अवश्यमेव रक्षा करता है । यदि किसी प्रकार का प्रत्युत्तर, प्रत्युपकार प्राप्त न हो तो समझना चाहिए कि यह नकली चीज है। जिसमें न तो गर्मी हो न चमक, वह अग्नि नहीं कही जा सकती है । इसी प्रकार रक्षा करने पर भी जो न तो सुख में वृद्धि करता है और न आपत्तियों से रक्षा करता है वह धर्म नहीं है । यदि हम लोग वास्तविक धर्म की उपासना करते होते तो आज पतित, पराधीन, क्षुधार्थ, बीमार, बेकार और तरह-तरह से दीन-हीन न होते । धर्म के साधक की यह दुर्गति तीनों कालों में भी नहीं होती । बहुत कुछ खोने के पश्चात् अब हमें होश में आना होगा और वास्तविक धर्म को ढूढ़ना होगा, जिसकी शरण में जाने से मनुष्य की सब प्रकार की आधि-व्याधि मिट जाती है, सब प्रकार के क्लेश, कष्टों से छुटकारा मिल जाता है ।

धर्म और अधर्म की व्यवस्था करते हुए पञ्चाध्यायी में एक बहुत महत्वपूर्ण श्लोक कहा गया है-

शक्तिः पुण्यं पुण्य फलं सम्पच्च सम्पदः सुखम् ।
अतोहि चयनं शक्तेर्यतो धर्मः सुखावहः ॥

अर्थ-शक्ति पुण्य है, पुण्य का फल वैभव है और वैभव से सुख प्राप्त होता है, इसलिये निश्चय से शक्ति का सञ्चय सुख कारक धर्म माना गया है ।

उपरोक्त श्लोक में सच्चे धर्म का असली मर्म खोलकर रख दिया है । जिससे अपने-अपने समाज की शक्ति बढ़ती है वह धर्म है । विद्या, स्वास्थ्य, धन, प्रतिष्ठा, पवित्रता, संगठन, सच्चरित्रता यह सात महाबल माने गये हैं । जिन कार्यों से इन सात मार्गों में अपनी या अपने समाज की उन्नति होती हो, धर्म साधना के निमित्त उन्हीं कार्यों को करना व अपनाना चाहिए । स्वयं इन सात बलों को अपने पास एकत्रित करना धर्म कर्तव्य समझ कर सदैव प्रयत्न करते रहना चाहिए और ये महा सम्पत्तियाँ दूसरों को भी प्राप्त हों इसके लिये परोपकार भावना के साथ उद्योग करना चाहिए। ऐसी सभा-संस्थाओं का स्थापन, संचालन और सहयोग करना चाहिए जो स्वास्थ्य की उन्नति करती हों, जिनके द्वारा ज्ञान की वृद्धि होती हो, आर्थिक दशा सुधरती हो, गन्दगी, मलीनता, कुरुचि हटती हो, मेल, ऐक्य, भातृभाव बढ़ता हो तथा सद्गुणों में, सदाचार में, न्याय में वृद्धि होती हो । बलों की वृद्धि करना ही धर्म साधना का प्रधान कार्य है रक्षा करने का एक मात्र हथियार 'बल' है। धर्म का गुण रक्षा करना माना गया है । इसलिये वे ही कार्य धर्म ठहराये जा सकते हैं, जिनके द्वारा हमारा व्यक्तिगत और सामूहिक बल बढ़ता हो, सुख बढ़ता हो और आत्म रक्षा की क्षमता प्राप्त होती हो ।

जो व्यक्ति उपरोक्त प्रकार के कार्यों में जितने परिश्रम और लगन के साथ जुटे हुए हों उन्हें उतना ही बड़ा धर्मात्मा मानना चाहिए । हमें सच्चे धर्म को पहिचान ने की और उसी की रक्षा करने की आवश्यकता है, जिससे हमारी भी रक्षा हो । अज्ञान और आडम्बर के पर्दे को हटाकर हमें भगवान-सत्य के दर्शन करने चाहिए । सत्य का अवलम्बन करने में ही धर्म है और धर्म के ऊपर ही हमारी वैयक्तिक और सामूहिक उन्नति तथा रक्षा निर्भर है ।

१९. प्राणघातक व्यसन

गायत्री महामंत्र का उन्नीसवाँ अक्षर 'यो' हमको हानिकारक दुर्व्यसनों से बचने की शिक्षा देता है-

योजनं व्यसनेभ्यः स्यात्तानिपुंसस्तु शत्रवः ।
मिलित्वैतानि सर्वाणि समयेघ्नन्ति मानवम् ॥

अर्थात्-"व्यसनों से कोसों दूर रहें, क्योंकि वे प्राणघातक शत्रु हैं ।"

व्यसन मनुष्य के वास्तविक प्राणघातक शत्रु हैं । इनमें मादक पदार्थ प्रधान हैं । तम्बाकू, चाय, गाँजा, चरस, भाँग, अफीम, शराब आदि नशीली चीजें एक से एक बढ़कर हानिकारक हैं । जैसे थके हुए घोड़े को चाबुक मारकर दौड़ाते हैं, परन्तु अन्त में उससे घोड़े की बची-खुची शक्ति भी नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार नशा पीने से आरम्भ में, तो कुछ फुर्ती-सी दिखलाई पड़ती है, परन्तु परिणाम स्वरूप उससे रही सही शक्ति भी जाती रहती है । मादक द्रव्य सेवन करने वाला व्यक्ति दिन-दिन क्षीण होते-होते अकाल मृत्यु के मुख में चला जाता है । व्यसन मित्र के रूप में हमारे शरीर में घुसते हैं और शत्रु बनकर उसे मार डालते हैं ।

नशीले पदार्थों के अतिरिक्त और भी ऐसी आदतें हैं जो शरीर और मन को हानि पहुँचाती हैं, पर आकर्षण और आदत के कारण मनुष्य उनका गुलाम बन जाता है । सिनेमा, नाच-रंग, व्यभिचार, जुआ आदि कितनी ही हानिकारक और अप्रतिष्ठाजनक आदतों में लोग फँस जाते हैं और अपना धन, समय तथा स्वास्थ्य बर्बाद कर डालते हैं ।

ये दुर्व्यसन कुछ थोड़े से व्यक्तियों के जीवन को ही नष्ट नहीं करते, वरन् बड़े-बड़े देश, राष्ट्र, जन-समुदाय इनके कारण सर्वनाश के गड्ढे में गिर जाते हैं । जैसा भारतीय इतिहास के पाठक जानते हैं कि मुगल साम्राज्य का मूलोच्छेद शराबखोरी के कारण ही हुआ । इसी प्रकार चीन का राष्ट्र अफीमखोरी के कारण नष्ट हो गया । पुराने जमाने में भी मिश्र, यूनान और रोम के उन्नतिशील और शक्तिशाली राष्ट्र मद्य के फन्दे में फँसकर पतन के गर्त में गिर चुके हैं । हमारे प्राचीन इतिहास में यादवों का शक्तिशाली राज्य मद्यपान के व्यसन के कारण ही नष्ट हो गया और श्रीकृष्ण जैसे लोकोत्तर पुरुष भी उसकी रक्षा न कर सके । यही कारण है कि हिन्दू धर्म शास्त्रों में सुरापान की गिनती महापातकों में की गई है ।

ब्रह्महत्यां, सुरापश्च स्तेयो गुरुतल्पगः ।
एते सर्वे पृथाज्ञेया महापातकिन्ते नराः ॥

अर्थात्- "ब्रह्मघाती, मद्यप, चोर, गुरु पत्नी में गमन करने वाला-ये सभी महापातकी और निन्दित हैं, इनका परित्याग कर देना चाहिए ।"

मदिरा प्रकृति के प्रतिकूल है

मदिरा सेवन करने वालों को दलील है कि भोजन के साथ थोड़ी-सी शराब ले लेने से पाचन क्रिया भली-भाँति

हो जाती है। स्थूल दृष्टि से अवश्य ऐसा प्रतीत होता है कि भोजन खूब पच रहा है। खुलकर झूठी भूख लगने लगती है। इसका कारण यह होता है कि मदिरा में तेजाब होता है जो कि भोजन को गला देता है, किन्तु उसकी प्रतिक्रिया आँतों पर भी होती है। भीतर ही भीतर आँतें भी गलती रहती हैं और शरीर की पाचन प्रणाली की दशा इतनी बिगड़ जाती है कि शराबी आदमी अनेक उदर सम्बन्धी रोगों से ग्रसित होकर काल-कवलित हो जाता है।

मदिरा पीना प्रकृति के प्रतिकूल है। जब मदिरा का प्याला हाथ में लेकर मुख के समीप लाते हैं तो उसकी बू दिमाग में पहुँचते ही त्वचा में सिकुड़न आ जाती है, आँखें भी बन्द हो जाती हैं, परन्तु मनुष्य उसे प्रकृति के प्रतिकूल जबरदस्ती पी जाता है। मदिरा के स्थान पर दूध का प्याला पीने के लिए जब मुख के निकट लाते हैं, तब कोई अंग उसे अस्वीकार नहीं करता, बल्कि उसे बड़े चाव से मनुष्य पी जाता है। मदिरा का सेवन करने पर शरीर का प्रत्येक अंग उस समय चेतना-शून्य-सा होने लगता है। बुद्धि, निर्णय शक्ति, आत्मसंयम, इच्छा शक्ति, सदासद्विवेक, न्यायान्याय की भावना, कर्तव्य, प्रेम, करुणा, स्वार्थ त्याग नष्ट हो जाते हैं। अश्लील बातें मुँह से निकलने लगती हैं, व सारे शरीर को एक बार हिला देती हैं। यदि अत्यधिक पी गया, तो तबियत मिचलाने लगती है और वह शरीर से कै के रूप में बाहर निकल जाती है। मनुष्य मद्यप की दशा में बेइज्जत होता है।

मद्य हमें कमजोर, निस्तेज, शक्तिहीन बनाता है। कमजोर रहना अपराध है। अत: शराब हमें अपराधी बनाती है। इसलिए वह सर्वथा त्याज्य है।

गाँधी जी की विचारधारा एवं रचनात्मक कार्यक्रम में शराबबन्दी का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। विदेशी सरकार ने मादक पदार्थों-शराब, अफीम, तम्बाकू, चाय, कॉफी, गाँजा, भाँग, कोकेन इत्यादि का प्रचार बढ़ाया तथा हमें उनका अभ्यस्त बनाकर क्षीणकाय, अल्पायु एवं दुर्बल-मन बना दिया है। शराबी की स्मरण शक्ति बिगड़ जाती है, बुद्धि, विवेक और नीति का नियंत्रण उठते ही, वह मनोवेगों के साम्राज्य में विहार करने लगता है, दुर्विकार उस पर आधिपत्य जमा लेते हैं। वह खाना, वासना और मद्य का ही गुलाम बन जाता है। मद्य अनियमितता, मूर्खता, अयोग्यता, आकस्मिक दुर्घटनाओं का एक महान कारण है। शराबी न सामाजिक प्रतिष्ठा का ध्यान रखता है, न रोगों का या परमात्मा का, उसकी प्रवृत्ति निरन्तर व्यभिचार की ओर होती जाती है। महात्मा जी का विचार था कि मादक वस्तुओं का व्यवहार मनुष्य तथा राष्ट्र को पतन की ओर ले जाता है। नागरिकों के चरित्र का पतन, राष्ट्र का पतन है।

कुछ व्यक्तियों की यह गलत धारणा हो गई है कि शराब से शक्ति प्राप्त होती है। शराब उत्तेजक मात्रा है। पीने के कुछ काल तक इससे हमारी पूर्व संचित शक्ति एकत्रित होकर उद्दीप्त मात्र होती है। नई शक्ति नहीं आती। यह शक्ति उत्पन्न करने के स्थान पर, नशे के बाद मनुष्य को निर्बल निस्तेज और निकम्मा बना जाती है। आदत पड़ने पर इसकी उत्तेजना के बिना कार्य में तबियत नहीं लगती। गरीब भारत का इतना रुपया इसमें व्यय हो जाता है कि पौष्टिक भोजन, दूध, फल इत्यादि के लिए कुछ शेष नहीं बचता।

जो व्यक्ति उत्तेजक पदार्थों से शक्ति प्राप्ति की आशा रखता है, वह कृत्रिम माया की मरीचिका में निवास करता है। स्वाभाविक, प्राकृतिक शक्ति ही मनुष्य की वास्तविक पूँजी हो सकती है। वस्तुत: शराब से शक्ति प्राप्ति की धारणा भ्रान्तिमूलक है।

पाश्चात्य देशों में अत्यधिक ठण्ड के कारण शराब का प्रचलन हुआ है, किन्तु वे लोग यह समझने लगे हैं कि मदिरा से मानसिक शक्ति को सहायता प्राप्त होती है कल्पना स्वच्छन्दता पूर्वक कार्य करने लगती है, भावनाएं और नव योजनाएं स्फुरित होने लगती हैं, विचार कोमल, सूक्ष्म और महत्वपूर्ण हो जाते हैं। ये बातें भ्रान्ति मूलक हैं। मदिरा की उत्तेजना में सही विचार कैसे सम्भव हैं ?

मदिरा से तर्क, विवेक बुद्धि, संयत भाव से निज कार्य शुद्ध रूप में कैसे कर सकते हैं ? मदिरा तमोगुणी है, कार्य शक्ति का क्षय करती है। प्रतिष्ठा, कीर्ति का नाश कर पतन और व्यभिचार की ओर प्रवृत्त करती है। फिर यह कैसे संभव है कि यह उच्च भावनाएँ या सूक्ष्म कल्पनाएँ, सही विचार प्रदान कर सके ? मदिरा पीने वाले व्यक्ति को सौन्दर्य की अनुभूति कभी ठीक नहीं हो सकती। उसके भावों का उन्मेष भी ठीक नहीं हो सकता। उत्तेजना की अवस्था में शुद्ध कलाकृति का निर्णय नहीं हो सकता।

अत: मन से यह भ्रमात्मक धारणा निकाल देनी चाहिए कि मद्य विचार शक्ति के विकास में सहायक है। इसके विपरीत शराब से उलटे मनुष्य की रचनात्मक शक्तियों- जैसे कल्पना, भावना, विचार दृढ़ता, निश्चय, काव्य प्रतिभा, मानसिक सन्तुलन, विवेक, तर्क शान्ति का ह्रास होता है। मनुष्य की उच्च सात्विक दैवी सम्पदाओं के स्थान

पर यह मन पर आसुरी तमोगुण प्रधान शैतानी दुष्प्रवृत्तियों का अधिकार करा देती है । उसमें आत्मनिरीक्षण, संयम, आत्मनियंत्रण, गम्भीर कार्य करने की शक्तियाँ नहीं रहतीं। शराब के नशे की अवस्था में किया गया कार्य मनः शान्ति की अवस्था में किये गये कार्य से निम्नकोटि का होता है।

तम्बाकू का हानिकारक प्रभाव

तम्बाकू का प्रचार इन दिनों बेहद बढ़ गया है । पुराने जमाने में इसे कभी-कभी ओषधि के रूप में काम में लाया जाता था, पर इधर कुछ सौ वर्षों से इसने एक बहुत बड़े दुर्व्यसन का रूप धारण कर लिया है । बच्चे से लेकर वृद्ध तक बीड़ी, सिगरेट मुँह से लगाये देखे जाते हैं और स्त्रियाँ तक इससे नहीं बची हैं । इसके जहरीले धुएँ से मनुष्य निर्बल, आलसी, विलासी और उत्तेजक स्वभाव का बनता है । तम्बाकू का अधिक सेवन करने वालों को क्षय रोग, हृदय रोग, उदर रोग, नेत्रों की खराबी, नपुंसकता, पागलपन आदि तरह-तरह की बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं । विलायत के बड़े-बड़े डाक्टरों ने खोज करके बतलाया है कि महाभयानक 'कैंसर' रोग का एक बड़ा कारण धूम्रपान ही होता है ।

तम्बाकू में एक महा भयंकर विष पाया जाता है, जिसे 'निकोटिन' कहते हैं । तीन सेर तम्बाकू की सूखी पत्तियों में से एक छटाँक 'निकोटिन' निकाला जा सकता है । निकोटिन संखिये से भी तीव्र विष है, जो मनुष्य पर धीरे-धीरे प्रभाव डालकर प्राणान्त करता है। निकोटिन की एक बूँद खरगोश की त्वचा पर डालने से उसकी मृत्यु हो जाती है । चीन में आत्महत्या करने का यह एक सुगम साधन बन गया था । वहाँ लोग जीवन से तंग आकर हुक्के का सड़ा पानी पीकर जीवन लीला समाप्त कर लेते थे । आरम्भ में तम्बाकू पीने से कै, दस्त, चक्कर आने शुरू हो जाते हैं ।

डॉ. केलाग ने बतलाया है कि आधा सेर तम्बाकू में ३८० ग्रेन निकोटिन विष होता है । यह इतना भयंकर होता है कि एक ग्रेन का दसवाँ हिस्सा कुत्ते को तीन मिनट में मार सकता है । एक व्यक्ति इस विष से तीस सेकण्ड में मर गया था । आधा सेर तम्बाकू का निकोटिन तीन सौ आदमियों के प्राण ले सकता है । एक साधारण सिगरेट में जितनी तम्बाकू होती है, उसके विष से दो आदमियों के प्राण लिए जा सकते हैं । भयंकर से भयंकर विषधर सर्प तम्बाकू के विष से इस तरह मर गये मानो उन पर बिजली गिर पड़ी हो ।

तम्बाकू का सबसे घातक प्रभाव हमारे रक्त पर पड़ता है । विषैले परमाणु फेंफड़े और हृदय तक पहुँच कर मनुष्य के रक्त को विकारमय, रोगी और निर्बल बना देते हैं, जब यह विषैला रक्त नलिकाओं में प्रवाहित रहता है तो रोग धीरे-धीरे उस पर अपना अधिकार जमा लेते हैं ।

सर्वप्रथम रोग क्षय या तपेदिक है। तपेदिक का कारण दूषित वायु है । सिगरेट, हुक्का या बीड़ी का दूषित धुआँ जब पुनः-पुनः श्वासोच्छवास द्वारा अन्दर पहुँचता है तो इसका विषैला प्रभाव हमारी जीवनी शक्ति पर पड़ता है। अधिक धूम्रपान करने वालों के फेंफड़े सड़ जाते हैं ।

तम्बाकू मस्तिष्क को निष्क्रिय करता है । हृदय रोग तम्बाकू की विशेष देन है । इसका विष हमारे फेंफड़ों और हृदय पर आक्रमण किया करता है । तम्बाकू के विष के प्रभाव से हृदय की आवरणात्मक त्वचा सुन्न पड़ जाती है और हृदय की गति को विषम बना देती है ।

बीड़ी, सिगरेट, हुक्का पीने से हानियाँ

पीने के तम्बाकू का कुत्सित प्रभाव नेत्रों के रोगों में विशेष रूप से प्रकट होता है । तम्बाकू के विष से न केवल फेंफड़े, हृदय या मस्तिष्क, प्रत्युत नेत्रों को भी हानि पहुँचती है । यदि आप नेत्र चिकित्सकों से सम्मति लें, तो वे एक स्वर से यह निर्देश करेंगे कि तम्बाकू से मनुष्य की दृष्टि निर्बल पड़ जाती है । श्री बैजनाथ महोदय के अनुसार तम्बाकू के भक्तों में अन्धापन आ जाता है । वे विभिन्न रंगों को पहिचान नहीं पाते । जर्मनी और बेल्जियम में तम्बाकू जनित नेत्र रोगों की अधिकता है ।

तम्बाकू कामोद्दीपक पदार्थ है । इसकी उत्तेजना में मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियाँ उत्तेजित हो उठती हैं और मनुष्य व्यभिचार, अशिष्टता, अनीति की ओर प्रवृत्त होता है । तम्बाकू पीने से चरित्रहीनता आती है।

चरित्र भ्रष्टता के साथ नपुंसकता आती है । डॉ. फूट लिखते हैं कि "मैंने देखा है कि तम्बाकू नपुंसकता के कारणों में एक मुख्य कारण है, और जब मेरे पास ऐसे लोग चिकित्सा के लिए आते हैं, तो मैं उनसे कहता हूँ कि तुम्हें दो में से एक बात पसन्द करनी होगी- विषय सुख या तम्बाकू । तम्बाकू से प्रेम हो तो सांसारिक सुख से निराश हो जाओ । वास्तव में, तम्बाकू से शरीर की सम्पूर्ण नसें ढीली पड़ जाती हैं, पर कभी-कभी सारे शरीर पर इसका दुष्परिणाम देर से प्रकट होता है । सबसे पहले इसका

विषैला प्रभाव शरीर के सबसे अधिक कमजोर अंग पर ही होता है और चूँकि पुरुष अपनी जननेन्द्रिय का बहुत दुरुपयोग करता है, तम्बाकू का विष इस दुर्बल और दलित अंग को सबसे पहले धर दबाता है ।

हमारे धार्मिक ग्रन्थों में भी तम्बाकू का सेवन अत्यन्त निन्दनीय बतलाया गया है । विष्णु पुराण में तम्बाकू पीने से गरीबी, दुःख, तामसवृत्ति की उत्पत्ति होने का निर्देश है । एक स्थान पर कहा गया है-

''तमाल भक्षितयेन सगच्छेन्नरकार्णवे''

पद्मपुराण में कहा गया है-

धूम्रपानरतं विप्रं दानं कुर्वन्ति ये नराः ।
दातारो नरकं यान्ति ब्राह्मणो ग्रामशूकरः ॥

अर्थात्- जो मनुष्य धूम्रपान करने वाले ब्राह्मण को दान देते हैं तो वे नरक में जाते हैं और ब्राह्मण शूकर की योनि पाता है ।

तम्बाकू से दाँत खराब होकर उनका रंग पीला और मटमैला हो जाता है । एक डाक्टर ने लिखा है कि तम्बाकू पीने वालों के पेट के भीतर की कोमल त्वचा पर गोल-गोल दाग पड़ जाते हैं । रक्त पतला होकर कमजोर हो जाता है । फेंफड़े निर्बल हो जाते हैं और हृदय की स्वाभाविक धड़कन में विकार उत्पन्न होकर एक प्रकार का कम्पन शुरू हो जाता है ।

इस प्रकार तम्बाकू मनुष्य के स्वाभाविक स्वास्थ्य को नष्ट करके शरीर में तरह-तरह के विकार उत्पन्न कर देती है । यह मनुष्य के शरीर के लिए एक विजातीय द्रव्य है, इसलिए शरीर इसे किसी दशा में अपने भीतर नहीं रख सकता और इसी से तम्बाकू खाने वालों को जगह-जगह थूकते रहने की घृणित आदत पड़ जाती है। तम्बाकू के व्यवहार से मनुष्य की श्वाँस नली, फेंफड़ों में जख्म होकर सड़न उत्पन्न हो जाती है, जिससे खाँसी की उत्पत्ति होती है । यही कारण है कि जो लोग सदैव तम्बाकू पीते हैं, बड़ी उम्र में उनको स्थाई रूप से खाँसी की शिकायत पैदा हो जाती है जो अन्त में मृत्यु के साथ ही जाती है ।

पान से चरित्र-हीनता की वृद्धि होती है

नित्य प्रति बाजारों, गलियों और रेलवे स्टेशनों पर बढ़ती हुई पान की आदत देखी जा सकती है । आधुनिक युग में पान का व्यसन उत्तरोत्तर वृद्धि पर है । इसका प्रयोग प्रायः हानिकर है, यह लोग जानते ही नहीं । आधुनिक सभ्यता ने इसे कुछ ऐसा अपना लिया है कि इसमें अशिष्टता, हानि या अश्लीलता नहीं समझी जाती ।

पान वासना उद्दीप्त करने वाला उत्तेजक मिश्रण है । मध्य युग में वेश्याएँ विशेष रूप से पान का उपयोग करती रही थीं । आज भी अधिकतर निम्नकोटि के मिरासी, भिश्ती, मजदूर, छैलछबीले कामुक व्यक्ति इसका प्रयोग करते हैं । वेश्या, मदिरा और पान इन तीनों का संग है । मुगल युग में वेश्याओं और कामुकता को विशेष प्रोत्साहन मिलने से पान की लोकप्रियता बढ़ी । मुगल बादशाह और नबाव पान के आदी ही नहीं बन गये थे, वरन् यह व्यसन इतनी बढ़ती पर था कि उसके बिना उनका जीवन दूभर हो गया था । पानदान और वेश्याएँ उनके साथ युद्ध में भी रहती थीं ।

आजकल पान का प्रचार इतना बढ़ गया है कि साधारण व्यक्ति भी दो-चार पान खा ही लेता है । अभ्यस्त व्यक्ति पचास से सौ तक पान चबा जाते हैं । सुपारी को महीन काटकर खुशबूदार चीजें मिलाकर ऐसा आकर्षक बनाया जाता है कि उसे खाना फैशन-सा हो गया है । जर्दा, अधिक चूना तथा अनेक कृत्रिम पदार्थ डालकर उसे ऐसा बना दिया जाता है कि उससे हानि होने की अधिक सम्भावना है ।

पान का रासायनिक विश्लेषण करने पर इसमें पियोरीन, पियोरिडीन, ऐरेकोलीन, एमीलीन, मरक्यूरिक एलमीन, पियेरोवेटीन इत्यादि विष तत्व विद्यमान रहते हैं। स्थान वैभिन्य के साथ-साथ पान के रासायनिक तत्व भी परिवर्तित होते रहते हैं । जैसे मद्रासी पान में पियरोवेटीन नामक विष की मात्रा अधिक है । बंगला पान सबसे अधिक विषयुक्त समझा जाता है ।

एक विशेषज्ञ का कथन है कि यदि सादे २८५ पानों का विष निकाल कर कुत्तों को खिला दिया जाय तो वे पाँच मिनट के अन्दर समाप्त हो जायेंगे, परन्तु चूने और कत्थे से लगे ५८ पान ही विष की उक्त मात्रा देने में समर्थ हो जायेंगे । इसलिए कत्थे चूने लगे पान सादे पान से अधिक विषैले प्रमाणित हुए ।

पियरोवेटीन नामक विष हृदय गति को शिथिल तथा निष्क्रिय बनाने वाला होता है । अन्य विषों के कीटाणु मस्तिष्क पर आक्रमण करते हैं और उसकी सूक्ष्मता नष्ट कर देते हैं । इन विषों के प्रभाव से मस्तिष्क अशान्त रहने लगता है। नींद का लोप हो जाता है । पान से कामेन्द्रियाँ उत्तेजित रहती हैं तथा मन विषय वासनामय गन्दे विचारों से परिपूर्ण रहता है । कामवासना को बढ़ाने के कारण यह

आध्यात्मिक सात्विक प्रवृत्ति के व्यक्तियों के लिए विषतुल्य है । कहा जाता है कि एरकोलिन विष चूने तथा कत्थे से संयुक्त होकर, अत्यन्त कामोद्दीपक हो जाता है । यह पुरुष-स्त्री के शुक्र तथा रज कीटों का नाश कर देता है ।

अधिक पान खाने से भूख कम हो जाती है। पान खाने वालों की पानी से ही तृप्ति हो जाती है । पान का घातक प्रभाव दाँतों पर होता है । सुपारी, चूना, कत्था, जर्दा इत्यादि के सूक्ष्म कण यत्र-तत्र मसूढ़ों या कटे हुए दाँतों के छिद्रों में एकत्रित हो जाते हैं । ये मसूढ़ों को काला तथा दाँतों की जड़ों को खोखला बना देते हैं । दाँतों में कीड़े लग जाते हैं और प्राय: पायरिया नामक घातक रोग उत्पन्न हो जाता है । दाँतों के इतने अस्पताल देखने से ज्ञात होता है कि तीस-चालीस वर्ष की अवस्था में ही आधुनिक बाबुओं के दाँत गिर जाते या खोखले होकर अनेक बीमारियों की सृष्टि करते हैं ।

सौ में से नब्बे या इससे भी अधिक लोगों के दाँत गिरने का कारण उनका पान का बहुत अधिक व्यवहार ही है । पान के रेशे सुपाड़ी के बारीक टुकड़े और चूना जाकर दाँतों के बीच में फँस जाते हैं । समय पाकर ये इतने अधिक हो जाते हैं कि दाँतों पर जोर डालकर उनके बीच संधि को बढ़ा देते हैं इनको हटाने के लिए जीभ सदा दाँतों के बीच में लगी रहती है । कुछ समय पश्चात् मसूढ़ों में सूजन हो जाती है और उनके भीतर पीव उत्पन्न हो जाती है । दाँतों में असह्य पीड़ा होती है और कुछ समय पश्चात् जब उनकी जड़ की नसें आदि भली-भाँति नष्ट हो जाती हैं तो वे गिर पड़ते हैं। पान का व्यसन दाँतों का अन्त कर देता है । लोग बिना दाँत के भोजन को भली-भाँति न कुचल सकने के कारण उसे वैसे ही निगल जाते हैं । अन्त में दाँतों का कार्य उदर को करना पड़ता है और वह भी कुछ समय पश्चात् निर्बल हो जाता है । भोजन भली-भाँति नहीं पचता और मनुष्य निर्बल होते-होते अन्त में पान के व्यसन के कारण काल के गाल में पहुँचता है ।

पान खाना अशिष्टता, ओछापन तथा कामोत्तेजक स्वभाव का द्योतक है । पान की दुकान पर खड़े होकर पान खाना असभ्य, वासनाप्रिय, दिखावटी, अस्थिरता, लोलुपता को स्पष्ट करता है । मनुष्य का पतन प्राय: पान से ही प्रारम्भ होता है । वह इसे साधारण-सा व्यसन मान कर हँसी-हँसी में आरम्भ करता है किन्तु धीरे-धीरे यह आदत का एक अंग बनता है, तम्बाकू खाने को तबियत करती है फिर सिगरेट प्रारम्भ होती है, अन्त में मदिरा और व्यभिचार तक हद पहुँच जाती है। अत: चतुर व्यक्ति को इस व्यसन से दूर ही रहना उत्तम है । सुपारी का भी शौक बुरा है। इससे खुश्की रहती है, दाँतों पर अनावश्यक बोझ पड़ता है कुछ चबाये बिना मन नहीं मानता, मन एकाग्र नहीं हो पाता और चंचलता बढ़ती रहती है ।

सभ्यता का विष चाय

चाय एवं काफी सभ्य संसार में पनपने वाले मादक पदार्थ है। सभ्य जगत ने और नशीली चीजों की तरह इन्हें भी अपना लिया है । वास्तव में ये दोनों जीवनी शक्ति का ह्रास करते हैं । इनके प्रयोग से शरीर से निकलने वाले कारबोलिक एसिड का परिणाम बढ़ जाता है ।

प्रथम हानि पाचन शक्ति का ह्रास है । बदहजमी, भूख की कमी, अपच में चाय बड़ी सहायक होती है । सर विलियम राबर्ट लिखते हैं- ''थोड़ी मात्रा में भी चाय और काफी का सेवन करने से हमारे शरीर के पाचन रस कमजोर हो जाते हैं, जिससे अन्न के पौष्टिक तत्वों के सत्वों को हमारा शरीर नहीं खींच सकता, दूसरे शब्दों में यही अग्निमांद्य अथवा अजीर्ण होता है ।''

दाँतों के रोग में वृद्धि का एक कारण गर्म-गर्म चाय का व्यवहार ही है। गर्म पानी लगने से दाँतों की जड़ें निर्बल पड़ जाती हैं । देखने में दाँत काले मैले गन्दगी से भरे हुए दिखाई देने लगते हैं ।

चाय क्षणिक उत्तेजना देती है । उत्तेजना समाप्त होने के पश्चात् मनुष्यों को स्वाभाविक शक्ति कम मालूम होने लगती है । यह शक्ति बढ़ाती नहीं, पुरानी शक्ति को क्षण भर के लिए उत्तेजित मात्र कर देती है । मस्तिष्क में रक्त का संचालन अधिक हो जाने से उसमें नई स्फूर्ति-सी आ जाती है । चाय या काफी पीने वालों को कोई न कोई उत्तेजना अवश्य चाहिए । बिना उस उत्तेजना के वे कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं कर पाते । प्राय: देखा जाता है कि लोग चाय का प्याला पीते रहते हैं, तभी तक उनका मन कार्य में लगता है, जहाँ चाय समाप्त हुई कि कार्य करने की प्रवृत्ति नहीं रहती । चाय सिगरेट जैसी आदत बन जाती है ।

चाय से सिर में दर्द बना रहता है । लोगों में यह भ्रान्ति-मूलक धारणा बैठ गई है कि चाय से भोजन हजम हो जाता है । वास्तव में, इससे उलटे पाचन क्रिया में व्यवधान उपस्थित हो जाता है । दिल की धड़कन की शिकायत बढ़ जाती है और अंग भारी रहते हैं ।

अनेक गणमान्य चिकित्सकों का कथन है कि चाय और काफी हृदय के कार्य को बढ़ा देती हैं। फेंफड़ों को बहुत अधिक कार्बोलिक एसिड गैस बाहर निकालना पड़ता है, शरीर में उष्णता की न्यूनता हो जाती है तथा गुर्दों के कार्य में अभिवृद्धि हो जाती है। यदि चाय तथा काफी में कहवाइन (कड़ुवा विष) का अंश बहुत अधिक रहता है तो मनुष्य का जी मिचलाता है, बहुत चक्कर आते हैं और अन्त में मनुष्य बेहोश हो जाता है। अधिक तेज काली-काली कहवाइन विष से भरी हुई चाय से मनुष्य मर भी सकता है।

चाय में दो प्रकार के विषैले पदार्थों का अस्तित्व है-(१) टेनिन (२) कहवाइन। चाय पीते समय हम जो कसैला-कसैला स्वाद अनुभव करते हैं, वह टेनिन है तथा शरीर के लिए हानिकर है। यह चमड़े का तनाव बढ़ा देता है। जब यह मानव शरीर के भीतर प्रविष्ट होता है, तो आमाशय की झिल्ली को अनुचित तनाव की स्थिति में ला देता है। इससे आमाशय में भोजन का परिपाक सहज में नहीं होता, न इसका पोषण झिल्ली कर सकती है। कहवाइन एक प्रकार का उत्तेजक है, जो मस्तिष्क को उत्तेजित करता है। चाय का पेपीन नामक विष भी टेनिन जैसा ही दूषित है।

शारीरिक हानि के विचार से शराब और चाय एक ही प्रकार के हैं, अन्तर मँहगी और सस्ती का है। शराब मदहोश बनाकर अल्पकाल के लिए दु:ख हरती है, किन्तु चाय उत्तेजना देती और नींद हरती है। अमूल्य जीवन तथा शरीर के स्वास्थ्य को नष्ट करने में यह शराब से कम नहीं है क्योंकि यह उससे सस्ती है और इसका प्रचार स्थान-स्थान पर है। क्षुधा नष्ट हो जाती है तथा चाय के अतिरिक्त और किसी प्रकार की इच्छा नहीं रह जाती। हृदय की गति निर्बल पड़ जाती है। इसके बिना मन खिन्न, चिड़चिड़ा और मस्तिष्क कार्य रहित-सा रहता है।

भारत के प्रसिद्ध डॉ. गोपाल भास्कर गडबुल लिखते हैं कि कान तथा अन्य ज्ञान इन्द्रियों पर इसका बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। कुछ दिनों में पक्षाघात (लकवा) बहरापन आदि रोग होते हैं। जो व्यक्ति चाय पीते हैं, उनके दिमाग की नसें ढ़ीली पड़ जाती हैं और कानों में साँय-साँय की ध्वनि आने लगती है। स्त्रियाँ जो मनुष्यों की अपेक्षा अधिक निर्बल होती हैं, चाय की अभ्यासी बनकर रोगों से अधिक ग्रस्त हो जाती हैं।

कुछ डाक्टरों का कथन है कि चाय काफी के सेवन से एक नया रोग उत्पन्न हुआ है- पहले मस्तिष्क में एक प्रकार का वेग उत्पन्न होता है, चेहरे का रंग पीत वर्ण हो जाता है किन्तु चाय पीने वाला उसकी परवाह नहीं करता। कुछ समय पश्चात् आन्तरिक एवं बाह्य कष्ट प्रकट होने लगता है। चित्त (स्वभाव) शुष्क और मुखाकृति अधिक पीतवर्ण हो जाती है। चाय के कारण एक अन्य रोग जिसे 'चाहरम' कहते हैं, उत्पन्न हो जाता है, जिसमें एक प्रकार की कठिन मूर्च्छा आन्तरिक इन्द्रियों के कार्य शिथिल हृदय में कम्प और पाचन यन्त्रों में पीड़ा होती है, जिसके फलस्वरूप स्वाभाविक शिथिलता प्रकट होने लगती है। मूत्राशय पर अप्राकृतिक दबाव पड़ कर उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है।

एक विशेषज्ञ लिखते हैं, "चाय का कैफीन कब्ज उत्पन्न करता है। प्राय: देखा जाता है कि चाय के शौकीनों को तब तक टट्टी नहीं उतरती जब तक वे चाय न पीलें। वास्तव में चाय टट्टी नहीं करती। गर्म पानी जो चाय में मिला रहता है, शरीर के अपान वायु को हलका कर देता है और उसी के कारण मल का निस्सरण होता है। चाय पीने वाले उसे चाय का गुण समझते हैं। कैफीन विष दिल की धड़कन को बढ़ा देता है और कभी-कभी तो दिल की धड़कन इतनी बढ़ जाती है कि आदमी मर तक जाता है। इस विष से गठिया आदि वात रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं। गुर्दे पर इसका ऐसा बुरा प्रभाव पड़ता है कि बहुमूत्र की शिकायत शुरू हो जाती है। चक्कर आना, आवाज बदल जाना, रक्त विकार, लकवा लग जाना, वीर्य के अनेक विकार, मूर्छा आना, नींद का कम हो जाना आदि ऐसे दुष्ट रोग हैं जो चाय में रहने वाले साइनोजेन, स्ट्रिनाइन, साइनाइड आदि विषों के कारण उत्पन्न होते हैं।"

चाय के प्रचार में हमारी दिखावटी अन्धानुकरण करने की दूषित मनोवृत्ति ने विशेष योग प्रदान किया है। ठण्डे मुल्कों के लिए चाय आवश्यक हो सकती है, किन्तु भारत जैसे गर्म देश के लिए यह हानिकारक है।

भाँग, गाँजा और चरस की नाशकारी कुटेब

भाँग और गाँजा भारत के ग्रामों में फैले हुए महारोग हैं, जो निरन्तर भयंकर विनाश कर रहे हैं। दुर्भाग्य का विषय है कि हमारे अपढ़, पिछड़े साधु, वैरागी, भिखारी, पण्डे, पुरोहित लोग भाँग के विशेष शौकीन होते हैं। भगवान शंकर की आड़ लेकर ये लोग निरन्तर भाँग, गाँजे और चरस का प्रयोग करते हैं। हमारा कलंक है कि हम ऐसे साधुओं से घृणा नहीं करते।

श्रीबैजनाथ महोदय लिखते हैं कि भाँग, गाँजा, चरस के प्रचारक तो ५६ लाख उत्साही साधु तथा ग्रामों में स्थित मन्दिर हैं । मन्दिरों और साधुओं द्वारा भक्ति का प्रचार कितना होता है, सो तो भगवान ही जानें किन्तु वे प्राय: भंगड़ियों के अड्डे तो जरूर होते हैं । शाम-सुबह ग्राम के व्यक्ति बाबाजी की धूनी पर और शहरों के सेठ तथा गुण्डे इत्यादि अपने बाग-बगीचों या शहर के बाहर वाले मन्दिरों में भाँग छानने अथवा सुलफा पीने (गाँजे का दम लगाने) के लिए नियम एवं एक निष्ठापूर्वक एकत्र होते हैं। ये लाखों स्थान दुर्गुणों को बढ़ाने का कार्य कर रहे हैं । तीर्थस्थानों में तो यह बुराई और भी अधिक परिमाण में पाई जाती है। प्रत्येक घाट तथा मन्दिर निश्चित रूप से भाँग का अड्डा होता है।''

स्मरण रखिए भाँग, गाँजा, चरस इत्यादि भयंकर विषैले पदार्थ हैं । इनमें प्रवृत्त होने से मानव की वृत्तियाँ पापमय हो जाती हैं, मन उत्तेजना एवं विकारों से परिपूर्ण हो जाता है । सुश्रुत ने इन्हें कफ और खाँसी वर्द्धक बताया है । भाँग का पौधा विषैला है, जिससे भाँग, गाँजा, चरस तीनों नशीली चीजें तैयार होती हैं । सुश्रुत ने भाँग या गाँजे के पौधे का स्थावर विषों में उल्लेख किया है, और इसकी जड़ को विष माना है। (देखिए सुश्रुत कल्प अध्याय-२)

कुछ चिकित्सकों के अनुसार इन मादक वस्तुओं के प्रयोग से शक्ति क्षीण होती है, नेत्र का रंग सुर्ख पड़ जाता है और सिर में चक्कर आने लगते हैं । भाँग पीकर मदहोश हो जाते हैं और भोजन अधिक खाते हैं किन्तु यह तो एक प्रकार की अस्वाभाविक क्षुधा होती है । नशा उतरने पर अपच, पेट का भारीपन, उलटी और पेट के अन्य विकार उत्पन्न होते हैं । गाँजा पीने वालों के दिमाग बहुत जल्दी बिगड़ जाते हैं । भाँग पीने वालों के चित्त की स्थिरता जाती रहती है और उचित-अनुचित का विवेक नहीं रहता । भँगड़ी व्यक्ति सनकी होता है । उसके मन में जैसे ही एक बात उठती है, वह वैसे ही उसे कर बैठता है । ये व्यर्थ के व्यय मनुष्य को पनपने नहीं देते । गरीब मूर्खों की अधिकतर आय इन्हीं अनावश्यक मादक वस्तुओं में नष्ट हुआ करती है । भाँग, गाँजा, चरस इत्यादि से मनुष्य की वासना उदीप्त होती है और यह व्यभिचार में प्रवृत्त होता है । ऐसा व्यक्ति व्यापार, उद्यम, कला-कौशल या किसी उत्तरदायित्व पूर्ण कार्य को करने के योग्य नहीं रह जाता ।

अफीम का घातक दुर्व्यसन

शराब, तम्बाकू, पान आदि की भाँति अफीम भी प्रचलित है । इसका नशा घातक है और तनिक-सी अधिक मात्रा में लेने से मृत्यु का भय है । श्रीयुत पैटन ने ''भारत में अफीम'' नामक पुस्तक में इस प्रकार लिखा है-

भारत में बच्चों तक को अफीम दी जाती है । थकावट और जाड़े को भगाने के लिए भी उसका उपयोग किया जाता है । किसी बीमारी को रोकने या भगाने के लिए लोग अफीम का सेवन करते हैं और अनेक केवल व्यसन के लिए खाया करते हैं । ये सभी सेवन के तरीके कृत्रिम और अनुचित हैं । बच्चों को देने से वे नशे में पड़े तो रहते हैं किन्तु उनका स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है, भूख मारी जाती है, स्वाभाविक चैतन्य शक्ति, उल्लास, उत्साह, प्रसन्नता मारी जाती है । शरीर कृश, दिमाग निर्बल एवं रक्त हीनता हो जाती है। उनकी जीवन शक्ति क्षीण हो जाने से वे जल्दी ही बीमारियों के शिकार बनते जाते हैं । दवाइयों तक का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । ऐसे बच्चे जब अध्ययन में पड़ते हैं, तो उनमें एकाग्रता और कुशाग्रता का अभाव होता है ।

थकावट और जाड़े से मुक्ति के लिए इसका प्रयोग करना मूर्खता है, क्योंकि इससे कहीं स्वास्थ्यकर वस्तुएँ इसके लिए उपलब्ध हो सकती हैं । क्षण भर नशे में हम यह भूले रह सकते हैं कि हम थके हुए नहीं हैं, किन्तु अफीम का नशा उतरने पर और भी निर्बलता एवं आलस्य घर दबाता है । न दर्द, न थकान, न जाड़ा कोई भी हटते नहीं वरन् यह नशा लाकर रोगों या थकान के वास्तविक लक्षणों को ढँक देती है ।

श्री पैटन के अनुसार अफीमची को (१) कब्ज (२) रक्त की न्यूनता (३) भूख कम लगना (४) हृदय, फेंफड़ों एवं गुर्दों के रोग (५) स्नायुजन्य कमजोरी (६) फुर्तीलेपन का अभाव (७) आलस्य, निद्रा में कमी, चित्त भ्रम, दिवास्वप्न (८) नैतिक भावना की कमजोरी (९) कठोर कार्य से भागना (१०) अविश्वास और शारीरिक निर्बलता उत्पन्न होते हैं । इनके अतिरिक्त जीवन तत्वों को क्षीण करने और शरीर को निस्तेज बनाने में अफीम का प्रमुख हाथ है। पाकाशय निर्बल हो जाने के कारण अफीमची सूखता जाता है ।

मानसिक क्षेत्र में, अफीम के प्रयोग से ज्ञानात्मक शक्तियाँ निर्बल होती हैं । विशेषत: स्मरण शक्ति बिगड़

जाती हैं । स्नायु और ज्ञान तन्तुओं में रोग लग जाते हैं । कुटेव पड़ जाने से, यदि नियमित समय पर अफीम प्राप्त न हो तो किसी भी कार्य में तबियत नहीं लगती, हाथ-पाँव बेजान से पड़े रहते हैं, क्योंकि अफीम उनकी स्वाभाविक शक्ति को पहले ही नष्ट कर डालती है । अफीम की आदत धीरे-धीरे मनुष्य के शरीर और आत्मा को भी खा जाती है । जिन स्थानों में अफीम खाने या पीने की आदत है, वहाँ का सम्पूर्ण पुरुष वर्ग निकम्मा हो जाता है।

कोकेन का घातक व्यसन

कोकेन में अन्य घातक पदार्थों के साथ-साथ भयंकर विष होते हैं, जो डॉ. बेनेट के मतानुसार अँतड़ियों, श्वाँस प्रणाली, ग्रन्थि प्रणाली और रक्त प्रवाह प्रणाली पर घातक प्रभाव डालते हैं । इसका उपयोग प्राय: उच्च वर्ग के व्यक्ति करते हैं, जो सामाजिक बन्धनों के कारण शराब या अफीम का खुला उपयोग नहीं कर पाते । भारत में वेश्याओं के यहाँ इसकी अधिक खपत है । व्यभिचारी व्यक्ति प्राय: इसका प्रयोग क्षणिक उत्तेजना के लिए किया करते हैं । इसके नशे में वे सत-असत विवेक बुद्धि को भूल जाते हैं ।

कोकेन के दुष्परिणाम बड़े भयंकर हैं, इससे पक्वाशय के स्नायु तथा ज्ञान तन्तु अकर्मण्य हो जाते हैं । फलत: दो-दो, तीन-तीन दिन क्षुधा प्रतीत नहीं होती । शरीर कृश हो जाता है। आरम्भ में कोकेन के प्रयोग से ज्ञान तन्तु और स्नायु के उद्‌गम स्थान पर कुछ झनझनाहट और वेग प्रतीत होता है, परन्तु यह आवेग आधे घण्टे से अधिक शेष नहीं रहता । उतार प्रारम्भ होने पर हृदय डूबता-सा मालूम होता है । सम्पूर्ण शरीर पर आलस्य एवं नैराश्य की भावना छा जाती है । एक प्रकार का शैथिल्य एवं शारीरिक निर्बलता सर्वत्र छा जाती है ।

कोकेन खाने की आदत अन्य मादक वस्तुओं की अपेक्षा अधिक लुभावनी है, परन्तु बड़ी भयानक भी है । इससे शारीरिक, मानसिक और आचारिक निर्बलता उत्पन्न हो जाती है । थोड़े समय तक इसका अभ्यास करने से इसके खाने और प्रभाव देखने की एक अनियंत्रित इच्छा प्रकट होने लगती है, सो किसी प्रकार तृप्त नहीं हो पाती और बिना जान लिए नहीं शान्त होती । कोकेन वास्तव में ईश्वरीय कोप स्वरूप है जिसके फन्दे में फँसने से अकथनीय दुर्गति होती है ।

हमारी सभ्यता का कलंक-नैतिक चरित्र-हीनता

आज की दुनियाँ में शराब, गाँजा, सिगरेट, पान इत्यादि तो गजब ढा ही रहे हैं, किन्तु उससे भी महा भयंकर समस्या मानसिक और नैतिक चरित्र-हीनता की है। नशा पीकर बुद्धि विकार ग्रस्त होती है तथा मनुष्य मानसिक व्यभिचार में प्रवृत्त होता है, वासना मूलक कल्पनाओं के वायुमण्डल में फँसा रहने से प्रत्यक्ष व्यभिचार की ओर दुष्प्रवृत्ति होती है । व्यभिचार हमारी सभ्यता का कलंक है, जिस पर जितना लिखा जाय कम है । व्यभिचार एक ऐसी सामाजिक बुराई है, जिससे मनुष्य का शारीरिक, सामाजिक और नैतिक पतन होता है । परिवारों का धन, सम्पदा, स्वास्थ्य नष्ट हो जाते हैं, बड़े-बड़े राष्ट्र विस्मृति के गर्त में डूब जाते हैं । परिताप का विषय है, नाना रूपों में फैलकर व्यभिचार की महाव्याधि हमारे नागरिकों, समाज, गार्हस्थ्य एवं राष्ट्रीय जीवन का अध:पतन कर रही है। इसके परिणामों का उल्लेख करते हुए हृदय काँप जाता है ।

आज की पत्र-पत्रिकाओं, समाचार पत्रों में छपने वाले विज्ञापनों को देखिए, आज के समाज का आइना आपके समक्ष आ जायगा । नामर्दी, नपुंसकता, वीर्यपात, स्वप्नदोष, गर्भपात करने, स्तम्भन वृद्धि, वर्थ कन्ट्रोल के साधन, नग्न तस्वीरें, सौन्दर्य वृद्धि, सिनेमा सम्बन्धी अनेक प्रकार के दूषित विज्ञापन पतनोन्मुख समाज का खाका हमारे सामने प्रस्तुत कर देते हैं ।

सिनेमा विनाश या मनोरंजन

सभ्यता के आवरण में जिस मनोरंजन ने सबसे अधिक कामुकता, अनैतिकता, व्यभिचार की अभिवृद्धि की है वह है सिनेमा तथा हमारे गन्दे विकारों को उत्तेजित करने वाली फिल्म, उनकी अर्द्धनग्न तस्वीरें और गन्दे गाने । अमेरिकन फिल्मों के अनुकरण पर हमारे यहाँ ऐसे चित्रों की सृष्टि वृहत् संख्या में हो रही है, जिनमें चुम्बन, आलिंगन आदि कुचेष्टाओं एवं उत्तेजक गीतों, प्रेम सम्बन्धी वार्तालापों की भरमार है। रेडियो द्वारा गन्दे संगीत से कामुकता का प्रचार हम सहन कर लेते हैं और घर-घर में बच्चे-बूढ़े, युवक-युवतियाँ गन्दे गीत माता-पिताओं के सामने सुनते रहते हैं। फिल्मी संगीत इतने निम्न स्तर का होता है कि उसके उद्धरण देना भी महापाप है। जहाँ बालकों को रामायण, गीता, तुलसी, सूर, कबीर नानक के सुरुचिपूर्ण भजन याद

होने चाहिए, वहाँ हमें यह देखकर नतमस्तक होना पड़ जाना पड़ता है कि अबोध बालक फरमाइशी रिकार्डों के वेश्याओं के गन्दे अश्लील गाने स्वच्छन्दता पूर्वक गाते फिरते हैं। न कोई उन्हें रोकता है, न उन्हें मना करता है। ज्यों-ज्यों यौवन की उत्ताल तरंगें उनके हृदय में उठती हैं, इन गीतों तथा फिल्मों के गन्दे स्थलों की कुत्सित कल्पनाएँ उन्हें अनावश्यक रूप से उत्तेजित कर देती हैं। वे व्यभिचार की ओर प्रवृत्त होते हैं। समाज में व्यभिचार फैलाते हैं, गन्दे अनैतिक प्रेम सम्बन्ध स्थापित करते हैं, गलियों में लगे हुए चित्र, लिखी हुई अश्लील गालियाँ, कुत्सित प्रदर्शन, स्त्रियों को कामुकता की दृष्टि से देखना प्रत्यक्ष विष तुल्य है। उगती पीढ़ी के लिए यह कामान्धता खतरनाक है। बचपन के गन्दे दूषित संस्कार हमारे राष्ट्र को कामुक और चरित्रहीन बना देंगे।

सिनेमा से लोगों ने चोरी की नई-नई कलाएँ सीखीं, डाके डालने सीखे, शराब पीना सीखा, निर्लज्जता सीखी और भीषण व्यभिचार सीखा। सिनेमा के कारण हमारे युवक-युवतियों में किस प्रकार स्वेच्छाचार बढ़ रहा है, इसके कई सच्चे उदाहरण तो हमारे सामने हैं। पता नहीं लाखों-करोड़ों कितने तरुण-तरुणियों पर इसका जहरीला असर हुआ है। फिर भी हम इसे मनोरंजन मानते हैं। समाज के इस पाप को दूर करना चाहिए, अन्यथा अनैतिकता, व्यभिचार स्वच्छन्दता, तमाम सामाजिक मर्यादाओं का अतिक्रमण कर देंगी। सिनेमा ने समाज में खुले आम अश्लीलता, गन्दगी, कुचेष्टाओं, व्यभिचार, घृणित यौन सम्बन्ध, शराबखोरी, फैशन, परस्ती, कुविचारों की वृद्धि की है। यदि गन्दे फिल्म ऐसे ही चलते रहे तो राष्ट्रीय चरित्र का और भी खोखलापन, कमजोरी और ढीलापन अवश्यम्भावी है। यदि हमारे युवक-युवतियाँ अभिनेताओं तथा अभिनेत्रियों के पहनावे, शृंगार, मेकअप, फैशन, पैण्ट, बुशशर्ट, साड़ियों का अन्धानुकरण करते रहे, तो असंयमित वासना के द्वार खुले रहेंगे। गन्दे फिल्म निरन्तर हमारे युवकों को मानसिक व्यभिचार की ओर खींच रहे हैं। उनका मन अभिनेत्रियों के रूप, सौन्दर्य, फैशन और नाज-नखरों में भँवरे की तरह अटका रहता है। इन गन्दी कल्पनाओं को समीप के स्थानों में प्रेमिका खोज कर कुचेष्टाओं से चरितार्थ करते हैं। अश्लीलता के इस प्रचार पर सरकार द्वारा कड़ा नियन्त्रण लगना चाहिए।

अश्लील उत्तेजक विचार

आखिर शहर में रोग क्यों न बढ़े ? इस प्रश्न का विश्लेषण करते हुए आचार्य विनोबा भावे लिखते हैं, "शहर के लोग ठीक व्यायाम नहीं करते, घरों में बैठे रहते हैं। उनको अच्छी हवा नहीं मिलती। अधिक कपड़े पहिनते हैं जिससे सूर्य की किरणों से वंचित रहते हैं। घर भी ऐसा बनाते हैं जिसमें प्रकृति से दूर रहना पड़ता है, काम भी ऐसा जिसमें कुदरत से कोई प्रयोजन नहीं। फिर रात को जागेंगे, सिनेमा देखेंगे, खराब किताबें पढ़ेंगे। इस प्रकार अपने शरीर और मन को विकृत करते रहते हैं, तो रोग बढ़ेगा ही।"

अश्लील और गन्दा विषय-भोग सम्बन्धी साहित्य वैसा ही घातक है, जैसा भले चंगे व्यक्ति के लिए विष। नयी उमर में जब मनुष्य को जीवन और जगत का अनुभव नहीं होता, वह अश्लीलता की ओर प्रवृत्त रहता है। यौवन के उन्माद की आँधी में गन्दा साहित्य, सोई हुई काम-वृत्तियों को कच्ची आयु में उद्दीप्त कर देता है। आज जिधर देखो उधर उत्तेजक चित्र, वासना सम्बन्धी हलके प्रेम की कहानियाँ, अश्लील उपन्यास, विज्ञापन इत्यादि छप रहे हैं। सिनेमा ने तो गजब का अन्धेर मचा रखा है। आज की फिल्में हलके रोमांस से परिपूर्ण प्रेम कहानियों को लेकर निर्मित होती हैं। अनुभवहीन, यौवन की मस्ती में पागल, चढ़ती उम्र के नवयुवक, इसी मिथ्या जगत को सत्य मानकर स्त्रियों को आकर्षित करने की कुचेष्टा करते हैं। इससे समाज का नैतिक स्तर गिर जाता है और व्यवस्था टूट जाती है। यदि समाज में गन्दे साहित्य पर रोक न की जायगी तो निश्चय ही चारों ओर स्वच्छन्दता और विकार का साम्राज्य फैल जायगा, स्त्री-पुरुष तेजहीन, लम्पट और कमजोर हो जायेंगे तथा उनसे ऊँचे पारमार्थिक कार्य न हो सकेंगे।

गन्दा साहित्य नीति, धर्म का शत्रु है। यह पशुत्व की अभिवृद्धि करता है। समाज में इससे आध्यात्मिक का लेश भी न रहने पायेगा। आवश्यकता इस बात की है कि जनता को इस गन्दे साहित्य की दुष्टताओं, रोमांस की गन्दी करतूतों, मानसिक व्यभिचार की त्रुटियों के प्रति सावधान कर दिया जाय।

विचार एक प्रचण्ड शक्ति है। मन में जब कोई गन्दा अनर्थकारी विचार प्रविष्ट हो जाता है, तो वासना उद्दीप्त हो जाती है। मन गन्दगी, अश्लीलता, वासना की ओर नियंत्रण

कम होते ही दौड़ जाता है। जो व्यक्ति एक बार कोई प्रेम सम्बन्धित फिल्म, उत्तेजक दृश्य या नग्न चित्र को देख लेता है, उसकी स्मृति पर उसका एक छोटा-सा स्मृति चित्र अंकित हो जाता है। यह गुप्त मन में बना रहता है और रात्रि में स्वप्नों के रूप में स्मृतिपटल पर आकर व्यक्ति को बड़ा परेशान और उद्विग्न करता है। बढ़ती हुई वासना, अदृश्य, इच्छाओं, विषयी वायुमण्डल की सृष्टि करता है। ऐसे माता-पिता के संसर्ग अथवा इस तरह के वातावरण में विकसित होने वाले बच्चे शीघ्र ही विषयी हो जाते हैं।

माता-पिता-शिक्षक इत्यादि का पुनीत कर्तव्य है कि वे अपने बच्चे को स्वस्थ, सात्विक, आध्यात्मिक शक्ति, बल, पौरूष, सद्‌गुणों को विकसित करने वाला साहित्य पढ़ने के लिए दें। यह ध्यान रखें कि लुक-छिप कर बच्चे बाजार में बिकने वाली सस्ती गन्दे किस्से कहानियों की पुस्तकें न खरीदें। फिल्मों से संबन्धित गन्दी पत्र-पत्रिकाएँ फिल्मी अभिनेत्रियों के अर्द्धनग्न चित्र न लिए फिरें, सिनेमा के गन्दे गाने न गाते फिरें।

यदि आप स्वयं युवक हैं तो मन पर कड़ा नियंत्रण रखें अन्यथा पतन की कोई मर्यादा नहीं है। वासना की ओर लुब्ध नेत्रों से देखने वाला, किसी न किसी दिन व्यभिचारी बनेगा और मान प्रतिष्ठा का क्षय होगा। अपने आपको ऐसी पुस्तकों के वातावरण में रखिए जिससे आपकी सर्वोच्च शक्तियों के विकास में सहायता प्राप्त हो, श्रम संकल्प दृढ़ हो, व्यायाम, दीर्घायु, पौरुष, कीर्ति, भजन-पूजन, आध्यात्मिक या सांसारिक उन्नति होती रहे।

खाली मन शैतान की दुकान है। मन को कोई विषय ऐसा चाहिए जिस पर वह चिन्तन, मनन, विचार, इत्यादि शक्तियाँ एकाग्र कर सके। उसे चिन्तन के लिए आपको कोई न कोई श्रेष्ठ या निंद्य विषय देना होगा। उत्तम यह है कि आप उसे विचारने के लिए शुभ, सात्विक, उच्चकोटि के विषय दें। उत्तम बातें सोचें। देश में फैले हुए नाना विषयों को सोचें तथा उन पर निज सम्मत्ति प्रकट करें। गन्दे साहित्य से बचने का श्रेष्ठ उपाय उच्चकोटि के साहित्य में संलग्न रहना है। शुभ चिन्तन, सत्संग, सद्‌ग्रन्थावलोकन में व्यस्त रहने से हम इर्द-गिर्द के अश्लील साहित्य से बच सकते हैं।

यह विषय इतना गन्दा है कि इसकी चर्चा मात्र से हृदय काँप उठता है। इसके फल से समाज में व्यभिचार के गुप्त एवं प्रत्यक्ष पाप की कहानी हृदय दहला देने वाली है। व्यभिचार के साधन आज जितने सस्ते हैं, पहिले कभी नहीं रहे। बड़े-बड़े शहरों में व्यभिचार के अड्डे पनप रहे हैं, जहाँ देश के नवयुवक यौवन, तेज, स्वास्थ्य और पौरुष को नष्ट कर रहे हैं। समाज में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं जो व्यभिचार को प्रोत्साहन देते हैं या स्वयं एजेण्ट का निंद्य कार्य करते रहते हैं। व्यभिचार मनुष्य के द्वारा किया हुआ सबसे घिनौना पाप कर्म है, जिसकी सजा हमें इसी जन्म में मिल जाती है।

दुराचार से होने वाले रोगों की संख्या अधिक है। वीर्यपात से गर्मी, सुजाक तथा मूत्र नलिका सम्बन्धी अनेक घृणित रोग उत्पन्न होते हैं, जिनकी पीड़ा नर्क तुल्य है। इनके अतिरिक्त वेश्यागमन से शरीर अशक्त होकर उसमें सिर दर्द, बदहजमी, रीढ़ की बीमारी, मिर्गी, कमजोर आँखें, हृदय की धड़कन का बढ़ जाना, पसलियों का दर्द, बहुमूत्र, पक्षाघात, वीर्यपात, शीघ्र पतन, प्रमेह, नपुंसकता, क्षय, पागलपन इत्यादि महाभयंकर व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। जीवनी शक्ति क्रमश: क्षय होती रहती है। व्यभिचारी का समाज में सर्वत्र तिरस्कार होता है, उसका उच्च शक्तियों में जाना निकलना आदि बन्द हो जाता है।

इस प्रकार के जघन्य आचरण के क्या कारण हैं? उत्तर में कहा जा सकता है कि हमारी सदोष विवाह पद्धति, स्त्रियों का वास्तविक गौरव न जानना, पौरुष की मिथ्या कल्पना, परदा, गरीबी, अन्ध धार्मिकता, हमारी जड़वादिता, संकुचितता, कामोत्तेजना तथा अनिष्टकर वातावरण व्यभिचार की वृद्धि में सहायक हो रहा है। भक्ति के नाम पर मठ-मन्दिरों में भली-भाँति स्त्रियों पर पापाचार किया जाता है। जो लोग विवाहित हैं वे पत्नी से अतिसहवास में लिप्त होकर कामुक और भ्रष्ट बनकर निस्तेज वीर्यहीन बन रहे हैं। व्यभिचारी पुरुष का दाम्पत्य जीवन कपट, धूर्तता, मायाचार और छल से परिपूर्ण होता है। वह अवसर पड़ने पर अपनी पत्नी तक को धोखा देता है।

इस प्रकार कुकर्म प्राय: चोरी, भय, लज्जा और पाप की झिझक के साथ किया जाता है। बाहर के स्त्री पुरुषों से यौन सम्बन्ध स्थापित करने के पाप-प्रपंच उसके मन में उठा करते हैं। यह पाप वृत्तियाँ कुछ समय लगातार अभ्यास में आते रहने पर मनुष्य के मन में गहरी उतर जाती हैं और जड़ जमा लेती हैं। फिर उसके स्वभाव में यौन सम्बन्धी बातों में दिलचस्पी, गन्दे शब्दों का प्रयोग, बात-बात में गाली देना, गुह्य अंगों का पुन:पुन: स्पर्श, पराई स्त्रियों को वासनात्मक कुदृष्टि से देखना, मन में गन्दे विचारों व पापमयी कल्पनाओं के कारण खींचतान,

अस्थिरता, आकर्षण-विकर्षण निरन्तर चला करते हैं। यही कारण है कि व्यभिचारी व्यक्ति प्रायः चोर, निर्लज्ज, दुस्साहसी, कायर, झूठे और ठग होते हैं। अपने व्यापार तथा व्यवहार में अपनी इन कुप्रवृत्तियों का परिचय देते रहते हैं। लोगों के मन में उनके लिए विश्वास, प्रतिष्ठा, आदर की भावना नहीं रहती, सच्चा सहयोग नहीं मिलता और फलस्वरूप जीवन-विकास के महत्वपूर्ण मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं।

व्यभिचार की पापपूर्ण वृत्तियों के मन में जम जाने से अन्तःकरण कलुषित हो जाता है। मनुष्य की प्रतिष्ठा एवं विश्वसनीयता स्वयं अपनी ही नजरों में कम हो जाती है तथा प्रत्येक क्षेत्र में सच्ची मैत्री या सहयोग भावना का अभाव मिलता है। यह सब बातें नरक की दारुण यातना के समान कष्टकर हैं। व्यभिचारी को निज कुकर्म का दुष्परिणाम इसी जीवन में उपर्युक्त प्रकारों से नित्य ही भुगतना पड़ता है।

ऐसे नीच प्रवृत्ति के पुरुषों के सम्पर्क से उनके अनेक प्रकार के रोग और दोष स्त्री की निर्बल अन्तःचेतना को विकृत कर देते हैं। व्यभिचारी पुरुष की लम्पटता, वासना, घृणा, ईर्ष्या, उत्तेजना तथा स्त्री के नाना प्रकार के गुण, कर्म, स्वभाव परस्पर टकराते हैं, जिससे उसकी मनोभूमि विकृत हो जाती है।

दुराचारिणी स्त्रियों का स्वभाव भी दूषित हो जाता है। उनमें चिड़चिड़ापन, झुँझलाहट, घबराहट, आवेश, अस्थिरता, रूठना, काम लोलुपता, असत्य, छल, अतृप्ति आदि दुर्गुणों की मात्रा में अभिवृद्धि हो जाती है। उनके शरीर में सिरदर्द, कब्ज, पीठ में दर्द, खुश्की, प्यास, अनिद्रा, थकावट, दुस्वप्न, दुर्गन्धि आदि विकार बढ़ने लगते हैं। वेश्यावृत्ति करने वाली स्त्रियों का सान्निध्य अनिष्टकर होता है। पाठको! व्यभिचार की ओर आकर्षित मत होना। यह जितना ही लुभावना है उतना ही दुःखदायी है। अग्नि की तरह यह सुनहरा-सुनहरा चमकता है, पर जरा-सी भूल से यह विनाश करने वाला है। तनिक-सा इसकी लपेट में आने पर यह विनाश करने वाला है। इस सर्वनाश के मार्ग पर मत चलना, क्योंकि इसकी ओर जिसने भी कदम बढ़ाया है, उसे भारी रोग, क्षति और विपत्ति का सामना करते हुए हाथ मल-मल कर पछताना पड़ा है। व्यभिचार सबसे बड़ा विश्वासघात है। क्योंकि किसी स्त्री के समीप तुम तभी पहुँच पाते हो, जब उसके घर वाले तुम्हारा विश्वास करते हैं। ऐसा कौन है, जो किसी अपरिचित के गृह में निधड़क पदार्पण कर सके और उससे मनचाही बातचीत करे। अतः पाप से डरो और संसार तथा अपनी लोक-लाज-मर्यादा का ध्यान रखो। क्या व्यभिचार से उत्पन्न होने वाले पाप, घृणा, बदनामी, कलंक, रोगों से तुम्हें तनिक भी भय नहीं?

सद्ग्रहस्थ वह है जो पड़ौसी की स्त्री के रूप में अपनी पुत्री या माता की छाया देखता है। वीर वह है जो पराई स्त्री को पाप की दृष्टि से नहीं देखता। स्वर्ग के वैभव का अधिकारी वह है, जो स्त्रियों को माता, बहिन और पुत्री समझता हुआ उनके चरणों में प्रणाम करता है। व्यभिचार जैसे घृणित पाप से सावधान! सावधान!!

अभक्ष पदार्थों का सेवन

माँस विष तो नहीं है, किन्तु इससे भी अनेक दोष उत्पन्न होते हैं, जो शरीर और स्वास्थ्य के लिए घातक हैं। अधिक माँस खाने वालों को बदहजमी, पेट का भारीपन, कब्ज इत्यादि की शिकायतें उत्पन्न हो जाती हैं। वैसे भी माँस उत्तेजक पदार्थ है और जब उसकी आदत पड़ जाती है, तो उसके बिना शरीर में भारीपन और आलस्य रहता है तथा किसी काम में मन नहीं लगता। अनेक बार रोगी पशुओं का माँस खाने में आ जाता है, जिससे मनुष्य को भी वे रोग पैदा हो जाते हैं।

कितने ही व्यक्ति माँस भक्षण को मोटे-ताजे स्वस्थ रहने का उपाय बताकर विवाद करते हैं। ऐसे माँसाहारी उन त्रुटियों को नहीं जानते जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। संसार में बड़े-बड़े बलशालियों का भोजन दूध, शाक, अनाज, तरकारियाँ मेवे इत्यादि रहे हैं।

उदाहरण के निमित्त संसार प्रसिद्ध विचारक, नाटककार, जार्ज बर्नाडशॉ को ही देखिए। शॉ के डॉक्टरों ने कहा था कि माँस बिना तुम मर जाओगे। उन्होंने निर्भीकतापूर्वक उत्तर दिया- "अच्छा! हमें केवल प्रयोग करके ही देखना चाहिए। यदि मैं जीवित रहा तो आशा करता हूँ कि आप भी निरामिष भोजी हो जायेंगे।" शॉ दीर्घकाल तक शाक-तरकारियों और फलों पर जीवित रहे। मुनि तथा योगी जन सदा माँस से दूर रहे और दीर्घकाल तक स्वास्थ्य का आनन्द लेते रहे। फिर हम क्यों माँस खाएँ?

अण्डे खाना स्वास्थ्य के लिए हितकारी नहीं

आजकल देशी-विदेशी सज्जन शक्ति के लिए अण्डे खाने की सलाह दिया करते हैं। उनकी राय में अण्डे के

समान पोषण करने वाला अन्य कोई पदार्थ नहीं है । कुछ महानुभाव अण्डे खाने में जीव हत्या नहीं समझते, फल से उसकी तुलना किया करते हैं । वास्तव में अण्डा हितकारी नहीं है, इस सम्बन्ध में कुछ विलायती डाक्टरों ने कहा है कि मुर्गी के मांस और अण्डे में एक प्रकार की विषैली एल्व्यूमिन पायी जाती है, जो जिगर और अंतड़ियों को खराब करती है और बहुत ही हानिकारक है । अण्डे में जरदी होती है, उसमें नमक, चूना लोहा और विटामिन सभी पदार्थ रहते हैं । यह पदार्थ बच्चों के पोषण के लिए भगवान ने भर दिये हैं । बहुत से लोगों ने यह समझ लिया है कि यह चीजें दूध की तरह खाने की हैं किन्तु यह उनकी भूल है ।

अण्डे में जो प्रोटीन होता है, वह दूध के प्रोटीन से कम दर्जे का है, क्योंकि उसके पाचन में बड़ी कठिनाइयाँ आ पड़ती हैं । अधिकतर तो वह सड़कर खाने के योग्य न रहकर हानिकारक भी हो जाती है । दूध तो रखा रहने पर जम जाता है और खट्टा भी हो जाता है, परन्तु अण्डा खाने में खराब मालूम होता है और हानिकारक हो जाता है । इसके विपरीत खट्टा या जमाया हुआ दूध अधिकांश लोगों को ताजे दूध की अपेक्षा अधिक रुचिकर और सुपाच्य हो जाता है। दूध का यह गुण मिठास के कारण है, जो अण्डे में होता ही नहीं । सात्विक भोजन के साथ आधा सेर दूध, अण्डे और मांस के बिना ही प्रोटीन पर्याप्त मात्रा में पहुँचा देता है।

योरोपीय देशों में मक्खन निकालने के पश्चात् उस दूध को प्राय: जानवरों को खिलाया या फैंक दिया जाता है । यदि यही दूध मनुष्य के खाने के काम में लिया जाय तो इस देश के लिए माँस से अधिक लाभदायक होगा। नौ औंस (साड़े चार छटांक) मक्खनियाँ दूध शरीर में इतना चूना और हड्डियाँ बनाने वाली सामग्री उत्पन्न कर देता है जितना एक दर्जन अण्डे नहीं कर पाते ।

अण्डे के खाने से पाचन तंत्र में सड़न उत्पन्न हो जाती है । इस सड़न से एक प्रकार के नशे-सी स्थिति पैदा होती है । इससे जी मिचलाता है, सर दर्द, मुँह में दुर्गन्धि आना तथा दूसरी ऐसी अन्य बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं । इसके विपरीत दूध, बादाम, मूँगफली आदि में अण्डे से अधिक प्रोटीन होता है । जितना दूध, बादाम आदि के प्रोटीन खाने पर आमाशय में पाचक रस बनता है, उतना ही अण्डे के प्रोटीन से नहीं बनता । अण्डे की कच्ची सफेदी पर पाचक रसों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता और दूसरे भोजनों के पचने में भी रुकावट उत्पन्न होती है ।

वेटल क्रीक सिनेटोरियम के सुपरिन्टेन्डेन्ट जान हरवे लाग साहब लिखते हैं कि - ''मांसाहारियों के सब बहाने सब प्रकार से एक-एक करके सभी लोप होते जा रहे हैं। यथार्थ में वर्तमान समय में उनका किसी प्रकार का कोई भी बहाना किसी भी दशा में स्वीकार करने के योग्य नहीं है जबकि अच्छे पौष्टिक और सात्विक पदार्थ खाने को मिल रहे हैं ।''

भोजन स्वाद के लिए या पेट भरने के लिए ही नहीं है, वरन् उसका उद्देश्य शरीर को ऐसे पोषक पदार्थ देना है जो निरोगता स्फूर्ति एवं दीर्घजीवन प्रदान करते हुए मन बुद्धि को भी स्वस्थ दिशा में विकसित करे । हर पदार्थ में स्थूल गुणों के साथ-साथ एक सूक्ष्म गुण भी होता है । खाद्य पदार्थों के जो स्थूल गुण हैं उनका भला-बुरा प्रभाव शरीर पर पड़ेगा और उसके जो सूक्ष्म गुण होंगे उनका प्रभाव मन बुद्धि पर पड़ेगा । इसी कुप्रभाव को ध्यान में रखकर ऋषियों ने भक्ष्य-अभक्ष्य का निर्णय किया था ।

नशे, मन और बुद्धि का नाश करने वाले हैं । शरीर पर उनका कोई छोटा-मोटा लाभ भी होता हो, तो भी उनके द्वारा मानसिक हानि अत्यधिक होने के कारण उन्हें त्याज्य ठहराया गया है। कहा जाता है कि तम्बाकू भोजन पचाती है, चाय फुर्ती लाती है । शराब थकान मिटाती है, अफीम स्तम्भन करती है, भांग मस्ती लाती है। यदि यह बातें आंशिक रूप से ठीक भी हों तो भी उनके विषैलेपन के कारण जो क्षति होती है उसकी तुलना में यह लाभ अत्यन्त ही तुच्छ है । इसके अतिरिक्त इन नशीली चीजों का मानसिक क्षेत्र पर जो भारी कुप्रभाव पड़ता है उसकी हानि तो मनुष्य जीवन के उद्देश्य को ही नष्ट कर देने वाली है।

हमको यह भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि मनुष्य का हित सात्विक पदार्थों के सेवन में ही है मांस, मदिरा, गाँजा, भाँग, चाय, तम्बाकू आदि सभी पदार्थ तामसी होते हैं और उसके सेवन से मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट होकर विपरीत कार्यों की रुचि उत्पन्न करती है। इनके द्वारा मनुष्य शारीरिक और मानसिक दृष्टि से निर्बल होता है और उसका आत्मिक पतन होता है । इसलिए किसी भी कल्याण, कामी व्यक्ति को इन निकृष्ट पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए ।

२०. सावधानी और सुरक्षा

गायत्री मंत्र का बीसवाँ अक्षर 'न:' सदैव सावधानी रखने और अपनी रक्षा की उचित व्यवस्था करने की शिक्षा देता है-

नः शृण्वेकामिमां वार्ता जागृतस्त्वं सदाभव ।
स्वपमाणं नरं नूनं ह्याक्रामन्ति विपक्षिणः ॥

अर्थात्- "इस शिक्षा को ध्यानपूर्वक सुनो कि सदा सावधान रहना चाहिए । असावधान मनुष्य पर ही शत्रुगण प्रायः आक्रमण कर देते हैं ।"

असावधानी, आलस्य, बेखबरी, अदूरदर्शिता ऐसी भूले हैं जिन्हें अनेक प्रकार की आपत्तियों का उद्‌गम स्थल कह सकते हैं । गफलत में रहने वाले पर किसी भी तरफ से हमला हो सकता है। असावधानी में एक ऐसा दूषित तत्व पाया जाता है कि उसके फल से अनेक प्रकार की हानियाँ एवं विपत्तियाँ एकत्रित हो जाती हैं ।

असावधान, आलसी मनुष्य एक प्रकार का अर्धमृत है। मरी हुई लाश को पड़ी हुई देखकर जैसे चली, कौए, कुत्ते, सियार, गिद्ध आदि दूर-दूर से दौड़ कर जमा हो जाते हैं, वैसे ही असावधान मनुष्य के ऊपर आक्रमण करने वाले तत्व कहीं न कहीं से आकर घात लगाते हैं ।

जो स्वास्थ्य-रक्षा के लिए जागरूक नहीं है, उसे देर-सबेर में बीमारियाँ आ दबोचेंगी । जो नित्य आने वाले उतार-चढ़ावों से बेखबर रहता है, वह किसी दिन दिवालिया बन कर रहेगा । जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर सरीखे मानसिक शत्रुओं की गतिविधियों की ओर से आँखें बन्द किए रहता है, वह कुविचारों और कुकर्मों के गर्त में गिरे बिना न रहेगा । जो दुनियाँ के छल, फरेव, ठगी, लूट, अन्याय, स्वार्थपरता, शैतानी आदि की ओर से सावधान नहीं रहता उसे उल्लू बनाने वाले, ठगने वाले, सताने वाले अनेकों पैदा हो जाते हैं । जो जागरूक नहीं, जो अपनी रक्षा के लिए प्रयत्नशील नहीं रहता, उसे दुनियाँ के शैतानी तत्व बुरी तरह नोंच खाते हैं ।

इसलिए अन्य सद्‌गुणों और हितकारी शक्तियों के साथ मनुष्य में सावधानता का गुण रहना भी अत्यावश्यक है। विवेकपूर्वक त्याग करना और उदारता से परोपकार करना तो उचित है पर अपनी बेवकूफी अथवा असावधानी से दुष्ट लोगों का शिकार बनना सर्वथा अवांछनीय और पापमूलक है। जहाँ इच्छाओं की ओर प्रयत्न करना आवश्यक है, वहाँ बुराई से सावधान रहने, बचने और उनसे संघर्ष करने की भी आवश्यकता है।

जागरूकता का महत्व

मनुष्य का जीवनकाल दो प्रकार से कटता है (१) जागते हुए (२) सोते हुए। आमतौर से लोग दिन में जागते हैं और रात को सोते हैं । सोना जरूरी भी है क्योंकि बिना उसके शारीरिक और मानसिक थकान नहीं मिटती । दिन भर काम करने से जो शक्तियाँ व्यय होती हैं उनकी क्षति की पूर्ति के लिए निद्रा की आवश्यकता होती है। रात भर सोकर जब मनुष्य प्रातःकाल उठता है तो उसमें स्फूर्ति और ताजगी होती है । काम करने की नई क्षमता उसमें आ जाती है। यदि दो चार दिन भी लगातार न सोया जाय तो इतनी थकान हो जायगी कि जीवन यात्रा का चलना तक दुर्लभ दिखाई देगा ।

जिस प्रकार सोना जरूरी है उसी प्रकार जागना भी जरूरी हहै। क्योंकि जितने भी काम होते हैं जागृत अवस्था में होते हैं । निर्वाह और विकास की समस्त कार्य प्रणाली जागृत अवस्था में ही चलती है। यदि निद्रा ही प्रधान रूप धारण कर ले और जागरण कम हो जाय तो भी जीवन में विकट संकट उत्पन्न हो जाता है । जिस प्रकार गहरी निद्रा में सोने से थकान पूरी तरह से मिट जाती है और नई प्रफुल्लता पैदा होती है, उसी प्रकार पूरी तरह जागृत रहने से जागृत जीवन की कार्यप्रणाली सुचारु रूप से चलती है।

कितने ही मनुष्य ऐसे हैं जो जागृत अवस्था में भी सोते रहते हैं । उनके मस्तिष्क का एक अंश जागृत रहता है और शेष भाग सोता रहता है। इस अर्द्ध-मूर्च्छित अवस्था में रहने वाला मनुष्य एक प्रकार से लुञ्ज हो जाता है । उसकी दशा करीब-करीब अर्द्धविक्षिप्त की-सी, भुलक्कड़ बालक की-सी एवं अपाहिज की-सी हो जाती है । यह 'जागृत तंद्रा' का रोग ऐसी भयंकरता से फैला हुआ है कि आजकल अधिकांश मनुष्य इसके शिकार मिलते हैं ।

इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है, पाठक अविश्वास न करें । सचमुच ही यह रोग बड़े भयंकर रूप से फैला हुआ है और अधिकांश जन समूह इससे ग्रसित हो रहा है । इस रोग का रोगी देखने में अच्छा-भला, तन्दुरुस्त, हट्टा-कट्टा और भलाचंगा मालूम पड़ता है, शारीरिक दृष्टि से इसकी तन्दुरुस्ती में कोई फर्क नहीं मालूम पड़ता फिर भी 'जागृत तन्द्रा' के कारण उसके जीवन का सारा विकास रुका हुआ होता है । उसकी सारी प्रतिष्ठा एवं साख नष्ट हो जाती है और जिम्मेदारी के साथ होने वाले सभी महत्वपूर्ण कार्यों से वह वंचित रह जाता है ।

जागृत तन्द्रा के तीन दर्जे हैं । उन तीनों के प्रथक नाम भी हैं- (१) लापरवाही (२) आलस्य (३) प्रमाद । तीनों ही दर्जे क्रमशः अधिक भयंकर एवं घातक हैं क्योंकि

अधिकांश लोग इनसे ग्रसित होते हैं पर अधिकांश लोग किसी विशेष बात से ग्रसित होते हैं । इसीलिए उनकी भयंकरता कम नहीं हो जाती । अधिकांश लोग झूठ बोलते हैं, नशा करते हैं, संयम से रहित होते हैं, कोष्ठबद्ध या प्रमेह आदि रोगों से ग्रसित होते हैं, पर इससे मिथ्या भाषण, असंयम, नशेबाजी, कब्ज या प्रमेह की भयंकरता कम नहीं होती, यह घातक तत्व जहाँ रहते हैं वहाँ भयंकर परिणाम उत्पन्न किए बिना नहीं रहते ।

यह सुनिश्चित तथ्य है कि जिस कार्य को मनुष्य पूरी दिलचस्पी से, जागृत मन से, ध्यानपूर्वक करेगा वह कार्य ठीक, निर्दोष और सुन्दर होगा । इस जागृति एवं दिलचस्पी की जितनी कमी होगी उतना ही फूहड़ रह जायगा और भूलें होंगी । घोड़ा जितना तेज चलता है उतनी ही तेजी से ताँगे का पहिया घूमता है। पहिया स्वतंत्र रूप से नहीं चलता उसकी गति घोड़े की चाल के ऊपर निर्भर है । घोड़ा मन्द या तीव्र जैसी चाल से चलता है उसी गति से ताँगे का पहिया घूमने लगता है । मन की जिस कार्य में जितनी रुचि होगी वह उतना ही अच्छा बन पड़ेगा । यदि घोड़ा ऐब ले आवेगा तो ताँगे की चाल रुक जायगी, यात्रा देर में पूरी होगी, बैठने वालों को कष्ट होगा और हर घड़ी खतरा बना रहेगा । यही हाल दिलचस्पी की कमी के साथ किए जाने वाले कामों का होता है, वे भी अनेक प्रकार के दोषों से भरे हुए होते हैं ।

क्रिया पद्धति के साथ पूरी दिलचस्पी को न जोड़ना जागृत तन्द्रा का प्रमुख चिन्ह है । इस अवस्था में किए हुए कार्यों का ठीक प्रकार पूरा होना असंभव है । जिस वक्त कोई व्यक्ति झपकियाँ ले रहा हो उस समय उसे एक रेखागणित का प्रश्न हल करने को दिया जाय तो वह उसे सही रूप से हल न कर सकेगा । इसी प्रकार जो आधे मन से, अर्द्धजागृत अवस्था में कार्य करता है वह अपने सामने रखे हुए कार्यों को भली प्रकार पूरा न कर सकेगा । इस प्रकार की अधूरे मन के साथ की हुई कार्य-प्रणाली को लापरवाही, असावधानी, आलस्य एवं प्रमाद कहा जाता है।

हर काम को सफल बनाने के लिए दो बातों का ध्यान रखना पड़ता है । एक यह कि "इस कार्य को उत्तमता के साथ पूरा किया जाय", दूसरा यह कि- "कहीं यह कार्य खराब न हो जाय ।" सफलता का लोभ और असफलता का भय-इन दोनों वृत्तियों का समन्वय ही जागरूकता है। जैसे गरम (पोजेटिव) और ठण्डे (नेगेटिव) तारों के मिलने से बिजली की धारा का संचार होता है, वैसे ही उपरोक्त लोभ और भय का ध्यान रखने से मानसिक जागरूकता उत्पन्न होती है। यह जागरूकता सतेज होकर शरीर और मस्तिष्क की काम करने वाली शक्तियों को संगठित और संयोजित करके सुव्यवस्थित रूप से कार्य में प्रवृत्त करती है, तब वह कार्य सफल हो जाता है ।

परन्तु जब मनुष्य असफलता की लज्जा को भूल जाता है, सफलता के गौरव की उपेक्षा करता है, तब उस जागरूकता-विद्युत शक्ति का संचार नहीं होता । नाड़ियाँ शिथिल पड़ जाती हैं । कार्यकारिणी शक्ति मन्द हो जाती है। सामने पड़ा हुआ काम पर्वत के समान भारी प्रतीत होता है। उसे करते हुए मन में स्फूर्ति नहीं उठती वरन् बेगार के भार की तरह झुँझलाते हुए उसे पूरा किया जाता है । जब उस कार्य में रस नहीं आता तो उसके बिगाड़-सुधार की बारीकियों की ओर मन नहीं जाता । फलस्वरूप कार्य-काल में वे बातें सूझ नहीं पड़तीं कि कहाँ बिगाड़ करने वाली भूल हो रही है और क्या सुधार करने वाली गतिविधि छूटी जा रही है ।

लापरवाही की हानिकारक आदत

जागरूकता का अभाव ही असावधानी या लापरवाही कहा जाता है । ऐसे स्वभाव के आदमी में दो प्रकार के दोष और आ जाते हैं, वह हैं- (१) आगे-पीछे के कार्यक्रम की परवाह नहीं करना (२) अपने उत्तरदायित्व को अनुभव नहीं करना । जहाँ पहुँच गये बस वहाँ की बातों में उलझ गये । ताश खेल रहे हैं तो ताश में मशगूल हैं-कारखाने में मजदूरों द्वारा क्या नफा-नुकसान हो रहा होगा इसका ध्यान ही नहीं । जरूरी काम को छोड़कर दस मिनट के लिए किसी से मिलने गये हैं, तो वह जरूरी काम जहाँ का तहाँ पड़ा हुआ है और दस मिनट की जगह एक घण्टे निरर्थक गप्प हाँकने में लगा दिये । लौट कर देखते हैं कि बहुत काम हर्ज हुआ । उस वक्त कुछ अफसोस भी करते हैं पर फिर वही रफ्तार । दूसरे दिन फिर वैसी ही लापरवाही। किसी रिश्तेदार या दोस्ती में दो रोज के लिए जावें तो दस रोज में लौटें । नियत समय पर उनका कोई भी काम नहीं हो पाता । स्नान, भोजन, सोना, जागना कुछ भी उनका समय पर नहीं होता । जीविका उपार्जन का जो व्यवसाय है वह भी ऐसा ही खंड-बंड हो जाता है । दुकान पर कभी बैठते हैं, कभी नहीं बैठते, कोई सामान है, कोई बीता हुआ पड़ा है । निराश ग्राहक लौट जाते हैं । अगर कहीं नौकरी करते हैं तो देर में पहुँचते हैं, समय पर ठीक तरह

काम पूरा करके नहीं देते, ऐसी दशा में असन्तुष्ट मालिक की झिड़कियाँ सुनने को मिलती हैं। ऐसी दशा में जीविका के जो साधन हैं उनसे बहुत थोड़ी आमदनी हो पाती है। न तो निराश लौटने वाले ग्राहकों को अधिक नफा मिल सकता है और न असन्तुष्ट मालिक वेतन बढ़ा सकता है। फल यह होता है कि लापरवाह व्यक्तियों की आर्थिक स्थिति गिरने लगती है और धीरे-धीरे वे दरिद्र बन जाते हैं।

लापरवाह व्यक्तियों से अपने वचन का पालन नहीं हो सकता। क्योंकि हर एक वचन को पूरा करने के लिए वह समय ध्यान रखना पड़ता है जबकि उसे पूरा करना है, साथ ही वह सामग्री भी जुटानी पड़ती है, जो वचन पूरा करने के लिए प्रस्तुत की जाने वाली है। लापरवाह मनुष्य पहले तो सोचता रहता है कि अभी क्या जल्दी है बहुत समय पड़ा हुआ है, इस काम को तो बहुत जल्द पूरा कर देंगे, ऐसे ही टालते-टालते समय बीतता चला जाता है और जब वचन पूरा करने की अवधि बिलकुल पास आ जाती है और तब उसके हाथ पैर फूल जाते हैं कि अब यह कार्य कैसे पूरा हो। अन्त में दाँत निपोर कर रह जाते हैं।

जिनमें जागरूकता नहीं है उनकी सारी चीजें अस्त-व्यस्त रहती हैं। उनके निवास स्थान पर जाकर देखिये तो सारी चीजें इधर-उधर अस्त-व्यस्त कूड़े-कचरे की तरह जहाँ-तहाँ पड़ी होंगी। चूहे, दीमक, मकड़ी, छिपकली, कीड़े-मकोड़े उनकी चीजों का निर्द्वन्द उपयोग कर रहे होंगे। बालों में चीलर, कपड़ों में जुएँ रेंग रहे होंगे। शरीर पर जहाँ-तहाँ मैल-जम रहा होगा, बदबू आ रही होगी, देह पर कपड़े बेढंगे भद्दे और मैले-कुचैले होंगे। कहीं हजामत बढ़ रही तो कहीं बटन टूटे हुए हैं। जूते की सिलाई उखड़ गई है तो यह न बन पड़ेगा कि जल्दी ही उसकी मरम्मत करा लें, भले ही वह कीमती जूता थोड़े ही दिनों में इस छोटी-सी भूल के कारण खराब हो जाय। इस प्रकार टूटी-फूटी, अस्त-व्यस्त, मैली-कुचैली दशा में उनकी वस्तुएँ पड़ी रहती हैं, यदि कोई दूसरा व्यवस्था करने वाला न हो तो उनके चारों ओर दरिद्र महाराज छाये हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

ऐसे लोग दूसरों के यहाँ अपनी चीजें पड़ी रहने देते हैं, अपने यहाँ किसी की चीज आ जाय तो लौटाते नहीं। यदि भाग्यवश खोने या नष्ट करने से बच गई तो बार-बार तकाजे होने पर टूटी-फूटी या खराब दशा में वापस करते हैं। जो एक बार चीज उधार दे देता है वह आगे के लिए होशियार हो जाता है और फिर उन्हें की भूल नहीं करता। आये दिन उनकी चीजें गुम होती रहती हैं-अपने बुरे स्वभाव के कारण चीजों को यहाँ-तहाँ पटक देते हैं फिर जरूरत के वक्त बेतहाशा इधर-उधर ढूँढ़ते फिरते रहते हैं, नहीं मिलती तो कभी किसी पर चिल्लाते हैं कभी किसी पर नाराज होते हैं। घर में चीज निबट गई हैं, पर लाई नहीं जाती। ईधन, अनाज, नमक, तेल आदि की पुकार पड़ी रहती है।

लापरवाही का बड़ा भाई आलस्य है। मानसिक असावधानी को लापरवाही कहते हैं। इसमें जब बढ़ोत्तरी होती है तो वह शरीर पर भी अपना कब्जा कर लेती है और परिश्रम करना बहुत बुरा लगने लगता है। छोटा या बड़ा कोई भी परिश्रम क्यों न हो जहाँ तक बन पड़ता है उसे टालते हैं। जब तक अत्यन्त उग्र प्रेरणा न हो तब तक मेहनत करने को देह नहीं उठती। अपना काम दूसरों से कराने के अवसर ताका करते हैं। शरीर को उठा कर इधर-उधर ले जाना ऐसा लगता है मानो पहाड़ उठाने का काम करना पड़ रहा हो। पलंग, आराम कुर्सी या गद्दी पर पड़े रहना उन्हें पसन्द होता है। घर छोड़कर बाहर निकलना ऐसा प्रतीत होता है मानो मौत से युद्ध करने की मुसीबत उनके ऊपर आई हो। समय को वे निरर्थक गँवाते रहते हैं और हर काम को नियत अवधि से पीछे करते हैं। कई बार तो रेल आदि के टाइम से भी पिछड़ जाते हैं। शौच, स्नान, भोजन, शयन में भी उनका आलस्य साथ नहीं छोड़ता। नियत और उपयोगी समय पर उनका एक भी कार्य नहीं हो पाता, आलस्य में उनके जीवन-क्षण निरर्थक बरबाद होते रहते हैं।

प्रमाद इन दोनों से भी आगे बढ़ी हुई स्थिति है। जानबूझ कर, अधिक उपयोगी एवं आवश्यक कार्यों की धृष्टतापूर्वक उपेक्षा करना, उन्हें बिगड़ने देना प्रमाद कहलाता है। आलसी या लापरवाह व्यक्ति अपनी भूल के लिए कुछ पश्चात्ताप करता है। अन्यमनस्कता के कारण भूल करते समय उसे सूझ नहीं पड़ता कि इससे क्या अनर्थ होने की सम्भावना है। वह वस्तुस्थिति के दुष्परिणाम ठीक-ठीक अन्दाज नहीं लगा पाता और साधारण बात समझ कर नियत कार्य में ढील छोड़ देता है। किन्तु प्रमादी व्यक्ति बौद्धिक दृष्टि से उन सब बातों को जानता है, उसे अन्दाज होता है कि इस प्रकार की लापरवाही करने का क्या दुष्परिणाम हो सकता है? फिर भी अपनी हेकड़ी के आधार पर उसकी परवाह नहीं करता। अहंकार, धृष्टता

और निर्लज्जता की उसमें प्रधानता रहती है। वह घमण्ड के मारे दूसरों की हानि या घृणा की चिन्ता नहीं करता, औरों को तुच्छ या नाचीज समझता है, कर्तव्यपालन न करने पर जो भर्त्सना होती है, उससे शर्मिन्दा होने के स्थान पर वह धृष्टतापूर्वक बेतुके जबाव देता है। अपनी भूल का निराकरण या सुधार करने के स्थान पर वह भर्त्सना करने वाले के दोष दिखाने लगता है। वह सावित करना चाहता है कि मैंने यह गलती की, तो तुम अमुक गलती कर चुके हो, फिर तुम्हें मेरी आलोचना क्यों करनी चाहिए ?

लापरवाही, असावधानी, गैरजिम्मेदारी, आलस्य, प्रमाद जैसे भयंकर दोष 'जागृत तन्द्रा' के कारण पैदा होते हैं। यह साधारण दृष्टि से देखने पर बहुत छोटे मालूम पड़ते हैं, इनसे किसी भयंकर अनर्थ की आशंका नहीं मालूम पड़ती, इसलिए अधिक ध्यान नहीं दिया जाता, परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि 'छोटी-छोटी' आदतों से ही जीवन निर्माण होता है। छोटे-छोटे परमाणुओं के संघटन से कोई बड़ी वस्तु बनती है। पीले और नीले रंग के नन्हें-नन्हें परमाणु अमुक मात्रा में न्यूनाधिक रहें तो दूसरे प्रकार का रंग बनेगा। दवाओं में पड़ने वाली ओषधियों में थोड़ा अन्तर क दिया जाय तो उनके गुणों में भी भारी अन्तर आ जाता है। निशाना लगाते समय यदि बन्दूक की नाल एक जौ भर नीची हो जाय तो निशाने तक गोली के पहुँचने में कोई गज का अन्तर पड़ जाता है। इसी प्रकार छोटे-छोटे गुण और दोषों का अन्तर जीवन की अन्तिम सफलता में फर्क कर देता है।

असावधानी का प्रतिकार

जागृत तन्द्रा में विभोर मनुष्य वास्तव में आधा मनुष्य है। अर्द्ध जीवित और अर्द्धमृतक भी उसे कह सकते हैं। जैसे शरीर के एक भाग को लकवा मार जाय और दूसरा भाग अच्छा रहे तो उससे क्या काम हो सकेगा ? किसी आदमी का एक हाथ, एक पैर, एक कान, एक आँख नष्ट हो जाय तो उसे बेचारे की बड़ी दुर्दशा होगी। इसी प्रकार जो अर्द्धतन्द्रा में पड़ा रहता है वह अधूरा मनुष्य जीवन संग्राम में विजय प्राप्त करने वाला योद्धा नहीं बन सकता। लापरवाही एक मानसिक लकवा है, जिससे आधा मस्तिष्क लुञ्ज-पुञ्ज हो जाता है। ऐसे मानसिक अपाहिज दरिद्रता के चिथड़े में लिपटे एक कोने में पड़े रहते हैं और जीवन के भार को किसी प्रकार गिरते-मरते ढोते रहते हैं। उन्नत, समृद्ध एवं सम्पन्न जीवन तो उनके लिए आकाश कुसुम की भाँति दुर्लभ है।

जीवन की धूलि में मिला देने वाला यह सत्यानाशी रोग जितना भयंकर और घातक है, उतना ही चिकित्सा में सुलभ भी है। ज्वर, खाँसी, दस्त आदि रोग ऐसे हैं कि उनको दूर करने में किसी जानकार चिकित्सक से सलाह लेने की और अमुक ओषधियाँ खरीदने और सेवन करने की आवश्यकता पड़ती है। कई तरह के उपचार करने पड़ते हैं तब कहीं कुछ समय लेकर वे रोग नष्ट होते हैं, परन्तु इस रोग के निवारण करने में इस प्रकार का एक भी झंझट नहीं है। रोगी जब चाहे कि मुझे इस रोग से पीछा छुड़ाना है, उसी समय वह उससे छुटकारा पा सकता है। यह रोग तभी तक ठहरता है जब तक रोगी उसका विरोध नहीं करता और अपने में उसे ठहरने देता है, पर जब वह विरोध करने और हटा देने को उतारू हो जाता है तो फिर उसका ठहरना नहीं हो सकता।

व्यभिचार दूसरे पक्ष के सहयोग पर निर्भर है। यदि पुरुष व्यभिचारी हो पर कोई स्त्री उसके कार्य में सहयोग न दे तो व्यभिचार होना असंभव है। इसी प्रकार जागृत तन्द्रा का घातक रोग भी रोगी के सहयोग पर निर्भर है। जहाँ विरोध होगा, हटाने का प्रयत्न होगा, वहाँ उसका ठहरना नहीं हो सकता। यह रोग किसी को उसकी इच्छा के विरुद्ध अपना शिकार नहीं बना सकता। जैसे ही मनुष्य यह सोचता है कि मुझे अपने को जागृत तन्द्रा के चंगुल से झुड़ाना है वैसे ही उस बीमारी के पाँव उखड़ जाते हैं। जैसे ही वह यह दृढ़ संकल्प करता है कि "मैं जागरूक रहूँगा-लापरवाही को पास भी न फटकने दूँगा" वैसे ही वह अपना बोरिया-बिस्तर समेट लेती है। कहते हैं कि चोर के पैर बड़े कमजोर होते हैं। घर का मालिक चाहे वह कमजोर ही क्यों न हो जाग पड़े और सावधान हो जाय तो घर में घुसे हुए हट्टे-कट्टे पहलवान चोर को भी भागना पड़ता है। मन के सजग हो जाने पर लापरवाही भी चोर की तरह भाग खड़ी होती है।

अन्धकार क्या है ? प्रकाश के अभाव का नाम ही अन्धकार है, वैसे स्वतंत्र रूप से अन्धकार का कोई अस्तित्व नहीं। अन्धकार नाम का पदार्थ स्वतंत्र रूप से कहीं उपलब्ध नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार लापरवाही भी स्वतंत्र चीज नहीं है। जागरूकता का अभाव ही लापरवाही है। जैसे स्नान करना या न करना, टहलने जाना या न जाना, अपने हाथ की बात है, उसी प्रकार मन का जागरूक रखना या न रखना भी अपने हाथ की बात

है । अपनी इच्छा के ऊपर यह सब निर्भर है । मन की इच्छा होती है तो उसकी आज्ञानुसार हाथ अपना काम करना शुरू कर देता है और जब तक इच्छा रहती है वह काम में जुटा रहता है । मन की इच्छा न हो तो हाथ के हिलने-डुलने से कुछ प्रयोजन नहीं । मस्तिष्क की भी यही दशा है । मनुष्य चाहता है कि सावधानी, एकाग्रता और दिलचस्पी से काम करूँ तो उसकी इस चाहना के मार्ग में कोई बाधा नहीं । खुशी-खुशी मस्तिष्क उसी प्रणाली को अपना लेता है जिसको कि मन चाहता है । जिस काम में अधिक रुचि होता है, उस काम को लापरवाह व्यक्ति भी बड़ी सावधानी से पूरा करते हैं । जैसे शतरंज, चौपड़ या ताश खेलने में जिसकी रुचि होती है, वह उस खेल को बड़ी सावधानी से और सफलता के साथ खेलता है। उस खेल में बहुत कम भूलें होने लगती हैं । इससे सिद्ध है कि मन की ढील या उदासीनता ही लापरवाही का मूल कारण है । जबकि लापरवाह, आलसी और प्रमादी व्यक्ति किसी अपनी दिलचस्पी के एक काम में अपना कौशल प्रकट कर सकते हैं, तो कोई कारण नहीं कि वे अन्य कार्यों में कौशल प्रकट न कर सकें । बाधा केवल एक ही है, मन की उदासीनता। इस बाधा को हटा दिया जाय तो हर एक व्यक्ति पूर्ण रूप से क्रिया-कुशल, कर्तव्यनिष्ठ, परिश्रमी, कर्मपरायण और सफल मनोरथ हो सकता है। उसके कार्यों में जो त्रुटियाँ, कुरूपताएँ, फूहड़पन तथा गैरजिम्मेदारी भरी रहती है, उन सबका दर्शन भी दुर्लभ हो सकता है ।

जो व्यक्ति जागरूक बनना चाहता है उसे प्रतीक्षा करनी चाहिए कि "मैं जागृत जीवन व्यतीत करूँगा । आत्म-गौरव की रक्षा के लिए अपने हर एक कार्य को सफल और सुन्दर बनाने का प्रयत्न करूँगा । जीवन के बहुमूल्य क्षणों का अत्यन्त सावधानी के साथ सुव्यवस्थित ढंग से सदुपयोग करूँगा ।" यह प्रतिज्ञा जिह्वा के अग्रभाग से नहीं वरन् अन्तःकरण के गहनतम प्रदेश से की जानी चाहिए । लापरवाही से होने वाली भयंकर हानियों के ऊपर बहुत समय तक गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए, जिन लोगों के लापरवाही के कारण जीवन दुर्दशाग्रस्त हो रहे हैं उनकी दशा का सुविस्तृत चित्र कल्पना लोक में खींचना चाहिए और विचार करना चाहिए कि यदि उनमें यह दोष न रहा होता तो कितना आगे बढ़ गये होते । इसी प्रकार कुछ उन लोगों के जीवनों पर दृष्टिपात करना चाहिए जो साधारण-सी स्थिति के होते हुए भी अपने अध्यवसाय के कारण कितने आगे बढ़ गये । यदि उन उन्नतिशील व्यक्तियों ने इतनी सावधानी न बरती होती तो जो उनकी आरम्भिक दशा थी, उससे भी गिरी दशा होती । ऐसी दशा में और उस गिरी दशा में कितना जमीन-आसमान का अन्तर होता ।

एक वे हैं जो लापरवाही के कारण ऊँचे से नीचे गिरे, दूसरे वे हैं जो जागरूकता के कारण नीचे से ऊँचे उठे हैं। इन दोनों प्रकार के मनुष्यों की आरम्भिक और अन्तिम अवस्था के अन्तर को ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि सावधानी में कितनी महानता और असावधानी में कितनी भयंकरता भरी हुई है। इस महानता और भयंकरता को एक-एक करके अपने जीवन से संबद्ध होने की कल्पना करनी चाहिए और मस्तिष्क में एक छाया चित्र बनाना चाहिए कि यदि भूतकाल में मैंने असावधानी न बरती होती तो अब तक कितना आगे बढ़ गया होता, तब आज कैसी उत्तम दशा रही होती । असावधानी के कारण कितने स्वर्ण सुयोग हाथ से निकल गये, समय और शक्ति की कितनी बर्बादी हुई, इस पर खेद पूर्ण पश्चात्ताप करना चाहिए । एक दूसरे कल्पना चित्र में यह सोचना चाहिए कि यदि भावी जीवन में सावधानी बरती जाय तो किस-किस दशा में कितनी-कितनी प्रगति हो सकती है? और उस उन्नति युक्त दशा में अपनी स्थिति कितनी अच्छी एवं आनन्ददायक हो सकती है । इस प्रकार असावधानी से उत्पन्न होने वाली हानियों का भय और सावधानी से होने वाले लाभों का लोभ, अनेक उदाहरणों, तर्कों, प्रमाणों और कल्पनाओं के साथ मन के सामने रखने से भीतर से एक स्फुरणा उत्पन्न होती है। यदि वह स्फुरणा कायम रखी जा सके तो मनुष्य जागरूक बन सकता है ।

नियमबद्ध बनने की आवश्यकता

जीवन को जागृत बनाने के लिए दो बातों की प्रधान रूप से आवश्यकता है । एक तो समय का कार्य विभाजन, दूसरे अपने कार्यों में रुचि । प्रातःकाल चारपाई पर से उठते ही दिन भर का कार्यक्रम बना लेना चाहिए कि आज कौन कार्य किस समय पर करना है। उन कार्यों की विशेष आवश्यकता के अनुसार समय में हेर-फेर करना पड़े तो कोई बात नहीं, परन्तु अपनी निजी ढील के कारण जरा भी विलम्ब नहीं होना देना चाहिए । जिन्हें प्रातःकाल का नियत किया हुआ कार्यक्रम याद रखने में अड़चन पड़ती हो तो उन्हें डायरी में नोट कर लेना चाहिए और रात को सोते समय देखें कि उस कार्यक्रम पर अमल हुआ या नहीं ?

यदि नहीं हुआ तो उसका कारण अन्य परिस्थितियाँ थीं या अपनी ढील ? जहाँ अपनी ढील दिखाई पड़े वहाँ अपने को डाँटना चाहिए और आगे के लिए सावधानी रखने की दृढ़ता स्थापित करनी चाहिए ।

हर कार्य को अपने "गौरव की कसौटी" समझकर करना चाहिए । 'इस कार्य की श्रेष्ठता या निकृष्टता पर मेरा व्यक्तित्व परखा जाने वाला है' यह अनुभव करना चाहिए जैसे कोई चित्रकला का विद्यार्थी चित्र बनाते समय यह ध्यान रखता है कि इस अभ्याससे तात्कालिक लाभ न सही पर अभ्यास हो जाने पर जब मैं सफलता के शिखर पर पहुँचूँगा तो वह लाभ बहुत बड़ा होगा । इस दृष्टिकोण से वह कड़ी मेहनत और एकाग्रता से काम करता है । वह जानता है कि शिक्षा काल की छोटी-मोटी रद्दी कागज पर, मामूली स्याही से बनने वाली तस्वीरों का स्वयं कुछ विशेष महत्व नहीं है, तो भी इन रद्दी कागज पर बड़े परिश्रमपूर्वक बनाये जाने वाले चित्रों के अन्तर्गत चित्रकला में महान सफलता का रहस्य निहित है । साधारण छोटे-मोटे दैनिक जीवन के कार्यों को जो मनुष्य अच्छे से अच्छा, सुन्दर से सुन्दर, बढ़िया से बढ़िया बनाने का प्रयत्न करना है, वह अपनी क्रिया शक्ति को सतेज करता है, अपने अभ्यास को बढ़ाता है । उन छोटे कामों में विशेष मनोयोगपूर्वक अधिक सुन्दरता उत्पन्न करना तत्काल कुछ विशेष महत्व भले ही न रखता हो पर उससे अभ्यास, सुरुचि को बनाने और बढ़िया काम करने की जो आदत पड़ती है वह अत्यन्त ही मूल्यवान है ।

'यह बढ़िया काम किसने किया है ?' जब इस प्रश्न को प्रसन्न और सन्तुष्ट चेहरे से कोई पूछता हो तो समझ लीजिए कि उस काम के कर्त्ता के लिए सजीव उपहार भेंट किया जा रहा है । मनुष्य का गौरव इस बात में है कि उसके कामों की अच्छेपन, सुघड़ता और निर्दोषता के लिए प्रशंसा की जाय । जो व्यक्ति अपने काम को प्रशंसा योग्य बनाता है, वह काम उलट कर अपने करने वाले को प्रशंसा योग्य बनाता है । बहुत काम करना अच्छी बात है, पर उससे अच्छी बात यह है कि काम को उत्तमता से किया जाय । बहुत काम करना पर खराब करना यह कोई अच्छाई नहीं है, चाहे अपेक्षाकृत कुछ कम काम हो पर वह उत्तमता से किया हुआ होना चाहिए ।

चीजों को सँभाल कर यथास्थान रखना यह एक बड़ा अच्छा गुण है । इससे वस्तुएं खोने, फूटने-टूटने या मैली-कुचैली होने से बच जाती है और वे अधिक समय तक अपनी मजबूती तथा सुन्दरता को कायम रखे रहती हैं । सौन्दर्य का प्रथम नियम चीजों का यथास्थान रखना है, नियत स्थान से भिन्न स्थान पर पड़ी हुई वस्तु ही कूड़ा-कचरा कही जाती है । प्रयोजन पूरा होने के उपरान्त वस्तुओं को जहाँ-तहाँ न पड़ी रहने देना चाहिए वरन् उन्हें यथास्थान रखने के बाद तब वहाँ से हटाना चाहिए । किसी काम की समाप्ति तब समझनी चाहिए जब उस कार्य में प्रयुक्त हुई वस्तु यथास्थान पहुँचा दी जाय ।

(१) इस कार्य में कोई भूल तो नहीं हो रही है ? (२) कार्य को और अच्छा किस प्रकार बनाया जा सकता है ? इन दोनों प्रश्नों को सदैव मन में जागृत रखने से ऐसे उपाय सूझ पड़ते हैं जिनके द्वारा अधिक लाभदायक, सन्तोषजनक और उन्नतिशील स्थिति प्राप्त हो सके । मैं जागृत तन्द्रा में तो नहीं जा रहा हूँ । कोई लापरवाही तो नहीं बरत रहा हूँ? आलस्य में बहुमूल्य समय तो नहीं गँवा रहा हूँ ? प्रमाद के लक्षण तो मुझमें नहीं आ रहे हैं ? इस प्रकार के प्रश्नों से अपनी शोधक दृष्टि को भरा रखना चाहिए और एक निष्पक्ष एवं खरे आलोचक की तरह अपने आप की परीक्षा तथा समीक्षा करते रहना चाहिए । जैसे मुँह पर कोई मक्खी या मच्छर आ बैठे तो उसे तुरन्त ही उड़ा देने के लिए हाथ उठता है, वैसे ही लापरवाही को मक्खी और आलस्य को मच्छर समझकर उन्हें पास न आने देना चाहिए और जैसे ही वे दिखाई दें वैसे ही तुरन्त उन्हें भगा देना चाहिए ।

अपना स्वभाव ढीला-पोला मत बनने दीजिए, अपने मन को उदास, निराश और गिरा हुआ मत रहने दीजिए । अपने आपको सदा चैतन्य, जागरूक और कर्तव्य परायण रखिए । जागृति में जीवन और तन्द्रा में मृत्यु हैं । आप जीवितों का जीवन जीना चाहते हैं तो जागृत रहिए । अपने सब काम को सावधानी और सतर्कता के साथ कीजिए ।

आत्म-रक्षा और नैतिकता

सावधानी और सुरक्षा का मुख्य उद्देश्य विरोधियों और दुष्ट प्रकृति के लोगों से आत्म-रक्षा और अन्य निर्बलों की रक्षा करना ही माना गया है । इस उद्देश्य से जो कार्य किए जाते हैं उनमें अनेकों बार विरोधाभास दिखलाई पड़ा करता है । जो कार्य कुटिल शत्रु के प्रयत्न को विफल करने के लिये आवश्यक होता है, वह अनेक बार अनैतिक जान पड़ता है और अनेक भोली प्रकृति के व्यक्ति ऐसे अवसर पर हिचकिचाकर कर्तव्यच्युत हो जाते हैं, जिसके फलस्वरूप उनको आपत्ति में फंस जाना पड़ता है । ऐसे

लोग नैतिकता के वास्तविक स्वरूप से अनजान होते हैं। मनुष्य के कार्यों के भले या बुरे होने का निर्णय वास्तव में उसके उद्देश्य से किया जाता है। कार्यों के बाहरी स्वरूप से तो प्राय: धोखा हो जाता है, और लोग अच्छे कार्यों को भी निकृष्ट मान लेते हैं। सीधे-सीधे अवसरों पर तो सीधी-सीधी प्रणाली से भली प्रकार काम चल जाता है। किसी भूखे-प्यासे की सहायता करनी है तो वह कार्य अन्न-जल दे देने से सीधे-सीधे तरीके से पूरा हो सकता है। इसी प्रकार किसी दु:खी या अभावग्रस्त को अभीष्ट वस्तुएँ देकर उसकी सेवा की जा सकती है। धर्मशाला, कुआँ, बाबड़ी, बगीचा, पाठशाला, गौशाला, अनाथालय, औषधालय, अन्न-क्षेत्र, सदावर्त, प्याऊ आदि के द्वारा लोक-सेवा की जाती है और यज्ञ, कथा, कीर्तन, सत्संग, उपदेश, सत्साहित्य आदि द्वारा जनहित किया जाता है। ऐसे कार्य निश्चय ही श्रेष्ठ हैं और उनकी आवश्यकता एवं उपयोगिता सर्वत्र स्वीकार की जाती है।

पर कई बार इस प्रकार की सेवा की बड़ी आवश्यकता होती है जो प्रत्यक्ष में बुराई मालूम पड़ती है और उसके करने वाले को अपयश ओढ़ना पड़ता है। इस मार्ग को अपनाने का साहस किसी में नहीं होता, विरले ही बहादुर इस प्रकार की दुस्साहसपूर्ण सेवा करने को तैयार होते हैं। दुष्ट और अज्ञानियों को उस कुमार्ग से छुड़ाना-जिस पर कि वे बड़ी ममता और अहंकार के साथ प्रवृत्त हो रहे हैं-कोई साधारण काम नहीं है। सीधे आदमी सीधे तरीके से मान जाते हैं, उनकी भूल ज्ञान से, तर्क से, समझाने से सुधर जाती है, पर जिनकी मनोभूमि अज्ञानान्धकार से कलुषित हो रही है और साथ ही जिनके पास कुछ शक्ति भी है वे ऐसे मदान्ध हो जाते हैं कि सीधी-सादी क्रिया-प्रणाली का उन पर प्राय: कुछ भी असर नहीं होता।

मनुष्य शरीर धारण करने पर भी जिनमें पशुत्व की प्रबलता और प्रधानता है, ऐसे प्राणियों की कमी नहीं है। ऐसे प्राणी सज्जनता, साधुता और सात्विकता का कुछ भी मूल्यांकन नहीं करते। ज्ञान से, तर्क से, नम्रता से, सज्जनता से, सहनशीलता से उन्हें अनीति के दु:खदायी मार्ग पर से पीछे नहीं हटाया जा सकता। पशु समझाने से नहीं मानता। उससे कितनी ही प्रार्थना की जाय, शिक्षा दी जाय, उदारता बरती जाय, वह इससे कुछ भी प्रभावित न होगा और न अपनी कुचाल छोड़ेगा। पशु केवल दो चीजें पहचानता है। एक लोभ, दूसरा भय। दाना घास दिखाते हुए उसे ललचा कर कहीं भी ले जाइए वह आपके पीछे-पीछे चलेगा, या फिर लाठी का डर दिखाकर जिधर चाहें उधर ले जाया जा सकता है। भय य लोभ के द्वारा अज्ञानियों को, कुमार्गगामियों को, पशुओं को, कुमार्ग से विरत और सन्मार्ग में प्रवृत्त कराया जा सकता है।

कुमार्गगामियों के सुधार का उपाय

भय उत्पन्न करने के लिए दण्ड का आश्रय लिया जाता है, लोभ के लिए कोई ऐसा आकर्षण उसके सामने उपस्थित करना पड़ता है जो उसके लिए आज की अपेक्षा भी अधिक सुखदायी प्रतीत हो। इसी प्रकार उसके सामने कोई ऐसा डर उपस्थित कर दिया जाय जिससे वह घबरा जाय और अपने ऊपर इतनी भयंकर विपत्ति आती हुई अनुभव करे जिसकी तुलना में अपनी वर्तमान कुटेवों को छोड़ना उसे लाभदायक मालूम पड़े तो वह उसे छोड़ सकता है। नशेबाजी, व्यभिचार आदि बुराइयों के दुष्परिणामों को बढ़ा-चढ़ा बताकर कई बार उस ओर चलने वालों को इतना डरा दिया जाता है कि वे उसे स्वयमेव छोड़ देते हैं। इस प्रकार के अत्युक्तिपूर्ण वर्णनों में यद्यपि असत्य का अंश रहता है पर वह इसलिए बुरा नहीं समझा जाता क्योंकि उसका प्रयोग सदुद्देश्य के लिए किया गया है। इसी प्रकार किन्हीं सत्कार्यों का लाभ अत्युक्तिपूर्ण रीति से बढ़ा-चढ़ा कर बताया जाय तो उसमें कुछ दोष नहीं होता कारण कि बाल-बुद्धि लोगों की सन्मार्ग की ओर अग्रसर करने के लिए उस अत्युक्ति का आश्रय लिया गया है। गंगा-स्नान, तीर्थयात्रा, ब्रह्मचर्य, दान आदि के अत्युक्तिपूर्ण माहात्म्य हमारे धर्म-ग्रन्थों में भरे पड़े हैं। उन्हें असत्य ठहराने का साहस कोई विचारवान व्यक्ति नहीं कर सकता। क्योंकि आम जनता जिसमें बाल-बुद्धि की प्रधानता होती है, बिना विशेष भय और बिना विशेष लोभ के उच्चता के कष्टसाध्य मार्ग पर चलने के लिए कदापि सहमत नहीं हो सकती। स्वर्ग का आकर्षक आनन्ददायक वर्णन और नरक का भयंकर, रोमांचकारी, दुखदायी चित्रण इसी दृष्टि से किया गया है कि इस प्रबल लोभ या भय से प्रभावित होकर लोग अनीति का मार्ग छोड़कर नीति का मार्ग अपनावें। स्वर्ग-नरक की इतनी अलंकारिक कल्पनाएँ रचने वालों को क्या हम झूठा ठहरावें ? नहीं, यदि हम ऐसा करेंगे तो यह परले सिरे की मूर्खता होगी।

संसार में अज्ञानग्रस्त, स्वार्थी, नीच मनोवृत्तियों वाले, बाल-बुद्धि लोगों की कभी नहीं है। इनकी सेवा उनकी इच्छाएँ पूर्ण करने में सहायक बनकर नहीं वरन् बाधक

बनकर ही की जा सकती हैं । जो बालक हर घड़ी गोदी में चढ़ना चाहता है, स्कूल जाने से जी चुराता है, पैसा चुराता है या और कोई कुटेव सीख रहा है उसके साथ उदारता बरतने, उसके कार्यों में सहायक होने का अर्थ तो उसके साथ शत्रुता करने का होगा, इस प्रकार तो वह बालक बिलकुल बिगड़ जायगा और उसका भविष्य अन्धकारमय हो जायगा । कोई रोगी है- कुपथ्य करना चाहता है, या सन्निपात ग्रस्त होकर अंड-बंड कार्य करने को कहता है, उसकी इच्छा पूर्ति करने का अर्थ होगा उसे अकाल मृत्यु के मुँह में धकेल देना । इस प्रकार के बालकों या रोगियों की सच्ची सेवा इसी में है कि वे जिस मार्ग पर आजकल चल रहे हैं, जो चाहते हैं उसमें बाधा उपस्थित की जाय, उनका मनोरथ पूरा न होने दिया जाय । इस कार्य में सीधे-सीधे तरीके से ज्ञान और विवेकमय उपदेश देने से कई बार सफलता नहीं मिलती और उनके हित का ध्यान रखते हुए विवेकवान् और निस्वार्थ पुरुषों को भी असत्य या छल का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। ऐसे असत्य या छल को निन्दित नहीं ठहराया जा सकता । रोगी या बालकों को फुसला कर उन्हें ठीक मार्ग पर रखने के लिए यदि झूँठ बोला जाय, डर या लोभ दिखाया जाय, किसी अत्युक्ति का प्रयोग किया जाय तो उसे निन्दनीय नहीं कहा जायगा ।

आसुरी शक्तियों से संघर्ष करने में छल का प्रयोग

आसुरी शक्तियाँ जब अत्यधिक प्रबल हो जाती हैं और उनको वश में करने के लिए सीधे-सीधेतरीके असफल होते हैं तो काँटे निकालने की, "शठे शाठ्यं समाचरेत्" की नीति अपनानी पड़ती है । सिंह, व्याघ्र आदि का पकड़ना या मारना-सीधे-साधे तरीके से नहीं हो सकता, उनके सामने जाकर कुश्ती लड़ना या पकड़ लाना आदमी की शक्ति से बाहर है । जल में फँसाकर, छिपकर, बन्दूक आदि हथियार का आश्रय लेकर ही उन्हें पकड़ा या मारा जा सकता है । मोटी दृष्टि से देखने पर यह क्रियायें छल, धोखेबाजी, कायरतापूर्ण आक्रमण कही जा सकती हैं, पर विवेकवान् पुरुष जानते हैं कि इसमें कुछ भी अनीति नहीं है । हिंसक जन्तुओं की भयंकर करतूतें, उनको रोकने की अनिवार्य आवश्यकता एवं मनुष्य की अल्प शक्ति पर विचार करते हुए यह उचित प्रतीत होता है कि इन हिंसक जन्तुओं को जिस प्रकार से भी छल-बल से भी परास्त किया जा सकता हो तो वैसा भी निस्संकोच करना चाहिए ।

प्राचीन इतिहास पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो प्रतीत होता है कि इस नीति का अवलम्बन अनेक महापुरुषों को करना पड़ा है। धर्म की स्थूल मर्यादाओं का उल्लंघन करना पड़ा है । इस उल्लंघन में उन्होंने लोकहित का, धर्मवृद्धि का, अधर्म विनाश का ध्यान अपनी पूर्ण सद्भावना के साथ रखा था इसलिए उनको उस पाप का भागी नहीं बनना पड़ा जो साधारणतया धर्म मर्यादाओं के उल्लंघन करने पर होता है ।

भस्मासुर ने जब यह वरदान प्राप्त कर लिया कि मैं जिस किसी के सिर पर हाथ रख दूँ वही भस्म हो जाय तो उसने महादेव जी को ही भस्म करने की ठानी ताकि सुन्दरी पार्वती को वह प्राप्त कर ले । भस्मासुर शंकर जी के सिर पर हाथ रखकर उन्हहें भस्म करने के लिए उनके पीछे दौड़ा । शंकरजी अपने प्राण बचाकर भागे । विष्णु भगवान ने देखा कि यह भारी उलझन उत्पन्न हुई-असुर बलवान है, उसे परास्त करने के लिए छल का प्रयोग करना चाहिए। वे पार्वती का रूप बनाकर पहुँचे और कहा- असुरराज ! मैं आपको बड़ा प्रेम करती हूँ, पर एक बात मुझे शंकरजी की बहुत पसन्द है वह है उनका नृत्य । आप भी यदि वैसा ही नृत्य कर सकें तो मैं इसी क्षण से आपके साथ चलने को तैयार हूँ । भस्मासुर बड़ा प्रसन्न हुआ, वह पार्वती के साथ नृत्य करने लगा । नृत्य करते समय उसने अपना हाथ सिर पर रखा और स्वयं जलकर भस्म हो गया । विष्णु ने अपने छल-बल से उस प्रचण्ड असुर को सहज ही नष्ट कर दिया ।

समुद्र मंथन के बाद चौदह रत्न निकले । अन्य रत्न तो बँट गये पर अमृत के बँटवारे पर भारी झगड़ा था । देवता और असुर दोनों ही इस बात पर तुले हुए थे कि अमृत हमें मिलना चाहिए । विष्णु ने देखा कि ऐसे अवसरों पर छल का अचूक हथियार ही काम देता है। उन्होंने मोहिनी रूप बनाया, असुरों को लुभाया, अमृत बाँटने के लिए असुरों की ओर से प्रतिनिधि बने । देवताओं को सारा अमृत पिला दिया, असुर बगलें झाँकते रह गये । उन्होंने देखा कि हमारे साथ भारी विश्वासघात हुआ, मोहिनी रूप विष्णु का उद्देश्य तो महान था । असुरों के साथ छल और विश्वासघात करने का दोष उनको छू भी नहीं सकता था।

राजा बलि को धोखे में डालने के लिए वामन का छोटा-सा रूप बनाकर साढ़े तीन कदम भूमि माँगना और भूमि नापते समय इतना विशाल शरीर बना लेना कि तीन कदम में ही सब कुछ नाप लिया गया और आधे कदम के

लिए बलि को अपना शरीर देना पड़ा। इसे स्थूल दृष्टि वाले क्या कहेंगे ?

वृन्दा का सतीत्व नष्ट करने के लिए भगवान को जालंधर का रूप बनाकर जाना और उसका सतीत्व नष्ट करना, मोटे तौर से धर्म नहीं कहा जा सकता। फिर भी यह इसलिए उचित था क्योंकि जालंधर की मृत्यु ऐसा किए बिना नहीं हो सकती थी और जालंधर ऐसा दुष्ट था कि उसके जीवित रहने से असंख्य जनता पर विपत्ति के पहाड़ टूट रहे थे।

राम ने वृक्ष की आड़ में से छिपकर बालि को मारने में युद्ध के धर्म नियमों का स्पष्ट उल्लंघन किया। इसे क्या कहा जायगा ?

महाभारत में धर्मराज युधिष्ठिर ने अश्वत्थामा की मृत्यु का छलपूर्ण समर्थन किया। अर्जुन ने शिखण्डी की ओट में खड़े होकर भीष्म को मारा। कर्ण के रथ का पहिया गढ़ जाने पर भी उसका वध किया गया। धड़ से नीचे का भाग घायल करना वर्जित होने पर भी भीम द्वारा दुर्योधन की जंघा पर गदा प्रहार हुआ। क्या यह सब धर्मयुद्ध के लक्षण हैं ? पर यहाँ धर्म युद्ध के नियमों का अवसर ही कहाँ था?

आपत्ति धर्म के अनुसार घोर दुर्भिक्ष पड़ने पर प्राण संकट में होने पर, अपने शरीर को लोकहित के लिए जीवित रखने की आवश्यकता अनुभव करते हुए- विश्वामित्र ऋषि, चाण्डाल के घर रात्रि में घुसकर कुत्ते का मांस चुराते हैं। चाण्डाल उन्हें पकड़ लेता है और चोरी करने के लिए ऋषि की भर्त्सना करता है। विश्वामित्र उसे सविस्तार समझाते हैं कि "मूर्ख ! तू धर्म को जितना स्थूल समझता है, वह उतना स्थूल नहीं है। किसी महान् उद्देश्य के लिए अधर्म करना भी धर्म ही है।" इसी प्रकार एक बार अकाल पड़ने पर अपने लोकहितैषी जीवन की रक्षा के लिए उपस्ति ऋषि को किसी अत्यंज के झूठे उड़द खाकर अपने प्राण बचाने पड़े थे।

प्रहलाद का पिता की आज्ञा का उल्लंघन करना, विभीषण का भाई को त्यागना, भरत का माता की भर्त्सना करना, बलि का गुरु शुक्राचार्य की आज्ञा न मानना, गोपियों का परपुरुष श्रीकृष्ण से प्रेम करना, मीरा का अपने पति को त्याग देना, लौकिक दृष्टि से धर्म की स्थूल मर्यादा के अनुसार यद्यपि अनुचित कहे जा सकते हैं, पर धर्म की सूक्ष्म दृष्टि से इसमें सब कुछ उचित ही हुआ है।

हिन्दू धर्म के रक्षक छत्रपति शिवाजी द्वारा जिस प्रकार अफजलखाँ का वध किया गया, जिस प्रकाार वे फलों की टोकरी में छिपकर बादशाह के बन्धन में से निकल भागे- उसे भी कोई मूढ़पति लोग छल कह सकते हैं। भारतीय स्वाधीनता के इतिहास में क्रान्तिकारियों ने ब्रिटिश सरकार को उलटने के लिए जिस नीति को अपनाया था उसमें चोरी, डकैती, जासूसी, वेष बदलना, हत्या, कत्ल, झूठ बोलना, छल, विश्वासघात आदि ऐसे सभी कार्यों का उपयोग हुआ है जिन्हें मोटे तौर से अधर्म कहा जा सकता है। परन्तु विवेकवान व्यक्ति जानते हैं कि उनकी आत्मा कितनी पवित्र थी। अधर्म कहे जाने वाले कार्यों को निरन्तर करते रहने पर भी वे कितने बड़े धर्मात्मा थे। असंख्य दीन-दुखी प्रजा की करुणाजनक स्थिति से द्रवित होकर, अन्यायी शासकों को उलटने का उन्होंने निश्चय किया था। कानून की पोथियों ने भले ही उन्हें दोषी ठहराया और उन्हें कठोरतम दण्ड दिये, पर परमात्मा की दृष्टि में, धर्म के तत्वज्ञान की कसौटी पर वे कदापि पापी घोषित न किये जायेंगे।

इस प्रकार की भावनाएँ कानून के विपरीत होते हुए भी सात्विक दृष्टि से हेय नहीं है। राजनीति के नेता, युद्ध के सैनिक, सरकार के गुप्त गृह विभाग के कर्मचारी इस तथ्य को अपनी विचारधारा का प्रधान अंग मानकर कार्य करते हैं। यदि वे सत्य और निष्कपटता की स्थूल परिभाषा के अनुसार अपना कार्य करने लगें तो उनका कार्य एक दिन भी चलना असम्भव है।

इन सब बातों पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि हमारे अन्त:करण में सत्य, प्रेम, न्याय, त्याग, उदारता, संयम, परमार्थ आदि की उच्च भावनाओं का होना आवश्यक है, उनकी जितनी अधिक मात्रा हो उतना ही उत्तम है। पर संसार के उन व्यक्तियों के साथ जो अभी अज्ञान या पाप के ज्वर से बेतरह पीड़ित हो रहे हैं, काफी सावधानी बरतने की आवश्यकता है। उनकी आत्मा का कल्याण हो, वे अनीति से छूटें, इस भावना के साथ यदि उन्हें भय या लोभ से प्रभावित करके सन्मार्ग पर लाया जा सके तो उसमें डरने की कोई बात नहीं है। चोर, डाकू, जेबकट, भ्रष्टाचारी, दुरात्मा लोगों के भेद यदि छल करके मालूम कर लिए जायें और उन्हें पकड़वा दिया जाय तो इसमें बुराई की बात नहीं है। ऐसे अवसरों पर हमें अपनी धर्मभीरुता को लोकहित की तुलना में पीछे ही रखना चाहिए। शास्त्र के ऐसे कितने ही वचन हैं जिनमें कहा गया है कि- सदुद्देश्य के लिए प्रयुक्त हुआ असत्य-दुर्भाव के लिए प्रयोग हुए सत्य की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है। क्रिया की अपेक्षा भावना का ही महत्व अधिक है। यदि उच्च

उद्देश्य से निन्दित कार्य भी किया जाय तो उससे भी लोकहित होता है और वह भी धर्म कार्य के समान ही पुण्यफल प्रदान करतां है ।

पाप से सावधान रहो

मनुष्य का पतन शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के दोषों से होता है । हमको जिस प्रकार शारीरिक और व्यवहार सम्बन्धी विषयों में सावधान रहने की आवश्यकता है, उसी प्रकार मानसिक दोषों से भी सतर्क रहने की आवश्यकता है । मानसिक दोष सूक्ष्म इन्द्रियों के विषय होने के कारण अधिक कठिनता से दूर किए जा सकते हैं। मानसिक दोष ही वास्तविक पाप है और उनसे प्रत्येक क्षण सावधान रहना-बचे रहना परमावश्यक है ।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, असन्तोष, निर्दयता, असंयम, अभिमान, शोक, स्पृहा, ईर्ष्या और निन्दा-मनुष्य में रहने वाले ये बाहरी दोष, तनिक-सा अनुकूल अवसर पाते ही उत्तरोत्तर बढ़ने लगते हैं ।

मुनि सनत्सुजात के अनुसार "जैसे व्याघ्र मृगों को मारने का अवसर देखता हुआ उसकी टोह में लगा रहता है, उसी प्रकार इनमें से एक-एक दोष मनुष्यों का छिद्र देखकर उस पर आक्रमण करता है ।"

अपनी बहुत बड़ाई करने वाला, लोलुप, अहंकारी, क्रोधी, चञ्चल और आश्रितों की रक्षा न करने वाले-ये छ: प्रकार के मनुष्य पापी हैं । महान संकट में पड़ने पर भी ये निडर होकर इन पाप कर्मों का आचरण करते हैं । सम्भोग में ही मन रखने वाला, विषमता रखने वाला, अत्यन्त भारी दान देर पश्चात्ताप करने वाला, कृपण, काम की प्रशंसा करने वाला तथा स्त्रियों के द्वेषी-ये सात और पहले के छ: ये तेरह प्रकार के मनुष्य नृशंस वर्ग के कहे गये हैं । सावधान रहें !

मनुष्य प्राय: तीन अंगों से पाप में प्रवृत्त होता है । १-शरीर, २- वाणी और ३- मन द्वारा । इनके भी विभिन्न रूप हो सकते हैं । विभिन्न अवस्थाएँ और स्तर हो सकते हैं । ये प्रत्येक मनुष्य का अध:पतन करने में समर्थ हैं । तीनों द्वार बन्द रखें- शरीर, मन और वाणी का उपयोग करते हुए बड़े सचेत रहें, कहीं ऐसा न हो कि आत्म संयम की शिथिलता आ जाये और पाप पथ पर चले जाँय ।

शरीर के पापों में वे समस्त दुष्कृत्य सम्मिलित हैं, जिन्हें रखने से ईश्वर के भव्य मन्दिर रूपी भवसागर से पार कराने वाले पवित्र मानव शरीर को भयंकर हानि पहुँचती है। कञ्चन तुल्य काया में विकार उपस्थित हो जाते हैं, जिससे जीवितावस्था में ही मनुष्य नर्क की यन्त्रणाएं प्राप्त करता है ।

हिंसा प्रथम कायिक पाप है । आप सशक्त हैं तो हिंसा द्वरा अशक्त पर अनुचित दबाव डालकर पाप करते हैं । मद, ईर्ष्या, द्वेष, आदि की उत्तेजना में आकर निर्बलों को दबाना, मारपीट या हत्या करना जीवन को गहन अवसाद से भर लेना है । हिंसक की अन्तरात्मा मर जाती है । उसे उचित-अनुचित का विवेक नहीं रहता, उसकी मुख-मुद्रा से क्रोध, घृणा, द्वेष की अग्नि निकला करती है ।

चोरी करना कायिक पाप है । चोरी का अर्थ भी बड़ा व्यापक है । किसी के माल को हड़पना, डकैती, रिश्वत आदि तो स्थूल रूप में चोरी है ही, पूरा पैसा पाकर अपना कार्य पूरी दिलचस्पी से न करना भी चोरी का ही एक रूप है। किसी को धन, सहायता या वस्तु देने का आश्वासन देकर, बाद में सहायता प्रदान न करना भी चोरी का एक रूप है। फलत: ये कार्य अनिष्टाकारी एवं त्याज्य हैं ।

व्यभिचार मानवता का सबसे घिनौना निकृष्टतम कायिक पाप है । जो व्यक्ति व्यभिचार जैसे निंद्य पाप-पंक में डूबते हैं, वे मानवता के लिए कलंक स्वरूप हैं । आये दिन समाज में इस पाप की शर्माने वाली गन्दी कहानियाँ और दुर्घटनायें सुनने में आती रहती हैं । यह ऐसा पाप है, जिसमें प्रवृत्त होने से हमारी आत्मा को महान दु:ख होता है । मनुष्य आत्मग्लानि का रोगी बन जाता है, जिससे आत्महत्या तक की दुष्प्रवृत्ति उत्पन्न होती है । पारिवारिक सौख्य, बाल-बच्चों, पत्नी का पवित्र प्रेम, समृद्धि नष्ट हो जाती है। सर्वत्र एक काला अन्धकार मन वाणी और शरीर पर छा जाता है ।

आलस्य और प्रमाद से बचकर रहिए

सावधानी और सुरक्षा का एक बहुत बड़ा शत्रु आलस्य है । आलसी आदमी अपनी सफलता और सुरक्षा की व्यवस्था कभी भली प्रकार नहीं कर सकता, क्योंकि वह काहिली के स्वभाव की वजह से कार्य करने के उचित अवसर का उपयोग नहीं कर सकता और जीवन भर फिसड्डी बना रहता है। बदमाश और धूर्त लोग भी ऐसे ही ढीले-ढाले व्यक्ति को अपना शिकार बनाने की कोशिश किया करते हैं ।

आलसी व्यक्ति के लिए किसी भी प्रकार की उत्कृष्टता प्राप्त करना कठिन है । कारण, वह अपनी शक्तियों को

आलस्य की केंचुली में ढके रहता है। उद्योग तथा परिश्रम द्वारा उन्हें विकसित नहीं कर पाता। जब तक उद्योग नहीं, परिश्रम में प्रवृत्ति नहीं, तब तक शक्तियों का विकास नहीं हो सकता। आलस्य और उन्नति साथ-साथ नहीं चल सकते।

आलस्य एक प्रकार का अन्धकार है, जो आत्मा पर, शक्तियों पर और मनुष्य की भावी उन्नति एवं प्रगति पर तुषारापात कर देता है। आलसी पड़ा-पड़ा यही सोचा करता है कि मेरा काम कोई अन्य व्यक्ति कर दे,, मेरी तरक्की करा दे। बाजार से मेरे घर की नाना वस्तुएँ लादे, दफ्तर का काम भी अन्य कोई साथी कर दे। आलसी अफसर अपने छोटे मातहतों के वश में रहते हैं। वे जो पत्र या ड्राफ्ट लिख देते हैं, उसी पर हस्ताक्षर कर देते हैं। ठीक है या गलत, उचित है या अनुचित, क्या बातें लिख दी गई हैं यह भी नहीं देखते। बड़े-बड़े व्यापारियों के दिवाले प्राय: उनके हिसाब-किताब आय-व्यय का ठीक ब्यौरा न रखने के कारण निकलते हैं। वे उधार पर उधार दिये जाते हैं, पर उसे वसूल करने में आलस्य करते रहते हैं। रकमें उत्तरोत्तर बढ़ती जाती हैं और अन्त में सारी पूँजी उधार वालों में बँट जाती है। आलसी माता-पिता अपने बच्चों की पढ़ाई-लिखाई उन्नति आदि को नहीं देखते। फलत: बच्चे अपनी उन्नति नहीं कर पाते जितना वस्तुत: उन्हें करना चाहिए। यदि वे अपना आलस्य छोड़कर उन पर एक तीखी दृष्टि रखा करें, स्वयं भी काम में सहयोग देते रहें, तो पर्याप्त प्रगति हो सकती है।

प्रकृति को देखिए, उसका काम कैसा नियमबद्ध होता है। प्रत्येक वस्तु अपना-अपना निर्धारित कार्य निश्चित समय पर करती चलती है। आलस्य का नाम निशान तक नहीं। आलसी सदस्यों के प्रति प्रकृति बड़ी निष्ठुर है। आलसी की बड़ी दुर्गति होती है। अन्त में सजा के तौर पर वहाँ मृत्यु दण्ड तक का विधान है। प्रकृति का प्रत्येक सदस्य अन्त तक अपना काम सक्रियता से करता है।

उद्योगी और परिश्रमी व्यक्ति ही आपको सुखी और समृद्ध दिखाई देंगे। मनुष्य का जन्म भले ही निर्धन परिवार में हो, उसके पास जाति श्रेष्ठता या घर की जमीन जायदाद कुछ भी न हो, केवल उद्योग और श्रम की आदतें हों, आलस्य से मुक्त हो तो वह धनाढ्य और कीर्ति प्राप्त कर सकता है।

कीर्ति और लक्ष्मी श्रम और उद्योग के आधीन हैं। जो आलस्य नामक शिथिल करने वाली और शक्तियों को पंगु बनाने वाली आलसी वृत्ति को छोड़ेगा, वह निश्चय ही यश प्रतिष्ठा और कीर्ति प्राप्त करेगा।

संसार के इतिहास को उठा देखिए। वे जातियाँ नष्ट हो गईं, जो आलसी और विलासी बनीं। जिस जाति और समाज में आलस्य भर जाता है, वह यश, प्रतिष्ठा और नेतृत्व तीनों ही दिशाओं में अवनति के मार्ग पर अग्रसर होता जाता है। इन्द्रिय-सुख, विलास और आलस्य उसको जर्जर तथा अशक्त कर देते हैं।

जिस कठिन कार्य के करने के लिए तबियत में आलस्य उत्पन्न हो, उसे जरूर किया कीजिए। मान लीजिए आप मन में यह अनुभव करते हैं कि अमुक व्यक्ति से मिलने जाना आवश्यक है, तो मन को मोड़कर जरूर यह काम कीजिए। जिन-जिन पत्रों का उत्तर लिखना है, अवश्य ही उनका उत्तर लिखिए। लिखने में आलस्य कभी न कीजिए।

आलस्य एक प्रकार की बुरी आदत मात्र है। मन, शरीर, दिमाग, वाचा-सभी प्रकार के आलस्य हमारी आदतों के परिणाम हैं। यदि माता-पिता आरम्भ से ही बच्चों में अनुशासन रखें और उनका मानसिक व शारीरिक कार्य सतर्कता से कराने की आदत डालें तो आगामी पीढ़ी भी सुधर सकती है।

बकवाद करना हानिकारक है

अनेक व्यक्तियों में आवश्यकता से अधिक बोलने अथवा जरूरत हो या न हो व्यर्थ की बातचीत करते रहने की आदत होती है। यह प्रवृत्ति सावधानी और सुरक्षा की दृष्टि से बड़ी हानिकर है। ऐसा व्यक्ति अपना कोई भेद कदाचित ही गुप्त रख सकता है। उसकी सभी योजनाएँ अथवा कार्यक्रम पहले से सबको विदित हो जाते हैं और अगर किसी विरोधी की इच्छा हो तो वह उसे सहज में ही परास्त कर सकता है। इसके सिवा इस प्रकार की आदत होने से मनुष्य के मुँह से अनेक अप्रिय बातें भी निकल जाती हैं, जिनका परिणाम अशुभ होता है।

बकवाद करने की तीन बुराइयाँ प्रत्यक्ष हैं। एक, मानसिक शक्ति खर्च होती है, दूसरे आत्म-निरीक्षण का अभाव होता है तीसरे भलाई न करके बुराई ही अधिक हो जाती है। इन तीनों बातों को निरन्तर घटाना आवश्यक है। जब तक हम किसी प्रकार की आदत के बुरे परिणाम को ठीक से मन में नहीं बैठा लेते वह आदत नहीं छूटती। उसे छुड़ाने के लिए अपने अचेतन मन में परिवर्तन करना आवश्यक है।

जिस बात का लक्ष्य, क्रम और समय निश्चित हो वह बकवाद नहींहै, पर जब हम साधारणत: समाज में आते हैं, तब न तो हमारे बात-चीत करने का कोई लक्ष्य होता है, न उसके विभिन्न पहलुओं का कोई क्रम होता है और न कोई समय की अवधि होती है। ऐसी अवस्था में मानसिक शक्ति का संचय नियम के पालन से होता है।

मनुष्य-जन्म सर्वश्रेष्ठ माना गया है। इसमें आदमी जितनी भौतिक और आत्मिक उन्नति कर सकता है उतनी और किसी योनि में संभव नहीं। पर यह तभी संभव हो सकता है, जबकि मनुष्य सदैव सावधान और सर्तक रहे। जागरूक व्यक्ति ही अवसर से लाभ उठाकर अग्रसर हो सकता है और विघ्न-बाधाओं से अपनी रक्षा कर सकता है। असावधान, बेखबर, आलसी, लापरवाह व्यक्ति कभी उन्नति नहीं कर सकते। इसलिए उन्नति की कामना रखने वाले समझदार व्यक्ति का कर्तव्य है कि सदैव सावधान रहे।

२१. उदारता और दूरदर्शिता

गायत्री मंत्र का इक्कीसवाँ अक्षर 'प्र' मनुष्य को उदारता और दूरदर्शिता के गुणों को प्राप्त करने की शिक्षा देता है।

प्रकृतेस्तु भवोदारो जानुदारः कदाचन।
चिन्तयोदार द्रष्टयैव तेन चित्तं विशुद्धयति॥

अर्थात्-"अपने स्वभाव को उदार रखो, अनुदार मत बनो। दूरदृष्टि से विचार करो। ऐसा करने से चित्त पवित्र होता है।"

अपनी रुचि, इच्छा, मान्यता को ही दूसरे पर लादना, अपने गज से सबको नापना, अपनी ही बात को, अपने ही स्वार्थ को सदा ध्यान में रखना अनुदारता का चिन्ह है। अनुदारता पशुता का प्रतीक है। दूसरों के विचारों, तर्कों, स्वार्थों और उनकी परिस्थितियों को समझने के लिए उदारतापूर्वक प्रयत्न किया जाय तो अनेकों झगड़े सहज ही शान्त हो सकते हैं। उदारता में दूसरों को अपना बनाने का अद्भुत गुण है।

जितने अंशों में दूसरों से एकता हो, सर्वप्रथम उस एकता को और सहयोग का माध्यम बनाया जाय। मतभेद के प्रश्नों को पीछे के लिए रखा जाय और मन की शान्त अवस्था में उनको धीरे-धीरे सुलझाया जाय। सामाजिकता का यही नियम है। जिद्दी, दुराग्रही, घमण्डी, संकीर्ण भावना वाले मनुष्य गुत्थियों को सुलझा कर दूसरों का सहयोग पाने से प्राय: वंचित रहते हैं।

आज का, इसी समय का, तुरन्त का लाभ देखना और भविष्य के दूरवर्ती परिणामों पर विचार न करना अदूरदर्शिता है। उसी के चंगुल में फँस कर मनुष्य अपना स्वास्थ्य, यश, विवेक तथा स्थायी लाभ खो बैठता है। आज के क्षणिक लाभ पर भविष्य के चिरस्थाई लाभ को गँवा देने वाले मूर्ख मनुष्य ही बीमारी, अकाल मृत्यु, कंगाली, बदनामी, घृणा एवं अधोगति के भागी बनते हैं। किसान, विद्यार्थी, ब्रह्मचारी, व्यापारी, वैद्य, नेता, तपस्वी आदि सभी बुद्धिमान आज की थोड़ी असुविधाओं का ध्यान न करके भविष्य के महान लाभों का ध्यान रखते हैं और थोड़ा-सा त्याग करके बहुत लाभ प्राप्त करने की नीति को अपनाते हैं। भविष्य का ध्यान रखने वाला मनुष्य ही वर्तमान समय और साधनों का ठीक उपयोग कर सकता है। लक्ष्य को स्थिर करके उस तक पहुँचने का निरन्तर प्रयत्न करना ही सफलता का मार्ग है।

उदारता एक महान गुण है

मनुष्य जीवन को सफल और उन्नत बनाने वाले अनेकों गुण होते हैं- जैसे सच्चाई, न्यायप्रियता, धैर्य, दृढ़ता, साहस, दया, क्षमा, परोपकार आदि। इनमें से कुछ गुण तो ऐसे होते हैं जिनसे वह व्यक्ति स्वयं ही लाभ उठाता है और कुछ ऐसे भी होते हैं जिनके द्वारा अन्य लोगों का उपकार भी होता है और अपनी भी आत्मोन्नति होती है। उदारता एक ऐसा ही महान गुण है।

मनुष्य के व्यक्तित्व को आकर्षक बनाने वाली यदि कोई वस्तु है, तो वह उदारता है। उदारता प्रेम का परिष्कृत रूप है। प्रेम में कभी-कभी स्वार्थ भावना छिपी रहती है। कामातुर मनुष्य अपनी प्रेयसी से प्रेम करता है, पर जब उसकी प्रेम-वासना की तृप्ति हो जाती है, तो वह उसे भुला देता है। जिस स्त्री से कामी पुरुष अपने यौवन-काल और आरोग्य अवस्था में प्रेम करता है, उसी को वृद्धावस्था में अथवा रुग्णावस्था में तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगता है। पिता का पुत्र के प्रति प्रेम, मित्र का मित्र के प्रति प्रेम तथा देश भक्त का अपने देशवासियों के प्रति प्रेम में स्वार्थ भाव भी रहता है। जब पिता का पुत्र से, भाई का भाई से, मित्र का मित्र से, देश भक्त का देशवासियों से किसी प्रकार का स्वार्थभाव नहीं होता, तो वे अपने प्रिय जनों से उदासीन हो जाते हैं, पर जिस प्रेम का आधार उदारता होती है, वह इस प्रकार नष्ट नहीं होता। उदार मनुष्य दूसरे से प्रेम अपने स्वार्थ-साधन हेतु नहीं करता, वरन् उनके कल्याण और

यदि कोई मनुष्य अपने आप गरीबी का अनुभव करता है, तो इसकी चिन्ता से मुक्त होने का उपाय धन संचय करना समझा जाता है। धन संचय के प्रयत्न से धन का संचय तो हो जाता है, पर मनुष्य धन की चिन्ता से मुक्त नहीं होता। वह धनवान होकर भी निर्धन बना रहता है। जब धन संचित हो ज़ाता है तो उसके मन में अनेक प्रकार के अकारण भय होने लगते हैं। उसे भय हो जाता है कि कहीं उसके सम्बन्धी मित्र, पड़ौसी आदि ही उसके धन को हड़प न लें और उसके बाल-बच्चे उसके मरने के बाद भूखों न मरें। वह अपने अनेक कल्पित शत्रु उत्पन्न कर लेता है, जिनसे रक्षा के वह अनेक प्रकार से उपाय सोचता रहता है। धन संचय में अधिक लगन हो जाने पर उसके स्वास्थ्य का विनाश हो जाता है। उसकी सन्तान की शिक्षा भली प्रकार से नहीं होती और वह निकम्मी और चरित्रहीन हो जाती है। इस प्रकार उसका धन संचय का प्रयास एक ओर तो उसकी मृत्यु को समीप बुला लेता है और दूसरी ओर धन के विनाश का कारण भी उपस्थित कर देता है। अतएव धन संचय का प्रयत्न अन्त में सफल न होकर विफल ही होता है।

गरीब व्यक्ति भी उदार हो सकते हैं

जो व्यक्ति गरीबी का अनुभव करता है, उसके लिए अपनी गरीबी की मानसिक स्थिति के विनाश का उपाय अपने से अधिक गरीब लोगों की दशा पर चिन्तन करना और उनके प्रति करुणा भाव का अभ्यास करना ही है। अपने से अधिक गरीब लोगों की धन के द्वारा सेवा करने से अपनी गरीबी का भाव नष्ट हो जाता है। फिर मनुष्य अपने अभाव को न कोसकर अपने आपको भाग्यवान मानने लगता है। उसकी भविष्य की व्यर्थ चिन्ताएँ नष्ट हो जाती हैं। उसमें आत्म-विश्वास बढ़ जाता है। इस आत्म-विश्वास के कारण उसकी मानसिक शक्ति भी बढ़ जाती है। मनुष्य के संकल्प की सफलता उसकी मानसिक शक्ति के ऊपर निर्भर करती है। अतएव जो व्यक्ति उदार विचार रखता है, उसके संकल्प सफल होते हैं। उसका मन प्रसन्न रहता है। वह सभी प्रकार की परिस्थितियों में शान्त रहता है। उसका स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है और वह जिस काम को हाथ में लेता है, उसको पूरा करने में समर्थ होता है। उसकी अकारण मृत्यु भी नहीं होती। दीर्घ जीवी होने के कारण उसकी सन्तान दूसरों की आश्रित नहीं बनतीं।

जिस व्यक्ति के विचार उदार होते हैं और जो सदा अपने आपको दूसरों की सेवा में लगाये रहता है, उसके अपने स्वभाव के कारण करता है। इससे उदारतायुक्त प्रेम सेवा का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार का प्रेम दैवी रूप में प्रकाशित होता है।

उदार मनुष्य दूसरे के दुःख से दुःखी होता है। उसे अपने सुख-दुःख की उतनी चिन्ता नहीं रहती, जितनी दूसरे के सुख-दुःख की रहती है। भगवान बुद्ध अपने दुःख की निवृत्ति के हेतु संसार को त्याग जंगल में नहीं गये थे, वरन् संसार के सभी प्राणियों को दुःखों से मुक्त करने के विचार से राज-प्रासाद त्याग कर वनवासी बने थे। ऐसे व्यक्ति ही नर-श्रेष्ठ कहे जाते हैं।

उदारता से मनुष्य की मानसिक शक्तियों का अद्‌भुत विकास होता है। जो व्यक्ति अपने कमाये धन का जितना अधिक दान करता है, वह अपने अन्दर और धन कमा सकने का उतना ही अधिक आत्म-विश्वास उत्पन्न कर लेता है। सच्चे उदार व्यक्ति को अपनी उदारता के लिए कभी अफसोस नहीं करना पड़ता। उदार व्यक्ति की आत्म-भर्त्सना नहीं होती। सेवा-भाव से किया गया कोई भी कार्य मानसिक दृढ़ता ले आता है। इसके कारण सभी प्रकार के वितर्क मन में उथल-पुथल पैदा न करके शान्त हो जाते हैं। अनुदार व्यक्ति अनेक प्रकार का आगा-पीछा सोचता है, उदार व्यक्ति इस प्रकार की बात नहीं सोचता। भलाई का परिणाम भला ही होता है, चाहे वह किसी व्यक्ति के प्रति क्यों न की जाय ? इससे एक ओर भले विचारों का संचार उदारता के पात्र के मन में होता है और दूसरी ओर अपने विचार भी भले बनते हैं।

प्रकृति का यह अटल नियम है कि कोई भी त्याग व्यर्थ नहीं जाता। जान बूझकर किया गया त्याग सूक्ष्म आध्यात्मिक शक्ति के रूप में अपने ही मन में संचित हो जाता है, वह शक्ति एक प्रामेसरी नोट के समान है, जिसे कभी भी भुनाया जा सकता है। सभी लोगों को भविष्य का सदा भय लगा रहता है, वे इस चिन्ता में डूबे रहते हैं कि जब वे कुछ काम न कर सकेंगे तो अपने बाल-बच्चों को क्या खिलायेंगे। अथवा अपनी आजीविका किस प्रकार चलायेंगे ? कितने ही लोगों को अपनी शान बनाये रखने की चिन्ताएँ सताती रहती हैं। पर उदार व्यक्ति को इस प्रकार की कोई भी चिन्ता नहीं सताती। जब वह गरीब भी रहता है, तब भी सुखी रहता है। उसे भावी कष्टों का भय रहता ही नहीं। संसार के अनुदार व्यक्ति जितने काल्पनिक दुःखों से दुःखी रहते हैं, उतने वास्तविक दुःखों से दुःखी नहीं होते। उदार पुरुष के मन में वे सब अशुभ विचार नहीं आते, जो सामान्य लोगों को सदा पीड़ित किया करते हैं।

आस-पास के लोगों के विचार भी उदार हो जाते हैं । स्वार्थी मनुष्य की सन्तान निकम्मी ही नहीं वरन् क्रूर भी होती है । ऐसी सन्तान माता-पिता को ही कष्ट देती है । इसके प्रतिकूल उदार मनुष्य की सन्तान सदा माता-पिता को प्रसन्न रखने के काम करती है। जब उदारता के विचार मनुष्य के स्वभाव बन जाते हैं अर्थात् वे उसके चेतन मन को ही नहीं वरन् अचेतन मन को भी प्रभावित कर देते हैं, तो वे अपना प्रभाव छोटे बच्चों और दूसरे सम्बन्धियों पर भी डालते हैं । इस प्रकार हम अपने आस-पास उदारता का वातावरण बना लेते हैं और इससे हमारे मन में हम अपने आस-पास उदारता का वातावरण बना लेते हैं और इससे हमारे मन में अद्‌भुत मानसिक शक्ति का विकास होता है।

विद्या के विषय में कहा जाता है कि वह जितनी ही अधिक दूसरों को दी जाती है, उतनी ही अधिक बढ़ती है। देने से किसी वस्तु का बढ़ना-यह विद्या के विषय में ही सत्य है। युधिष्ठिर महाराज ने राजसूय यज्ञ में विदाई और दान का भार दुर्योधन को दिया था और कृष्ण ने स्वयं लोगों के स्वागत का भार लिया था । कहा जाता है कि दुर्योधन को यह कार्य इसलिए सौंपा गया था जिससे कि वह मनमाना धन सभी को दे, पर जितना धन वह विदाई से दूसरों को देता था, उससे चौगुना धन तुरन्त युधिष्ठिर के खज़ाने में आ जाता था । श्रीकृष्ण सभी अतिथियों का स्वागत करते समय उनके चरण पखारते थे । इसके परिणामस्वरूप उन्होंने अपना सम्मान खोया नहीं वरन् और भी बढ़ा लिया । जब राजसभा हुई तो एक शिशुपाल को छोड़ सभी राजाओं ने श्रीकृष्ण को ही सर्वोच्च आसन के लिए प्रस्तावित किया । जो अपने मन को जितना दूसरों के हित में लगाता है, वह उसे उतना ही अधिक पाता है और जो अपने मान-अपमान की परवाह नहीं करता, वही संसार में सबसे अधिक सम्मानित होता है ।

स्वार्थ भाव मन में क्षोभ उत्पन्न करता और उदारता का भाव शील उत्पन्न करता है। यदि हम अपने जीवन की सफलता को आन्तरिक मानसिक अनुभूतियों से मापें तो हम उदार व्यक्ति के जीवन को ही सफल पायेंगे । मनुष्य की स्थायी सम्पत्ति धन, रूप अथवा यश नहीं है, ये सभी नश्वर हैं । उसकी स्थायी सम्पत्ति उसके विचार ही हैं । जिस व्यक्ति के मन में जितने अधिक शान्ति, सन्तोष और साम्यवाद लाने वाले विचार आते हैं वह उतना ही अधिक धनी है। उदार विचार मनुष्य की वह सम्पत्ति है, जो उसके लिए आपत्ति काल में सहायक होती है । अपने उदार विचारों के कारण उसके लिए आपत्तिकाल आपत्ति के रूप में आता ही नहीं, वह सभी परिस्थितियों को अपने अनुकूल देखने लगता है ।

उदार मनुष्य के मन में भले विचार अपने आप ही उत्पन्न होते हैं । इन भले विचारों के कारण सभी प्रकार की निराशायें नष्ट हो जाती हैं और उदार मनुष्य सदा उत्साहपूर्ण रहता है । उदार मनुष्य आशावादी होता है । निराशावाद और अनुदारता का जिस प्रकार सहयोग है, उसी प्रकार उदारता का सहयोग आशावाद और उत्साह से है। जब मनुष्य अपने आप में किसी प्रकार की निराशा की वृद्धि होता देखे तो उसे समझना चाहिए कि कहीं न कहीं उसके विचारों में उदारता की कमी हो गई है, अतएव इसके प्रतिकार स्वरूप उसे उदार विचारों का अभ्यास करना चाहिए । अपने समीप रहने वाले व्यक्तियों से ही इसका प्रारम्भ करे तो वह देखेगा कि थोड़े ही काल में उसके आस-पास दूसरे ही प्रकार का वातावरण उत्पन्न हो गया है। उसके मन में फिर आशावादी विचार आने लगेंगे । जैसे-जैसे उसकी उदारता का अभ्यास बढ़ेगा, उसका उत्साह भी उसी प्रकार बढ़ता जायगा । इससे यह प्रमाणित होता है कि मनुष्य उदारता से कुछ खोता नहीं, कुछ न कुछ प्राप्त ही करता है ।

कितने ही लोग कहा करते हैं कि दूसरे लोग हमारी उदारता से लाभ उठाते हैं । वास्तव में वह उदारता, उदारता ही नहीं जिसके पीछे पश्चात्ताप करना पड़े । स्वार्थवश दिखाई गई उदारता के पीछे इस प्रकार का पश्चात्ताप होता है। सच्चे हृदय से दिखाई गई उदारता कभी भी पश्चात्ताप का कारण नहीं होती, उसका परिणाम सदा भला ही होता है । यदि कोई व्यक्ति हमारे उदार स्वभाव से लाभ उठाकर हमें ठगता है तो इससे हमारी नहीं उस ठगने वाले की हानि है ।

दूसरों के दोष मत ढूँढ़िए

उदारता केवल रुपये पैसे द्वारा किसी की सहायता करने को ही नहीं कहते वरन् दूसरों के साथ ऐसा सद्व्यवहार करना, जिससे उनका आन्तरिक मन सन्तुष्ट और सुखी हो, एक बड़ी सराहनीय प्रवृत्ति है। संसार में दोषों की कमी नहीं है और अधिकांश मनुष्यों में गुणों की अपेक्षा दोषों की संख्या ही अधिक देखने में आती है । यदि आप उदार प्रकृति के हैं और ऐसे लोगों के दोषों पर पर्दा डालकर उनके गुणों को ही प्रोत्साहन देते हैं तो बहुत

सम्भव है कि इससे उनका मानसिक सुधार हो जाय और उसके लिए वे सदैव कृतज्ञ रहें ।

दूसरों के दोष देखने की आदत बुरी है । दोष देखने की आदत पड़ जाने से सामने वाले व्यक्ति के दोष ही दोष दीखते हैं, उसमें अच्छे गुण भी हों पर वे तिलका ताड़ बनाने की इस बुरी आदत के कारण वैसे नहीं दीखते जैसे कि तिनके की आड़ में पहाड़ छुप जाता है । दूसरों के दोष देखना, छिद्रान्वेषण करना महान मानस रोग है। इससे मुक्त होना चाहिए ।

भगवती पार्वती के दो पुत्र थे । एक के छः मुख और बारह आँखें थीं और दूसरे के हाथी जैसी लम्बी नाक थी। पहला दूसरे की नाक हाथ से नापने लगता और दूसरा पहिले की आँखें गिनने लगता। एक, दो, तीन, चार, दस, ग्यारह, बारह बस फिर लड़ाई ठन जाती और वे आपस में खूब लड़ने लगते । माता पार्वती इनकी लड़ाई से परेशान हो गई । बरजती, पर वे न मानते । एक दिन उन्हें पकड़ कर शंकर जी के पास ले गई और बोलीं कि महाराज ! ये लड़के दिन भर लड़ते रहते हैं । इन्हें किसी तरह समझा दीजिए । ज्ञान-निधान शंकर जी उनके लड़ने का कारण समझ गये और उन्होंने उन्हें बड़े प्रेम से पास बैठाकर दूसरों के ऐब देखने की बुराई समझा दी । लड़कों ने लड़ना बन्द कर दिया । इसलिए किसी ने कहा है-

अगर है मन्जूर तुझको बेहतरी,
न देख ऐब दूसरों का तू कभी ।
कि बद (दोष) बीनी आदत है शैतान की,
इसी में बुराई की जड़ है छिपी ॥

महात्मा सूरदास का बहुत सुन्दर भजन है- हमारे अवगुण चित न धरौ............ । इत्यादि । भगवान से की गई यह प्रार्थना हृदय को चुम्बक जैसे पकड़ लेती है । भगवान हमारे अपराधों को क्षमा करें, हमारे दोषों को न देखें, यह भाव हृदय में आते ही विचार आता है कि अपने अपराधों को क्षमा कराने वालों को दूसरों के अपराधों को स्वयं भी तो क्षमा करना चाहिए । हम जब स्वयं क्षमाशील होंगे तभी हमारे अपराध भी क्षमा हो सकेंगे । दूसरों के दोष देखना भगवान के प्रति कृतघ्न होना है । हम शिकायत करते रहते हैं कि हमारा अमुक सम्बन्धी ऐसा है, वैसा है। हम अपने उस सम्बन्धी के उन विशेष गुणों का ख्याल ही नहीं करते जो अन्य लोगों में नहीं हैं, हम बहुधा यह भूल जाते हैं कि हमें जो सम्बन्धी मिला है वह दूसरों के सम्बन्धियों की अपेक्षा अनेक बातों में बहुत अच्छा है और व्यर्थ में ही हम अपने उस सम्बन्धी के कारण अपने भाग्य को कोसते हैं । इसके अतिरिक्त हम इसलिए भी कृतघ्न हैं कि हम अपने सम्बन्धी की की हुई सेवाओं की सराहना नहीं करते । कृतज्ञता का सबक हमें भगवान राम से सीखना चाहिए । महर्षि वाल्मीकि राम के लिए कहते हैं-

न स्मरत्युपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया ।
कथंचिदुपकारेण कृतेनैकेनतुष्यति ॥

वे कौशल्यानन्दन ऐसे हैं कि किसी के द्वारा अपने प्रति किए गए सैकड़ों अपराधों का भी स्मरण नहीं करते किन्तु यदि कोई किसी भी प्रकार उनका कैसा भी उपकार कर दे तो उससे ही उन्हें सन्तोष हो जाता है । महाकवि राम के इसी गुण के कारण उन्हें बार-बार 'अनुसूय' कहकर स्मरण किया है । 'अनुसूय' अर्थात् असूया-दोष रहित । किसी के गुणों में दोष देखना अथवा किसी के गुणों से जलना ही असूया है। भगवान राम न तो किसी के गुणों में दोष देखते थे और न किसी के गुणों से जलते थे । राम-भक्त को ऐसा ही होना चाहिए । पर दोष-दर्शन के दोष से मुक्ति पाने के लिए हमें पर-गुण-चिन्तन की आदत डालनी चाहिए औरर प्रतिपक्षी के गुणों का विचार करना चाहिए ।

संकीर्णता मनोमालिन्य की उत्पादक है

संकीर्णता मानव स्वभाव का बड़ा दोष है । मनुष्य एक सामाजिक जीव है और उसका जीवन तभी सफल माना जा सकता है जब वह दूसरे लोगों को अपना सहयोग और सहायता प्रदान करे, पर जो लोग स्वभाव की संकीर्णता के कारण यह विचार करते हैं कि हम उन्हीं लोगों की सहायता करें जिनसे हमको सहायता मिलती चुकी है या भविष्य में मिलने की आशा है, तो उनसे भलाई की बहुत ही कम सम्भावना रखनी चाहिए । ऐसी सौदा करने की मनोवृत्ति कभी प्रशंसनीय नहीं कही जा सकती और उससे किसी का विशेष लाभ नहीं हो सकता ।

संकीर्ण स्वभाव वाले व्यक्ति प्रायः किसी की प्रशंसा करना या किया जाना भी सहन नहीं करते । वे सदैव अपने लाभ पर दृष्टि रखते है और दूसरों को जहाँ तक हो सके सहायता न देना उनका स्वभाव होता है । इतना ही नहीं वे प्रायः दूसरों के दोष भी तलाश किया करते हैं और उनकी आवश्यकता से अधिक कटु आलोचना करते हैं, जिससे वह व्यक्ति दूसरों की निगाहों से गिर जाय ।

दूसरों के दोष देखना कठिन बात नहीं है । सहज ही, छोटी-मोटी भूलों को पकड़ कर किसी की भी आलोचना

की जा सकती है । तिल का ताड़ बनाया जा सकता है । शब्दों की भी आवश्यकता नहीं । केवल भू-भ्रंगियों द्वारा नाक सिकोड़ कर अथवा मुँह बिचकाकर आप किसी भी व्यक्ति की आलोचना कर सकते हैं तथा उसकी भूलों को प्रकाश में ला सकते हैं, किन्तु आलोचना करने या गलती पकड़ने से क्या वह व्यक्ति आपसे सहमत हो सकता है? 'तुम बहुत फूहड़ हो, कितनी गन्दी पड़ी है आलमारी और फाइलों का यह हाल है? वास्तव में तुम क्लर्की के योग्य नहीं हो ।' यह है कुछ नपे-तुले शब्द जो एक अधिकारी अपने क्लर्क अथवा सेक्रेटरी से कहता है । यह वाक्य किसी भाँति एक छुरी से कम नहीं है । सीधे-सीधे श्रोता के आत्माभिमान पर चोट करता है। उसके अहं भाव निर्णय-बुद्धि तथा चतुरता पर प्रहार करता है। क्या इससे वह अपना मस्तिष्क बदल देगा ? कदापि नहीं प्लेटो और कान्ट के महान तर्कशास्त्र का आश्रय लेकर भी उससे बहस की जाय, तो भी व्यर्थ होगा क्योंकि आलोचना के इस वाक्य ने उसकी भावनाओं को ठेस पहुँचाई है ।

दूसरों के दोष देखना और आलोचना करना एक दो धार वाली तलवार है, जो आलोचक एवं आलोच्य दोनों पर चोट करती है । शत्रुओं की संख्या में वृद्धि करने का इससे सरल मार्ग और कौन-सा हो सकता है? एक विद्वान का अनुभव है कि "मैं जब तक अपनी पत्नी के दोष ही देखता रहा, तब तक मेरा गृहस्थ जीवन कदापि शान्तिमय नहीं रहा ।" इस प्रकार की प्रवृत्ति उत्पन्न होने पर सामने वाले व्यक्ति के दोष ही नजर पड़ते हैं, गुण नहीं । गुण यदि उसमें हों भी तो इस भाँति छिप जाते हैं जैसे तिनके की ओट पहाड़ छिप जाता है। पाश्चात्य सुप्रसिद्ध विचारक बेकन के अनुसार-पर छिद्रान्वेषण करना महामानव रोग है। इससे मुक्त हो जाना चाहिए । मैथ्यू आर्नल्ड ने कहा था कि 'दूसरों के दोष देखना-भगवान के प्रति कृतघ्न होना है ।'

दीपक लेकर ढूँढ़ने पर भी सम्भवतः कोई भी व्यक्ति ऐसा प्राप्त नहीं हो सकता जो सर्वांगपूर्ण हो, जिसमें कोई कमी न हो । ऐसा व्यक्ति अभी तक उत्पन्न ही नहीं हुआ वह तो भविष्य में कभी होना है । तब तक किसी को गलत बताना, काट-छाँट करना कहाँ तक उचित है ? डाक्टर जौन्सन कहा करते थे "श्रीमान ! स्वयं परमात्मा भी, आदमी के अन्तिम दिन के पूर्व उसके सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं देता । फिर हम और आप ही किसी को गलत कैसे कह दें ?" हमारे हृदय में भी वही भाव होने चाहिए कि अपने परिचितों, प्रियजनों, मित्रों तथा अन्य लोगों की नग्नता और बुराइयों को व्यर्थ में ही न देखते फिरें । गोस्वामी तुलसीदास के शब्दों में स्वभाव कपास के समान निर्मल होना चाहिए-

साधु चरित शुभ सरिस कपासू ।
सरस विसद गुनमय फल जासू ॥
जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा ।
बन्दनीय जेहि जग जसु पावा ॥

स्वयं कष्ट सहन कर ले किन्तु दूसरों के दोष छिपावे यह सज्जनों का गुण माना गया है । मुस्लिम धर्म ग्रन्थ की एक कथा है कि हजरत नूह एक दिन शराब पीकर उन्मत्त हो गये । उनके वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गये और अन्ततः वे नंगे हो गये । उनके पुत्र शाम और जैपेथ उल्टे पैरों उन तक गये और उन्हें एक कपड़े से ढँक दिया । उन्होंने अपने प्रिय पिता का नंगापन नहीं देखा । हमारे हृदय में भी यही भाव होना चाहिए कि अपने प्रियजनों की नग्नता अर्थात् उनकी बुराईयाँ व्यर्थ में ही न देखते फिरा करें ।

कष्ट सह कर भी दूसरों के दोष छिपाने और उनकी आलोचना न करने का महत्व बहुत पहले ही जान लिया गया था । ईसा मसीह से भी २२०० वर्ष पूर्व मिश्र के प्राचीन राजा अख्तुई ने कहा था- 'दूसरों की भूल मत पकड़ और यदि नजर पड़ ही जाय तो कह मत ।' क्राइस्ट ने भी यही कहा था कि 'यदि तू चाहता है कि तेरे दोषों पर विचार न किया जाय, तो तू भी दूसरों के दोषों पर विचार न कर।'

अधिकतर व्यक्ति शिकायत करते हैं कि अमुक मित्र ऐसा है, अमुक सम्बन्धी ऐसा है, उनकी यह कमी है आदि-आदि । पर उस व्यक्ति के उन गुणों पर विचार ही नहीं करते जो कि अन्य व्यक्तियों में उपलब्ध नहीं है और जिनके कारण वह उन अनेक उलझनों से बचा हुआ है, जिनमें अन्य व्यक्ति परेशान हैं-

पर दोष-दर्शन के पाप से मुक्ति पाने के लिए, गुण-चिन्तन का अभ्यास डालना चाहिए । प्रतिपक्षी के गुणों का विचार करना चाहिए । चीनी कवि यू-उन-चान की कविता की कुछ पंक्तियों का अनुवाद हमारे इस कथन का समर्थक हैं-

'हे प्रभु ! मुझे शत्रु नहीं-मित्र चाहिए
तदर्थ मुझे कुछ ऐसी शक्ति दे ।
कि मैं किसी की आलोचना न करूँ-गुण गान करूँ ।'

बैंजामिन फ्रेंकलिन अपनी युवावस्था में बहुत नटखट थे । दूसरों की आलोचना करना, खिल्ली उड़ाना उनकी

आदत बन चुकी थी। क्या पादरी, क्या राजनीतिज्ञ सभी उनके माने हुए शत्रु बन चुके थे। बाद में इस व्यक्ति ने अपनी भूल सँभाली और अन्त में जब वह उन्नति करते-करते अमेरिकन राजदूत होकर फ्रांस में भेजे गये तो उनसे पूछा- आपने अपने शत्रुओं की संख्या कम करके मित्र कहाँ से बना लिए ? उन्होंने उत्तर दिया- 'अब मैं किसी की आलोचना नहीं करता और न किसी के दोष उभार कर रखता हूँ।' हाँ अलबत्ता-किसी का गुण मेरी दृष्टि में आ जाता है तो उसे अवश्य प्रकट कर देता हूँ। यही मेरी सफलता का रहस्य है।''

विचारों में भी उदारता रखिए

उदारता का सम्बन्ध केवल भौतिक पदार्थों तक ही सीमित नहीं है वरन् विचारों की उदारता का उससे कहीं अधिक है। संकीर्ण विचारों का मनुष्य यदि उदारता का व्यवहार करेगा भी तो उसके द्वारा बहुत थोड़े व्यक्ति लाभ उठा सकते हैं। ऐसा व्यक्ति परिवार, जाति, धर्म, देश आदि अनेकों सीमाओं से घिरा रहता है, जिनके कारण उसकी उदारता का स्रोत थोड़ी दूर जाकर सूख जाता है।

अनेक व्यक्तियों की उदारता तो अपने परिवार के लोगों या रिश्तेदारों तक ही सीमित रहती है। वे अपने पास और दूर के असहाय सम्बन्धियों, उनके बाल-बच्चों की सहायता करना अपने लिए आवश्यक समझते हैं। इसका एक कारण यह भी होता है कि अगर उनके समर्थशाली होते हुए उनके सम्बन्धी बहुत बुरी हालत में फिरते नजर आवें, जगह-जगह सहायता को हाथ फैलाते रहें अथवा किसी प्रकार के खोटे काम करके जीवन निर्वाह करें तो इसमें उनका भी अपयश होता है। अन्य लोग चाहे जब उनको ताना दे बैठते हैं कि 'तुम्हारे रिश्तेदार तो गली-गली मारे-मारे फिरते हैं और तुम यहाँ लाटसाहबी दिखाते हो।' पीठ पीछ तो ऐसे व्यक्तियों की आमतौर पर निन्दा होती ही है। इसलिए ऐसे लोगों की उदारता बहुत कुछ अपने स्वार्थ के कारण ही होती है और उसका समाज पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

कुछ लोग अपनी जाति वालों की सहायता करना ही श्रेष्ठ कर्म समझते हैं। कुछ समय पहले यह मनोवृत्ति विशेष रूप से उत्पन्न हुई थी और इसके फलस्वरूप अग्रवाल, खण्डेलवाल, बाहरसेनी, कान्यकुब्ज, सरयूपारीण, गौड़, सनाढ्य, खत्री, क्षत्री, राजपूत, कायस्थ, कुरमी, तेली, जायसवाल, भुर्जी, वैश्य, कुशवाहा, जाटव आदि सैकड़ों जातियों की तरफ से पृथक-पृथक शिक्षा-संस्थाओं, मन्दिरों, पुस्तकालयों, धर्मशालाओं आदि की स्थापना की गई थी। यह प्रवृत्ति साधारण दृष्टि से बुरी नहीं कही जा सकती, क्योंकि एक-एक समुदाय की उन्नति होने से उसका प्रभाव समस्त समाज पर पड़ता ही है। पर जो लोग उदारता की सीमा अपनी जाति तक ही मान लेते हैं उनका दृष्टिकोण प्रायः सीमित ही बना रहता है और राष्ट्रीय विकास के कार्यों में वे कभी समुचित भाग नहीं ले पाते। अनेक व्यक्ति तो ऐसे कार्य केवल किसी अन्य जाति की प्रतियोगिता के भाव से ही करते हैं और जब वैसी कोई परिस्थिति नहीं होती तो उनकी उद्योगशीलता का भी अन्त हो जाता है।

धार्मिक अनुदारता के दुष्परिणाम

यद्यपि धर्म का मुख्य गुण मनुष्य में उदारता और परोपकार की भावना को उत्पन्न करना ही माना गया है और हमारे धर्म में 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का सिद्धान्त समस्त शुभ कर्मों का सार तत्व बतलाया गया है, तो भी संसार की गति इस दृष्टि से उल्टी ही प्रतीत होती है। पिछले कई हजार वर्षों के इतिहास में धर्म के नाम पर जितने लड़ाई-झगड़े और रक्त रंजित युद्ध हुए, करोड़ों मनुष्यों पर अमानुषिक अत्याचार किये गये हैं, उसकी कल्पना करने से भी हृदय काँप जाता है। भारतवर्ष में वैदिक और बौद्ध धर्म वालों, पौराणिक लोगों और जैन धर्म वालों, शैवों और वैष्णवों के लड़ाई-झगड़े सैकड़ों वर्ष तक चलते रहे हैं। उनमें लाखों ही व्यक्ति मारे गये और इससे कहीं अधिक संख्या में मनुष्यों को दुर्दशाग्रस्त होकर मारा-मारा फिरना पड़ा। अब से साठ-सत्तर वर्ष पहले भी सनातन धर्मियों और आर्य समाजियों में काफी कलह और मारपीट के दृश्य देखे गये थे। जब एक ही धर्म और देश के व्यक्तियों में थोड़े से सिद्धान्तों के अन्तर के कारण इस प्रकार के पाशविकता के भाव उत्पन्न हो सकते हैं तब विदेशी और सर्वथा भिन्न मजहब वालों के सम्बन्ध में जो कुछ न हो जाय सो थोड़ा है। मुसलमान और हिन्दुओं की प्राचीनकाल से आक्रमणकारी युद्धों की बात तो छोड़ दीजिए, अभी पिछले कुछ वर्षों में हिन्दू-मुसलमानमों में जैसे भयंकर उपद्रव और पारस्परिक निन्दा, घृणा और द्वेष की घटनायें हो चुकी हैं, वे 'धर्म' के नाम पर किये जाने वाले पाप कर्मों के ज्वलंत उदाहरण हैं। उनसे स्पष्ट प्रकट होता है कि धार्मिक उदारता के अभाव से भले और श्रेष्ठ समझे जाने

वाले मनुष्य भी अपनी मनुष्यता को खोकर किस प्रकार हिंसक वन्य जन्तुओं के सदृश्य कार्य करने लगते हैं ।

हम स्वीकार करते हैं कि भारतवर्ष धर्म प्रधान देश है किन्तु हमारा यह कथन कि भारतवर्ष में दूसरे देशों की अपेक्षा सदा ही धर्म पर अधिक जोर दिया गया है, विदेशियों को एक दम्भपूर्ण उक्ति सी प्रतीत हो सकती है। हम मानते हैं कि दूसरे देशों में किसी कारण से धर्म पर उतना जोर आज नहीं दिया जाता जितना कि भारतवर्ष में दिया जा रहा है किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि अन्य देशों की प्रजा भारतवर्ष से कम धार्मिक है । सच तो यह है कि आज भी ईसाई देश में जो 'मिशनरी स्पिरिट' पाई जाती है वह अन्य देशों या धर्मावलम्बियों में नहीं पाई जाती । इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं कि यूरोप में एक ऐसा युग था जब कि सहस्त्रों लोगों ने अग्नि में जीते जी जलाया जाना प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया किन्तु कैथलिक से प्रोटेस्टेंट या प्रोटेस्टेंट से कैथलिक होना स्वीकार नहीं किया । यद्यपि इन प्राण त्यागी महापुरुषों के सामने स्वधर्म को छोड़कर परधर्म स्वीकार करने का सवाल था किन्तु इनके स्वधर्म और परधर्म में वैसा महदन्तर नहीं था जैसा कि उन धर्मों के बीच में पाया जाता है जिनका कि जन्म भिन्न-भिन्न परिस्थितियों, देशकाल या कारणों से होता है । इनमें वैसा ही अन्तर है जैसा कि शैवों और वैष्णवों में, या शिया और सुन्नियों में है । इतिहास से प्रकट है कि रोमन कैथलिक या प्रोटेस्टेंटों ने, एक ही धर्म के अनुयायी होते हुए भी अपने-अपने मत के लिए उत्सापूर्वक प्राण त्याग कर जो धर्म-परायणता प्रकट की वह अन्य देशों में सामूहिक रूप में शायद ही कभी देखने में आई हो । अतएव यह कहना कि भारतवासी अन्य देशवासियों से अधिक धर्म प्राण हैं एक गर्वोक्ति सी प्रतीत होती है । ऐसी गर्वोक्तियाँ ही साम्प्रदायिक वैमनस्य और अन्तर्राष्ट्रीय मनोमालिन्य पैदा करती हैं ।

प्रत्येक देश या धर्म का व्यक्ति अपने देश या धर्म कीमुक्त कण्ठ से प्रशंसा करने के लिए स्वतंत्र हैं, पर जिस वक्त वह अपने देश-प्रेम या धर्म-प्रेम से उन्मत्त होकर अपने देश या धर्म को दूसरे देश या धर्म से अपेक्षाकृत श्रेष्ठ कहने में गर्व का अनुभव करने लगता है, वहीं वह दूसरों को मानो चुनौती देता है और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्दिताओं, युद्ध या साम्प्रदायिक संघर्ष का बीज बोता है । अपने देश, धर्म, जाति या कुल को दूसरों से मिलान कर अपेक्षाकृत श्रेष्ठ बताने की मदोन्मत्त भावना में ही अनेकों बुराइयों की जड़ छुपी हुई है । हमें अपने देश, धर्म, गुरु और माता-पिता को श्रेष्ठ समझ कर उनमें अपूर्व श्रद्धा रखनी चाहिए किन्तु हमारा यह दावा करना कि हमारे माता-पिता ही दुनियाँ के सब लोगों से श्रेष्ठ हैं और हमारा हिन्दू धर्म सभी धर्मों से अच्छा है क्या हमारा अन्य लोगों के साथ संघर्ष नहीं करावेगा ? हमारी तो ऐसी कुछ आदत पड़ी है कि जब तक हम किसी चीज को सबसे अच्छी न कह सकें अथवा जब तक हम अपनी ही वस्तु को सबसे अच्छी न कह लें तब तक हमारा जी नहीं भरता और न उस वस्तु के प्रति हमारे हृदय में पूर्ण श्रद्धा ही उत्पन्न होती है । शायद इसी कारण उस धर्म के प्रति जिसे कि हम सबसे अच्छा नहीं समझते अथवा जिसे एक दम अपने धर्म से अपेक्षाकृत हीन समझते हैं समुचित श्रद्धा नहीं रखना चाहते और न उसके प्रति दूसरों की पूर्ण श्रद्धा को ही सहन कर सकते हैं । शायद इसी कारण हम दूसरों को यवन या मलेच्छ कहते हैं ।

हमारा आशय यह नहीं है कि हमारे भाई अपने धर्म में हार्दिक श्रद्धा न रखें या पूर्ण उत्साह के साथ उसका गुणगान न करें या उसका प्रचार करने में किसी प्रकार की शिथिलता दिखलावें । पर ये सब काम हम दूसरे धर्म वालों को हीन समझे और उनकी निन्दा किए बिना भी कर सकते हैं । इतना ही नहीं हमारा तो विश्वास है कि जो व्यक्ति धर्म वास्तविक मर्म को समझता होगा कि वह संसार के किसी भी छोटे या बड़े धर्म अथवा मजहब की बुराई न करेगा। इस सम्बन्ध में एक अन्य देशीय धर्म-ग्रन्थ में एक बड़ा अच्छा दृष्टांत दिया गया है-

अरब जाति के प्रसिद्ध धर्म गुरु हजरत इब्राहीम का यह नियम था कि बिना किसी अतिथि को भोजन कराये स्वयं भोजन न करते थे । एक दिन वर्षा ऋतु में वर्षा की झड़ी की अधिकता से एक भी अतिथि उनके घर नहीं आया और वे सारे दिन भूखे रहे । अंत में संध्या के समय अतिथि को खोजकर लाने के लिए अपने नौकरों को जगह-जगह भेजा और स्वयं भी इधर-उधर घूमने लगे । उन्होंने देखा कि सामने एक अत्यन्त वृद्ध पुरुष जिसकी दाढ़ी-मूँछ के बाल बिल्कुल सफेद थे दृष्टि के कारण काँपता हुआ खड़ा है । वे उसके पास जाकर कहने लगे- 'महाशय ! आप कृपा करके आज मेरे घर आतिथ्य ग्रहण करें ।' वृद्ध प्रसन्नता-पूर्वक उनका निमंत्रण स्वीकार कर उनके घर गया। नौकरों ने बड़े आदर से उसे बैठने को आसन दिया । जब वह हाथ-पाँव धोकर आसन पर बैठा तब वे उसके आगे भोजन

सामग्री परोसने लगे। हजरत इब्राहीम भी उसके सामने आ खड़े हुए। जब तक सामग्री परोसी जा चुकी तो वह वृद्ध भोजन करने लगा। उसे ईश्वर को बिना धन्यवाद दिये, बिना ईश्वर का नाम स्मरण किये भोजन करते देखकर इब्राहीम को बहुत बुरा लगा और वे कहने लगे- 'तुम्हारा यह कैसा आचरण है। जिनकी कृपा से तुमको यह मधुर अन्न खाने को मिल रहा है उन्हें बिना धन्यवाद दिये ही तुम खाने लगे। तुम में वृद्ध की-सी समझ नहीं दीख पड़ती।'

इसके उत्तर में वृद्ध ने कहा- 'मैं प्राचीन मूर्ति पूजक सम्प्रदाय का हूँ।'

उसका ऐसा उत्तर सुन कर इब्राहीम का क्रोध भड़क उठा और उन्होंने वृद्ध को घर से निकाल दिया। तब इब्राहीम के हृदय में देववाणी हुई कि 'हे इब्राहीम ! मैंने जिसको यत्न पूर्वक अन्न देकर इतनी बड़ी उम्र तक बचा रखा, उसे तुम घड़ी भर भी अपने यहाँ न ठहरा सके और तुमने उसके साथ इतनी घृणा की। वह मूर्तिपूजक था या नास्तिक था, पर तुमने अपने दान के नियम को क्यों भंग किया ?'

इस दृष्टांत से मालूम होता है कि धार्मिक अनुदारता कितनी हानिकारक बात है, जो एक महापुरुष कहे जाने वाले को भी मति-भ्रम में डाल देती है। अगर हम अपने संप्रदाय अथवा मजहब के अनुयायी के साथ ही मनुष्योचित व्यवहार कर सकते हैं और उससे बाहर के सब लोगों को नीच या पापी मान कर घृणा की दृष्टि से देखते हैं, उनके साथ उदारता का व्यवहार करना आवश्यक नहीं समझते, तो वास्तव में अभी हम धार्मिकता या आध्यात्मिकता से बहुत दूर हैं। हम यह नहीं कहते कि आप ईसाई, यहूदी, मुसलमानी, पारसी, बौद्ध आदि अन्य धर्म को सत्य मानिए या अपने धर्म के बराबर का भी समझिये। हिन्दू धर्म को आध्यात्मिक की दृष्टि से बहुत से लोगों ने अन्य धर्मों से बढ़ा-चढ़ा स्वीकार किया है। पर यदि हम इस आधार पर दूसरे लोगों को अधर्मी या पापी कहते हैं तो हम भी एक बहुत बड़ी गलती कर रहे हैं। भिन्न-भिन्न धर्म अलग-अलग देशों के निवासियों की स्थिति और आवश्यकता के अनुसार रचे गये हैं। सब लोग एक दम धर्म के सबसे बड़े दर्जे के नियमों का पालन नहीं कर सकते। जिन लोगों के आध्यात्मिक संस्कार अभी अधिक परिष्कृत नहीं हुए हैं उनको उनकी योग्यतानुसार ही धार्मिक नियमों का पालन करना बताया जाता है, पर इस कारण उनको अपने से प्रथक समझना और उदारता के व्यवहार के अयोग्य मानना कभी उचित नहीं कहा जा सकता।

व्यवहार में उदारता

उदारता का सबसे अधिक काम व्यवहार में पड़ता है। हमको प्रतिदिन जान, अनजान, मित्र, शत्रु, उदासीन, अमीर, गरीब, समान स्थिति वाले, अफसर, नौकर आदि के साथ व्यवहार करने की आवश्यकता पड़ती है। आजकल के बहुसंख्यक चतुर या दुनियादार लोगों का तो यह तरीका होता है कि जो अपने से बड़ा या शक्तिशाली है उसके साथ बड़ी शिष्टता, सभ्यता और उदारता का भाव प्रकट करेंगे और छोटे, निर्बल, अशिक्षित व्यक्तियों के साथ कठोरता, रौब-दाव और संकीर्णता का व्यवहार करेंगे। यह बहुत स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण है। इसमें उच्चता का कोई चिन्ह नहीं। जो आपसे शक्तिशाली या ऊँचे दर्जे के हैं उनके प्रति उदारता का कार्य एक प्रकार का प्रदर्शन मात्र ही है। इसका एक मात्र उद्देश्य यही हो सकता है कि वे आप पर प्रसन्न बने रहें और आवश्यकता पड़ने पर किसी प्रकार की सुविधा प्रदान कर सकें। उदारता की वास्तविक पहचान तो छोटे, आश्रित और असमर्थ लोगों के सहृदयता का, शिष्टता का व्यवहार करते हैं तो आप निस्सन्देह उदार माने जायेंगे। महान पुरुष वे ही होते हैं जो आवश्यकता पड़ने पर छोटे-छोटे व्यक्ति के साथ सदयता का व्यवहार करने में संकोच नहीं करते।

स्वर्गीय महादेव गोविन्द रानाडे अपने समय के एक प्रसिद्ध महापुरुष थे, आपने बम्बई प्रान्त में समाज सुधार के लिए बड़ा काम किया था और अनेक दुर्दशाग्रस्त व्यक्तियों को सहायता देकर उद्धार किया था। वे हाईकोर्ट के जज थे और समाज में एक बड़े नेता की दृष्टि से देखे जाते थे। एक दिन तेज गर्मी के दिनों में वे सायंकाल के समय गाड़ी में बैठकर हवाखोरी को जा रहे थे। रास्ते के किनारे उन्होंने एक बहुत गरीब बुढ़िया को बैठे देखा, जो एक लकड़ी का बोझा उठा कर सर पर रखना चाहती थी, पर उतनी शक्ति न होने के कारण निरुपाय खड़ी थी। उसने कितने ही रास्ता चलने वालों से प्रार्थना की कि वे उस बोझ को उठाने में हाथ लगा दें, पर कोई उसकी दीन दशा पर ध्यान न दे रहा था। उस पर दृष्टि पड़ते ही रानाडे उसकी परिस्थिति को समझ गये। उन्होंने गाड़ी रुकवाई और उतर कर बुढ़िया के पास पहुँचे बुढ़िया किसी बड़े सरकारी अफसर जैसे व्यक्ति को अपने सामने खड़ा देखकर डर गई, रानाडे ने सान्त्वना देकर उसके लकड़ी के गट्ठे को स्वयं अपने हाथों से उठाकर उसके सर पर रख दिया। बुढ़िया आशीष देती हुई अपने घर चली गयी।

एक ऐसी ही घटना बंगाल के बहुत बड़े जमींदार कासिम बाजार के महाराज मणीन्द्रचन्द्र नन्दी के विषय में कही जाती है। एक दिन कलकत्ता जाने वाली गाड़ी जब गुस्करा स्टेशन पर ठहरी तो उसमें से अनेक यात्री उतरे। एक वृद्धा भी वहाँ उतर पड़ी। उसके पास एक गट्ठा था जो वजन में भारी था। उसने उसे बाहर लाने की बहुत कोशिश की पर न ला सकी। इधर गाड़ी चलने का समय हो गया और झुण्ड के झुण्ड यात्री गाड़ी में चढ़ने लगे। यह देखकर बुढ़िया बड़ी घबड़ाई और अनेक यात्रियों से अपना गट्ठर बाहर निकाल देने की विनती करने लगी। पर उस भीड़-भाड़ और जल्दबाजी में किसी ने उसकी ओर ध्यान न दिया। सब अपने-अपने काम में व्यस्त थे और बार-बार कहने पर भी कोई बुढ़िया की बात नहीं सुन रहा था। हताश होकर बुढ़िया रोने लगी, पर वहाँ एक भी व्यक्ति ऐसा न निकला जो उस पर दया दिखाता। संयोगवश उसके रोने-कलपने की आवाज दूर से महाराज मणीन्द्र चन्द्र ने सुनी, जो उसी ट्रेन से फर्स्ट क्लास में बैठे कलकत्ता जा रहे थे। वे अपनी गाड़ी से उतर कर दौड़ कर तीसरे दर्जे की गाड़ी में आये जहाँ वह बुढ़िया थी और जल्दी से उसका गट्ठा उतार कर उसके सिर पर रख दिया। उस समय गाड़ी छूटने ही वाली थी, गाड़ी छूटने की घण्टी पहले ही बज चुकी थी, बुढ़िया के कृतज्ञता प्रकट करने के पहिले ही वे दौड़कर फिर अपने फर्स्ट क्लास के डिब्बे में जा बैठे। बुढ़िया आँखों से कृतज्ञता के आँसू बहाती और महाराज को अनेक आशीर्वाद देती हुई चली गई।

यद्यपि ये बहुत छोटी घटनायें हैं, पर इनसे हमको उदारता के व्यवहार की शिक्षा मिलती है। किसी आपत्ति ग्रस्त दीन व्यक्ति की सहायता कर देने से बड़े आदमी की कोई हानि नहीं होती, पर इससे समाज के व्यक्तियों को परस्पर में सद्व्यवहार और उदारता का बर्ताव करने की प्रेरणा मिलती है। ऐसी भावना का प्रसार होने से मनुष्यों की आध्यात्मिक और मानसिक शक्तियाँ उन्नत होती हैं और वे परस्पर में मनुष्यता का व्यवहार करके प्रगति के मार्ग पर अग्रसर होते हैं।

आश्रितों के प्रति उदारता

जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं कि अपने से बड़े और समान स्थिति वालों के साथ तो लोग प्राय: सज्जनता का, उदारता का व्यवहार करना आवश्यक समझते हैं पर छोटे लोगों के साथ, अपने नौकरों और सेवकों के साथ वे सज्जनता का व्यवहार करना ठीक नहीं समझते। अनेक लोगों का भी यह ख्याल होता है कि नौकरों के साथ ऐसा नरमी का या सौजन्य पूर्ण व्यवकार करने से वे स्वेच्छाचारी और निरंकुश हो जाते हैं। जिन व्यक्तियों को हमने रुपया देकर अपने आराम के लिए नौकर रखा है, उनके साथ सौजन्य की क्या आवश्यकता ? अगर वे अपना काम ठीक ढंग से और मेहनत से न करेंगे अथवा आज्ञापालन में ढील-ढाल दिखलायेंगे तो अवश्य उनको दण्ड दिया जायगा। हमने बहुत से लोगों को देखा है कि नौकरों से जब कभी बात करेंगे तो त्यौरी चढ़ाकर और कड़े शब्दों में ही बोलेंगे। वे लोग नौकरों से मीठी बोली में बोलना अपनी शान के खिलाफ समझते हैं। कितने ही अहंकारी, रईस, अमीर, नामधारी भले नौकरों को भी डाँटते-डपटते ही रहते हैं और अनेक तो नौकरों को पीट देना भी अपना अधिकार समझते हैं, पर क्या इस प्रकार के व्यवहार से वास्तव में कोई लाभ होता है ? इसका परिणाम सदैव बुरा ही असन्तुष्ट रहते हैं, उसके विरुद्ध आपस में षडयंत्र रचते रहते हैं और जब कभी अवसर मिलता है तो उसे हानि भी पहुँचा देते हैं।

बंगाल के एक विद्वान और नेता श्रीभूदेव मुखापोध्याय अपने नौकरों के साथ बड़ी शिष्टता और दया का व्यवहार करते थे। उनकी पत्नी ने एक बार कहा था- 'मैं समझती हूँ कि नौकर लोग घर के लड़कों की अपेक्षा भी अधिक दया और उदारता के पात्र होते हैं। लड़के तो बराबर हमारे पास रहते हैं और जब जो चाहते हैं पा जाते हैं। हम लोग बराबर उन्हें सुखी रखने की चेष्टा करते हैं। वे जब नौकर बीमार होकर कष्ट के मारे हाय-हाय' चिल्लाता है तब उसकी रक्षार्थ उसके माँ-बाप उसके पास थोड़े ही आ सकते हैं। उस समय हम लोगों को भी उनके साथ माँ-बाप का सा व्यवहार करना चाहिए। नौकर पर पूरा विश्वास करके तुम बहुत करते हो घर की ताली उसके सुपुर्द कर देते हो, किन्तु वह तो तुम्हारी दया के भरोसे अपने प्राण तक तुम्हें सौंप देता है।

दूरदर्शिता और उदारता

उदारता के गुण का दूरदर्शिता से एक प्रकार का विशेष सम्बन्ध है। जब हम अनायास किसी अनजान व्यक्ति के साथ भलाई करते हैं, तो इसमें हमको या दूसरों को कोई निकटवर्ती लाभ या उपयोग नहीं जान पड़ता। बहुत से मनुष्यों को तो इस प्रकार दूसरों की सेवा या सहायता के

कार्य व्यर्थ की बेगार की तरह ही जान पड़ते हैं, पर दूरदर्शी मनुष्य भली प्रकार जानता है कि इस प्रकार जो कार्य शुद्ध भलाई की भावना से किया जायगा, उसका शुभ परिणाम आगे चलकर किसी न किसी रूप में हमको अवश्य मिलेगा। जिस प्रकार खेती करते समय किसान उत्तम अनाज के दानों को मिट्टी में मिला देता है और उस समय प्रत्यक्ष रूप से यही दिखलाई पड़ता है कि वे अनाज के दाने व्यर्थ में नष्ट हो गये, पर कुछ समय बाद वे ही दाने अनेक गुने होकर किसान को प्राप्त होते हैं। यही बात निष्काम भाव से की गई भलाई की समझना चाहिए। उसका शुभ फल किसी न किसी रूप में हमको मिलना अनिवार्य होता है।

परिस्थितियों को दोष देना व्यर्थ है

बहुत से लोग परिस्थितियों की प्रतिकूलता का बहाना करके दूसरों की सेवा और सहायता के कामों से बचना चाहते हैं। हम यह नहीं कहते कि मनुष्य के मार्ग में कठिनाइयाँ नहीं आतीं, पर जिस व्यक्ति का स्वभाव उदारता और परोपकार का होगा, वह हर तरह की परिस्थिति में उसके लिए कोई न कोई मार्ग निकाल ही लेगा। यह तो सभी जानते हैं कि उदारता, सहायता, दान आदि की श्रेष्ठता का निर्णय कम या अधिक परिमाण से नहीं होता वरन् उसकी भावना से होता है। एक करोड़पति के लाख रुपये के दान से एक गरीब मजदूर का दो आने का दान इसी दृष्टि से अधिक त्याग और महत्व का माना जाता है।

मनुष्य के हर समय अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। जो व्यक्ति सफलतापूर्वक इन समस्याओं को हल कर लेता है, उसका जीवन सुखी रहता है, किन्तु जो सामने की समस्याओं से भागने का प्रयत्न करता है, वह सदा दुःखी रहता है। समस्याओं का हल अपने आप को समझने, अपनी शक्ति पहचानने और आत्म-संयम करने का साधन मात्र है। जिस मनुष्य में अपने विचारों पर नियंत्रण रखने और उन्हें सुव्यवस्थित करने की जितनी शक्ति होती है, वह अपनी परिस्थिति जन्य समस्याओं को हल करने में उतना ही समर्थ होता है। अपने विचारों को नियंत्रित न रखने से परिस्थितियाँ प्रतिकूल हो जाती हैं तथा साधारण समस्याएं भी भयंकर दिखाई देने लगती हैं।

जब मनुष्य में निकम्मापन आता है तो वह अपनी अकर्मण्यता का दोष वातावरण के सिर मढ़ने लगता है। इस प्रकार मिथ्या संतोष प्राप्त करता है पर उससे उसका मानसिक क्लेश नष्ट नहीं होता, अपितु वह और भी बढ़ जाता है। जो लोग जीवन में बड़े ऊँचे आदर्श रखते हैं, वे अपने आदर्श जीवन के अनुसार आचरण न कर सकने के लिए प्रायः अपनी परिस्थितियों को ही कोसा करते हैं। इस प्रकार का दोषारोपण मनुष्य की दूसरों की सेवा न करने की इच्छा का ही परिणाम है। जब मनुष्य में स्वार्थ परायणता आती है तो उसके मन में भय और चिन्ताएं आने लगती हैं। ये भय और चिन्ताएँ मानसिक शक्ति को नष्ट कर देती हैं। इस प्रकार मनुष्य में निराशा भर जाती है। वह किसी भी काम में सफलता की संभावना नहीं देखता। वह अपने को शत्रुओं से घिरा पाता है। वह दूसरों की हृदय से सेवा करना नहीं चाहता, पर वह इस बात को स्वीकार न कर वातावरण में अपनी अकर्मण्यता का कारण खोजता है। पैसे की कमी, मित्रों की कमी, समाज की पूर्वास्था आदि बातें शुभ काम करने में रुकावट डालने लगती हैं। कभी-कभी कल्पित अथवा वास्तविक रोग काम में अड़चनें डालने लगते हैं।

इस प्रकार के विचार सामान्य नवयुवकों के होते हैं, जो उन्हें निकम्मा बना देते हैं। ऐसे विचारों के कारण मनुष्य अपने आस-पास प्रतिकूल वातावरण पैदा कर लेता है। वह सोचता है कि वातावरण किसी भी प्रकार के विचारों तथा आचरण का कारण होता है। विचार और आचरण वातावरण में उपस्थित परिस्थितियों के परिणाम मात्र होते हैं। जो व्यक्ति अपने कर्तव्य से बचना चाहता है, वह उक्त विचार को दृढ़ता से पकड़ लेता है। मानसिक तथा शारीरिक रोगी वातावरण को ही अपने रोग का कारण ठहराते हैं। मनुष्य को रोग नहीं होता तब भी वह रोग की कल्पना कर लेता है, जिससे वह अपने प्रमाद का कोई बहाना बताकर अपनी कर्तव्य बुद्धि को धोखा दे सके। जिस प्रकार हम दूसरों को धोखा देने की चेष्टा करते हैं, उसी प्रकार हम अपने आप को भी धोखा देते हैं। जब तक धोखा देने की मनोवृत्ति का अन्त नहीं होता, वह अपने आप में भले काम करने की शक्ति नहीं पाता। धोखा देने की मनोवृत्ति से मानसिक शक्ति का उदय न होकर विनाश ही होता है।

जब मनुष्य आध्यात्मिक रूप से विचार करने लगता है तो वह अपने आचरण और सफलता का कारण अपने विचारों को ही पाता है। मनुष्य के विचार उसके जीवन से सम्बन्ध रखने वाली सभी वस्तुओं के कारण होते हैं। जैसे हम होते हैं वैसा ही संसार होता है। हम संसार के

पदार्थों को अपनी बुद्धि के अनुरूप ही पाते हैं । यह मनोविज्ञान का सामान्य सिद्धान्त है । हमारे सामने रखा हुआ पदार्थ भी हमारे संस्कारों, कल्पनाओं और विचारों के अनुसार दिखाई देता है । जिस प्रकार की भावनाएँ हमारे मन में रहती हैं, बाह्य पदार्थ वैसे ही रूप में दिखाई देने लगते हैं ।

किसी व्यक्ति को भले अथवा बुरे मनुष्य उसके विचारों के अनुसार मिला करते हैं । जो व्यक्ति अपने आप से परेशान हैं वह परेशान करने वाले व्यक्तियों से स्वयं को घिरा पाता है । भले विचार वाले व्यक्ति को भले मनुष्य मिलते हैं, बुरे विचार वाले व्यक्ति को बुरे ।

वातावरण में परिवर्तन आध्यात्मिक आकर्षण के कारण भी होता है । जैसे मनुष्य के विचार होते हैं, उन्हीं के अनुसार दूसरे लोग अथवा परिस्थितियाँ उनके समक्ष आती हैं । कोई भी व्यक्ति हमारे पास इसलिए आता है कि हमारे भीतरी मन में उसके आने की आवश्यकता है । अपने स्वभाव को न जानने के कारण ही मनुष्य दूसरे लोगों के आचरण से परेशान रहता है, अथवा परिस्थितियों की प्रतिकूलताओं की शिकायत करता है। अपना ही स्वभाव प्रतिकूल परिस्थितियाँ उपस्थित करता है । इस प्रकार की परिस्थितियाँ हमारे आध्यात्मिक विकास के लिए आवश्यक होती हैं । अंग्रेजी में एक कहावत है- समान पंखों के पक्षी एक साथ उड़ते हैं । जो जैसा होता है, उसको वैसा ही व्यक्ति मिल जाता है । हम सदा अपने ही जैसे व्यक्तियों को अज्ञात जगत् में आकर्षित करते हैं और दूर-दूर से हमारे जैसे व्यक्ति सम्पर्क में आ जाते हैं । सभी व्यक्तियों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर उनके विचार ही ले जाते हैं । विचार के आ जाने पर एक जगह से दूसरी जगह जाने का कारण मिल जाता है । विचार की उत्पत्ति आन्तरिक प्रेरणा से होती है ।

सभी घटनाओं के दो कारण होते हैं- एक भीतरी और दूसरा बाहरी । हम जिन कारणों को घटना का कारण सोचते हैं वे प्राय: उनके बाहरी कारण मात्र होते हैं । ये कारण घटना के उतने महत्वपूर्ण कारण नहीं होते जितने आन्तरिक कारण हैं । आन्तरिक कारणों पर हमारा ध्यान प्राय: नहीं जाता । उसके लिए शान्त विचारों की आवश्यकता होती है । अपने वैयक्तिक स्वार्थ से ऊपर उठने पर ही मनुष्य को आन्तरिक तथा वास्तविक कारण का पता चलता है। घटना का आन्तरिक कारण सूक्ष्म विचार होता है। जिस मनुष्य को जिस बात का भय होता है, उसके जीवन में वह बात घटित हो जाती है, वह चाहे उसके प्रति कितना ही सतर्क क्यों न रहे ? उस घटना को उसका विचार ही घटित करता है। इसी प्रकार संदेह-रहित शुभ विचार भी फलित होता है । हम जिस प्रकार के लोगों को चाहते हैं वे अनायास हमारे प्रति आकर्षित होते हैं । हमारा विचार देश और काल के प्रतिबन्ध को नहीं मानता । विचार की कोई सीमा नहीं है और उसकी गति का कोई माप नहीं । एक क्षण में विचार सारी सृष्टि की परिक्रमा कर सकता है । उसकी शक्ति भी अमोघ है । अतएव जिस व्यक्ति को हम चाहते हैं उसके आन्तरिक मन में अज्ञात प्रेरणा हमारी ओर को ही हो जाती है, पर यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि यह चाह ऊपरी चाह न हो, भीतरी मन की चाह हो । भीतरी मन जिन बातों को चाहता है वे ही बातें हमारे जीवन में घटित होती हैं ।

जो मनुष्य समाज की सेवा करना चाहता है उसे सभी प्रकार की परिस्थितियाँ अनुकूल दिखाई देती हैं । प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी हमारे अनुकूल हो जाती हैं । जो व्यक्ति परिस्थितियों से नहीं डरता उससे परिस्थितियाँ डरती हैं और उसके अनुकूल हो जाती हैं । समाज की सेवा कोई दूर की वस्तु नहीं है । वह सब जगह हमारे समक्ष रहती है । समाज व्यक्तियों का बना है । समाज के एक भी व्यक्ति को प्रसन्न चित्त करना समाज के अन्य व्यक्तियों के प्रति भारी सेवा है । प्रसन्न चित्त व्यक्ति को देखकर दूसरे लोग भी प्रसन्न होते हैं । रोते हुए व्यक्ति रोते हुओं की ही संख्या बढ़ाते हैं । वे अपना रोग दूसरे लोगों में भी फैलाते हैं । जो अपने आप सुखी हैं वे दूसरे व्यक्तियों को भी सुखी बनाते हैं । जो अपने आप दुखी हैं वे दूसरों को भी दुखी कर देते हैं । अतएव संसार के एक भी मनुष्य को प्रसन्न बनाना उसकी भारी सेवा है । मन की प्रसन्नता धन की, सम्पत्ति की वृद्धि से नहीं आती वरन् आशावाद की वृद्धि और स्वार्थपरता के त्याग से आती है ।

उदारता एक दैवी तत्व है

उदारता निस्संदेह एक मानसिक गुण है । भौतिक परिस्थितियों से उसका अधिक सम्बन्ध नहीं । प्राय: देखा जाता है कि लखपति लोग हर एक बात में कंजूसी करते हैं, दूसरों के दुख का कुछ भी प्रभाव उन पर नहीं पड़ता, सदा अपने लाभ पर ही दृष्टि रखते हैं । इसके विपरीत बिलकुल साधारण स्थिति के और गरीब व्यक्ति समय पड़ने पर फौरन दूसरे की सहायता करने को अग्रसर होते हैं और

किसी को कष्ट में फँसा देखकर द्रवित हो जाते हैं। इसका एक कारण यह भी होता है कि गरीब अभावग्रस्त होने के कारण उनको दूसरों के दुख का तुरन्त अनुभव हो जाता है, जबकि धनवान को हर तरह से धन जमा करने के सिवा किसी और बात का अनुभव नहीं होता।

जो लोग दूसरों की सेवा या उपकार करना नहीं चाहते, वे ही उदारता के कामों में तरह-तरह के बहाने ढूँढ़ते हैं। अन्यथा यह एक ऐसा दैवी तत्व है जो मनुष्य के व्यक्तित्व को अत्यन्त आकर्षक और अनेक गुणों का केन्द्र बना देता है। उदार व्यक्ति के साथ सदैव बहुसंख्यक व्यक्तियों की शुभकामनाएँ और आशीर्वाद रहते हैं। किसी कारणवश आपत्ति में पड़ जाने पर या निर्धन हो जाने पर भी लोगों की सहानुभूति उसके साथ रहती है और उसके आदर-सम्मान में कमी नहीं आती। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि अपने कार्यों, व्यवहार और विचारों द्वारा सदैव दूसरों के साथ उदारता का व्यवहार करें और इस बात का सदैव ध्यान रखें कि उनके द्वारा किसी के लाभ के सिवा किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक कष्ट न पहुँचे।

२२. स्वाध्याय और सत्संग

गायत्री का बाईसवाँ अक्षर 'चो' सत्संग और स्वाध्याय के लाभों को बतलाता है-

चोदयत्येव सत्संगो धियमस्य फलं महत्।
स्वमतो सज्जै विद्वान् कुर्यात् पर्यावृतं सदा॥

अर्थात्- 'सत्संग से बुद्धि का विकास होता है, इसलिये सदैव सत्पुरुषों का संग करें। सत्संग का फल महान् है।'

मनुष्य के मस्तिष्क पर वातावरण, स्थान, परिस्थिति और व्यक्तियों का निश्चित रूप से भारी प्रभाव पड़ता है। जो लोग अच्छाई की दिशा में अपनी उन्नति करना चाहते हैं, उन्हें उचित है कि अपने को अच्छे वातावरण में रखें, अच्छे लोगों को अपना मित्र बनावें, उन्हीं से अपना व्यापार, व्यवहार और सम्बन्ध रखें। जहाँ तक सम्भव हो परामर्श, उपदेश और मार्ग-प्रदर्शन भी उन्हीं से प्राप्त करें।

यथासाध्य अच्छे व्यक्तियों का सम्पर्क बढ़ाने के अतिरिक्त, अच्छी पुस्तकों का स्वाध्याय भी ऐसा ही उपयोगी है। जिन जीवित या स्वर्गीय महापुरुषों से प्रत्यक्ष सत्संग सम्भव नहीं, उनकी पुस्तकें पढ़कर सत्संग का लाभ उठाया जा सकता है। एकान्त में स्वयं भी अच्छे विचारों का चिन्तन और मनन करके तथा अपने मस्तिष्क को उसी दिशा में लगाये रहने से भी आत्म-सत्संग होता है। ये सभी प्रकार के सत्संग आत्मोन्नति के लिये आवश्यक है।

शरीर, वस्त्र, मकान, बर्तन आदि की सफाई नित्य करनी पड़ती है, क्योंकि नित्य ही उन पर मैल जमता रहता है। इसी प्रकार मन पर भी संसार के बुरे वातावरण का मैल और कुप्रभाव निरन्तर पड़ता रहता है, उसकी सफाई के लिये सत्संग और स्वाध्याय की बुहारी लगाने को शास्त्रों में नित्यकर्म बताया गया है। 'शतपथ ब्राह्मण' में कहा है कि जिस दिन भी स्वाध्याय न किया जाय उसी दिन मनुष्य की स्थिति शूद्र जैसी हो जाती है। इस नित्य-कर्म में मनुष्य को कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

अच्छे विचारों के धारण करने से ही कुविचार दूर होते हैं। कटोरे में पानी भर देने से उसमें जो हवा पहले भरी हुई थी, वह निकल जाती है। इसी प्रकार कुविचारों से, सत्यानाशी शत्रुओं से पीछा छुड़ाना हो और परम कल्याणकारी सद्विचारों को अपनाना हो तो यह आवश्यक है कि स्वाध्याय और सत्संग के लिये सदैव प्रयत्न करके अवसर निकालते रहें।

मनुष्य पर परिस्थितियों का प्रभाव

सत्संग का अर्थ केवल साधु-महात्माओं के पास जाकर उनके उपदेश सुनने से नहीं है। वास्तविक बात तो यह है कि हम जन्म के कुछ समय बाद से ही जो कुछ सीखते हैं, जैसा स्वभाव ग्रहण करते हैं, वह सब संगति का ही परिणाम होता है। हम आरम्भ से जिस परिस्थिति में रहते हैं वह भी एक प्रकार की संगति है, क्योंकि वह किसी न किसी व्यक्ति द्वारा ही उत्पन्न की जाती है। इन्हीं सब प्रभावों से मिल कर मानव जीवन का निर्माण होता है।

विद्वान बेकन का कथन है कि 'महाराज कोरे कागज के समान है। वह जिन परिस्थितियों में रहता है, जिन विचारों से प्रभावित होता है, उसी ढाँचे में ढल जाता है।' एक सच्चा जैनी अपने धार्मिक विश्वासों की प्रेरणा से जीव दया को अपना धर्म मानता है। किन्तु एक सच्चा मुसलमान, अपने मजहब में अत्यन्त निष्ठा रखता हुआ ईश्वर के नाम पर कई पशुओं की कुर्बानी करता है। यदि दोनों के अन्तःकरणों की परीक्षा की जाय तो दोनों ही समान रूप से अपने को धर्मारूढ़ अनुभव करते पाये जायेंगे। जैनी का दृढ़ विश्वास है कि जीव दया करके मैंने उचित कर्तव्य किया। इसी प्रकार मुसलमान का भी निश्चित मत है कि उसने पशु बध करके ईश्वरीय आज्ञा का पालन किया।

जीव दया और पशु बध यह दोनों कार्य आपस में एक दूसरे से बिलकुल विपरीत हैं फिर भी विचार भिन्नता के कारण सच्चे भाव से उन्हें अपनी-अपनी दृष्टि से ठीक मानते हैं । योरोपियन लोग मलत्याग के उपरान्त कागज द्वारा पोंछ कर शुद्धि कर लेते हैं, उनको इस प्रथा को हिन्दू लोग बुरी दृष्टि से देखते हैं । एक योरोपियन महिला से इस विषय में हमारी एक बार बहुत बातचीत हुई । उन्होंने हिन्दुओं की एक लोटा जल से मल शुद्धि करने को बहुत बुरा बताया । उनका कहना था कि इस प्रकार विष्ठा का कुछ भाग पानी में मिल कर गुदा स्थान के चारों ओर फैल जाता है और इससे अशुद्धि और भी बढ़ जाती है। यदि जल से शुद्धि करनी हो तो नल के नीचे झुक कर बहुत देर तक शुद्धि करनी चाहिये अन्यथा एक लोटे जल से की हुई शुद्धि तो अशुद्धि को और अधिक बढ़ा देने वाली है । उन महिला की दृष्टि से कागज की शुद्धि उचित थी और जल की शुद्धि घृणित । हिन्दू कागज की शुद्धि को घृणित मानते हैं और योरोपियन जल की शुद्धि को । हम लोग गोबर से घर लीप कर शुद्धि अनुभव करते हैं । किन्तु पाश्चात्य देशवासी मनुष्य की विष्ठा की भांति पशु की विष्ठा को भी गंदी मानते हैं और गोबर से लीपे हुए स्थान को गंदा एवं घृणित समझते हैं । एक कार्य को एक व्यक्ति उचित समझता है, दूसरा अनुचित ।

नंगे बदन रहना हमारे यहां त्याग का चिन्ह है किन्तु दूसरे देशवासियों की दृष्टि में वह असभ्यता का चिन्ह है। हिन्दू की दृष्टि में वेद ईश्वरीय संदेश है किन्तु दूसरी जाति के लोग उन्हें एक भजन पूजा की बेढंगी किताब से अधिक कुछ नहीं मानते । विधवा का विवाह हमारे समाज में एक भयंकर बात है पर अन्य जातियों में वह एक बिलकुल साधारण और स्वाभाविक प्रथा है । एक दो नहीं असंख्यों उदाहरण ऐसे मिल सकते हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि परस्पर विरोधी दो बातों को लोग अपने दृष्टिकोण से बिलकुल सत्य समझते हैं और निष्कपट मन से अपने विश्वासों को ठीक अनुभव करते हैं ।

विचारणीय बात यह है कि परस्पर विरोधी दो बातों में से एक सत्य होनी चाहिये दूसरी असत्य । परन्तु फिर यह देखा जाता है कि वे दोनों ही बातें अपने-अपने क्षेत्र में सत्य समझी जाती हैं । हमारे लिए वेद ईश्वरीय पुस्तक हैं, पर मुसलमान के लिए कुरान के अतिरिक्त अल्लाह का कलाम दूसरा नहीं है । वेद और कुरान में काफी मत भेद हैं, यदि दोनों ईश्वर के कलाम हैं तो परस्पर विरोधी बातें क्यों ? यदि इनमें से एक ईश्वर की वाणी है तो दूसरे को असत्य मार्ग पर मानना पड़ेगा । इस गड़बड़ी का उचित समाधान कुछ नहीं । सत्य क्या है ? यह गुत्थी अभी तक उलझी हुई ही पड़ी है । मनुष्य जिन विचारों और कार्यों को सत्य माने बैठा है उनमें कितना अंश सत्य का है कितना असत्य का, यह अभी निर्णय होना बाकी है। मानव बुद्धि धीरे-धीरे आगे बढ़ती जा रही है, एक दिन वह तत्व को खोज ही निकालेगी, ऐसी आशा करनी चाहिए । परन्तु आज यह कहना कठिन है कि जिन बातों को लोग उचित सत्य धर्म माने बैठे हैं वह वास्तव में वैसी है या नहीं ।

इस गुत्थी की मनोविज्ञान शास्त्र के अनुसार जो विवेचना होती है उससे विद्वान वेकन के मत की पुष्टि होती है 'मनुष्य कोरे कागज के समान है । वह जिन परिस्थितियों के बीच रहता है, वैसा ही बन जाता है ।' एक ही माता-पिता से उत्पन्न दो बालकों में से एक हिन्दू को पालन पोषण के लिए दिया जाय और दूसरा अंग्रेज को । तो वे बालक अपने-अपने संरक्षकों की भाषा ही बोलेंगे, वैसे ही आचार-विचारों को अपनायेंगे । अफ्रीका के जंगल में एक भेड़िया मनुष्य के दो बालक पकड़ ले गया, कुछ ऐसा आश्चर्य हुआ कि उन बच्चों को उसने खाया नहीं वरन् पाल लिया । बड़े होने पर यह बच्चे भेड़ियों की तरह गुर्राते थे, चार पावों से चलते थे और शिकार मार कर कच्चा मांस खाते थे, इन बालकों को शिकारियों ने पकड़ कर मनोवैज्ञानिकों के सामने परीक्षार्थ पेश किया था । इन बातों से जाना जाता है कि मनुष्य सचमुच कोरा कागज है । जिन लोगों के बीच वह रहेगा, उसी प्रकार का स्वभाव ग्रहण करेगा और बहुत अंशों में वैसा ही बन जायेगा । उसके विचार और विश्वास भी उसी ढाँचे में ढल जावेंगे ।

संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि 'संगति' के असर से मनुष्य की जीवन यात्रा आरम्भ होती है और इसी के प्रभाव से उसमें हेरफेर होता है । विचार बदलते हैं, विश्वास बदलते हैं, कार्य बदलते हैं, स्वभाव बदलते हैं । वायु के थपेड़ों में उड़ता हुआ सूखा पत्ता इधर-उधर उड़ता फिरता है । उसी प्रकार संगति और परिस्थितियों के प्रभाव से मनुष्य की शारीरिक और मानसिक क्रिया पद्धति बनती हैं और फिर उसी के प्रभाव से कुछ से कुछ बन जाते हैं । आचार्य फ्रायड का मत है कि 'मनुष्य गीली मिट्टी के समान है जो प्रभाव के ढाँचे में ढलता और ढाला जाता है । हम देखते हैं कि असंख्य प्रतिभाशाली, सुतीक्ष्ण, मनोभूमि वाले लोग अपनी शक्ति का उपयोग तुच्छ कार्यों में कर रहे हैं । यदि

वे शक्तियाँ किन्हीं महत्वपूर्ण कार्यों में लगतीं तो अपना और दूसरों का बहुत कुछ भला कर सकती थीं । प्रभाव और परिस्थितियों ने, संगति और शिक्षा ने, उन्हें जिधर लगा दिया वे लग गईं, और लगी रहेंगी । चाहे वह मार्ग उचित हो या अनुचित ।'

भारतीय धर्माचार्यों ने मानव प्राणी का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण बड़ी गम्भीरता एवं तत्परता से किया था । वे इस सत्य को समझते थे कि मनुष्य सिद्धान्त की दृष्टि से कुछ भी क्यों न हो परन्तु व्यवहारत: वह 'परिस्थितियों का गुलाम है ।' संगति के प्रभाव से वह कुछ बनता है और बन सकता है। इसलिये हर व्यक्ति को समय-समय पर ऐसी परिस्थितियों और प्रभावों के सम्पर्क में आते रहना चाहिए जो ऊँचा उठाने वाली हों, उत्तम प्रभाव डालने वाली हों । हिन्दू धर्म में तीर्थ यात्रा का महत्व इसी दृष्टि से स्थापित किया गया है । साधारण कामकाजी लोगों की योग्यता, विद्या, साधना, सच्चरित्रता और तपस्या ऊँचे दर्जे की नहीं होती । यह तो उन्हीं में पाई जाती है जो ब्राह्मण वृत्ति को अपनाकर लोक सेवा, ईश्वर आराधना, स्वाध्याय और साधना में प्रवृत्त रहे हैं । जहाँ ऐसे ब्रह्मर्षि जल वायु की उत्तमता के कारण एवं ऐतिहासिक महत्व के कारण, अधिक संख्या में रहते हैं, वह स्थान तीर्थ कहे जाते हैं । तीर्थयात्रा में वायु परिवर्तन होता है, ऐतिहासिक स्मृतियों का अनुभव होता है और उन ब्रह्मर्षियों से सत्संग करने का सौभाग्य प्राप्त होता है, जिनमें दूसरों पर अच्छा असर डालने की योग्यता का बाहुल्य होता है । तीर्थ यात्रा में पुण्य फल प्राप्त होता है इसका तात्पर्य यही है कि श्रेष्ठ व्यक्तियों की संगति का उत्तम प्रभाव पड़ता है और उस प्रभाव के कारण अपने अन्दर जो सद्गुण उत्पन्न होते हैं उनके फल स्वरूप सुख दायक आनन्दमयी परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं ।

आज तीर्थ स्थानों का वातावरण वैसा नहीं रहा है तो भी वह प्राचीन सिद्धान्त, आज भी ज्यों का त्यों बना हुआ है । स्थूल शरीर को स्वस्थ रखने के लिए आहार की आवश्यकता होती है, इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर को, मनोभूमि को, स्वस्थ रखने के लिए सत्संग की आवश्यकता होती है। स्मरण रखिये मनुष्य कोरे कागज के समान है, गीली मिट्टी के समान है, उस पर संगति का प्रभाव पड़ता है । इसलिए उन्नतिशील, आनन्दमय, सतोगुणी प्रभाव अपने ऊपर ग्रहण करने के लिए, सत्संग का अवसर तलाश करते रहना चाहिए और जब भी मौका प्राप्त हो उससे लाभ उठाना चाहिए ।

कथा प्रसिद्ध है कि एक बार विश्वामित्र ने वशिष्ठ को अपनी हजार वर्षों की तपस्या दान कर दी, बदले में वशिष्ठ ने एक क्षण के सत्संग का फल विश्वामित्र को दिया । विश्वामित्र ने अपना अपमान समझा । उन्होंने पूछा कि मेरे इतने बड़े दान का बदला आपने इतना कम क्यों दिया । वशिष्ठ जी विश्वामित्र को शेषजी के पास फैसला कराने ले गये । शेषजी ने कहा मैं पृथ्वी का बोझ धारण किये हूँ। तुम दोनों अपनी वस्तु के बल से मेरे इस बोझ को अपने ऊपर ले लो । हजार वर्ष के तपोबल की शक्ति से वशिष्ठ पृथ्वी का बोझ न उठा सके, किन्तु क्षण भर के सत्संग के बल से विश्वामित्र ने पृथ्वी को उठा लिया । तब शेषजी ने फैसला किया कि हजार वर्ष की तपस्या से क्षण भर के सत्संग का फल अधिक है ।

अच्छे व्यक्तियों की संगति के लिए कुछ अन्य कार्य हर्ज करने पड़ें, पैसा खर्च करना पड़े तो करना चाहिए, क्योंकि यह हानि बीज रूप है, जो अन्त में हजार गुनी होकर लौटती है। जो अपने जीवन को उच्च बनाना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि स्वाध्याय के लिए कुछ समय नित्य निकालें, श्रेष्ठ पुरुषों की उत्तम रचनायें जो ऊँचा उठाने वाली हों, नित्य पढ़ें । स्वाध्याय करना घर बैठे सत्संग करना है । इसके अतिरिक्त उत्तम विचारवान श्रेष्ठ पुरुषों के पास बैठने, उनसे प्रश्न पूछने, उनके आदर्शों और स्वभावों का अनुकरण करने का प्रयत्न करते रहना चाहिए । लोहे को सोना बना देने की शक्ति पारस पत्थर में होती है, और पशु को मनुष्य बना देने की क्षमता सत्संग में पाई जाती है। पारस पत्थर अप्राप्य है पर सत्संग की इच्छा करें तो उसे अपने समीप ही प्राप्त कर सकते हैं ।

ध्यान रखना चाहिए कि हमारे आस पास बुरा प्रभाव डालने वाला वातावरण तो नहीं है, यदि हो तो उससे सावधान रहने और बचते रहना चाहिए । स्मरण रखना चाहिए कि जीवन को ऊँचा उठाने की शक्ति सत्संग में हैं अतएव इसके लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। विद्वान बेकन का कथन है कि मनुष्य कोरे कागज के समान है । पतन और उन्नति बहुत कर निकटस्थ प्रभाव के ऊपर निर्भर हैं इसलिए अपने को बुरे भावों से बचाने और अच्छे प्रभावों की छाया में लाने का प्रयत्न करते रहिये ।

भौतिक जगत में हम देखते हैं कि जब एक वस्तु दूसरे के साथ रहती है तब उन वस्तुओं में उनके गुणों का परस्पर आदान प्रदान होता है । अग्नि जल को गर्म करती और जल अग्नि को ठंडा करता है । उसी प्रकार सत्संग द्वारा भी परस्पर गुणों का आदान-प्रदान होता है ।

एक साधारण पुरुष जब महात्माओं के बीच में पहुँच जाता है तब वह क्रमशः शुद्ध होने लगता है । उसका वातावरण बदल जाता है। मनुष्य अपनी परिस्थितियों से प्रभावित रहता है। यदि वह छली, कपटी और धूर्त लोगों के बीच में पड़ गया है तो वह प्रत्येक व्यक्ति को सन्देह भरी दृष्टि से देखने वाला बन जायेगा। उसे सब लोग कपटी और स्वार्थी प्रतीत होंगे और वह किसी के साथ स्वतंत्रता पूर्वक व्यवहार न कर सकेगा । किन्तु यदि वही व्यक्ति महात्मा पुरुषों के बीच में रहने लगे तो उनके त्याग-पूर्ण व्यवहारों से उसे यह अनुभव होगा कि मनुष्य का स्वभाव दिव्य है । उसे उनके साथ किसी तरह का संदेह न होगा एवं वह सबके साथ खुलकर व्यवहार करेगा । इस तरह का वातावरण जीवन के लिए एक विडम्बना है और हम देखते हैं कि मनुष्य जिस तरह के लोगों के बीच में रहता है उसकी धारणाऐं तदनुकूल हो जाती हैं और उसके व्यवहार से हम पता लगा सकते हैं कि वह किस प्रकार के वातावरण में पला है ।

यदि कोई व्यक्ति ऐसे वातावरण में पहुँच जावे जहाँ लोग उसे मूर्ख, अस्पृश्य और घृणास्पद समझने लगें तो उसके चित्त में आत्महीनता की ग्रंथि का निर्माण होने लगेगा और उसकी शक्तियाँ कुंठित होने लगेंगी । वह अपना आत्म-विश्वास, आत्म-गौरव और निर्भीकता खो बैठेगा और दुखी बन जावेगा, भारतवर्ष के अछूतों का यही हाल हुआ है । उन्हें जन्म जन्मांतर से बुरे संकेत दिए गए हैं, जिन्हें हम पुनर्जन्म के सिद्धान्त की आड़ में उचित और पाप-परिक्षालक कहते रहे हैं । इन संकेतों ने ही उन्हें दास स्वभाव वाला बनाया है । ऐसा वातावरण सचमुच जीवन के लिए एक अभिशाप है ।

जिन्हें अपनी श्रेष्ठता का अभिमान होता है उनके बीच में रहना मानों अपने जीवन को दुखी बना लेना है । किन्तु यदि हम महात्माओं के बीच में रहें तो निश्चय ही हमारे अन्तराल में उनके सद्व्यवहारों के कारण आत्महीनता की ग्रंथि का निर्माण नहीं हो सकता । इसके साथ रहने से तो उल्टे ही ये ग्रंथियाँ मिट जाती हैं । जिस तरह कोई मनःशास्त्र विशेषज्ञ अपनी सहानुभूति के द्वारा चिकित्सा करते समय रोगी के गुप्त मनोभावों और रहस्यों को उससे कहलवा लेता है और ग्रन्थि पड़ने के कारण को जानकर उसका निराकरण कर देता है उसी तरह सन्त-समाज में हमारे हृदय की गुत्थियाँ उनके प्रेमपूर्ण व्यवहार के कारण खुल पड़ती हैं और हम अनुभव करते हैं कि हमारा हृदय हल्का हो गया और हमारे दीर्घ रोग की चिकित्सा हो गई।

संतों के समागम में रहकर हमें जीवन के प्रति स्वास्थ्यप्रद दृष्टिकोण प्राप्त होता है। उद्देश्य हीन जीवन के स्थान में हमारा जीवन उद्देश्य युक्त हो जाता है और हम दूसरों का अन्धानुकरण नहीं करते ।

मनुष्य के आचार-विचार के लिए उसका वातावरण बहुत अंशों में उत्तरदायी है । अतएव यदि मनुष्य अपने वातावरण को बदल डाले तो उसके आचार-विचार और स्वभाव में परिवर्तन सहज ही हो जायेगा। किन्तु वातावरण को बदलना, कहने में जितना सरल है, वास्तव में वह उतना सरल नहीं । सच तो यह है कि वातावरण को बदलना ही परोक्ष रूप से अपने आचार-विचार को बदलना है, अतएव उसका बदलना उतना ही कठिन है जितना कि आचार-विचारों का । उदार हृदय सहृदय व्यक्तियों का संग सबके लिए सुलभ है । गीता आदि धर्म पुस्तकों का संग सबको सुलभ है । प्रत्येक व्यक्ति बे रोकटोक उनका सत्संग कर सकता है किन्तु फिर भी उनके सत्संग से अनेकों प्राणी वंचित रहते हैं । उनका चित्त ही उन्हें उस सत्संग से वंचित रखता है । उनके हृदय में जो पूर्व संस्कार हैं वे ही बाधा डालते हैं और उन्हें सत्संग रुचता नहीं । बिना आचार-विचार बदले न तो हम सत्संग के योग्य बनते हैं और न बिना संगी साथियों को बदले हमारे आचार-विचार ही बदल सकते हैं । हमारे आचार-विचार और परिस्थितियाँ परस्पर एक दूसरे के परिणाम अथवा प्रतिबिम्ब हैं । अतएव अच्छे आचार-विचार वाला व्यक्ति ही सत्संग कर सकता है और हम कह सकते हैं कि जो महात्माओं का संग करता है उसका मानसिक धरातल निश्चय ही उच्च होना चाहिए ।

सत्संग द्वारा आचार-विचार बदलने से मनुष्य के जीवन का दृष्टिकोण भी बदलना अनिवार्य है । जो व्यक्ति आज प्रत्येक कार्य करते समय व्यक्तिगत लाभ का लेखा-जोखा करता है वही व्यक्ति सत्संग के प्रभाव से उन्हीं कार्यों को सामाजिक लाभ अथवा लोक-संग्रह की दृष्टि से करने लगे, यह भी सम्भव है । गाँधी जी के प्रभाव में आकर अनेकों धनिकों ने अपने दृष्टिकोण को बदला, यह तो सभी जानते हैं ।

सत्संग से हमें अपने ध्येय की ओर तीव्रगति से बढ़ने के लिए प्रेरणा मिलती है । अपने आध्यात्मिक विकास के लिए साधन करना जिनका सहज स्वभाव हो गया है, उनके लिए सत्संग की आवश्यकता भले न हो किन्तु इधर जनों के लिए यह उत्साह वर्द्धक है । जिस विद्यार्थी ने व्यायाम

करना अभी-अभी शुरू किया है वह घर पर नित्य नियमित रूप से अकेले ही कितने दिनों तक व्यायाम करेगा। किन्तु यदि वही विद्यार्थी, अन्य व्यायाम प्रिय विद्यार्थियों का संग पा जावे, तो उसके उत्साह में शिथिलता न आने पायेगी और धीरे-धीरे व्यायाम करना उसका सहज स्वभाव हो जावेगा और फिर वह अकेले रहने पर भी उसी उत्साह से व्यायाम करता जावेगा। अतएव यदि आरम्भिक अभ्यासी को तीव्रगति से उन्नति करना है तो उसके लिए सत्संग अनिवार्य है।

जिस तरह कीड़े पर भृंगी का प्रभाव पड़ता है उसी तरह सत्संग के द्वारा भी साधकों के श्रेष्ठजनों का प्रभाव पड़ता है। यदि आप एक साधारण लौकिक प्राणी है और आपको किसी महात्मा-पुरुष की कृपा प्राप्त है तो उससे पत्र-व्यवहार करने में और उसके दर्शन करने में आपको जो समय बिताना पड़ेगा उसके कारण आपके विचार बहुत कुछ उसकी ओर खिंचे रहेंगे और आपके जीवन का एक पर्याप्त हिस्सा उनके सत्संग सम्बन्धी विषयों के विचार में ही व्यतीत होगा और आप भृंगी इसलिए कहा है- **'महत्संगो दुर्लभश्चामोधश्च'**

सत्संग की महिमा अपार है

सभी देशों और कालों के महापुरुषों ने आत्म-कल्याण के लिये सत्संग को सर्वोत्तम साधन बतलाया है। वैसे तो प्रत्येक सज्जन की संगति लाभदायक होती है, पर जिन सत्पुरुषों ने अपने जीवन को परोपकार और ईश्वर-चिन्तन में ही लगा रखा है और सांसारिक प्रपन्चों को त्याग दिया है, उनके उपदेश सुनने तथा उनके समीप बैठने से मनुष्य के विचारों और आचार में निर्मलता की वृद्धि विशेष रूप से हो सकती है। सत्संग के प्रभाव से ही मनुष्य को ज्ञान की प्राप्ति होकर कल्याण मार्ग का दर्शन हो सकता है।

आज का सामाजिक जीवन इतना विषम बन गया है जिसमें दरिद्रता, अभाव, उत्पीड़न और करुणा का तांडव नर्तन हो रहा है। मनुष्य की अवांछनीय असीमित इच्छाएँ तदनुकूल समस्याएँ वटवृक्ष की सुगुम्फित जटाओं की भांति इतनी जटिल हो गई हैं जिनका निराकरण मानव शक्ति से परे है। आज के सामाजिक कल्याणकारी कहलाने वाले मनुष्य कुसंगति में पड़कर कर्तव्य पथ से भ्रष्ट हो रहे हैं। सत्पुरुषों का साथ उन्हें भाता नहीं, साधु संतों के प्रवचन उन्हें कड़वी औषधि की भाँति लगते हैं फलस्वरूप चारों ओर संतों का साथ तो 'सर्वभूत हिते रत:' वाली भावना उत्पन्न करता है तथा दूसरों के कष्टों के निवारणार्थ आत्मबल प्रदान करता है। जैसा कि कबीरदास जी ने भी कहा है।

कबिरा संगति साधु की हरै और की व्याधि।
ओछी संगति क्रुर की आठों पहर उपाधि॥

आत्म सुख और परम शान्ति के लिये साधु महात्माओं संतों का सत्संग परमावश्यक है। इसके बिना जीवन का कोई आस्वादन नहीं। इस सत्संग के पुण्य लाभ के निमित्त ही नर देह धारण करने के लिये देवगण भी लालायित रहते हैं।

वेदशास्त्रों में ईश्वरीय साक्षात्कार के निमित्त तीन प्रकार के मार्ग बतलाए गए हैं। ज्ञान, कर्म और भक्ति। इनमें ज्ञान का पथ तलवार की धार की भाँति प्रखर और सर्व साधारण की बुद्धि से परे की बात है। कर्म करने वाला पुरुष जब पाप, पुण्य, उचित अनुचित के संगम पर पहुँचता है तो कदाचित किंकर्तव्यविमूढ़ सा हो जाता है। अतएव स्वभक्ति ही एक मात्र साधारणजनों का अटूट सहारा रह जाता है, परन्तु इस आनन्द और सुख के उपभोग के लिये प्रथम सत्संगति आवश्यक है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भक्ति सरोवर में स्नान करने के इच्छुक जनों से स्पष्ट शब्दों में कहा-

जो नहाइ चह यह सर भाई। तौ सत्संग करै मन लाई॥

वस्तुत: ज्ञान और कर्म, सर्वप्रथम सत्संग से ही अनुप्रेरित होते हैं जिसके लिए प्रभु की अनुकम्पा अपेक्षित है, जैसा कहा गया है कि-

बिनु सत्संग विवेक न होई। रामकृपा बिनु सुलभ न सोई॥

सत्पुरुषों के साहचर्य से केवल भगवत् भक्ति ही प्राप्त नहीं होती, अपितु पुरुष की अमानुषिक प्रवृत्तियों का भी इससे परिष्कार होता है। सत्संगति तो पारस मणि के तुल्य है। इसके बिना भगवद् भजन, संकीर्तन, यजन, ध्यान, पूजन, अर्चन, वन्दन असंभव नहीं तो दुस्तर अवश्य है। गुसाई जी के शब्दों में-

बिनु सत्संग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गए बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

प्रभु के चरणाम्बुजों में प्रेम की दृढ़ता के लिए सत्संग अपेक्षित है। विद्वानों ने संत समागम के क्षणमात्र से ही अनेक पापों को मिटाना बतलाया है। केवल एक घड़ी में ही-

एक घड़ी आधी घड़ी और आध की आध।
तुलसी संगति साधु की कोटिन हरैं व्याधि॥

सत्संग की महिमा का उल्लेख करते हुए श्री भतृहरि जी ने अपने 'नीतिशतक' में लिखा है ।

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं
मानोन्नति दिशति पाप मपा करोति
चेता: प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्ति
सत्संगति कथय किम् न करोति पुंसाम् ।

अर्थात् बुद्धि से मूर्खता को हरती, वचनों से सत्यता को सींचती, प्रतिष्ठा को बढ़ाती और दशों दिशाओं में कीर्ति को फैलाती है। बताओ तो भला यह सत्संगति मनुष्य को क्या क्या उपलब्ध नहीं करा देती ?

तुलसीदास जी ने सत्संगति को सब मंगलों का मूल कहा है ।

सत्संगति मुद मंगल मूला ।
सोइ फल सिधि सब साधन फूला ॥

यज्ञ, तप, दान जप और पंचाग्नि तपस्या से जो भक्ति कठिनाई से प्राप्त होती है, वह साधुजनों के सत्संग से सरलता पूर्वक और थोड़े समय में ही प्राप्त की जा सकती है । जिस प्रकार गूँगे को मधुर फल का रसास्वादन अन्दर ही अन्दर मिलता है, ठीक उसी प्रकार भक्तजनों को सत्संग से आनन्द प्राप्त होता है । वह आनन्दानुभूति वाणी द्वारा अभिव्यक्त नहीं की जा सकती ।

महापुरुषों का चरित्र-चिन्तन भी कल्याणकारी होता है

इस संसार में उन्नति करने-उत्थान के जितने भी साधन हैं 'सत्संग' उन सबमें अधिक फलदायक और सुविधाजनक है । सत्संग का जितना गुणगान किया जाय थोड़ा है । पारस लोहे को सोना बना देता है । रामचन्द्र जी के सत्संग से रीछ बानर भी पवित्र हो गये थे । कृष्णजी के संग रहने से गाँव के गँवार समझे जाने वाले गोप गोपियाँ भक्त शिरोमणि बन गये ।

सत्संग मनुष्यों का हो सकता है और पुस्तकों का भी श्रेष्ठ मनुष्यों के साथ उठना, बातचीत करना आदि और उत्तम पुस्तकों का अध्ययन सत्संग कहलाता है । मनुष्यों के सत्संग से जो लाभ होता है, वह पुस्तकों के सत्संग से भी सम्भव है । अन्तर इतना है कि संतजनों का प्रभाव शीघ्र पड़ता है ।

आत्म संस्कार के लिए सत्संग से सरल और श्रेष्ठ साधन दूसरा नहीं । बड़े-बड़े दुष्ट, बड़े-बड़े पापी, घोर दुराचारी, सज्जन और सच्चरित्र व्यक्ति के सम्पर्क में आकर सुधरे बिना नहीं रह सकते । सत्संग अपना ऐसा जादू डालता है कि मनुष्य की आत्मा अपने आप शुद्ध होने लगती है। महात्मा गाँधी के सम्पर्क में आकर न जाने कितनों का उद्धार हो गया था, कैसे-कैसे विलासी और फैशन-परस्त सच्चे जनसेवक और परोपकारी बन गये थे। पुस्तकों का सत्संग भी आत्म-संस्कार के लिए अच्छा साधन है । इस उद्देश्य के लिए महापुरुषों के जीवन चरित्र विशेष लाभप्रद होते हैं । उनके स्वाध्याय से मनुष्य सत्कार्यों में प्रवृत्त होता है और जघन्य कार्यों से मुँह मोड़ता है । गोस्वामी जी की रामायण में राम का आदर्श जीवन पढ़ कर न जाने कितनों ने कुमार्ग से अपना पैर हटा लिया। महाराणा प्रताप और महाराज शिवाजी की जीवनियों ने लाखों व्यक्तियों को देश सेवा का पाठ पढ़ाया है ।

सत्संग मनुष्य के चरित्र निर्माण में बड़ा सहायक होता है । हम प्राय: देखते हैं कि जिनके घरों के बच्चे छोटे दर्जे के नौकरों-चाकरों या अशिक्षित पड़ोसियों के संसर्ग में रहते हैं वे भी असभ्य और अशिष्ट बन जाते हैं । उनमें तरह-तरह के दोष उत्पन्न हो जाते हैं और उनमें से कितनों की का तो समस्त जीवन बिगड़ जाता है। इसके विपरीत जो लोग अपने बच्चों की भली प्रकार देख-रेख रखते हैं, उनको भले आदमियों के पास उठने बैठने देते हैं, स्वयं भी भद्रोचित ढंग से बातचीत करते हैं, उनके बच्चे सभ्य, सुशील होते हैं, और उनकी बातचीत से सुनने वाले को प्रसन्नता होती है । इसलिये सत्संग की आवश्यकता बड़ी आयु में ही नहीं है, वरन् आरम्भ से ही है । हमको इस विषय में सचेत रहना चाहिए और खराब व्यक्तियों का संग कभी नहीं करना चाहिए ।

स्वाध्याय भी सत्संग का ही एक रूप है

जीवन में सुख प्राप्त के लिए सत्संग का बड़ा महत्व है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और वह समाज में रहना चाहता है । जीवन यात्रा के लिए वह कुछ साथी चुन लेता है जिसके साथ रहकर अपने दिन काटता है। अगर उसने गलती से बुरे साथी चुन लिये तो उसका जीवन दु:खी हो जायेगा । यदि भाग्यवश श्रेष्ठ संगी मिल गये तो उसका जीवन सरस और सुखी हो जायेगा । उनसे उसे सदा सहायता मिलेगी और वे उसे सदा हितकारी सम्मति देंगे।

स्वाध्याय और सत्संग में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है । एक दृष्टि से देखा जाय तो स्वाध्याय सत्संग का ही एक रूप है। सत्संग में हम एक उपदेश को किसी सन्त पुरुष के मुख

से सुनते हैं और स्वाध्याय में उसी उपदेश को पुस्तक के द्वारा प्राप्त करते हैं । यह सत्य है कि अनेक उच्च कोटि के सन्तों के व्यक्तित्व का प्रभाव चमत्कारी होता है और उनके पास बैठने से जो असर पड़ता है वह पुस्तक के द्वारा नहीं पड़ सकता । पर साथ ही वह भी सत्य है कि सच्चे साधु पुरुषों की संगति सहज में प्राप्त नहीं हो सकती और यदि प्राप्त भी हो जाय तो हम जब चाहें तब उनके पास नहीं पहुँच सकते । पुस्तकों में यह विशेषता है कि हमको जिस समय सुविधा या आकांक्षा हो उसी समय उनसे उपदेश ग्रहण किया जा सकता है और एक बार में वह हृदय में न बैठे तो बार-बार उसको दुहरा कर मनन करके लाभ उठाया जा सकता है ।

जितने सन्त तथा महापुरुष हुए हैं उन्होंने स्वाध्याय की महिमा का गान किया है । हिन्दू शास्त्रों में लिखा है कि 'स्वाध्याय में प्रमाद नहीं करना चाहिए ।'

स्वाध्याय के अर्थ के सम्बन्ध में लोगों में अनेक मत भेद हैं । कुछ लोग पुस्तकें पढ़ने को स्वाध्याय कहते हैं, कुछ खास प्रकार की पुस्तकें पढ़ने को स्वाध्याय कहते हैं। कुछ का कहना है कि आत्म निरीक्षण करते हुए अपनी डायरी भरने का नाम स्वाध्याय है। वेद के अध्ययन का नाम भी कुछ लोगों ने स्वाध्याय रख छोड़ा है। लेकिन इतने अर्थों का विवाद उस समय अपने आप ही समाप्त हो जाता है जब मनुष्य के ज्ञान में उसका लक्ष्य समा जाता है ।

स्वाध्याय का विश्लेषण करने वालों ने इनके दो प्रकार से समास किये हैं-

स्वस्यात्मनोऽध्ययनम्-अपना, अपनी आत्मा का अध्ययन, आत्मनिरीक्षण । **स्वयमध्यनम्**- अपने आप अध्ययन अर्थात् मनन ।

दोनों प्रकार के विश्लेषणों में स्व का ही महत्व है । इसीलिए शास्त्रकारों का कथन है कि-

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत जनश्चरितमात्मनः ।
किन्नु मे पशुभिस्तुल्यं किन्नु सत्पुरुषैरिव ॥

प्रति घड़ी प्रत्येक मनुष्य को अपने स्वयं के चरित्र का निरीक्षण करते रहना चाहिए कि उसका चरित्र पशुओं जैसा है अथवा सत्पुरुष जैसा । आत्म निरीक्षण की इस प्रणाली का नाम ही स्वाध्याय है । जितने महापुरुष हुए हैं वे सब इसी मार्ग का अनुसरण करते रहें । उन्होंने स्वाध्याय के इस मार्ग में कहीं भी अपने अन्दर कमी नहीं आने दी बल्कि समस्त कमियों को निकालने और पूर्णमानव बनने के उद्देश्य से इस मार्ग को ग्रहण किया ।

'शतपथ' ब्राह्मण में लिखा है कि पानी बहता है क्योंकि बहना ही उसका धर्म है। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र चलते हैं क्योंकि गति करना, चलना यह उनका स्वभाव है । यदि ये अपने स्वभाव को छोड़ दें, गति हीन हो जावें तो सृष्टि का काम ही रुक जावे । ऐसे ही ब्राह्मण का स्वाभाविक काम स्वाध्याय है, जिस दिन वह स्वाध्याय नहीं करता उसी दिन वह ब्राह्मणत्व से पतित हो जाता है-

तदहरब्राह्मणो भवति यदहः स्वाध्यायंनाधयत्ते ।

वेद शास्त्रों में श्रम का सबसे बड़ा महत्व है । हर एक को कुछ न कुछ श्रम नित्य प्रति करना ही चाहिए । श्रम इसी त्रिलोकी में होता है । भू, भुवः और स्वर्ग लोक ही श्रम का क्षेत्र है। इस श्रम के क्षेत्र में स्वाध्याय ही सबसे बड़ा श्रम है । योग भाष्यकार व्यास का कहना है कि-

स्वाध्यायद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनत् ।
स्वाध्याय योगसंपत्या परमात्मा प्रकाशते । १ । २८

अर्थात् स्वाध्याय द्वारा परमात्मा से योग करना सीखा जाता है और समस्वरूप योग से स्वाध्याय किया जाता है योग पूर्वक स्वाध्याय से ही परमात्मा का साक्षात्कार हो सकता है। अपने आपको जानने के लिये स्वाध्याय से बढ़ कर अन्य कोई उपाय नहीं है । यहाँ तक कि इससे बढ़ कर कोई पुण्य भी नहीं है । शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि :-

भावन्तंह वा इमां पृथिवी वित्तेन पूर्णा ददल्लोकं जयति त्रिस्तावन्तं जयति भूयासं वाक्षम्य य एवं विद्वान् अहरहः स्वाध्यायमधीते ।

जितना पुण्य धन धान्य से पूर्ण इस समस्त पृथ्वी को दान देने से मिलता है उसका तीन गुना पुण्य तथा उससे भी अधिक पुण्य स्वाध्याय करने वाले को प्राप्त होता है ।

मानव जीवन का धर्म ही एक मात्र आश्रय है इस धर्म के यज्ञ अध्ययन एवं दान ये ही तीन आधार हैं ।

त्रयोधर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानामिति ।

छान्दो० २/३२/१

अपने स्वत्व को छोड़ना दान कहलाता है और अपना कर्तव्य करना यज्ञ । लेकिन स्वत्व छोड़ने तथा कर्तव्य करने का ज्ञान देने वाला तथा उसकी तैयारी करा कर उस पथ पर अग्रसर कराने वाला स्वाध्याय या अध्ययन है ।

किन्हीं-किन्हीं महापुरुषों का कहना है कि स्वाध्याय तो तप है। तप के द्वारा शक्ति का संचय होता है शक्ति के संचय से मनुष्य शक्तिवान बनता है । चमत्कार को नमस्कार करने वाले बहुत हैं, जिसके पास शक्ति नहीं है उसे कोई भी नहीं पूछता । इसलिये जो तपस्वी हैं उनसे सभी भयभीत

रहते हैं और उनके भय से समाज अपने-अपने कर्तव्य का सांगोपांग पालन करता रहता है।

तप का प्रधान अंग है एकाग्रता । निरन्तर, उत्कण्ठा पूर्वक एकाग्रता के साथ निश्चित समय पर जिस कार्य को किया जाता है उसमें अवश्य सफलता मिलती है । उत्कण्ठा से प्रेरणा मिलती है, और मन के विश्वास में दृढ़ता आती है। बिना दृढ़ता के दुनिया का कोई कार्य कभी भी सफल नहीं हुआ है । अनेकों में दृढ़ता की व्यक्ति की एकाग्रता के लिए अपेक्षा रहती है और जब नियमितता आ जाती है तो ये सब मिल कर तप का रूप धारण कर लेती है। यह तप आत्मा पर पड़े हुए मल को दूर करेगा और उसे चमका देगा ।

तप का एक मात्र कार्य आत्मा पर पड़े हुए मल को या आवरण को दूर करने मात्र का ही है। व्यास ने स्वाध्याय को परमात्मा का साक्षात्कार करने वाला इसीलिए बतलाया है क्योंकि जो आवरण के अन्धकार में चला गया है उसे प्रकट करने के लिए अन्धकार को दूर करने की आवश्यकता है ।

जीवन का उद्देश्य कुछ भी हो, उस उद्देश्य तक जाने के लिए भी स्वाध्याय की आवश्यकता होती है । स्वाध्याय जीवन के उद्देश्य तक पहुँचने की खामियों को भी दूर कर सकता है। जो स्वाध्याय नहीं करते, वे खामियों को दूर नहीं कर सकते इसलिए चाहे ब्राह्मण हो-चाहे शूद्र प्रत्येक व्यक्ति अपने लक्ष्य से गिर सकता है ।

स्वाध्याय को श्रम की सीमा कहा गया है । श्रम में ही पृथ्वी से लेकर अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग तक के समस्त कम प्रतिष्ठित हैं । बिना स्वाध्याय के सांगोपांग रूप से कर्म नहीं हो सकते और सांगोपांग कर्म हुए बिना सिद्धि नहीं मिल सकती । इसलिए सम्पूर्ण सिद्धियों का एक मात्र मूलमंत्र है स्वाध्याय, आत्मनिरीक्षण ।

आत्म निरीक्षण में अपनी शक्ति का निरीक्षण और अपने कर्म का निरीक्षण किया जाता है ! शक्ति के अनुसार कर्म करने में ही सफलता मिलती है । कौन सी शक्ति किस कर्म की सफलता में सहायक हो सकती है। यह ज्ञान हुए बिना भी सफलता नहीं मिलती । ज्ञान का साधन भी स्वाध्याय ही है। इसी कारण जो ज्ञान और प्रमाद से विस्मृत हो गया हो तब उसको प्राप्त करने के लिए भी स्वाध्याय की आवश्यकता है। अप्रमत्त होकर जिस कार्य को किया जाता है, सम्पूर्ण शक्ति जिस कार्य में लगी रहती है, उसकी सिद्धि में किंचित भी सन्देह नहीं करना चाहिए, इसीलिए एहिलौकिक और पारलौकिक दोनों स्थानों की सिद्धि के लिए, आत्म कल्याण के लिए निरन्तर स्वाध्याय की आवश्यकता है । निरन्तर स्वाध्याय न करने से मन तथा बुद्धि में एवं प्राणों में जड़ता स्थान बना लेती है, मनुष्य प्रमादी हो जाता है । प्रमाद मानव का सबसे बड़ा शत्रु है यह उसे बीच में ही रोक लेता है । सिद्धि तक पहुँचने ही नहीं देता । इसलिए आर्य ऋषियों ने कहा है-

स्वाध्यायान्माप्रमदः-स्वाध्याय में प्रमाद न करो और अहरहः

स्वाध्यामध्येतव्यः- रात दिन स्वाध्याय में लगे रहो।

वास्तविक शिक्षा स्वाध्याय द्वारा ही प्राप्त होती है

संसार में शिक्षा ही एक ऐसी शक्ति मानी गई है, जिसकी सहायता से मनुष्य पशु जैसी अवस्था से निकल कर विवेकशील प्राणी बन सकता है। यही कारण है कि वर्तमान समय में सार्वजनिक शिक्षा पर अत्यधिक जोर दिया जा रहा है और सर्वत्र स्कूलों और कालेजों की संख्या तेजी से बढ़ती जाती है । शिक्षा से मनुष्य का मानसिक संस्कार हो जाता है और उसकी बुद्धि चमक उठती है, पर यह तभी सम्भव है जब हम वास्तविक शिक्षा प्राप्त करने का प्रयत्न करें, दो चार वर्ष या अधिक समय तक किसी स्कूल में थोड़ी बहुत पुस्तकें पढ़ लेना और एक दो परीक्षाऐं पास कर लेना वास्तविक शिक्षा नहीं है, स्कूल में तो पढ़ने लिखने की विधि सिखला दी जाती हैं और अभ्यास करा दिया जाता है । इसके बाद जब हम स्वयं उस शिक्षा की सहायता से उत्तमोत्तम और उपयोगी ग्रंथों का मनन पूर्वक स्वाध्याय करते हैं तब वास्तविक ज्ञान हमारे अन्तर में प्रविष्ट हो जाता है और हम उसका उपयोग करके अथवा उस पर आचरण करके स्वयं लाभ उठाते हैं और समाज की भी भलाई कर सकने में समर्थ होते हैं ।

स्वाध्याय का अर्थ है आत्म-शिक्षण, जिसमें हम चिन्तन, मनन और अध्ययन का भी समावेश पाते हैं । स्वयं जब हम परिश्रम के द्वारा किसी वस्तु विशेष का समाधान करते हुए उत्तरोत्तर उन्नतोन्मुख होकर किसी नवीन वस्तु की खोज के निष्कर्ष पर पहुँचते हैं तब उसको हम स्वाध्याय द्वारा उपार्जित वस्तु कहते हैं । नवीनता का समारम्भ किसी स्वाध्यायी व्यक्ति द्वारा हुआ और उसकी अविरल तारतम्यता उन्हीं के द्वारा चल रही है । उत्तरोत्तर नवीनता का आविष्कार होने का अर्थ है उन्नति के सोपान

पर आरोहण। स्वाध्याय द्वारा प्राप्त ज्ञान वास्तव में ज्ञान होता है। जो ज्ञान हम बलपूर्वक किसी दूसरे से प्राप्त करते हैं वह टिकाऊ कदापि नहीं होता। वह पिंजरा बद्ध कीर की नाई समय पड़ने पर हमारे मस्तिष्क से फुद्का मार कर उड़ जाता है और पुन: आने का नाम नहीं लेता। संसार में जितने महापुरुष हुए हैं उनके जीवन में केवल यही विशेषता रही है कि वे अपने जीवन भर स्वाध्यायी रहे हैं। जैसे-जैसे उनमें स्वाध्याय की मात्रा बढ़ती गई है तैसे-तैसे वे संसार में चमकते तथा सफल होते गये हैं।

शिक्षा की पूर्णता स्वाध्याय द्वारा होती है। जिस शिक्षा पद्धति में जितनी ही अधिक ईश्वर प्रदत्त शक्तियों को बढ़ाने की क्षमता है वह उतनी ही सफल कही जाती है- कारण यदि उसके द्वारा हमारी उन शक्तियों का प्रस्फुरण होता है तो स्वाध्याय के द्वारा उन्हीं का तदनुरूप विकास और परिवर्तन भी होता है। यदि उसके द्वारा हमें किसी शब्द का प्रारम्भिक परिचय मिलता है तो स्वाध्याय द्वारा हम उस शब्द विशेष के अन्तराल तक पहुँचते हैं। दोनों में चोली दामन का साथ है। शिक्षा का अर्थ हमें यहाँ लिखने अथवा पढ़ने तक ही सीमित नहीं समझना चाहिए। माँ यदि बालक को 'ताई' और 'अब्बा' कहना सिखाती है तो उसे भी हम उसकी प्रारम्भिक शिक्षा ही कहेंगे। एक व्यक्ति जो कि लिखना अथवा पढ़ना नहीं जानता वह भी स्वाध्यायी हो सकता है और स्वाध्याय के द्वारा पढ़ने अथवा लिखने की कला उसे स्वयं आ जाती है। तात्पर्य यह है कि आदर्श शिक्षा के द्वारा हम स्वाध्यायी हो सकते हैं। दोनों एक दूसरे के द्वारा साध्य हैं। अब यहाँ पर यह प्रश्न आप पूछ सकते हैं कि शिक्षितों की संख्या तो पर्याप्त है, तो क्या उतने ही स्वाध्यायी भी हैं ? इसका उत्तर यही होगा कि यदि उन शिक्षितों की शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं व्यवसायिक आदि शक्तियों का विकास एवं प्रस्फुरण प्राप्त शिक्षा द्वारा हो चुका है तो निस्संदेह वे स्वाध्यायी होंगे। उपर्युक्त शक्तियों के विकास का आधार स्तम्भ शिक्षा विशेष की पद्धति में निहित रहता है। यदि हमारी शिक्षा पद्धति दूषित है तो स्वभावत: हमारी शक्तियों का ह्रास होगा। ऐसी बात नहीं कि कोई भी व्यक्ति उपर्युक्त शक्तियों के बिना संसार में आया हो। सभी में इन शक्तियों का समावेश रहता है। संस्कार और शिक्षा विशेष के द्वारा वे घटती या बढ़ती हैं। जिस तरह से उगते हुए पौधे को बढ़ाने तथा विकास के लिए पर्याप्त मात्रा में जल, रोशनी और हवा आदि न मिले तो वह तुरन्त ही पीला पड़ कर तथा मुरझा कर नष्ट हो जाता है, उसी भांति हमारी ईश्वर प्रदत्त इन शक्तियों का भी हाल है। यथेष्ट शिक्षा के अभाव में इनका विनष्ट हो जाना स्वाभाविक ही है। उस समय हम कहते हैं कि अमुक लड़का अपने शुरू जीवन से ही भोंदा और मन्द बुद्धि का है। उसमें किसी भी तरह के काम को करने की क्षमता तनिक भी नहीं है। वहाँ प्रकृति का दोष नहीं शिक्षा का संस्कार विशेष का दोष होता है। किसी वस्तु को देखने की शक्ति तो सभी को प्राप्त है किन्तु निरीक्षण की शक्ति उसी में रहती है जिसकी कि शक्ति शिक्षा और तदुपरान्त स्वाध्याय द्वारा विकसित हो चुकी हो। पेड़ से गिरते हुए फलों और पत्तों को आदि काल से लोग देखते आ रहे हैं किन्तु सर आइजक न्यूटन ही एक ऐसा व्यक्ति था कि जिसने अपनी निरीक्षण शक्ति के द्वारा इस बात को सिद्ध कर दिखाया कि पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है। अस्तु, लिखने-पढ़ने, चलने-फिरने, देखने-सुनने तथा स्थूल जगत् की व्यवहारिक बातों का ज्ञान तो प्राय: अधिकांश शिक्षित संज्ञक लोगों में होता ही है किन्तु क्या वे पूर्ण शिक्षित होते हैं ? स्वाध्याय हीन शिक्षा व्यर्थ और अनुपादेय होती है और स्वाध्यायशील न होता हुआ शिक्षित अशिक्षित ही है।

शिक्षा तथा संस्कार के अतिरिक्त स्वाध्यायी व्यक्तियों में कतिपय अलौकिक गुण भी होते हैं उनके विचारों में दृढ़ता का होना अत्यन्त आवश्यक होता है क्योंकि स्वाध्याय की साधना करते हुए न मालूम कितनी जगहों से उन्हें विचलित होना पड़ता है। कभी-कभी हानि भी उठानी पड़ती है तब कहीं जाकर उन्हें सफलता मिलती है। सच है सुकार्य सदा ही कष्ट साध्य है। एकलव्य जब गुरु द्रोणाचार्य जी के यहाँ शिक्षा के हेतु जाता है तो उसे गुरुजी महाराज किन शब्दों द्वारा दुत्कार देते हैं। यदि उसमें दृढ़ संकल्प न होता तो तत्काल ही निरुत्साहित होकर अपने घर लौट जाता। किन्तु नहीं, उसकी स्वाध्यायशीलता और भी अधिक जागृत हो उठती है। फलत: एक दिन वही एकलव्य अर्जुन से बढ़ कर धनुर्धर के रूप में गुरुजी के सामने आता है। अब आप अनुमान लगा सकते हैं कि स्वाध्याय में इतनी शक्ति है कि बिना शिक्षक अथवा रास्ता दिखाने वाले के भी आगे सफलता पूर्वक बढ़ सकता है।

स्वाध्यायी व्यक्तियों में एकाकीपन और लोककल्याण की भावना अधिक रहती है। यह बात स्वाभाविक ही है कि एकाकीपन में हम अपने मस्तिष्क का सन्तुलन अधिकाधिक कर पाते हैं। कवियों और कलाकारों के

जीवन चरित्र को पढ़ते समय हम उनके आरम्भिक जीवन के पन्ने को जब पलटते हैं तो पता चलता है कि वे एकाकी अवस्था में रहकर घंटों पहले गुनगुनाया करते थे । हाँ, एकाकीपन और प्रकृति से घनिष्ठ सम्बन्ध है । एकाकीपन को पसन्द करने वाला व्यक्ति प्रकृति प्रेमी होता है । प्रकृति का अध्ययन कितना मनोरंजक और ज्ञान वर्धक होता है। निरीक्षण शक्ति प्रधान वाला व्यक्ति सदा प्रकृति-प्रेमी ही रहा है। ज्ञान का अगाध समुद्र प्रकृति में वर्तमान है। स्वाध्यायी उसमें डुबकियाँ लगाते हैं और मोतियों की लड़ी निकालते चले जाते हैं- धतूरे में प्राण नाशक शक्ति वर्तमान है, पेड़ से गिर जाने पर पत्ते सीधे जमीन पर ही विश्राम लेते हैं, अवश्य पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है । आदि आदि ।

सदाचार और स्वाध्याय का घनिष्ठ सम्बन्ध है । सच्चरित्र व्यक्ति ही स्वाध्यायी होता है । दुश्चरित्रों में इतनी सामर्थ्य कहाँ कि वे किसी वस्तु विशेष पर अधिक काल तक मनन और अध्ययन कर सकें । उनकी नैतिक शक्ति नष्ट रहती है अतः वे उचित अनुचित तथा तथ्य युक्त और निस्सार वस्तुओं की सम्यक विवेचना ही नहीं कर सकते हैं । जब उनमें विवेचना करने की शक्ति ही वर्तमान नहीं है तो भला वे आगे क्या बढ़ सकते हैं । सदाचार से ही शारीरिक स्वास्थ्य और औद्योगिक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। बिना स्वास्थ्य के संसार में हम किसी भी प्रकार की साधना नहीं कर सकते हैं तथा औद्योगिक प्रवृत्ति में हम सदैव आगे बढ़ने से हिचकते रहेंगे ।

स्वाध्यायी पुरुषों से युक्त देश का ही भविष्य उज्ज्वल है और वही उन्नतिशील राष्ट्रों के समकक्ष बैठने का भी अधिकारी है । हमें स्वाध्यायी बनाने के लिए हमारी शिक्षापद्धति विशेष रूप से सहयोग प्रदान करती है । शिक्षा की पद्धति ऐसी होनी चाहिए कि हमारी ईश्वर प्रदत्त शक्तियों का विकास हो सके । उन शक्तियों का विकास होने पर हम में उपयुक्त गुण स्वभावतः आ जायेंगे । इस दृष्टि से आधुनिक शिक्षा पद्धति अत्यन्त दूषित है और हमें निकम्मा बनाने वाली है ।

सत्संग का मार्ग और उसके लाभ

सांसारिक मनुष्यों के लिये आत्मोद्धार के अनेक मार्ग बतलाये गये हैं, जैसे जप, तप, योग, तीर्थ, दान, परोपकार, यज्ञ आदि । ये सभी कार्य यदि उचित रीति से किये जायें तो मनुष्य को आत्मोन्नति की सीढ़ियों पर चढ़ाने वाले और परमात्मा के निकट पहुँचाने वाले हैं । पर इन सब धर्म कार्यों के लिये सत्संग का होना आवश्यक है । बिना सत्संग के मनुष्य की रुचि इन कार्यों की तरफ चली जाय ऐसा बहुत ही कम देखने में आता है । अधिकांश मनुष्य किसी न किसी निकटवर्ती या दूरदर्शी सन्त पुरुष के उपदेश अथवा प्रेरणा से ही आत्मोन्नति के मार्ग की तरफ आकर्षित होते हैं इसलिए 'योगवाशिष्ठ' में कहा गया है-

यः स्नातः शीत शितिया साधु संगति गंगया ।
किं तस्य दानैः कि तपोभिः किमध्वरैः योगवा ॥

अर्थात्- जो व्यक्ति साधु संगति रूपी शीतल निर्मल गंगा में स्नान करता है उसे फिर किसी तीर्थ, तप, दान और यज्ञ, योग आदि की क्या आवश्यकता है।

मनुष्य का सर्वप्रथम कर्त्तव्य संसार में यही है कि स्वयं को और अपने प्रिय जनों को सत्संगति की तरफ प्रेरित करें। आप अपनी संतान को सुखी जीवन व्यतीत करने के लिए, विद्या, बुद्धि, बल आदि प्राप्त करने का उपदेश देते हो, उसके लिए हर तरह के साधन जुटाते हो, जो कुछ सम्भव होता है प्रत्येक प्रयत्न करते हो । पर इन बातों के साथ तुमने उनको सत्संग की प्रेरणा नहीं दी, उनको नीच वृत्ति वाले लोगों का संग करने दिया तो अन्य समस्त सफलताऐं व्यर्थ हो जायेंगी । सत्संग ही वह प्रेरक शक्ति है जो अन्य प्रकार की शक्तियों को उपयोगी और हितकारी मार्ग पर चलाती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण आजकल सर्वत्र दिखलाई पड़ रहा है। सब तरह से समझदार, चतुर और विद्या सम्पन्न व्यक्ति खोटे कामों में संलग्न है । चोर और डाकुओं में कालेज के उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति भी सम्मिलित पाये जाते हैं । अनेक उच्च पदवी प्राप्त और सार्वजनिक जीवन में प्रसिद्धि प्राप्त व्यक्ति डकैती, लूट और अपहरण जैसे महाजघन्य कार्यों में भाग लेने वाले सिद्ध हो चुके हैं । विद्या और बुद्धि का ऐसा दुरुपयोग सत्संग के अभाव का ही परिणाम है । यदि ऐसे व्यक्तियों को आरम्भ से ही यह उपदेश मिलता कि सांसारिक धन, वैभव और सफलता तभी तक कल्याणकारी हैं जब तक वे सुमार्ग पर अग्रसर हों, उनका सदुपयोग किया जाय तो वे ऐसे मार्ग को अंगीकार न करते। अगर इन शक्तियों का दुरुपयोग किया जायेगा तो निस्सन्देह वे हानिकारक और पतनकारी सिद्ध होगीं, इसलिये माता-पिता और संरक्षकों का कर्तव्य है कि वे आरम्भ से ही बालकों की शिक्षा में पढ़ना-लिखना सीखने के साथ-साथ सदगुणों की वृद्धि पर भी अवश्य ध्यान दें । वर्तमान समय में स्कूलों और कालेजों के लड़कों में उच्छृंखलता और नैतिक पतन के लक्षण दिखलाई पड़ते हैं, उसका मुख्य

कारण यही है कि आजकल लड़कों को केवल किताबी शिक्षा दिला देना ही माता-पिता ने अपना कर्तव्य समझ लिया है। वे इस बात का ध्यान नहीं करते कि आधुनिक शिक्षा-संस्थाओं का वातावरण कैसा है तथा वहाँ के अनेक विद्यार्थियों और मास्टरों तक में चरित्र हीनता का दोष किस दर्जे तक बढ़ा हुआ है। हमारा तो यह असंदिग्ध मत है कि बच्चों को कम से कम आरम्भिक वर्षों में तो ऐसी ही शिक्षा संस्थाओं में भेजा जाय जिनमें उनको सत्संगति प्राप्त हो सके और मानव जीवन के सद्गुणों की प्रेरणा मिल सके। ऐसा करने से अगर किताबी पढ़ाई-लिखाई और परीक्षाओं में कुछ विलम्ब भी हो जाय तो हर्ज की बात नहीं।

इसी प्रकार नव-युवकों और वयस्कों का भी कर्तव्य है कि वे स्वयं अपने इर्दगिर्द के वातावरण पर दृष्टि रखें और इस विषय में सदैव सतर्क रहें कि उनकी संगति हीन-चरित्र के व्यक्तियों से न हो। अगर वे इस विषय में सावधानी से काम लेंगे और श्रेष्ठ चरित्र के व्यक्तियों में से अपने साथी चुनेंगे तो वे सब प्रकार से उन्नति की ओर अग्रसर हो सकेंगे। नियमित इष्ट-मित्रों के अतिरिक्त उनको कभी-कभी किसी उच्च कोटि के ज्ञानी और महात्मा पुरुष के संसर्ग में आना भी आवश्यक है। हमारे कहने का यह आशय नहीं कि वे जंगलों और पहाड़ों में ही साधु-महात्माओं या सिद्ध पुरुषों को ढूंढ़ते फिरें। वरन् वे अपने नगर के ही किसी सच्चरित्र विद्वान उपदेशक या संस्था से सम्पर्क रखें और समय-समय पर उनके द्वारा सद्विचार ग्रहण करते रहें तो उनका मानसिक उत्थान होता रहेगा और वे दुर्गुणों से बचते रहेंगे। जहाँ इनमें से कोई भी साधन नहीं वहाँ नियमित रूप से सद् ग्रन्थों, आत्म-निर्माण करने वाली पुस्तकों का स्वाध्याय करना चाहिए। इससे भी मन बुरे विचारों से बचता है और सद्भावनाऐं उत्पन्न होती रहती हैं।

सत्संग से विवेक जागृत होता है और मनुष्य भले-बुरे का निर्णय कर सकने में समर्थ होता है। संसार में नित्य अनेक घटनाऐं होती रहती हैं, जिनमें से किसी का भला और बुरा प्रभाव हमारे ऊपर पड़ता है। यदि इन घटनाओं की वास्तविकता को नहीं समझ सकते, उनके भले और बुरे प्रभावों से अन्तर्मन को पृथक रखने की सामर्थ्य नहीं रखते तो अवश्य ही हमको क्षणस्थायी सुख और दु:ख की तरंगों में बहना पड़ता है। इस प्रकार सामयिक परिस्थितियों के हाथों का खिलौना बनना मनुष्य के लिये न तो शोभा देता है और न हितकर सिद्ध हो सकता है। हमारा मनुष्यत्व इसी में है कि हम सुख-दुख दोनों में अपना मानसिक सन्तुलन स्थिर रखें और आसक्ति के भाव को जहाँ तक सम्भव हो कम कर दें। इस प्रकार की मनोवृत्ति सत्संग और स्वाध्याय द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। गोसाई जी ने सत्य ही कहा है-

मति कीरति गति भूत भलाई, जब जेहिं जतन जहाँ जो पाई।
सो जानव सतसंग प्रभाऊ, लोकहु वेद न आन उपाऊ ॥

भारत की प्राचीन कथाओं से भी विदित होता है कि यहाँ के बड़े-बड़े ऋषि महर्षि जन्म से बहुत ही छोटे कुलों के थे, पर सत्संगति के प्रभाव से वे जगत पूज्य बन गये और अभी तक उनका नाम बड़ी श्रद्धा भक्ति से लिया जाता है। बाल्मिकी जी बहेलिया, नारद जी दासी पुत्र, अगस्त जी घड़े से उत्पन्न, वशिष्ठ जी वेश्या पुत्र माने गये हैं, पर आत्म-परायण संत पुरुषों की संगति से उन्होंने अकथनीय उन्नति की ओर बहुत ऊँची पदवी पर जा पहुँचे। इन उदाहरणों से स्पष्ट जान पड़ता है कि जो कोई अपना जीवन सार्थक करना चाहता है, इस नर जन्म का सदुपयोग करने की कामना रखता है उसे त्यागी, विरक्त गुरुओं की संगति अवश्य करनी चाहिए।

सत्संग और स्वाध्याय इस कंटकाकीर्ण संसार को पार करने के लिए परम उपयोगी साधन हैं। वर्तमान समय में संसार में स्वार्थ और अपहरण की जो भयंकर आँधी उठी हुई है उसमें वही व्यक्ति निश्चल रह सकता है जो स्वार्थी और धूर्त प्रकृति के लोगों से दूर रह कर सज्जन और सत्य-प्रिय व्यक्तियों से सम्बन्ध रखता है। ऐसे श्रेष्ठ प्रकृति के व्यक्ति जहाँ तक संभव होगा आपको हित की सम्मति ही देंगे और बुरे मार्ग पर चलता देखेंगे तो पहले से सावधान कर देंगे। स्वार्थी व्यक्ति तो ऐसे अवसर पर ऊपर से दो धक्के और देते हैं, जिससे उनका कुछ लाभ हो सके। इसलिए आत्म-कल्याण के अभिलाषी मनुष्यों को इस सम्बन्ध में सदैव सावधान रहकर श्रेष्ठ जनों की संगति को ही ग्रहण करना चाहिए।

२३. आत्मज्ञान और आत्म-कल्याण

गायत्री का तेईसवाँ अक्षर "द" हमको आत्मज्ञान और आत्म-कल्याण का मार्ग दिखलाता है।

दर्शन आत्मनः कृत्वा जानीयादात्म गौरवम्।
ज्ञात्वा तु तत्तदात्मानं पूर्णोन्नति पथं नयेत् ॥

अर्थात्-"आत्मा को देखे, आत्मा को जाने, उसके गौरव को पहिचाने, और आत्मोन्नति के मार्ग पर चले।"

मनुष्य महान पिता का सबसे प्रिय पुत्र है। सृष्टि का मुकुटमणि होने के कारण उसका गौरव और उत्तरदायित्व भी महान है। यह महत्ता उसके दुर्बल शरीर के कारण नहीं वरन् आत्मिक विशेषताओं के कारण हैं। जिसकी आत्मा जितनी बलवान है वह उतना ही बड़ा महापुरुष है।

आत्म-गौरव की रक्षा करना मनुष्य का परम कर्तव्य है। जिससे आत्म-गौरव घटता हो, आत्मग्लानि होती हो, आत्म हनन करना पड़ता हो, ऐसे धन, सुख, भोग और पद को लेने की अपेक्षा भूखा नंगा रहना कहीं अच्छा है। जिसके पास आत्मधन है उसी को सच्चा धनी समझना चाहिए। जिसका आत्म-गौरव सुरक्षित हैं वह इन्द्र के समान बड़ा पदवी धारी है, भले ही चाँदी और ताँबे के टुकड़े उसके पास कम मात्रा में ही क्यों न हों।

अपने को शरीर समझने से मनुष्य माया ग्रस्त होता है और शरीर से सम्बन्ध रखने वाली सांसारिक उलझनों में ही उलझ कर मनुष्य जीवन जैसे अमूल्य सौभाग्य को गँवा देता है। जब यह अनुभूति होने लगती है कि मैं आत्मा हूँ, शरीर तो मेरा एक अल्पस्थाई वस्त्र मात्र है, वर्तमान जीवन तो एक छोटी कड़ी मात्र है, तो वह अपना स्वार्थ उन बातों में देखता है, जिनसे आत्महित साधन हो सकता है।

आत्म निर्माण का मार्ग

मनुष्य का अन्तःकरण कुछ विश्वासों से आच्छादित रहता है। इन विश्वासों के आधार पर ही जीवन यात्रा संचालित होती रहती है। शरीर की क्रियायें मन बुद्धि की इच्छानुसार होती हैं। इस प्रकार शरीर और मन दोनों की गतिविधि उन विश्वास बीजों पर अवलम्बित होती है।

कुछ विश्वास बीज तो प्राणी पूर्व जन्मों से संस्कार रूप में साथ लाता है, पर अधिकांश का निर्माण इसी जीवन में होता है। माता पिता के, कुटुम्बियों के, पड़ौसियों के विचार व्यवहार का बहुत-सा भाग ग्रहण करता है। सामने घटित होने वाली घटनाओं का प्रभाव, वातावरण और परिस्थितियों का प्रभाव बच्चे पर अनिवार्य रूप से पड़ता है। बड़े होने पर पुस्तकों से, मित्रों से, प्रवचनों से तथा अपनी तर्क शक्ति से वह कुछ निष्कर्ष निकालता है। इन निष्कर्षों के विरोध में कोई जबरदस्त तर्क या कारण सामने न आवे तो वे विश्वास बीज की तरह मनोभूमि में गढ़ जाते हैं और वहाँ अपनी जड़ें गहराई तक जमा लेते हैं। इन बीजों के जो पौधे उगते हैं उन्हें हम विचार या कार्य के रूप में प्रकट होता हुआ देखते हैं।

मनुष्य अहंकार प्रधान प्राणी है। उसे 'अहम्' सबसे अधिक प्रिय है। जिस वस्तु के साथ वह अहम् को जोड़ लेता है वह वस्तुऐं भी उसे प्रिय लगने लगती हैं। स्त्री, पुत्र, धन, वैभव, यश अपने हों तो प्रिय लगते हैं, पर यदि वे ही दूसरे के हों तो उनमें कुछ रुचि नहीं होती। कभी-कभी तो उलटे ईर्ष्या, जलन, डाह तक होता है, अपने दोष सुनने का धैर्य बड़े-बड़े धैर्यवानों को नहीं होता और अपनी प्रशंसा सुनने के लिए बड़े-बड़े त्यागी अधीर हो जाते हैं। यही अहम् भाव अपने विश्वास बीजों के साथ संयुक्त हो जाता है तो वह अपने धन या स्त्री, पुत्रों के समान प्रिय लगने लगते हैं। जैसे अपनी वस्तुओं की निन्दा या क्षति होते देख कर क्रोध उमड़ता है और निन्दा या क्षति करने वाले से संघर्ष करने को उमड़ पड़ते हैं, वैसे ही अपने विश्वास बीजों के प्रतिकूल किसी विचार या कार्य को सामने आया देख कर मनुष्य अपनी सहिष्णुता खो बैठता है और विरोधी के प्रति आग बबूला हो जाता है।

यह विश्वास बीज दो काम करते हैं (१) मन और शरीर को एक नियत दिशा में कार्य करने को प्रेरित करते हैं। (२) अपने से प्रतिकूल विश्वास बीज वालों के प्रति घृणा, विरोध या संघर्ष उत्पन्न करते हैं। इसलिये इनका मानव जीवन में बड़ा महत्व है। इनके थोड़े हेर फेर के कारण जीवन का रूप स्वर्ग से नरक में और नरक से स्वर्ग में परिणत हो जाता है।

आज झूठ बोलने, मनोभावों को छिपाने और पेट में कुछ रख कर मुँह से कुछ कहने की प्रथा खूब प्रचलित है। कई व्यक्ति मुख से धर्म चर्चा करते हैं पर उनके पेट में पाप और स्वार्थ बरतता है। यह पेट में बरतने वाली स्थिति ही मुख्य है। उसी के अनुसार जीवन की गति संचालित होती है। एक मनुष्य के मन में विश्वास जमा होता है कि "पैसे की अधिकता ही जीवन की सफलता है।" वह धन जमा करने के लिए दिन रात जुटा रहता है। जिसके हृदय में यह धारणा है कि 'इन्द्रिय भोगों का सुख ही प्रधान है' वह भोगों के लिए बाप दादों की जायदाद फूँक देता है। जिसका विश्वास है "कि ईश्वर प्राप्ति सर्वोत्तम लाभ है" वह और भोगों को तिलाञ्जलि देकर सन्त का-सा जीवन बनाता है। जिसे देशभक्ति की उत्कृष्टता पर विश्वास है वह अपने प्राणों की भी बलि देश के लिए देते हुए प्रसन्नता अनुभव करता है। जिसके हृदय में जो विश्वास जमा बैठा है वह उसी के अनुसार सोचता

है, कल्पना करता है और इस कार्य के लिए जो कठिनाइयाँ आ पड़ें उन्हें भी सहन करता है। दिखावटी बातों से, बकवास से, बाह्य विचारों से नहीं वरन् भीतरी विश्वास बीजों से जीवित दिशा का निर्माण होता है।

सामाजिक रीति-रिवाज, जाति-पाति, छूआ-छात, विवाह-शादी, खान-पान, मजहब, सम्प्रदाय, ईश्वर, धर्म, परलोक, भूत, प्रेत, देवी, देवता, तीर्थ, शास्त्र, राजनीति, चिकित्सा, आचार, विचार, मनोरंजन एवं अपनी तथा दूसरों की आत्म स्थिति के सम्बन्ध में कुछ विश्वास जमे होते हैं। उनके आधार पर ही शरीर और मस्तिष्क के कलपुर्जे काम करते हैं, एक मनुष्य की इच्छा, आकांक्षायें, विचारधारा एवं कार्य प्रणाली दूसरे से भिन्न होती हैं। इसका कारण उनके विश्वास बीजों की भिन्नता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। शास्त्रों में आत्मा को निर्लिप्त, शुद्ध, पवित्र कहा है पर यह विश्वास बीज ही उसे एक दूसरे से प्रथक, संकीर्ण, एवं भला बुरा बना देते हैं।

साम्प्रदायिक, जातिगत, दलगत, प्रान्तीय, रीति रिवाजों एवं विचार धाराओं के सम्पर्क के कारण मनुष्य उन्हें ग्रहण कर लेता है। आमतौर से मनुष्य का स्वभाव नकल करने का है। तर्क और विवेक का वह कभी-कभी और कहीं-कहीं ही प्रयोग करता है। कारण यह है कि तर्क करने और दूरदर्शिता पूर्ण बारीकी से विचार करने में मस्तिष्क को विशेष भारी बोझ उठाना पड़ता है। जैसे भारी शारीरिक श्रम करने से सब लोग जी चुराते हैं, वैसे ही तीक्ष्ण बेधक दृष्टि से सत्य के तथ्य तक पहुँचने का भारी मानसिक श्रम करने का लोगों को साहस नहीं होता। बहुतों में तो इस प्रकार की योग्यता भी नहीं होती, जिनमें होती है वे अपने परम प्रिय विषय को छोड़ कर अन्य विषयों में गम्भीर दृष्टि डालने का प्रयत्न नहीं करते। इस प्रकार से आमतौर से देखा-देखी नकल करने की परम्परा चल पड़ती है। यही परम्पराऐं कालान्तर में विश्वास बीज बन जाती हैं।

अपनी बात को ही प्रधान मानने और ठीक मानने का अर्थ और सबकी बातें झूठा मानना है। इस प्रकार का अहंकार अज्ञान का द्योतक है इस असहिष्णुता से घृणा और विरोध बढ़ता है, सत्य की प्राप्ति नहीं होती। सत्य की प्राप्ति होना तभी सम्भव है, जब हम अपनी भूलों, त्रुटियों और कमियों को निष्पक्ष भाव से देखें। अपने विश्वास बीजों का हमें निरीक्षण और परीक्षण करना चाहिए। जो हमारे शक्ति केन्द्र हैं, जिनकी प्रेरणा से हमारी जीवन दिशा संचालित होती है, उन विश्वास बीजों को हमें निष्पक्ष भाव से, कठोर समालोचक की तरह भली प्रकार अपनी अन्त-भूमि में निरीक्षण करना चाहिए। जैसे चतुर किसान अपने खेत में उगे हुए झाड़-झंकाड़ों को अपना नहीं समझता, न उनसे अपने पन का मोह करता है वरन् उन्हें निष्ठुरता पूर्वक उखाड़कर फेंक देता है, उसी प्रकार हमें अपने संस्कारों को उखाड़-उखाड़ कर फेंक देना चाहिए। अब तक हम यह मानते रहे हैं, इसे बदलने में हमारी हेटी होगी, ऐसी झिझक व्यर्थ है। आत्म निर्माण के लिए सत्य की प्राप्ति के लिए, हमें अपना पुनर्निर्माण करना होगा। जैसे सिर के बाल घोटमघोट कराके ब्रह्मचारी गुरुकुल में प्रवेश करता है वैसे ही अपनी समस्त पूर्व मान्यताओं को हटाकर नये सिरे से उचित, उपयोगी एवं सच्ची मान्यताओं को हृदय भूमि में प्रतिष्ठित करना चाहिए। तभी इस आत्म निर्माण के महा मन्दिर में पदार्पण कर सकते हैं। पक्षपाती और भ्रान्त धाराओं के दुराग्रही के लिए सत्य का दर्शन असंभव ही है।

आत्मोन्नति के लिए आवश्यक गुण

यदि आप जल्दी आध्यात्मिक उन्नति चाहते हैं तो इसके लिए सजगता, होशियारी रखना बहुत जरूरी है। आध्यात्मिक मार्ग में थोड़ी सी सफलता, थोड़ी सी मन की गम्भीरता, एकाग्रता, सिद्धियों के थोड़े से दर्शन, थोड़े से अन्तर्यामी ज्ञान की शक्ति से ही कभी सन्तुष्ट मत रहो, इससे ज्यादा ऊँची चढ़ाइयों पर चलना अभी बाकी है।

अपने जीवन को सेवामय बना दो, सेवा के लिये अपने हृदय में चाव तथा उत्साह भर लो। दूसरों के लिए प्रसाद बन कर रहो यदि ऐसा करना चाहते हो तो आपको अपने मन में निर्मल बनाना होगा। अपने आचरण को दिव्य तथा आदर्श बनाना होगा। सहानुभूति, प्रेम, उदारता सहनशीलता और नम्रता बढ़ानी होगी। यदि दूसरों के विचार आपके विचारों से भिन्न हों तो उनसे लड़ाई झगड़ा न करो। अनेक प्रकार के मन होते हैं। विचारने की शैली अनेक प्रकार की हुआ करती है। विचारने के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हुआ करते हैं। अतएव सभी दृष्टिकोण निर्देश हो सकते हैं। लोगों के मत के अनुकूल बनो। उनके मत को भी ध्यान तथा सहानुभूति पूर्वक देखो और उनका आदर करो। अपने अहंकार चक्र के क्षुद्र केन्द्र से बाहर निकलो और अपनी दृष्टि को विस्तृत करो। अपना मत सर्वग्राही और उदार बना कर सबके मत के लिए स्थान रखो। तभी आपका जीवन विस्तृत और हृदय उदार होगा आपको धीरे-धीरे मधुर और

नम्र हो कर बात चीत करनी चाहिए। मितभाषी बनो। अवांछनीय विचारों और सम्वेदनाओं को निकाल दो। अभिमान या चिड़चिड़ेपन को लेशमात्र भी बाकी नहीं रहने दो। अपने आपको बिल्कुल भुला दो। अपने व्यक्तित्व का एक भी अंश या भाव न रहने पावे। सेवा कार्य के लिये पूर्ण आत्म समर्पण की आवश्यकता है। यदि आप में उपरोक्त सद्गुण मौजूद हैं तो आप संसार के लिए पथ प्रदर्शक और अमूल्य प्रसाद रूप हो। आप एक अलौकिक सुगन्धित पुष्प हो जिसकी सुगंध देश भर में व्याप्त हो जायगी, यदि आपने ऐसा कर लिया तो समझ लो आपने बुद्धत्व की उच्चतम अवस्था को प्राप्त कर लिया।

नम्र, दयालु, उपकारी और सहायक बनो। यही नहीं कि कभी-कभी यथावकाश इन गुणों का उपयोग किया जाये बल्कि सर्वकाल में आपके सारे जीवन में इन्हीं गुणों का अभ्यास होना चाहिए। एक भी शब्द ऐसा मत कहो जिससे दूसरों को दुःख पहुँचे। बोलने से पहले भली प्रकार विचार करो और देख लो कि जो कुछ आप कहने लगे हो वह दूसरों के चित्त को दुःखी तो नहीं करेगा, क्या वह बुद्धि संगत, मधुर, सत्य तथा प्रिय तो है। पहले से ही ध्यान पूर्वक समझ लो कि आपके विचार शब्दों और कार्यों का क्या प्रभाव होगा। प्रारम्भ में आप भले ही कई बार असफल हो सकते हो परन्तु यदि आप अभ्यास करते रहे तो अन्त में आप अवश्य सफल हो जाओगे।

आपको कोई काम निरुत्साह से लापरवाही से या वे मन से नहीं करना चाहिए। यदि मन की ऐसी वृत्ति रखोगे तो जल्दी उन्नति नहीं कर सकते। सम्पूर्ण चित्त, मन, बुद्धि, आत्मा उस काम में लगा होना चाहिए। तभी आप उसे योग या ईश्वरपन कह सकते हो। कुछ मनुष्य हाथों से तो काम करते हैं और उनका मन कलकत्ते के बाजार में होता है, बुद्धि दफ्तर में होती है और आत्मा स्त्री या पुत्र में संलग्न रहता है। यह बुरी आदत है। आपको कोई भी काम हो उसे योग्यता से सन्तोषप्रद ढंग से करना चाहिए आपका आदर्श यह होना चाहिए कि एक समय में एक ही काम अच्छे ढंग से किया जाय। यदि आपके गुरु या मित्र आपसे तौलिया धोने को कहें तो आपके बिना बताये हुए ही उनके और कपड़ों को भी धो डालना चाहिए।

लगातार असफल होने से आपको साहस नहीं छोड़ना चाहिए। असफलता के द्वारा आपको अनुभव मिलता है। आपको वे कारण मालूम होंगे जिनसे असफलता हुई है और भविष्य में उनसे बचने के लिए सचेत रहोगे। आपको बड़ी-बड़ी होशियारी से उन कारणों की रक्षा करनी होगी। इन्हीं असफलताओं की कमजोरी में से आपको शक्ति मिलेगी। असफलता होते हुए भी आपको अपने सिद्धांत, लक्ष्य, निश्चय और साधन का दृढ़ मति होकर पालन और अनुसरण करना होगा। आप कहिये "कुछ भी हो मैं अवश्य पूरी सफलता प्राप्त करूँगा, मैं इसी जीवन में नहीं इसी क्षण आत्म साक्षात्कार करूँगा। कोई असफलता मेरे मार्ग में रुकावट नहीं डाल सकती।" प्रयत्न और कोशिश आपकी ओर से होनी चाहिए। भूखे मनुष्य को आप ही खाना पड़ेगा। प्यासे को पानी अपने आप ही पीना पड़ेगा। आध्यात्मिक सीढ़ी पर आपको हर एक कदम अपने आप ही रखना होगा।

आत्मज्ञानी को सुशील, मनोहर, मिलनसार प्रकृति का होना होगा। उसको पूर्ण रूप से अनुकूलता, क्षमाशीलता, सहानुभूति करने वाला, विश्व प्रेम दया के गुणों से युक्त रहना होगा। उसको दूसरों की चाल तथा आदतों के अनुकूल ही अपने को बनाना होगा। उसको अपने हृदय को ऐसा बनाना होगा कि सबों को अपने गले लगा सकें। उन्हें अपने मन को शान्त तथा समतुल्य रखना होगा। दूसरों की सुखी देखकर उनको प्रसन्न होना होगा। अपनी सब इन्द्रियों को अपने वश में करना होगा। उन्हें अनादर अपकीर्ति, निन्दा, कलंक, लज्जित होना, कठोर वचन सुनना, शीत, उष्ण तथा रोगों के कष्टों को सहना होगा। उन्हें सहनशील होना होगा। उनको आपमें, ईश्वर में, शास्त्रों में अपने गुरु के वचन में पूरा विश्वास रखना होगा।

जो मनुष्य संसार की सेवा करता है वह अपनी ही सेवा करता है। जो दूसरों की मदद करता है वास्तव में वह अपनी मदद करता है। यह सदा ध्यान में रखने योग्य बात है कि जब आप दूसरे व्यक्ति की सेवा करते हैं, जब आप अपने देश की सेवा करते हैं, तब आप यह समझकर कि ईश्वर ने आपको सेवा द्वारा अपने को उन्नत तथा सुधारने का दुर्लभ अवसर दिया है, उस मनुष्य के प्रति कृतज्ञ हों जिसने आपको सेवा करने का अवसर दिया हो।

निष्काम सेवा करने से आप अपने हृदय को पवित्र बना लेते हैं। अहंभाव, घृणा, ईर्ष्या, श्रेष्ठता का भाव और इसी प्रकार के और सब आसुरी संपत्ति के गुण नष्ट हो जाते हैं। नम्रता, शुद्ध प्रेम, सहानुभूति, क्षमा, दया आदि की वृद्धि होती है। भेदभाव मिट जाते हैं। स्वार्थपरता निर्मूल हो जाती है। आपका जीवन विस्तृत तथा उदार हो जायगा।

आप एकता का अनुभव करने लगेंगे । आप अत्यधिक आनन्द का अनुभव करने लगेंगे । अन्त में आपको आत्म ज्ञान प्राप्त हो जायगा । आप सबमें "एक" और "एक" में ही सबका अनुभव करने लगेंगे । संसार कुछ भी नहीं है केवल ईश्वर की ही विभूति है । लोक सेवा ही ईश्वर की सेवा है । सेवा को ही पूजा कहते हैं ।

जब दूसरों की भलाई करने का भाव मनुष्य का एक अंग ही बन जाता है, तब रंच मात्र भी किसी प्रकार की कामना नहीं रह जाया करती है। उनको दूसरों की सेवा तथा भलाई करने से ही अत्यन्त आनन्द का अनुभव हुआ करता है । दृढ़ निष्काम सेवा करने से एक विचित्र प्रकार की प्रसन्नता तथा आनन्द हुआ करता है। उनको निष्काम तथा निस्वार्थ कर्म करने से आन्तरिक आध्यात्मिक शक्ति और बल होता है ।

आध्यात्मिक मार्ग में सफलता कैसे प्राप्त हो सकती है ?

मानव जीवन का सदुपयोग दो प्रकार से किया जा सकता है ।

(१) आत्म निर्माण द्वारा (२) राष्ट्र निर्माण द्वारा। इसमें प्रथम साधन अर्थात् आत्म निर्माण पर विचार करें तो विदित होता है कि आत्म निर्माण निम्न साधनों से सम्भव है :-

(१) शरीर रक्षा से

(२) भावनाओं पर विजय प्राप्त करने से

(३) बुद्धि विकास से

(४) आत्म-ज्ञान से

आत्म निर्माण का प्रथम साधन मानव का शरीर है। शरीर वह यन्त्र है जिसकी सहायता से मानव संसार में कर्म पथ पर अग्रसर होता है, नाना कर्तव्यों का पालन करता है, तथा संसार, समाज, देश और विश्व की प्रगति समझता है। संसार कैसा है? उसमें कितनी प्रगति हो रही है? किस दिशा में हो रही है? कितनी अच्छाई या बुराई है, यह मानव के शरीर पर अवलम्बित है । जिस प्रकार सावन के अन्धे को सर्वत्र हरा ही हरा दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार रोगी शरीर वाले को सम्पूर्ण संसार रोग से आक्रान्त, डूबता हुआ, नष्ट होकर काल-कवलित होता हुआ प्रतीत होता है । अस्वास्थ्यकर स्थानों, निन्द्य पेशा करते हुए व्यक्तियों को संसार में भोग विलास, श्रृंगार उत्तेजक पदार्थ इत्यादि के अतिरिक्त कुछ दिखाई नहीं देता । जिसने अपने शरीर को मद्य, तम्बाकू, चरस, अफीम इत्यादि उत्तेजक पदार्थों पर पाला है, वह व्यक्ति पशुत्व की श्रेणी में पड़ा-पड़ा नारकीय कीट पतंगों का जीवन व्यतीत करता है । अस्वस्थ रोगी मनुष्य के विचार भी अस्वस्थ्यकर, अनिष्ट ही होते हैं । वह संसार को अहंकार की संकीर्णता में बंधा हुआ देखता है । रोगी शरीर तो अपना क्या भला कर सकता है, तथा दूसरों का क्या कल्याण कर सकता है । उसके विचार वासी, योजनायें रोगी, कल्पनायें दूषित, वासनायें प्रदीप्त, इच्छायें अनिष्टकर ही रहेंगी ।

आत्म निर्माण के इच्छुकों ! निरोग और स्वस्थ शरीर बनाओ जिससे तुम स्वयं अनिष्टकर चिन्तन से बच सको, तथा अहितकर कल्पनाओं से बच कर अपना जीवन दिव्य प्रबंध से सुव्यवस्थित कर सको । तुम्हें वही ग्रहण करना चाहिए जो शुभ हो । स्वास्थ्य पवित्र भोजन, सात्विक वस्तुओं के भोजन पर निर्भर है । तुम जो भोजन करते हो, उसी के अनुसार तुम्हारी भावनाओं का निर्माण होता है । सात्विक वस्तुओं-गेहूँ, चावल, फल, तरकारियाँ, दूध, मेवे इत्यादि पर बना हुआ स्वस्थ मनुष्य आत्म निर्माण सरलता से कर सकता है । उसकी भावनायें तामसी वस्तुओं की ओर आकृष्ट न होंगी । वह दूसरों के प्रति कभी घृणा द्वेष, ईर्ष्या, क्रोध की भावनायें नहीं ले जायगा । इसके विपरीत मांस, मादक द्रव्य, तामसी उत्तेजक पदार्थों, मद्य इत्यादि के बल पर स्वस्थ शरीर अन्दर से खोखला रहेगा। वह उस रेत की दीवार की भाँति है जो जरा से धक्के से धराशायी हो सकता है । नींद परिश्रम, श्वास-प्रश्वास के व्यायाम, दूध, छाछ, फलों के रस ये सभी तत्व शरीर की रक्षा के लिये अमूल्य है । उपवास द्वारा रोग से मुक्ति तथा अन्तरंग शुद्धि करते रहना अनिवार्य है ।

आत्म निर्माण की दूसरी साधना है-भावनाओं पर विजय । गंदी वासनाऐं दग्ध की जायें तथा दैवी सम्पदाओं का विकास किया जाय तो उत्तरोत्तर आत्म विकास हो सकता है । कुत्सित भावनाओं में क्रोध, घृणा, द्वेष, लोभ और अभिमान, निर्दयता, निराशा अनिष्ट भाव प्रमुख हैं, धीरे-धीरे इनका मूलोच्छेदन कर देना चाहिए । इनसे मुक्ति पाने का एक यह भी उपाय है कि इनके विपरीत गुणों, धैर्य, उत्साह, प्रेम, उदारता, दानशीलता, उपकार, नम्रता, न्याय, सत्य वचन, दिव्य भावों का विकास किया जाय । ज्यों-ज्यों दैवी गुण विकसित होंगे दुर्गुण स्वयं दग्ध होते जायेंगे। दुर्गुणों से मुक्ति पाने का यही एक मार्ग है । आप प्रेम का द्वार खोल दीजिये, प्राणि मात्र को अपना समझिये, समस्त कीट पतंग, पशु-पक्षियों को अपना समझा कीजिये । संसार से प्रेम कीजिये । आपके शत्रु स्वयं दब जायेंगे, मित्रता की

अभिवृद्धि होगी । इसी प्रकार धैर्य, उदारता, उपकार इत्यादि गुणों का विकास प्रारम्भ कीजिये । इन गुणों की ज्योति से आपके शरीर में कोई कुत्सित भावना शेष न रह जायगी ।

अनिष्ट भाव से स्वयं दूसरे की ही हानि नहीं होती है। उसकी हानिकारक तरंगें विश्व में व्याप्त होकर वातावरण को दूषित करती हैं जिससे महा युद्ध होते हैं जिनमें असंख्य व्यक्तियों का संहार होता है ।

आत्म निर्माण का तृतीय साधन है- 'बुद्धि विकास'। इससे सत्कर्म तथा दुष्कर्म का विवेक जागृत होता है । शुभ क्या है ? अशुभ किसे कहते हैं ? इत्यादि ज्ञान मनुष्य को बुद्धि के विकास द्वारा ही प्राप्त होता है, बुद्धि विकास के चार मुख्य साधन हैं-सत्संग, अध्ययन, विचार और भूल।

सत्संग से कुटुम्ब और समाज का कल्याण होता है। जिन अध्यात्मवादियों, ऋषि-महात्माओं, विद्वानों या विचारकों ने संसार में आध्यात्मिक उन्नति की है, उनके सम्पर्क में आने से मनुष्य को संसार की विषमताओं से बचने के अनेक साधन प्राप्त होते हैं, अपनी समस्याओं का हल निकालता है, आगे आने वाली कठिनाइयों से मुक्ति के साधन एकत्र करने में सहायता प्राप्त होती है ।

अध्ययन से मनुष्य महापुरुषों का सत्संग प्राप्त करता है । पुस्तक का अर्थ है किसी विद्वान का सर्वदा सोते-जागते पुस्तक के पृष्ठों के रूप में आपके समक्ष रहना । पुस्तकों से ऐसे महापुरुषों से सम्पर्क हो सकता है, जो संसार में नहीं हैं, किन्तु मानव जगत में अपनी छाप छोड़ गये हैं । नैतिक, मानसिक, आध्यात्मिक विकास के हेतु उत्तमोत्तम धार्मिक ग्रंथों का नियमित स्वाध्याय अतीव आवश्यक है। घर में उत्तम ग्रंथों का संकलन रखने से घर का वातावरण शुद्ध होता है । शुभ विचार की लहरें सर्वत्र व्याप्त हो जाती हैं ।

सद्‌विचार से रमण करने में बुद्धि विकास का क्रम उचित दिशा में होता है । सद्‌विचार मन में शिव भावना, सत्यभावना और दिव्य भावना जागृत रखता है। स्मरण रखिये-''जहाँ आप है, वहाँ परमात्मा है, वहाँ आप है ।'' आपका जीवन और व्यवहार दिव्य प्रबन्ध से सुव्यवस्थित है । परमात्मा आपसे प्रेम करता है और सदैव आपका सहायक है । आप कभी दुःखी, भ्रान्त या निराश नहीं हो सकते क्योंकि आपका संचालक परमात्मा का निवास स्थान है । इस प्रकार की दिव्य भावनाओं में अपना जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति सफलता से आत्म-निर्माण कर सकता है ।

भूल से बुद्धि विकास होता है, एक भूल का अर्थ है आगे के लिए अकलमंदी । संसार के अनेक पशु भूल से विवेक सीखते हैं लेकिन मनुष्य उनसे बहुत जल्दी सीखता है। भूल का अर्थ है कि भविष्य में आप अपनी गलती नहीं दुहरायेंगे । भूल से अनुभव बढ़ता है। संसार में व्यक्ति के अनुभव का ही महत्व है। अनुभव अनेक भूलों द्वारा अर्जित सद्ज्ञान है । भूल यदि दोहराई न जाय, तो बुद्धि विकास में बहुत सहायता करती है । महापुरुषों के जीवन में अनेक क्षण ऐसे आये हैं जब वे भूलों के बल पर महान बने हैं ।

आत्म निर्माण का अन्तिम साधन है आत्म भाव का विस्तार । साधक की दृष्टि से विकास का सबसे उच्चस्तर यही है। इस स्तर पर पहुँचने से साधक सर्वत्र आत्म भाव का दर्शन करता है । प्रत्येक व्यक्ति, वस्तु तथा जगत को वह ब्रह्म रूप देखता है । अपने शरीर को वह परत्मा का गृह समझता है। वह जिस वस्तु को देखता है वे सब उसकी आत्मा के अंग प्रत्यंग हैं । उसकी आत्मा का दायरा सुविस्तृत होता है, जिसमें शत्रु मित्र सभी सम्मिलित होते हैं । जो व्यक्ति अपने पराये के भेद-भाव पर विशेष ध्यान देते हैं, वे आत्म निर्माण में शीघ्र अग्रसर नहीं हो सकते । हमारे शास्त्रकारों ने 'आत्मवत सर्व भूतेषु' का जो सिद्धान्त बतलाया है, उसका वास्तविक तात्पर्य यही है कि मनुष्य सभी को आत्म स्वरूप में देखे और भिन्नत्व की भावना को यथा शक्ति कम से कम घटा दे ।

आत्म-कल्याण और सदुपदेश

आत्म कल्याण के लिए प्रयत्न तो मनुष्य को स्वयं ही करना पड़ता है, पर सत्संग और सदुपदेश उसके प्रधान अवलम्ब हैं । हमारे कानों को सदुपदेश रूपी सुधा निरन्तर प्राप्त होती रहनी चाहिए । मनुष्य का स्वभाव चंचल है, इन्द्रियों की अस्थिरता प्रसिद्ध है । यदि आत्म सुधार में सभी इन्द्रियों को वश में रखा जाय तो उचित है, क्योंकि अवसर पाते ही इनकी प्रवृत्ति पतन की ओर होने लगती है । सदुपदेश वह अंकुश है, जो मनुष्य को कर्तव्य पथ पर निरन्तर चलते रहने को प्रेरित करता रहता है । सत्पथ से विचलित होते ही कोई शुभ विचार या स्वर्ण सूत्र पुनः ठीक मार्ग पर ले आता है ।

प्रत्येक सदुपदेश एक ठोस प्रेरक विचार है। जैसे कोयले के छोटे से कण में विध्वंसकारी विपुल शक्ति भरी हुई है, उसी प्रकार प्रत्येक सदुपदेश शक्ति का एक जीता

जागता ज्योति पिंड है। उससे आपको नया प्रकाश और नवीन प्रेरणा प्राप्त होती है। महापुरुषों की अमृतमयी वाणी, कबीर, रहीम, गुरु नानक, तुलसी, मीराबाई, सूरदास आदि महापुरुषों के प्रवचन, दोहों और गीतों में ये महान् जीवन सिद्धान्त कूट-कूट कर भरे हुए हैं, जिनका आधार गहरे अनुभव के ऊपर रखा गया है। आज ये अमर तत्ववेत्ता हमारे मध्य नहीं है, उनका पार्थिक शरीर विलुप्त हो चुका है। पर अपने सदुपदेश के रूप में वे वह जीवन सार छोड़ गये हैं, जो हमारे पथ प्रदर्शन में बड़ा सहायक हो सकता है।

आदमी मर जाता है, उसके साज सामान महल, तिबारे टूट-फूट कर नष्ट हो जाते हैं, परन्तु उसके जीवन का सार उपदेश और शिक्षाऐं-वह अमर वस्तु हैं, जो युगों तक जीवित रहती हैं। इस पृथ्वी पर आज तक न जाने कितने व्यक्ति आये और मृत्यु के ग्रास हुए, उनका नाम निशान तक शेष नहीं बचा है, किन्तु जिन विचारकों तत्ववेत्ताओं और महापुरुषों ने अपने जीवन के अनुभव रखे हैं, वे आज भी मशाल की तरह हमें प्रकाश दे रहे हैं।

मनुष्य का अनुभव धीमी गति से बहुत धीरे-धीरे बढ़ता है। जैसे-जैसे आयु बढ़ती है, वैसे-वैसे कड़ुवे मीठे घूँट पीकर हम आगे बढ़ते हैं। अब यदि हम केवल अपने ही अनुभवों पर टिके रहें, तो बहुत दिनों में जीवन के सार को पा सकेंगे। इससे अच्छा यही है कि हम विद्वानों के अनुभवों को ध्यान पूर्वक पढ़ें, और इन्हें अपने अनुभवों से परखें, तोलें और जीवन में ढालें। उन्होंने जिन प्रलोभनों का उल्लेख किया है उनसे बचें, जिन अच्छी आदतों को सराहा है, उन्हें विकसित करें। सदुपदेशों को ग्रहण करना अपने आपको लाभान्वित करने का एक सरल उपाय है। सत्य के शोधक, उन्नति के जिज्ञासु और कीर्ति के इच्छुक का यह सर्वप्रथम कर्तव्य है कि वह केवल अपने थोड़े से अनुभवों के बल पर न टिक कर, मानवता को प्रशस्त और समुन्नत करने वाले विचारकों के अनुभवों से लाभ उठावे। सदुपदेश हमारे लिये प्रकाश के जीते जागते स्तम्भ हैं। जैसे समुद्र में जहाजों को उचित मार्ग निर्देश करने के लिये 'प्रकाश स्तम्भ' बनाये जाते हैं, विद्वानों के ये उपदेशश ऐसे ही प्रकाश स्तम्भ हैं। हम यह नहीं कहते कि आप आंख मूँदकर इन्हें ग्रहण करें। आप अपनी बुद्धि और तर्क से खूब काम लीजिए लेकिन उपदेशों में व्यक्त आधार तथा तत्व को अवश्य ग्रहण कीजिये। आपको विवेक वान बनने में ये प्रचुरता से सहायता देने वाले हैं। सत्य, प्रेम और न्याय का पथ इनसे स्पष्ट हो जाता है।

आपको कोई दूसरा अच्छी सलाह दे, उसको सुनना आपका कर्तव्य है, परन्तु आपके पास अन्तरात्मा का निर्देश है, आप अपनी आत्मा की सलाह से काम करते रहिए, कभी धोखा नहीं खायेंगे।

जिन्होंने बहुत उपदेश सुने हैं, वे देवता रूप हैं। कारण, जब मनुष्य की प्रवृत्ति अच्छाई की ओर होती है, तभी वह सदुपदेशों को पसन्द करता है। तभी सत्संग में बैठता है। तभी मन में और अपने चारों ओर वैसा शुभ सात्विक वातावरण विनिर्मित करता है। किसी विचार के सुनने का तात्पर्य चुपचाप अन्तःकरण द्वारा उसमें रस लेना, उसमें रमण करना भी है। जो जैसा सुनता है कालान्तर में वैसा ही बन जाता है। आज आप जिन सदुपदेशों को ध्यान पूर्वक सुनते हो, कल निश्चय ही देवत्व की ओर मोड़ना है।

एक विद्वान ने कहा है, "जल जैसी जमीन पर बहता है, उसका गुण वैसा ही बदल जाता है। मनुष्य का स्वभाव भी अच्छे बुरे विचारों या लोगों की संगति के अनुसार बदल जाता है। इसलिए चतुर मनुष्य बुरे लोगों का साथ करने से डरते हैं, लेकिन मूर्ख व्यक्ति बुरे आदमियों के साथ घुल मिल जाते हैं और उनके सम्पर्क से अपने आपको भी दुष्ट बना लेते हैं। मनुष्य की बुद्धि तो मस्तिष्क में रहती है, किन्तु कीर्ति उस स्थान पर निर्भय रहती है, जहाँ वह उठता बैठता है और जिन लोगों या विचारों की सोहबत उसे पसंद है। आत्मा की पवित्रता मनुष्य के कार्यों पर निर्भर है और उसके कार्य संगति पर निर्भर हैं। बुरे लोगों के साथ रहने वाला अच्छे काम करे यह बहुत कठिन है। धर्म से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, किन्तु धर्माचरण करने की बुद्धि सत्संग या सदुपदेशो से ही प्राप्त होती है। स्मरण रखिये कुसंग से बढ़कर कोई हानिकर वस्तु नहीं है, तथा संगति से बढ़कर कोई लाभ नहीं है।"

जब आप सदुपदेशों की संगति में रहते हैं, तो गुप्त रूप से अच्छाई में बदलते भी रहते हैं, यह सूक्ष्म मनो वैज्ञानिक प्रक्रिया स्थूल नेत्रों से दीखती नहीं है। किन्तु इसका प्रभाव तीव्र होता रहता है। अन्ततः मनुष्य उन्हीं के अनुसार बदल जाता है।

गंगाजल से जिस प्रकार शरीर शुद्ध होता है, सदुपदेश से मन, बुद्धि और आत्मा पवित्र होती है। धर्मात्मा मनुष्यों की शिक्षा एक सुदृढ़ लाठी के समान है जो गिरे हुए पतीतों को सहारा देकर ऊँचा उठाती रही है और बुरे अवसरों पर गिरने से बचा लेती है। जो शिक्षित हैं, उनके लिए सैकड़ों

एक से एक सुन्दर अनुभव पूर्ण ग्रन्थ विद्यमान हैं, कवियों, विचारकों, तत्वदर्शकों की वाणियां हैं, दोहे, भजन, सूक्तियाँ हैं। इनका मनन और आचरण करना चाहिए। जो अशिक्षित हैं, वे लोग भी धर्मात्माओं के सत्संग से इतनी शक्ति प्राप्त कर सकते हैं, जिससे अपने आपको सम्हाल सकें और विपत्ति के समय अपने पैरों पर खड़े हो सकें। स्वयं भगवान गीता में कहते हैं-

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ (४/३८)

अर्थात् ''इस संसार में सद्ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निःसंदेह कोई भी पदार्थ नहीं है। उस ज्ञान को कितने ही काल से कर्मयोग के द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने आप ही आत्मा में पा लेता है।''

ये मानवा हरिकथा श्रवणास्तदोषाः
कृष्णाङ्घ्रिपद्मभजने रतचेतनाश्च !
ते वैपुनन्ति च जगन्ति शरीर संगात्
सम्भाषणादपि ततो हरिरेवे पूज्यः ॥
हरि पूजापरा यत्र मह्वान्त नुद्ध बुद्धयः ।
तत्रैव सकलं भद्रं यथा निम्ने जलं द्विजः ॥

''जो मानव भगवान की कथा श्रवण करके उससे सदुपदेश ग्रहण कर, अपने समस्त दोष दुर्गुण कर चुका है और जिनका चित्त भगवान श्री कृष्ण के चरणारविन्दों की आराधना में अनुरक्त है, वे अपने शरीर के संग अथवा सम्भाषण से भी संसार को पवित्र करते हैं अतः सदा श्रीहरि की ही पूजा करनी चाहिए। ब्रह्मन् ! जैसे नीची भूमि में इधर उधर का सारा जल सिमट-सिमट कर एकत्रित हो जाता है, उसी प्रकार जहाँ भगवत्पूजा परायण शुद्ध चित्त महापुरुष रहते हैं, वहीं सम्पूर्ण कल्याण का वास होता है।''

आत्म कल्याण के लिये आत्म निरीक्षण की आवश्यकता

आत्म कल्याण के मार्ग पर चलने वाले को आत्म निरीक्षण की प्रवृत्ति अत्यावश्यक है। इसका आशय यह है कि हमको विवेक के प्रकाश में अपने दोषों पर विचार करना और उनको दूर करने का प्रयत्न निरन्तर करते रहना चाहिए। इस प्रकार के आत्म निरीक्षण बिना निर्दोषता की प्राप्ति हो सकना बहुत कठिन है।

अपना निरीक्षण करने पर असत्य का ज्ञान एवं सत्य से एकता और प्राप्त बल तथा योग्यता का सदुपयोग स्वतः होने लगता है। यदि हम असत्य को नहीं देख पायें अथवा सत्य से अभिन्न एवं अपने कर्तव्य से परिचित नहीं हुए तो समझना चाहिए कि हमने अपना निरीक्षण नहीं किया। अपना यथेष्ट निरीक्षण करने पर किसी अन्य गुरु या ग्रन्थ की आवश्यकता ही नहीं रहती, कारण कि जिसके प्रकाश में सबका सब कुछ हो रहा है, उसमें अनन्त शक्ति विद्यमान है। अपना निरीक्षण करते-करते प्राणी उससे अभिन्न हो जाता है, जो वास्तव में सब का सब कुछ होते हुए भी सबसे अतीत है। अपना निरीक्षण हमें बल के सदुपयोग और विवेक के आदर की प्रेरणा देता है। बल के सदुपयोग से निर्बलतायें और विवेक के आदर से अविवेक स्वतः मिट जाता है।

प्रत्येक प्राणी अपने से अधिक बलवानों के किसी भी प्रकार के बल और अपने प्रति सदुपयोग की आशा करता है पर वह स्वयं अपने प्राप्त बल का निर्बलों के प्रति दुरुपयोग करता है, पर वह स्वयं अपने प्राप्त विवेक का अनादर नहीं तो और क्या है ?

बल का अर्थ है सभी प्रकार के अर्थात् तन बल, धन बल, विद्या-बल और पद अथवा प्रभुता बल इत्यादि। धन के दुरुपयोग से ही समाज में निर्धनता, शिक्षा अर्थात् ज्ञान, विज्ञान और कलाओं के दुरुपयोग से समाज में अविवेक की वृद्धि, तन बल के दुरुपयोग से समाज में हिंसा और चोरी, प्रभुता के दुरुपयोग से विरोधी शासन का जन्म आदि दुर्गुणों की वृद्धि होती है।

प्रत्येक प्राणी को अपनी रक्षा स्वभावतः प्रिय है, फिर भी वह स्वयं अहिंसक न रहकर हिंसा में प्रवृत्त होता है, जिससे हृदय वैर भाव से भर जाता है, जो संघर्ष का मूल है। अतः संघर्ष मिटाने के लिए प्रत्येक भाई-बहिनों को अपना हृदय वैर भाव से रहित करना होगा। वैर भाव से रहित होने के लिए अहिंसक होना अत्यन्त आवश्यक है। अपनी रक्षा की प्रियता का विवेक हमें अहिंसक होने की प्रेरणा देता है, जो अनादि सत्य है। पर आज तो हम वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा हिंसात्मक प्रयोग से संघर्ष मिटाने की बात सोच रहे हैं, जो सर्वथा असम्भव है, कारण कि विवेक के अनादर से ही प्राणी के मन में संघर्ष उत्पन्न होता है। अतएव जब तक विवेक पूर्वक मन का संघर्ष न मिटेगा, तब तक समाज में होने वाले संघर्ष कभी नहीं मिट सकते, चाहे वे वैज्ञानिक हों या कौटुम्बिक अथवा सामाजिक।

प्रत्येक अपराधी अपने प्रति क्षमा की आशा करता है और दूसरों को दण्ड देने की व्यवस्था चाहता है। वह अपने प्रति जो दूसरों के अहिंसक निवैर, उदार, क्षमाशशील,

त्यागी, सत्यवादी और विनम्रता आदि दिव्य गुणों से पूर्ण व्यवहार की आशा करता है, किन्तु स्वयं उसी प्रकार का सद्व्यवहार दूसरों के प्रति नहीं कर पाता । अपने प्रति मधुरता युक्त सम्मान की आशा करता है, पर दूसरों के प्रति अपमान एवं कटुता पूर्ण असद्व्यवहार करता है, जो वास्तव में भूल है । इसका परिणाम यह होता है कि प्राणी अपने प्रति रागी और दूसरों के प्रति दोषी हो जाता है, जो सभी दु:खों का मूल है ।

अपने प्रति होने वाले अन्याय को सहन करते हुए यदि अन्याय कर्ता को क्षमा कर दिया जाय तो द्वेष प्रेम में बदल जाता है और अपने द्वारा होने वाले अन्याय से स्वयं पीड़ित होकर जब उससे (जिसके प्रति अन्याय हो गया है) क्षमा माँगली जाय और इस प्रकार उससे क्षमा मांगते हुए अपने प्रति न्याय कर स्वयं दण्ड स्वीकार कर लिया जाय तो राग, त्याग में बदल जाता है ।

जब राग और द्वेष त्याग और प्रेम में बदल जाते हैं, तब मुक्ति की प्राप्ति स्वत: ही हो जाती है । अथवा यों कहो कि अभिन्नता और असंगता स्वत: आ जाती है । यही वास्तविक आनन्द है ।

अपना निरीक्षण करने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जब हम राग से प्रेरित होकर इन्द्रियों की ओर गतिशील होते हैं, तब इन्द्रिय जन्य ज्ञान के आधार पर हमें अनेक प्रकार की विषमताओं का भास होता है और इन्द्रिय जन्य स्वभाव में प्रवृत्त होने से हम क्रिया जन्य सुख की आसक्ति तथा परतन्त्रता, जड़ता आदि में भी आबद्ध हो जाते हैं । इतना ही नहीं, अन्त में हम शक्ति हीनता का अनुभव कर स्वाभाविक विश्राम अर्थात् निवृत्ति को अपनाते हैं, जिसके फलस्वरूप शक्ति हीनता मिटती जाती है और बिना प्रयत्न के आवश्यक शक्ति की उपलब्धि हो जाती है ।

यदि शक्ति हीनता, जड़ता, विषमता इत्यादि दु:खों से दु:खी होकर हम निवृत्ति द्वारा संचित शक्ति का व्यय न करके विषयों से विमुख होकर अन्तर्मुख हो जावें, तो भोग-योग में, जड़ता-चेतना में, विषमता-समता में पराधीनता-स्वाधीनता में और अनेकता-एकता में बदल जाती है । फिर स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति एवं अस्वाभाविक इच्छाओं की निवृत्ति स्वत: ही हो जाती है जो मानव की माँग है ।

अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति का यथेष्ट स्पष्ट परिचय प्राप्त करना ही वास्तविक आत्म निरीक्षण है । उसके बिना हम अपने को निर्दोष बना ही नहीं सकते । मानव में दोष दर्शन की दृष्टि स्वत: विद्यमान है, पर प्रमाद वश प्राणि उसका उपयोग अपने जीवन पर न करके अन्य पर करने लगता है । जिसका परिणाम बड़ा ही भयंकर एवं दु:खद सिद्ध होता है । पराये दोष देखने से सबसे बड़ी हानि यह होती है कि प्राणी अपने दोष देखने से वंचित हो जाता है और मिथ्याभिमान में आबद्ध होकर हृदय में घृणा उत्पन्न कर लेता है । यद्यपि हृदय प्रीति का स्थल है, घृणा का नहीं पर ऐसा तभी सम्भव है जब मानव पराये दोष न देखकर अपने दोष देखने में सतत् प्रयत्नशील बना रहे । अपने तथा पराये दोष देखने में एक बड़ा अन्तर यह है कि पराये दोष देखते समय हम दोषों से सम्बन्ध जोड़ लेते हैं । जिससे कालान्तर में स्वयं दोषी बन जाते हैं, पर अपना दोष देखते ही हम अपने को दोषों से असंग कर लेते हैं, जिससे स्वत: निर्दोषता आ जाती है, जो सभी को प्रिय है । अत: यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि दोष दर्शन की दृष्टि का उपयोग केवल अपने ही जीवन पर करना है, किसी अन्य पर नहीं ।

यद्यपि अनादि सत्य बीज रूप से प्रत्येक मानव में विद्यमान है, पर उसका आदर न करने से प्राणी उस सत्य से विमुख हो गया है और परिवर्तनशील वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों में आबद्ध होकर उसने अपने को दीन हीन तथा अभिमानी और परतन्त्र बना लिया है । इस दु:खद बन्धन से छुटकारा पाने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि प्राणी प्राप्त विवेक के प्रकाश में (जो चिर सत्य है) अपनी दशा का निरीक्षण करे और वस्तु, अवस्था आदि से असंग होकर दुराचार को सदाचार में परिवर्तित करके अपने को निर्विकार बनाए ।

यह प्रत्येक मानव का अनुभव है कि दृश्य का सम्बन्ध सुख-दु:ख में आबद्ध करता है और दृश्य से असंग होने पर किसी प्रकार का दु:ख शेष नहीं रहता है। प्रिय से प्रिय वस्तु तथा व्यक्ति से सम्बन्ध स्वीकार करने पर भी प्राणी अपने को अलग करना चाहता है कारण कि सबसे अलग हुए बिना वह चिर शान्ति तथा शक्ति नहीं पाता जो उसे स्वभाव से ही प्रिय है । यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्राणी प्रिय से प्रिय प्रवृत्ति से थक कर गहरी नींद के लिए प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु आदि से अलग होना चाहता है । यद्यपि सुषुप्ति में किसी भी प्रकार का वैषम्य तथा दु:ख शेष नहीं रहता, तथापि उससे भी प्राणी स्वयं उपराम हो जाता है और किसी ऐसी अवस्था की खोज करता है जिसमें सुषुप्ति के समान साम्य तथा दु:ख रहितता तो हो, किन्तु संज्ञा शून्यता न हो । उस स्थिति के उपलब्ध हो जाने पर जब वह उससे

भी उत्थान देखता है, तब उत्थान रहित, अलौकिक, अनन्त, नित्य, चिन्मय जीवन के लिए व्याकुल होता है अर्थात् निर्विकल्प स्थिति से निर्विकल्प बोध की लालसा करता है, जो सभी अवस्थाओं से अतीत और स्वत: सिद्ध है। इस स्वत: सिद्ध अनन्त जीवन की रुचि मानव मात्र में स्वभाव से ही विद्यमान है। इसके लिये सभी अवस्थाओं से विमुख होना अनिवार्य है। अवस्थाओं से विमुख होते ही इस अवस्था तीत जीवन का अनुभव हो जाता है।

अपना निरीक्षण ही वास्तविक सत्संग, स्वाध्याय और अध्ययन है, कारण कि अपने निरीक्षण के बिना प्राणी किसी ऐसे सत्य तथा तत्व एवं ज्ञान की उपलब्धि ही नहीं कर सकता जो उसमें स्वयं न हो। अत: अपने निरीक्षण द्वारा ही हम वास्तविक सत्य तथा तत्व एवं ज्ञान को उपलब्ध कर सकते हैं।

अपना निरीक्षण करते ही जिस विवेक से असत्य का दर्शन होता है, वही विवेक उसे सत्य से अभिन्न भी कर सकता है और उसी के द्वारा सत्य से अभिन्न और असत्य से निवृत्त होने का उपाय प्राप्त होता है। आत्म निरीक्षण के बिना कोई भी सद्ग्रन्थ का संग्रह बन जाता है जो कि नक्शे की नदी के तुल्य है, प्रत्येक नक्शा हमें वास्तविकता तक पहुँचने का साधन अवश्य है परन्तु उसे देखकर सन्तोष करने से न तो एक बूँद जल मिलेगा न प्यास बुझेगी।

अपने निरीक्षण के साथ-साथ ही हमें सद्ग्रन्थ तथा सत्पुरुषों के प्रकाश का उपयोग करना चाहिए। आत्म निरीक्षण द्वारा जब हम अपनी सभी प्रियताओं को जान लेते हैं, तब फिर हमारे द्वारा कोई ऐसी चेष्टा नहीं होती जिसमें दूसरे की प्रियता तथा हित निहित हो।

अपना निरीक्षण करने पर हमें यह भली भाँति विदित हो जाता है कि प्राप्त शक्ति का सद्व्यय प्राणियों को स्वभाव से ही प्रिय है, कारण कि जब कोई हमारे साथ व्यवहार करता है, यदि उसमें किसी प्रकार का दोष हो तो तब हम उसके उस व्यवहार को उचित नहीं मानते यद्यपि वही व्यवहार प्रमादवश हम स्वयं दूसरों के प्रति कर बैठते हैं।

आत्मज्ञान और योग

यद्यपि योग एक बड़ा गूढ़ और कठिन विषय माना जाता है, पर जैसा गीता में कहा गया है, आत्म ज्ञान प्राप्त करने के सभी साधन 'योग' से सम्बन्ध रखते हैं और इस दृष्टि से प्रत्येक सच्चा आत्म ज्ञानी 'योगी' भी कहा जायगा। इसलिए आत्म ज्ञान के इच्छुक को योग मार्ग का परिचय होना आवश्यक है और उसमें से अपने अनुकूल विधियों से लाभ भी उठाना उचित है।

मानवी चेतना सापेक्ष चेतना है। इसकी सापेक्षता को विनष्ट कर देना ही सारे योगों का एक मात्र लक्ष्य है। जब मन की उपाधि का तिरोधान हो जाता है तभी चेतना अपनी परमावस्था को प्राप्त करती है, जहाँ किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं रहता वरन् अस्तित्व का ही 'अस्ति तत्व' रहता है जहाँ किसी वस्तु विशेष के अस्तित्व का ज्ञान नहीं होता, वरन् परम अस्तित्व का ही परमज्ञान होता है, और जहाँ विभिन्न वस्तुओं के ज्ञान का आनन्द नहीं होता वरन् परम अस्तित्व के परमार्थिक ज्ञान का परमानन्द प्राप्त होता है। यही सच्चिदानन्द स्वरूप का साक्षात्कार है, यही ब्रह्म अथवा सनातन सत्य है। यही मुक्ति अथवा मोक्ष है इसके ज्ञान से ही मनुष्य परम पुरुषार्थ की प्राप्ति कर सकता है।

तमेय विदित्वाति मृत्युमेति
नान्या पन्था विद्यतेऽयनाय। (श्वेताश्वेतर, ३-८)

''उसको जान लेने से ही मनुष्य मृत्यु का अतिक्रमण करता है। अन्य कोई दूसरा मार्ग नहीं है।'' इस पारमार्थिक स्थिति को प्राप्त करने के लिये मुमुक्षु मनुष्य नाना मार्गों को ग्रहण करते हैं। हर एक मार्ग को योग कहकर पुकारते हैं, यह वह प्रक्रिया है जिससे जीव अपने अविद्या जनित उपाधियों से विमुक्त होकर अपने सच्चिदानन्द स्वरूप का ज्ञान पा सके। ब्रह्म से तदात्म्य सम्बन्ध स्थापित करना ही योग है, चित्त की वृत्तियों का निरोध करना योग है। प्रेम स्वरूप परमात्मा की, अवस्थिति का कण-कण में भान करना योग है, निमित्त रूप से सहजावस्था में संस्थित होकर अखिल विश्व के कल्याणार्थ ब्रह्मकर्म में संलग्न रहना योग है, तथा साथ ही वे सारी प्रक्रियायें एवं साधनायें भी योग हैं जो इस लक्ष्य की ओर (यथार्थ लक्ष्य तो एक ही है परंतु उसे विभिन्न, दृष्टिकोणों से देखने पर विभिन्न प्रकार के जान पड़ते हैं) हमें प्रवृत्त करती है।

इस प्रकार मुख्यत: चार योग माने जाते हैं, ज्ञान योग, कर्म योग, राज योग, भक्ति योग। मनुष्य की संस्कार एवं कर्मगत अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार उसके साधना मार्गों में भी वाह्यत: विभेद ही है। योगों की इन वाह्य विभिन्नताओं के आधार पर आध्यात्मिक अनुभवों की भी विभिन्नता पाई जाती है, परन्तु इस बात पर ध्यान देना अनिवार्य है कि योग की वास्तविक प्रगति सर्वांगीण-प्रगति ही है। किसी एक योग विशेष में उन्नति होने का अर्थ है योगों में समान रूप से उन्नति को प्राप्त करना, अत:

यद्यपि वाह्य अनुभवों की अभिव्यक्ति में विभिन्नतायें रहती हैं। यहाँ पर उन्हीं अनुभवों का विशेष वर्णन किया जा रहा है, जो आध्यात्मिक उन्नति के लिये अनिवार्य है। मनुष्य चाहे जिस योग का अवलम्बी हो उसमें यदि इन सामान्य लक्षणों तथा अनुभवों का अभाव हो तो निश्चय ही जानिये कि वह आध्यात्मिक मार्ग से अवगत नहीं है।

मुदिताः-आध्यात्मिक साधकों में साधना के साथ-साथ मुदिता भी उत्तरोत्तर बढ़नी चाहिए। यह स्वस्थ मानस तथा शुद्ध हृदय का परिचायक है। यह चित्त प्रसाद है अथवा मन की शान्ति बोधक। जब तक हृदय शुद्ध नहीं होता, मन के विकार क्षीण नहीं होते, विक्षिप्तता दूर नहीं होती तब तक मनुष्य मुदिता की प्राप्ति नहीं कर सकता। मुदिता एक निश्चित लक्षण है जिससे हम जान सकते हैं कि साधक अपनी साधना में सफलता को प्राप्त कर रहा है। बहुत लोग साधु रूप में दृष्टिगत होने के लिये बहुत ही उदास पूर्ण मुखाकृति बनाये देखते हैं। यह उनका भ्रम है। जो मन सुख की रश्मियों से ओत-प्रोत है, उसी में सत्य का संचार है। सात्विक मन ही योग की गम्भीर साधनाओं में सफलता पूर्वक प्रवृत्त हो सकता है, अतः सुन्दर सद्गुण का उपार्जन करना आत्म का आनन्द है, सदा आनन्द में ही संस्थित रहिए।

सन्तोषः-शान्ति, सत्संग, संतोष तथा सद्विचार मोक्ष के चार द्वारपाल हैं। सन्तोष से बढ़कर और कोई लाभ नहीं। सन्तोष से परम् शान्ति तथा सुख की प्राप्ति होती है, सन्तोष सात्विक गुण है। इससे मनुष्य आलसी नहीं बनता, वरन् और भी सक्रिय बनता है। सन्तोष से वैराग्य, विवेक तथा विचार की अभिवृद्धि होती है। जिसमें सन्तोष है, उसी में ईश्वरीय ज्योति का अवतरण होता है। सन्तोष ही सर्वोत्तम धन है। आत्मा स्वयं तृप्ति है। सन्तोषी मनुष्य के आगे सारी ऋद्धियाँ डोलने लगती हैं। वह महापुरुषों तथा तपस्वियों द्वारा भी पूजित होता है।

वैराग्य- राग ही बन्धन को घनीभूत करता है। वैराग्य से ही विमुक्ति होती है। साधक में जब सत्य का समावेश होता है, तब उसमें सारे विषय पदार्थों के प्रति स्वाभाविक विरक्ति हो जाती है। वैराग्य की दिनानुदिन अभिवृद्धि होती है। यह इसका स्पष्ट परिचायक है कि साधक आध्यात्मिकता की ओर बढ़ता जा रहा है। यदि वैराग्य की स्थिति का अनुभव मनुष्य में उत्पन्न नहीं हुआ तो वह रञ्चमात्र भी आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर सकता। वैराग्य महती शक्ति है, जिससे साधक सतत् ध्यान के लिए प्रवृत्त होता है और अन्तत: आत्म-साक्षात्कार करता है। विवेक युक्त वैराग्य ही लाभदायक है, कारण तो वैराग्य अस्थाई है।

अभयः-यह देवी सम्पदा है। भय तो अविद्या जात है। शरीर के साथ तादात्म्यता रहने से ही मनुष्य भयभीत होता है। ज्यों-ज्यों मनुष्य में आन्तरिक शान्ति, सन्तोष तथा वैराग्य की अभिवृद्धि होती जाती है त्यों-त्यों उसमें भय का तिरोधान होता है। अभय की पूर्णावस्था जीवन्मुक्तों में ही पाई जाती है।

समाधान-मनमें पूर्ण शान्ति रहती है। विक्षेप नहीं होता। योगी का मन सदा लक्ष्य की ओर लगा रहता है, समाधान प्राप्त साधक ही सतत् एवं अनवरत ध्यान का अभ्यास कर सकता है। उसमें विचार करने की प्रबल क्षमता होती है।

साधना में सफलता के साथ-साथ सारे सद्गुण मनुष्य में आने लगते हैं। शान्ति, पूर्णता, एकाग्रता, निश्चलता, समत्व, धृति, श्रद्धा इत्यादि सारे गुण उसमें अपना आवास बनाते हैं। चमत्कारों की क्षमता के द्वारा मनुष्य योगी नहीं बनता, वरन् इन सद्गुणों की अभिवृद्धि से योगी बनता है। जो मनुष्य एक भी सद्गुण से प्रतिष्ठित है, उसके पास अन्य सद्गुण दौड़ कर चले आते हैं।

आत्म कल्याण और मानसिक शक्तियाँ

मनुष्य को जो लाभ योग से प्राप्त होता है उसका मूल आधार मानसिक शक्तियों का विकास और नियन्त्रण ही होता है। अतएव जो मनुष्य योग को बहुत बड़ी चीज समझ कर उससे घबड़ाते हों, उनके लिये मानसिक शक्तियों के विकास पर ध्यान देना ही सर्वोत्तम है। मनुष्य की मानसिक शक्तियाँ बिखरी हुई रहती हैं। अतएव उनका साक्षात्कार करना कठिन होता है। इसके परिणाम स्वरूप उसका मन अनेक विषयों में फँस जाता है। जब मन वाह्य विषयों में एक बार फँस जाता है तो मनुष्य उनसे मुक्त होने की चेष्टा जितनी ही करता है, मन और भी फँसता जाता है। विषयों का अधिक चिन्तन करने तथा मानसिक अन्तरद्वन्द के कारण मन की सारी शक्ति का ह्रास हो जाता है और तब मनुष्य अशान्त रूप हो जाता है।

हमारी आध्यात्मिक शक्तियों का विकास अपने आप को वाह्य विषयों से मुक्त करके अपने आप में ही केन्द्रित करने से होता है। निर्मल मन ही शक्तिशाली होता है। वाह्य विषयों में फँसा मन शक्तिशाली कभी नहीं हो सकता। जिस व्यक्ति का मन जितना ही उद्विग्न होता है, वह उतना

ही शक्ति हीन होता है । जो व्यक्ति अपने मन को वश में किये हो, वही आत्मा की शक्ति का साक्षात्कार कर सकता है । आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए पहली आवश्यकता अपनी इन्द्रियों को वश में करने की है । जहाँ-जहाँ इन्द्रियां जावें अथवा आकर्षित हों वहाँ-वहाँ से मन को रोकना चाहिए । इसके लिये मनुष्य को सदा जागरूक होकर रहना पड़ेगा । विद्वान से विद्वान व्यक्ति का मन इन्द्रियों के द्वारा चलित हो जाता है । इन्द्रियों के विषय सामने रहने पर अपने मन को रोकना बड़ा पुरुषार्थ है । पर इस प्रकार का पुरुषार्थ अभ्यास द्वारा सिद्ध हो जाता है ।

जिस प्रकार इन्द्रियों के विषयों को रोकना आवश्यक है उसी तरह मन को प्रबल संवेगों से रोकना आवश्यक है। प्रत्येक प्रकार का मानसिक विचार मन की शक्ति का विनाश करता है । यदि हम अपनी शक्ति का संचय करना चाहते हैं तो मानसिक विचारों से मुक्त होना अत्यन्त आवश्यक है । शान्त मन में ही शक्ति का उदय होता है ।

जब मन शान्त हो जाय तो मनुष्य को उसे स्वरूप के बारे में चिन्तन करने में लगाना चाहिए । शान्त अवस्था में जैसा मनुष्य अपने विषय में विचार करता है वह वैसा ही अपने आपको पाता है । किसी भी प्रकार का निश्चय जब किसी प्रकार के संशय से दूषित नहीं होता तो फलित होता है । कितने ही लोग किसी विशेष प्रकार की शक्ति की प्राप्ति के लिये मन्त्र जप अथवा यज्ञ आदि करते हैं । ये सब क्रियायें अपने निश्चय को दृढ़ करने के लिए आवश्यक हैं । निश्चय ही दृढ़ता ही सफलता की कुंजी है ।

मानसिक शक्ति के विकास के लिये अपने आपको सदैव परोपकार में लगाये रहना आवश्यक है । स्वार्थ के कार्यों में लगे हुए व्यक्ति की शक्ति का ह्रास, चिन्ता, भय, संशय आदि मनोवृत्तियों के कारण हो जाता है । परोपकार की भावना इन मनोवृत्तियों का विनाश करती हैं । जो मनुष्य जितना ही अधिक अपने स्वार्थ से मुक्त रहता है उतना ही अधिक उसमें संकल्प की सफलता लाने की शक्ति का उदय होता है । अपने मन को परोपकार में लगाना स्वयं के वृहत् रूप को पहिचानना है । इस वृहत् रूप में सभी संकल्पों को सिद्ध करने की शक्ति है । अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के विषय में सोचना ही मानसिक पतन है । मानसिक शक्तियों का विकास प्रतिकूल परिस्थितियों से लड़ने से भी होता है । जो व्यक्ति जितना ही अधिक किसी सिद्धांत के लिए प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करता है वह उतना ही अधिक अपने मन को दृढ़ बनाता है । मानसिक दृढ़ता आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए परम आवश्यक है । जो व्यक्ति प्रतिकूल परिस्थितियों से डर जाता है, उसे कहीं चैन नहीं मिलता । बहुत सी चिन्तायें कल्पित होती हैं । इनकी भयानकता मन की दुर्बलता के कारण बढ़ जाती हैं । डरपोक को छाया भूत के रूप में दिखाई देती है यदि ऐसा मनुष्य साहस कर उस छाया के पास जाय तो भूत का डर मिट जाता है ।

अपनी आध्यात्मिक शक्तियों को विकसित करने के लिए सच्चा व्यवहार व विचार रखना परम आवश्यक है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक सांसारिक व्यवहारों में कुशल होता है वह उतना ही आध्यात्मिक ज्ञान के लिए अनुपयुक्त होता है । ऐसे व्यक्ति का मन सदा संशय युक्त होता है। वह न किसी दूसरे व्यक्ति की बातों पर विश्वास करता है और न स्वयं पर । यदि ऐसे व्यक्ति के मन में कोई भला विचार आ जाये तो उसके फलित होने में उसे विश्वास नहीं होता संशय युक्त मन रहने के कारण ऐसा व्यक्ति अपने सभी मित्रों को खो देता है । उसे संसार शत्रुओं से भरा दीख पड़ता है । जैसे वह दूसरे लोगों को धोखा देता है, वैसे ही वह जानता है कि दूसरे लोग भी उसे धोखा देंगे । वह कुचिन्तन में ही अपना समय व्यतीत करता है। इस तरह के कुचिन्तन से उसका आध्यात्मिक बल नष्ट हो जाता है और वह दुःख में डूब जाता है ।

मानसिक शक्तियों के विकास के लिए भोले स्वभाव का होना ही श्रेयकर है । अंग्रेजी में कहावत है कि शैतान गधा होता है । यह कहावत चतुर लोगों की मूर्खता को प्रदर्शित करती है। जो मनुष्य बाहर-बाहर एक रूप रहता है, वास्तव में वही अपने स्वरूप को पहिचानता है । यदि मनुष्य अपने विचार और व्यवहार में सत्यता ले आवे तो उसका आचार अपने आप ही उच्च कोटि का हो जावे । जो व्यक्ति अपने किसी प्रकार के दोष को छिपाने की चेष्टा नहीं करता उसके चरित्र में कोई दोष भी नहीं रहता । पुराने पापों के परिणाम भी सच्चाई की मनोवृत्ति के उदय होने पर नष्ट हो जाते हैं । ढका हुआ पाप लगता है, खुला पाप मनुष्य को नहीं लगता । जो स्वयं के प्रति जितना अधिक सोचता है वह उतना ही अधिक अपने आपको पुण्यात्मा बनाता है । ऐसा ही व्यक्ति दूसरी आध्यात्मिक शक्तियों को प्राप्त करता है।

आत्म ज्ञान ही सबसे बड़ी सम्पदा है

इस प्रकार जो मनुष्य आत्म ज्ञान प्राप्त करके आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करते हैं, वे केवल स्वयं ही सुखी और सफल मनोरथ नहीं होते वरन् वे संसार में एक ऐसी धारा

प्रवाहित करते हैं जो अनेक मनुष्यों के लिए कल्याणकारी सिद्ध होती है।

हमारे जीवन में सबसे सुखमय और मूल्यवान वही क्षण है, जब हम भौतिक जगत के माया जाल से अपने आपको तटस्थ करके आत्मानुभूति में पूर्णरूप से स्थित हो जाते हैं। इन क्षणों को प्राप्त करने का सौभाग्य तभी प्राप्त होता है, जब हम दिव्य सौन्दर्य के सम्मुख होते हैं, अन्यथा नहीं। भौतिक जगत की सम्पत्ति इनको नहीं खरीद सकती और न संसार की ऊँची से ऊँची अवस्था, अधिकार अथवा शक्ति ही इनको प्राप्त कराने में समर्थ है। क्योंकि ये वही क्षण हैं, जब आत्मा शिशु-सुलभ सरलता से अपने प्रियतम भगवान की अनुपम सुन्दरता का पूजन करती है।

मनुष्य का सुन्दरतम अर्थात् सर्वोत्तम सुखमय क्षण ही उसका सबसे अधिक मूल्यवान समय होता है। मानव अनुभूति की पराकाष्ठा अपने भाइयों पर शासन करने की अथवा संसार की किसी भी इच्छित मूल्यवान निधि को खरीदने की शक्ति में नहीं है। वास्तविक सम्पत्ति तो आत्मा की अनुभूति से प्राप्त होती है। सुख की व्यावहारिक मुद्रा अर्थात् चलतू सिक्का प्रेम है।

सबसे अधिक धनी वही है, जो सबसे अधिक देता है। ऐसा देना सांसारिक धन के रूप में कदापि नहीं हो सकता। रुपया, आना, पाई केवल प्रतीक मात्र है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। कभी तो ये उन बेड़ियों के प्रतीक बन जाते हैं जो हमें संसार में बाँधती है, और कभी उस प्रेम के जो हमें जड़वाद से मुक्त करता है, किन्तु जीवन के सच्चे सम्पन्न अर्थात् सुखद क्षणों में तो अधिकतर इनका प्रवेश ही नहीं होता है।

जिस संसार में हम चलते, फिरते और बसते हैं, उसको यथार्थ रूप में समझने की हमें चेष्टा अवश्य करनी चाहिए। साधारण मनुष्य की दृष्टि केवल सड़ने, गलने और नष्ट होने वाली वस्तुओं पर निर्णय दे सकती है। परन्तु इस ऊपरी स्थूलता के पीछे बहुमूल्य आध्यात्मिक वस्तुओं का एक अनादि सागर है। अलौकिक सम्पत्ति की एक बाढ़, जिसके सम्बन्ध में हम प्रायः अनभिज्ञ है। तथापि यह आध्यात्मिक सम्पत्ति सबके लिये समान रूप से प्राप्य है। इसके लिये धनी, दरिद्र की उपेक्षा नहीं। इस सम्पत्ति पर हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है और वास्तव में इसी की प्राप्ति के लिए तो हमारा इस संसार में जन्म हुआ है। यदि हम इस आध्यात्मिक सम्पत्ति के जो अलौकिक सुन्दरता की खान है, अनुसन्धान में तत्पर नहीं होते तो हमारा जीवन नीरस और निरर्थक बन जाता है।

संसार में आत्म कल्याण के सभी इच्छुक होते हैं, पर वास्तविक आत्म-कल्याण तभी संभव है, जब मनुष्य आत्म ज्ञान के लिये प्रयत्नशील हो। बिना आत्मज्ञान के जो आत्म कल्याण चाहतेहैं वे बिना नीव मकान खड़ा करने की चेष्टा करते हैं। ऐसे लोग प्रायः विपरीत मार्गों को अंगीकार करके आत्म कल्याण के बजाय आत्मिक पतन की ओर अग्रसर होने लगते हैं। इसलिये संसार में उपस्थित की अभिलाषा रखने वाले को अवश्य ही आत्मा को जानने और उसी का आदेश पालन का सत् संकल्प करना चाहिए।

२४. सन्तान के प्रति हमारा कर्तव्य

गायत्री मंत्र का चौबीसवाँ अक्षर 'या' हमको संतान के प्रति हमारी जिम्मेदारी का ज्ञान कराता है।

या यात्स्वोत्तर दायित्वं निवहन् जीवने पिता।
कुपितापि तथा पापः कुपुत्रोऽस्ति यथा ततः॥

अर्थात् - "पिता संतान के प्रति अपने उत्तरदायित्व को ठीक प्रकार से निवाहे। कुपिता भी वैसा ही पापी होता है जैसा कि कुपुत्र।"

जो अधिक समझदार, बुद्धिमान होता हैउसका उत्तरदायित्व भी अधिक होता है। कर्तव्य पालन में किसी प्रकार की ढील, उपेक्षा एवं असावधानी करना भी अन्य बुराइयों के समान ही दोष की बात है। इसका परिणाम बड़ा घातक होता है। अक्सर पुत्र, शिष्य, स्त्री, सेवक आदि के बिगड़ जाने, बुरे होने, अवज्ञाकारी एवं अनुशासन हीन होनेकी बहुत शिकायतें सुनी जाती हैं। इन बुराइयों का बहुत कुछ उत्तरदायित्व पिता, गुरु, पति, शासक और संरक्षकों पर भी होता है। व्यवस्था में शिथिलता करने, बुरे मार्ग पर चलने का अवसर देने, नियंत्रण में सावधानी न रखने से अनेक निर्दोष व्यक्ति भी बिगड़ जाते हैं।

मनचाही सन्तान

वास्तव में परिवार और सन्तान का उत्तरदायित्व साधारण बात नहीं है। जब आप परिवार में एक बच्चे को जन्म देकर एक नये नागरिक की वृद्धि करते हैं, तब आप अनेक प्रकार की सामाजिक, पारिवारिक एवं वैयक्तिक जिम्मेदारियों की वृद्धि करते हैं। आपके परिवार में आने वाला नया बालक उत्तरदायित्व का एक पुलन्दा है, जिसे वहन करने के लिए जन्म से पूर्व ही आपको गम्भीरता से विचार कर लेना चाहिए। क्या आपको वास्तव में पुत्र या

पुत्री की आवश्यकता है? क्या आप हृदय के गहन तल से पुत्र-पुत्री की कामना करते हैं ? क्या आपकी आय इतनी है कि आने वाले बच्चेका व्यय, उसके जन्म, पालन, शिक्षा आदि के खर्चे आप सहन कर सकें ? कुछ माता-पिता यों ही भावुकता के वश में आकर या वासना के ताण्डव में उन्मत्त होकर या कोरे मनोरंजन मात्र के क्षुद्र क्षणिक आवेशों में फँसकर सन्तान को जन्म देते हैं, भविष्य के विषय में कुछ भी पूर्व चिन्तन नहीं करते। कहीं-कहीं मनचाही सन्तान उत्पन्न हो जाती है। ऐसे अविवेकी असंयमी माता-पिता समाज के भार को बढ़ाते हैं।

सन्तान उत्पत्ति हँसी-खेल नहीं है, उत्तरदायित्व का गुरुतर भार है। एक सन्तान के उत्पन्न होने के पश्चात् उससे जीवन पर्यन्त मुक्ति नहीं। केवल मृत्यु ही आपके उस भार को हलका करेगी। किन्तु ऐसा करने में आपको अनेक भावना जन्य, मानसिक क्लेशों का सामना करना पड़ेगा। प्रत्येक बच्चे से घरेलू व्यय उतना बढ़ेगा कि आपको अपना पेट काटकर, अपने आप भूखा, प्यासा, उघाड़ा रहकर उसकी आवश्यकताओं का ध्यान रखना होगा। आपका जेब खर्च कम हो जायगा और मनोरंजनों में भी कमी हो जायगी। आपके पाँवों में ऐसी बेड़ियाँ पड़ेंगी, जो मजबूती से आपको संसार के माया-मोह से बाँधेंगी। लड़के की शिक्षा, पालन-पोषण, रोजगार इत्यादि का प्रबन्ध न होने तक आप उसी से बँधे रहेंगे। यदि पुत्री है तो उसके स्वास्थ्य, शिक्षा, देखभाल और विवाह इत्यादि की चिन्ता आपको घुला डालेगी। माता के लिए सन्तान का भार बहुत गम्भीर अर्थ रखता है। प्रत्येक सन्तान को जन्म देने पर उसके स्वास्थ्य तथा आयु का आठवाँ भाग क्षीण हो जाता है। आठ सन्तानों के पश्चात् साधारण रूप में माता की मृत्यु समझना चाहिए। एक बार बालक के जन्म के पश्चात् उसका स्वास्थ्य, सौन्दर्य वैसा नहीं पनपता, वह अनेक गुप्त रोगों की शिकार हो जाती है। मानसिक दृष्टि से चिन्ता, उत्तरदायित्व, आन्तरिक आहलाद का ह्रास, क्रोध, घृणा, स्वार्थ, कुढ़न की अभिवृद्धि होती है। अन्दर ही अन्दर माता-पिता अपने बोझ का अनुभव करते हैं और संतप्त रहते हैं। ज्यों-ज्यों सन्तान बड़ी होती है और माता-पिता की जवानी समाप्त होती है, त्यों-त्यों सन्तान रूपी बोझ खलता है। यदि संयोगवश सन्तान आवारा या दुष्ट प्रवृत्ति की हुई, तो मृत्यु पर्यन्त मन:शान्ति प्राप्त नहीं होती। अत: सन्तान को जन्म देने से पूर्व विवेक बुद्धि से पर्याप्त विचार कर लीजिए इस सम्बन्ध में एक जगत् प्रसिद्ध महापुरुष का निम्नलिखित स्पष्ट कथन विचारणीय है-

"ईश्वर ने जो सन्तान तुमको दी है, उनसे प्यार करो, पर वह तुम्हारा प्रेम सच्चा और गहरा होना चाहिए। वह अनुचित लाड़ या झूँठा स्नेह न हो जो तुम्हारी स्वार्थपरता और मूर्खता से उत्पन्न होता है और उनके जीवन को नष्ट करता है। तुम इस बात को न भूलो कि तुम्हारी इन वर्तमान संतानों के रूप में आने वाली प्रजायें तुम्हारी अधीनता में हैं, इसलिए इनके प्रति अपने उस कर्तव्य का, जो ईश्वर ने तुमको सौंपा है और जिसके तुम सबसे अधिक उत्तरदाता हो, पालन करो। तुम अपनी संतानों को केवल जीवन के सुख और इच्छा पूर्ति की शिक्षा न दो वरन् उनको धार्मिक जीवन, सदाचार और कर्तव्य पालन की भी शिक्षा दो, इस स्वार्थमय समय में ऐसे माता-पिता विशेषतया धनवानों में बिरले ही मिलेंगे, जो सन्तान की शिक्षा के भार को, जो उनके ऊपर है, ठीक-ठीक परिमाण में तौल सकें।"

"तुम जैसे हो वैसी ही तुम्हारी सन्तानें भी होंगी, वे उतनी ही अच्छी या बुरी होंगी, जितने तुम स्वयं अच्छे या बुरे हो। जबकि तुम आप अपने भाइयों के प्रति दयालु और उदार नहीं हो, तो उनसे क्या आशा कर सकते हो कि वे उनके प्रति दया और उदारता दिखलायेंगे। वे किस प्रकार अपनी विषय वासना और बुरी इच्छाओं को रोक सकेंगे, जबकि रात-दिन तुमको विषय लोलुप और कामुक देखते हैं। वे किस प्रकार अपनी नैसर्गिक पवित्रता को स्थिर रख सकेंगे, जबकि तुम अपने अश्लील और निर्लज्ज व्यवहारों से उनकी लज्जा को तोड़ने में संकोच नहीं करते। तुम कठोर साँचे हो जिनमें उनकी मुलायम प्रकृति ढाली जाती है। निदान यह तुम्हीं पर निर्भर है कि तुम्हारी संतान मनुष्य हों या मनुष्याकृत वाले पशु।"

सन्तान माता-पिता के अनुरूप ही होती है

उपर्युक्त उद्धरण से पाठक अनुमान कर सकते हैं कि सन्तान के भले-बुरे होने की जिम्मेदारी किस हद तक माता-पिता के ऊपर है। यों तो कोई-कोई नीतिकार कह गये हैं-

'होय भले कैं सुत बुरो, भलो बुरे कैं होय।
दीपक से काजल प्रकट, कमल कीच से होय॥'

पर यह दोहा केवल कवि की कलम की करामात ही है। हमारा कहने का आशय यह नहीं कि ऐसा कभी नहीं होता, पर ऐसा जब कभी होता है, तो उसका कारण प्राय: माता-पिता की कोई असावधानी ही होती है।

बालक के शरीर की उत्पत्ति-माता-पिता के शरीर से होती है । जैसी खरी-खोटी धातु गलाई जायगी वैसा ही बर्तन बनेगा । जैसे ईट-चूने का प्रयोग होगा वैसा ही मकान बनेगा । यदि माता-पिता के शरीर स्थूल या सूक्ष्म रोगों से ग्रसित हैं तो सन्तान पर भी उसका प्रभाव अवश्य पड़ेगा।

शरीर शास्त्र के ज्ञाता यह भली-भाँति जानते हैं कि कितने ही रोग ऐसे हैं जो पीढ़ियों तक चलते हैं । कुष्ट, उपदंश, मृगी, उन्माद, अर्श, क्षय आदि के बीजाणु माता-पिता के शरीर में विद्यमान हों तो बहुधा उनका प्रभाव सन्तान में भी देखा जाता है । माता-पिता के रंग-रूप की छाया भी बालकों पर रहती है । गोरे या काले माता-पिता की सन्तान प्रायः अपने माता-पिता के रंग की ही होती है। माँ-बाप के शरीर की कृशता या स्थूलता भी बालकों पर प्रकट होती देखी गई है ।

वेष, भाषा, संस्कृति, रुचि, आहार, विहार, आचार, विचार आदि बातों में भी बच्चे अपने माँ-बाप का अनुसरण करते हैं । छोटा बालक माँ के उदर में ही उन बातों के बहुत कुछ संस्कार ग्रहण कर लेता है और जन्म धारण के पश्चात् उन बातों को सहज ही अपनाने लगता है । इस प्रकार शारीरिक और मानसिक दृष्टि से बालक सत्तर प्रतिशत अपने जन्मदाता शरीरों की प्रतिमूर्ति होता है। वंश, जातियाँ, नस्ल, वर्ण आदि विभागों के मूल में यही तत्व काम करता है । यदि माता-पिता का प्रभाव सन्तान पर न आता तो इस प्रकार का वर्गीकरण दृष्टिगोचर न होता और नीग्रो, चीनी, पंजाबी, बंगाली, मद्रासी, यूरोपियन आदि जातियों में जो आकृति, रंग, स्वभाव आदि में जो अन्तर दिखाई पड़ता है, वह भी न दीखता ।

पिता-माता के शरीर स्वभाव और प्रवृत्तियों का अनुसरण प्रायः अन्य सभी जीव जन्तुओं की भाँति मनुष्य जाति में भी होता है । साथ ही मनुष्य की मानसिक और आध्यात्मिक सम्पत्तियों का उत्तराधिकार उसके आत्मजों को मिलता है । हम माता-पिता के धन-सम्पत्ति एवं यश-अपयश के ही नहीं उनकी आन्तरिक विशेषताओं, आध्यात्मिक संपदाओं के भी उत्तराधिकारी होते हैं । उत्तम ब्राह्मण कुल में बहुधा सात्विक मनोवृत्ति के बालक जन्मते हैं और बधिक, म्लेच्छ एवं कसाइयों के घरों में वैसी ही प्रकृति के बच्चे जन्मते और बनते हैं ।

यों हर जीव अपने पूर्व जन्मों के स्वतंत्र संस्कार और प्रारब्ध साथ लाता है। इसलिए कभी-कभी सन्तान माता-पिता से भिन्न स्वभाव की होती देखी गई है, पर ऐसा होता अपवाद स्वरूप ही है । अधिकांश बच्चे अपने जन्मदाताओं के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुरूप होते हैं । भारतीय वर्ण व्यवस्था में इस तत्व को प्रमुख आधार मानकर जन्म एवं वंश को प्रधानता दी गई है । एक शरीर त्याग कर जीव जब दूसरे शरीर में जाने को होता है, तो वह अपनी संचित रुचि और प्रवृत्ति के अनुकूल स्थान को खोजता है । रेलगाड़ी के फर्स्ट क्लास के डिब्बे में यात्रा करने वाले यात्री विशेष मुसाफिर खाने में चले जाते हैं तीसरे दर्जे में यात्रा करने वाले उसी दर्जे के निमित्त बने हुए मुसाफिर खाने में जा बैठते हैं । वैसे ही जीव भी अगले जन्म के लिए अपने उपर्युक्त वंश में जा पहुँचता है । आकाश में उड़ते हुए पक्षी तथा कीट-पतंग अपनी रुचिकर वस्तुओं को खोजते फिरते हैं और जब अनुकूल-अभीष्ट वस्तु मिल जाती है, तब उसे प्राप्त करने के लिए नीचे की ओर आते हैं । गिद्ध मृत मांस को, कौए विष्टा को, भौंरा फूलों को, बाज चिड़ियों को खोजते फिरते हैं । जहाँ उनकी मनचाही वस्तु दिखाई देती है वहीं उतर पड़ते हैं । जीवों को प्रारब्ध तो अपने कर्मानुसार ही भुगतने पड़ते हैं जो हर कुल और वंश में भुगते जाने संभव हैं, पर जन्म लेने के लिए वे अपनी पूर्व संचित रुचि के अनुकूल स्थिति ही खोजते हैं और दयामय प्रभु उन्हें इच्छित वातावरण में ही जन्मने का अवसर प्रदान कर देते हैं ।

माता-पिता की जैसी आध्यात्मिक भूमिका होती है, उसी के अनुरूप प्रारब्ध संस्कार वाले जीव उनके शरीर में प्रवेश करके उस वातावरण में जन्म धारण करते हैं । इसलिए यदि अपने घर में उत्तम सन्तान को जन्म देना है तो उसके लिए अपने आपको उत्तम बनाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए । जो लोग स्वयं पतित दशा में हैं, जिनकी शारीरिक मानसिक और आत्मिक स्थिति गिरी हुई है, उनकी सन्तान भी दीन-हीन ही रहेगी ।

सन्तानोत्पादन एक महान् उत्तरदायित्व है, जिसे उठाने के लिए बहुत समय पूर्व तैयारी करने की आवश्यकता है। किसी महत्वपूर्ण कार्य को सफलता पूर्वक पूर्ण करने के लिए जिस प्रकार उसके लिए सभी आवश्यक उपकरण इकट्ठे करने पड़ते हैं उसी प्रकार उत्तम सन्तान प्राप्त करने के लिए जहाँ बालक की उत्तम शिक्षा-दीक्षा की आवश्यकता है, वहाँ उसके जन्म से पूर्व वे परिस्थितियाँ उत्पन्न कर लेनी भी आवश्यक हैं, जिनमें कोई उत्तम जीव, स्थान ग्रहण कर सके । उत्तम फसल प्राप्त करने के लिए किसान पौधों को सींचने और रखवाली की व्यवस्था करता है किन्तु यदि

भूमि की अच्छी जुताई, परिपुष्ट बीज आदि की पूर्ण तैयारी ठीक प्रकार न हो तो सिंचाई और रखवाली की अच्छी व्यवस्था भी निष्फल चली जाती है और किसान वैसी फसल उत्पन्न न कर सकेगा, जैसी कि वह चाहता है ।

कहा गया है कि सन्तान के कारण उसके पितरों को नरकगामी होना पड़ता है । कारण स्पष्ट है कि सन्तान को समुचित पूर्ण तैयारी के बिना ही उत्पन्न कर डालना एक भारी पाप है, जिसका दण्ड उसे पारलौकिक जीवन में तो मिलता ही है, लौकिक जीवन में भी उसकी कम दुर्गति नहीं होती । सन्तान की हीनता और नीचता से जो अनुचित कार्य होते हैं, उनसे पिता-माता की भी निन्दा होती है, क्योंकि वे सुयोग्य सन्तान उत्पन्न करने का अपना उत्तरदायित्व पूरा करने में सफल न हो सके । जो व्यक्ति अनाधिकार चेष्टा करते हैं वे निन्दा के पात्र होते हैं । मनुष्योचित गुण जिनमें न हों, वह तो पशु ही हैं । पशुओं की भाँति केवल काम प्रेरणा से गर्भाधान में प्रवृत्त हो जाना और एक असंस्कृत जीव उत्पन्न कर देना पशु प्रवृत्ति ही है। यह मनुष्यता के प्रति, देश और जाति के प्रति एक अपराध भी है क्योंकि उनके पाशविक उद्देश्य के फल-स्वरूप जो बालक उपजते हैं वे संसार के लिए अहितकर और अवांछनीय कार्य करते हैं । उनसे पृथ्वी का बोझ बढ़ता और संसार में अनीति तथा अशान्ति की वृद्धि होती है। इस गड़बड़ी की जिम्मेदारी उन माता-पिता पर है जो सन्तानोत्पत्ति का महान् उत्तरदायित्व पूर्ण कार्य करने से पूर्व उनकी भावी सम्भावनाओं पर विचार नहीं करते । ऐसी गैर जिम्मेदारी किसी व्यक्ति की लौकिक और पारलौकिक दुर्गति का ही कारण हो सकती है । ऐसे पिता नरकगामी नहीं होंगे तो क्या स्वर्गगामी होंगे ?

आज हमारे परिवार क्लेश और कलह से भर रहे हैं। उनमें प्रधान कारण असंस्कृत सन्तान हैं । घर के मुखिया एवं बड़े-बूढ़े छोटों की उद्दण्डता, उच्छृंखलता, अनुशासन-हीनता, चोरी, स्वार्थपरता, अशिष्टता से परेशान देखे जाते हैं । स्कूलों में अध्यापक सिर धुनते हैं, घर में अभिभावकों की आँतें-पीते जलती हैं । क्या लड़कियाँ, क्या लड़के सभी की चाल बेढंगी है । जब तक बचपन रहता है, तब तक उद्दण्डता करते हैं, कुछ समझदार होते हैं तो वासना और विलासिता की ओर झुक पड़ते हैं । बड़े होने पर उनकी कार्य पद्धति स्वार्थपरता से ओत-प्रोत हो जाती है। माता-पिता के लिए, संस्कृति के लिए, मनुष्यता के लिए वे अभिशाप ही सिद्ध होते हैं । हमारी नई पीढ़ियाँ इसी मार्ग का अनुसरण कर रही हैं । कोई विरले ही भाग्यशाली घर ऐसे होंगे जिनमें कर्तव्यपालन, शिष्टाचार, सद्भावना, सेवा, त्याग, आत्मीयता एवं सदाशयता का अमृत बरसता हो । प्राचीनकाल में जो स्थिति घर-घर में थी वह आज कहीं दिखाई नहीं पड़ती, जो बातें पूर्व काल में कहीं देखी तक नहीं जाती थीं, वे आज घर--घर में मौजूद हैं । परिस्थितियों में इतना भारी परिवर्तन हो जाने के कारणों में सबसे बड़ा कारण माता-पिता की गैर जिम्मेदारी है, जो सन्तानोत्पत्ति के लिए आवश्यक योग्यता प्राप्त किए बिना इस भारी उत्तरदायित्व को कन्धे पर उठाने का दुस्साहस कर बैठते हैं । इन्हीं भूलों के कारण आज हमारा पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन विषाक्त बनता चला जा रहा है ।

यह सभी जानते हैं कि माता-पिता को अपने शरीर का पूर्ण विकास कर लेने तक, युवावस्था तक ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए । वासनापूर्ति के लिए नहीं, सन्तानोत्पत्ति के लिए काम सेवन करना चाहिए । ग्रहस्थ जीवन में भी पूर्ण संयम का पालन करने से बलवान, निरोग, बुद्धिमान और दीर्घजीवी संतान पैदा होती है। परन्तु इस तथ्य को बहुत कम लोग जानते हैं कि माता-पिता के शुद्धाचरण का बच्चे पर क्या प्रभाव पड़ता है ? बालक केवल हाड़-मांस का ही नहीं होता, उसमें अन्तःचेतना का भी प्रमुख भाग रहता है । यदि माता-पिता के मन में, मस्तिष्क में, अन्तःकरण में कुविचार, स्वार्थपरता, वासना, असंयम, अनुदारता की वृत्तियाँ भरी हुई हैं तो वह उसी रूप में या थोड़े-बहुत परिवर्तित रूप में बालक में भी प्रकट होंगी । जैसे कोढ़ी या क्षयग्रस्त स्त्री-पुरुषों के रजवीर्य से दूषित रक्त वाले बालक जन्मते हैं वैसे ही बौद्धिक एवं नैतिक दृष्टि से रोगी लोगों की सन्तान भी पतित मनोभूमि की होती है।

व्यभिचार जन्य जारज और वर्णशंकर सन्तान आमतौर से दुष्ट, दुराचारी एवं कुसंस्कारों से भरी हुई होती है क्योंकि उनके माता-पिता में पाप वृत्तियों की प्रधानता रहती है। जिन स्त्री-पुरुषों में परस्पर द्वेष, घृणा एवं मनोमालिन्य रहता है, उनके बच्चे प्रायः कुरूप और बुद्धिहीन होते हैं। डाक्टर फाउलर ने इस सम्बन्ध में बहुत खोजबीन की है। उन्होंने बहुत से बालकों की विशेषताओं का कारण उनके माता-पिता की मानसिक स्थिति को पाया है, शारीरिक दृष्टि से गिरे हुए माता-पिता के द्वारा उन्होंने उत्तम स्वास्थ्य के बालकों की उत्पत्ति का कारण उन्होंने दम्पत्ति का पारस्परिक सच्चा प्रेम पाया । इसी प्रकार उन्हें इस बात के भी प्रमाण मिले कि उद्विग्न मनोदशा के दम्पत्ति

शारीरिक और मानसिक दृष्टि से अच्छी स्थिति के होने पर भी बीमार और बुद्धिहीन संतान के जनक बने ।

डाक्टर जान केवन ने मनोविज्ञान की दृष्टि से इस सम्बन्ध में विशेष शोध की है और वे अनेक उदाहरणों एवं प्रमाणों के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यदि माता-पिता सद्गुणी, अच्छे स्वभाव के, कर्तव्यनिष्ठ, नीतिवान और धर्मात्मा हैं तो उनकी अपूर्णताओं और विकास की अन्य सुविधाओं के अभाव में भी बालक उत्तम शरीर और मन वाले उत्पन्न होते हैं । कभी-कभी जो प्रतिकूल अपवाद देखे जाते हैं उनमें भी मानसिक प्रतिकूलताओं को ही उनने निमित्त कारण पाया है। धर्मात्मा लोग भी जब किसी अनीतिसे पीड़ित होते हैं और उनके मन में पीड़ा, उद्वेग एवं प्रतिहिंसा की अग्नि जलती है तो उनके बुरे संस्कारों से बालक की मनोभूमि भर जाती है। इसी प्रकार कभी-कभी बुरे आदमी भी परिस्थिति वश उच्च विचारधारा से भरे होते हैं, तो उसकी उत्तम छाया भी बच्चों पर आती है। पुलस्त ऋषि के घर रावण का, हिरण्यकश्यप के घर प्रहलाद का जन्म होने जैसी घटनाओं में उनने माता-पिता की मनोदशा के परिवर्तनों को ही कारण माना है ।

बालकों का चरित्र निर्माण

प्रत्येक बालक में चाहे वह बालक हो या प्रौढ़ भली-बुरी सब प्रकार की प्रवृत्तियों के बीज सूक्ष्म रूप में मौजूद होते हैं । इसलिए मनुष्य जैसी संगति जैसी परिस्थिति में रहेगा उसी प्रकार की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलेगा, वे ही विकसित होंगी और अन्य प्रकार की कुण्ठित हो जायेंगी । बालक में भी काम, क्रोध, ईर्ष्या आदि प्रवृत्तियों के साथ-साथ सहानुभूति, प्रेम और दया की प्रवृत्तियाँ गुप्त रूप से विद्यमान रहती हैं । इनको वह अपने माता-पिता से, परम्परा से प्राप्त करता है और उसका चरित्र इसी पर बहुत कुछ अवलम्बित रहता है । उसकी इन प्रवृत्तियों का विकास उसके सहवास के अनुसार हुआ करता है । कामी, क्रोधी तथा द्रोही मनुष्यों के सहवास में आने से वह स्वयं भी वैसा ही बन जाता है क्योंकि ऐसे लोगों के मध्य में रहने से उसकी काम, क्रोध तथा ईर्ष्या की प्रवृत्तियाँ प्रबल हो जाती हैं । किन्तु इसके विपरीत यदि उसका सहवास ऐसे मनुष्यों से हो जो दयालु तथा सहानुभूति पूर्ण हों तो उसकी दया, प्रेम और सहानुभूति की प्रवृत्तियाँ प्रबल हो जाती हैं। बालक, संपर्क में आने वाले पुरुषों के भावों, विचारों तथा कार्यों का अनुकरण किया करता है और जैसे आदर्श उसके समक्ष उपस्थित होते हैं । उनके अनुसार उसकी प्रवृत्तियों का विकास हो जाता है । केवल उन प्रवृत्तियों पर सहवास का अधिक प्रभाव नहीं पड़ता जो बालकों में जन्म से ही बहुत प्रबल होती हैं । अतः सबसे आवश्यक बात यह है कि बालक के माता-पिता का चरित्र निर्दोष होना चाहिए।

यदि माता-पिता का चरित्र निर्दोष न हो तो उनकी संतान के सच्चरित्र होने की बहुत कम सम्भावना होती है, क्योंकि जन्म सिद्ध प्रवृत्तियों को दूर करना अत्यन्त कठिन कार्य है । इसीलिए यह उक्ति प्रचलित है कि "बालक की नैतिक शिक्षा उसके जन्म से पूर्व ही आरम्भ हो जाती है।" इस हेतु अपनी सन्तान को सच्चरित्र बनाने की अभिलाषा रखने वाले माता-पिता का यह कर्तव्य है कि वे बालक के जन्म से पूर्व ही उन गुणों को स्वयं प्राप्त करने का प्रयत्न करें, जिन गुणों का वे अपनी सन्तान में होना आवश्यक समझते हैं । इस ओर ध्यान देने से चरित्र गठन सम्बन्धी कई कठिनाइयाँ स्वयमेव ही हल हो जाती हैं ।

जिन बालकों के माता-पिता ने इस ओर उचित ध्यान नहीं दिया, उनकी प्रवृत्तियों का भी अच्छी परिस्थिति की सहायता से बहुत कुछ सुधार किया जा सकता है । भले साथियों के सहवास से बुरी प्रवृत्तियों का दमन तथा अच्छी प्रवृत्तियों को उत्तेजत किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में बालकों के माता-पिता तथा अध्यापकों का यह कर्तव्य है कि वे जिन नियमों का बालकों से पालन कराना चाहते हैं उनका स्वयं पालन करें । घर पर तथा पाठशाला में प्रत्येक कार्य नियत समय पर किया जावे, प्रत्येक वस्तु के लिए निश्चित स्थान हो, प्रत्येक कार्य को करने में स्वच्छता तथा सुन्दरता की ओर ध्यान दिया जाय, प्रत्येक व्यवहार में शिष्टता तथा कर्तव्य परायणता विद्यमान हो और भिन्न-भिन्न नियमों का यथोचित रीति से पालन किया जावे । इस प्रकार की आदर्श परिस्थिति में उपर्युक्त बातें सरलता से ही बालकों के स्वभाव का अंग बन जाती हैं और वे अनायास ही सच्चरित्र बन जाते हैं जो कि मनुष्यता का प्रधान लक्षण हैं ।

चरित्र निर्माण के लिए तीसरी आवश्यक बात "आचारिक शिक्षा" है। यदि परम्परा तथा बालक का सहवास उत्तम हो तो शिक्षा सोने में सुगन्ध का काम करती है। परम्परा तथा सहवास द्वारा प्राप्त कुप्रवृत्तियों का सुधार कुछ अंशों में आचारिक शिक्षा द्वारा हो सकता है । परन्तु इस प्रकार की शिक्षा देने में निम्नलिखित तीन बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक है-

(१) कुछ सीमा के अन्दर बालकों को थोड़ी बहुत स्वतंत्रता अवश्यमेव देनी चाहिए । उनकी प्रवृत्तियों का व्यर्थ दमन करने तथा हर समय उनको सख्त कैद में रखने से बहुत हानि की आशंका रहती है । इस प्रकार बालक डरपोक बन जाते हैं और उनमें आत्म विश्वास, स्वावलम्बन, दृढ़ निश्चय उद्योगशलता तथा मौलिकता आदि गुणों का विकास नहीं होने पाता । अत: बालकों को स्वतंत्र रीति से कार्य करने का अधिक से अधिक अवसर देना चाहिए जिससे कि उनके व्यक्तित्व और चरित्र का उचित रूप से विकास हो सके ।

(२) बालकों में आत्म संयम का भाव उत्पन्न किया जावे तथा उनकी बुरी प्रवृत्तियों को रोका जावे । यह विशेष कर उन बालकों के लिए बहुत आवश्यक है जिनकी परम्परा तथा बाल्यकाल का सहवास अच्छा नहीं होता है। इस प्रकार के बालकों को उसी समय दृढ़तापूर्वक रोकने की आवश्यकता होती है जबकि वे सीमा का उल्लंघन करने को उद्यत होते हैं । ऐसी अवस्था में यदि अन्य साधनों से सफलता प्राप्त न होवे तो दण्ड का भी प्रयोग किया जा सकता है जिससे कि बालक की कुप्रवृत्तियों का दमन होकर उसमें संयम का भाव उत्पन्न हो सके ।

(३) बालकों को उन गुणों, नियमों, आदर्शों तथा कर्तव्यों से परिचित कर देना चाहिए जिनके आधार पर उनके चरित्र का निर्माण करना है, जिससे उनको यह भली भाँति विदित हो जावे कि कौन-सी बातें उनके लिए हितकर हैं, कौन-सी अहितकर, कौन-सी बातें उचित हैं और कौन-सी अनुचित तथा उनको किस आदर्श के अनुसार कार्य करना है। शिक्षाप्रद नाटकों, रोचक कथाओं, उत्तम-उत्तम कविताओं, आदर्श पुरुषों के जीवन चरित्रों से बालक के आचरण सम्बन्धी ज्ञान की वृद्धि तथा पुष्टि करें । बालकों को सुन्दर-सुन्दर कविताएँ, गीत, पद तथा श्लोक भी कण्ठाग्र करा देने चाहिए क्योंकि इनके द्वारा उचित निर्णयों पर पहुँचने और भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में उचित रीति से व्यवहार करने में बहुत सहायता मिलती है।

(४) बालकों को निषेधात्मक कार्य की अपेक्षा विधेयात्मक कार्यों का स्मरण दिलाना अधिक श्रेयस्कर है। यदि बालक को किसी कार्य को करने का निषेध किया जाता है तो उस कार्य को करने के लिए वह अधिक लालायित हो जाता है । यह बात ध्यान देने योग्य है कि केवल शाब्दिक रीति से अच्छी आदतों का बोध देकर ही शिक्षक तथा माता-पिता को सन्तुष्ट न होना चाहिए । उनके मन में उन आदतों के प्रति श्रद्धा तथा उनको अपने जीवन में चरितार्थ करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न की जानी चाहिए। इस प्रकार की दृढ़ इच्छा उत्पन्न हो जाने पर भिन्न-भिन्न गुणों कर्तव्यों तथा सिद्धान्तों के सम्बन्ध में बालकों के मन में स्थायीभाव (सेण्टीमेन्ट्स) उत्पन्न हो जाते हैं । इस भाव के उत्पन्न हो जाने से वे उन कार्यों को अपने जीवन में चरितार्थ करने का प्रयत्न करते हैं ।

(५) ऐसे भावों को बालकों के मन में अवश्य उत्पन्न करना चाहिए जिन पर उसके समाज में विशेष महत्व दिया जाता है । इसके साथ-साथ कुछ ऐसे गुणों के प्रति भी उसके मन में स्थायीभाव उत्पन्न कर देना आवश्यक है जिनका होना मनुष्यता का सूचक है और सभ्य समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए वांछनीय है । जैसे-आत्म-सम्मान में धब्बा लग जाने, उसके यश के कलंकित हो जाने और अन्य लोगों की दृष्टि में उसके गिर जाने की उसको सदा आशंका रहती है । इस भाव का विकास शनै:-शनै: होता है । इसको पूर्णरूप से जागृत करने के लिए बालक पर विश्वास करना चाहिए और उसके उत्तरदायित्व के भाव को जागृत करना चाहिए ।

(६) किसी अनुचित कार्य को करने पर उसे भला-बुरा नहीं कहना चाहिए, बल्कि ऐसा कहकर कि "इस प्रकार का व्यवहार तुम्हारे योग्य नहीं है। यह कार्य तुम्हें शोभा नहीं देता । तुमसे कदापि ऐसी आशा न थी, इत्यादि............ ।" उसके आत्म-सम्मान के भाव को जागृत करना चाहिए जिससे भविष्य में वह कोई भी कार्य अनुचित ढंग से न करे । ऐसे अवसर पर भला-बुरा कहने से बालक का उत्साह सदा के लिए भंग हो जाता है और दिन प्रतिदिन उसकी अवनति होने लगती है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सुन्दर स्थायी भावों का हमारे जीवन में कितना महत्व है । जिन लोगों में बुद्धि की वृद्धि अधिक हो जाती है किन्तु जिसके मन में सुन्दर, स्थायी भाव नहीं बन पाते वे एक ओर बुद्धिमान होते हुए भी दूसरी ओर दुराचारी हो सकते हैं । उनका विवेक उन्हें दुराचार से रोकने में समर्थ नहीं होता है । कितने ही बड़े-बड़े बुद्धिमान दुराचरण करते हुए दिखाई देते हैं, परन्तु बहुत से अपढ़ लोग भी सदाचारी होते हैं क्योंकि अपढ़ होते हुए भी उनमें सुन्दर स्थाई भाव होते हैं । अत: सदाचार के लिए सुन्दर स्थायी भावों का होना आवश्यक है । किसी आदर्श के प्रति स्थायी भाव उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि बालकों के मन में उसका स्पष्ट चित्र खिंच

गया हो तथा उसके सम्बन्ध में उचित अन्तःक्षोभ का संगठन कर दिया गया हो। इसके लिए अभीष्ट गुणों तथा आदर्शों की महत्ता प्रभावशाली शब्दों में प्रकट करनी चाहिए तथा उसके विपरीत गुणों पर घृणा दर्शानी चाहिए। सद्गुणों से सम्बन्ध रखने वाले कार्य भी बालकों से बार-बार कराने चाहिए। चरित्र सुधार के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि निरन्तर अभ्यास द्वारा बालकों में सद्गुणों का बीजारोपण किया जाय।

चरित्र गठन के लिए बालकों में दृढ़ संकल्प शक्ति का होना भी आवश्यक है जिससे कि विघ्न बाधाओं तथा शारीरिक कष्टों का सामना करते हुए अपने निर्णयों को कार्य रूप में परिणत कर सकें। इस दृढ़ता को उत्पन्न करना भी बालक के माता-पिता एवं गुरुजनों का आवश्यक कर्तव्य है।

बालकों के साथ व्यवहार

बालकों के चरित्र निर्माण के विषय में एक खास बात यह है कि हम उसे सदैव निष्क्रिय और पराश्रित बनाये रखने का प्रयत्न न करें। यह सच है कि बालक मनुष्य के लिए परम आनन्द का साधन होता है। जिसके घर में बालक नहीं, उसके घर में आनन्द नहीं। आनन्द का ऐसा यथेष्ट उपयोग करने के लिए मनुष्य आकाश-पाताल एक कर देता है। हमारे समाज में भी बाँझपन अपशकुन और अभाग्य का कारण माना जाता है। बाँझपन का कलंक टालने के लिए स्त्री-पुरुष अपने वश भर कोई बात उठा नहीं रखते। घर में पालना बँध जाने से जो आनन्द प्राप्त हो सकता है, उसकी तुलना दूसरे किसी आनन्द से नहीं की जा सकती। यह आनन्द देह और देही दोनों का है। इस परम आनन्द ने ही संसार की सततता को बनाये रखा है और मनुष्य की शुभ वृत्तियों को हमेशा ऊपर चढ़ाया है-ऊर्ध्वगामी बनाया है। यह मनुष्य के आनन्द का जनक है।

जब ऐसे आध्यात्मिक आनन्द का देने वाला कोई पात्र पविार में जन्म लेता है तो वह न केवल अपने माता-पिता के, बल्कि सब किसी के आनन्द का साधन बन जाता है। उसे देख कर सब आनन्द मग्न हो जाते हैं, उसे गोद में लेकर सब कोई तृप्ति का अनुभव करते हैं। उसके कारण सारा परिवार आनन्द से परिप्लावित रहता है। बालक के आनन्द में माता-पिता का सच्चा आनन्द समाया हुआ है। जब बालक का आनन्द लुप्त होता है, तो माता-पिता का आनन्द भी जाता रहता है। बालक समूचे कुटुम्ब के आनन्द का केन्द्र बन जाता है। कुटुम्ब के परिचित लोग भी बालक को देखकर खुश होते हैं और एक प्रकार के गहरे आनन्द का अनुभव करते हैं।

किन्तु जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, वैसे-वैसे इस आनन्द की कक्षा और इसका प्रवाह बदलता रहता है। सब किसी के आनन्द का कारण बनने वाला धीरे-धीरे सबके आनन्द का स्थूल और स्वार्थी साधन बनने लगता है। माता-पिता और बड़े-बूढ़े समझते नहीं कि बालक का भी अपना आनन्द होता है। जन्म के बाद तुरन्त ही जो बालक अपनी रक्षा और अपने पोषण की अपेक्षा रखता है और अपने ढंग से अपना विकास करने लगता है, वह धीरे-धीरे समझदार और सशक्त भी बनता जाता है। बालक के लिए कामों को करने में माता-पिता को जो आनन्द मिलता है अथवा घर के बड़े-बूढ़ों द्वारा जो काम या आयोजन बच्चों के लिए, बच्चों का पोषण करने की दृष्टि से किये जाते हैं, उनसे उन्हें हमेशा आनन्द मिलता ही है, यह सोचना ठीक नहीं। जब बालक अपने आनन्द में लीन होते हैं, तब माता-पिता और घर के बड़े उनसे यह अपेक्षा रखते हैं कि वे अपने किसी व्यवहार या कार्य द्वारा उन्हें आनंद पहुँचायें। बालक के आनन्द से आनन्दित होने वाले बड़े-बूढ़े अब दूसरी दृष्टि से सोचने लगते हैं। उनके मन में यह विचार प्रमुख बनने लगता है कि बालक भी उन्हें आनन्द पहुँचाने का यत्न करें। जब कोई छोटा बालक अपने खेल में डूबा और उसमें पूरा रस ले रहा है, तभी माता-पिता और बड़े-बूढ़े यह चाहते हैं कि बालक अपना खेल छोड़कर उनके पास आये और उनका मनोरंजन करे। जो माता-पिता और बड़े-बूढ़े बच्चे के साथ खेलकर और उसे अपने माता-पिता और बड़े-बूढ़े बच्चे के साथ खेलकर और उसे अपने मन-बहलाव का साधन बनाकर खुश होना चाहते हैं, वे बच्चे के भय और उसकी अरुचि या उकताहट की परवाह नहीं करते और जब बालक माता-पिता के ऐसे किसी व्यवहार का विरोध करता है तो उन्हें यह पसन्द नहीं आता और बालक की खीझ या चिढ़ की परवाह किये बिना वे अपने आनन्द-उत्सव में मग्न रहते हैं। एक समय था जब बच्चों का और बड़ों का आनन्द अभिन्न था। धीरे-धीरे ऐसा समय भी आता है, जब कभी तो उनका आनन्द अभिन्न होता है और कभी भिन्न भी। यदि ऐसी परिस्थिति में ध्यानपूर्वक और ज्ञानपूर्वक बालक को समझाने की कोशिश न की जाय तो फिर भी एक समय ऐसा आ जाता है, जब बालक के और बड़ों के आनन्द-क्षेम और आनन्द-

कार्य बिल्कुल ही भिन्न बन जाते हैं और आनन्द विषयक दोनों की व्याख्याएँ बदल जाती हैं ।

हममें से हर एक को यह समझना चाहिए कि छोटा बच्चा एक प्राणवान प्राणी है और उसका अपना एक स्वतंत्र व्यक्तित्व भी है । ज्यों-ज्यों व्यक्तित्व का विकास होता जाता है, त्यों-त्यों वह अपनी प्रतिभा अनेक प्रकार से प्रकट करता जाता है । ऐसे बालक को उच्चकोटि का आनन्द रुचता है और ऐसे आनन्द की प्राप्ति के लिए वह उच्चकोटि के कार्य पसन्द करता है । चूँकि समाज को बालक के चित्त की धाराओं का कोई व्यवस्थित ज्ञान नहीं होता, इसलिए बालक के प्रति प्राय: सभी बड़े उसके बारे में गलत ख्याल बना लेते हैं और यों बालक के साथ अन्याय करते हैं । जिस तरह बड़ी उम्र के लोगों को आनन्द रुचता है और अपनी रुचि का आनन्ददायी काम अच्छा लगता है, उसी प्रकार बालक भी आनन्द-प्रिय है और उसे भी रुचिकर व आनन्द-प्रेरित काम अच्छे लगते हैं । चूँकि हम इस सचाई की तरफ ध्यान नहीं देते, इसलिए अक्सर बच्चों के आनन्द-विनोद में और उसकी रुचि के कामों में बड़ेपन के बल पर बाधा डाला करते हैं । जब बालक खेलना-कूदना चाहता है, तो हम उसे चुपचाप बैठने को कहते हैं। जब बालक कुछ करना-धरना चाहता है तो हम उसके उत्साह पर ठण्डा पानी डाल देते हैं । इस प्रकार बड़े-बूढ़े बालकों को रुचिकर लगने वाले हर तरह के आनन्ददायक कार्यों का जाने-अनजाने विरोध करने लगते हैं । बालक समझ नहीं पाते कि क्यों घर के बड़े-बूढ़े उनके आनन्द में बाधक बनते हैं । फलत: वे अपनी शक्ति के अनुसार अपना विरोध प्रदर्शित करते रहते हैं । दुर्भाग्यवश घर के बड़े इस विरोध का उल्टा अर्थ लेते हैं और अपने ढंग से जीने की कोशिश करने वाले को शरारती और जिद्दी समझकर उसके साथ दूसरी तरह का बर्ताव करने लगते हैं । यों बच्चों और बड़ों के बीच ऐसी गलतफहमियाँ जिस प्रमाण में बढ़ती जाती हैं, उसी प्रमाण में बालक का आनन्द लुटता जाता है और परिवार के आनन्द में कमी होती जाती है । फलत: माता-पिता को, समूचे परिवार के आनन्द में कमी होती जाती है । फलत: माता-पिता को, समूचे परिवार को आनन्द प्रदान करने वाला बालक अप्रिय लगने लगता है और सबका आपसी आनंद दु:ख और कलह में बदल जाता है । यह सब इसलिए होता है कि माँ-बाप और घर के बड़े-बूढ़ों को बालक के आनन्द में सारी दुनियाँ का आनन्द है और यह समझ कर बालक को आनन्द मग्न रहने दें तथा उसके आनन्द से स्वयं आनन्दी बनें, तो आज की दुखी दुनियाँ की काया पलट हो जाय और वह सुखी बन जाय ।

बच्चों को भी विकसित होने दीजिए

दुनियाँ के सभी देशों में बालक की महिमा गायी गई है । आज भी गायी जाती है । बालक राष्ट्र की अनमोल निधि है, राष्ट्र की नींव में बालक बैठा है । जो राष्ट्र अपने बालकों को सही-सही सार-सँभाल रखता है, उसे अपने जीवन में कभी पछताना नहीं पड़ता क्योंकि आज का बालक ही कल का नागरिक बनता है और राष्ट्र की बागडोर सम्भालता है । जैसा बालक होगा, वैसा ही राष्ट्र बनेगा । दुनियाँ में सर्वत्र यही हो रहा है । हिन्दुस्तान में भी आज हम इसी सत्य के दर्शन कर रहे हैं ।

हमने अपने देश में अपने बालकों की कम से कम चिन्ता की है। अपने विकास के लिए कम से कम पुरुषार्थ किया है । उनके सर्वांगीण विकास के साधनों को जुटाने की तरफ हमारा ध्यान नहीं के बराबर ही गया है । हमने अपने घरों में, विद्यालयों में, समाज में और राज दरबार में, ऐसा कोई वातावरण भी नहीं बनाया कि जिसके बीच जीकर हमारा बालक सहज भाव से सुसंस्कृत और सुविकसित बन सके । विकृति के अनेक क्षेत्र हमने अपने बीच बढ़ाकर और फैलाकर रखे हैं । संस्कृति के सुन्दर केन्द्रों का व्यापक विकास करने की तरफ हमारा ध्यान आग्रह के साथ जाना चाहिए, पर जा नहीं रहा है । इसी कारण आज हमारे बालकों का जीवन चारों तरफ से रुँधा पड़ा है और उन्हें ऊपर उठने के इने-गिने अवसर ही मिल रहे हैं । आज हमारे समाज में बालक जितने दलित और उत्पीड़ित हैं, उतने और कोई शायद नहीं हैं । पर हमें अपनी इस स्थिति का न तो पूरा भान है और न इससे ऊपर उठने की चिन्ता ही है । आज यही हमारे समाज के विचारशील लोगों की सबसे बड़ी चिन्ता का विषय हो, तो इसमें आश्चर्य नहीं ।

जिन घरों में बालक खा-पीकर, और पहन-ओढ़कर सुखी हैं, वहाँ भी वह एक-दूसरी दृष्टि से भूखा, प्यासा और बेआसरा पड़ा हुआ है, क्योंकि मनुष्य का जीवन पशु के जीवन से भिन्न है । मनुष्य भाव का भूखा होता है । मनुष्य स्वाभिमान को प्राणों से भी अधिक मूल्यवान समझने वाला प्राणी है । मनुष्य अपनों से और गैरों से भी आदर, सत्कार,

स्नेह और सराहना की चाह रखता है। मनुष्य स्वयं अपने हाथों कुछ करने करने की इच्छा रखता है और करके सुखी होता है। मनुष्य को पराधीनता प्यारी नहीं लगती। मनुष्य अपने बलबूते जीकर अधिक शक्तिशाली बन सकता है, बनना चाहता है। उसे बन्धन पसन्द नहीं होते, वह खुला और स्वतंत्र जीवन बिताने का इच्छुक होता है। दूसरों के बन्धन में बँधने की अपेक्षा अपनी इच्छा से अपनाये हुए बन्धन उसको अधिक लाभकर होते हैं और उनके द्वारा वह अपनी सच्ची उन्नति और मानवता की सही उपासना करता है। यह स्वस्थ और संस्कारी मनुष्य का अपना वैभव है।

आज हमारा बालक घरों में, मदरसों में और समाज के बीच इस वैभव से वंचित है। जैसे-तैसे जी रहा है। हमने उसके जीवन का कोई स्वस्थ और मनोवैज्ञानिक क्रम अभी निश्चित नहीं किया है। वह भगवान का भेजा हमारे बीच आता है और भगवान के भरोसे ही जीने व बढ़ने लगता है। उसके सम्मान का हमारा ज्ञान तो बहुत ही अल्प और अपर्याप्त है। हम न उसके शरीर की आवश्यकताओं को ठीक से जानते हैं न उसके मन और मस्तिष्क की आवश्यकताओं की सही-सही जानकारी रखते हैं, फिर हमें उसकी आत्मा की भूख का तो भान ही क्यों होने लगा। अमीर से अमीर और गरीब से घरीब घरों में जीने और पलने वाले हमारे बालकों का यह घोर दारिद्र्य हमारी वर्तमान अवनति के और लड़खड़ाती चाल से बढ़ने वाली प्रगति के लिए जिम्मेदार हैं।

जन्म से सात साल तक की उम्र के बच्चों के सर्वतोमुखी विकास के लिए हम व्यक्तिगत और सामाजिक रूप से बहुत ही कम चिन्ता करते हैं। बच्चों के जीवन का अत्यन्त कीमती समय हमारे इस घोरतम प्रमाद के कारण व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है। मनोविज्ञान के ज्ञाता और शिक्षा शास्त्र के विशेषज्ञों का कथन है कि सात साल से पहले की उमर ही बच्चों के जीवन का सच्चा और सही नियमन और निर्माण करने वाली उमर होती है। यदि इस उमर में पूरी सतर्कता से काम लेकर बालकों के विकास की पर्याप्त चेष्टा न की गई तो बाद में उन पर किया जाने वाला सारा खर्च और परिश्रम बेकार हो जाता है। यह एक ऐसी सचाई है जिस पर दो रायें हो नहीं सकतीं।

बच्चों की शक्तियों का विकास कैसे करें?

बाल शिक्षण का मनोवैज्ञानिक उद्देश्य यह है कि बच्चों को संसार की कर्मस्थली में आने के लिए तैयार किया जाय। संसार कठोर कार्य-क्षेत्र से भरा हुआ है। पग-पग पर हमें कष्ट संघर्षों का सामना करना पड़ता है। बच्चे के मन में भी क्रमश: कार्यक्षेत्र की भावना, जिम्मेदारी और माता-पिता की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति के विषय में जानकारी उत्पन्न होनी चाहिए।

आवश्यकता इस बात की है कि आप बच्चों को ऐसी शिक्षा प्रदान करें कि वे आप पर अनावश्यक रूप से निर्भर न रहें, वरन् स्वयं अपने हाथों से निज कार्य सम्पन्न करते चलें। प्राय: देखा जाता है कि बच्चे जरा-जरा सी बात के लिए माता-पिता, भाई-बहिन अथवा नौकरों के ऊपर मुँहताज होते हैं, स्वयं कुछ नहीं कर पाते। माता-पिता को ही उनके दैनिक कार्य जैसे स्नान कराना, स्नान के पश्चात् कपड़े धोना, बिस्तर लगाना, भोजन में सहायता करना, बाल ठीक करना इत्यादि अनेक छोटे-बड़े कार्य करने पड़ते हैं। बड़े घरों में तो बालक एक गिलास जल भी स्वयं अपने हाथ से लेकर नहीं पी सकते, अपने जूतों पर पॉलिश या वस्त्रों को ब्रुश से साफ नहीं कर सकते, यदि घर में झाड़ू, कमरे की सफाई अथवा भोजन बनाने का कार्य पड़ जाय, तो वे विफल होते हैं।

चतुर माता-पिता को प्रारम्भ से ही इन कमजोरियों को दूर करने में सतर्क रहना चाहिए। बच्चों को स्वयं काम करने की आदत डालकर आप उनमें आत्म विश्वास और स्वावलम्बन उत्पन्न करते हैं, संसार के कर्मक्षेत्र के लिए उन्हें मजबूत बनाते हैं। स्वयं नकर बच्चों को इस युक्ति से प्रोत्साहित कीजिए कि उन्हें अपने कार्य करने में आनन्द आये। वे खुद स्नान करें, वस्त्रों को सम्हालें, कपड़े धोएँ, तौलिया स्वच्छ रखें, कंघी स्वयं करें, दाँत मञ्जन करना न भूलें, बिस्तर स्वयं बिछाएँ स्वयं उठाएँ, स्कूल से आकर जूते और वस्त्र बदल डालें, अपनी पुस्तकों-कापियों तथा पठन-पाठन सम्बन्धी अन्य सामग्रियों को यथास्थान सुरक्षित रखें। संक्षेप में, अपने अधिक से अधिक कार्य वे स्वयं करें।

धीरे-धीरे उत्तरदायित्व का विकास करने के लिए यह भी आवश्यक है कि उनसे घर के मामलों में राय ली जाय। जिम्मेदारी अनुभव करने वाला बच्चा न चोरी करेगा, न अनुचित पैसों की लम्बी-चौड़ी माँगें ही पेश करेंगे। बच्चे स्वयं चाहते हैं कि परिवार के मामलों में दिलचस्पी लें किन्तु हम स्वेच्छाचार से उनकी बात पर ध्यान नहीं देते।

बच्चे को यह अनुभव करने दीजिए कि घर में उसका महत्वपूर्ण स्थान है। बच्चे का गर्व फुला दीजिए। उसे इस

बात के गर्व का आनन्द अनुभव करने दीजिए कि परिवार में उसका सम्मान होता है। गर्व की रक्षा करने वाले माता-पिता का बच्चा सदैव परिवार के सम्मान की रक्षा करता है। इससे बच्चे का आत्म-विश्वास बढ़ता है। बच्चों को अपने हाथ से अपने उद्योग और परिश्रम से चीजें, खिलौने, तस्वीरें बनाने, कढ़ाई-बुनाई या सिलाई का कार्य करने में विशेष आनन्द का अनुभव होता है। चतुर माता-पिता को बच्चों की इस स्वाभाविक रचनाशीलता, कार्य करने की प्रवृत्ति, सृजनात्मक शक्ति को जागृत करना चाहिए।

बच्चों के स्वास्थ्य की समस्याएँ

बच्चों की उन्नति का रहस्य उत्तम स्वास्थ्य ही है। उत्तम स्वास्थ्य की नींव बचपन से ही रखी जाती हैं। स्वास्थ्य से हमारा अभिप्राय यह है कि बच्चे की पाचन क्रिया दुरुस्त हो तथा मलोत्सर्ग की प्रणालियाँ अच्छी तरह निज कार्य करती रहें। उनके शरीर में स्फूर्ति रहे, कार्य में मन लगे, उनके हृदय में आशा, उत्साह तथा मुख पर मधुर मुस्कान रहे, आत्मा स्वच्छंद हो, मस्तिष्क तथा ज्ञानेन्द्रियाँ पवित्र और विकसित रहें।

स्वास्थ्य का सर्वप्रथम नियम है कि बच्चों को जल्दी सोने तथा जल्दी जागने की आदत डाली जाय। यह कठिन है किन्तु धीरे-धीरे अभ्यास से यह आ सकती है। भारत जैसे देश का प्रातःकालीन समय बौद्धिक विकास, मौलिक अध्ययन एवं चिन्तन मनन के लिए बहुत उत्तम है।

दाँतों की सफाई दूसरा प्रधान कार्य है। टूथ पाउडर या दाँतुन की धीरे-धीरे आदत डालनी चाहिए। तत्पश्चात् तेल की मालिश के साथ स्नान करना चाहिए। शरीर त्वचा का रंग साफ हो जाता है तथा शारीरिक शक्ति की वृद्धि होती है। नास्ते में दूध, मीठे फल आदि उत्तम हैं। यथा सम्भव भोजन पौष्टिक दिया जाय, चाय की आदत न डाली जाय। बचपन में ही सिगरेट की गन्दी आदत पड़ती है जिसकी ओर से सावधान रहें। शरीर ओर मस्तिष्क की पूर्णता स्वच्छता, रहने के स्थान और उसके इर्द-गिर्द के वायु मण्डल की स्वच्छता, सुखाद्य और पौष्टिक भोजन, फल, हरी तरकारियाँ स्वास्थ्य बनाने में सहायक होते हैं।

व्यायाम की आदत प्रारम्भ से ही डालनी चाहिए अन्यथा बच्चों में आलस्य, मोटापन, निकम्मापन, झींकना, दुःखी रहना इत्यादि दुर्गुण आ जाते हैं। व्यायाम के अनेक उपाय हो सकते हैं। जैसे-खेल-कूद, भागना, तैरना, पेड़ों पर चढ़ना, कुस्ती, अंग्रेजी डम्बल या भारतीय यौगिक व्यायाम। उन्हें गहरी साँस लेना सिखलाइये। वे नित्य समय पर स्नान करें, मालिश किया करें। ऐसा प्रयत्न करें कि व्यायाम उनके लिए बोझ न बन जाय वरन् वे उसे मनोयोग पूर्वक करें। श्वाँस सम्बन्धी कसरतें अति उत्तम होती हैं। बलपूर्वक, श्वाँस-प्रश्वाँस क्रिया की अपेक्षा तेज चलने, धीरे-धीरे दौड़ने से हृदय और फेंफड़ों को बहुत लाभ पहुँचता है।

बच्चों को समय-समय पर नये-नये स्थान, बाग, सरिता के तट पर या स्वस्थ स्थानों पर टहलने के लिए ले जाया कीजिए। शुद्ध वायु में रखने से उनकी बाढ़ ठीक रहेगी। स्फूर्ति से टहलना चाहिए। छुट्टियों में घर से बाहर ले जाने से बच्चों की परिस्थिति एवं वातावरण में परिवर्तन हो जाता है।

यदि किसी व्यायामशाला में जाने की सुविधा हो तो मालिश करना आसानी से आ सकता है। मालिश एक उत्तम व्यायाम है। त्वचा की क्रिया को ठीक रखने के लिए शुष्क घर्षण या स्नान के समय गीले वस्त्र से बदन रगड़ना त्वचा को स्वस्थ रखता है। सुविधानुसार मालिश कराते रहें।

बच्चे स्वभावतः कुछ न कुछ करते रहते हैं। वे निश्चेष्ट नहीं बैठ सकते। इसलिए आपकी चतुरता और कला इस बात में है कि उनके लिए कुछ ऐसे मनोरंजक कार्य खोज निकालें, जिसमें उनकी शक्तियाँ लग सकें और कुछ उपयोगी कार्य भी हो सके। वे कार्य के भूत होते हैं। उनकी इस उत्पादक शक्ति को कार्य में लाने में ही भलाई है। अधिक कार्य करने से उनकी गुप्त उत्पादक शक्तियों का विकास होता है।

बच्चे को जीवन-सम्पर्क में लाइये

आपका बच्चा आपके जीवन का बड़ा सहायक और दुःख बँटाने वाला बन सकता है, यदि वह सुशील है और उत्तरदायित्व को समझता है। उसे धीरे-धीरे जीवन, समाज, अपनी आर्थिक और सामाजिक स्थिति का भान करा दीजिए। अपनी शिक्षा प्रेम से सने हुए वाक्यों में दीजिए।

ज्यों-ज्यों वह बड़ा बनता है, त्यों-त्यों उस पर से अपना अधिकार हटाकर मैत्री भाव धारण कीजिए, अर्थात् उसे अपना मित्र मानिए, मातहत नहीं। मित्र का सम्बन्ध रखने से बालक का आत्म-विश्वास निरन्तर अभिवृद्धि को प्राप्त होता रहता है। उसे स्वतंत्र रूप से विकसित होने का अवसर प्राप्त होगा। प्रेम का ही नियंत्रण सर्वश्रेष्ठ और स्थायी

हो सकता है। बच्चे को स्वाधीन रख कर ही हम उसे जीवन और संसार के उत्तरदायित्व की शिक्षा प्रदान कर सकते हैं। जो निरन्तर छोटी-बड़ी बातों में माता-पिता के पथ-प्रदर्शन के मुहताज बने रहते हैं, वे अपनी मौलिकता, नीर-क्षीर विवेक दृष्टि, स्वतंत्रता पूर्वक कार्य करने की क्षमता, नेतृत्व इत्यादि सदुगुणों का विकास नहीं कर पाते हैं। धीरे-धीरे अपना हाथ खींचकर जीवन, समाज और सांसारिक उत्तरदायित्व का बोझ बालक पर डालना चाहिए।

बालक जब किशोरावस्था को पार करता हुआ युवावस्था में प्रवेश करता है तो उसके नवीन रक्त में खूब उत्साह होता है, वह कुछ करना चाहता है। बड़ी-बड़ी इच्छाएँ और योजनाएँ उसके मन में भरी होती हैं, परन्तु अनुभव की कमी के कारण बहुधा उचित मार्ग, उचित साधन एवं उचित कार्यक्रम नहीं अपना पाता। फलस्वरूप उसे कई बार असफलता और निराशा का मुख देखना पड़ता है, जिससे उसकी हिम्मत टूट जाती है और भविष्य के लिए कोई महत्वपूर्ण कार्य करने लायक साहस उसमें नहीं रह जाता।

इस परिस्थिति के आने देने से पूर्व अभिभावकों का कर्तव्य है कि बच्चों की गतिविधि और विचारधारा का बारीकी से निरीक्षण करते रहें और उन्हें समयानुसार ऐसी सलाह देते रहें कि वे गलत कदम उठाने से बचे रहें। बहुधा अति उत्साह के कारण लड़के अपनी इच्छा को प्रधानता देकर अभिभावकों की सलाह पर कम ध्यान देते देखे गये हैं। ऐसा होने पर भी बुद्धिमान अभिभावकों का कर्तव्य है कि रुष्ट हो बैठने या असहयोग करने की नीति न अपनायें, वरन् उसकी भूल को मानसिक दुर्बलता समझकर क्षमा की भावना से काम लें और उन्हें अनिष्ट से बचाने एवं उचित मार्ग बताने के अपने कर्तव्य को सदैव तत्परतापूर्वक पालन करते रहें।

बालकों को पवित्र वातावरण में रखिए

बालकों के जीवन को सफल बनाने और उनके मानसिक विकास को उपयुक्त रीति से अग्रसर होने के लिए पवित्र वातावरण की बड़ी आवश्यकता है। यह एक अटल सत्य सिद्धान्त है कि जो मनुष्य किसी अन्य मनुष्य के साथ रहेगा तो उसकी भावनाओं का प्रभाव भी उस पर अवश्य पड़ेगा। अगर उन दोनों में से एक कोमल प्रकृति का हुआ तो वह दूसरे सबल व्यक्ति की भली-बुरी बातों से अवश्य प्रभावित होगा और उनको ग्रहण भी कर लेगा। इस दृष्टि से हम यदि दूसरों के प्रति सद्भावना रखते हैं तो अप्रत्यक्ष रूप में उनका कल्याण ही होता है। इसके विपरीत अगर दुर्भावना रखते हैं और प्रकट करते हैं तो उससे अन्य लोगों की क्षति होती है। बालक का मन बड़ा ही निर्मल होता है। उसके मन में दृढ़ता नहीं होती। अतएव जब किसी व्यक्ति के प्रबल विचार उसके अचेतन मन में घुस जाते हैं तो वे उसकी बड़ी क्षति कर डालते हैं। यदि कोई व्यक्ति अपने शत्रु के विनाश के विचार मन में ला रहा है और इसी बीच उसका बालक उसके समीप आये तो अज्ञात रूप से उसके वे अभद्र विचार बालक के हृदय में प्रवेश कर जाते हैं। इस कारण बालक का स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है अथवा उसकी मृत्यु हो जाती है।

हमारी साधारण धारणा है कि बालक को बिना सिखाये कुछ भी नहीं आता। बालक के जीवन पर उन्हीं बातों का प्रभाव पड़ता है जिन्हें हम जानबूझ कर उसके मन में डालते हैं, पर हमारी यह धारणा भ्रमात्मक है। हम बालक के जीवन पर जितना जान-बूझकर प्रभाव डालते हैं, उससे कहीं अधिक प्रभाव उसके जीवन पर अनजाने डालते हैं। हम जो भी विचार मन में लाते हैं, उससे बालक प्रभावित होता है। यदि हमारे सब समय के विचार भले हैं, यदि हम सब समय दूसरे के ही कल्याण का चिन्तन करते हैं तो बालकों का चरित्र स्वतः ही सुन्दर बन जाता है। प्रेम ही सब सद्गुणों का स्रोत मूल है और घृणा सब दुर्गुणों का। हमारी विश्व-प्रेम की भावनाएँ बालकों के हृदय में स्थान कर लेती हैं। और वे उसे अपने आप सदाचारी बना देती हैं।

जो व्यक्ति अपनी सन्तान को सुयोग्य बनाना चाहता है, उसके लिए यह आवश्यक है कि वह कठोर परिश्रम से पैसा कमाकर उनका लालन-पालन करे। दूसरे के धन की आशा न करे। अपने बालकों को दूसरे के सहारे कभी न छोड़ें। यदि कोई गरीब व्यक्ति अपने बालक को प्रेम के साथ पालता है और यदि ऐसे बालक को वह किसी कारणवश किसी धनी के घर थोड़े दिन के लिए रख दे, जहाँ बालक को सब प्रकार की सुख-सामग्री मिलती हैं, तो भी वह बालक वहाँ रहना पसन्द नहीं करेगा। बालक प्रेम का भूखा होता है। प्रेम की भूख भोजन की भूख से भी प्रबल होती है। धनी घर में बालक की केवल भौतिक भूख तृप्त हो सकती है। यही कारण है कि वह ऐसे घर को जेलखाने के समान मानता है। ऐसे घर में रहने पर पहले तो वह वहाँ से भागने की चेष्टा करता है और जब वह इसमें

समर्थ नहीं होता तो रोग का आश्रय लेता है। जो बालक इस प्रकार के वातावरण में रहकर भी जी जाते हैं, वह किसी न किसी प्रकार के बड़े चरित्र-दोष को पकड़ लेते हैं। देखा गया है कि दत्तक पुत्र, यदि रोगी, क्रूरकर्मी, व्यभिचारी न हुआ तो वह निस्संतान अवश्य होता है। इस प्रकार की घटना का प्रधान कारण बालक का दूषित मानसिक वातावरण में पाला जाना ही है।

सन्तान हीनता दुर्भाग्य की बात नहीं

संतान की इच्छा संसार में सर्वत्र देखने में आती है, उसके लिए मनुष्य तरह-तरह के प्रयत्न भी करते हैं, पर तो भी अनेक मनुष्य निस्संतान रह जाते हैं और वे अपने को अभागा समझकर बड़े दुःखी तथा संतप्त रहते हैं। यह एक बड़ी भूल है। खास कर हमारे भारतवर्ष में तो संतान न होने को इतना बड़ा दोष मान लिया है कि उससे बड़ी-बड़ी हानियाँ होती हैं। संतान प्राप्ति के लिए अनेक व्यक्ति अनुचित उपायों का भी सहारा लेते हैं और तब भी सफलता न हो तो अन्य के बालक को दत्तक लेकर मन की साध पूरी करते हैं।

संतान से जो इच्छा किन्हीं बिरलों की ही पूर्ण होती है वे गौरव की, कमाई खिलाने की, सेवा मिलने की है। पर आज के समय में ऐसे सपूतों के दर्शन दुर्लभ हैं। बुड्ढे माता-पिता को एक भार समझा जाता है, उनकी मृत्यु की प्रतीक्षा की जाती है। जबान बेटा घर का मालिक होता है। बुड्ढे के हाथ में कोई शक्ति नहीं रहती, वह पराश्रित हो जाता है, अपनी इच्छा पूर्ति के लिए कमाऊ बेटे के मुँह की ओर ताकता है, उसकी टेढ़ी भवों को देखकर सहम जाता है। चौपाल की चर्चा में बुड्ढे को ही बाप कहा जाता है, पर व्यावहारिक रूप में बेटा बाप बन जाता है और बाप को बेटे की तरह रहना पड़ता है। जवानी के नशे में अक्सर आज के बेटे बाप का अपमान तक करने में नहीं चूकते। जो बड़े मनसूबे बाप बाँधा करता था, बेटे से जिस व्यवहार की आशायें किया करता था, समय आने पर वह बालू का महल बिस्मार हुआ दिखाई देता है। किन्हीं बिरलों की ही यह इच्छा पूर्ण होती है।

कुछ कारण ऐसे हैं जिन्हें केवल भ्रम कहा जा सकता है, जैसे यह ख्याल करना कि बेटे से हमारा नाम चलेगा। इन पंक्तियों के पाठकों से हम पूछते हैं कि आप कृपा कर अपने पूर्वजों के पीढ़ी दर पीढ़ी के हिसाब से नाम बताइये? तीन, चार, पाँच पीढ़ी से अधिक ऊपर की पीढ़ी के पूर्वजों के नाम शायद ही किसी को याद होंगे। जब अपने ही पोते, पर पोतों को नाम नहीं याद रहा तो दुनियाँ में तो संतान द्वारा चलेगा ही कैसे ? यह दुनियाँ ब्लैक बोर्ड की तरह है जिस पर बार-बार अक्षर लिखे और मिटाये जाते हैं। खेत में बार-बार बीज बोये जाते हैं और बार-बार फसल काटी जाती है। हर बरसात में असंख्य बूँदें पानी की बरसती हैं और अपने रास्ते चली जाती हैं। कौन किसे याद रखता है? दुनियाँ की याददाश्त इतनी फालतू नहीं है कि वह गये-गुजरे आदमियों को याद रखे, उनके नाम चलाये। सृष्टि के आदि से आज तक असंख्यों मनुष्य हुए और मर गये। उनकी सन्तानें मौजूद हैं, पर नाम याद रखने का किसी को अवकाश नहीं। यह सब देखते हुए भी जो यह सोचते हैं कि संतान से नाम चलेगा, वह भारी भ्रम में हैं।

इसी प्रकार यह भी भ्रम है कि मरने के बाद भी सन्तान खाना-पीना परलोक में पहुँचाया करेगी। हर आत्मा स्वतंत्र है। उसे अपने कर्म का ही फल मिलता है। बेटे की रोटी से परलोकवासी आत्मा का पेट नहीं भरता। परमात्मा इतना कंगाल नहीं है कि उसके घर में रोटी का अकाल पड़ जाय, बेटे के पिण्डोदक बिना बाप को भूखा-प्यासा रहना पड़े। सद्गति अपने कर्मों से होती है। इसके लिए बेटे का आसरा ताकना निरर्थक है।

मेरे पीछे मेरा उत्तराधिकारी कौन होगा ? यह बात भी भला कोई चिन्ता करने की है। लेने के लिए तो हर कोई हाथ पसारे खड़ा है। फिर जिनके लिए छोड़ा जायगा वे उसका सदुपयोग ही करेंगे इसका कोई निश्चय नहीं। हम देखते हैं कि कितने ही लड़के बाप के माल को लूट का माल समझकर ऐसी बेदर्दी से फूँकते हैं कि देखने वालों को तरस आता है।

संतान को आदर्श बनाइये

इन सब बातों का सारांश यही है कि चाहे आप संतानोत्पत्ति के लिए प्रयत्न करें या न करें, पर यदि संतान होती है, तो उसे आदर्श बनाना आपका कर्तव्य है। कुत्ते, बिल्लियों की तरह बहुत से बच्चे पैदा करके उनको इधर-उधर मारे-मारे फिरने के लिए छोड़ देना कोई प्रशंसा की बात नहीं है। ऐसी संतान से हमारा और पूर्वजों का उद्धार तो क्या उल्टा वे हमको नर्क में ढकेलने का कारण बनेंगे। इसी बात को समझकर आजकल अनेक विद्वानों ने तो 'संतान निग्रह' का एक आन्दोलन ही चला दिया है जिसका आशय यही है कि मनुष्य को उतनी ही संतानें

उत्पन्न करनी चाहिए, जिनका पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा वह भली प्रकार कर सकता है । हम समझते हैं कि कोई भी विचारवान व्यक्ति इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि अगर हम संतान के प्रति अपना कर्तव्य निबाहने में असमर्थ हैं तो इससे अच्छा यही है कि उसे उत्पन्न ही न किया जाय । संसार में जन्म लेने वाला प्रत्येक अबोध शिशु परमात्मा की एक पवित्र धरोहर है, जिसकी उचित प्रकार से रक्षा और विकास करके ही हम अपने उत्तरदायित्व से मुक्त हो सकते हैं ।

२५. शिष्टाचार और सहयोग

गायत्री मंत्र का अन्तिम अक्षर 'त' हमको सहयोग और शिष्टाचार की शिक्षा देता है-

तथा चरेत्सदान्येभ्यो वाञ्छत्यन्येर्यथा नरः ।
नम्रः शिष्टः कृतज्ञश्च साहाय्यवान् भवन् ॥

अर्थात्- ''मनुष्य दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करे, जैसा अपने लिए दूसरों से चाहता है । उसे नम्र, शिष्ट, कृतज्ञ और सच्चाई तथा सहयोग की भावना वाला होना चाहिए ।''

शिष्टता, सभ्यता, आदर-सम्मान और सहयोग की भावना मानव जीवन की सफलता के लिए आवश्यक बातें हैं । कौन नहीं चाहता कि दूसरे व्यक्ति उसके साथ नम्रता से बोलें, सभ्यतापूर्ण व्यवहार करें, आवश्यकता पड़ने पर उसकी सहायता करें और अगर उससे कोई भूल हो जाय तो सहिष्णुता का परिचय दें । जब हम दूसरों से अपने प्रति उत्तम व्यवहार चाहते हैं तो हमारे लिए भी उचित है कि दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करें । संसार में प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होने का नियम व्यापक रूप से काम कर रहा है । हम दूसरों के साथ जैसा व्यवहार करेंगे, उसका प्रभाव केवल उन्हीं पर नहीं अन्य अनेक लोगों पर भी पड़ेगा और वे भी उसका अनुकरण करने का प्रयत्न करेंगे। इस प्रकार एक शृंखला भलाई या बुराई की चल पड़ती है और उसका वैसा ही प्रभाव जन-समाज पर पड़ता है ।

सहयोग की आवश्यकता

शिष्टाचार और सद्व्यवहार के तत्व को समझने के लिए आवश्यक है कि पहले हम मानव जीवन में सहयोग की भावना की उपादेयता को समझें । मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के कारण अपने आप पूर्ण नहीं है । मेंढक का बच्चा जन्म लेने के बाद अपने आप, अपने बाहुबल से अपना जीवन यापन कर लेता है, परन्तु मनुष्य का बच्चा बिना दूसरे की सहायता के एक दिन भी जीवित नहीं रह सकता । उसे माता-पिता की, वस्त्रों की, मकान की, चिकित्सा की आवश्यकता होती है । यह चीजें दूसरों की सहायता पर निर्भर हैं । बड़े होने पर भी उसे भोजन, वस्त्र, व्यापार, शिक्षा, मनोरंजन आदि की जिन वस्तुओं की जरूरत पड़ती है वे उसे दूसरों की सहायता से ही प्राप्त होती है । यही कारण है कि मनुष्य सदा ही दूसरों के सहयोग का भिखारी रहता है । यह सहयोग उसे प्राप्त न हो तो उसका जीवन निर्वाह होना कठिन है ।

अपना अस्तित्व स्थिर रखने के लिए मानव प्राणी (जो कि अन्य प्राणियों की अपेक्षा बहुत कमजोर है) दूसरों का सहयोग लेता है और उन्हें अपना सहयोग देता है । रुपये को माध्यम बनाकर इस सहयोग का आदान-प्रदान समाज में प्रचलित है । एक आदमी अपने एक दिन के समय एवं श्रम से बीस सेर लकड़ी जमा करता है, दूसरा मनुष्य एक दिन के समय एवं श्रम से मिट्टी के चार घड़े बनाता है । अब घड़े वाले को लकड़ी की जरूरत है और लकड़ी वाला घड़े चाहता है तो आधी लकड़ी वह घड़े वाले को दे देता है और घड़े वाला दो घड़े लकड़ी वाले को दे देता है । दूसरे शब्दों में इस परिवर्तन को यों कह सकते हैं कि आधे-आधे दिन का समय एक ने दूसरे से बदल लिया । चीजों को यहाँ से वहाँ ले जाने की कठिनाई के कारण श्रम या समय को रुपयों में परिवर्तित किया जाने लगा । इससे लोगों को सुविधा हुई । बीस सेर लकड़ी को एक रुपये में बेच दिया अर्थात् एक दिन के श्रम को एक रुपये से बदल लिया । यह एक रूपया एक मनुष्य के एक दिन का श्रम है । दूसरे मनुष्यों का श्रम भी इसी प्रकार रुपयों में परिवर्तित होता है और फिर इन रुपयों से जो चीजें खरीदी जाती हैं वह चीजें भी समय का ही मूल्य होती हैं । इस प्रकार (१) श्रम (२) वस्तु (३) रुपया । यह तीनों चीज तीन रूपों में दिखाई देते हुए भी वस्तुतः एक ही पदार्थ हैं ।

दुनियाँ में रुपये से मनोवांछित सामग्री मिल सकती है । इसका अर्थ यह है कि हम अपना श्रम दूसरों को देते हैं और दूसरे अपना श्रम हमें देते हैं । इस लेन-देन से ही दुनियाँ का कारोबार चल रहा है । अर्थात् यों कहिए कि एक-दूसरे के सहयोग के सुदृढ़ आधार पर संसार की समस्त प्रणाली टिकी हुई है । यदि यह प्रणाली टूट जाय तो मनुष्य को फिर आदिम युग में लौटना पड़ेगा । गुफाओं में नंग-धड़ंग रह कर कन्दमूल फलों पर निर्वाह करना

पड़ेगा । इस समय तक हुई वर्तमान प्रगति का लोप हो जायेगा ।

धन अथवा श्रम का परिवर्तन-सहयोग अब भली-भाँति प्रचलित हो गया है। वह हमारे जीवन का एक अंग बन गया है। अपने श्रम एवं धन के बदले में हम विद्वानों, डाक्टरों, वकीलों, वक्ताओं, इंजीनियरों, कलाकारों, मजदूरों का सहयोग जितने समय तक चाहें उतने समय तक ले सकते हैं । इसी प्रकार इच्छित वस्तुएँ मनचाही मात्रा में ले सकते हैं । यह सहयोग प्रणाली व्यक्तिगत आवश्यकताओं के आधार पर चलती है । इस प्रणाली से हम सब अपना जीवन धारण किए हुए हैं और सांसारिक कार्य चला रहे हैं ।

सहयोग और सांसारिक उन्नति

संसार में मनुष्य ने आज तक जो आश्चर्यजनक उन्नति की है और समस्त प्राणियों को अपने वश में करके वह जो प्रकृति का स्वामी बन बैठा है उसका मूल सहयोग की प्रवृत्ति में ही है । इसके फल से उसमें एकता शक्ति, मिलन शक्ति, सामाजिकता, मैत्री की भावना आदि का आविर्भाव हुआ और उसकी शक्ति बढ़ती गई । मनुष्यों ने आपस में एक-दूसरे को सहयोग दिया, अपनी स्थूल और सूक्ष्म शक्तियों को आपस में मिलाया, इस मिलन से ऐसी-ऐसी चेतनाएँ, सुविधाएँ उत्पन्न हुई जिनके कारण उसके उत्कर्ष का मार्ग दिन-दिन बढ़ता गया । दूसरे प्राणी जो साधारणतः शारीरिक दृष्टि से मनुष्य की अपेक्षा कहीं सक्षम थे, इस मैत्री भावना, सम्मिलन योग्यता के अभाव में जहाँ के तहाँ पड़े रहे, वे अति प्राचीनकाल में जैसे थे वैसे ही अब भी बने हुए हैं । मनुष्य की तरह उन्नति का सुविस्तृत क्षेत्र वे प्राप्त न कर सके । संघ शक्ति भी एक महान शक्ति है । उसे भले या बुरे जिस भी मार्ग में, जिस भी कार्य में लगाया जायगा उधर ही आश्चर्यजनक सफलता के दर्शन होंगे ।

मनुष्यों में भी अनेक देश, जाति, वर्ग, समूह हैं । उनमें वे ही आगे बढ़े हैं, वे ही समुन्नत हुए हैं जिनमें अपेक्षाकृत अधिक सहयोग भावना है । व्यक्तिगत रूप से विचार किया जाय तो भी हमें वे ही व्यक्ति समृद्ध मिलेंगे जिन्होंने किसी भी उपाय से दूसरों का अधिक सहयोग प्राप्त किया है । कोई भी सेठ-साहूकार बिना मुनीम, गुमास्ते, कारबदार, कारीगर, मजदूर, ऐजेण्ट आदि के सहयोग के बिना समृद्धिशाली नहीं हो सकता । चोर-उचक्के, ठग, डाकू, लुटेरे, जुआरी आदि को भी जो सफलताएं मिलती हैं उसमें उनके दल की संघ शक्ति ही प्रधान कार्य करती है। बुरे लोगों द्वारा, बुरे कार्य के लिए, आपसी घनिष्ठ संघ बनाकर अवांछनीय साहसिक कार्य होते हुए हम अपने चारों ओर नित्य ही देखा करते हैं, ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं । पर साथ ही यह भी तथ्य सामने है कि श्रेष्ठ लोगों ने श्रेष्ठ कार्यों में बड़ी-बड़ी महान सफलताएं आपसी संगठन के कारण प्राप्त की हैं । व्यक्तिवाद के स्थान पर समूहवाद की प्रतिष्ठापना का महत्व अब समस्त संसार पहचानता जा रहा है। प्रथक-प्रथक रूप से छोटे-छोटे प्रयत्न करने में शक्ति का अपव्यय अधिक और काम कम होता है-परन्तु सामूहिक सहयोग से ऐसी अनेकों चेतनाओं और सुविधाओं की उत्पत्ति होती है जिसके द्वारा बड़े-बड़े कठिन कार्य सफल हो जाते हैं। सम्मिलित खेत, सम्मिलित रसोई, सम्मिलित व्यापार, सम्मिलित संस्था आदि अनेकों दिशाओं में सम्मिलन का क्षेत्र विस्तीर्ण हो रहा है । इसमें संदेह नहीं कि इस प्रवृत्ति की वृद्धि के साथ-साथ मानव प्राणी की सुख-शान्ति एवं सफलताओं में भी आश्चर्यजनक रीति से अभिवृद्धि होगी।

सहयोग से मैत्री भावना का उदय

जिन मनुष्यों में सहयोग की भावना विशेष रूप से विकसित हो जाती है, वे समस्त विश्व को आत्मीयता की दृष्टि से देखने लगते हैं । वे अनुभव करने लगते हैं कि इस जगत में अकेले व्यक्तित्व का कोई मूल्य नहीं जो कुछ उन्नति संभव है और उसका जो कुछ उपयोग किया जा सकता है वह सहयोग से ही उत्पन्न होता है । विश्व के साथ मैत्री भाव रखने से न केवल विश्व का वातावरण न्यूनाधिक मात्रा में शुद्ध एवं परिष्कृत हो जाता है बल्कि साथ-साथ मैत्री-भाव रखने वाले को महान लाभ होता है। ऐसा व्यक्ति सब प्राणियों का सुहद्र बन जाने के कारण अजातरिपु हो जाता है, वह विश्व की ओर से निर्भय हो जाता है तथा उसे अनेकों झंझट परेशान नहीं करते और न दुश्चिन्ताएँ ही उसे मानसिक पीड़ा पहुँचाती हैं ।

शत्रुत्व भाव का पोषण करने के कारण सांसारिक जीव जिन कठिनाइयों में उलझे रहते हैं, वह उनसे बिलकुल बच निकलता है किन्तु मैत्री-भावना से उसे केवल यही अभावात्मक लाभ नहीं होता । उसके तो आहलाद में भी वृद्धि होने से उसके चित्त की अवस्था समुन्नत हो जाती है। यदि कहीं उसकी मैत्री भावना और भी अधिक प्रबल हुई तो वह केवल मानसिक क्षेत्र तक ही सीमित न रहेगी बल्कि वह व्यक्ति उसकी प्रेरणा से आगे चलकर समस्त प्राणियों

के हित-साधन में निरत हो जायेगा और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श को अपने आचरण में उतारने का प्रयत्न करेगा और तब उसका क्षुद्र 'स्व' महत् 'स्व' में विलीन हो जायेगा अर्थात् उसके क्षुद्र ममत्व और मोह के बन्धन कट जावेंगे ।

यदि कोई व्यक्ति अपनी अन्त:शक्तियों को जागरत कर उनका प्रसार करता है तो समाज का एक अंग होने के कारण, उसकी उन्नति से समाज की स्थिति की ही उन्नति होती है । पुनश्च यह भी संभव है कि उसकी विकसित शक्तियों के प्रयोग द्वारा समाज की पहले से भी अधिक एवं श्रेष्ठ सेवा हो सके । अतएव व्यक्ति के समष्टि अविरोधी हित में समष्टि का हित भी अनिवार्य रूप से सन्निहित है । इसलिए हमारे लिए न केवल व्यक्तिगत साधना ही अभीष्ट है बल्कि सामूहिक अथवा राष्ट्रीय जीवन में भी हमें सक्रिय भाग लेने की आवश्यकता है । हमें न केवल स्वत: ही मुक्ति के पथ पर अग्रसर होना पड़ेगा वरन् दूसरों को भी इसी पथ पर अग्रसर होने के लिए प्रेरित करना पड़ेगा । तभी हमारे जीवन में पूर्णता आ सकेगी, तभी हम वास्तविक अर्थ में विश्व-मित्र हो सकेंगे और तभी हमारा सार्वभौम प्रेम फलदायक होगा । भगवान बुद्ध इस तत्व से पूर्णतया परिचित थे और इसीलिए उन्होंने यह इच्छा प्रकट की थी कि उनकी व्यक्तिगत मुक्ति तब तक न होगी जब तक कि विश्व का प्रत्येक जीव मुक्त न हो जावेगा ।

मैत्री-भावना के प्रसार, विस्तार या उन्नयन से न केवल व्यक्ति विशेष की ही आध्यात्मिक प्रगति होती है, बल्कि उसके शान्ति पूर्ण विचारों से विश्व का वातावरण भी प्रभावित होता है और उस व्यक्ति की भी उन्नति होती है जिसके कि प्रति वह व्यक्ति अपने विचारों को संचालित करता है । इस तरह उस व्यक्ति के लिए विश्व से तादात्म्यता की प्राप्ति के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ भी उपस्थित होने लगती हैं । किन्तु प्रेम-भाव से व्यवहार करने वाले मनुष्य को भी अनेकों अवसरों पर शत्रुता का व्यवहार करने वाले लोगों से सामना करना पड़ता है जिससे कि उसकी प्रगति अबाध गति से नहीं हो पाती । ऐसे अवसरों पर धैर्य नहीं खोना चाहिए और यह विश्वास रखना चाहिए कि जो लोग आज शत्रुता का व्यवहार करते हैं, वे आगे चलकर अवश्य ही मित्रता का व्यवहार करने वाले बन जायेंगे । जिस तरह घृणा सूचक भावों के उत्तर में घृणा के प्रयोग से घृणा की ही वृद्धि होती है उसी प्रकार प्रेम और मैत्री भाव के बारम्बार प्रयोग होने से प्रेम-भाव की वृद्धि होती है । इस तरह उस व्यक्ति का वास्तविक आत्म-विकास होता है और तब वह हमारी तथा हमारे प्रेम पथ की श्रेष्ठता आत्म-विकास के कारण अनुभव करने लगता है । वह नत-मस्तक हो जाता है और फिर शत्रु से मित्र भी बन जाता है । किन्तु यह तब ही संभव है जबकि हम मनुष्य की आसुरी प्रकृति पर उसकी दैवी प्रकृति की अन्तिम विजय में विश्वास रखें। जो यह विश्वास नहीं रखता उसका सदाचारी होना बड़ा कठिन प्रतीत होता है।

यह विश्वास कि प्रत्येक व्यक्ति में जो अन्तर्द्वन्द होता रहता है उसमें अन्तिम विजय उसकी दैवी प्रकृति की ही होगी अर्थात् यह दृढ़ धारणा कि प्रत्येक व्यक्ति सत्योन्मुख है, हमें घृणा-हीन बनाए रखने के लिए अत्यावश्यक है। इसलिए यदि हम दूरदर्शिता खोकर किसी मनुष्य की वर्तमान परिस्थिति से ही उसके भले या बुरे होने की धारणा बनाने की भूल करेंगे और इस तरह उसे उसकी भावी उन्नत स्थिति के प्रकाश में भी देखना स्वीकार न करेंगे तो यह निश्चित ही है कि हम अवश्य ही धोखा खायेंगे । अतएव यदि हम यथार्थवादी हैं तो हमें स्मरण रखना चाहिए कि आदर्शोन्मुख यथार्थवाद ही हमारी जीवन समस्याओं का एक मात्र हल है इसके अतिरिक्त इस तरह के विश्वास से हमको एक और प्रकार की भी सहायता प्राप्त होती रहती है । यदि यह विश्वास हमारे गले उतर जाय तो यह निश्चित है कि यह विश्वास हमें अन्तिम विजय की सदा याद दिलाता रहेगा और हमें उत्साह, स्फूर्ति, शक्ति और धैर्य प्रदान करता रहेगा । सात्विक व्यक्ति के लिए सत्य की अन्तिम विजय में विश्वास रखना परमावश्यक है क्योंकि बिना इस विश्वास के धैर्य, उत्साह होना कठिन है ।

सहयोग और शिष्टाचार का सम्बन्ध

सहयोग के महत्व को तो प्राय: सभी लोग स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि वर्तमान समय में मनुष्य की जीवन-निर्वाह-प्रणाली और सामाजिक व्यवस्था ऐसी पेचीदा हो गई है कि एक मनुष्य बिना दूसरे मनुष्यों के सहयोग के एक दिन भी नहीं चल सकता । पर इस बात को बहुत कम लोग जानते हैं कि वास्तविक सहयोग प्राप्त करने का क्या उपाय है ? सहयोग की वृद्धि करने और उसे स्थायी बनाने का मुख्य साधन उत्तम व्यवहार है और उत्तम व्यवहार का एक बहुत बड़ा अंग शिष्टाचार है । मनुष्य शिष्टाचार के द्वारा ही दूसरे व्यक्तियों को अपनी सभ्यता और संस्कृति का परिचय देकर उनको अपना मित्र, सहायक, हितैषी या अनुगामी बना सकता है ।

एक महापुरुष का कथन है- ''मुझे बोलने दो, मैं विश्व को विजय कर लूँगा।'' सचमुच शिष्टाचार युक्त मधुर वाणी से अधिक कारगर हथियार और कोई इस दुनियाँ में नहीं है। जिस आदमी में ठीक तरह उचित रीति से बातचीत करने की क्षमता है समझिये कि उसके पास एक बहुमूल्य खजाना है। दूसरों पर प्रभाव डालने का प्रधान साधन वाणी ही है, लेनदेन, व्यवहार, आचरण, विद्वत्ता, योग्यता आदि का प्रभाव डालने के लिए समय की, अवसर की, क्रियात्मक प्रयत्न की आवश्यकता होती है पर वार्तालाप एक ऐसा उपाय है जिसके द्वारा बहुत ही स्वल्प समय में दूसरों को प्रभावित किया जा सकता है।

बातचीत करने की कला में जो निपुण है वह असाधारण सम्पत्तिवान है। योग्यता का परिचय वाणी के द्वारा प्राप्त होता है। जिस व्यक्ति का विशेष परिचय मालूम नहीं है उससे कुछ देर बातचीत करने के उपरान्त जाना जा सकता है कि वह कैसे आचरण का है, कैसे विचार रखता है, कितना योग्य है, कितना ज्ञान और अनुभव रखता है। जो दूसरों के ऊपर अपनी योग्यता प्रकट करता है ऐसे प्रमुख मनुष्य को बहुत ही सावधानी के साथ बरता जाना चाहिए। कई ऐसे सुयोग्य व्यक्तियों को हम जानते हैं जो परीक्षा करने पर उत्तम कोटि का मस्तिष्क, उच्च हृदय और दृढ़ चरित्र वाले साबित होंगे, परन्तु उनमें बातचीत करने का शऊर न होने के कारण सर्वसाधारण में मूर्ख समझे जाते हैं और उपेक्षणीय दृष्टि से देखे जाते हैं। उनकी योग्यताओं को जानते हुए भी लोग उनसे कुछ लाभ उठाने की इच्छा नहीं करते।

बातचीत करने की कला का महत्व

अनेक व्यक्ति ऐसे भी पाये जाते हैं जो इतने योग्य नहीं होते जितना कि सब लोग उन्हें समझते हैं, पर वाणी की कुशलता के द्वारा वे लोग दूसरों के मन पर अपनी ऐसी छाप बिठाते हैं कि सुनने वाले मुग्ध हो जाते हैं। कई बार योग्यता रखने वाले लोग असफल रह जाते हैं। प्रकट करने के साधन ठीक हों तो कम योग्यता को ही भले प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है और उसके द्वारा बहुत काम निकाला जा सकता है। विद्युत विज्ञान के आचार्य जे. बी. राड का कथन है कि उत्पादन केन्द्र में जितनी बिजली उत्पन्न होती है उसका दो-तिहाई भाग बिना उपयोग के ही बर्बाद हो जाता है। पावर हाउस में उत्पन्न हुई बिजली का एक तिहाई भाग ही काम में आता है। वे कहते हैं कि अभी तक जो यन्त्र बने हैं वे अधूरे हैं इसलिए आगे ऐसे यन्त्रों का आविष्कार होना चाहिए जो उत्पादित बिजली की बर्बादी न होने दें, जिस दिन इस प्रकार के यन्त्र तैयार हो जायेंगे तब बिजलीघरों की शक्ति तिगुनी बढ़ जायगी, अर्थात् खर्च तिहाई रह जायगा।

करीब-करीब ऐसी ही बर्बादी मानवीय योग्यताओं की होती है। जिस तरह अधूरे विद्युत यन्त्रों के कारण दो-तिहाई से भी अधिक योग्यताएँ निकम्मी पड़ी रहती हैं। यदि इस विद्या की जानकारी हो तो तिगुना कार्य सम्पादन किया जा सकता है। जितनी सफलता आप प्राप्त करते हैं उतनी तो तिहाई योग्यता रखने वाला भी प्राप्त कर सकता है। आप अपनी शक्तियाँ बढ़ाने के लिए जो परिश्रम करें किन्तु उनसे लाभ उठाने में असमर्थ रहें तो वह उपार्जन किस काम का ? उचित यह है कि जितना कुछ पास में है उसका ठीक ढंग से उपयोग किया जाय। जिन्हें मूर्ख कहा जाता है या मूर्ख समझा जाता है वास्तव में वे उतने अयोग्य नहीं जितना कि विचार किया जाता है। उनमें भी बहुत अंशों तक बुद्धिमत्ता होती है, परन्तु जिस अभाव के कारण उन्हें अपमानित होना पड़ता है वह अभाव है- ''बातचीत की कला से परिचित न होना।''

मनोगत भावों को भले प्रकार, उचित रीति से प्रकट कर सकने की योग्यता एक ऐसा आवश्यकीय गुण है जिसके बिना जीवन विकास में भारी बाधा उपस्थित होती है। आपके मन में क्या विचार है, क्या इच्छा करते हैं, क्या सम्मति रखते हैं, जब तक यह प्रकट न हो तब तक किसी को क्या पता चलेगा ? मन ही मन कुड़कुड़ाने से दूसरों के सम्बन्ध में भली-बुरी कल्पनाएं करने से कुछ फायदा नहीं, आपको जो कठिनाई है, जो शिकायत है, जो सन्देह है उसे स्पष्ट रूप से कह दीजिए जो सुधार या परिवर्तन चाहते हैं उसे भी प्रकट कर दीजिए। इस प्रकार अपनी विचारधारा को जब दूसरों के सामने रखेंगे और अपने कथन का औचित्य साबित करेंगे तो मनोनुकूल सुधार हो जाने की बहुत कुछ आशा है।

भ्रम का, गलतफहमी का सबसे बड़ा कारण यह है कि झूँठे संकोच की झिझक के कारण लोग अपने भावों को प्रकट नहीं करते, इसलिए दूसरा यह समझता है कि आपको कोई कठिनाई या असुविधा नहीं है, जब तक कहा न जाय तब तक दूसरा व्यक्ति कैसे जान ले कि आप क्या सोचते हैं ? आप क्या चाहते हैं ? अप्रत्यक्ष रूप से सांकेतिक भाषा में विचारों को जाहिर करना केवल भावुक

और संवेदनशील लोगों पर प्रभाव डालता है, साधारण कोटि के हृदयों पर उसका बहुत ही कम असर होता है, अपनी निजी गुत्थियों में उलझे रहने के कारण, दूसरों की सांकेतिक भाषा को समझने में वे या तो समर्थ नहीं होते या फिर थोड़ा-बहुत जरूरी कामों की ओर पहले ध्यान दिया जाता है और कम जरूरी कामों को पीछे के लिए डाल दिया जाता है । संभव है आपकी कठिनाई या इच्छा को कम जरूरी समझकर पीछे डाला जाता हो, फिर के लिए टाला जाता हो । यदि सांकेतिक भाषा में मनोभाव प्रकट करने से काम चलता न दिखाई पड़े तो अपनी बात को स्पष्ट रूप से नम्र भाषा में कह दीजिए, उसे भीतर ही भीतर दबाये रहकर अपने को अधिक कठिनाई में मत डालते जाइए ।

संकोच उन बातों के कहने में होता है जिनमें दूसरों की कुछ हानि की या अपने को किसी लाभ की सम्भावना होती है । ऐसे प्रस्ताव को रखते हुए झिझक इसलिए होती है कि अपनी उदारता, सहनशीलता को धब्बा लगेगा, नेकनीयती पर आक्षेप किया जायगा या क्रोध का भाजन बनना पड़ेगा । यदि आपका पक्ष उचित सच्चा और न्यायपूर्ण है तो इन कारणों से झिझकने की कोई आवश्यकता नहीं है, हाँ अनीतियुक्त मांग कर रहे हों, तो बात दूसरी है । यदि अनुचित या अन्याय युक्त आपकी माँग नहीं है तो अधिकारों की रक्षा के लिए निर्भयता पूर्वक अपनी माँग को प्रकट करना चाहिए । हर मनुष्य का पुनीत कर्तव्य है कि मानवता के अधिकारों को प्राप्त करे और उनकी रक्षा करे । केवल व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए नहीं वरन् इसलिए भी कि अपहरण और कायरता इन दोनों घातक तत्वों का अन्त हो ।

सच्ची और खरी बात कहिए, पर नम्रता के साथ

षट्रिपु आध्यात्मिक सम्पत्तियों को दाबते चले आते हैं, असुरत्व बढ़ रहा है और सात्विकता न्यून होती जा रही है । आत्मा क्लेश पा रही है और शैतानियत का शासन प्रबल होता आता है । क्या आप इस आध्यात्मिक अन्याय को सहन ही करते रहेंगे । यदि करते रहेंगे तो निस्सन्देह पतन के गहरे गर्त में जा गिरेंगे । ईश्वर ने सद्गुणों की, सात्विक वृत्तियों की, सद्भावनाओं की अमानत आपको दी है और आदेश दिया है कि यह पूँजी सुरक्षित रूप से आपके पास रहनी चाहिए । यदि उस अमानत की रक्षा न की जा सकी और चोरों ने, पापों ने उस पर कब्जा कर लिया तो ईश्वर के सम्मुख जबावदेह होना पड़ेगा, अपराधी बनना पड़ेगा।

ठीक इसी तरह बाह्य जगत में मानवीय अधिकारों की अमानत ईश्वर ने आपके सुपुर्द की है । इसको अनीतिपूर्वक किसी को मत छीनने दीजिए । गौ का दान कसाई को नहीं वरन् ब्राह्मण को होना चाहिए । अपने जन्म सिद्ध अधिकारों को यदि बलात् छिनने देते हैं तो गौ का कसाई को दान करना हुआ । यदि स्वेच्छापूर्वक सत्कार्यों में अपने अधिकारों का प्रयोग करते हैं तो यह गौ का कसाई को दान करना हुआ । यदि स्वेच्छापूर्वक सत्कार्यों में अपने अधिकारों का प्रयोग करते हैं तो वह अपरिग्रह है, त्याग है, तप है, आत्मा-विश्वात्मा का एक अंश है । एक अंश में जो नीति या अनीति की वृद्धि होती है वह सम्पूर्ण विश्वात्मा में पाप-पुण्य को बढ़ाती है। यदि आप संसार में पुण्य की, सदाशयता की, समानता की वृद्धि चाहते हैं तो इसका आरम्भ अपने ऊपर से ही कीजिए । अपने अधिकारों की रक्षा के लिए जी तोड़ कोशिश कीजिए । इसके मार्ग में जो झूँठा संकोच बाधा उपस्थित करता है, उसे साहसपूर्वक हटा दीजिए ।

दबंग रीति से, निर्भयतापूर्वक खुले मस्तिष्क से बोलने का अभ्यास करिए । सच्ची और खरी बात कहने दी आदत डालिए । जहाँ बोलने की जरूरत है वहाँ अनावश्यक चुप्पी मत साधिए । ईश्वर ने वाणी का पुनीत दान मनुष्य को इसलिए दिया है कि अपने मनोभावों को भली प्रकार प्रकट करें, भूले हुओं को समझावें, भ्रम का निवारण करें और अधिकारों की रक्षा करें । आप झेंपा मत कीजिए, अपने को हीन समझने या मुँह खोलते हुए डरने की कोई बात नहीं है । धीरे-धीरे गम्भीरतापूर्वक, मुस्कराते हुए, स्पष्ट स्वर में, सद्भावना के साथ बातें किया कीजिए और खूब किया कीजिए, इससे आपकी योग्यता बढ़ेगी, दूसरों को प्रभावित करने में सफलता मिलेगी, मन हल्का रहेगा और सफलता का मार्ग प्रशस्त होता जायगा ।

ज्यादा बकबक करने की कोशिश मत कीजिए । अनावश्यक, अप्रासंगिक, अरुचिकर बातें करना, अपनी के आगे किसी की सुनना ही नहीं, हर घड़ी चबर-चबर जीभ चलाते रहना, बेमौके बेसुरा राग अलापना, अपनी योग्यता से बाहर की बातें करना, शेखी बघारना, वाणी के दुर्गुण हैं । ऐसे लोगों को मूर्ख, मुँहफट्ट और असभ्य समझा जाता है । ऐसा न हो कि अधिक वाचालता के कारण इसी श्रेणी में पहुँच जाय । तीक्ष्ण दृष्टि से परीक्षण करते रहा कीजिए कि आपकी बात को अधिक दिलचस्पी के साथ

सुना जाता है या नहीं, सुनने में लोग ऊबते तो नहीं, उपेक्षा तो नहीं करते। यदि ऐसा हो तो वार्तालाप की त्रुटियों को ढूँढ़िये और उन्हें सुधारने का उद्योग कीजिए अन्यथा बक्की-झक्की समझकर लोग आपसे दूर भागने लगेंगे।

अपने लिए या दूसरों के लिए जिसमें कुछ हित साधन होता हो ऐसी बातें करिए। किसी उद्देश्य को लेकर प्रयोजनयुक्त भाषण कीजिए अन्यथा चुप रहिए। कडुवी, हानिकारक, दुष्ट भावों को भड़काने वाली, भ्रम पूर्ण बातें मत कहिए। मधुर, नम्र, विनययुक्त, उचित और सद्भावना युक्त बातें करिए। जिससे दूसरों पर अच्छा प्रभाव पड़े, उन्हें प्रोत्साहन मिले, ज्ञान वृद्धि हो, शान्ति मिले तथा सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा हो। ऐसा वार्तालाप एक प्रकार का वाणी का तप है।

दूसरों से वार्तालाप करने के विशेष नियम

हमारी बातचीत समयानुकूल और प्रभावशाली हो और उससे कोई उद्देश्य पूरा हो सके इसके लिए सावधानी की बड़ी भारी आवश्यकता है। जिन लोगों में प्रकृति ने यह गुण स्वाभाविक रूप से दिया है उनकी तो कोई बात नहीं, पर अन्य लोगों को अपने से श्रेष्ठ व्यक्तियों की संगति और शिक्षाप्रद पुस्तकों से भी इन बातों को सीखना चाहिए और प्रयत्नपूर्वक उनका अभ्यास करना चाहिए। इस सम्बन्ध में कुछ नियम नीचे दिये जाते हैं-

(१) जिस तरह से तुम अच्छी किताबों को केवल अपने लाभ के लिए चुनते हो उसी तरह से साथी या समाज भी ऐसा चुनो जिससे कि तुम्हें कुछ लाभ हो। सबसे अच्छा मित्र वही है कि जिससे अपना किसी तरह से सुधार हो अथवा आनन्द की वृद्धि हो। यदि उन साथियों से तुम्हें कुछ लाभ नहीं हो सकता तो तुम उनके आनन्द और सुधार की वृद्धि करने का प्रयत्न करो और यदि उन साथियों से तुम कुछ लाभ नहीं उठा सकते या उनको तुम स्वयं कुछ लाभ नहीं पहुँचा सकते तो तुम तुरन्त उनका साथ छोड़ दो।

(२) अपने साथियों के स्वभाव का पूरा ज्ञान प्राप्त करो। यदि वे तुम से बड़े हैं तो तुम उनसे कुछ न कुछ पूछो और वे जो कहें उसे ध्यानपूर्वक सुनो। यदि छोटे हैं तो तुम उनको कुछ लाभ पहुँचाओ।

(३) जब परस्पर की बातचीत नीरस हो रही हो तो तुम कोई ऐसा विषय छेड़ दो जिस पर सभी कुछ न कुछ बोल सकें और जिससे सभी मनुष्यों की आनन्द वृद्धि हो। परन्तु तब तक ऐसा करने के अधिकारी नहीं हो जब तक तुमने नया विषय आरम्भ करने के पहले कुछ न कुछ नये विषय का ज्ञान प्राप्त न कर लिया हो।

(४) जब कुछ नयी महत्वपूर्ण अथवा शिक्षाप्रद बात कही जाय तब उसे अपनी नोटबुक में दर्ज कर लो। उसका सार अंश रखो और कूड़ा-कचरा फेंक दो।

(५) तुम किसी भी समाज में अथवा साथियों के संग आते-जाते समय पूरे मौनव्रती मत बनो। दूसरों को खुश करने का और उनको शिक्षा देने का प्रयत्न अवश्य करो। बहुत सम्भव है कि तुमको भी बदले में कुछ आनन्द वर्धक अथवा शिक्षाप्रद सामग्री अवश्य मिल जायगी। जब कोई कुछ बोलता हो तो तुम आवश्यकता पड़ने पर भले ही चुप रहा करो, परन्तु जब सब लोग चुप हो जाते हैं तब तुम सबों की शून्यता को भंग करो। सब तुम्हारे कृतज्ञ होंगे।

(६) किसी बात का निर्णय जल्दी में मत करो, पहले उसके दोनों पक्षों का मनन कर लो। किसी भी बात को बार-बार मत कहो।

(७) इस बात को अच्छी तरह से याद रखो कि तुम दूसरों की त्रुटियों, दोषों को जिस दृष्टि से देखते हो वे भी उसको दोषों पर स्वतंत्रतापूर्ण आक्षेप, कटाक्ष अथवा टीका-टिप्पणी करने का तुमको अधिकार नहीं है।

(८) बातचीत करते समय अपनी बुद्धिमत्ता दिखाने का व्यर्थ प्रयत्न मत करो। यदि तुम बुद्धिमान हो तो तुम्हारी, बातों से मालूम हो सकता है। यदि तुम प्रयत्न करके हमेशा अपनी बुद्धिमानी प्रकट करना चाहोगे तो सम्भवतः तुम्हारी बुद्धिहीनता अधिकाधिक प्रकट होती जायगी।

(९) किसी की बात यदि तुम्हें अपमानजनक या किसी तरह से गुस्ताखी की मालूम हो तो भी कुछ देर तक चुप रहने का प्रयत्न करो। ऐसा भी हो सकता है कि वह बात तुम्हारे स्वभाव के कारण तुम्हें खराब मालूम हो, परन्तु सब लोगों को अच्छी मालूम हो और यदि बात ऐसी ही हुई तो तुम्हें कुछ देर तक चुप रहने के लिए कभी भी पछताना नहीं पड़ेगा, बल्कि तुम धैर्य का एक नया पाठ सीखते जाओगे।

(१०) तुम स्वयं स्वतंत्रतापूर्वक तथा सरलतापूर्वक बातचीत करो और दूसरों को भी ऐसा ही करने दो। अमूल्य शिक्षा को अल्प समय में प्राप्त करने का इससे बढ़कर साधन संसार नहीं है।

मिलने-जुलने का शिष्टाचार

किसी से भेंट करने के लिए जाते समय आपको उसके सुभीते का अवश्य ध्यान रखना चाहिए। बिना किसी

अनिवार्य आवश्यकता के, दिन निकलते ही, भोजन के समय, ठीक दोपहरी में या अधिक रात गये, किसी के यहाँ न जाना चाहिए। किसी के घर बिना काम बार-बार जाना भी उचित नहीं है। यद्यपि घनिष्ठ मित्र एक-दूसरे के यहाँ दिन में कई बार बिना संकोच जाते हैं, पर इस अवसर पर भी शिष्टाचार का ध्यान रखना पड़ता है। भेंट करते समय भेंट करने वाले के पद अथवा अवस्था के अनुसार उचित अभिवादन अवश्य करना चाहिए। बड़े मनुष्यों को छोटे के अभिवादन करते समय रुकना चाहिए। अभिवादन करते समय कर्त्ता द्वारा जो शब्द प्रयोग किया जाये, बराबर वालों में उसका उत्तर उसी शब्द द्वारा दिया जाना चाहिए। बड़े लोगों की ओर से उत्तर में प्रसन्न रहो आदि शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। भेंट होने पर चुपचाप एक-दूसरे का मुँह देखते रहना सभ्यता की निशानी नहीं है। ऐसी अवस्था में तुरन्त कोई न कोई आवश्यक बात छेड़ देनी चाहिए।

किसी के यहाँ भेंट करने के लिए जाते हुए हमें उसके समय का भी अवश्य ध्यान रखना चाहिए। कार्य व्यस्त आदमियों के यहाँ समय की बड़ी कमी होती है, इसलिए वहाँ बिना काम अधिक देर तक नहीं ठहरना चाहिए। जहाँ तक हो सके कम से कम समय में अपनी बात समाप्त करके उन्हें दूसरे कार्यों के लिए अग्रसर होने का अवसर देना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति बातचीत में उदासीनता शिथिलता या उकताहट दिखाये तो समझना चाहिए कि उसे अब अधिक बात करने का सुभीता नहीं है। इसलिए ऐसा संकेत पाकर वहाँ से जल्दी अपनी बात समाप्त करके चलने का उपक्रम करना चाहिए। चलते समय यदि आप से कुछ देर और बैठने का आग्रह किया जाये तो कुछ समय पश्चात् आज्ञा लेकर वहाँ से चलना चाहिए। दिन में एक से अधिक बार भेंट होने पर हर बार मिलने पर अभिवादन किया जा सकता है। जहाँ तर्क हो अभिवादन के पश्चात् एक आध वाक्य द्वारा मिलने वाले का कुशल मंगल पूछ लेना चाहिए।

पश्चिमी सभ्यता के अनुसार किसी के द्वार पर जाकर पुकारने के लिए सांकल खटखटाने या दरवाजा भड़काने का रिवाज है किन्तु हमारे यहाँ इस प्रकार की बात अच्छी नहीं लगती। किसी के दरवाजे पर जाकर बार-बार जोर-जोर से पुकारने वाले को किसी के आने की प्रतीक्षा करनी चाहिए। मकान के अन्दर जाकर भेंटकर्त्ता को उसी कमरे में जाकर बैठना चाहिए जो इस कार्य के लिए नियत हो। पुरुषों की अनुपस्थिति में किसी के घर जाकर बैठना संदेह की दृष्टि से देखा जाता है। जहाँ पर्दे का रिवाज न हो वहाँ अनुमति लेकर स्त्रियों की उपस्थिति में भी जाकर बैठा जा सकता है। घर में तभी प्रवेश करना चाहिए जब वहाँ घर का कोई न कोई सदस्य उपस्थित हो। किसी के घर में बैठ कर उसके कागज-पत्र, पुस्तकें या अन्य पदार्थों को उलट-पुलट करके रखना या प्रत्येक वस्तु को घूर-घूर कर देखना सर्वथा अनुचित है।

किसी बड़े आदमी से मिलने को जाते समय आपको इस बात का पता लगा लेना चाहिए कि किस समय आपसे मिलने का अवकाश है। यदि पहले से मिलने का समय निर्धारित कर दिया जाये तो और अच्छा है। नियत समय पर जाकर पहले आपको अपने आने की सूचना चिट लिखकर या जवानी किसी आदमी के द्वारा उक्त सज्जन के पास पहुँचा देनी चाहिए। बुलाये जाने पर उसके पास जाकर आपको उसकी अनुमति से उपयुक्त आसन ग्रहण करना चाहिए और संक्षेप में अपनी भेंट का तात्पर्य समझा देना चाहिए। कार्य हो जाने पर केवल थोड़ी देर बैठकर पूर्वोक्त महानुभाव से आज्ञा लेकर चला आना उचित है।

जिस तरह किसी के यहाँ बार-बार जाना अनुचित है, उसी तरह किसी के यहाँ कभी न जाना भी उचित नहीं है। किन्तु यदि आपको लगे कि आपके आने से गृह-स्वामी को खेद होता है तो वहाँ कभी नहीं जाना चाहिए। गोस्वामी जी ने कहा है।

आवत ही हरसे नहीं, नैनन नहीं सनेह।
तुलसी वहाँ न जाइये, कंचन बरसे मेह॥

किसी के साथ बाहर सड़क पर खड़े होकर घण्टों बातें करना उचित नहीं है। यदि आपको किसी लम्बे विषय पर आवश्यक बात करनी हो तो रास्ते में भेंट होने पर कुछ दूर साथ चलकर बात समाप्त की जा सकती है, पर इस बात को ध्यान रखना चाहिए कि किसी को आपकी बात सुनने के लिए ही फर्लांगों और मीलों का चक्कर न काटना पड़े।

मुलाकाती के जाने के पूर्व आपको पान, सुपाड़ी या इलायची आदि द्वारा उसका आदर करना चाहिए और जिस समय वह जाने लगे तो उसकी योग्यता और परिस्थिति के अनुसार खड़े होकर द्वार तक जाकर या १०-२० कदम साथ चलकर और उसे अभिभादन करके आदरपूर्वक विदा देनी चाहिए। इस प्रकार शिष्टाचार का ध्यान रखने से मनुष्य सभ्य कहलाने का अधिकारी बनता है।

शिष्टाचार के कुछ साधारण नियम

अँग्रेजी में एक कहावत है- ''मैनर मेक्स ए मैन ।'' अर्थात् मनुष्य का परिचय उसके शिष्टाचार, बैठने, उठने, बोलने, खाने, पीने के ढंग से मिलता है । खेद का विषय है कि आजकल शिष्टाचार की भावना घटती जाती है और खासकर अनेक नवयुवकों में, उच्छृंखलता की भावना को प्रश्रय मिल रहा है । जब शिक्षित कहलाने वालों की यह प्रवृत्ति है तो सर्व साधारण पर उसका प्रभाव और भी बुरा पड़ना स्वाभाविक है । इस परिस्थिति पर असन्तोष व्यक्त करते हुए एक विद्वान ने उचित ही कहा है-

''हम बैठते हैं तो पसर कर। बोलते हैं तो चिंघाड़कर। पान खाते हैं तो पीक कुरते पर । खाने बैठें तो सवा गज धरती पर टुकड़े और सब्जी फैला दी । धोती पहनी तो कुरता बहुत नीचा हो गया । कुरता मैला, तो धोती साफ। बिस्तर साफ तो खाट ढीली । कमरे में झाड़ू तो दरवाजे पर कूड़ा पड़ा है । चलते हैं, तो चीजें गिराते हुए । उठते हैं, तो दूसरों को धकियाते हुए-ये सब तरीके (मैनर) ही किसी को संस्कृत या सभ्य बनाते हैं । हम चाहे घर पर हों या समाज में, हमें चाहिए कि इनका ध्यान रखें ।''

इसी प्रकार की और सामाजिक त्रुटियों की ओर ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है, जैसे पुस्तकें उधार लेकर वापस न करना, वायदे पर आदमी को घर बुलाना और स्वयं घर से गायब रहना, दुकानदार से वस्तुएँ उधार खरीद कर दाम देना भूल जाना, जब व्यापार चल निकले तो खराब निम्नकोटि का माल बनाकर दाम पूरा चार्ज करना, पत्रों का जबाव न देना, अपने रोजाना के काम पर देरी से आना, दफ्तर की अनेक चीजें जैसे क़लम, रोशनाई, निब, पेंसिल, कागज, कारबन, पैकिंग बक्स इत्यादि को चोरी से घर ले जाकर व्यक्तिगत काम में ले लेना, मुँह से कुछ कहकर आचरण में कुछ दूसरा ही कार्य करना-ये ऐसी अशोभनीय बातें हैं जो मानवता की उच्च प्रतिष्ठा के किसी भी प्रकार अनुकूल नहीं है । मानवता की रक्षा के लिए इनका तुरन्त परित्याग कर देना चाहिए ।

हम यह समझते हैं कि भारतीय और योरोपियन या मुसलमानी समाजों में बहुत-सी भिन्नताएँ हैं और इसलिए हम किसी दूसरे देश के शिष्टाचार के नियमों की पूरी नकल नहीं कर सकते । साथ ही यह भी सत्य है कि वैज्ञानिक आविष्कारों और आवागमन की अभूतपूर्व वृद्धि ने वर्तमान परिस्थितियों को इतना बदल दिया है कि हमारे देश की प्राचीन शिष्टाचार की पद्धति भी अनेक अंशों में असामयिक हो गई है । इसलिए हमको वर्तमान परिस्थिति के अनुकूल और मनुष्यता की रक्षा करने वाले नियमों पर आचरण करना चाहिए । स्मरण रखो कि जिसमें सभ्यता, स्वच्छता नहीं, जो अपने क्षुद्र आवेगों को वश में नहीं रख सकता, वह कुलीन नहीं कहला सकता, चाहे उसका जन्म किसी बड़े घराने में ही क्यों न हुआ हो । इसलिए जो लोग समाज में आदर और प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखे जाने की अभिलाषा रखते हैं उन्हें सभ्यता, स्वच्छता और शिष्टाचार के नियमों का अवश्य ध्यान रखना चाहिए । शिष्टाचार के असंख्य रूप हैं, इसलिए इस सम्बन्ध में कुछ संक्षिप्त बातें ही यहाँ दी जाती हैं-

१- सम्माननीय व्यक्ति, गुरुजन आदि के मिलते ही हाथ-जोड़कर या पैर छूकर या जैसा दैनिक नियम हो उसके अनुसार आदर प्रकट करो ।

२- सम्माननीय व्यक्ति को अपने से सम्मानित आसन पर बैठाओ । उनके खड़े रहने पर खुद बैठे रहना, आसन न छोड़ना, उच्चासन पर बैठना अविनय है ।

३- सम्माननीय व्यक्ति के पास शिष्टता से बैठो । टांग पसारना, बैठने में कुछ शान बघारते हुए आराम तलब बनना, आदि ठीक नहीं ।

४- सम्माननीय व्यक्तियों के सामने उनके कारण के सिवाय, अपने ही कारण से किसी दूसरे आत्मीय व्यक्ति पर क्रोध प्रकट करना, गालियाँ बकना ठीक नहीं । ऐसा काम आवश्यक ही हो तो यथा साध्य उनके उठकर चले जाने पर करना चाहिए । उनके सामने दूसरे पर अधिकार प्रदर्शन भी यथाशक्य कम करो ।

५- उपर्युक्त शिष्टाचार अपने घर आये हुए जनसमूह के सामने भी करना चाहिए । जैसे जब चार आदमी बैठे हों तब अपने आदमी को भी गाली देना आदि ठीक नहीं।

६- अपने साथियों का भी यथासाध्य शिष्टाचार करो।

७- अपने से छोटों के शिष्टाचार का ठीक प्रत्युत्तर दो।

८- खास जरूरत के बिना सदा मिठास से बोलो आज्ञा में भी यथायोग्य शब्द और स्वर की कोमलता होनी चाहिए।

९- रेलगाड़ी आदि में दूसरों की उचित सुविधा का ध्यान रखो ।

१०- गुरुजनों, महिलाओं तथा जो लोग धूम्र-पान नहीं करते उनके सामने खासकर पास से धूम्र-पान मत करो ।

११- साधारण दृष्टि से जो काम शारीरिक श्रम का हो वह काम अगर तुम्हारे बड़े करते हों तो तुम उस काम को ले लो या उसमें शामिल हो जाओ ।

१२- प्रवास में महिलाओं की सुविधा का पूरा ख्याल रखो ।

१३- दूसरों का नम्बर मारकर आगे मत बढ़ो। यह बात टिकट लेने, पानी भरने आदि के बारे में ही है। आत्म-विश्वास की दृष्टि से नहीं।

१४- साइकिल से गिर पड़ने आदि किसी के संकट में हँसो नहीं। दुर्घटना में सहानुभूति प्रकट कर सको तो करो नहीं तो कम से कम चुप जरूर रहो।

१५- साधारणत: अपने मुँह से अपनी तरफ तारीफ मत करो। न अपने कामों का झूठा और अतिशयोक्ति पूर्ण अविश्वसनीय वर्णन करो।

१६- आपसी बातचीत में जहाँ बोलने की जरूरत हो वहीं बोलो, बीच-बीच में इस प्रकार मत कूदो जिसे सुनने वाले नापसन्द करते हों।

शिष्टाचार और सद्भावना

शिष्टाचार का अर्थ बहुत से व्यक्ति केवल ऊपरी आवभगत से ही लिया करते हैं, पर ऐसी प्रवृत्ति बहुत कम उपयोगी होती है। शिष्टाचार की कृत्रिमता दूसरे व्यक्तियों से छिप नहीं सकती और इससे उनके हृदय में वह मैत्री अथवा आत्मीयता का भाव जागृत नहीं होता जो वास्तव में सहयोग की शक्ति को उत्पन्न करता है और हमारे जीवन को लाभान्वित बनाता है। इसलिए हमारे व्यवहार में साधारण शिष्टाचार के नियमों का पालन करने के साथ ही सद्भावना का होना अत्यावश्यक है। इसके बिना दिखावटी शिष्टाचार अनेक समय दूसरे व्यक्ति के मन में ऐसा भाव उत्पन्न करता है कि हम किसी स्वार्थ या अन्य गुप्त अभिसन्धि के कारण यह दिखावा कर रहे हैं।

हम परस्पर सन्देह और संशय करके तो भय को ही उत्पन्न करेंगे और एक-दूसरे का ह्रास और अन्तत: नाश ही करेंगे। हमें आपस में विचार करना सीखना होगा। विश्वास की भित्ति पवित्रता है और पवित्र हृदयों में विश्वास उत्पन्न होता है। पवित्र हृदय और निर्मल बुद्धि में सद्भावना का उदय होता है। सद्भावना परम आवश्यक है। सद्भावना से ही आपस का दृष्टिकोण सम्यक बनता है। सद्भावना के अभाव में तो एक-दूसरे में सन्देह और भय की ही उत्पत्ति है। हम आपस में क्यों एक-दूसरे से भय करें।

छिपी हुई दूषित अथवा विशुद्ध मनोवृत्ति, व्यवहार में प्रकट हो जाती है। मनोवृत्ति को छिपा कर ऊपर से शिष्टता का व्यवहार भी बहुत देखने में आ रहा है, पर वास्तविकता छिपाये नहीं छिप सकती। हमें सबको मित्र दृष्टि से देखना चाहिए, मन में किसी प्रकार की मलिनता को स्थान नहीं देना चाहिए, पर साथ ही सचेत और सावधान भी रहना चाहिए कि कहीं हमारी सरलता से ही लाभ न उठाया जाये। सतर्क और सावधान रहना चाहिए, पर मनोमालिन्य अच्छा नहीं।

सद्भावना से एक-दूसरे को ठीक-ठीक जानना और आपस में एका उत्पन्न करना, सहानुभूति से आपस में एक-दूसरे के हृदय में प्रवेश करना और हृदयों का समन्वय करना तथा सहयोग से सामर्थ्य प्राप्त करना यह क्रम है महत्वाकांक्षा की पूर्ति का। सहयोग एक यज्ञ है। यज्ञ कभी विफल नहीं हुआ। सभी शक्तियों में सहयोग होने से एक अत्यन्त महान् शक्ति का उदय होता है जिससे सभी में नया उत्साह, साहस और वस्तुत: कार्यक्षमता युक्त नवजीवन उदय होता है।

शिष्टाचार और सहृदयता

सद्भावना की तरह हमारे व्यवहार में सहृदयता की भी आवश्यकता है। सच पूछा जाय तो सहृदय व्यक्ति ही सद्भावना का व्यवहार करने से भी प्रेम पूर्ण भाषण करता है, सहानुभूति प्रकट करता है और इस प्रकार वह सबका मन आकर्षित कर लेता है। सहृदयता के बिना मनुष्य के अनेक गुण निरर्थक हो जाते हैं और उसे प्राय: मित्रहीन, एकाकीपन का जीवन ही बिताना पड़ता है।

रूखापन जीवन का सबसे बड़ा दुश्मन है। कई आदमियों का स्वभाव बड़ा नीरस, रूखा, शुष्क, निष्ठुर, कठोर और अनुदार होता है। उनका आत्मीयता का दायरा बहुत ही छोटा और संकुचित होता है। उस दायरे से बाहर के व्यक्तियों तथा पदार्थों में उन्हें कुछ दिलचस्पी नहीं होती, किसी की हानि-लाभ, उन्नति-अवनति, खुशी-रंज, अच्छाई-बुराई से उन्हें कुछ मतलब नहीं होता। अपने अत्यन्त ही छोटे दायरे में स्त्री, पुत्र, तिजोरी, मोटर, मकान आदि में उन्हें थोड़ा रस जरूर होता है, बाकी की अन्य वस्तुओं के प्रति उनके मन में बहुत ही अनुदारता पूर्ण रुखाई होती है।

जिसने अपनी विचारधारा और भावनाओं को शुष्क, नीरस और कठोर बना रखा है, वह मानव जीवन के वास्तविक रस का आस्वादन करने से वंचित ही रहेगा। उस बेचारे ने व्यर्थ ही जीवन धारण किया और वृथा ही मनुष्य शरीर को कलंकित किया। आनन्द का स्रोत सरसता की अनुभूतियों में है। परमात्मा को आनन्दमय कहा जाता

है । क्यों ? इसलिए कि वह सरस है, प्रेममय है । श्रुति कहती है- ''रसो वै स:'' अर्थात्- वह परमात्मा रसमय है। भक्ति द्वारा, प्रेम द्वारा परमात्मा को प्राप्त करना सम्भव बताया गया है । निस्संदेह जो वस्तु जैसी हो उसको उसी प्रकार प्राप्त किया जा सकता है। परमात्मा दीनबन्धु, करुणासिन्धु, रसिकबिहारी, प्रेम का अवतार, दयानिधान, भक्तवत्सल है । उसे प्राप्त करने के लिए अपने अन्दर वैसी ही लचीली, कोमल, स्निग्ध, सरस भावनाएँ पैदा करनी पड़ती हैं । भगवान भक्त के वश में हैं, जिनका हृदय कोमल है, भावुक है, परमात्मा उनसे दूर नहीं है । आप अपने हृदय को कोमल, द्रवित, पसीजने वाला, दयालु, प्रेमी और सरस बनाइये । संसार के पदार्थों में जो सरसता का अपार भण्डार भरा हुआ है उसे ढूँढ़ना और प्राप्त करना सीखिए ।

शिष्टाचार और सभ्यता

शिष्टाचार और सभ्यता का बड़ा निकट सम्बन्ध है । हम यह भी कह सकते हैं कि बिना शिष्टाचार के मनुष्य सभ्य कहला ही नहीं सकता और जो व्यक्ति वास्तव में सभ्य होगा उसमें शिष्टाचार की प्रवृत्ति स्वभावत: पाई जायगी ।

सभ्य पुरुष ऐसी प्रत्येक बात से अपने आपको बचाने का प्रयत्न करता है, जो दूसरों के मन को क्लेश पहुँचाये या उनमें चिढ़ या खीझ उत्पन्न करे । मनुष्य को समाज में अनेक प्रकार की प्रकृति या स्वभाव वाले मनुष्यों से संसर्ग पड़ता है । कहीं उसका मतभेद होता है, कहीं भावों में संघर्ष होता है, कहीं उसे शंका होती है, कहीं उसे उदासी, आक्षेप, प्रतिरोध या ऐसे ही अन्यान्य भावों का सामना करना पड़ता है ।

सभ्य पुरुष का कर्तव्य ऐसे सब अवसरों पर अपने आपको संयम में रख सबके साथ शिष्ट व्यवहार करना है। उसकी आँखें उपस्थित समाज में चारों ओर होती है । वह संकोचशील व्यक्तियों के साथ अधिक नम्र रहता है और मूर्खों का भी समाज में उपहास नहीं करता । वह किसी मनुष्य से बात करते समय उसके पूर्व सम्बन्धों की स्मृति रखता है ताकि दूसरा व्यक्ति यह नहीं समझे कि वह उसे भूला हुआ है । वह ऐसे वाद-विवाद के प्रसंगों से बचता है जो दूसरों के चित्त में खीझ उत्पन्न करे । जान-बूझकर संभाषण में अपने आपको प्रमुख आकृति नहीं बनाना चाहता और न वार्तालाप में अपनी थकावट व्यक्त करता है। उसके भाषण और वाणी में मिठास होती है और अपनी प्रशंसा को वह अत्यन्त संकोच के साथ ग्रहण करता है। जब तक कोई बाध्य न करे वह अपने विषय में मुख नहीं खोलता और किसी आक्षेप का भी अनावश्यक उत्तर नहीं देता । अपनी निंदा पर वह कान नहीं देता न किसी से व्यर्थ हमला मोल लेता है । दूसरों की नीयत पर हमला करने का दुष्कृत्य वह कभी नहीं करता बल्कि जहाँ तक बनता है, दूसरे के भावों का अच्छा अर्थ बैठाने का यत्न करता है। यदि झगड़े का कोई कारण उपस्थित हो भी जावे तो वह अपने मन की नीचता कभी नहीं दिखाता ।

वह किसी बात का अनुचित लाभ नहीं उठाता और ऐसी कोई बात मुँह से नहीं निकालता जिसे प्रमाणित करने को वह तैयार न हो । वह प्रत्येक बात में दूरदर्शी और अग्रसोची होता है । वह बात-बात में अपने अपमान की कल्पना नहीं करता, अपने प्रति की गई बुराइयों को स्मरण नहीं रखता और किसी के दुर्भाव का बदला चुकाने का भाव नहीं रखता । दार्शनिक सिद्धान्तों के विषय में वह गम्भीर और त्याग मनोवृत्ति वाला होता है । वह कष्टों के सम्मुख झुकता है, कारण उनके निवारण का उपाय नहीं, दु:खों को सहता है, कारण वे अनिवार्य हैं और मृत्यु से नहीं घबराता कारण उसका आगमन ध्रुव सत्य है । चर्चा या वाद-विवाद में दूसरे लोगों की लचर दलीलें, तीक्ष्ण व्यंग या अनुचित आक्षेपों से परेशान नहीं होता बल्कि मृदु हास्य के साथ उन्हें टाल देता है । अपने विचार में सही हो या गलत परन्तु वह उन्हें सदा स्पष्ट रूप में रखता है और जानबूझकर उनका मिथ्या समर्थन या जिद नहीं करता । वह अपने आपको लघु रूप में प्रकट करता है, पर अपनी क्षुद्रता नहीं दर्शाता । वह मानवी दुर्बलताओं को जानता है और इस कारण उसे क्षमा की दृष्टि से देखता है । अपने विचारों की भिन्नता या उग्रता के कारण सज्जन पुरुष दूसरों का मजाक नहीं उड़ाता । दूसरों के विचार सिद्धान्तों और मन्तव्यों का वह उचित आदर करता है ।

शिष्टाचार की प्रवृत्ति बाल्यावस्था से ही डालिए

शिष्टाचार की प्रवृत्ति के इतना महत्वपूर्ण होते हुए भी, खेद के साथ कहना पड़ता है कि अधिकांश घरों और परिवारों में उसकी ओर उचित ध्यान नहीं दिया जाता । बहुत से लोग तो यह सोचते हैं कि घर के भीतर, आपस में शिष्टाचार दिखलाने की क्या आवश्यकता है। वह तो विशेषत: बाहरी व्यक्तियों, अतिथियों के प्रति ही दर्शाना

आवश्यक है, पर यह एक बड़ी भ्रमपूर्ण धारणा है। अगर आपको शिष्टाचार का अभ्यास नहीं है और हम परस्पर में असभ्यता का व्यवहार और बोलचाल रखते हैं तो हम बाहरी लोगों के साथ भी संतोषजनक व्यवहार नहीं कर सकते । इसलिए माता-पिता अथवा संरक्षकों का परम कर्तव्य है कि बालकों को आरम्भिक जीवन से ही शिष्टाचार का महत्व हृदयंगम करावें और वैसी ही शिक्षा दें ।

उत्तम शिक्षण का एक उद्देश्य यह भी है कि व्यक्ति को जीवन में अच्छी आदतों से सज्जित व समलंकृत किया जावे । व्यक्ति को सुसंस्कृत बनाना उत्तम शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए । किन्तु दुर्दैव से हमारी पाठशालाओं का शिक्षण-क्रम कुछ ऐसा है तथा हमारे घरों का वातावरण भी इतना प्रतिकूल है कि छात्र जितना अधिक पढ़ते जाते हैं उतने ही अधिक वे अविनयी व उद्धत होते जाते हैं । ज्यों-ज्यों आजकल का तथा कथित ज्ञान विद्यार्थियों के मस्तिष्क में घुसता जाता है त्यों-त्यों विनय या शील बाहर निकलता जाता है । आजकल की विद्या का नशा ठीक शराब जैसा ही है । शराब के सम्बन्ध में इटालियन लोगों में यह कहावत प्रचलित है कि जब शराब अन्दर जाती है तो सद्‌बुद्धि बाहर निकल जाती है। आज की शिक्षा मदिरा के प्रभाव से सद्‌बुद्धि व उत्तमशील भाग खड़े हुए हैं । ऐसे समय में इस ज्ञान के प्रचार की कि विद्या की शोभा विनय से है, आवश्यकता दिनों-दिन बढ़ती जा रही है ।

विद्यार्थियों को विनयशील बनाने के लिए भगीरथ जैसे प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है । बल्कि यदि हम चौकन्ने रहें, असावधानी व प्रमाद को स्थान न दें, तो हमें अनेक छोटे-छोटे ऐसे अवसर प्राप्त होंगे जिनका सदुपयोग कर हम बालकों को अपनी इच्छानुसार विनय और शील सम्पन्न बना सकते हैं । बच्चे अविनयी इसलिए होते हैं कि न तो हम स्वयं संयत व्यवहार करते हैं और न स्वयं बच्चों को सुसंयत रखने की क्षमता रखते हैं । बच्चा हमारे सामने अपने बड़े भाई-बहिन का या स्वयं हमारा ही नाम लेता है, तो हम हँस देते हैं । हम सोचते हैं कि बच्चा शब्दों का उच्चारण करना सीख रहा है तो उसे सफल होते देख प्रसन्न हो उठते हैं । हमारा बच्चा जब अन्य बच्चे को गाली देता है या अपने से बड़े किसी व्यक्ति को छड़ी से मारता है तो उसके साहस को देखकर हमें प्रसन्नता होती है । बच्चा जब हमारी आज्ञा को टाल देता है तो हम भी आज्ञा-पालन पर जोर नहीं देते और फिर जब बड़ा होकर वह पूर्णतः उच्छृंखल, निरंकुश और उद्धत हो जाता है तब हम अपने भाग्य को कोसते हैं । जो वातावरण हम उनके सामने उपस्थित करते हैं उस वातावरण में पलने वाला बालक उद्धत और अविनयी न हो तो क्या हो ? दोष हमारा है और हम दैव को दोष देते हैं ।

इस दयनीय परिस्थिति से त्राण पाने के लिए हमें अपने बच्चों के लिए सुन्दर और स्वस्थ परिस्थिति का निर्माण करना होगा । सुन्दर वातावरण व मानसिक परिस्थितियों का निर्माण शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए । कारण यह है कि किसी विशेष परिस्थिति में बालकों को रखने का अर्थ है उन्हें दूसरी परिस्थितियों से साफ दूर रखना । यदि हम बालकों के लिए अच्छी परिस्थिति का निर्माण कर देंगे तो वे बिना प्रयास बुराइयों से बच जावेंगे । क्योंकि एक अच्छे वातावरण में रहने वाला बालक दूसरे वातावरण के कार्य कर ही नहीं सकता । उदाहरणार्थ नित्य माता-पिता को प्रणाम करने वालों के लड़के न अपने माता-पिता को गाली दे सकते हैं, न मार सकते हैं और न उनका नाम ले सकते हैं । अतएव हमें अपने बच्चों को सुन्दर वातावरण में रखकर बुरे वातावरण से इतनी दूर रखना चाहिए कि बुरे वातावरण में पले व्यक्तियों जैसे आचरण करना उसके लिए कठिन हो जावे । सुन्दर वातावरण में रहने से बालक अपने आप बुरे वातावरण व उसके प्रभाव से दूर रहेंगे । अतएव जो लोग चाहते हों कि उनके बच्चे विनयशील निकलें उन्हें अभी से वैसा वातावरण तैयार करने का प्रयत्न करना चाहिए । बालक के जन्म से पहले ही यह प्रयत्न होना चाहिए ।

यदि दुर्भाग्यवश प्रारम्भ से ही हमने वातावरण को सुधारने का प्रयत्न नहीं किया है तो भी हमें हताश नहीं होना चाहिए । जब से हम सुधार करना प्रारम्भ करेंगे तब से ही हमें प्रयत्नों का फल मिलना शुरू हो जायगा । सत् प्रयत्न कभी निरर्थक नहीं होते । कल्याणकारी कर्मों को करने वाला कभी दुर्गति को नहीं प्राप्त होता, अतएव जबसे हम चेत जावें तभी से सत्प्रयत्न आरम्भ कर दें । कल्पना करिए कि आप अपने माँ-बाप या अन्य गुरुजनों के नित्य प्रातःकाल चरण-स्पर्श करेंगे तो आपके बच्चे आपकी इस रीति से प्रभावित हुए बिना न रहेंगे । उनको कोमल चित्त पर अदृश्य रूप पवित्र संस्कार जमा होते जावेंगे और बड़े होने पर वे भी आपके इस आचरण का अनुकरण करेंगे।

माता-पिता को प्रणाम करने का पवित्र प्रभाव आप पर भी पड़ेगा । यदि आपके गुरुजनों की धारणा आपके प्रति

अभी तक अच्छी नहीं रही है तो आपके प्रणाम करने का तात्कालिक असर यह होगा कि उनकी भावनायें आपके प्रति शुद्ध हो चलेंगी और आपको उनका आशीर्वाद मिलना प्रारम्भ हो जायगा। यदि आपके प्रति उन्होंने कुछ गलत धारणायें बनाली हैं तो वे गलत धारणाएँ धीरे-धीरे काफूर हो जावेंगी और सच्चे मन से वे आपके लिए शुभकामनाएँ करेंगे जो निष्फल नहीं होंगी।

शिष्टाचार, सहयोग और परोपकार

इस प्रकार विचार किया जाय तो शिष्टाचार और सहयोग की भावना मनुष्यत्व का एक बहुत बड़ा अंग है। जो मनुष्य उसके तत्व को समझ लेता है वह सदैव दूसरों का सम्मान करने, उन्हें हर तरह का सहयोग देने, उनकी सेवा, उपकार करने को प्रस्तुत रहता है। क्योंकि यदि हम दूसरों के प्रति इस प्रकार का सद्व्यवहार करने की भावना नहीं रखते तो हमको भी अन्य व्यक्तियों से आवश्यकता पड़ने पर सहयोग और उपकार की आशा नहीं रखनी चाहिए। इसलिए शिष्टाचार का पालन करने वालों को सेवा और परोपकार का महत्व भी सदैव ध्यान में रखना चाहिए।

शिष्टाचार के इस स्वरूप को समझने वाला व्यक्ति अपरिचितों के साथ भी वैसा ही उत्तम और मधुर व्यवहार करता है जैसा कि परिचितों के साथ। क्योंकि ऐसा व्यक्ति सभी को अपना आत्मीय समझता है और आवश्यकता पड़ने पर निस्संकोच भाव से अपनी सेवाएँ प्रस्तुत करने को तैयार रहता है। यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो सेवा-धर्म शिष्टाचार का सर्वोत्कृष्ट और उन्नत रूप है। जब शिष्टाचार और सहयोग का भाव हमारी अन्तरात्मा में समा जाता है, तब हम बिना किसी अन्य विचार के दूसरों को सुख पहुँचाना, उनकी प्रसन्नता की वृद्धि करना अपना कर्तव्य समझ लेते हैं। उस समय हम शिष्टाचार को एक भार स्वरूप अथवा दिखावा अनुभव नहीं करते वरन् वह हमारे अन्तर से स्वयं ही सर्वत्र प्रसारित होने लगता है।

❑❑❑

सचित्र गायत्री-शिक्षा

गायत्री की महिमा अपार है। वह भूलोक की कामधेनु है। संसार का कोई कष्ट ऐसा नहीं जो माता की कृपा से न कट सके और विश्व की कोई वस्तु ऐसी नहीं जो माता के अनुग्रह से प्राप्त न हो सके। प्रस्तुत अध्याय में गायत्री के चौबीस अक्षरों में सन्निहित इन्हीं अर्थों-रहस्यों को समझाने के लिए गायत्री माता की दिव्यशक्ति धाराओं को विविध रूपों में चित्रित किया गया है। इससे महामहिमामयी सर्वशक्तिमान गायत्री माता का महत्व समझने एवं उसकी उपासना करने वालों को प्रेरणा एवं सुविधा प्राप्त होगी। किस प्रयोजन के लिए माता का किस स्वरूप, किस वर्ण, किस आकृति, किस मुद्रा, किस वाहन, किस स्थान में किस प्रकार ध्यान करना चाहिए यह सब रहस्य इन चित्रों में भली प्रकार प्रकट कर दिया है।

हर चित्र के साथ में उसके सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी देने वाला चित्र-परिचय भी लगा दिया है, जिससे पाठक तत्सम्बन्धी आवश्यक जानकारी प्राप्त कर सकें। साधना के समय इन चित्रों का ध्यान भी किया जा सकता है और गायत्री माता का महत्व भी इनके द्वारा आसानी से समझा जा सकता है।

चित्रों का क्रम एवं उनकी व्याख्या-विवेचना इस प्रकार है-

१- गायत्री महामन्त्र

गायत्री के अक्षरों का आपसी गुन्थन, स्वर-विज्ञान और शब्दशास्त्र के ऐसे रहस्यमय आधार पर हुआ है कि उसके उच्चारण मात्र से सूक्ष्म शरीर में छिपे हुए अनेक शक्ति-केन्द्र अपने आप जागृत होते हैं। सूक्ष्म देह के अंग-प्रत्यंगों में अनेक चक्र उपचक्र, ग्रन्थियाँ, मातृकायें, उपत्यकायें, भ्रमर मेरु आदि ऐसे गुप्त संस्थान होते हैं जिनका विकास होने से साधारण-सा मनुष्य प्राणी अनन्त शक्तियों का स्वामी बन सकता है।

गायत्री मन्त्र का उच्चारण किस क्रम से होता है उससे जिह्वा, दाँत, कण्ठ, तालू, ओष्ठ, मूर्धा आदि से एक विशेष प्रकार के ऐसे गुप्त स्पन्दन होते हैं जो विभिन्न शक्ति-केन्द्रों तक पहुँचकर उनकी सुषुप्ति हटाते हुए चेतना उत्पन्न कर देते हैं। इस प्रकार जो कार्य योगी लोग बड़ी कष्टदायक

१. निष्काम साधक पर माता का अपार स्नेह

साधनाओं और तपस्याओं से बहुत काल में पूरा करते हैं वह महान् कार्य बड़ी सरल रीति से गायत्री के जप मात्र से स्वल्प समय में ही पूरा हो जाता है ।

साधक और ईश्वर सत्ता गायत्री माता के बीच में बहुत दूरी है, लम्बा फासला है । इस दूरी एवं फासले को हटाने का मार्ग इन २४ अक्षरों के मन्त्र से होता है। जैसे जमीन पर खड़ा हुआ मनुष्य सीढ़ी की सहायता से ऊँची छत पर पहुँच जाता है वैसे ही गायत्री का उपासक इन २४ अक्षरों की सहायता से क्रमशः एक-एक भूमिका पार करता हुआ, ऊपर चढ़ता है और माता के निकट पहुँच जाता है ।

गायत्री का एक-एक अक्षर एक-एक धर्म शास्त्र है। इन अक्षरों की व्याख्या स्वरूप ब्रह्माजी ने चारों वेदों की रचना की और उनका अर्थ बताने के लिए ऋषियों ने अन्य धर्म-ग्रन्थ बनाये । संसार में जितना भी ज्ञान-विज्ञान है वह बीज रूप से इन २४ अक्षरों में भरा हुआ है। एक-एक अक्षर का अर्थ एवं रहस्य इतना व्यापक है कि उसे जानने में एक-एक जीवन लगाया जाना भी कम है। इन २४ अक्षरों के तत्व-ज्ञान को जो जानता है उसे इस संसार में और कुछ जानने योग्य नहीं रहता ।

गायत्री सबसे बड़ा मन्त्र है। उससे बड़ा और कोई मन्त्र नहीं । जो कार्य संसार के अन्य किसी मन्त्र से हो सकता है वह गायत्री से भी अवश्य हो सकता है। इससे वेदोक्त दक्षिण मार्ग और तन्त्रोक्त वाम मार्ग दोनों ही प्रकार की साधना हो सकती है ।

२- आध्यात्मिक माता-पिता

माता-पिता के रज-वीर्य से सभी प्राणियों का जन्म होता है । दूसरे जन्म का होना, जिसे द्विजत्व कहते हैं, मनुष्य की वास्तविक विशेषता है। यह दूसरा जन्म गायत्री माता और आचार्य पिता की दिव्य शक्तियों के समन्वय से होता है। यज्ञोपवीत संस्कार और गुरु-मन्त्र की विधिवत् दीक्षा इस दूसरे जन्म की द्विजत्व की घोषणा समझी जाती है। इस घोषणा के बिना किसी को गायत्री का अधिकार नहीं मिलता । शास्त्रों में इसीलिए कहा गया है कि गायत्री का अधिकार द्विजों को है ।

'निगुरा' (बिना गुरु का) भारतीय समाज में एक गाली है क्योंकि हर मनुष्य को अपने मानसिक विकास, सुधार, परिमार्जन, अंकुर एवं निर्माण के लिए एक सुयोग्य, अनुभवी, सच्चरित्र विद्वान् व्यक्ति की सुसम्बद्ध, सहायता की आवश्यकता होती है । जिसे यह सहायता प्राप्त नहीं वह सुसंस्कृत कैसे बनेगा ? प्राचीनकाल में हर व्यक्ति का एक धर्म गुरु होता था । १- माता, २- पिता, ३- आचार्य, इन्हें केवल ब्रह्मा, विष्णु और महेश की उपमा दी गई है ।

कहा गया है कि गायत्री मन्त्र कीलित है, जब तक उसका उत्कीलन न हो तब तक वह सफल नहीं होता । उत्कीलन का वास्तविक तात्पर्य है, प्राण-दीक्षा द्वारा मन्त्र की शक्ति-स्फुलिंग अपने अन्तराल में स्थापित करना । जैसे होली की अग्नि लाकर लोग अपने घरों की छोटी होली जलाते हैं, उसी प्रकार किसी गायत्री के नैष्ठिक उपासक से उसकी चिनगारी लेकर दीक्षा विधि द्वारा भीतर स्थापित की जाती है तो साधना में आशाजनक सफलता मिलती है। केवल २४ अक्षर याद कर लेने मात्र से काम नहीं चलता।

साधक को अपनी साधना में गायत्री माता और गुरु-पिता को अपने आत्मिक द्वितीय जन्म का प्रसवित मानना चाहिए दोनों के प्रति श्रद्धा रखने वाला साधक इस महामन्त्र की साधना में सफल हो सकता है । एकांगी साधना वाला व्यक्ति ठीक प्रकार पथ-प्रदर्शन एवं प्रकाश प्राप्त न होने से अपना बहुमूल्य समय निष्फल गँवाता रहता है ।

गायत्री शक्तिमान है, पर उस शक्ति का जागरण गुरु द्वारा होता है । निगुरा साधक बहुत प्रयत्न करने पर भी

२. आध्यात्मिक माता पिता

स्वल्प परिणाम प्राप्त करता है। इसीलिए उपासकों को उचित है कि आध्यात्मिक माता-पिता के लिए-गायत्री और गुरु के लिए समुचित श्रद्धा रखें ।

३-पंचमुखी, दशभुजी महाशक्ति
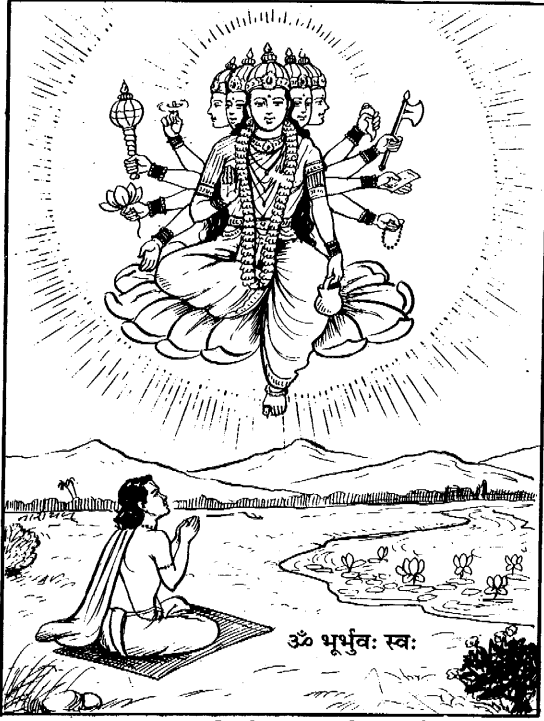
३. पंचमुखी और दश-भुजी महाशक्ति

गायत्री की शक्ति गति, क्रिया और प्रतिक्रिया को देखते हुए सूक्ष्म-दर्शी ऋषियों ने उसका चित्रण पंचमुखी और दशभुजी रूप में किया है । प्रणव, व्याहृति और मन्त्र के तीन भाग यह गायत्री के पाँच मुख हैं । पाँच देव भी इन पाँच मुखों के प्रतीक हैं । पाँच तत्वों से बना हुआ शरीर और पाँच प्राण, पाँच उप-प्राण, पाँच तन्मात्राएँ, पाँच यज्ञ, पाँच अग्नि, पंच क्लेश आदि अनेक पंचकों का रहस्य, मर्म और तत्वज्ञान गायत्री मन्त्र के मुख से मुखरित होता है । विश्वव्यापी यह पाँच समस्यायें सुलझाने के लिए गायत्री के पाँच अंगों में समस्त ज्ञान विज्ञान मौजूद देखकर ऋषियों ने उसे पाँच मुखी चित्रित किया ।

पाँच मुखों का रहस्य जानकर साधक अपने सांसारिक जीवन में स्वास्थ्य, धन, विद्या, चातुर्य तथा दूसरों का सहयोग प्राप्त करता है और आत्मिक क्षेत्र में आत्मज्ञान, आत्म-दर्शन, आत्म-अनुभव, आत्म-लाभ और आत्म-कल्याण का अधिकारी बनता है । यह पाँच सांसारिक लाभ गायत्री की बाँईं पाँच भुजा हैं और यह आत्मिक पाँच लाभ दाहिनी पाँच भुजायें हैं । दशभुजी गायत्री का चित्रण इसी आधार पर हुआ है । जैसे पूर्व, पश्चिम आदि १० दिशायें होती हैं वैसे ही जीवन विकास की भी दस दिशा हैं । माता के दस हाथ साधक को उन दसों दिशाओं में समुन्नत करते हैं ।

पंचमुखी और दशभुजी गायत्री का जो वर्णन ग्रन्थों में मिलता है वह एक भावना चित्र है, जिससे यह प्रकट होता है कि गायत्री की शक्ति, महिमा और प्रतिक्रिया मानव जीवन में किस प्रकार प्रकट होती है और उसमें कितने प्रकार के रहस्य छिपे हुए हैं, यह एक अलंकारिक रूप है। वास्तव में माता शक्ति रूप है, उसका कोई रूप नहीं । वह शब्द, रूप आदि पंच भौतिक तत्वों से परे हैं । केवल ध्यान द्वारा उसको अपनी ओर आकर्षित करने के लिए किसी रूप या प्रतिमा की धारणा की जाती है ।

गायत्री के पाँच मुख हैं, दस भुजाएँ हैं, इतना ही नहीं उसके सहस्रों नेत्र, सहस्रों कान, सहस्रों चरण, सहस्रों हाथ हैं, वह सर्वव्यापिनी, अन्तर्यामिनी, सर्वशक्तिशाली एवं महामहिमामयी है । इससे सम्बन्धित ज्ञान-विज्ञान का समुद्र इतना गहरा है कि मनुष्य की बुद्धि उसे पार करने में असमर्थ ही रहती है । उसका तो आशीर्वाद ही अभीष्ट है जो माता का कृपा पात्र है उसी पर सब रहस्य प्रकट होते हैं ।

४-ब्रह्माणी (ब्रह्म-विद्या)

ईश्वर की अनन्त शक्तियों में से दिव्य ज्ञान का, प्रकाश करने वाली परम सतोगुणी शक्ति को ब्रह्मणी, ब्रह्माणी या ब्रह्म-विद्या कहते हैं । ब्रह्माजी ज्ञान के देवता हैं, वेदज्ञान, तत्वज्ञान उन्हीं के द्वारा निःसृत होता है । ब्रह्मा के चार मुख चारों वेदों के प्रतीक हैं । धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के चारों फल इस ज्ञान के आधार पर ही प्राप्त होते हैं । चार अवस्था, चार आश्रम, चार वर्ण, जीवों के चार वर्ग संसार की चार दिशायें आदि चतुर्वर्गों की सम्पूर्ण समस्यायें ब्रह्मज्ञान के आधार पर ही होती हैं इसलिए ब्रह्माजी की-ब्रह्म विद्या को चतुर्मुखी कहा गया है ।

ब्रह्मा की शक्ति ब्राह्मी है । किसी देवता, जीव या पदार्थ की शक्ति ही उसका सार है । शक्ति न रहे तो उसका नाम

शेष रह जाता है, दूसरों को लाभ पहुँचाना तो दूर वह अपने अस्तित्व की रक्षा भी नहीं कर सकता है। इसलिए ब्रह्मा की क्षमता भी उसकी ब्राह्मी शक्ति में ही मानी

४. ब्रह्माणी-ब्रह्म विद्या

गई है। साधक इस सूक्ष्म भाग की, सार अंश की उपासना करते हैं। ब्रह्मा की अपेक्षा ब्राह्मी शक्ति की महत्ता इसलिए अधिक है कि वह एक विस्तृत देव-तत्व का निचोड़ा हुआ अत्यन्त प्रभावपूर्ण तत्व है। गायत्री को इसलिए 'ब्राह्मी' कहते हैं कि वह ब्रह्मज्ञान की केन्द्रिय तत्व शक्ति है।

गायत्री के ब्राह्मी स्वरूप की उपासना करने से साधक के अन्तःकरण में ब्रह्म-ज्ञान, तत्वबोध, ऋतम्भरा प्रज्ञा एवं सूक्ष्म दृष्टि का आविर्भाव होता है, जिससे माया का अज्ञानान्धकार हट जाता है और जीव, प्रकृति एवं ईश्वर का पारस्परिक सम्बन्ध भली प्रकार समझ में आ सकता है। जो ज्ञान असंख्यों ग्रन्थ पढ़ने और हजारों विद्वानों के प्रवचन सुनने से प्राप्त नहीं होता वह ब्राह्मी शक्ति की कृपा से साधक की अन्तःभूमि में स्वयंमेव प्रकट हो जाता है। उस महाशक्ति द्वारा फेंकी हुई ज्ञान किरण जब मनुष्य के मानस तथा हृदय में प्रवेश करती है तो उसके दिव्य प्रकाश में सत्य का, आत्मा का साक्षात्कार होता है।

ब्रह्मज्ञान हो जाने का फल है-जीवन मुक्ति। आत्मा स्वयं आनन्द स्वरूप है, आत्म-ज्ञान होने के साथ-साथ साधक को ब्रह्मानन्द का ऐसा रसास्वादन होता है, जिसकी तुलना में संसार के समस्त रस उसे अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होते हैं।

५-परम पोषक वैष्णवी

परमात्मा का रजोगुणी रूप विष्णु है। विष्णु की शक्ति को वैष्णवी कहते हैं। विष्णु का वाहन गरुड़ है। वैष्णवी भी गरुड़ पर आसीन हैं। गरुड़ रजोगुणी का प्रतिनिधि है। वैष्णवी इसी रजोगुणी से प्राणी को जीवन का रस पिलाकर उसे परिपुष्ट करती हैं।

माता अपने बालक पर सब कुछ निछावर करती है। उसकी गोदी में पहुँच कर वह सब प्रकार से निश्चिंत और निर्भय हो जाता है। माता प्रिय से प्रिय वस्तु उसे देने में
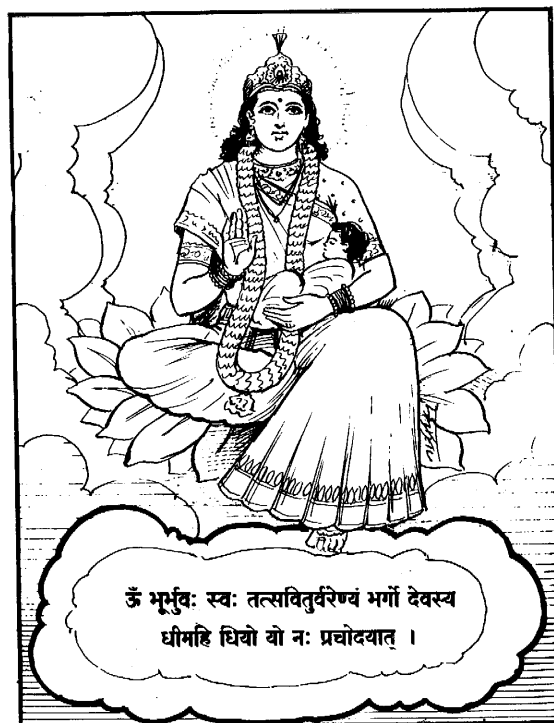
५. परम पोषक वैष्णवी

संकोच नहीं करती, परन्तु ऐसा तभी होता है जब बालक सर्वतोभावेन अपने को माता के प्रति अर्पण कर देता है।

जब तक बालक पूर्णतया माता पर अवलम्बित रहता है तब तक वह उसे एक क्षण के लिए भी नहीं भूलती ।

जैसे-जैसे बालक अपना स्वार्थ पहचानने लगता है, वैसे-वैसे वह माता की उपेक्षा का पात्र बनता जाता है । देखा गया है कि जब वही बालक बड़ा हो जाता है तो माता के स्नेह को, वात्सल्य को भूल जाता है, उसके मन में कृतज्ञता एवं श्रद्धा बिलकुल नहीं रहती, स्वाभाविक एवं सच्ची शक्ति से वह कभी माता के चरणों पर अपना मस्तष्क नहीं नवाता है । हाँ जब कुछ मतलब निकलना होता है तो चिकनी-चुपड़ी बात बनाकर माता से अपना स्वार्थ सिद्ध करा लेने का जाल बिछाता है । अनेक साधक भी ऐसा ही करते हैं । उनमें आद्य-शक्ति, जगज्जननी के प्रति स्वाभाविक श्रद्धा-भक्ति का एक कण भी नहीं होता, पर जब कुछ काम अटकता है तो उसकी सहायता के लिए नाना प्रकार से दण्डौत करते हैं । माता घट-घट वासिनी है । वह सच्चे और झूँठे, निःस्वार्थ भक्त और स्वार्थी चापलूसी का अन्तर भली-भाँति जानती है । खुदगर्जों के सामने वह कभी-कभी एक टुकड़ा भी फेंक देती है कभी-कभी दुत्कार भी देती है। जो हो, ऐसे लोगों के प्रति उसके मन में सच्ची ममता कदापि उत्पन्न नहीं होती ।

सच्चा भक्त माता से वस्तुएँ नहीं माँगता उसका प्रेम माँगता है । अपना सर्वस्व माता को सौंप देता है और उसकी गोदी में नवजात शिशु की तरह निश्चिंत होकर विश्राम करता है । ऐसा भक्त निश्चय ही अपने को अनन्त शान्ति की गोद में अनुभव करता है उसे ही माता का सच्चा प्रेम और संरक्षण प्राप्त होता है । सर्व शक्तिमान माता की गोद में किलोल करता है उसे कोई अभाव एवं कष्ट पीड़ित नहीं कर सकता । वैष्णवी रहता है ।

६-शाम्भवी दिव्य शक्ति

शिव को योगेश्वर भी कहते हैं । योग की समस्त शक्तियों और सिद्धियों के उद्गम केन्द्र वे ही हैं । मस्तक पर चन्द्रमा तत्व ज्ञान का प्रतिनिधि है । गले में सर्पों का होना, दुष्ट और पतितों को भी कण्ठ से चिपटाने की साधुता का द्योतक है । वृषभ वाहन मजबूती, दृढ़ता, स्थिर चित्त, श्रम-शीलता एवं पवित्रता का प्रतीक है । शिव इन्हीं गुणों के समूह हैं । वे संहारक हैं, दोष, दुर्गुण, अनाचार, अविचार और अनुपयुक्तता का संहार करते हैं । अनावश्यक का निवारण और आवश्यक का संहार करने का कार्य ईश्वर के शिव स्वरूप द्वारा होता है। शिव की चेतावनी और गतिशीलता को शाम्भवी शक्ति कहते हैं ।
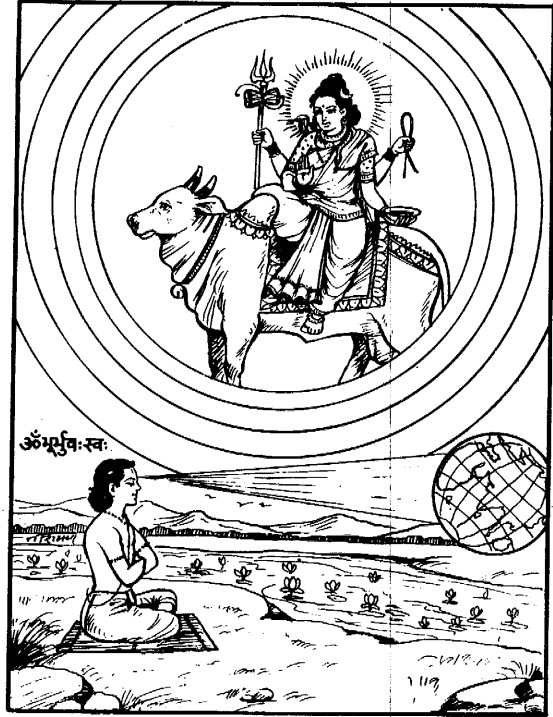
६. शांभवी दिव्य शक्ति

गायत्री के शाम्भवी स्वरूप का आश्रय लेने से जो गुण शिव के हैं शाम्भवी के हैं उन्हीं का प्रसाद साधक को भी मिलता है । वह शिवजी की ओर बढ़ता है और त्याग, वैराग्य संयम, साधुता के अतिरिक्त वह योग की आध्यात्मिक शक्तियों से भी सम्पन्न होता चलता है । शिव के तीन नेत्र हैं । तीसरा नेत्र जिसे दिव्य-चक्षु कहते हैं, आत्म तेज से परिपूर्ण होता है । यह तीसरा नेत्र शाम्भवी शक्ति के उपासक का खुलता है। जैसे संजय ने अपनी दिव्य दृष्टि से महाभारत का सारा वृतान्त घर बैठे देखा था और युद्ध का सारा विवरण धृतराष्ट्र को सुनाया था ऐसी दिव्य दृष्टि तीसरा नेत्र खुलने से होती है। संसार की सभी ज्ञात-अज्ञात बातें उसे विदित हो सकती हैं । दूसरों के मनोगत विचारों को जान लेना सहज हो जाता है, भूतकालीन इतिहास एवं भविष्य की होतव्यता का भी उसे बहुत कुछ पता लग जाता है । पारदर्शी काँच में होकर जैसे भीतर की वस्तुएँ दिखाई

पड़ती हैं वैसे संसार के अनेकों रहस्य उसे अपनी दृष्टि से प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने लगते हैं ।

शिवजी ने तीसरा नेत्र खोलकर कामदेव को जला दिया था । इसी ब्रह्म तेज के बल से ऋषियों के शाप से मनुष्य भस्म तक हो जाते थे । सगर राजा के सौ पुत्र इसी प्रकार भस्म हुए थे । यह ब्रह्म-तेज एक प्रकार का विद्युत प्रवाह है जिसका शक्तिपात करके किसी को लाभान्वित भी किया जा सकता है । साथ ही तान्त्रिक मार्ग से उपयोग करने पर अभिचार, मारण आदि के हानिकारक शाप भी फलितार्थ किये जा सकते हैं । परन्तु इस ब्रह्मतेज को सांसारिक प्रयोजनों में खर्च करने की भूल न करनी चाहिए, उसका तो एक मात्र सदुपयोग आत्मकल्याण के लिए ही है ।

७-उद्धारकर्त्री माता

जीवन में कष्ट और कठिनाई की कमी नहीं । मनुष्य के सामने आये दिन संकट आते रहते हैं । इनमें से कई बाधायें तो इतनी विकट होती हैं कि उनसे छूटना दुस्तर मालूम देता है । मनुष्य जब अपनी तुच्छ सामर्थ्य और परिस्थिति की भयंकरता की तुलना करता है तो उसकी हिम्मत टूट जाती है । आँखों के सामने निराशापूर्ण अन्धकार दिखाई पड़ता है । संसार में अपना सहायक भी नहीं मिलता और उस भयंकर परिस्थिति के टलने की सूरत नहीं दीखती । ऐसी परिस्थिति में यदि कोई व्यक्ति सच्चे हृदय से माता की पुकार करता है तो ग्राह से गज को बचाने के लिए नंगे पैर भागने वाले भगवान की तरह माता सहायता को आती हैं । द्रौपदी की लाज बचाने के लिए चीर बढ़ाने की शक्ति माता में मौजूद है।

संसार को भवसागर कहा गया है । उनमें ऐसे मगर-मच्छों की कमी नहीं है जो हमें निगल जाने के लिए हर घड़ी घात लगाये रहते हैं । जब भी मौका मिलता है तभी धर दबोचते हैं और बोटी-बोटी नोंच डालते हैं । इन महाग्राहों से बचने का प्रयत्न मनुष्य करते हैं, कई बार अपनी प्राण रक्षा कर भी लेते हैं पर कभी ऐसे भी अवसर आते हैं जब हाथ पाँव फूल जाते हैं और निराशा एवं किंकर्त्तव्यविमूढ़ता सामने आ खड़ी होती है । ऐसे अवसरों पर माता की करुणा डूबते को बचा सकती है। उसकी भुजाओं में वह सामर्थ्य है कि भव सागर से अपने भक्त को उबार ले और मगर-मच्छों से उसके प्राण बचा ले ।

मनुष्य के पास अपना बल बहुत सीमित है । उससे वह बहुत थोड़े काम कर सकता है और बहुत थोड़ी सफलता

७.उद्धारकर्त्री माता

पा सकता है। परन्तु जब गायत्री महाशक्ति का बल उसे प्राप्त हो जाता है, तो लंका को राम की सहायता से फतह करने वाले बानरों की तरह उसका साहस और बल बहुत बढ़ जाता है एवं दुस्तर कठिनाई स्वल्प प्रयत्न से ही सरल बन जाती है । उसे अनुभव होता है मानो सफलता की देवी ने प्रसन्न होकर स्वयं ही मुझे गोदी में उठा लिया है और महान् आपदाओं से बचा लिया है ।

महान् उद्धारकर्त्री माता अपने भक्तों को डूबने नहीं देती जो उसकी शरण में जाता है वह उसे उबारती है। उनकी शरणागति से बढ़ कर और कोई ऐसी नौका नहीं है जो संसार सागर से सरलतापूर्वक तार सके । जिसने माता की भुजाओं का सम्बल पकड़ लिया वह पतन के गर्त में नहीं गिर सकता, वह ऊपर को ही उठेगा ।

८-सद्गुरु की प्राप्ति

जीवन के हर क्षेत्र में शिक्षक की आवश्यकता है । जो कार्य अनजान आदमी मुद्दतों से नहीं कर पाता वह अनुभवी

शिक्षक की सहायता से सरलता पूर्वक पूरा हो जाता है । भौतिक प्रयोजनों में तो चाहे बिना शिक्षक के काम चल जाय पर अध्यात्म मार्ग में, विशेषकर गायत्री उपासना में तो बिना गुरु के थोड़ी प्रगति नहीं हो पाती । पुस्तकों या प्रवचनों से एक सैद्धान्तिक जानकारी मिलती है, व्यक्तिगत कार्य प्रणाली को निर्धारित करने के लिए तो व्यक्तिगत पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता होती है, जिसे कोई अनुभवी ही कर सकता है।

८. सद्गुरु की प्राप्ति

सद्गुरु मिल जाना, आधी सफलता मिल जाने के बराबर है । परन्तु यह कार्य है बड़ा कठिन, क्योंकि एक तो सुयोग्य पथ-प्रदर्शकों का ही अभाव हो चला है, जो हैं वे पहचान में नहीं आते, क्योंकि असली की अपेक्षा नकली वस्तु अधिक चमकीली और लुभावनी होती है। सच्चे सन्त सीधे सरल ढंग से रहते हैं जिससे वे मामूली आदमी प्रतीत होते हैं । उनकी महिमा साधारण दृष्टि से समझ में नहीं आती । नकली लोग जो बहुत आडम्बर बनाये होते हैं, वे भोले साधक को ठीक रास्ता बताने में समर्थ नहीं होते, क्योंकि जो रास्ता स्वयं ही नहीं देखा वह दूसरों को क्या दिखाया जा सकता है ।

गायत्री माता की कृपा जब साधक पर होती है तो बड़ी सरलता से, स्वल्प प्रयास में सद्गुरु की प्राप्ति हो जाती है। बहुत ढूँढ़ खोज नहीं करनी पड़ती और पथ-प्रदर्शन के लिए उनसे बहुत प्रार्थना एवं खुशामद भी नहीं करनी पड़ती। सहज ही पथ-प्रदर्शन आरम्भ हो जाता है और बाधाओं के घने वन में से, उँगली पकड़कर वे सरल मार्ग से परम लक्ष्य तक पहुँचा देती हैं । रास्ते के कुश, कंटक, सर्प, बिच्छू उसे कोई हानि नहीं पहुँचा पाते और दिशा भूल जाने का भय नहीं होता । बालक ध्रुव को नारद जी का सहज पथ-प्रदर्शन मिल गया था । इसी प्रकार जिस पर माता की कृपा होती है, उसे भी कोई न कोई सच्चा सहायक एवं पथ प्रदर्शक सद्गुरु अनायास ही प्राप्त हो जाता है ।

९-अनिष्टों का निवारण

जैसे काँटा शरीर के किसी भाग में चुभ जाय या कोई विजातीय विष किसी भाग में प्रवेश कर जाय तो वहाँ तब तक पीड़ा होती रहती है जब तक कि उस हानिकारक तत्व का निष्कासन न हो जाय । मनुष्य के जीवन में नाना प्रकार

९. अनिष्टों का निवारण

की व्याधियाँ, यातनाएँ, कठिनाइयाँ एवं पीड़ाऐं हैं, वे किन्हीं कारणों की वजह से हैं। जब तक वे कारण दूर नहीं हो जाते तब तक क्लेशों, चिन्ताओं और दुःखों से छुटाकारा नहीं मिल सकता।

इन्द्रियों का असंयम, खुदगर्जी, कुटिलता, कटुभाषण, अविश्वास, आलस्य, दुर्व्यसन, कुसंग, दुष्कर्मों में प्रवृत्ति-पाप की निन्दा से लज्जित होने की निर्लज्जता, ईश्वरीय दण्ड की उपेक्षा, अनुचित लोभ, मोह, ममता की अति अहंकार की ऐंठ आदि अनेक ऐसी बुराइयाँ हैं जो मनुष्य के मन में घुस बैठती हैं तो मनस्तल को काँटे की तरह नोंचती हैं, उसकी प्रतिक्रिया नाना प्रकार के क्लेश, कलह, दुःख दारिद्र्य, दण्ड आदि के रूप में सम्मुख आती हैं। जहाँ अग्नि रहती है वहाँ गर्मी अवश्य ही होगी, ऐसा नहीं हो सकता कि अग्नि तो रहे पर उसके कारण उष्णता पैदा न हो। इसी प्रकार जहाँ उपर्युक्त बुराइयाँ होंगी वहाँ नाना प्रकार के दुःख अवश्य ही रहेंगे। यह हो नहीं सकता कि इन दोष-दुर्गुणों के रहते कोई व्यक्ति सुखी जीवन व्यतीत कर सके।

जैसे गन्ने के रस से नाना प्रकार की मिठाइयाँ बनती हैं, जैसे कपास से नाना प्रकार के वस्त्र बनते हैं। वैसे ही इन दोष, दुर्गुणों के परिपाक से नाना प्रकार की कठिनाइयाँ सामने आती हैं। बुरा प्रारब्ध भी बुरे कर्मों से, बुरे संस्कारों से बनता है यदि किसी को सुख-शान्ति की अभिलाषा है तो वह तभी पूरी हो सकती है जब अपने विचार, स्वभाव, उद्देश्य और कार्यक्रम को सुधार ले। गायत्री साधना से सतोगुण की वृद्धि होने के कारण यह सुधार अपने आप होता है और अनेक प्रकार के दूषण, अनिष्ट, कौए और चमगादड़ों की तरह मन-मन्दिर में से निकल-निकल कर भागते हैं। अन्तरात्मा में वैसे ही शान्ति स्थापित होती है, जैसे काँटा निकल जाने पर तत्क्षण दर्द बन्द होता है।

१०-सद्गुणों का वरदान

गायत्री माता का मनुष्य शरीर में जब प्रवेश होता है तो वह सद्बुद्धि रूप में होता है। साधक के विचार और स्वभाव में धीरे-धीरे सतोगुण बढ़ता है और उसमें सतोगुणी प्रवृत्तियों का विकास होता है। बुरे स्वभाव के मनुष्यों की बुराइयाँ क्रमशः घटने लगती हैं और जो अच्छाइयाँ उनमें पहले कभी दिखाई नहीं पड़ती थीं अब दृष्टि-गोचर होती हैं।

दया, सेवा, संयम, स्फूर्ति, सत्य, शौर्य, प्रेम यह गुण उनमें दिन-दिन बढ़ते हैं। हृदय रूपी उपवन में यह वृक्ष

१०. सद्गुणों का वरदान

जमते हैं और जब वे फूल-फलों से लदते हैं तो उनके कारण मनुष्य चारों ओर से महँकने लगता है। सुन्दर मत्त भ्रमरों और कोकिलों के झुण्ड उसके पीछे फिरते हैं और फल लोभियों की भीड़ उसे घेरे रहती है। यह सात लाभ सप्ततीर्थों में स्नान करने के बराबर हैं। सूर्य के रथ में सात घोड़े जुते रहते हैं। आत्मा के रथ में उपर्युक्त सात सद्गुण ही अश्व हैं, उनके जुत जाने से आत्म-कल्याण का मार्ग बहुत शीघ्र पूरा हो जाता है।

सद्गुणों से बढ़कर और कोई सम्पत्ति नहीं। जो व्यक्ति सच्चाई पर आरूढ़ है, अपनी पवित्रता के कारण सदा निर्भय रहता है और किसी बुराई के आगे सिर नहीं झुकाता जिसके हृदय में दूसरों के लिए सच्चा प्रेम एवं आत्म भाव है जो दूसरों के दुःख देखकर दया से द्रवित हो जाता है, सेवा जिसके जीवन का लक्ष्य है, मन इन्द्रियों पर जिसने संयम प्राप्त किया है तथा परिश्रम के लिए जिसकी नस नाड़ियों में सदा उत्साह रहता है, निराशा आलस्य जिसे छूने तक नहीं पाता ऐसा व्यक्ति मनुष्य होते हुए भी देवता के समान है।

लौकिक सम्पत्तियों से, सांसारिक सुखों से देवी सम्पत्तियाँ अधिक महत्वपूर्ण एवं मूल्यवान हैं। संसार के पदार्थों से जितना सुख मिलता है उसकी अपेक्षा इन आत्मिक गुणों से अनेक गुना आनन्द उपलब्ध हो सकता है। गीता में यों तो २६ दैवी सम्पदाऐं गिनाई गई हैं, पर उनमें उपर्युक्त सात ही प्रधान हैं। गायत्री माता अपने भक्तों को यह सात सम्पत्तियाँ प्रदान करती हैं। फलस्वरूप उसकी अन्तः भूमिका देवतुल्य हो जाती हैं और जो सुख देवता लोग सुरपुरी में प्राप्त करते हैं वह सुख साधक को मनुष्य जीवन में अपने सद्गुणों के कारण प्राप्त होता है। जिसके पास दैवी सम्पदाऐं हैं निश्चय ही वह संसार की समस्त सम्पत्तियों का स्वामी होने की अपेक्षा अधिक धनी माना जायेगा।

११-उन्नति के पथ पर

जीव का स्वाभाविक धर्म ऊपर चढ़ना, उन्नति करना आगे बढ़ना, विकसित होना है। आत्मिक क्षुधा के कारण ही मनुष्य विभिन्न दिशाओं में अपना विकास करता है। रोटी, कपड़ा, घर और आराम की मोटी

११. उन्नति के पथ पर

व्यवस्थाएँ हो जाने से कोई व्यक्ति मजे में जीवित रह सकता है पर इतने मात्र में किसी को आत्म-सन्तोष नहीं हो सकता। जीवन की विभिन्न दिशाओं में उन्नति करने की हर मनुष्य को अभिलाषा होती है और उस आकांक्षा की पूर्ति हुए बिना, आन्तरिक शान्ति उपलब्ध नहीं होती।

उत्थान की अनेक सीढ़ियाँ हैं, उन पर चढ़ता हुआ जीव आत्मोत्थान तक पहुँचता है शारीरिक, आर्थिक बौद्धिक, पारिवारिक दाम्पत्यिक उन्नति को करता हुआ मनुष्य यश, प्रतिष्ठा, आदर, नेतृत्व एवं सुख-सुविधा का अधिकारी बनता है। धार्मिक, पारमार्थिक, आध्यात्मिक उन्नति की ओर बढ़ते हुए सतोगुण एवं दिव्य तत्वों की प्राप्ति होती है। भौतिक और आत्मिक दोनों ही दिशाओं में मनुष्य जब बढ़ता है तभी उसकी उन्नति सर्वाङ्गपूर्ण कही जाती है। सांसारिक योग्यतायें एवं सामर्थ्य भी होनी चाहिए। समर्थ को ही त्याग कहा जाता है। जो अभावग्रस्त एवं दीन-हीन है वह अपने को त्यागी नहीं कह सकता और न उसे त्याग का आनन्द मिल सकता है।

सांसारिक उन्नतियों की भाँति आत्मिक उन्नतियों की अनेक सीढ़ियाँ हैं। इस मार्ग में भी जैसे-जैसे ऊपर को चढ़ते जाते हैं वैसे ही वैसे अनेक दिव्य सम्पदायें उपलब्ध होती हैं। आत्मिक क्षेत्र की सम्पदायें इतनी अनूठी हैं कि उनकी तुलना में संसार का बड़े से बड़ा सुख एवं वैभव भी तुच्छ बैठता है। उस उन्नति पथ पर मनुष्य बहुधा अपने बलबूते बहुत ऊँचा नहीं चढ़ पाता। माता की सहायता से यह उत्कर्ष पथ की यात्रा सरल होती है। माता की कृपा, सहायता एवं प्रेरणा से साधक का उत्साह बढ़ता जाता है और रास्ते की कठिनाइयों से डरने की बजाय उन्हें परास्त करने का साहस पैदा हो जाता है।

चढ़ाई का मार्ग कठिन होता है। निश्चय ही उसमें काफी श्रम करना पड़ता है और बड़े साहस तथा धैर्य से काम लेना होता है। इन कठिनाइयों में अनेक साधक फिसल पड़ते हैं। परन्तु माता जिसकी पीठ पर है उसे सफलता की दिशा से दिन-दिन अधिक प्रकाश प्राप्त होता चलता है और लक्ष्य की पूर्ति दूर नहीं रह जाती। वह सांसारिक और आत्मिक दोनों दिशाओं में अग्रसर होता है।

१२-बन्धनों से मुक्ति

मनुष्य अनेक बन्धनों में बँधा हुआ है, जिस प्रकार जाल में जकड़ा हुआ पक्षी अपनी वर्तमान स्थिति में दुःखी

१२. बन्धनों से मुक्ति

होता है और उससे छुटकारा पाना चाहता है, पर सफल मनोरथ नहीं हो पाता, उसी प्रकार मनुष्य भी अपनी परिस्थितियों से दुःखी रहता है । अपनी बुरी आदतों के दुष्परिणाम भुगतता है, परन्तु उनसे छुटकारा नहीं मिलता। रास्ता ढूँढ़ता है पर मार्ग नहीं मिलता । जेलखाने में बन्द पड़े हुए कैदी की तरह उसके प्रयास विफल होते रहते हैं और मुक्ति का द्वार बन्द दिखाई पड़ता है ।

ये बन्धन क्या हैं ? कैसे हैं ? किसके द्वारा बाँधे गये हैं ? इतना समझना भी कठिन है। आत्मज्ञान का जब प्रकाश होता है, तभी उनकी गाँठें दिखाई देती हैं । रामायण उत्तर काण्ड में ज्ञान-दीप वर्णन में गोस्वामी जी ने इन बन्धन ग्रन्थियों के खोलने का मार्ग बताया है । अपने कुसंस्कार, दूषित दृष्टिकोण, दुर्व्यसन, माया के प्रलोभन, अविद्या का अन्धकार, काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह का दुष्प्रभाव, कुकर्म आदि के कारण चित्त की मलीन दशा ही अधम जन्म और बन्धन का प्रधान कारण है ।

प्राणी जिन जंजीरों में बँधा हुआ नारकीय बन्धन की यातनायें सहता है उन जंजीरों की कड़ी धातु की हैं, आसानी से नहीं टूटतीं । योगी, यती, साधु एवं तपस्वी भी फिसल पड़ते हैं और फिर उन्हीं प्रलोभनों के कुचक्र में फँस जाते हैं । इन्द्र और चन्द्रमा जैसे देवता, व्यास और विश्वामित्र जैसे ऋषि, जिन कुसंस्कारों से फिसल पड़े उनसे साधारण जीवों का मोहित रहना कोई आश्चर्य की बात नहीं ।

माता की कृपा का वरदान जब साधक अपनी तपस्या द्वारा प्राप्त करता है तो उसे दिव्य शक्ति की ऐसी सहायता प्राप्त होती है जिसके कारण अनेकों जंजीर कट जाती हैं। कर्म-बन्धन, भोग-बन्धन, संस्कार-बन्धन, स्वभाव-बन्धन, मोह-बन्धन आदि जंजीरें माता की दिव्य शक्ति से कट जाती हैं, तो साधक को जीवन-मुक्त दशा का ब्रह्मानन्द सहज ही प्राप्त होने लगता है। आजीवन कैद से छूटने वाले कैदी तथा जाल में जकड़े हुये पक्षी को छुटकारा मिलने पर जो सुख होता है उससे अनेकों गुना सुख भव-बन्धन में असंख्य जन्मों से जकड़े हुये प्राणी को 'मुक्ति' पाकर उपलब्ध होता है । इस आनन्द को प्राप्त करने का मार्ग गायत्री माता की शरणागति ही है ।

१३-प्रारब्ध-परिवर्त्तन

प्रारब्ध बड़ा प्रबल होता है । ब्रह्मा ने जो विधान जिसके लिये लिख दिया है उसे हटाना या मिटाना किसी के वश की बात नहीं । पाण्डवों के श्री कृष्ण जैसे सहायक होते हुए भी उन्हें जीवन भर नाना प्रकार के दुःख उठाने पड़े। नल, दमयन्ती, हरिश्चन्द्र, शैव्या, दशरथ, विक्रमादित्य आदि महापुरुषों के सामने जो आपत्तियाँ आयीं उनके प्रबल सहायक भी उन्हें न हटा सके । इस कर्म रेखा की अमिटता को देखकर ही सूरदास ने कहा था-

करम गति टारे नाहिं टरै ।
गुरु वशिष्ठ पण्डित बड़ ज्ञानी, रचि-पचि लगन धरै ।
पिता मरण और हरण सिया को वन-वन विपत परै ।

पूर्व संचित कर्मों के कारण जो भला-बुरा प्रारब्ध बन जाता है, वह भुगतना ही पडता है । कोई कितना ही साधु, सत्पुरुष, सज्जन शुभ कर्म करने वाला क्यों न हो उसके पूर्वकृत कर्म प्रारब्ध रूप से जब सामने उपस्थित होंगे उसका परिणाम भुगतना ही होगा । वर्तमान पुण्य, तप या

शुभ कर्मों का प्रतिफल तो आगे चलकर, उनका परिपाक होने पर ही मिलेगा ।

१३-प्रारब्ध परिवर्तन

इतना होने पर भी माता की कृपा से कठिन प्रारब्धों में संशोधन हो जाता है । अत्यन्त दुस्तर और असह्य कष्टों की यातना हल्की होकर बड़ी सरल रीति से भुगत जाती हैं । कई बार घनघोर घटायें आकाश में उठती हैं, उनमें बड़ी मात्रा में जल भरा होता है । वे बरसें तो मूसलाधार वर्षा करती हैं, पर यदि किसी प्रकार तीव्र वायु उसी समय चलने लगे तो वह जमी हुई घटा हट जाती है और थोड़ी बूँदा-बाँदी होकर बादल चले जाते हैं । मनुष्य के भाग्याकाश में इसी प्रकार कई बार बड़े दुस्तर प्रारब्ध होते हैं पर वे माता की कृपा से चिन्ह--पूजा जैसा परिणाम दिखाकर इस प्रकार उतर जाते हैं कि पहले जितना भय दिखाई पड़ता था, वस्तुतः उसका एक अंश ही सामने आता है ।

पूर्ण रूप से प्रारब्ध परिवर्तन तो असम्भव है पर माता की कृपा से इसमें अनेक संशोधन और परिवर्तन हो सकते हैं । भविष्य के लिए उत्तम भाग्य निर्माण हो सकता है । चित्र में गायत्री माता साधक के भाग्य पटल में आवश्यक हेर-फेर कर रही है, उसके पूर्व निर्मित प्रारब्ध में कुछ परिवर्तन किया जा रहा है ।

१४-ऋद्धि-सिद्धियों के प्रलोभन

आत्मा, परमात्मा का अंश है । मनुष्य ईश्वर का पुत्र है, उसमें वह सब शक्तियाँ और सम्भावनायें मौजूद हैं, जो परमेश्वर में होती हैं । जब साधक गायत्री उपासना द्वारा अपने आन्तरिक मल विक्षेपों को शुद्ध कर लेता है तो उसकी अन्तः भूमि में दैवी शक्तियों का स्वयमेव प्रादुर्भाव होता है और अनेक अलौकिक सामर्थ्य उसमें प्रकट होती हैं जो साधारण मनुष्यों में नहीं देखी जातीं ।

इन अलौकिक सामर्थ्यों को पाकर कई अदूरदर्शी साधक, सांसारिक प्रयोजनों में उनका प्रयोग करने लगते हैं । यश, प्रतिष्ठा, पूजा, महिमा पाने के लिए उन दिव्य शक्तियों का वे ऐसा प्रदर्शन करते हैं, जिसमें उन्हें चमत्कारी सिद्ध पुरुष समझा जाता है और सांसारिक कामना वाले मनुष्यों की भीड़ उन्हें घेरे रहती है । उनकी पूजा, प्रतिष्ठा पाकर वे सिद्ध पुरुष अपने तपोबल से दूसरों के प्रारब्ध बदल देते हैं । कुछ तांत्रिक वाममार्गी साधनाओं द्वारा अभिचार, घात, सम्मोहन, पिशाच सिद्धि यक्षिणी साधना करते तथा अपने चमत्कार प्रकट करते हैं ।
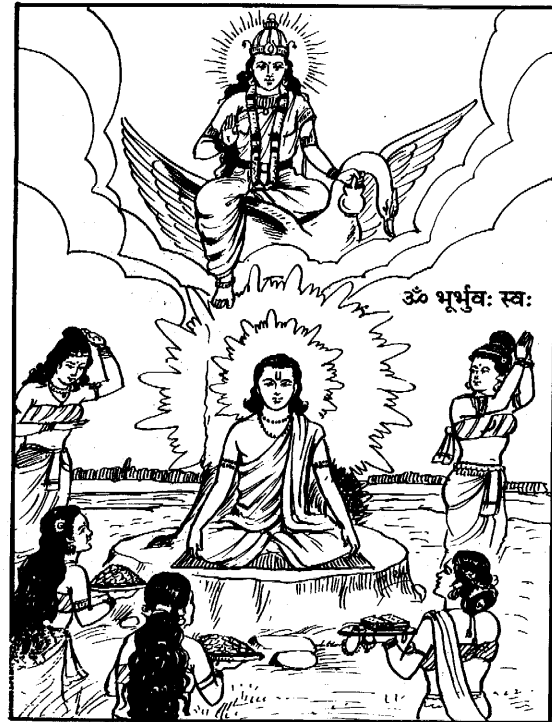
१४. ऋद्धि सिद्धियों के प्रलोभन

यह आत्मिक शक्तियों का दुरुपयोग है । आसुरी शक्तियाँ आरम्भ में इन सिद्धियों का प्रलोभन देकर नीचे गिराती हैं ताकि वह असुरता को छोड़कर देवत्व पक्ष में न जावें । नाना प्रकार के प्रलोभन दिखाकर वे साधक को ललचाती हैं और उसे भोग, ऐश्वर्य, यश तथा सांसारिक उलझनों में अपनी शक्तियों को खर्च करने के लिए आकर्षित करती हैं । यदि साधक उस प्रलोभन में फँस जाये तो उसकी अत्यन्त श्रमपूर्वक उपार्जित की हुई आध्यात्मिक कमाई थोड़े ही दिन में समाप्त हो जाती है और वह छूँछ रह जाता है ।

इस खतरे से साधक को गायत्री माता बचाती है । वह उसकी बुद्धि में ऐसी दृढ़ता देती है कि इन ऋद्धि-सिद्धियों के प्रलोभन, आकर्षण और सौन्दर्य को उपेक्षा की दृष्टि से देखता है और उनकी ओर से आँख बन्द करके अपने लक्ष्य में तन्मय रहता है । तब वे आत्मिक शक्तियाँ उसके लक्ष्य प्राप्ति के मार्ग में सहायक होकर उसे बहुत शीघ्र पूर्णता तक पहुँचा देती हैं ।

१५- काया कष्टों से निवृत्ति

बीमारी और कमजोरी के कारण ही मनुष्यों को नाना प्रकार के काया कष्ट भुगतने पड़ते हैं । अस्वस्थता का मूल कारण आहार-विहार का असंयम है । अनियमित दिनचर्या, अनुपयुक्त खाद्य-पदार्थ, आलस्य, अति परिश्रम, इन्द्रियों का असंयम, चिन्ता, अस्वस्थता तथा मनोविकारों के कारण बीमारियाँ पैदा होती हैं । पैतृक, जन्म-जात तथा प्रारब्ध रोगों को छोड़कर शेष बीमारियों से मनुष्य यदि चाहे तो बचा रह सकता है । अपने शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के प्रति जागरूक और कर्तव्यनिष्ठ रहकर दीर्घजीवन तथा आरोग्य आसानी से प्राप्त किया जा सकता है । जब गरीब लोग अभावग्रस्त परिस्थितियों में रहकर भी हट्टे-कट्टे रह सकते हैं, तो कोई कारण नहीं कि सुविधाजनक स्थिति वाले निरोग न रह सकें ।
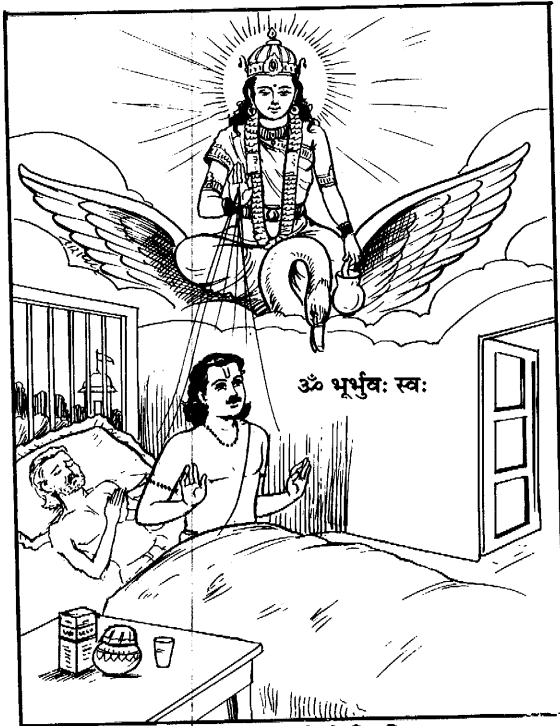
१५. काया कष्टों से निवृति

प्रकृति के नियमों को तोड़कर अप्राकृतिक जीवन-क्रम अपनाने से शरीर की जीवनी शक्ति घटती जाती है। कमजोरी, थकान, दुर्बलता और उदासी घेरे रहती है। थोड़ा-सा भी दबाव पड़ने पर शरीर बिखर जाता है और किसी न किसी बीमारी से ग्रसित होकर चारपाई को पकड़ लेता है । बीमारी में अपने काया-कष्ट के अतिरिक्त अर्थ-हीन चिन्ता, घर वालों को परेशानी तथा अशोभनीय परिस्थितियों की उत्पत्ति होती है । दूसरों को भी रोग की छूत लगने का अन्देशा रहता है । कमजोर आदमी भी एक प्रकार का बीमार ही है । रोग शैय्या पर भले ही वह न पड़े पर कोई उत्पादन, उत्साहवर्धक पुरुषार्थ उन्नति या कमाई का आयोजन उनके द्वारा नहीं हो सकता ।

इस विपन्न दशा से मनुष्य सहज ही बच सकता है यदि वह प्राकृतिक एवं असंयम आहार-विहार से बचा रहे । यह बचाव तभी सम्भव है जब विचार-स्वभाव एवं कार्यक्रम में सतोगुण की समुचित मात्रा हो । गायत्री उपासना के फलस्वरूप साधक में असंयम के लिए स्थान नहीं रहता, अतएव बीमारी और कमजोरी से भी उसे छुटकारा मिल जाता है । जो बीमारियाँ बहुत दिनों से शरीर में प्रवेश किए हुए थीं, बहुत दवा-दारू कराने पर भी ठीक नहीं हो रही थीं, वे गायत्री उपासना से अपने आप ठीक होती देखी गई हैं । असाध्य रोगी मृत्यु के मुँह में से वापस लौटते देखे गये हैं । साधना द्वारा शरीर में सतोगुण की वृद्धि करना एक ऐसी रामबाण ओषधि है, जिसके समान सारे चिकित्सा शास्त्र में अन्य कोई वस्तु नहीं मिल सकती ।

१६-सद्बुद्धिदायिनी सरस्वती

आद्यशक्ति महामहिमामयी गायत्री के तीन रूप हैं- ह्रीं, श्रीं, क्लीं। ह्रीं कहते हैं- सरस्वती को, श्रीं कहते हैं-

१६. सद्बुद्धिदायिनी सरस्वती

लक्ष्मी को, क्लीं कहते हैं- काली को। सबसे प्रथम और सबसे प्रधान ह्रीं है। सरस्वती के रूप में साधक के मन में सद्बुद्धि रूपी वीणापाणि भगवती का प्रवेश होता है। हंस जैसा नीर-क्षीर विवेक कहने वाली दूरदर्शिता, अन्तःकरण को सदाशयता से झंकृत कर देने वाली झंकार, यह दो उपहार साधक को प्रारम्भिक प्रसाद की तरह प्राप्त होते हैं।

बुद्धि का शुद्ध होना और सद्बुद्धि प्राप्त होना यह दोनों उपहार माता अपने भक्त को देती है। बुद्धि में जो मलीनता, चंचलता, अव्यवस्था भरी रहती है। उसके कारण मस्तिष्क निर्बल होता है और स्मरण शक्ति की कमी, तीक्ष्ण चेतना का अभाव, मोटी अकल देर से समझ आना, अधिक समय तक कोई बात याद न रहना, बौद्धिक बात करने में मस्तिष्क थक जाना आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं, जिनके कारण कई कार्य ऐसे हैं जिनमें सफलता का मार्ग रुक जाता है। इन दोषों के कारण विद्यार्थी फसड्डी रहते हैं, परीक्षा में फेल हो जाते हैं। वकील, डाक्टर, वक्ता, लेखक, मुनीम, कारीगर अपने-अपने कामों में अनेकों भूल करते हैं, जिससे उनकी कीर्ति और आजीविका दोनों में ही कमी आ जाती है अथवा विकास रुक जाता है।

गायत्री बुद्धि का मन्त्र है। उसमें 'ह्रीं' तत्व की उपासना प्रधान है। इस महामन्त्र से बुद्धि की मलीनता दूर होती है और मस्तिष्क से काम करने वाले लोगों की सफलता का मार्ग खुल जाता है। गायत्री उपासना करने वाले विद्यार्थी अच्छे नम्बरों से उत्तीर्ण होते हैं तथा अन्य बुद्धिजीवी लोगों की मनोदशा में सफलता आ जाने के कारण उनका कार्य उन्नति करता हुआ देखा गया है। मस्तिष्क में बल आने से अनेकों मानसिक रोगों को अपने आप अच्छा होते देखा गया है। सिर-दर्द, अंधा-शीशी, पागलपन, भूतोन्माद, विक्षिप्तता, सनक, दुःस्वप्न, डर लगना, मृगी, मूर्छा आदि में गायत्री उपासना से आशाजनक लाभ होता है।

सद्बुद्धि का सम्बन्ध सद्गुणों से है। व्यवस्थित कार्यक्रम, सुलझे हुए विचार, स्थिर मति, दूरदर्शिता, प्रतिष्ठा व्यवहार, शान्त चित्त, सन्तुलित विवेक, सूक्ष्म समझ यह सब बातें सद्बुद्धि के कारण प्राप्त होती हैं। सद्बुद्धि और शुद्ध बुद्धि के प्रतीक सद्ग्रन्थों की चित्त में वर्षा होती हुई दिखायी देती है। गायत्री उपासना के फलस्वरूप माता का यह उपहार उसके प्रिय बालकों को अवश्य प्राप्त होता है।

१७-ऐश्वर्यवर्द्धिनी लक्ष्मी

संसार में जीवन-यापन करने के लिए कुछ वस्तुओं की आवश्यकता होती है। जिन वस्तुओं के बिना हमारा काम नहीं चलता या जिनके न होने से जीवन रक्षा में बाधा पहुँचती है उन्हें सम्पत्ति या लक्ष्मी कहते हैं। अन्न, वस्त्र, मकान, पुस्तक, दवा आदि की आवश्यकतायें ऐसी हैं जिनके न होने पर जीवन धारण करने में कठिनाई होती है। इन्हीं सब आवश्यक वस्तुओं को रुपये के रूप में सुरक्षित रख लिया जाता है। रुपये के बदले में यह वस्तुएँ चाहे जब प्राप्त कर ली जाती हैं। यही धन संचय का उद्देश्य है।

परिश्रम, मानसिक योग्यता, साधन, पूँजी सहयोग और परिस्थिति पर धन का उपार्जन अवलम्बित है इसमें से कुछ बातें तो मनुष्य अपने-अपने प्रयत्न और पुरुषार्थ से जमा कर सकते हैं पर कुछ ऐसी हैं जो मनुष्य के हाथ

में नहीं होती। प्रयत्न करने मात्र से उन्हें उपलब्ध नहीं किया जा सकता। कई ऐसे अवसर आते हैं कि बिना प्रयत्न या
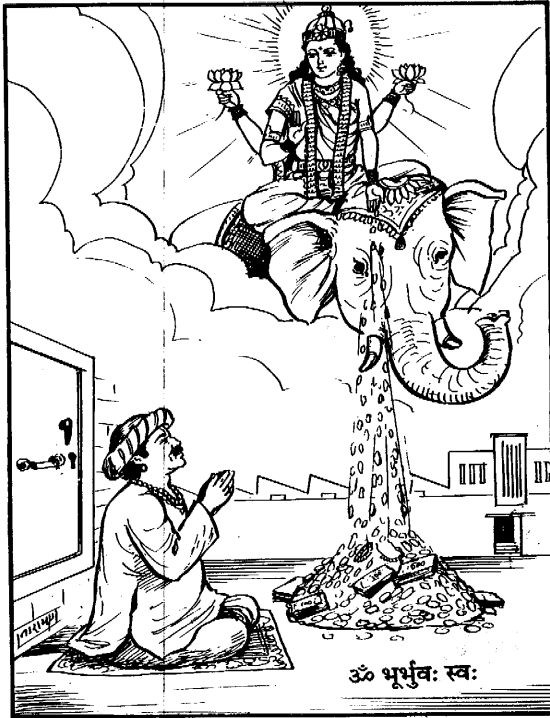
१७. ऐश्वर्यवर्द्धिनी लक्ष्मी

स्वल्प प्रयत्न से बहुत लाभ होता है और कई बार अत्यन्त बुद्धिमत्ता और परिश्रम के साथ दैवी विधान भी छिपा रहता है। धनी को निर्धन और निर्धन को धनी होने की घटनाऐं आये दिन घटित होती रहती हैं। इनमें भी कोई रहस्यमय तथ्य छिपा होता है।

गायत्री की 'श्रीं' शक्ति लक्ष्मी है। लक्ष्मी के द्वारा ऐश्वर्य वैभव, सम्पत्ति और धन प्राप्त होता है। यह धन ईश्वर की अमानत है जिसका उपयोग अपने भोग, अहंकार या संचय में नहीं वरन् पनुष्यता के विकास के लिए है। यदि मनुष्य उसे स्वार्थ के ही लिए दवा बैठता है तो उससे वह सम्पत्ति छीन ली जाती है। गायत्री के उपासक में यह बुद्धि होती है कि धन का उपयोग किस कार्य मे करूँ और वह मुझे क्यों दिया गया है ? यह बुद्धि होने के कारण वह सदुपयोग करके थोड़े धन से भी ऐसा लाभ उठा लेता है, जो बड़े-बड़े करोड़पतियों को भी प्राप्त नहीं होता।

अमीर वह नहीं है जिसके पास मिल, मोटर, जायदाद तथा तिजोरी भरे नोट हैं वरन् वह है जो ईमानदारी से कमाता है और उसी से सन्तुष्ट रहता है। गायत्री उपासकों को कभी पैसे की कमी नहीं पड़ती, उनकी उचित आवश्यकतायें रुकी नहीं रहतीं, उन्हें अपने थोड़े धन में भी कुबेर के समान सन्तोष होता है। कई बार गायत्री उपासना से विपुल मात्रा में धन वृद्धि होती देखी गई है, पर साथ ही सद्पयोग बुद्धि भी अवश्य बढ़ती है जिससे उसका धन भी धन्य बन जाता है। गायत्री उपासक भूखा-नङ्गा कहीं भी नहीं देखा गया है।

१८-महाशत्रुओं से संरक्षण

शत्रुओं की कमी नहीं। हमारे भीतर और बाहर अगणित शत्रुओं की सेना फैली हुई है, जो इस घात में रहती है, कब अवसर पावें और कब आक्रमण करें। सजग रहते हुए भी कई बार ऐसे अवसर आते हैं, जब थोड़ी-सी भूल हो जाय और उस मौके को ताक शत्रुओं की सेना अपना आक्रमण कर दे।

मनोविकार हमारे सबसे बड़े शत्रु हैं। थोड़ा सा प्रलोभन, आकर्षण, अवसर सहयोग पाकर वे प्रबल हो उठते हैं और ऐसे कृत्य करा डालते हैं जिन पर पीछे बड़ा

१८. महाशत्रुओं से संरक्षण

पश्चाताप होता है, हानि उठानी पड़ती है । रोग, शोक, मृत्यु, अकाल, आपत्ति, हानि, विरोध, दारिद्र्य, संघर्ष आदि के ऐसे आकस्मिक अज्ञात संकट सामने आ जाते हैं, जिन्हें प्रारब्ध शत्रु कह सकते हैं । इनके अतिरिक्त कुछ मनुष्य भी शत्रु हैं । जिनसे किसी कारणवश द्वेष या मनोमालिन्य हो जाता है, वे शत्रुता और प्रतिहिंसा की भावना से प्रेरित होकर सदा हानि पहुँचाने का ही प्रयत्न करते रहते हैं ।

शत्रुओं से अनेक हानियाँ हैं, वे हमारी शक्तियों को आत्म-रक्षा की चिन्ता में अटकाये रहते हैं । उन्नति के लिए जिस समय, शक्ति और पुरुषार्थ को लगाया जाना चाहिए था वह शत्रुओं की रोक-थाम में ही लगता है । इसके अतिरिक्त कभी-कभी उनका ऐसा आक्रमण भी हो जाता है जिसकी चोट अपने को तिलमिला देती है और उसका आघात बहुत समय तक दर्द करता रहता है । शत्रुओं से रहित व्यक्ति वस्तुतः बड़ा सौभाग्यशाली है । ऐसे भाग्यवान् को 'अजात शत्रु' कहते हैं ।

गायत्री का 'क्लीं' रूप संहारक है । उसे दुर्गा, काली, चण्डी आदि नामों से भी सम्बोधित किया जाता है । भक्त की रक्षा के लिए माता अपना यही रौद्र रूप ग्रहण करती है और सिंह के समान विपुल पराक्रम के साथ त्रिशूल लेकर उन शत्रुओं का संहार करती है, जो भक्त को अनुचित रूप से त्रास देते हैं । दुष्टों की शक्ति चाहे जितनी बढ़ी-चढ़ी हो, उनकी भयंकरता चाहे कितनी ही विकराल लगती हो पर माता की शक्ति का प्रतिरोध उनसे नहीं हो सकता । रावण, कंस, हिरण्यकशिपु, भस्मासुर, दुर्योधन आदि दुष्टों की जो शक्ति नष्ट कर सकती है उसके लिए कोई दुष्ट ऐसा नहीं जो परास्त न हो । द्वेष के स्थान पर प्रेम, कलह के स्थान पर शान्ति, संघर्ष के स्थान पर सहयोग उत्पन्न कर देना माता के एक कृपा कण से ही सम्भव हो जाता है ।

१९-अदृश्य सहायता

मनुष्य जितनी उन्नति करता है या सुख सौभाग्य प्राप्त करता है वह केवल अपने शरीर से नहीं कर लेता, उसे बाहरी सहयोग और सहायता की भी आवश्यकता पड़ती है । जिसे जितनी बाह्य सहायता उपलब्ध होती है वह उतनी ही जल्दी ऊपर उठता जाता है । अकेले आदमी की शक्ति बड़ी सीमित होती है, जब उसे अनेकों की अनेक प्रकार से सहायतायें उपलब्ध होती हैं तभी वह सफलता की मंजिल पार कर पाता है ।

१९. अदृश्य सहायतायें

कुछ सहायतायें प्रत्यक्ष होती हैं कुछ अप्रत्यक्ष । प्रत्यक्ष सहायताओं की जानकारी रहती है, उस सहायता करने वाले के उपकार का मूल्य और वजन सब जानते हैं क्योंकि आँखों से उसे प्रत्यक्ष देखा गया है । अप्रत्यक्ष सहायतायें ऐसी होती हैं जो आँखों से स्पष्ट दिखाई नहीं पड़तीं, वे सीधी आकाश से आँगन में भी नहीं गिरती वरन् किसी मध्यस्थ द्वारा या किसी बहाने प्राप्त होती हैं । हम इनके मूल्य और वजन को भले ही न समझें पर उनका महत्व असाधारण है । दैवी सहायता मिलना जब बन्द हो जाता है तब बहुधा ऐसा कहा जाता है कि अब हमारा भाग्य सहायता नहीं देता और प्रबल पुरुषार्थ भी निरर्थक जा रहा है ।

जब दैवी सहायता प्राप्त होती है तब ऐसे विचित्र सुअवसर प्राप्त होते हैं कि अपने प्रयत्न का सुअवसर से विशेष सम्बन्ध नहीं दीखता । जहाँ उसी परिस्थिति के, उसी योग्यता के, उसी स्थान के अनेक व्यक्ति जहाँ के तहाँ हीन अवस्था में पड़े रह जाते हैं वहाँ एक मनुष्य विशेष रूप से ऐसी सफलता का अवसर, लाभ या सौभाग्य प्राप्त करता

है जिसके लिए अनेकों तरसते हैं, तो वह लाभ दैवी सहायता के कारण ही समझा जाना चाहिए। तब दैवी की अनुकूलता से मिट्टी, धूल से सोना होने की उक्ति चरितार्थ होती है।

प्रारब्ध, भाग्य, विधि का विधान, ईश्वर इच्छा तथा दैवी सहायता, हमारे बुरे-भले कर्मों से सम्बन्धित हैं। गायत्री तप की गर्मी से पुराने कच्चे सुकृत शीघ्र पक जाते हैं और जो लाभ बहुत काल पश्चात् मिलना चाहिए था वह शीघ्र मिल जाता है। तप की अग्नि में अनेक पाप और दुर्भाग्य जल भी जाते हैं। देखा गया है अग्रसर होने वाले साधकों को अनेक बार ऐसी आकस्मिक सहायतायें मिलती हैं, मानो माता ने ही आन्तरिक लोक से वह सब साधन सुविधायें भेजी हों।

२०-सन्तुष्ट दाम्पत्य जीवन

सांसारिक जीवन में शरीर रक्षा के लिए अन्न, वस्त्र आदि आवश्यकताओं के उपरान्त सबसे बड़ी आवश्यकता 'सन्तुष्ट दाम्पत्य जीवन' की है। जिसे इस क्षेत्र में अभाव, बुद्धि विकृति एवं असन्तोष होगा वह अन्य सब प्रकार के

२०. सन्तुष्ट दाम्पत्य जीवन

भौतिक सुख साधनों से सम्पन्न होते हुए भी सन्तुष्ट न रह सकेगा।

सन्त, महात्मा, त्यागी, योगी एवं ब्रह्मचारी लोग वहुधा नारी से दूर रहने और उससे घृणा करने के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। यह प्रतिपादन निम्नकोटि की मादक उत्तेजक विषय वासना के विरुद्ध है। रमणी और कामनी का विषाक्त रूप ही निन्दनीय माना गया है। इसके अतिरिक्त अन्य सभी रूपों में नारी परम्परा आदरणीय, श्रद्धास्पद, पूजनीय है। उनमें स्वभावतः पुरुष की अपेक्षा देव-तत्व अधिक होता है। माता, बहिन, बेटी और धर्म-पत्नी के रूप में उनकी महिमा का जितना गान भारतीय ऋषियों ने किया है उतना सम्मान और किसी ने नहीं किया। नारी अर्धांगिनी है उसके बिना पुरुष अधूरा है हमारे सभी देवता सपत्नीक थे और अधिकांश ऋषि-मुनि अपनी धर्म पत्नियों समेत तपस्या करते थे। नारी की उपयोगिता, सेवा, सहायता की आवश्यकता पुरुष को है और पुरुष की नारी को। गृहस्थ भी माता की कृपा एवं सफलता का उतना ही अधिकारी है, जितना विरक्त।

गायत्री माता की छत्र छाया प्राप्त करने वाले साधकों का दाम्पत्य जीवन अतीव सुमधुर होता है। कुमारियाँ यदि उपासना करें तो उत्तम वर तथा अनुकूल कन्या मिलती है कुमारों को सेवा भावी मनोवांछित पत्नी प्राप्ति होती है। विवाहित पति-पत्नी में यदि पारस्परिक मनोमालिन्य, रुचि-प्रतिकूलता तथा कलह के कारण विद्यमान हों तो उनका समाधान होता है। दाम्पत्य-जीवन में कलह उत्पन्न करने वाले अनेक कारण होते हैं, शरीर मन, स्वभाव, कार्य एवं विचारों में कुछ ऐसी प्रतिकूलता रहती है जिसके कारण दोनों में एकता, सरसता एवं स्नेहशीलता उत्पन्न नहीं हो पाती है। इन्हीं असन्तुष्ट जीवनों में माता की कृपा की वर्षा होने से परिवर्तन होते हैं जिनसे प्रतिकूलताएँ, अनुकूलता बन जाती हैं और सद्बुद्धि बढ़ने के कारण कलह के बीज अपने आप नष्ट हो जाते हैं।

गायत्री माता का आशीर्वाद साधक को सुखी और सरस दाम्पत्य जीवन के रूप में प्राप्त होता है। दोनों एक ही तरफ आत्मीयता के बन्धन में बँधकर जीवन को धार्मिक आधार पर व्यतीत करते हैं।

२१-सुसन्तति का सौभाग्य

घर की शोभा, आँगन का सौन्दर्य बालकों पर निर्भर रहता है। जिसके घर में हँसते-खेलते बालक हैं उस घर

में उत्साह और प्रसन्नता हर घड़ी नाचती रहती है। घर वालों का समय कट जाता है और बुरी परिस्थितियाँ भी बालकों

२१. सुसन्तति का सौभाग्य

के बीच हँसते-खेलते व्यतीत हो जाती हैं। बच्चों की चिन्ता में मनुष्य उत्साहपूर्वक अधिक काम करने के लिए प्रेरित होता है। फिजूलखर्ची, हरामखोरी, आवारागर्दी आदि अनेक बुराइयों से बच जाता है। बाल बच्चेदार स्त्री-पुरुषों के चारित्रिक पतन होने की बहुत कम सम्भावना रहती है।

यद्यपि आज के युग में अत्यधिक बढ़ी हुई जनसंख्या को देखते हुए जितने बालक कम हों उतना ही अच्छा है। जिसके सन्तान न हो, उसे भी माता की विशेष कृपा मानकर अपना शिशुपालन वाला समय लोक सेवा और आत्म साधना में लगाना चाहिए। पर यदि सन्तान हो भी तो वह ऐसी होनी चाहिए जो कुल को उज्ज्वल करने वाली और माता-पिता के यश को बढ़ाने वाली हो।

वासना से प्रेरित होकर किया हुआ गर्भाधान वैसा ही फल उत्पन्न करता है जैसा कि पति-पत्नी का उद्देश्य होता है ऐसे बालक स्वार्थ और वासना की निष्कृष्ट भावनाओं से भरे होते हैं, वे छोटेपन से ही अवज्ञाकारी और दुर्गुणी होते हैं और बड़े होने पर माता-पिता को अपमान, शोषण, कष्ट एवं अपयश ही देते हैं। ऐसी सन्तान पर माता-पिता ने जो त्याग किया था उसका स्मरण करके उन्हें अपने श्रम की निस्सारता, निरर्थकता और असफलता पर भारी खेद होता है। तब वे कहते हैं कि कुपात्र सन्तान होने से सन्तान रहित रहना हजार गुना अच्छा है।

ऐसी विषम स्थिति में गायत्री उपासक को नहीं पड़ना पड़ता। उनके विचार उच्चकोटि के होने से सन्तान भी वैसी मनोभूमि लेकर आती है। द्रौपदी और अर्जुन की शिक्षाएँ गर्भ में ही सीखकर जैसे अभिमन्यु पैदा हुआ था, वैसे ही गायत्री साधक, सतोगुणी माता-पिता के संस्कार लेकर जो बालक जन्म लेते हैं, वह बड़े होने पर ऐसे बनते हैं जिनके गुण कर्म, स्वभाव पराक्रम एवं प्रतिष्ठा को देखकर माता-पिता को सन्तोष होता है और वे अपने श्रम को सफल हुआ समझते हैं। ऐसी सन्तान ही अपने माता-पिता को सन्तोष देती है और उनके यश को बढ़ाती और सेवा करती है। बिगड़ी हुई सन्तान का सुधार, उसकी बुद्धि में हेर-फेर, शुभ संस्कारों की स्थापना आदि कार्यों के लिए गायत्री उपासना बड़ी उपयोगी सिद्ध होती है।

२२-पारिवारिक सुख-शान्ति

जब परिवार के सब लोग प्रेमपूर्वक, एक दूसरे की
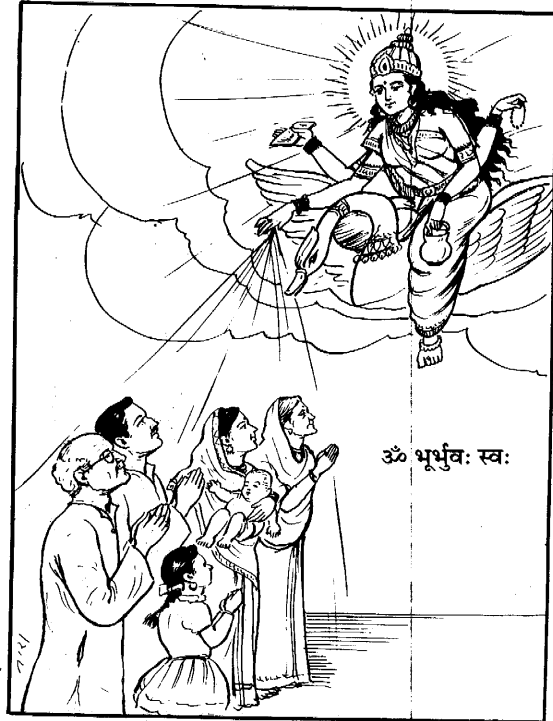
२२. पारिवारिक सुख-शान्ति

हमदर्दी, सेवा और सहायता करते रहते हैं, एक दूसरे का उचित आदर करते हुए त्याग और उदारता का व्यवहार करते हैं तो घर में स्वर्गीय शांति बिराजती है। सबके सहयोग से घर की आर्थिक स्थिति सुधरती है, उत्पादन बढ़ता है और कम खर्च में सारी व्यवस्था हो जाती है, बुरे दिनों को भी हँसते-खेलते काट लेते हैं। उनकी प्रतिष्ठा बढ़ती है और किसी को उन पर आक्रमण करने का साहस नहीं होता। कोई दुस्साहस करता भी है तो उसे उस संगठित कुटुम्ब के सामने मुँह की खानी पड़ती है।

जिन परिवारों में आपसी ईर्ष्या, द्वेष, तिरस्कार, मनोमालिन्य एवं विरोध के भाव रहते हैं, जहाँ लड़ाई-झगड़ा, कलह, चोरी, दुराचार के दृश्य दिखाई देते हैं, बड़ा छोटों को दबाता है और छोटा बड़ों की इज्जत नहीं करता, चोरी और अपना-अपना स्वार्थ साधन करने की नीति पर जहाँ सब लोग चलते हैं, सामूहिक लाभ और गृह-व्यवस्था की ओर ध्यान नहीं देते वह परिवार जल्दी ही नष्ट हो जाता है। उसकी प्रतिष्ठा धूल में मिल जाती है। अच्छी आमदनी होने पर भी पूरे नहीं पड़ते। बाहर के लोग उन पर हँसते हैं चुगल-खोर और स्वार्थी लोग ऐसे ही परिवारों में विरोध डालकर अपना उल्लू सीधा करते हैं। स्वार्थ, द्वेष और ईर्ष्या के कारण वे शीघ्र ही एक दूसरे से अलग हो जाते हैं और बुहारी में से बिखरी हुई सीकों की तरह तथा माला में से टूटे हुए मोतियों की भाँति उस परिवार के सदस्य दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

पारिवारिक अशान्ति का मुख्य कारण लोगों की कुबुद्धि है। अन्य कारणों को तो आसानी से सुलझाया जा सकता है पर कुबुद्धि रूपी पिशाचिनी ऐसी प्रचण्ड है कि यह छुड़ाये नहीं छूटती। जिसके पीछे यह दुष्टा लग जाती है उसे चैन नहीं लेने देती और उसके समीप रहने वाले सम्बन्धित लोग भी त्रास पाते हैं। घर में एक दो आदमी भी कुबुद्धि के हों तो वे शांतिप्रिय लोगों को भी चैन से नहीं बैठने देते और अकारण सबको दुःखी होना पड़ता है।

गायत्री उपासना करने वालों की बुद्धि शुद्धि होती है। जिस घर में गायत्री की पूजा, उपासना, यज्ञ, स्वाध्याय, जप, तप आदि का आयोजन होता रहता है। वहाँ सद्बुद्धि का स्वाभाविक प्रकाश होता है और उस परिवार में विघटनकारी तत्व एवं दुर्गुण अपने आप कम होते हैं। ऐसे धार्मिक परिवारों में सदा सब प्रकार की शांति विराजती देखी जाती है।

२३-परम प्रिय पुत्रियाँ

पिता को पुत्र और माता को पुत्रियाँ अधिक प्यारी होती हैं। नारी हृदय को जितनी अच्छी तरह नारी समझती है। उतना नर नहीं समझता। गायत्री माता को अपनी पुत्रियाँ परम प्रिय हैं। उनकी स्वल्प साधना का भी परम करुणामयी माता पर विशेष प्रभाव होता है। स्त्रियों में स्वभावतः कोमलता, सात्विकता और भक्ति-भावना का अंश अधिक होता है इसलिए वे माता की कृपा और भी शीघ्र प्राप्त कर सकती हैं।

पुरुषों की भाँति स्त्रियों को भी गायत्री साधना का अधिकार है। माता के लिए पुत्र और पुत्रियाँ दोनों ही प्रिय हैं, दोनों ही उसकी आँखों के तारे हैं। वे दोनों को ही समान प्रेम से अपनी गोदी में बिठाती हैं। आत्मा न स्त्री है, न पुरुष वह विशुद्ध ब्रह्म ज्योति की चिनगारी है। आत्मा को परमात्मा से मिलाने वाली गायत्री रूपी सीढ़ी पर चढ़ने का पुरुषों की भाँति स्त्रियों को भी अधिकार है।

प्राचीन काल में अनेक महिलाओं को गायत्री उपासना द्वारा परम सिद्धावस्था की प्राप्ति हुई थी। अब भी अनेक महिलाऐं माता की उपासना करके आत्मोन्नति, सांसारिक सुख समृद्धि की प्राप्ति एवं अनेक आपत्तियों से छुटकारा पाने की प्रसन्नता अनुभव कर रही हैं। विधवा बहिनों के लिए तो गायत्री साधना एक सर्वोत्तम तपश्चर्या है। इससे उनके मनोविकार शान्त होते हैं। शोक वियोग की जलन
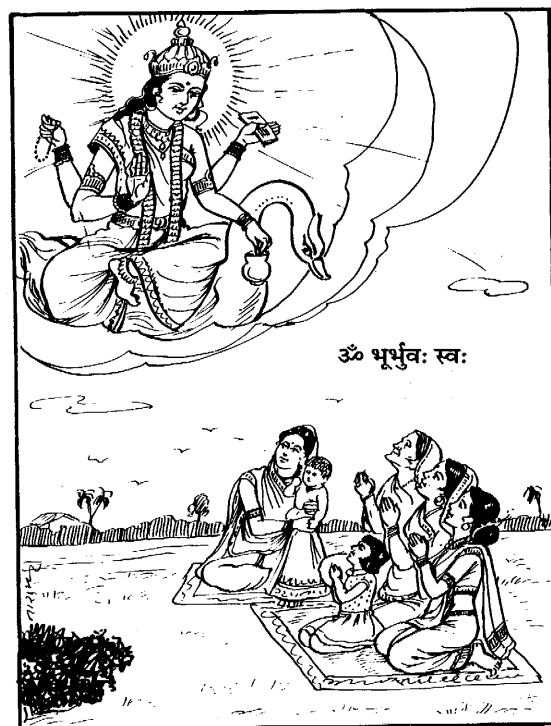
२३. परम प्रिय पुत्रियाँ

बुझती है और बुद्धि में सात्विकता आने से साध्वी जैसा ईश्वर परायण जीवन बनाना सुगम हो जाता है ।

गायत्री उपासना करने वाली देवियों का जीवन बड़ा सुख शान्तिमय बनता है । उत्तम स्वास्थ्य, मुख पर ओज, सन्तान की सुख शान्ति, अविचल सुहाग, बुरे स्वभाव का सुधार, कुमारियों को उत्तम घर-वर की सम्भावना, दरिद्रता का निवारण, पति और पितृकुलों का मङ्गल, प्रतिष्ठा वृद्धि, पति का प्रेम, गृह-दशा, भूत-बाधा आदि उलझनों का निवारण आदि अनेकों लाभ मिलते हैं, सांसारिक कठिनाइयाँ दूर होती हैं । इसके अतिरिक्त उनकी आत्मिक प्रगति होती चलती है, जिससे परलोक में दिव्य सुख, आगामी जन्म में राजसी वैभव तथा स्वर्ग एवं जीवन मुक्ति का द्वार खुलता है।

कुमारियाँ, सधवायें, विधवायें, वृद्धायें सभी श्रेणी की स्त्रियाँ गायत्री माता की पूजा, उपासना करके स्वयं सुखी बन सकती हैं और अपने परिवार को सुखी बना सकती हैं ।

२४-सद्गति और जीवन-मुक्ति

आत्मा को परमात्मा में मिला देना, जोड़ देना यही योग का उद्देश्य है । परमात्मा से बिछुड़ी हुई आत्मा जब तक अपने उद्गम-केन्द्र में नहीं मिल जाती, तब तक वह माता से बिछुड़े बच्चे की तरह दुःखी और अशान्त रहती है । जन्म-मरण के चक्र में नाचता हुआ जीव चौरासी लाख योनियों में फिरता रहता है और नाना प्रकार के त्रास सहता हुआ वासना और कामना के संस्कारों में बँधकर घिसटता रहता है ।

इस दुरव्यवस्था से त्राण पाने के लिए ही आध्यात्मिक साधना का पथ है । योगी लोग संसार का त्याग करके अत्यन्त कष्ट-साध्य तपश्चर्यायें करते हैं, जिससे भव-बन्धनों को काट कर परमात्मा को प्राप्त कर सकें । सत्संग, स्वाध्याय, कथा, जप, यज्ञ, तीर्थ, दान आदि में यही उद्देश्य प्रधान रहता है कि बन्धनों से छुटकारा प्राप्त करके आत्मा अपने उद्गम-केन्द्र परमात्मा का साक्षात्कार कर सके, उसमें लीन हो सके । यही जीवन का परम लक्ष्य है । मुक्ति को ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ माना गया है । जिसने यह सफलता प्राप्त करली, समझना चाहिये कि उसने जीवन लाभ पा लिया, वह धन्य हो गया ।
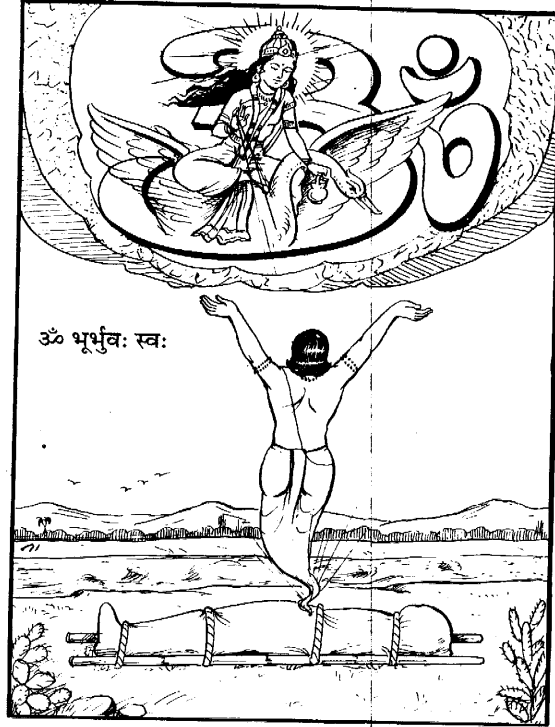
२४. सदगति और जीवन मुक्ति

ऊर्ध्वगति के लिए जितने भी साधन हैं उनमें गायत्री उपासना सर्वश्रेष्ठ है जैसे बँधी हुई कली सूर्य की उष्णता पाकर आप खुलने लगती और थोड़े ही काल में सुविकसित पुष्प बन जाता है उसी प्रकार आत्मा के बन्धन भी गायत्री से अपने आप खुलने लगते हैं और अन्तः भूमिका विकसित होकर कुछ समय में उस स्थिति पर पहुँच जाती है, जिसे परमहंस गति, सिद्धावस्था, समाधि, आत्मसाक्षात्कार, बन्धनमुक्ति, ईश्वर प्राप्ति, ब्रह्म निर्वाण या परमानन्द कहते हैं ।

सदन कसाई, गणिका, अजामिल, हिरण्यकशिपु आदि दुष्टों का उद्धार हुआ तथा शबरी, अहिल्या, द्रौपदी, वृन्दा आदि नारियाँ और जटायु, निषाद, नरसी, जैसे साधारण श्रेणी के जीव सद्गति को प्राप्त हुए । ऐसी अद्भुत भगवत् कृपा, जिससे स्वल्प प्रयास में ही जीव तर जाय, गायत्री माता के अनुग्रह से प्राप्त हो सकती है।

चित्र में पंचाक्षरी गायत्री

इस अध्याय में चित्रों के साथ पूरा गायत्री मन्त्र न देकर स्थानाभाव से संक्षिप्त पंचाक्षरी गायत्री (ॐ भूर्भुवः स्वः) ही दिया गया है । पंचाक्षरी से ही पूर्ण मन्त्र का उद्भव हुआ है इसलिये मूलमन्त्र भी वही है ।

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य का जीवनदर्शन : समग्र वाङ्मय

परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य ने जीवन भर जो अपनी लेखनी से लिखा, औरों को प्रेरित कर उनसे सृजनात्मक लेखन करवाया, पुस्तकों-पत्रिकाओं में जो प्रकाशित हुआ, समय-समय पर उनने अमृतवाणी के माध्यम से जो विचारों की अभिव्यक्ति की, विचारसार व सूक्तियाँ जो वे लिख गये या अनायास कभी कह गये तथा पत्रों के माध्यम से जो अंतरंग स्पर्श जन-जन को दिया, वह समग्र इस वाङ्मय के खण्डों में है । जिनके नाम इस प्रकार हैं :-

१. युगद्रष्टा का जीवन-दर्शन समग्र वाङ्मय का परिचय
२. जीवन देवता की साधना-आराधना
३. उपासना-समर्पण योग
४. साधना पद्धतियों का ज्ञान और विज्ञान
५. साधना से सिद्धि-१
६. साधना से सिद्धि-२
७. प्रसुप्ति से जाग्रति की ओर
८. ईश्वर कौन है, कहाँ है, कैसा है ?
९. गायत्री महाविद्या का तत्वदर्शन
१०. गायत्री साधना का गुह्य विवेचन
११. गायत्री साधना के प्रत्यक्ष चमत्कार
१२. गायत्री की दैनिक एवं विशिष्ट अनुष्ठान-परक साधनाएँ
१३. गायत्री की पंचकोशी साधना एवं उपलब्धियाँ
१४. गायत्री साधना की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि
१५. सावित्री, कुण्डलिनी एवं तंत्र
१६. मरणोत्तर जीवन : तथ्य एवं सत्य
१७. प्राणशक्ति : एक दिव्य विभूति
१८. चमत्कारी विशेषताओं से भरा मानवी मस्तिष्क
१९. शब्द ब्रह्म-नाद ब्रह्म
२०. व्यक्तित्व विकास हेतु उच्चस्तरीय साधनाएँ
२१. अपरिमित संभावनाओं का आगार मानवी व्यक्तित्व
२२. चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन
२३. विज्ञान और अध्यात्म परस्पर पूरक
२४. भविष्य का धर्म : वैज्ञानिक धर्म
२५. यज्ञ का ज्ञान-विज्ञान
२६. यज्ञ : एक समग्र उपचार प्रक्रिया
२७. युग-परिवर्तन कैसे और कब ?
२८. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-१
२९. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-२ (सतयुग की वापसी)
३०. मर्यादा पुरुषोत्तम राम
३१. संस्कृति-संजीवनी श्रीमद्भागवत एवं गीता
३२. रामायण की प्रगतिशील प्रेरणाएँ
३३. षोडश संस्कार विवेचन
३४. भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्व
३५. समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान
३६. धर्मचक्र प्रवर्त्तन एवं लोकमानस का शिक्षण
३७. तीर्थ सेवन : क्यों और कैसे ?
३८. प्रज्ञोपनिषद्
३९. नीरोग जीवन के महत्त्वपूर्ण सूत्र
४०. चिकित्सा उपचार के विविध आयाम
४१. जीवेम शरदः शतम्
४२. चिरयौवन एवं शाश्वत सौन्दर्य
४३. हमारी संस्कृति : इतिहास के कीर्ति स्तम्भ
४४. मरकर भी अमर हो गये जो
४५. सांस्कृतिक चेतना के उन्नायक : सेवाधर्म के उपासक
४६. भव्य समाज का अभिनव निर्माण
४७. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता
४८. समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र
४९. शिक्षा एवं विद्या
५०. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१
५१. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२
५२. विश्व वसुधा जिनकी सदा ऋणी रहेगी
५३. धर्मतत्त्व का दर्शन व मर्म
५४. मनुष्य में देवत्व का उदय
५५. दृश्य जगत् की अदृश्य पहेलियाँ
५६.ईश्वर विश्वास और उसकी फलश्रुतियाँ
५७. मनस्विता प्रखरता और तेजस्विता
५८. आत्मोत्कर्ष का आधार- ज्ञान
५९. प्रतिगामिता का कुचक्र ऐसे टूटेगा
६०. विवाहोन्माद : समस्या और समाधान
६१. गृहस्थ : एक तपोवन
६२. इक्कीसवीं सदी : नारी सदी
६३. हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण
६४. राष्ट्र समर्थ और सशक्त कैसे बने ?
६५. सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक क्रान्ति कैसे ?
६६. युग निर्माण योजना-दर्शन, स्वरूप व कार्यक्रम
६७. प्रेरणाप्रद दृष्टान्त
६८. पूज्यवर की अमृतवाणी (भाग एक)
६९. विचारसार एवं सूक्तियाँ (प्रथम खण्ड)
७०. विचारसार एवं सूक्तियाँ (द्वितीय खण्ड)

वाङ्मय के आगे प्रकाशित होने वाले ३८ खण्ड निम्न विषयों पर होंगे--

७१. मनोविकारों की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि
७२. तनाव के कारण एवं उनके निवारण के उपाय
७३. चिन्तन का विधेयात्मक-निषेधात्मक स्वरूप
७४. पुरुषार्थ और मानवी जिजीविषा
७५. संकल्प बल का अनूठा प्रभाव
७६. बाल-विकास के विविध सोपान
७७. बाल मनोविज्ञान का सही उपयोग
७८. पारिवारिकता में सुसंस्कारों का योगदान
७९. पारिवारिक पंचशील और परिवार-निर्माण
८०. व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया
८१. विचार-विज्ञान का महत्त्व
८२. सामाजिक समस्याएँ और उनका समाधान
८३. समाज-निर्माण के विभिन्न चरण
८४. सामाजिक जीवन में सद्गुणों की भूमिका
८५. नर-नारी की सामान्य समस्याएँ और उनका समाधान
८६. नारी जागृति की बाधाएँ एवं उनके निराकरण के उपाय
८७. पारिवारिक जीवन: एक तप-साधना
८८. दाम्पत्य जीवन के संयुक्त दायित्व
८९. नीति-विज्ञान और नैतिकता
९०. कृषि, व्यवसाय और उद्योग की उन्नति के आधार
९१. पूज्य गुरुदेव के स्फुट विचार
९२. पूज्यवर की अमृतवाणी-२
९३. पूज्य गुरुदेव की दिव्य अनुभूतियाँ
९४. पूज्य गुरुदेव के लिखे स्मरणीय पत्र
९५. तंत्र महाविज्ञान विवेचन
९६. मंत्र महाविज्ञान विवेचन
९७. महापुरुषों के प्रेरक जीवन-प्रसंग
९८. प्रेरणाप्रद कथा एवं गाथाएँ
९९. हृदयस्पर्शी विविध कथाएँ
१००. शान्तिकुंज का प्रज्ञा अभियान
१०१. युग निर्माण मिशन का क्रमिक इतिहास
१०२. वेद-सार-चिन्तन
१०३. पुराण-शोध-सार
१०४. उपनिषद् और आरण्यकों की दार्शनिक विषयवस्तु
१०५. काव्य-गीत-मंजूषा
१०६. मिशन के रचनात्मक कार्यक्रमों का क्रमिक इतिहास
१०७. मिशन की लोक-व्यवहार संहिता
१०८. गुरुदेव की अपने आत्मीय जनों से अपनी बातें

❑❑❑